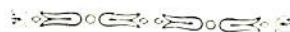
JAYESI-GRANTHAWALI
BY
RAJNATH SHARMA











जायसी-ग्रन्थावली

[पद्मावत—टीका सहित]

सम्पादक

राजनाथ शर्मा, एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा–२
विक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा–३

पंचम संस्करण : १९७५

मूल्य : ३०.००

कम्पोज़िंग : रावत कम्पोज़िंग हाउस, आगरा
मुद्रण : कैलाश प्रिन्टिङ्ग प्रेस, आगरा
[०२६]

अपनी बात

प्रेम के अमर गायक मलिक मुहम्मद जायसी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पदमावत' हिन्दी का अमर महाकाव्य और हिन्दी-प्रेम-काव्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मैंने अपनी इस पुस्तक में इसी महान् ग्रन्थ को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है। ऐसा करते समय मेरे सामने अपने विद्यार्थियों की वे सम्पूर्ण कठिनाइयाँ रही हैं, जिनका विद्यार्थी अनुभव करते रहते हैं और मैंने स्वयं अपने विद्यार्थी जीवन में उनका अनुभव किया था। इन्हें दूर करने के लिए ही मैंने शुद्ध मूल पाठ, शब्दार्थ, व्याख्या, अलंकार तथा काव्य-सौन्दर्य उद्घाटित करने वाली अन्य विशेषताओं का अंकन करने का प्रयत्न किया है।

मैं पदमावत' को मूलतः एक अध्यात्मपरक ग्रन्थ न मान प्रेम के वास्तविक विशुद्ध रूप का निरूपण करने वाला ग्रन्थ मानता हूँ। इसमें अध्यात्म ऊपर से विद्वानों द्वारा आरोपित किया गया है। यद्यपि कुछ स्थलों पर आध्यात्मिक अनुभूति की व्यंजना अवश्य मिलती है, परन्तु फिर भी मैंने व्याख्या करते समय सर्वत्र प्रेम के लौकिक स्वरूप को ही मूल मान उसी के अनुसार अर्थ किए हैं। यद्यपि साथ-साथ अन्य विद्वानों द्वारा निरूपित अध्यात्मपरक अर्थ देकर उनकी आलोचना भी करता गया हूँ। व्याख्या करते समय मैंने विस्तारवादी शैली अपनायी है। इसका कारण यह रहा है कि इस ग्रन्थ की भाषा प्राचीन अवधी होने के कारण एक-एक शब्द को समझना पड़ा है। यदि मैं ऐसा न करता तो यह ग्रन्थ इतना बोधगम्य न बन पाता, जितना कि अब बन गया है। यही कारण है कि इस पुस्तक का कलेवर इतना अधिक विस्तार पा गया है।

'पदमावत' की व्याख्या करते समय मैंने अनेक ग्रन्थों की सहायता ली है, जिनके लेखकों एवं प्रकाशकों का मैं हृदय से आभारी हूँ।

यह इस पुस्तक का नवीन और संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण है। इसमें मैंने 'पदमावत' सम्बन्धी नवीन शोधों के आधार पर संशोधन कर इसे अधुनातन रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

लक्ष्मी-निवास
गोकुलपुरा
आगरा
२८ मई, १९७५

—राजनाथ शर्मा

प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा–२

विक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा–३

पंचम संस्करण : १९७५

मूल्य : ३०.००

कम्पोज़िग : रावत कम्पोजिंग हाउस, आगरा

मुद्रण : कैलाश प्रिन्टिङ्ग प्रेस, आगरा

[०२६]

अपनी बात

प्रेम के अमर गायक मलिक मुहम्मद जायसी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पदमावत' हिन्दी का अमर महाकाव्य और हिन्दी-प्रेम-काव्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मैंने अपनी इस पुस्तक में इसी महान् ग्रन्थ को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है। ऐसा करते समय मेरे सामने अपने विद्यार्थियों की वे सम्पूर्ण कठिनाइयाँ रही हैं, जिनका विद्यार्थी अनुभव करते रहते हैं और मैंने स्वयं अपने विद्यार्थी जीवन में उनका अनुभव किया था। इन्हें दूर करने के लिए ही मैंने शुद्ध मूल पाठ, शब्दार्थ, व्याख्या, अलंकार तथा काव्य-सौन्दर्य उद्घाटित करने वाली अन्य विशेषताओं का अंकन करने का प्रयत्न किया है।

मैं पदमावत' को मूलतः एक अध्यात्मपरक ग्रन्थ न मान प्रेम के वास्तविक विशुद्ध रूप का निरूपण करने वाला ग्रन्थ मानता हूँ। इसमें अध्यात्म ऊपर से विद्वानों द्वारा आरोपित किया गया है। यद्यपि कुछ स्थलों पर आध्यात्मिक अनुभूति की व्यंजना अवश्य मिलती है, परन्तु फिर भी मैंने व्याख्या करते समय सर्वत्र प्रेम के लौकिक स्वरूप को ही मूल मान उसी के अनुसार अर्थ किए हैं। यद्यपि साथ-साथ अन्य विद्वानों द्वारा निरूपित अध्यात्मपरक अर्थ देकर उनकी आलोचना भी करता गया हूँ। व्याख्या करते समय मैंने विस्तारवादी शैली अपनायी है। इसका कारण यह रहा है कि इस ग्रन्थ की भाषा प्राचीन अवधी होने के कारण एक-एक शब्द को समझना पड़ा है। यदि मैं ऐसा न करता तो यह ग्रन्थ इतना बोधगम्य न बन पाता, जितना कि अब बन गया है। यही कारण है कि इस पुस्तक का कलेवर इतना अधिक विस्तार पा गया है।

'पदमावत' की व्याख्या करते समय मैंने अनेक ग्रन्थों की सहायता ली है, जिनके लेखकों एवं प्रकाशकों का मैं हृदय से आभारी हूँ।

यह इस पुस्तक का नवीन और संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण है। इसमें मैंने 'पदमावत' सम्बन्धी नवीन शोधों के आधार पर संशोधन कर इसे अधुनातन रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

लक्ष्मी-निवास
गोकुलपुरा
आगरा
२८ मई, १९७५

—राजनाथ शर्मा

विषय-सूची

: पदमावत :

पद्मावत

१

स्तुति-खंड

(१)

सुमिरौं आदि एक करतारू । जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ॥
कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू । कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू ॥
कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल खेहा । कीन्हेसि बहुतै रंग उरेहा ॥
कीन्हेसि धरती, सरग, पतारू । कीन्हेसि बरन-बरन औतारू ॥
कीन्हेसि दिन, दिनअर, ससि, राती । कीन्हेसि नखत तराइन-पाँती ॥
कीन्हेसि धूप, सीउ औ छाँहा । कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहि माँहा ॥
कीन्हेसि सप्त मही बरम्हंडा । कीन्हेसि भुवन चौदहो खंडा ॥
कीन्ह सबै अस जाकर, दूसर छाज न काहि ।
पहिलै ताकर नावँ लै, कथा करौं[1] औगाहि ॥१॥

शब्दार्थ—आदि=सबसे पहले । करतारू=कर्त्ता, ईश्वर । कीन्हेसि=किया । पिरीत=प्रीत, प्रेम की खातिर । कैलासू=कैलास, स्वर्ग । खेहा=मिट्टी । बहुतै=बहुत से । उरेहा=चित्रकारी । बरन-बरन=वर्ण-वर्ण के, विभिन्न रंगों के । औतारू=अवतार, योनियाँ । दिनअर=दिनकर, सूर्य । राती=रात्रि । तराइन-पाँती=तारों की पंक्तियाँ । सीउ=शीत । बीजु=बिजली । मही=पृथ्वी, यहाँ भाव सप्त द्वीपों से है । बरम्हंडा=ब्रह्माण्ड । खण्डा=विभाग । जाकर=जिसकी । छाज=शोभित । औगाहि=अगाध, गम्भीर ।

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि मैं सबसे पहले उस एक कर्त्ता अर्थात् ईश्वर का स्मरण करता हूँ जिसने सृष्टि को जीवन-दान दिया और संसार की रचना की । उसने इसके उपरान्त प्रथम ज्योति (नूर) अर्थात् पैगम्बर मुहम्मद साहब को जन्म दिया और फिर उन्हीं की प्रीति के कारण अर्थात् मुहम्मद साहब की प्रसन्नता की खातिर कैलास अर्थात् स्वर्ग की रचना की । उसने अग्नि, पवन, जल और मिट्टी—इन चार तत्त्वों की सृष्टि की । इसके पश्चात् उसने इन चारों तत्त्वों द्वारा विभिन्न रंगों के अनेक चित्र बनाये; अर्थात् इनके द्वारा विभिन्न प्रकार की अनेक वस्तुओं का सृजन किया । फिर उसने पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल बनाए और भिन्न-भिन्न प्रकार की योनियों के जीव-जन्तुओं की रचना की । उसने दिन, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि का निर्माण किया और

पाठ-भेद—१. कहौं ।

अनेक नक्षत्रों तथा असंख्य तारागणों की पंक्तियाँ बनाईं। उसने धूप, शीत और छाया की रचना की, मेघों की सृष्टि की और फिर उन मेघों में बिजली उत्पन्न की। उसने सप्त द्वीपों तथा ब्रह्माण्ड की रचना की। उसने चौदह भुवन बनाये और फिर उनके अनेक विभागों अर्थात् खण्डों का निर्माण किया।

जिस ईश्वर ने ऐसी सुन्दर और अद्‌भुत सृष्टि की रचना की उसके यश अर्थात् शोभा को अन्य कोई भी नहीं पा सकता। इसलिए मैं सबसे पहले उसी सृष्टिकर्त्ता का नाम लेकर (स्मरण कर) इस अगाध, गम्भीर कथा को प्रारम्भ करता हूँ।

टिप्पणी—(१) जायसी ने मसनवी शैली के अनुसार 'पदमावत' की कथा का प्रारम्भ स्तुति-खण्ड से किया है। इसमें उन्होंने सर्वप्रथम ईश्वर की स्तुति कर कथा को आरम्भ करने की बात कही है। हिन्दुओं में किसी भी ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो महत्त्व मंगलाचरण का माना जाता है, वही मसनवी शैली में ईश्वर-स्तुति का। सामान्यतः इन दोनों प्रकारों में कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु २०वीं शताब्दी के कुछ नवीन महाकाव्यों में मंगलाचरण की पद्धति को ग्रहण नहीं किया गया है; जैसे—'कामायनी' में।

(२) जायसी-सूफी मुसलमान थे, अतः एकेश्वरवादी भी थे। एकेश्वरवाद के प्रति अपनी दृढ़ आस्था को उन्होंने 'एक करतारू' अर्थात् 'एक ही ईश्वर' कह कर प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है। एकेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता होता है। वही सृष्टि के कण-कण की रचना करता है।

(३) जायसी ने मुस्लिम एकेश्वरवाद के साथ हिन्दू-पुराणों की सृष्टि-विषयक मान्यताओं को भी मुक्त हृदय से अपनाया है। ब्रह्माण्ड, सप्तद्वीप, चौदह भुवन आदि इसके प्रमाण हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जायसी संकीर्ण धार्मिक दृष्टिकोण को न अपना कर उदार और समन्वयवादी दृष्टिकोण को ही अपना कर चले थे।

(४) मुस्लिम धार्मिक ग्रन्थ 'हदीस' में उल्लेख आया है कि अल्लाह ने सर्व-प्रथम 'नूर' अर्थात् ज्योति को उत्पन्न किया था। यह ज्योति मुहम्मद साहब के रूप में अवतरित हुई थी और फिर अल्लाह ने इसी ज्योति की खातिर सृष्टि की रचना की थी।

(५) हिन्दू सिद्धान्तानुसार पाँच तत्त्वों से सृष्टि की रचना होती है—क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर। मुस्लिम सिद्धान्तानुसार ये तत्त्व केवल चार माने गए हैं—अग्नि, पवन, जल और मिट्टी। परन्तु कुल मिलाकर उनके यहाँ भी पाँच तत्त्व हो जाते हैं, क्योंकि अल्लाह पाँचवें तत्त्व 'गगन' अर्थात् आसमान की रचना पहले ही कर चुका था। अल्लाह ने इसी पाँचवें तत्त्व आसमान में अन्य चारों तत्त्वों की सृष्टि कर संसार की रचना की थी। इसी कारण जायसी ने अपने धार्मिक विश्वासानुसार केवल चार तत्त्वों का ही उल्लेख किया है।

(६) उपर्युक्त विभिन्न तत्त्वों द्वारा सृष्टि के विभिन्न रूपों की रचना को जायसी

ने विभिन्न रंगों के चित्र बनाना कहा है । तुलसी में भी यही भाव मिलता है—"शून्य भित्ति पर चित्र रंग बहु, तन बिनु लिखा चितेरे ।"—(विनय पत्रिका)

(७) डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने 'औगाहि' शब्द का अर्थ 'अवगाहन करता हूँ' लिखा है । परन्तु डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'औगाहि' के स्थान पर 'अवगाहु' शब्द मानते हुए इसका अर्थ 'गम्भीर' अर्थात् 'अगाध' माना है । अर्थ की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों ही अर्थ संगत प्रतीत होते हैं । 'कथा में अवगाहन करना' भी अर्थ माना जा सकता है ।

(२)

कीन्हेसि सात[1] समुंद अपारा । कीन्हेसि मेरु, खिखिंद पहारा ।।
कीन्हेसि नदी, नार औ झरना । कीन्हेसि मगर मच्छ बहु बरना ।।
कीन्हेसि सीप, मोती जेहि भरे । कीन्हेसि बहुतै नग निरमरे ।।
कीन्हेसि बनखंड औ जरि मूरी । कीन्हेसि तरिवर तार खजूरी ।।
कीन्हेसि साउज आरन रहहीं । कीन्हेसि पंखि उड़हिं जहँ चहहीं ।।
कीन्हेसि बरन सेत औ स्यामा । कीन्हेसि भूख नींद बिसरामा ।।
कीन्हेसि पान फूल बहु भोगू । कीन्हेसि बहु ओषद, बहु रोगू ।।
निमिख न लाग करत ओहि, सबै कीन्ह पल एक ।
गगन अंतरिख राखा, बाज खंभ बिनु टेक ।।२।।

शब्दार्थ—खिखिंद=किष्किन्धा । नार=नाले । बरना=प्रकार । नग=रत्न । निरमरे=निर्मल, कान्तिमान । बनखंड=जंगल । जरि मूरी=जड़ी-मूल आदि । साउज=जंगली जानवर । पंखि=पक्षी । आरन=अरण्य, जंगल । विसरामा =विश्राम । बहु भोगू=अनेक प्रकार की भोग-विलास की सामग्री । ओहिं=उसे । राखा=रखा । बाज=बिना । टेक=सहारा ।

व्याख्या—जायसी ईश्वर की सृष्टि का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसने अत्यन्त विस्तृत, असीम सात समुद्रों की रचना की तथा सुमेरु और किष्किन्धा नामक पर्वतों को बनाया । उसने अनेक नदी, नाले और झरने रचे और फिर उनमें विभिन्न प्रकार के मगरमच्छों और मछलियों को पैदा किया । उसने ऐसी सीपों की, जो मोतियों से भरी हुई थीं तथा अनेक प्रकार के निर्मल और उज्ज्वल कान्ति वाले रत्नों की रचना की । उसने वन-जंगल बनाए और उनमें अनेक प्रकार की जड़ियों अर्थात् जड़-मूलों की सृष्टि की तथा ताड़ और खजूर जैसे लम्बे वृक्षों की रचना की । उसने ऐसे जानवरों की रचना की जो जंगलों में रहते हैं, और ऐसे पक्षी बनाये जो जहाँ उनका मन चाहे वहाँ उड़ कर जा सकते हैं । उसने सफेद और काले रंगों की सृष्टि की तथा भूख, नींद और विश्राम की इच्छा उत्पन्न की । उसने

पाठ-भेद—१. हेवँ=हिम ।

पान, फूल तथा भोग-विलास की अनेक प्रकार की सामग्री रची और अनेक प्रकार की औषधियों तथा रोगों की सृष्टि की।

उस ईश्वर को इन सब की रचना करने में पल भर का भी समय नहीं लगा। उसने एक पल में ही, अर्थात् एक साथ ही इन सब की रचना कर दी। (उसकी इस सृष्टि का सबसे बड़ा चमत्कार यह था कि) उसने आकाश और अन्तरिक्ष को बिना किसी खम्भे का सहारा दिये अधर में ही स्थिर कर दिया।

टिप्पणी—एक विद्वान् लेखक ने उपर्युक्त पंक्तियों में 'मेरु', 'खिखिन्द' आदि शब्दों के प्रयोग को देख कर यह मन्तव्य प्रकट किया है कि जायसी ने हिन्दू-पुराणों या रामायण आदि में वर्णित वस्तुओं का उल्लेख जान-बूझ कर इसलिए किया है जिससे उनका 'पदमावत' हिन्दू-समाज में प्रवेश पा सके। परन्तु ध्यान से देखने पर यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है। जायसी प्रारम्भ से ही हिन्दू और मुस्लिम ग्रंथों, परम्पराओं, किंवदन्तियों आदि से प्राप्त सामग्री का उपयोग करना प्रारम्भ कर देते हैं। उनके इस चित्रण से यह ध्वनि कहीं भी नहीं निकलती कि वे ऐसा किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कर रहे हों। जायसी एक उदार हृदय कवि थे। उनसे ऐसी संकीर्णता की आशा नहीं करनी चाहिए। यहाँ यह बात विचारणीय है कि जब जायसी भारतीय हिन्दू पात्रों की कथा कह रहे हैं तो उसमें हिन्दू-पुराण और परम्पराओं का उल्लेख क्यों न होगा।

(३)

कीन्हेसि अगर कसतुरी बेना। कीन्हेसि भीमसेन औ चीना॥
कीन्हेसि नाग, जो मुख विष बसा। कीन्हेसि मंत्र, हरै जेहि डसा॥
कीन्हेसि अमृत, जियै जो पाए। कीन्हेसि बिक्ख, मीचु जेहि खाए॥
कीन्हेसि ऊख मीठ-रस-भरी। कीन्हेसि करू-बेल बहु फरी॥
कीन्हेसि मधु लावै लै माखी। कीन्हेसि भौंर, पंखि औ पाँखी॥
कीन्हेसि लोबा इंदुर चाँटी। कीन्हेसि बहुत रहहिं खनि माटी॥
कीन्हेसि राकस भूत परेता। कीन्हेसि भोकस देव दएता[1]॥
कीन्हेसि सहस अठारह, बरन बरन उपराजि।
भुगुति दिहेसि पुनि सबन कहँ, सकल साजना साजि॥३॥

शब्दार्थ—बेना=खस। भीमसेन औ चीना=कपूर के दो भेद। बसा=वास करता है अर्थात् है। बिक्ख=विष। मीचु=मृत्यु। ऊख=गन्ना। करू-बेल=कड़वी बेलें जैसे गिलोय आदि। फरी=फलती है। लावै=लाकर। माखी=शहद की मक्खी। पंखि औ पाँखी=पतिंगे और पक्षी। लोबा=लोमड़ी (संस्कृत 'लोपाक')। इन्दुर=चूहा। चाँटी=चींटी। खनि=खोद कर। परेता=प्रेत। भोकस=दानव

पाठ-भेद—१. दयंता=दैत्य।

(संस्कृतः पुल्कस-पुक्कस-पोकस-भोकस)। दएता=दैत्य। सहस अठारह=अठारह हजार (इस्लामी धर्म-ग्रन्थों के अनुसार जीवों की कोटियाँ अर्थात् किस्में अठारह हजार तथा हिन्दू मतानुसार चौरासी लाख मानी गई हैं)। उपराजि= रचीं, वनाईं। भुगुति =भोजन। साजना=रचना।

व्याख्या—उस ईश्वर ने अगर, कस्तूरी, खस, भीमसेन और चीना कपूर आदि सुगन्धित वस्तुओं का निर्माण किया। उसने सर्प बनाये जिनके मुख में विष रहता है, और साथ ही उसने ऐसे मंत्रों की रचना की जो साँपों द्वारा काटे गए जीवों के जहर को उतार देते हैं। उसने अमृत वनाया जिसके पाने अर्थात् पीने से जीवन मिलता है और उसने विष भी बनाया जिसके खाने से मृत्यु हो जाती है। उसने मीठे रस से भरे गन्ने के पेड़ वनाये और ऐसी कड़वी वेलें भी बनाईं जो खूब फैलती-फलती हैं। उसने शहद बनाया जिसे शहद की मक्खियाँ लाकर इकठ्ठा करती हैं। उसने भौंरे, पतिंगे और अनेक प्रकार के पक्षी बनाये। उसने लोमड़ी, चूहे और चींटियाँ बनाईं, और अनेक ऐसे जीवों की रचना की जो मिट्टी खोद कर, धरती में बिल बनाकर रहते हैं। उसने राक्षस, भूत-प्रेत बनाए और दानव, देव (जिन) और दैत्यों को उत्पन्न किया।

इस प्रकार उस ईश्वर ने भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों की रचना कर, अठारह हजार योनियाँ रचीं और फिर अपनी इस रचना को सजाकर उन सबके लिए भोजन का प्रबन्ध किया।

टिप्पणी—जायसी ने विभिन्न वस्तुओं एवं जीवों का वर्णन कर अन्त में इस्लामी विश्वास के अनुसार जीवों की कोटियाँ अठारह हजार ही मानी हैं, न कि चौरासी लाख। जायसी के इस प्रकार के चित्रण यह सिद्ध करते हैं कि वर्णन करते समय वह न तो हिन्दू विश्वासों से ही चिपके रहे हैं और न इस्लामी विश्वासों से ही। वे मुसलमान थे, इसलिए इस्लामी विश्वासों का उनके द्वारा अंकन होना स्वाभाविक था। वे भारतीय थे, इसलिए उनके द्वारा हिन्दू नामों, विश्वासों एवं परम्पराओं का अंकन होना भी नितान्त स्वाभाविक था।

(४)

कीन्हेसि मानुष, दिहिसि बड़ाई। कीन्हेसि अन्न, भुगुति तेहि पाई॥
कीन्हेसि राजा भूँजहि राजू। कीन्हेसि हस्ति घोर तेहि साजू॥
कीन्हेसि तिन्ह कँह बहुत बेरासू। कीन्हेसि कोइ ठाकुर कोइ दासू॥
कीन्हेसि दरब गरब जेहि होई। कीन्हेसि लोभ, अघाइ न कोई॥
कीन्हेसि जियन, सदा सब चहा। कीन्हेसि मीचु, न कोई रहा॥
कीन्हेसि सुख औ कोटि[1] अनंदू। कीन्हेसि दुख चिंता औ दंदू॥
कीन्हेसि कोइ भिखारि, कोई धनी। कीन्हेसि सँपति बिपति पुनि घनी॥

पाठ-भेद—१. कोड=क्रीड़ा।

कीन्हेसि कोई निभरोसी, कीन्हेसि कोइ बरिआर।
छारहिं तें सब कीन्हेसि, पुनि कीन्हेसि सब छार ।।४।।

शब्दार्थ—दिहिसि=दिया। भुगुति=भोजन (भुक्ति)। भूँजहिं=भोगते हैं। घोर=घोड़ा। बेरासू=विलास-सामग्री। जियन=जीवन। चहा=चाह। रहा=बचा। अनन्दू=आनन्द। दन्दू=झगड़ा (द्वन्द्व)। निभरोसी=असहाय। बरिआर=बलवान। छारहिं=मिट्टी से।

व्याख्या—उस ईश्वर ने मनुष्य को पैदा किया और उसे (सारे प्राणियों से अधिक) बड़प्पन दिया। उसने अन्न बनाया जिससे भोजन मिला। उसने राजाओं को बनाया जो राज्य का भोग करते हैं अर्थात् खूब ऐश-आराम के साथ रहते हैं और इन राजाओं की शोभा बढ़ाने के लिए हाथी और घोड़े उत्पन्न किये। उसने इन राजाओं के लिए अनेक प्रकार की विलास की सामग्रियाँ बनाईं। उसने किसी को स्वामी बनाया तथा किसी को दास। उसने द्रव्य अर्थात् धन की सृष्टि की, जिसे पाकर गर्व उत्पन्न होता है। उसने लोभ की रचना की, जिसके कारण कोई व्यक्ति कभी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हो पाता। उसने जीवन अर्थात् प्राणों की सृष्टि की, जिसे सब हमेशा चाहते हैं। उसने मृत्यु की रचना की जिससे संसार का कोई भी प्राणी बच नहीं पाया। उसने सुख और करोड़ों प्रकार के आनन्दों की सृष्टि की और साथ ही दुःख, चिन्ता तथा झगड़ों को उत्पन्न किया (जिनके कारण मनुष्य सदैव त्रस्त बना रहता है)। उसने किसी को भिखारी बनाया और किसी को धनवान। उसने सम्पत्ति रची और फिर अनेक प्रकार की विपत्तियों की रचना की।

उसने किसी को असहाय अर्थात् निर्बल बनाया और किसी को सबल अर्थात् बलवान। उसने इन सबकी रचना मिट्टी से की और फिर सब को मिट्टी बना दिया।

टिप्पणी—उपर्युक्त पद की छठी पंक्ति के प्रथम चरण में 'कोटि अनन्दू' के स्थान पर डा० गुप्त तथा डा० अग्रवाल ने 'कोड आनन्दू' पाठ माना है। उन्होंने 'कोड' का अर्थ दिया है—'क्रीड़ा', अर्थात् ईश्वर ने अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं तथा आनन्दों की सृष्टि की। इस पाठांतर को स्वीकार कर लेने से भी कवि के मूल भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(५)

धनपति उहै जेहिक संसारू। सबै देइ निति, घट न भँडारू ।।
जावत जगति हस्ति औ चाँटा। सब कहँ भुगुति राति दिन बाँटा ।।
ताकर दीठि जो सब उपराहीं। मित्र सत्रु कोई बिसरै नाहीं ।।
पंखि पतंग न बिसरे कोई। परगट गुपुत जहाँ लगि होई ।।
भोग भुगुति बहु भाँति उपाई। सबै खवाइ, आप नहिं खाई ।।

ताकर उहैं जो खाना पियना। सब कहँ देइ भुगुति औ जियना ॥
सबै आस-हर ताकर आसा।[1] वह न काहु के आस निरासा ॥
जुग जुग देत घटा नहिं, उभै हाथ अस कीन्ह।
और जो दीन्ह जगत महँ, सो सब ताकर दीन्ह ॥५॥

शब्दार्थ—उहै=वही। जेहिक=जिसका। जावत=जितने। चाँटा=चींटी। भुगुति=भोजन। उपराहीं=ऊपर रहती है। उपाई=उत्पन्न की। उहै=वही। जियना=जीवन, पानी। आसहर=निराश। ओह=उसके। उभै=दोनों।

व्याख्या—[सच्चा] धनवाला वही है जिसका यह सारा संसार है अर्थात् सच्चा धनवाला तो एक वही ईश्वर है जो इस सम्पूर्ण संसार का स्वामी है और उसका पालन करता है। वह सबको नित्य सब प्रकार की वस्तुओं का दान करता है और इतने पर भी उसके भंडार में कभी कमी नहीं पड़ती अर्थात् उसका भंडार अक्षय रहता है। इस संसार में हाथी से लेकर चींटी तक जितने जीव-जन्तु हैं वह सब को रात-दिन भोजन देता रहता है। उसकी [कृपा] दृष्टि सदैव सब के ऊपर रहती है, वह मित्र और शत्रु किसी को भी अपनी इस दयादृष्टि से वंचित नहीं रखता। वह पक्षी और पतिंगे आदि किसी भी प्राणी को नहीं भूलता, चाहे वह प्रकट रहता हो अथवा गुप्त। उसने अनेक प्रकार के भोग और भोजन की सामग्रियाँ उत्पन्न कीं। वह इन चीजों को सबको खाने को देता है परन्तु स्वयं कुछ भी नहीं खाता। उसका अपना खाना-पीना यही है कि वह सबको खाना-पीना देता है अर्थात् सबके खाने-पीने में ही उसको परम सन्तोष प्राप्त होता है। संसार के सम्पूर्ण निराश प्राणी उसी की आशा करते हैं अर्थात् उसी पर निर्भर रहते हैं परन्तु वह स्वयं किसी की भी आशा नहीं करता; अर्थात् वह निष्काम भाव से सब का पालन करता है, परन्तु प्रतिदान में किसी से भी किसी भी प्रकार की आशा नही करता।

उसने इस संसार का प्रवन्ध इस प्रकार कर रखा है कि वह युग-युग से सबको सब कुछ देता चला आ रहा है, परन्तु फिर भी उसके भंडार में रंच-मात्र भी कमी नहीं आ पाई है। अन्य लोग, जो संसार में दूसरों को देते हैं, वह सब भी उसी का दिया हुआ है।

टिप्पणी—इसमें जायसी ने ईश्वर के पालनकर्त्ता-रूप का चित्रण किया है; साथ ही इस बात को भी स्पष्ट किया है कि ईश्वर संसार का पालन पूर्ण निष्काम भाव से करता है, किसी भी प्रकार के प्रतिदान की आकांक्षा नहीं करता। उपनिषदों में भी ईश्वर के कार्यों का इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। निष्काम-भाव उपनिषदों की ही देन माना जाता है।

(६)

आदि[2] एक बरनौं सोइ राजा। आदि न[3] अंत राज जेहि छाजा ॥
सदा सरबदा राज करेई। औ जेहि चहै राज तेहि देई ॥

पाठ-भेद—१. 'सबहिं आस ताकरि हरि स्वाँसा।' २. सोई। ३. आदिहुँ।

छत्रहिं अछत, निछत्रहि छावा। दूसर नाहिं जो सरवरि पावा ।।
परवत ढाह देख सब लोगू। चाँटहिं करै हस्ति-सरि-जोगू ।।
बज्रहि तिनकहिं मारि उड़ाई। तिनहि बज्र करि देइ बड़ाई ।।
ताकर कीन्ह न जानै कोई। करै सोइ जो चित्त न होई ।।
काहू भोग भुगुति सुख सारा। काहू बहुर भूख दुख मारा ।।
सबै नास्ति वह अहथिर, ऐसि साज जेहि केरि।
एक साजै औ भाँजै, चहै सँवारै फेर ।।६।।

शब्दार्थ—छाजा=शोभायमान। चहै=चाहता है। छत्रहिं=छत्रधारी अर्थात् राजा। अछत=छत्रहीन, रंक, भिखारी। निछत्रहिं=असहाय, रंक, भिखारी। छावा=छत्रछाया करना, राजा बना देना। सरवरि पावा=समानता कर सके। ढाह=नष्ट कर देता है। चाँटिहिं=चींटी को। हस्ति-सरि जोगू=हाथी की समानता करने योग्य। नास्ति=नश्वर, नाशवान। अहथिर=स्थिर। साज=रचना। भाजै=नष्ट करता है। सँवारै=संवार देता है।

व्याख्या—मैं उस आदिकाल से चले आते हुए एकमात्र राजा (ईश्वर) का वर्णन करता हूँ जिसका राज्य इतना विस्तृत है कि उसका आदि और अन्त ही नहीं मिलता। उसका ऐसा राज्य चारों ओर सुशोभित है। वह सदा-सर्वदा राज्य करता रहता है और जिसको चाहता है उसी को राज्य दे देता है; अर्थात् राजा बना देता है। वह छत्रधारी राजा को बिना छत्र का कर भिखारी बना देता है और असहाय, रंक एवं दीन के ऊपर अपनी छत्र-छाया कर उसे छत्रधारी राजा बना देता है। इस संसार में दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है जो उसकी समानता कर सके। वह सब लोगों के देखते-देखते ही बड़े-बड़े पर्वतों को ढहाकर चूर्ण बना देता है और चींटी को हाथी की बराबरी करने योग्य विशाल और शक्तिशाली रूप-प्रदान कर देता है। वह वज्र को तिनका मारकर उड़ा देता है और तिनके को वज्र के समान कठोर और शक्तिशाली बना सम्मान प्रदान करता है। उसके किये हुए कार्यों को कोई भी नहीं जान सकता। वह ऐसे कार्य करता है जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। वह किसी को भोग, भोजन और सुख की सामग्रियों से परिपूर्ण कर देता है और किसी को भूख और दुःखों की मार से मार देता है।

इस संसार में सब कुछ नश्वर अर्थात् नाशवान है, केवल वही एक स्थिर, अटल है। यह संसार उसी की ऐसी मनोरम रचना है। वह एक को बनाता है और फिर बिगाड़ देता है, और यदि चाहता है तो उसे फिर सँवार देता है।

(७)

अलख अरूप अबरन सो कर्ता। वह सब सौं, सब ओहि सों बर्ता ।।
परगट गुपुत सो सरबबिआपी। धरमी चीन्ह न चीन्है पापी ।।
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटंब न ओई सँग नाता ।।

जना न काहु, न कोइ ओहि जना । जहँ लगि सब ताकर सिरजना ॥
वैं[1] सब कीन्ह जहाँ लगि कोई । वह नहिं कीन्ह काहु कर होई ॥
हुत पहिले अरु अब है सोई । पुनि सो रहै रहै नहिं कोई ॥
और जो होई सो बाउर अंधा । दिन दुइ चारि मरै करि धंधा ॥
जो चाहा सो कीन्हेसि, करै जो चाहै कीन्ह ।
बरजनहार न कोई, सबै चाहि जिउ दीन्ह ॥७॥

शब्दार्थ—अलख=अलक्ष्य । अरूप=रूपहीन, निराकार । अबरन=अवर्ण, वर्णहीन, रंगहीन । ओहि सों=उसी से । वर्ता=कार्य-रत, व्यवहार में लगे हुए हैं । सरव बिआपी=सर्वव्यापी । धरमी=धर्मात्मा । कोई संग=किसी के साथ । सिर-जना=सृष्टि, सृजन । वैं=उसने । हुत=था । बाउर=बावला, पागल । धन्धा=काम-काज । बरजनहार=रोकने वाला । चाहि=इच्छा मात्र से ।

व्याख्या—जो अलक्ष्य, निराकार और रंगभेद रहित है, अर्थात् जिसे न कोई आँखों से देख सकता है, न जिसका कोई रूप या आकार है, जो निराकार है, जिसका न कोई रंग है, ऐसा वह ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता अर्थात् रचने वाला है । वह सबसे सम्बन्धित है; अर्थात् वह सब प्राणियों के माध्यम द्वारा ही कार्य करता है और सारे प्राणी उसी की सत्ता के कारण अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहते हैं । भाव यह है कि संसार के सम्पूर्ण कार्यों का संचालक एक मात्र वह ईश्वर ही है । वह प्रकट या गुप्त सभी वस्तुओं, प्राणियों आदि में सर्वव्यापी है । उसे केवल धर्मात्मा ही पहचान पाते हैं परन्तु पापी उसे नहीं जान पाते, क्योंकि वे अपने ही अहंकार और सुख-साधन में रात-दिन डूबे रहते हैं । न उसका कोई पुत्र है और न पिता अथवा माता है । न उसका कोई कुटुम्ब ही है और न किसी के भी साथ उसका कोई नाता-रिश्ता ही है । न किसी ने उसे जन्म दिया और न उसने ही किसी को जन्म दिया । फिर भी जहाँ तक इस सम्पूर्ण सृष्टि का सम्बन्ध है, वह सब उसी की रचना है । जहाँ तक किसी का भी सम्बन्ध है, उसकी रचना या अस्तित्व का कारण केवल वही एक ईश्वर है । परन्तु स्वयं उसकी रचना किसी ने भी नहीं की है । उसका जो अस्तित्व पहले था वही अब भी है, और अन्त में भी वही अकेला रह जायेगा, चाहे सृष्टि में अन्य कोई रहे या न रहे । भाव यह है कि सृष्टि के आदि में भी केवल उसी ईश्वर का अस्तित्व था, अब भी है और सृष्टि के अन्त में भी केवल उसी एक का अस्तित्व रह जायेगा; अर्थात् वह काल की सीमा से परे है । जो कोई इस बात का गर्व करता है कि वह है, तो ऐसा कहने वाला पागल और अन्धा है, क्योंकि वह चार दिन इस संसार में जीवित रहकर धन्धा पीटता हुआ अन्त में मर जायेगा ।

उस ईश्वर ने जो चाहा सो किया और जो करना चाहता है, वह करता है ।

पाठ-भेद—१. ओंइँ=वही, उसी ने ।

उसे रोकने वाला कोई भी नहीं है। उसने अपनी इच्छा मात्र से सबको जीवन दिया है; अर्थात् वह सर्वशक्तिमान है।

(८)

एहि विधि चीन्हहु करहु गियानू। जस पुरान महँ लिखा बखानू।
जीउ नाहिं, पै जियै गुसाईं। कर नाहीं, पै करै सबाईं॥
जीभ नाहिं, पै सब किछु बोला। तन नाहीं सब ठाहर डोला[1]॥
स्रवन नाहिं, पै सब किछु सुना। हिया नाहिं पै सब किछु गुना॥
नयन नाहिं, पै सब किछु देखा। कौन भाँति अस जाइ बिसेखा॥
है नाहीं कोइ ताकर रूपा। ना ओहि सन कोइ आहि अनूपा॥
ना ओहि ठाऊँ, न ओहि बिनु ठाऊ। रूप रेख बिनु निरमल नाऊ॥
ना वह मिला न बेहरा, ऐस रहा भरिपूरि।
दीठिवंत कहँ नीयरे, अंध मूरुखहिं दूरि॥८॥

शब्दार्थ—चीन्हहु = पहचानो। गियानू = ज्ञान। पुरान = प्राचीन धर्मग्रन्थ अर्थात् कुरान (जायसी ने 'कुरान' का ही 'पुराण' कह कर उल्लेख किया है)। बखानू = वर्णन। सबाईं = सब कुछ, सारे कार्य। ठाहर = स्थान। डोला = घूमता है। गुना = समझता है। बिसेखा = जाना जाय, ज्ञान प्राप्त किया जाय। ठाऊँ = स्थान। निरमल = निराकार। बेहरा = अलग। दीठिवन्त = दृष्टि वाले, अर्थात् ज्ञानी। कहँ = के। नीयर = पास, निकट।

व्याख्या—[इसलिए] उसे उसी प्रकार पहचानो और उसका ज्ञान प्राप्त करो जिस प्रकार प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में उसका वर्णन किया गया है; अर्थात् ईश्वर को प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में दिये गए उसके वर्णनों के आधार पर ही पहचाना जा सकता है। वह ईश्वर अद्भुत कर्मा है। उसके प्राण नहीं हैं लेकिन फिर भी वह जीवित रहता है। उसके हाथ नही हैं मगर फिर भी वह सारे काम करता है; जीभ के न होते हुए भी सब कुछ बोलता है; शरीर नहीं है परन्तु फिर भी सारे स्थानों पर घूमता-फिरता रहता है; कान नहीं हैं परन्तु सब कुछ सुनता है; हृदय नहीं है पर सब कुछ विचार करता और समझता है; नेत्र नहीं हैं परन्तु सब कुछ देखता है। इसलिए ऐसे अद्भुत अलौकिक ईश्वर को किस प्रकार देखा या उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? उसके जैसा रूप वाला अन्य कोई भी नहीं है और न वही किसी के रूप जैसा है। वह ईश्वर ऐसा ही अनुपम, अलौकिक और अद्भुत है। उसका अपना कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ वह रहता हो; और न संसार में ही कोई ऐसा स्थान है जहाँ वह न रहता हो। उसका न कोई रूप है और न कोई आकार। ऐसा वह ईश्वर सर्वथा निर्मल, अर्थात् निराकार है। भाव यह है कि वह ईश्वर संसार के अणु-अणु में व्याप्त रहता हुआ भी

पाठ-भेद—१. 'तन नाहीं जो डोलाव सो डोला।'

उससे सर्वथा निर्लिप्त, निर्विकार और निराकार है। न वह संसार में मिला हुआ ही है, और न उससे अलग ही है। जो लोग दृष्टि वाले अर्थात् अन्तर्दृष्टि रखने वाले ज्ञानी हैं उन्हें वह अपने निकट प्रतीत होता है; अर्थात् वही उसके अस्तित्व और स्वरूप को समझ पाते हैं, और जो इस अन्तर्दृष्टि से हीन अर्थात् मूर्ख और अन्धे हैं, उनके लिए वह सदैव दूर अर्थात् अज्ञात और अपरिचित ही रहता है।

टिप्पणी – (१) उस रूप, आकारहीन ईश्वर द्वारा किये जाने वाले वे सारे कार्य जो केवल आकार वाले कर सकते हैं, अद्भुत विरोधाभास की सृष्टि करते हैं। सूर और तुलसी ने भी ईश्वर के ऐसे ही निराकार रूप का वर्णन किया है। तत्सम्बन्धी तुलसी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बाणी वक्ता बड़ जोगी।" आदि।

(२) 'निरमल नाऊ' शब्दों से अभिप्राय ईश्वर के उस नाम से है जो मध्य-कालीन दार्शनिक सम्प्रदायों में ईश्वर के लिए प्रयुक्त होता था और जिसका अभिप्राय 'निराकार' से था।

(६)

और जो दीन्हेसि रतन अमोला। ताकर मरम न जानै भोला॥
दीन्हेसि रसना और रस भोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहँसे जोगू॥
दीन्हेसि जग देखन कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनै कहँ बैना॥
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर-पल्लौ, बर बाहाँ॥
दीन्हेसि चरन अनूप चलाहीं। सो जानइ जेहि दीन्हेसि नाहीं॥
जोबन मरम जात[1] पै बूढ़ा। मिला न तरुनापा जग ढूँढ़ा॥
सुख कर मरम न जानै राजा। दुखी जान जा पर दुख बाजा॥
काया-मरम जान पै रोगी, भोगी रहैं निचिंत।
सब कर मरम गोसाईं (जान), जो घट-घट रहै नित॥६॥

शब्दार्थ—दीन्हेसि=दिया। अमोला=अमूल्य। भोला=भोला मनुष्य। बिहँसै जोगू=हँसने के योग्य। बैना=वाणी, वचन। बर बाँहा=श्रेष्ठ भुजाएँ, बाँहें। तरुनापा=तरुणाई, यौवन। बाजा=पड़ता है। नित=नित्य, सदैव।

व्याख्या—ईश्वर ने मनुष्य को और भी अनेक अमूल्य रत्न दिए हैं परन्तु यह भोला मनुष्य उन रत्नों, अर्थात् अमूल्य वस्तुओं के रहस्य को नहीं जानता। उसने मानव को उपभोग करने वाली रसना अर्थात् जिह्वा दी है और उसकी तृप्ति के निमित्त अनेक प्रकार के रस और भोग दिए हैं; दाँत दिए हैं जो हँसने के ही योग्य हैं, अर्थात् हँसते समय दाँतों का सम्पूर्ण सौंदर्य उद्भासित हो उठता है। दुनिया को देखने के लिए

पाठ-भेद—१. जान=जानता है।

नेत्र दिए हैं; दूसरों की वाणी को सुनने के लिए कान दिए हैं। कंठ अर्थात् गला दिया है जिसमें शब्द अर्थात् वाणी का वास रहता है। पल्लवों के समान सुन्दर कोमल, चिकनी हथेलियाँ दी हैं और साथ ही सुन्दर और पुष्ट भुजाएँ दी हैं। चरण दिए हैं जिनके द्वारा मानव सुन्दर रूप से चलता है। इन सारे अंगों के महत्त्व को वही समझ सकता है जिसे ये अंग नहीं मिले हैं; अर्थात् दन्तहीन दाँतों के, अन्धा नेत्रों के, बहरा कानों के, गूँगा वाणी के, लँगड़ा पैरों के महत्त्व को भली-भाँति समझ सकता है। इस प्रकार ये सुन्दर, उपयोगी और अद्भुत वस्तुएँ प्रदान कर ईश्वर ने मानव को सम्पूर्ण बनाया है। इनके अभाव में मानव का महत्त्व ही न रह जाता। मानव को ये सारी वस्तुएँ अनायास ही प्राप्त हो गई हैं, इसलिए वह इनके पूर्ण महत्त्व को नहीं समझ पाता। उसे इनका महत्त्व तभी ज्ञात हो पाता है जब वह इन्हें खो बैठता है; जैसे—बूढ़ा मनुष्य यौवन के महत्त्व को तभी समझ पाता है जब उसका यौवन नष्ट होकर उसे बुढ़ापा घेर लेता है। यौवन काल में तो वह अन्धा बना रहता है। यौवन बीत जाने पर फिर संसार भर में खोजने पर भी उसे पुनः यौवन नहीं मिल पाता। इसी प्रकार राजा सुख के मर्म को नहीं जान पाता। सुख का मर्म तो वही दुखी प्राणी समझता है जिस पर दुख पड़ता है। सुन्दर स्वस्थ शरीर का महत्त्व कोई रोगी ही जान सकता है, क्योंकि जब तक उसका शरीर स्वस्थ रहता है तब तक तो वह आँखें बन्द कर भोगों में डूबा रहता है और जब उन भोगों के परिणामस्वरूप उसे रोग आ घेरते हैं, तभी उसकी समझ में स्वस्थ शरीर का महत्त्व आ पाता है। अतः इन सम्पूर्ण वस्तुओं के वास्तविक महत्त्व को तो केवल वही ईश्वर जानता है जो सदैव सब के घट-घट में निवास करता है।

भाव यह है कि मनुष्य किसी भी वस्तु का वास्तविक महत्त्व तभी समझ पाता है जब वह उसके लिए अलभ्य हो उठती है। ईश्वर ने हमें सब कुछ दिया है, मगर हम अहंकारवश उन वस्तुओं के वास्तविक महत्त्व को नहीं समझ पाते।

(१०)

अति अपार करता कर करना। बरनि न कोई पावै बरना॥
सात सरग जो कागद करई। धरती समुद दुहूँ मसि भरई॥[१]
जावत जग साखा बनढाखा। जावत केस रोंव पँखि-पाँखा॥
जावत खेह रेह दुनियाई। मेघबूँद औ गगन तराई॥
सब लिखिनी कै लिखु संसारा। लिखि न जाइ गति-समुद अपारा॥
ऐस[२] कीन्ह सब गुन परगटा। अबहुँ समुद महँ बूँद न घटा॥
ऐस जानि मन गरब न होई। गरब करे मन बाउर सोई॥
बड़ गुनवंत गोसाईं, चहै सँवारै बेग।
औ अस गुनी सँवारै, जो गुन करै अनेग॥१०॥

पाठ-भेद—१. 'धरती सात समुँद ससि भरई।' २. एत

शब्दार्थ—कर=का । करना=करनी, कार्य, रचना । बरना=बखान, चित्रण । जौं=जो, यदि । पंखि-पाँखा=पक्षियों के पंख । खेह=मिट्टी । रेह=बालू । दुनियाई=संसार में । गति-समुद=कार्यों का अपार समुद्र । ऐस=इस प्रकार । महँ =में से । बाउर=पागल । अस=ऐसे ।

व्याख्या—उस कर्त्ता (ईश्वर) की करनी (रचना) अत्यन्त अपार है । वर्णन करके भी कोई उसका पूर्ण रूप से वर्णन नहीं कर पाता । यदि सातों आकाशों का कागज बनाया जाय, धरती और सारे समुद्र—दोनों ही स्थानों को दवात बना कर उमे स्याही से भर दिया जाय, संसार में जितने भी वन, उनमें लगे वृक्ष और उन वृक्षों की शाखायें हैं, जितने भी केश, रोम और पक्षियों के पंख हैं, संसार में जितनी भी मिट्टी और बालू है, जितनी भी मेघ की बूँदें और आकाश के तारे हैं, इन सम्पूर्ण असंख्य वस्तुओं की लेखनी (कलम) बनाकर सारा संसार उस ईश्वर का वर्णन करने बैठे तो भी उसके सम्पूर्ण कार्यों का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके कार्य समुद्र के समान अपार और असीम हैं । इस प्रकार उसने अपने अनन्त गुण प्रकट किए हैं परन्तु इतने पर भी उसके गुणों अथवा कर्मों के उस अपार, अनन्त सागर में से एक बूँद भी कम नहीं हो पाई है । वह अब भी उतना ही पूर्ण है । इस रहस्य को जान लेने से फिर मनुष्य के मन में अपने कर्मों का गर्व नहीं रह जाता, क्योंकि वह उस ईश्वर के सम्मुख स्वयं को नगण्य समझने लगता है । और यदि इस रहस्य को जान कर भी कोई अपने कर्मों पर गर्व करता है तो वह पागल है ।

ऐसा वह अनन्त गुणों का सागर ईश्वर बड़ा गुण वाला है । वह इच्छा करते ही सब कुछ तुरन्त सम्हाल लेता है । और वह ऐसे गुणी की सृष्टि करता है जो अनेक प्रकार के गुण अर्थात् सुन्दर कर्म करता है ।

टिप्पणी—(१) सम्पूर्ण पद में अतिशयोक्ति के साथ अत्युक्ति अलङ्कार है ।

(२) 'अबहुँ समुद महँ बूँद न घटा' में अत्युक्ति अलङ्कार है ।

(३) जायसी अन्तिम पंक्ति में "औ अस गुनी सँवारै, जो गुन करै अनेग" कह कर उस गुणी पुरुष हजरत मुहम्मद साहब की ओर संकेत कर रहे हैं, क्योंकि इसके उपरान्त ही जायसी ने मुहम्मद साहब की स्तुति की है ।

(४) डा० गुप्त तथा डा० अग्रवाल ने द्वितीय पंक्ति के अन्तिम चरण का पाठान्तर दिया है—'धरती सात समुद मसि भरई ।' अर्थात् धरती के सातों समुद्रों में स्याही भरी जाय ।

(११)

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा । नाम मुहम्मद पूनौ-करा ॥
प्रथम जोति विधि ताकर साजी । औ तेहि प्रीति सिहिट उपराजी ॥
दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा । भा निरमल जग, मारग चीन्हा ॥
जौं न होत अस पुरुष उजारा । सूझि न परत पंथ अँधियारा ॥

दुसरे ठाँव दैव वै लिखे। भए धरमी जे पाढ़त सिखे॥
जेहि नहिं लीन्ह जनम भरि नाऊँ। ता कहँ कीन्ह नरक महँ ठाऊँ॥
जगत[1] बसीठ दई ओहिं कीन्हा। दुइ जग तरा नावँ जेहि लीन्हा॥
गुन अवगुन बिधि पूछब, होइहिं लेख औ जोख।
वह बिनउब आगे होइ, करब जगत कर मोख॥११॥

शब्दार्थ—कीन्हेसि=बनाया। निरमरा=निर्मल। पूनौकरा=पूर्णिमा की कला। प्रथम जोति=पहली ज्योति, नूर। तेहि प्रीति=उसके प्रेम के कारण। सिहिट=सृष्टि। उपराजी=उत्पन्न की। लेसि=जला कर। भा=हुआ। चीन्हा=पहचाना। ठाँव=स्थान। वै=उसे। पाढ़त=उपदेश, कलमा। जगत बसीठ=जगत का पैगम्बर, दूत अर्थात् संसार में ईश्वर का सन्देश लाने वाला उसका दूत। ओइ=उसे। पूछब=पूछेगा। लेख औ जोख=कर्मों का लेखा-जोखा, हिसाब-किताब। बिनउब=विनय करेगा। आगे होइ=सबके आगे खड़ा होकर। मोख=मुक्ति।

व्याख्या—जायसी ईश्वर-स्तुति के उपरान्त इस्लामी विश्वासानुसार ईश्वर के एक मात्र दूत अथवा पैगम्बर मुहम्मद साहब की स्तुति करते हुए कहते हैं कि उसने अर्थात् ईश्वर ने एक निर्मल ज्योतिधारी पुरुष (पैगम्बर) की रचना की जिसका नाम मुहम्मद था और जो पूर्ण चन्द्र के समान [प्रकाशवान, शीतलता प्रदान करने वाला और सुन्दर] था। उसके रूप में विधाता ने पहले अपनी ज्योति को प्रकाशित किया (मुहम्मद साहब को उत्पन्न किया), और फिर उसके प्रेम से सृष्टि की रचना की। इस प्रकार विधाता ने मुहम्मद साहब के रूप में एक दीपक को प्रज्वलित कर संसार को दे दिया और उसके प्रकाश से सारा संसार निर्मल अर्थात् प्रकाशित हो उठा और अज्ञान के अन्धकार में भटकते हुए प्राणियों को अपना असली मार्ग मिल गया। भाव यह है कि ईश्वर ने मुहम्मद साहब के द्वारा अपना संदेश भेज कर अज्ञान में भटकते हुए प्राणियों को मोक्ष का मार्ग दिखाया। यदि इस संसार में ऐसा [ज्ञान से] उज्ज्वल पुरुष जन्म न लेता तो चारों ओर [अज्ञान] का अन्धकार छाया रहता और [प्राणियों] को सच्चा मार्ग न दिखाई पड़ता।

ईश्वर ने ऐसे मुहम्मद साहब का नाम दूसरे स्थान पर लिख दिया, अर्थात् उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाकर संसार में भेजा। जिन लोगों ने पैगम्बर के उपदेशों को सुना और सीखा, वे धर्मात्मा कहलाये। जिन्होंने जन्म भर ईश्वर का नाम नहीं लिया, उन्हें नरक में स्थान दिया गया। इस प्रकार ईश्वर ने मुहम्मद को अपने सन्देश-वाहक, अर्थात् दूत के रूप में संसार में भेजा। जिसने भी उसका नाम-स्मरण किया, उसी के दोनों लोक अर्थात् इहलोक और परलोक—दोनों ही सफल हो गए; अर्थात् उसे मुक्ति मिल गई।

पाठ-भेद—१. उमति=उम्मत, धर्म, अनुयायी, इस्लाम।

जव (कयामत के दिन) ईश्वर प्रत्येक प्राणी से उसके गुणों और अवगुणों के विषय में पूछेगा और जब प्राणी के प्रत्येक अच्छे-बुरे कार्य का सारा लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जायेगा, उस समय मुहम्मद सबसे आगे बढ़कर ईश्वर से विनय करेंगे और जगत को मोक्ष दिलायेंगे।

टिप्पणी—(१) जायसी सूफी मुसलमान थे। उपर्युक्त पंक्तियों में इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद साहब के प्रति जायसी की एकनिष्ठ धार्मिक श्रद्धा और विश्वास प्रकट हो रहे हैं। प्रत्येक भक्त अपने धर्म अथवा सम्प्रदाय तथा उसके प्रवर्त्तक के प्रति अटूट श्रद्धा रखता है। जायसी में यह प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट और श्लाघनीय है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं लेना चाहिए कि जायसी ने अवधी भाषा में मुहम्मद या इस्लाम की प्रशंसा कर हिन्दुओं में इस्लाम का प्रसार करना चाहा था। यह तो एक धार्मिक भक्त की अपने धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा और विश्वास से ओतप्रोत अभिव्यक्ति है। इसमें धार्मिक संकीर्णता का सन्देह करना असंगत है।

(२) 'पदमावत' मसनवी शैली का महाकाव्य है। इस शैली में ग्रन्थ के प्रारम्भ में ईश्वर, पैगम्बर, शाहेवक्त आदि की स्तुति करना आवश्यक माना गया है।

(३) 'प्रथम जोति·······उपराजी'—इस्लामी सिद्धान्तानुसार यह माना जाता है कि ईश्वर ने इस संसार की रचना मुहम्मद के लिए ही की थी। यदि मुहम्मद न होते तो यह संसार भी न रचा जाता।

(१२)

चारि मीत जो मुहमद ठाऊँ। जिन्हहि दीन्ह जग निरमल नाऊँ[१] ॥
अबाबकर सिद्दीक सयाने। पहिले सिदिक दीन वइ आने ॥
पुनि सो उमर खिताब सुहाए। भा जग अदल दीन जो आए ॥
पुनि उसमान पँडित बड़ गुनी। लिखा पुरान जो आयत सुनी ॥
चौथे अली सिंह बरियारू। सौहँ न कोऊ रहा जुझारू ॥
चारिउ एक मतै, एक बाना[२]। एक पंथ औ एक सँधाना[३] ॥
बचन एक जो सुना वइ साँचा। भा परवान दुहूँ जग बाँचा ॥
जो पुरान बिधि पठवा, सोई पढ़त गरंथ।
और जो भूले आवत, सो सुनि लागे पंथ ॥१२॥

शब्दार्थ—चारि मीत=चार मित्र, मुहम्मद साहब के उपरान्त होने वाले उनके चार उत्तराधिकारी खलीफा। ठाऊँ=स्थान। सयाने=चतुर। सिदिक=सच्चा। दीन=धर्म। वइ आने=वह ले आए। अदल=न्याय। पुरान=कुरान।

पाठ-भेद—१. 'चहुंक दुहूँ जग निरमर नाऊँ।' २. बाता। ३. संघाता=समूह।

आयत=कुरान की आयतें अर्थात् श्लोक या पद। बरियारू=बलवान। सन्धाना=सन्धान, लक्ष्य। परवान=प्रमाण।

व्याख्या—जायसी इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद साहब का वर्णन करने के उपरान्त उनके पश्चात् हुए चार खलीफाओं का वर्णन करते हैं। जायसी ने इन चारों खलीफाओं को परस्पर चार मित्र कहा है। जायसी इनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि मुहम्मद के चार मित्र उनके स्थान पर उनके उत्तराधिकारी हुए। संसार ने इन चारों की कीर्ति को उज्ज्वल बनाया, अर्थात् अपने कर्मों द्वारा ये संसार में अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। इनमें प्रथम अबूबकर हुए जो अत्यन्त बुद्धिमान और चतुर थे। इन्होंने सबसे पहले इस्लाम धर्म में दीक्षित होकर उसमें सत्य की प्रतिष्ठा की, अर्थात् इस्लाम को स्वीकार कर इस सर्वप्रथम सच्चे धर्म का प्रचार किया। अबूबकर के उपरान्त उमर इस खलीफा पद पर प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने जब इस्लाम-धर्म ग्रहण किया तो संसार में अदल अर्थात् न्याय की स्थापना की; अर्थात् उमर ने अपने शासन-काल में संसार में न्याय का प्रचार किया। उमर के उपरान्त उसमान खलीफा हुए जो बहुत बड़े ज्ञानी व्यक्ति थे। इन्होंने मुहम्मद साहब से सुनी कुरान की आयतों का संग्रह कर कुरान का एक प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत किया। इनके उपरान्त चौथे खलीफा अली हुए जो सिंह के समान बलवान योद्धा थे। उस समय इनकी तुलना का अन्य कोई भी योद्धा नहीं था। ये चारों खलीफा एक मत के मानने वाले और एक पंथ के अनुयायी थे। इन चारों का उद्देश्य भी एक ही था; अर्थात् इस्लाम का प्रचार करना। इन्होंने जो एक सत्य वचन, अर्थात् मुहम्मद साहब का उपदेश सुना वही एकमात्र सत्य है और प्रामाणिक है। इनके कहे हुए सत्य वचन इहलोक और परलोक—दोनों ही लोकों में समान रूप से प्रमाण स्वरूप सिद्ध हुए। अथवा वही सत्य वचन दीन और दुनिया, दोनों की रक्षा करने वाला है। दोनों लोकों में उसी को प्रमाण्य माना गया।

विधाता ने जिस प्राचीन धर्म-ग्रन्थ (कुरान) को भेजा था, सब लोग उसी को पढ़ते थे। अन्य भूले-भटके हुए जो लोग आ-आ कर उस ग्रन्थ (कुरान) को सुन लेते थे, वे सब भी इसी मार्ग पर चल पड़ते थे, अर्थात् इस्लाम में दीक्षित हो मुसलमान बन जाते थे।

टिप्पणी—(१) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उक्त चारों खलीफाओं के समय का निर्धारण इस प्रकार किया है—

'अबूबकर (६२२-३४ ई०), उमर (६३४-४४ ई०), उसमान (६४४-५५ ई०), अली (६५५-६६ ई०)।

खलीफा उसमान के समय में कुरान को लिपिबद्ध किया गया था। उसमान ने संग्रह का कार्य कर उस समस्त सामग्री को मुहम्मद साहब के लिपिक जैद तथा तीन अन्य कुरैशियों को सौंप दिया था। और इस प्रकार सर्वप्रथम कुरान का प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत हुआ था।

(२) जायसी, चूँकि हिन्दू कथा को माध्यम बनाकर लिख रहे थे, इसलिए उन्होंने इस ग्रन्थ में सर्वत्र हिन्दू धर्म की पारिभाषिक शब्दावली का ही प्रयोग किया है। जैसे 'चार यार' को चार मीत, 'उसमान' को पंडित, 'कुरान' को पुरान, 'कलमे' को वचन, 'अल्लाह' को विधि, 'किताब' को ग्रन्थ, 'दीन इस्लाम' को पंथ आदि। इससे सिद्ध होता है कि जायसी में धार्मिक संकीर्णता न होकर पर्याप्त उदारता थी। वे भारतीय थे, इसलिए भारतीय वर्णन-प्रणाली एवं संस्कृति को प्रधान मानकर चले थे।

(१३)

सेरसाहि देहली सुलतानू। चारिउ खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज छात औ पाटा। सब राजै भुइँ धरा लिलाटा॥
जाति सूर औ खाँड़े सूरा। औ बुधिवंत सबै गुन पूरा॥
सूर नवाए नवखंड वई। सातउ दीप दुनी सब नई॥
तहँ लगि राज खड़ग करि लीन्हा। इसकंदर जुलकरन जो कीन्हा॥
हाथ सुलेमाँ केरि अँगूठी। जग कहँ दान दीन भरि मूठी[1]॥
औ अति गरू भूमिपति भारी। टेकि भूमि सब सिहिट सँभारी॥
दीन असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज।
बादसाह तुम जगत के, जग तुम्हारा मुहताज॥१३॥

शब्दार्थ—चारिउ खंड=चारों दिशाओं। ओही=उसे ही। छाज=सुशोभित होना। छात=छत्र, राज्य-छत्र। पाटा=सिंहासन। राजै=राजा गण। सूर=शेरशाह 'सूर' जाति का पठान था, इसी कारण उसे 'सूरी' कहा जाता था। खाँड़े सूरा=तलवार का धनी। नवाए=झुका दिए। वई=उसने। दुनी=दुनिया। नई=झुक गई। इसकन्दर=सिकन्दर। जुलकरन=जुलकरनैन, सिकन्दर की एक उपाधि। सुलेमाँ=सुलेमान। केरि=की। मूठी=मुट्ठी। गरू=गौरवशाली।

व्याख्या—उपर्युक्त पंक्तियों में जायसी शाहेवक्त, अर्थात् अपने समय के बादशाह शेरशाह सूरी का वर्णन कर रहे हैं। जायसी कहते हैं—

शेरशाह (सूरी) दिल्ली का बादशाह है, जिसका प्रताप चारों दिशाओं अथवा खण्डों में सूर्य के समान तप रहा है। राज्य-छत्र और सिंहासन केवल उसे ही शोभा देते हैं, अर्थात् केवल वही सम्राट् बनने के योग्य है। सारे राजाओं ने उसके सामने धरती पर मस्तक टिका कर उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया है। वह 'सूर' जाति का पठान योद्धा और तलवार का धनी है; साथ ही वह अत्यन्त बुद्धिमान और सर्वगुण-सम्पन्न है। उसने नव-खण्डों, अर्थात् सम्पूर्ण संसार के सभी शूरवीरों को अपने सामने झुका दिया है। सातों द्वीप और सारी दुनिया उसके सम्मुख झुक गई है। जैसा कि जुलकरनैन सिकन्दर ने किया था, अर्थात् विश्व-विजय की थी,

---

पाठ-भेद—'१. 'जग कहँ जिअन दीन्ह तेहि मूठी।'

उसी प्रकार शेरशाह ने भी अपनी तलवार के जोर से अपना राज्य उतना ही विस्तृत कर लिया है। उसके हाथ में सुल्तान सुलेमान की अँगूठी है। इसलिए [इस जादू-भरी अँगूठी के बल पर] वह सारे संसार को मुट्ठी भर-भर कर दान देता रहता है। वह अति गौरवशाली और महान् सम्राट है। उसने सम्पूर्ण सृष्टि को सहारा देकर सम्हाल रखा है, अर्थात् सारी सृष्टि उसी के बलबूते पर टिकी हुई है। कवि (मलिक मुहम्मद जायसी) उसे आशीष देता है कि—"तुम युग-युग तक राज्य करो। तुम सारे संसार के बादशाह हो, क्योंकि सारा संसार केवल तुम्हारा ही मुख जोहता रहता है।"

इस दोहे का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि मुहम्मद, अर्थात् पैगम्बर मुहम्मद साहब ने शेरशाह को यह आशीर्वाद दिया कि तुम युग-युग तक राज्य करो और सारा संसार तुम्हारा मुखापेक्षी बना रहेगा। परन्तु यहाँ 'मुहम्मद' से भाव मलिक मुहम्मद जायसी से ही अधिक संगत बैठता है, क्योंकि कवि सदैव से राजाओं को आशीर्वाद ही देते आए हैं।

टिप्पणी—(१) उपर्युक्त पंक्तियों में शेरशाह सूरी की अतिशयोक्तिपूर्ण दानवीरता और शौर्य का वर्णन किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से शेरशाह इतना बड़ा और शक्तिशाली सम्राट् नहीं था, जितना कि जायसी ने उसे चित्रित किया है।

(२) 'जुलकरन' शब्द की व्याख्या करते हुए शुक्लजी ने इसके कई अर्थ बताये हैं। यह सिकन्दर की एक उपाधि थी, यह ऐतिहासिक सत्य है। परन्तु इसके अर्थ के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं; जैसे—दो सींगों वाला, पूर्व और पश्चिम दो दिशाओं को जीतकर एक करने वाला, २० वर्ष राज्य करने वाला, दो उच्च ग्रहों से युक्त अर्थात् भाग्यवान आदि। परन्तु उपर्युक्त सभी अर्थों में से दो सींग वाला अर्थ ही अधिक संगत बैठता है। कहा जाता है कि चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व जब सिकन्दर ने मिस्र पर आक्रमण किया था तो उस समय वह सीवा स्थान पर निर्मित मिस्र के तत्कालीन राष्ट्र-देवता सूर्य के मन्दिर में दर्शन करने गया था। उस समय वहाँ के धर्म गुरुओं ने उसे अमन-पुत्र अर्थात् सूर्य-पुत्र कह कर उसका स्वागत किया था। डा० अग्रवाल का मत है कि तभी से मिस्री प्रथानुसार सिकन्दर के मस्तक पर मेष शृंग अर्थात् मेंढ़े के दो सींग का अलंकरण बनाया जाने लगा। सिकन्दर के कुछ सिक्कों पर उसके मस्तक पर दो सींग बने मिलते हैं। 'जुलकरन' का फारसी रूप जू-ल्-करनैन है जिसका अर्थ है—दो सींगों वाला।

(३) सुलेमान की अँगूठी – कहा जाता है कि यह अँगूठी अनेक प्रकार के रत्नों से बनी एक जादूभरी अँगूठी थी जिस पर ईश्वर की महिमा के वाचक मंत्र खुदे हुए थे। इस अँगूठी के प्रभाव से सुलेमान ने 'जिनों' को अपने वश में कर रखा था और इन जिनों के द्वारा अतुल सम्पत्ति और शक्ति प्राप्त कर ली थी। सुलेमान एक यहूदी राजा था।

(१४)

बरनौं सूर भूमिपति[1] राजा। भूमि न भार सहै जेहि साजा।।
हय गय सेन चलै जग पूरी। परबत टूटि उड़हि होइ धूरी।।
रेनु रैंनि होइ रबिहिं गरासा। मानुख पंखि लेहिं फिरि बासा।।
भुइँ उड़ि अंतरिक्ख मृतमंडा[2]। खंड खंड धरती बरम्हंडा।।
डोलै गगन, इंद्र डरि काँपा। बासुकि जाइ पतारहि चाँपा।।
मेरु धसमसै, समुद सुखाई। बन खँड टूटि खेह मिलि जाई।।
अगिलहिं कहँ पानी लेइ बाँटा। पछिलहिं कहँ नहिं काँदौं आँटा।।
जो गढ़ नएउ न काहुहि चलत होइ सो चूर।
जब वह चढ़ै भूमिपति सेर साहि जग सूर।।१४।।

शब्दार्थ – साजा=साज-सामान (भाव शेरशाह की विशाल सेना से है)। जग पूरी=संसार में फैलकर। बासा=बसेरा। अंतरिक्ख=अन्तरिक्ष। मृतमंडा=मिट्टी से मंडित, मिट्टी से ढक जाना। चाँपा=छिप गया। धसमसै=धसकने लगता है। अगिलहिं=आगे के। बाँटा=बाँट लिया। पछिलहिं=पीछे के। काँदौं=कीचड़। आँटा=अटता, पूरा पड़ता। नएउ=झुके। काहुहि=किसी से भी।

व्याख्या – पिछले छन्द में शेरशाह का साधारण वर्णन कर अर्थात् परिचय मात्र दे, जायसी ने इस छन्द में उसकी शूरवीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है।

जायसी कहते हैं—अब मैं इस सूरवंशी पृथ्वीपति, अर्थात् सम्राट् का वर्णन करता हूँ। इसके सैनिक साज-बाज के भार को पृथ्वी सहन नहीं कर पाती, अर्थात् इसकी सेना इतनी विशाल और सैनिक साज-सज्जा से परिपूर्ण है कि उसके भार से पृथ्वी डगमगा उठती है। जब उसकी हाथी-घोड़ों वाली सेना सारे संसार में फैल कर चलती है तो उसके सम्मुख आने वाले पर्वत टूट कर चूर्ण-चूर्ण हो धूल में मिल जाते हैं। उसकी सेना के चलने से उठी हुई धूल आसमान में उठकर सूर्य को ढक लेती है जिससे चारों तरफ रात्रि का-सा अन्धकार छा जाता है और उस अन्धकार के कारण रात हो गई समझ कर मनुष्य और पक्षी—सभी अपने-अपने घरों और घोंसलों में जा-जाकर विश्राम करने लगते हैं। यह धूल उड़कर सारे अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में छा जाती है और इसके परिणामस्वरूप धरती और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड खंड-खंड हो जाते हैं। भाव यह है कि पृथ्वी का ऊपरी खंड या सतह टूट कर ऊपर उड़ जाती है। इस सेना के चलने से आकाश काँपने लगता है, इन्द्र डर कर व्याकुल हो उठता है और वासुकि नाग भय के कारण भाग कर पाताल में जा छिपता है। पहाड़ जमीन में धसकने लगते हैं, समुद्र सूख जाते हैं, सारे जंगल टूट-टूट कर मिट्टी में मिल जाते हैं।

पाठ-भेद—१. पुहुमपति=पृथ्वीपति, राजा। २. महि मंडा=धूल का गुबार।

यह सेना इतनी विशाल है कि जब वह चलती है तो उसके अगले भाग अर्थात् पहले भाग में रहने वाली सैनिक टुकड़ियों को तो पानी मिल जाता है परन्तु सेना की अन्तिम पंक्तियों में चलने वाले सैनिकों के हिस्से में कीचड़ भी पूरी नहीं पड़ पाती। भाव यह है कि मार्ग में पड़ने वाले कुओं और जलाशयों आदि का सारा पानी सेना का अगला हिस्सा ही पी जाता है और उनमें सिर्फ कीचड़ शेष रह जाती है।

जब संसार का अप्रतिम योद्धा और स्वामी बादशाह शेरशाह चढ़ाई करता है तो उसके मार्ग में पड़ने वाले ऐसे गढ़ या किले, जो किसी के भी सामने नहीं झुके थे, शेरशाह के उनकी ओर प्रस्थान करते ही चूर-चूर हो जाते हैं; अर्थात् भयभीत होकर उसके सम्मुख पहले ही आत्म-समर्पण कर देते हैं।

टिप्पणी—(१) इस छन्द की चौथी अर्द्धाली के अन्तिम भाग का एक दूसरा पाठान्तर इस प्रकार मिलता है—"षट खंड धरित अष्ट ब्रह्माण्डा।" डा० अग्रवाल ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"फलस्वरूप धरती के छह ही खंड रह जाते हैं और ऊपर आकाश में आठ हो जाते हैं।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पंक्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"यह फिरदौसी के शाहनामे के इस शेर का ज्यों-का-त्यों अनुवाद है—

'ज़े सुम्मेर सितौराँ दरा पह्ने दश्त। ज़मी शश शुदो आस्माँ गश्त हश्त॥'

अर्थात् उस लम्बे-चौड़े मैदान में घोड़ों की टाप से जमीन सात खंड के स्थान पर छह ही खंड की रह गई और आसमान सात खंड के स्थान पर आठ खंड का हो गया।"

इस्लाम के मतानुसार पृथ्वी और आसमान के सात-सात खंड हैं। उपर्युक्त पंक्ति का भाव यह है कि शेरशाह की सेना के चलने से पृथ्वी का ऊपरी सातवाँ खंड अथवा पर्त टूट कर धूल के रूप में आसमान में छा गई। इस प्रकार पृथ्वी के छः खंड रह गए और ऊपर आसमान में एक और खंड मिल जाने से उसके आठ खंड हो गए।

(२) **अलंकार**—(अ) सम्बन्धातिशयोक्ति।

(ब) 'मानुख पंखि लेहि फिर बासा'—पंक्ति में 'भ्रान्तिमान'।

(१५)

अदल कहौं पुहुमी जस होई। चाँटा चलत न दुखवै कोई॥
नौसेरवाँ जो अदिल कहा। साहि अदल-सरि सोउ न अहा॥
अदल जो कीन्ह उमर कै नाई। भई अहा सगरी दुनियाई॥
परी नाथ कोई छुवै न पारा। मारग मानुष सोन उछारा॥

गऊ सिंह रेंगहि एक बाटा। दूनौ पानि पियहिं एक घाटा॥
नीर खीर छानै दरबारा। दूध पानि सब करैं निनारा॥
धरम नियाब चलै, सत भाखा। दूबर बली एक सम राखा॥
सब पृथवी सीसहि नई, जोरि-जोरि कै हाथ।
गंग-जमुन जौ लगि जल, तौ लगि अम्मर नाथ[1] ॥१५॥

शब्दार्थ—अदल=न्याय। दुखवैं=दुख देता है। नौसेरवाँ=नौशेरवाँ, एक प्रसिद्ध ईरानी सम्राट। यह अत्यन्त न्यायप्रिय सम्राट था। आदिल=न्यायप्रिय। साहि=बादशाह शेरशाह। अदल-सरि=न्याय की बराबरी। अहा=है। सोउ न=वह भी नहीं। उमर=चार खलीफाओं में से एक। यह भी अपनी न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध था। नाई=समान। अहा=वाह-वाह। नाथ=नथ। पारा=सकता। सोन=सोना, स्वर्ण। उछारा=उछालते हैं। बारा=रास्ता। छाइन=छानता है, अलग-अलग करता है। निनारा=अलग। नियाब=न्याय। सत भाखा=सत्य वचन। बली=बलवान। अम्मर=अमर। नाथ=स्वामी।

व्याख्या—शेरशाह की शूरवीरता का वर्णन करने के उपरान्त जायसी इस छन्द में उसकी न्यायप्रियता का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

अब मैं शेरशाह की उस न्यायप्रियता का वर्णन करता हूँ जैसा कि उसका इस संसार में रूप प्रसिद्ध है। उसके राज्य में कोई मार्ग पर चलती हुई चींटी तक को नहीं सताता। संसार में बादशाह नौशेरवाँ को न्यायी कहा जाता है परन्तु वह भी न्याय के क्षेत्र में बादशाह शेरशाह की बराबरी नहीं कर सकता। शेरशाह ने खलीफा उमर के समान न्याय किया। उसे देखकर सारे संसार में उसकी वाह-वाह (प्रशंसा) होने लगी। उसके राज्य में कोई भी व्यक्ति रास्ते में पड़ी हुई सोने की नथ से हाथ तक नहीं लगाता। मनुष्य रास्ते में सोना उछालते हुए चलते हैं; अर्थात् निर्द्वन्द्व होकर अपनी-अपनी सम्पत्ति का भोग और प्रदर्शन करते हैं। कोई भी दूसरे की चीज नहीं चुराता। गाय और सिंह एक ही रास्ते पर मस्त होकर धीरे-धीरे चलते हैं, अर्थात् उन्हें एक-दूसरे से किसी भी प्रकार का भय नहीं होता और दोनों एक ही घाट पर साथ-साथ पानी पीते हैं।

राज-दरबार में बैठकर शेरशाह नीर-क्षीर के विवेक द्वारा असलियत का पता लगा लेता है और फिर दूध का दूध, पानी का पानी कर न्याय करता है। सारे राज्य के धर्म के अनुसार सच्चा न्याय किया जाता है। वह सत्य भाषी है तथा दुर्बल और बलवान—सभी को एक-सी ही दृष्टि से देखकर उन सब की रक्षा करता है।

उसकी इस न्याय-प्रियता को देखकर सारी पृथ्वी उसके सम्मुख नत-मस्तक हो हाथ जोड़-जोड़ कर उसे आशीर्वाद देती है कि जब तक गंगा-यमुना में जल रहे, तब तक हे स्वामी! तू अमर बना रहे।

पाठ-भेद—१. माथ=मस्तक, माथा।

टिप्पणी—(१) अलंकार—सम्बन्धातिशयोक्ति, उपमा।

(२) नौशेरवाँ—यह ईरान का एक प्रसिद्ध सम्राट् था। इसका शासनकाल ५३१ से ५७९ ईस्वी तक माना जाता है। यह अपनी न्यायप्रियता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। इसी कारण फारसी-साहित्य में उसे 'आदिल' अर्थात् न्यायकारी कहकर पुकारा गया है।

(३) शेरशाह इतिहास में अपनी न्यायप्रियता तथा कठोर दंड के लिए प्रसिद्ध रहा है। 'तारीख-ए-शेरशाह' में लिखा है कि—"शेरशाह के राज में कोई वृद्धा स्त्री चाहती तो सोने के आभूषणों की डलिया सिर पर रखकर चली जाती थी, किन्तु शेर-शाह के उग्र दंड के भय से किसी चोर-उचक्के की हिम्मत न थी कि उससे हाथ भी लगाए।" जायसी ने 'लोगों द्वारा मार्ग में सोना उछालते हुए चलना' का उल्लेख कर शेरशाह के इसी कुशल, सुदृढ़ शासन-प्रवन्ध एवं न्यायप्रियता की ओर संकेत किया है।

(१६)

पुनि रूपवंत बखानौं काहा। जावत जगत सबै मुख चाहा॥
ससि चौदसि जो दई सँवारा। ताहू चाहि रूप उँजियारा॥
पाप जाइ जो दरसन दीसा। जग जुहार कै देत असीसा॥
जैस भानु जग ऊपर तपा। सबै रूप ओहि आगे छपा॥
अस भा सूर पुरुष निरमरा। सूर चाहि दस आगर करा॥
सौंह दीठि कै हेरि न जाई। जेहि देखा सो रहा सिर नाई॥
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा। बिधी सुरूप जग ऊपर गढ़ा॥
रूपवंत मनि माथे, चंद्र घाटि वह बाढ़ि।
मेदिनि दरस लोभानी, असतुति बिनवै ठाढ़ि॥१६॥

शब्दार्थ—रूपवंत=रूपवान, दर्शनीय। काहा=क्या। जावत=जितना। चाहा=चाहता है, देखता रहता है। ससि चौदसि=चौदहवीं का चन्द्रमा। चाहि=अपेक्षा। जुहार कै=जुहार करके, प्रणाम करके। छपा=छिप जाता है। सूर=सूर्य, सूर, सूर्यवंशी। आगर=अधिक। करा=कला। नाई=नीचा करके। सवाई=सवाया। चढ़ा=बढ़ा। मेदिनि=पृथ्वी। लोभानी=लुभानी।

व्याख्या—शेरशाह की न्यायप्रियता का वर्णन करने के उपरान्त जायसी उसके रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मैं अब उस अमित रूपवान अर्थात् सुन्दर पुरुष के रूप का क्या वर्णन करूँ! [उसका मुख इतना सुन्दर है कि] सारा संसार उसी के मुँह की ओर सदैव देखते रहना चाहता है। विधाता ने जो चौदहवीं के चाँद का निर्माण किया है, उसे भी अपने सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए शेरशाह के रूप के प्रकाश की चाहना बनी रहती है। भाव यह है कि शेरशाह का रूप चौदहवीं के चन्द्रमा से भी अधिक उज्ज्वल और श्रेष्ठ है। [ऐसे राजा के] दर्शन मात्र से मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। सारा संसार

नित्य उसके सम्मुख जुहार (प्रणाम) कर उसे आशीर्वाद देता है। जब सूर्य ऊपर आकाश में स्थित हो सारे संसार को तपाता है तो उसके रूप के तेज के सम्मुख संसार के अन्य सारे रूप धूमिल पड़ जाते हैं, छिप जाते हैं। यह शूर पुरुष (शेरशाह) इतने निर्मल स्वरूप वाला है कि उसके रूप की कलाएँ सूर्य से भी दस गुनी अधिक प्रकाशवान प्रतीत होती हैं। [जिस प्रकार सूर्य की ओर आँखें उठाकर नहीं देखा जा सकता उसी प्रकार] शेरशाह के मुख की ओर भी नजर उठाकर नहीं देखा जा सकता। जिसने भी उसके इस अद्भुत तेजस्वी रूप के दर्शन किए, वही उसके सम्मुख सिर झुकाकर खड़ा रह गया। भाव यह है कि शेरशाह का रूप इतना तेजस्वी है कि लोग उसकी ओर आँख उठाकर नहीं देख पाते। उसका रूप दिन-प्रति-दिन सवाया होता चला जाता है, अर्थात् बढ़ता चला जाता है। विधाता ने उसके रूप को संसार में सबसे श्रेष्ठ बनाया है।

उसका तेजस्वी सुन्दर ललाट मणि के समान दमकता रहा है। चन्द्रमा कृष्ण पक्ष में दिन-प्रति-दिन घटता रहता है परन्तु शेरशाह का रूप दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही चला जाता है। इसलिए वह रूप में चन्द्रमा से श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि चन्द्रमा में कलङ्क है परन्तु शेरशाह का ललाट मणि के समान निर्दोष, उज्ज्वल और प्रकाशवान है। इसलिए भी वह चन्द्रमा से श्रेष्ठ है। सारा संसार उसके इस अद्भुत रूप को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो उठा है और उसके सम्मुख सिर झुकाकर खड़ा उसकी स्तुति करता रहता है। अन्तिम पंक्ति का एक अर्थ यह भी किया जा सकता है कि स्वयं पृथ्वी उसके रूप पर मुग्ध हो उसके सम्मुख शीश झुकाए खड़ी उसकी स्तुति कर रही है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—व्यतिरेक।

(२) हिन्दुओं में व्यक्ति के सौन्दर्य की उपमा या तुलना पूर्णिमा के चन्द्रमा से दी या की जाती है, परन्तु मुसलमानों में चतुर्दशी (चौदहवीं) के चाँद से। इसका कारण यह है कि मुसलमान पड़वा से चन्द्रमा के दिन न गिनकर दूज से गिनते हैं। इसलिए हमारी पूर्णमासी को ही उनकी चौदस पड़ती है। वैसे होते दोनों ही पूर्ण चन्द्र अर्थात् पूर्णमासी के चन्द्रमा हैं।

(३) 'रूपवन्त मनि माथे'—शेरशाह का ललाट अत्यन्त तेजस्वी था। बाबर ने उसे देखकर कहा कि—'उसके माथे पर राजकीय तेज के चिह्न अंकित हैं।'

(१७)

पुनि दातार दई जग कीन्हा। अस जग दान न काहू दीन्हा॥
बलि विक्रम दानी बढ़ कहे। हातिम करन तियागी अहे॥
सेरसाहि सरि पूजि न कोऊ। समुद सुमेरु भँडारी दोऊ॥[1]

पाठ-भेद—१. 'समुँद सुमेर घटहिं नित दोऊ।' अर्थात् उसके दान देने से समुद्र और सुमेरु पर्वत भी नित्य क्षीण होते जाते हैं, क्योंकि वह उन्हीं से स्वर्ण लेकर दान करता रहता है।

दान डाँक बाजै दरबारा। कीरति गई समुन्दर पारा॥
कंचन परसि[1] सूर जग भयऊ। दारिद भागि दिसंतर गयऊ॥
जो कोई जाइ एक बेर माँगा। जनम न भा पुनि भूखा नाँगा॥
दस असमेध जग्गि जेइ कीन्हा। दान-पुन्य सरि सौंह न दीन्हा॥
ऐस दानि जग उपजा, सेरसाहि सुलतान।
ना अस भयउ न होइहि, ना कोइ देइ अस दान॥१७॥

शब्दार्थ—दातार=दानी। काहू=किसी ने भी। बलि=राजा बलि। विक्रम=राजा विक्रमादित्य। हातिम=हातिमताई। करन=कर्ण। पूज=पूरा पड़ना। भंडारी=खजांची। डांक=डंका। दिसंतर=देशान्तर, दूसरे देशों में। बेर=बार। सरि=समान। दानि=दानी।

व्याख्या—शेरशाह के अमित तेजस्वी रूप का वर्णन करने के उपरांत जायसी उसकी दानशीलता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए कहते हैं—

फिर विधाता ने उसे बहुत बड़ा दानशील (दानी) बनाया। उसके समान दान संसार में और किसी ने भी नहीं दिया। संसार में राजा बलि और विक्रमादित्य बहुत बड़े दानी के रूप में प्रसिद्ध हैं तथा हातिमताई और कर्ण बहुत बड़े त्यागी माने जाते हैं। परन्तु इनमें से कोई भी दान और त्याग में शेरशाह की समानता नहीं कर सकता, क्योंकि समुद्र और सुमेरु दोनों ही उसके भंडारी (खजांची) हैं, अर्थात् वह समुद्र से रत्न और सुमेरु पर्वत से सोना ले-ले कर सब को दान देता रहता है। (समुद्र और सुमेरु रत्न और स्वर्ण के अक्षय कोष माने जाते हैं।) उसके दरबार में दान का डंका बजता रहता है; अर्थात् वह डुग्गी पिटवा कर दान बाँटता रहता है। उसकी यह कीर्त्ति समुद्र पार विदेशों तक फैली हुई है। जिस प्रकार पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है, उसी प्रकार शेरशाह की दानशीलता के कारण सारा संसार स्वर्ण से पट गया है। दरिद्रता इस देश से भागकर दूसरे देशों को चली गई है, अर्थात् इस देश में कोई भी दरिद्र नहीं रहा है। जो कोई भी एक बार जाकर उससे माँग लेता है, फिर उसे जीवन भर भोजन-वस्त्र का अभाव नहीं रहता। इस संसार में जिस व्यक्ति ने दस अश्वमेध यज्ञ करके जितना दान दिया होगा, उस दान की भी तुलना शेरशाह के किए गए दान-पुण्य से नहीं की जा सकती, अर्थात् शेरशाह ने उससे भी अधिक दान दिया है।

इस संसार में बादशाह शेरशाह ऐसा दानी उत्पन्न हुआ कि उसके समान न कोई हुआ है और न होगा, और न कोई ऐसा और इतना दान ही दे सकेगा।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—अतिशयोक्ति।

(२) बलि, विक्रम, हातिम और कर्ण अपनी दानशीलता और त्याग के लिए बहुत प्रसिद्ध थे।

(३) इस छन्द की पाँचवीं पंक्ति के प्रथम चरण का एक पाठांतर इस प्रकार

पाठ-भेद—१. बरसि।

मिलता है—'कंचन बरसि सोर जग भयेऊ।' अर्थात् 'संसार में इस बात का शोर मचा हुआ है कि उसके यहाँ कंचन बरसता है।' यह पाठ आचार्य शुक्ल द्वारा दिये गए उपर्युक्त पाठ से अधिक संगत प्रतीत होता है। डा० गुप्त और डा० अग्रवाल ने इसी पाठ को शुद्ध माना है।

(१८)

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा॥
लेसा हियें प्रेम कर दीया। उठी जोति भा निरमल हीया॥
मारग हुत अँधियार जो सूझा[1]। भा अँजोर, सब जाना बूझा॥
खार समुद पाप मोर मेला। बोहित-धरम लीन कै चेला॥
उन्ह मोर कर बूड़त कै गहा। पायों तीर घाट जो अहा॥
जाकहँ ऐस होइ कंधारा[2]। तुरत बेगि सो पावै पारा॥
दस्तगीर गाढ़े कै साथी। वह अवगाह, दीन्ह देहि हाथी॥
जहाँगीर वै चिस्ती, निहकलंक जस चाँद।
वै मखदूम जगत के, हौं ओहि घर कै बाँद॥१८॥

शब्दार्थ—पीर=सन्त। लेसा=जलाया। हुत=था। सूझा=दिखाई दे गया। अँजोर=उजियाला, प्रकाश। खार=खारे। मेला=धकेल दिया था, डाल दिया था। बोहित-धरम=धर्म-नौका। उन्ह=उन्होंने। मोर कर=मेरा हाथ। अहा=था। कंधारा=कर्णधार। दस्तगीर=हाथ पकड़ने वाला। गाढ़े=संकट। बह=बहते हुए। हाथी=हाथ। वै=वे, वह। मखदूम=स्वामी। ओहि=उनके। कै=का। बाँद=सेवक।

व्याख्या—पिछले छन्दों में शेरशाह के विभिन्न गुणों का वर्णन करने के उपरांत जायसी इस छन्द में अपनी गुरु-परम्परा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सैयद अशरफ सबके प्रिय सन्त हैं। उन्होंने ही मुझे यह [ज्ञान से] उज्ज्वल पंथ बताया, अर्थात् सूफी पंथ का ज्ञान कराया। उन्होंने मेरे हृदय में प्रेम का दीपक प्रज्वलित किया। उस दीपक से जो ज्योति निकली, अर्थात् उनके पंथ से मुझे जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उससे मेरा हृदय निर्मल हो गया, अर्थात् मेरा सारा भ्रमान्धकार मिट गया। मेरा मार्ग अन्धकार से भरा हुआ था, वह मुझे ज्ञात हो गया। चारों तरफ प्रकाश छा गया और मुझे ज्ञान और विवेक प्राप्त हुआ। मेरे पापों ने मुझे खारे समुद्र में पटक रखा था, अर्थात् अपने पापों के कारण मैं अत्यन्त व्याकुल रहता था। उन्होंने मुझे अपना शिष्य बनाकर मुझे अपनी पंथ-रूपी धर्म की नौका पर चढ़ा लिया और पाप के समुद्र में डूबते हुए का हाथ पकड़ कर बचा लिया। मैं किनारे पर पहुँच कर अपने घाट को पा गया, अर्थात् अपने लक्ष्य को मैंने प्राप्त कर लिया। जिसका ऐसा कर्णधार (मार्ग दर्शक) हो, वह शीघ्र ही तेजी से संसार रूपी समुद्र से पार हो

पाठ-भेद—१. असूँझा=असूझ, दिखाई न देने वाला। २. कँड़हारा=कर्णधार।

जाता है। वह ऐसे साथी हैं—जो विपत्ति के समय हाथ पकड़ कर रक्षा कर लेते हैं। मैं अथाह समुद्र में वहता चला जा रहा था, उन्होंने ही मुझे अपने हाथ का सहारा देकर बचा लिया।

ऐसे वे सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती वंश के और चाँद के समान निष्कलंक हैं। वे संसार के स्वामी हैं और मैं उनके घर का सेवक हूँ, अर्थात् उनके उत्तराधिकारियों का नौकर हूँ।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक और उपमा।

(२) सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती वंश के बहुत बड़े सूफी सन्त थे। जायसी के गुरु मुहीउद्दीन चिश्ती उन्हीं के वंशज माने जाते हैं।

(१९)

ओहि घर रतन एक निरमरा। हाजी शेख सबै[1] गुन भरा॥
तेहि घर दुइ दीपक उजियारे। पंथ देइ कहँ दैव सँवारे॥
सेख मुबारक पून्यो-करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥
दुऔ अचल धुव डोलहिं नाहीं। मेरु खिखिंद तिन्हहुँ उपराहीं॥
दीन्ह रूप औ जोति गोसाईं। कीन्ह खंभ दुइ जग के ताईं॥
दुहूँ खंभ टेके सब मही। दुहुँ के भार सिहिट थिर रही॥
जेहि दरसे औ परसे पाया। पाप हरा, निरमल भइ काया॥
मुहम्मद तेइ निचिंत पथ जेहि सँग मुरसिद पीर।
जेहि रे नाव करिआ औ खेवक बेगि लागि सो तीर॥१९॥

शब्दार्थ—ओहि=उनके। देह कहँ=देने के लिए। पून्यो करा=पूर्णिमा की कला। दुऔ=दोनों। धुव=ध्रुव। डोलहि नाहीं=डिगते नहीं थे। खिखिंद=किष्किन्धा पर्वत। तिन्हहुँ=उनसे भी। उपराहीं=ऊपर, श्रेष्ठ। दूइ=दो। तेइ=वही। मुरसिद=मुर्शिद, गुरु। करिआ=पतवार पकड़ने वाला। खेवक=खेने वाला। लागि=लग जाता है।

व्याख्या—सैयद अशरफ जहाँगीर के घर शेख हाजी ने एक सर्वगुण सम्पन्न निर्मल रत्न के रूप में जन्म लिया। ईश्वर ने संसार को सत्य मार्ग का ज्ञान कराने के लिए उस घर में दो दीपक जलाये, अर्थात् शेख हाजी के यहाँ दो पुत्रों का जन्म हुआ। इनमें से एक शेख मुबारक पूर्ण चन्द्र की कलाओं के समान था और दूसरा शेख कमाल संसार में निर्मल यश का अधिकारी बना। दोनों [अपनी साधना और विश्वास में] ध्रुव के समान अटल थे और कभी विचलित नहीं होते थे। वे सुमेरु और किष्किन्धा पर्वत से भी अधिक दृढ़, अटल और महान् थे। ईश्वर ने उन्हें तेज और सुन्दर रूप दिया। वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानो ईश्वर ने उन्हें ससार को अपने ऊपर सम्हाले रखने के लिए दो स्तम्भों के रूप में खड़ा कर दिया हो। सारी पृथ्वी इन्हीं

पाठ-भेद—१. सभागइँ=सौभाग्य से।

दोनों स्तम्भों पर टिका दी। सारी दृष्टि इन दोनों का सहारा पाकर स्थिर हो गई। जिसने भी इनके दर्शन किये और चरण स्पर्श किये, उसका पाप कट गया और शरीर सम्पूर्ण प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो निर्मल हो गया।

जायसी कहते हैं कि जिसके सिर पर ऐसे मार्ग-दर्शक गुरु और सन्तों की कृपा रहती है वह निश्चिन्त होकर अपने मार्ग पर आगे बढ़ता चला जाता है। जिसके पास ऐसी [धर्म की] नौका और ऐसे (गुरु और सन्त जैसे) खेने वाले हों, वह शीघ्र ही किनारे पर पहुँच जाता है, अर्थात् उसका जीवन सफल हो जाता है।

टिप्पणी—**अलंकार**—उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

(२०)

गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहिं कर खेवा॥
अगुआ भयउ सेख बुरहानू। पंथ लाहि मोहि दीन्ह गियानू॥
अलहदाद भल तेहिं कर गुरू। दीन दुनी रोसन सुरखुरू॥
सैयद मुहमद कै वैं चेला। सिद्ध-पुरुष-संगम जेहि खेला॥
दानियाल गुरु पंथ लखाए। हजरत ख्वाज खिजिर तेहि पाए॥
भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे। लिये मेरइ जहँ सैयद राजे॥
ओहि सेवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ, प्रेम कवि बरनी॥
वैं सुगुरू, हौं चेला, नित बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुत देखै पायऊँ, दरस गोसाईं केर॥२०॥

शब्दार्थ—मोहदी=सैयद मुहीउद्दीन। खेवक=खेने वाला, मल्लाह। सेवा=सेवक। उताइल=जल्दी, शीघ्र। खेवा=नाव का बोझ। अगुआ=मार्ग-दर्शक। रोसन=प्रसिद्ध। सुरखुरू=तेजस्वी, मुख पर तेज धारण करने वाले। सिद्ध-पुरुष-संगम=ईश्वर का साक्षात्कार। खेला=खेल, आसान बात। ख्वाज खिजिर=ख्वाजा खिज्र, एक प्रसिद्ध पुरुष। मेरइ=मिला लिया। सैयद राजे=सैयद राव हामिदशाह। करनी=फल। उघरी जीभ=जिह्वा खुली। प्रेमकवि=प्रेम गाथा। सुगुरू=श्रेष्ठ गुरु। चेर=चेला, सेवक। उन्हहुत=उनके द्वारा।

व्याख्या—इस छंद में जायसी अपने दूसरे गुरु सैयद मुहीउद्दीन का वर्णन करते हैं। जायसी के पहले गुरु सैयद अशरफ जहाँगीर थे।

गुरु मुहीउद्दीन मेरे मार्ग-दर्शक अर्थात् नाविक हैं और मैं उनका सेवक हूँ। मेरे इन गुरु की पतवार बड़ी तेजी से चलती है, अर्थात् वे अपने सेवकों को बड़ी शीघ्रता के साथ मुक्ति के मार्ग पर डाल देते हैं। शेख बुरहान उनके (शेख मुहीउद्दीन के) मार्ग-दर्शक थे। उन्होंने मुझे अपने पंथ में दीक्षित कर सत्य का ज्ञान कराया। उनके भी गुरु अलहदाद थे जो दीन, अर्थात् धार्मिक क्षेत्र तथा सारे संसार में विख्यात थे।

उनके मुँह पर तेज छाया रहता था। शेख अलहदाद सैयद मुहम्मद के चेले थे जिनके लिए सिद्ध पुरुष, अर्थात् परम-पुरुष (ईश्वर) का साक्षात्कार करना एक खेल के समान था। उन्हें दानियाल गुरु ने पंथ में दीक्षा दी थी या सत्य का मार्ग दिखाया था। हजरत ख्वाजा खिज्र ने इन दानियाल को पाया था। वे प्रसन्न होकर दानियाल को सैयद राजे हामिदशाह से मिलाने ले गए। ऐसी प्रसिद्ध गुरु-शिष्य-परम्परा के उत्तराधिकारी गुरु मुहीउद्दीन की सेवा करने से मुझे जो फल प्राप्त हुआ, उसके प्रभाव से मेरी जिह्वा खुल गई, अर्थात् मुझ में काव्य-शक्ति प्रस्फुटित हुई और मैंने प्रेम-काव्य का वर्णन किया।

वे ही मेरे श्रेष्ठ गुरु हैं, मैं उनका चेला हूँ और उनका सेवक बनकर नित्य उनकी विनती करता रहता हूँ। उनकी कृपा से ही मैं भगवान का दर्शन पा सकूँगा।

टिप्पणी—(१) 'सिद्ध-पुरुष-संगम जेहि खेला' का अर्थ डा० अग्रवाल ने इस प्रकार किया है—'जिनकी संगति में पहुँचे हुए लोग रहते थे।' एक अन्य विद्वान् लेखक ने इसका अर्थ किया है—'वे सिद्ध पुरुष थे और उनके लिए परमेश्वर का साक्षात्कार खेल था।' उक्त दोनों अर्थों से हमारा ऊपर दिया गया अर्थ अधिक संगत है, ऐसा हमारा अपना विश्वास है।

(२) इस छन्द में जायसी ने अपनी गुरु-परम्परा का क्रमिक परिचय दिया है। भारत में निजामुद्दीन औलिया की सूफी परम्परा आगे चलकर दो भागों में विभक्त हो गई थी—(१) मानिकपुर की तथा (२) जायसी की। इस ग्रन्थ में जायसी ने इन दोनों ही परम्पराओं का वर्णन कर दोनों से ही ज्ञान प्राप्त करने की बात कह, दोनों के ही प्रति अपना आभार प्रकट किया है। सैयद अशरफ जहाँगीर वाली परम्परा जायस की थी तथा शेख मुहीउद्दीन वाली पूर्व परम्परा मानिकपुर की। जायसी जायस वाली परम्परा के अनुयायी थे। उन्होंने मानिकपुर वाली परम्परा के प्रति भी अपना पूर्ण आभार प्रकट कर इस बात को सिद्ध कर दिया है कि उनमें धर्म या सम्प्रदाय-गत संकीर्णता का पूर्ण अभाव था।

(२१)

एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेहि कबि सुनी॥
चाँद जैस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक, कीन्ह उजियारा॥
जग सूझा एकै नयनाहाँ। उआ सूक जस नखतन्ह माहाँ॥
जौ लहि अंबहि डाभ न होई। तौ लहि सुगँध बसाइ न सोई॥
कीन्ह समुद पानि जो खारा। तौ अति भयउ असूझ अपारा॥
जौ सुमेरु तिरसूल बिनासा। भा कंचन गिरि, लाग अकासा॥
जौ लहि घरी कलंक न परा। काँच होइ नहिं कंचन-करा॥

एक नयन जस दरपन, औ निरमल तेहि भाउ।
सब रूपवंतइ पाउँ गहि, मुख जोहहिं कै चाउ ।।२१।।

शब्दार्थ—एक नयन=एक नेत्र वाला। गुनी=गुणवान। विमोहा=मोहित हो गया। नयनाहाँ=नयन से, आँख से। उआ=उगा, उदय हुआ। सूक=शुक्र तारा। लहि=लगि, तक। अम्वहि=आम के वृक्ष में। डाभ=आम के फल के मुँह पर का तीखा चेंप। बसाई=सुगन्धित होना। लाग=लग गया। घरी=सोना गलाने की घरिया। कलंक=मैल, गन्दगी। कंचन-करा=सोने की चमक।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी स्वयं अपना परिचय देते हुए सर्वप्रथम अपने काने होने के प्रति संकेत करते हैं और अपने इस अङ्ग-भङ्ग को दोष न मानते हुए अत्यन्त गर्व के साथ स्वयं अपनी तथा अपने काव्य की प्रशंसा करते हैं। यह प्रसिद्ध है कि जायसी एक आँख से रहित अर्थात् काने थे। जायसी कहते हैं—

गुणवान कवि मुहम्मद के एक ही नेत्र है। जिस किसी ने भी उसकी वाणी अर्थात् कविता सुनी, वही उस पर मोहित हो गया। विधाता ने उसे इस संसार में चन्द्रमा के समान बनाकर उत्पन्न किया। जिस प्रकार चन्द्रमा में कलंक होता है परन्तु फिर भी वह अपनी शीतल, मधुर चन्द्रिका से संसार को प्रकाश देता है, उसी प्रकार जायसी एक आँख वाले अर्थात् शारीरिक दृष्टि से कलंक युक्त होते हुए भी अपने काव्य यश के प्रकाश से सारे संसार को प्रकाशित कर रहे हैं। विधाता ने उन्हें कलंक दिया, अर्थात् एक आँख वाला वनाया और उन्होंने कलंकी चन्द्रमा के समान ही सारे संसार को अपने काव्य द्वारा ज्ञान का प्रकाश दिया। [अन्य लोग तो दोनों आँखों वाले होते हुए भी इस संसार को देख-समझ नहीं पाते परन्तु जायसी ने] अपने एक ही नेत्र द्वारा सारे-संसार को देख-समझ लिया। वे संसार के मनुष्यों में इस प्रकार श्रेष्ठ एवं तेजस्वी थे, मानो तारागणों के मध्य अत्यन्त प्रकाशवान शुक्र नक्षत्र उदय हुआ हो। जब तक आम के फल में तीखा चेंप नहीं उत्पन्न होता तब तक उसमें सुगन्धि नहीं उत्पन्न होती। विधाता ने समुद्र के पानी को खारा बनाया, इसी कारण वह इतना विस्तृत, गहरा और अपार बन सका। जब इन्द्र ने सुमेरु पर्वत को अपने त्रिशूल से विनष्ट किया तभी वह सोने का पहाड़ बन सका और इतना ऊपर उठा कि आकाश से जा लगा। जब तक कच्चे सोने को घरिया में डाल कर तपाया नहीं जाता और जब तक उसका मैल छँट कर उसके ऊपर नहीं आ जाता, तब तक उसमें असली सोने की चमक नहीं उत्पन्न हो पाती।

कवि का वह एक नेत्र दर्पण के समान निर्मल है अर्थात् वह निर्मल एवं निष्पक्ष भाव से सब को देखता है, इसी कारण उसके भाव भी निर्मल हैं। संसार के सारे रूपवान पुरुष [इस कुरूप] जायसी के पाँव पकड़ कर बड़े चाव से उसका मुँह जोहते रहते हैं।

ऊपर की पंक्तियों का भाव यह है कि जायसी इस बात को जानते थे कि काना होने के कारण लोग उनकी हँसी उड़ाते हैं। आत्महीनता के अपने इस भाव को

जायसी ने अपने कवि-कौशल द्वारा अपना गुण प्रमाणित किया है, और इसके समर्थन में चन्द्रमा, समुद्र, आम, सुमेरु, स्वर्ण आदि का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि ये सब अपने-अपने कलंक अर्थात् दोषों के कारण ही इतने महान् बन सके हैं।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उपमा।

(२) कहा जाता है कि इन्द्र ने इधर-उधर उड़ने-फिरने वाले पर्वतों के अत्याचारों से जनता की रक्षा करने के लिए अपने वज्र द्वारा उनके पंख काट दिये थे। और ऐसा कर देने से पर्वत एक स्थान पर स्थिर हो गये थे। इन्द्र ने जब अपने वज्र द्वारा सुमेरु पर्वत पर आघात किया तो वह एक स्थान पर स्थिर हो गया और सोने का पहाड़ बन आकाश तक ऊँचा उठ गया। यदि इन्द्र ऐसा न करता तो सुमेरु इधर-उधर उड़ता फिरता और इतना ऊँचा न उठ पाता। जायसी ने यहाँ इन्द्र के वज्र के स्थान पर 'त्रिशूल' शब्द का प्रयोग किया है जो पौराणिक दृष्टि से गलत है।

(३) जायसी अपने एक आँख वाले होने के कारण अपनी इस अङ्ग-हीनता के प्रति अत्यन्त सजग प्रतीत होते हैं। अपने इस दोष का उल्लेख उन्होंने अन्यत्र भी किया है। शेरशाह जब उन्हें देखकर हँस पड़ा था तो उन्होंने कहा था—'मोहि हँसै की कोहरे।' अर्थात् मुझ पर हँसता है या मुझे बनाने वाले उस कुम्हार, अर्थात् ईश्वर पर। "पदमावत में आगे चलकर 'नागमती संदेश-खंड' में उन्होंने अपने इस आँख वाले दोष के प्रति पुनः संकेत करते हुए लिखा है—'मुहमद बाईं दिसि तजी, एक सरवन एक आँखि', अर्थात् मुहम्मद ने अपनी बाईं तरफ की एक आँख और एक कान का प्रयोग करना बन्द कर दिया। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि जायसी काने तो थे ही, एक कान से भी उन्हें सुनाई नहीं पड़ता था।

(४) इस सम्पूर्ण छन्द में स्वयं अपने व्यक्तित्व तथा अपने काव्य के प्रति कवि की गर्वोक्ति ध्यान देने योग्य हैं। संस्कृत एवं हिन्दी के अनेक पुराने कवियों; जैसे—जयदेव, विद्यापति, केशव आदि में इस प्रकार की गर्वोक्तियाँ मिलती हैं—केशव सूर, तुलसी जैसे भक्त कवियों में इस प्रकार की गर्वोक्तियों का पूर्ण अभाव पाया जाता है।

(२२)

चारि मीत कबि मुहमद पाए। जोरि मिताई सिर[1] पहुँचाए॥
यूसुफ मलिक पँडित बहु ज्ञानी। पहिलै भेद-बात वै जानी॥
पुनि सलार कादिम मतिमाहाँ। खाँड़े-दान उभै निति बाहाँ॥
मियाँ सलोने सिंघ बरियारू। बीर खेतरन खड़ग जुझारू॥
सेख बड़े, बड़ सिद्ध बखाना। किए आदेस सिद्ध बड़ माना॥
चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े। औ संजोग गोसाईं गढ़े॥
बिरिछ होइ जौ चंदन पासा। चंदन होइ बेधि तेहि बासा॥

पाठ-भेद—१. सरि=सीमा।

मुहमद चारिउ मीत मिल, भए जो एकै चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा, ओहि जग बिछुरन कित्त ?॥२२॥

शब्दार्थ—सिर=ऊँचा, उच्च स्थान। भेद-बात=भेद की बात या रहस्य का ज्ञान। जानी=जाना, समझा। मतिमाहाँ=मतिमान, बुद्धिमान। खाँड़े-दान=तलवार का दान अर्थात् युद्ध करने की चुनौती अर्थात् युद्ध-दान। उभै=उठती है। बरियारू=बलवान। खेतरन=रणक्षेत्र। बखाने=प्रसिद्ध थे। आदेस=प्रमाण, सिद्धों और नाथों में शिष्य गुरु के सम्मुख जाने पर तीन बार 'आदेश' शब्द का उच्चारण करता है और उत्तर में गुरु केवल एक बार 'आदेश' कह कर आशीर्वाद देता है। चतुरदसा=चार दशा अर्थात् कर्म, उपासना, ज्ञान और सिद्धावस्था। इसका अर्थ चतुर्दश अर्थात् चौदह विद्याएँ भी माना जा सकता है। बेधि=भेद कर। बासा=बास, सुगन्धि। निबहा=निर्वाह हुआ। कित्त=कहाँ, किस प्रकार।

व्याख्या—जायसी गत छन्द में अपना आत्म-परिचय देने के उपरान्त इस छन्द में अपने चार मित्रों का परिचय देते हुए कहते हैं—

कवि मुहम्मद (जायसी) के चार मित्र थे जिनसे मित्रता करके उन्होंने उन्हें भी [अपने ही समान] महान् बना दिया था। इनमें से पहला यूसुफ मलिक पंडित और बहुत बड़ा ज्ञानी था। उसी ने सबसे पहले भेद की बात अर्थात् रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया था। भाव यह है कि यूसुफ मलिक उच्च कोटि का विद्वान् और रहस्यदर्शी पुरुष था। दूसरा सलार कादिम था, जो अत्यन्त बुद्धिमान था; [साथ ही वह इतना बड़ा योद्धा और झगड़ालू व्यक्ति था कि] उसकी भुजाएँ सदैव दूसरों को युद्ध करने की चुनौती देती रहती थीं या दूसरों की चुनौती स्वीकार करने को ऊपर तनी रहती थीं। तीसरा मियाँ सलौने था जो सिंह के समान बलवान था। वह रणक्षेत्र में एक अप्रतिम योद्धा के समान तलवार चलाया करता था। चौथे बड़े शेख जी थे जो बड़े भारी सिद्ध के रूप में प्रसिद्ध थे। बड़े-बड़े सिद्ध उन्हें मानते थे और आ-आ कर उन्हें प्रणाम किया करते थे। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि वे बड़े-बड़े सिद्धों को संदेश (उपदेश) दिया करते थे। ये चारों मित्र भक्ति की चारों दशाओं—कर्म, उपासना, ज्ञान और सिद्धावस्था—को जानने वाले थे। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि ये चारों चतुरदसा अर्थात् चौदह विद्याओं को जानने वाले थे। ईश्वर ने संयोग से इन चारों को आपस में प्रगाढ़ मित्र बनने के लिए गढ़ा था, अर्थात् ये चारों परस्पर तथा जायसी के मित्र बनने के लिए ही उत्पन्न किये गए थे। जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष के पास खड़े अन्य वृक्ष चन्दन की सुवास शरीर में बिंधने के कारण चन्दन के वृक्ष बन जाते हैं, उसी प्रकार जायसी का सत्संग पाकर ये चारों मित्र भी उन्हीं के समान गुणवान बन गए थे।

जायसी कहते हैं कि जब ये चारों मित्र मुझसे मिलकर, घुल-मिल कर एकत्रित

हो गए और इस जगत में हमारा साथ भली प्रकार निभ गया तो फिर यह कैसे सम्भव है कि परलोक में मेरा-उनका साथ विछुड़ जायेगा।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक तथा उपमा।

(२) तृतीय पंक्ति के प्रथम भाग में शुक्ल जी ने 'आदिम' शब्द दिया है परन्तु डा० गुप्त एवं डा० अग्रवाल ने 'कादिम' के स्थान पर 'काँदन' शब्द माना है और इसका अर्थ किया है—काँदन या मारकाट मचाना, अर्थात् सलार का चित्त सदैव मारकाट मचाने में लगा रहता था। शुक्लजी द्वारा अपनाया गया पाठ 'कादिम' 'खादिम' का ही एक रूप है। 'खादिम' नौकर को कहते हैं। इस प्रकार 'कादिम' शब्द को या तो सलार नाम का ही एक अंग मानकर 'सलार कादिम' मानना पड़ेगा या नौकर।

(३) छठी पंक्ति में शुक्लजी ने 'चतुरदसा' शब्द माना है जिसका अर्थ ऊपर वताई गईं भक्ति या साधना की चार दशाओं—कर्म, उपासना, ज्ञान और सिद्धावस्था माना जा सकता है। यही अर्थ अधिक संगत प्रतीत है। डा० अग्रवाल ने 'चतुरदसी' शब्द माना है और इसका अर्थ 'चौदह' किया है।

(२३)

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू॥
औ बिनती पँडितन सन भजा। टूट सँवारहु, नेरवहु सजा॥
हौं पंडितन केर पछलगा। किछु कहि चला तबल देइ डगा॥
हिम भँडार नग अहै जो पूँजी। खोली जीभ तारु कै कूँजी॥
रतन-पदारथ बोल जो बोला। सुरस प्रेम मधु भरा अमोला॥
जेहि के बोल बिरह कै घाया। कहँ तेहि भूख कहाँ तेहि माया॥
फेरे भेख रहै भा तपा। धूरि लपेटा मानिक छपा॥
मुहमद कबि जौ बिरह भा, ना तन रजत न माँसु।
जेइ मुख देखा तेइ हँसा, सुनि तेहि आयउ आँसु॥२३॥

शब्दार्थ—अस्थानू=स्थान। बखानू=वर्णन। भजा=की। सन=से। टूट=त्रुटि। नेरवहु=ठीक करना। पछलगा=पिछलग्गू, अनुगामी। तबल=नगाड़ा। डगा=डंका बजाकर। तारु=तालु। रतन पदारथ=रत्नसेन और पद्मावती। बोल=बोली में। घाया=घाव। फेरे=बदले हुए। तपा=तपस्वी। छपा=छिपा हुआ।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी अपने नगर जायस का उल्लेख कर अत्यन्त विनम्रता पूर्वक अपनी काव्य-रचना के सम्बन्ध में बताते हैं। पिछले छन्दों में जायसी ने अपने काव्य के विषय में गर्वोक्ति की थी, परन्तु यहाँ आकर वे एक सरल, भक्त कवि के समान अत्यन्त विनम्र बन गए हैं। यह परिवर्तन स्पृहणीय प्रतीत होता है। जायसी कहते हैं—

जायस नगर एक धार्मिक स्थान अर्थात् तीर्थ है। वहीं आकर इस कवि (जायसी) ने इस काव्य की रचना की और पंडितों से यह प्रार्थना की कि वे लोग मेरी त्रुटियों को ठीक कर उन्हें अच्छी तरह से सँवार कर सजा दें; क्योंकि मैं तो पंडितों का अनुगामी हूँ। मैं पंडितों के स्वर-में-स्वर मिलाकर कुछ कह चला हूँ। भाव यह है कि जिस प्रकार नगाड़े की आवाज पर सारे सिपाही एक साथ डग उठा कर चलने लगते हैं, उसी प्रकार मैं भी पंडितों का अनुगामी होने के कारण, जो कुछ उन्होंने कहा है, उसी के अनुसार अपनी कुछ बातें कहने लगा हूँ। मेरे हृदय रूपी भंडार में भाव रूपी रत्न भरे हुए थे और उन पर तालु का ताला लगा हुआ था। मैंने अपनी जिह्वा रूपी ताली से उस ताले को खोलकर उस हृदय रूपी भंडार में भरे हुए सारे रत्नों को बाहर निकाल दिया है; अर्थात् अपने भावों को व्यक्त कर दिया है। मैंने रतनसेन और पद्मावती के सम्बन्ध में जो बातें कहीं—वे प्रेम के समान सरस, मधु के समान मीठी और अमूल्य भावों वाली हैं। जिसकी बोली अर्थात् काव्य में विरह का घाव हो उसे भला भूख और माया कैसे सता सकती है। वह तो वेश बदल कर तपस्वी हो गया है। उसकी स्थिति वैसी ही होती है, जैसी कि धूल में लिपटे और छिपे हुए माणिक्य की। जिस प्रकार ऐसे छिपे हुए माणिक्य को कोई नहीं पहचान सकता, उसी प्रकार विरह-व्यथा से व्याकुल ऐसे कवि को भी कोई आसानी से नहीं पहचान सकता।

जायसी कहते हैं कि जब [हृदय में] विरह-व्यथा जाग्रत हुई तो उसके ताप के कारण शरीर में न रक्त रहा और न मांस, अर्थात् सारा शरीर सूख गया। जिसने भी उसका मुख देखा तो उसे देखकर हँसने लगा, परन्तु जब उसी ने उसकी कविता सुनी तो वह अपनी आँखों में आँसू भर लाया, अर्थात् करुणा से विगलित हो उठा।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक।

(२) जायसी ने रायबरेली जिले में स्थित जायस नामक कस्बे में रहते हुए 'पदमावत' की रचना की थी। सोलहवीं शताब्दी में जायस सूफी सन्तों का केन्द्र था।

(३) रतन-पदारथ—जायसी ने कई स्थानों पर इन शब्दों का प्रयोग रत्नसेन और पद्मावती के अर्थ में किया है।

(४) 'चला तबल देइ डगा'—इस पंक्ति का अर्थ डा० मुंशीराम शर्मा ने इस प्रकार किया है—'इस बात की घोषणा मैं डंके की चोट से करता हूँ।' परन्तु इस छन्द में व्याप्त विनम्रता को देखते हुए यह गर्वोक्ति-सी प्रतीत होती है। इसका एक दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि मैं तबले के ऊपर डग देकर चला, अर्थात् तबला बजने पर जिस प्रकार श्रोता उसी की तान के साथ सिर हिलाते रहते हैं, उसी प्रकार जायसी ने भी विद्वानों का सत्संग करते समय उनके द्वारा कही बातों को सुनकर उन्हें ही कह दिया है। भाव यह है कि स्वर-में-स्वर मिलाकर चलना।

(२४)

सन नव सै सत्ताइस[1] अहा। कथा अरंभ-बैन कबि कहा॥
सिंघलदीप पदमिनी रानी। रतनसेन चिरउर गढ़ आनी॥
अलउद्दीन देहली सुलतानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरुकन्ह भई लड़ाई॥
आदि अंत जस गाथा अहै। लिख भाखा चौपाई कहै॥
कवि बियास कँवला रस-पूरी। दूरि जो नियर, नियर सो दूरी॥
नियरे दूर, फूल जस[2] काँटा। दूर जो नियरे, जस गुड़ चाँटा॥
भँवर आइ बनखँड सन, लेहि कँवल कै बास।
दादुर बास न पावई, भलहि जो आछै पास॥२४॥

शब्दार्थ—नव सै सत्ताइस=नौ सौ सत्ताइस (९२७)। अरम्भ-बैन=आरम्भ वचन, प्राक्कथन, भूमिका। आनी=ले आया। बखानू=प्रशंसा। साहि=शाह, बादशाह। छेंका=घेर लिया। तुरुकन्ह=तुर्क, मुसलमान। भाखा=भाषा, तात्पर्य अवधी भाषा से है। बियास=व्यास। कँवला=कमल। पूरी=भरा हुआ।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी अपने ग्रन्थ 'पदमावत' का रचनाकाल, संक्षिप्त कथा, भाषा, छन्द आदि का परिचय दे, उसके काव्य-मर्म का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

सन् नौ-सौ सत्ताईस (९२७) हिजरी था, जब कवि ने [पदमावत की] कथा के आरम्भिक वचन अर्थात् प्राक्कथन लिखा। सिंहलद्वीप की रानी पद्मिनी को चित्तौड़-गढ़ का राजा रत्नसेन अपने गढ़ में ले आया। राघवचेतन ने दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन [खिलजी] के पास जाकर उससे पद्मिनी के सौन्दर्य का वर्णन किया। उस वर्णन को सुनकर बादशाह ने आकर चित्तौड़ को घेर लिया तथा हिन्दू और मुसलमानों में युद्ध हुआ। यह कथा आरम्भ से अन्त तक जैसी है, उसी को भाषा अर्थात् अवधी भाषा में चौपाई छन्द में कहता हूँ। कथा कहने वाला कवि व्यास के समान पण्डित होता है और उसका हृदय कमल के समान सुमधुर भावों के रस से लबालब भरा रहता है। इतना होने पर ही सुपात्र ही उसका रसास्वादन करने में समर्थ होता है। काव्य-मर्मज्ञ दूर रहते हुए भी उसके अत्यन्त निकट रहता है, अर्थात् वह उसका रसास्वादन करता है। परन्तु पास रहने वाले अरसिक व्यक्ति उससे दूर ही रहते हैं, अर्थात् उसके काव्य-रस का रसास्वादन नहीं कर सकते। निकट रहने वाले अरसिक के लिए यह काव्य-रस उसी प्रकार अप्राप्य अथवा दूर रहता है, जिस प्रकार काँटा फूल के पास एक ही शाखा पर रहते हुए भी फूल के रस का पान नहीं कर पाता। भाव यह है कि काव्य-मर्मज्ञ दूर रहते हुए भी इसका पाठ कर आनन्दित होते हैं और मूर्ख अथवा अरसिक पास रहते हुए भी इसके काव्य-सौन्दर्य से अपरिचित रहते हैं।

पाठ-भेद—१. सैंतालिस। २. सँग।

काव्य-मर्मज्ञ दूर-दूर से इसके पास उसी प्रकार आ जाते हैं—जैसे चींटी गुड़ की गन्ध पाकर उसके पास खिंची चली आती है।

भ्रमर वनखण्ड से आकर कमल की सुगन्धि का उपभोग करता है, परन्तु मेंढक कमल की जड़ के पास जल में रहते हुए भी उसकी सुगन्धि का उपभोग करने में असमर्थ रहता है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति तथा अर्थान्तर-न्यास।

(२) 'पदमावत' के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। 'पदमावत' की विभिन्न प्रतियों में नौ-सौ सत्ताईस, नौ-सौ सैंतालीस, नौ-सौ छत्तीस, नौ-सौ अड़तालीस आदि विभिन्न पाठ मिलते हैं। आचार्य शुक्ल ने नौ-सौ सत्ताईस हिजरी (सन् १४२० ईस्वी) को ही प्रामाणिक माना है। परन्तु डा० गुप्त के आधार पर डा० अग्रवाल नौ-सौ सैंतालीस (१५४० ईस्वी) मानते हैं। एक अन्य विद्वान श्री शिरेफ का कथन है कि यदि पदमावत का रचना-काल सन् नौ सौ सत्ताईस मान लिया जाय तो इस तिथि का बादशाह शेरशाह सूरी के राज्य-संवतों से मेल नहीं खाता।

२

सिंघलद्वीप वर्णन-खंड

(२५)

सिंघलदीप कथा अब गावौं। औ सो पदमिनि बरनि सुनावौं ॥
निरमल[1] दरपन भाँति बिसेखा। जो जेहि रूप सो तैसइ देखा ॥
धनि सो दीप जहँ दीपक-बारी[2]। औ पदमिनि जो दई सँवारी ॥
सात दीप बरनै सब लोगू। एकौ दीप न ओहि सरि जोगू ॥
दियादीप नहिं तस उँजियारा। सरनदीप[3] सरि होइ न पारा ॥
जबूदीप कहौं तस नाहीं। लंकदीप सरि पूज न छाहीं ॥
दीप गर्भस्थल[4] आरन परा। दीप महुस्थल मानुस हरा ॥
सब संसार परथमैं आए सातौं दीप।
एक दीप नहिं उत्तिम सिंघलदीप समीप ॥१॥

शब्दार्थ—दीपक-बारी=दीपक के समान वाला, अर्थात् स्त्री। बरनै=वर्णन करते हैं। ओहि सरि=उसके समान। दियादीप=द्वीप का नाम। आरन=अरण्य, वन। मानुस हरा=मनुष्यों से शून्य या मनुष्यों को हरने वाला, खा जाने वाला। परथमैं=प्रथम।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी सिंहलद्वीप का वर्णन करते हैं। यहाँ उन्होंने लोक-कथाओं में प्रसिद्ध सात द्वीपों का उल्लेख करते हुए सिंहलद्वीप को सर्वश्रेष्ठ द्वीप बताया है। जायसी कहते हैं—

अब मैं सिंहलद्वीप की कथा गाता हूँ और उस पद्मिनी का वर्णन सुनाता हूँ। सिंहल द्वीप की यह विशेषता है कि वह दर्पण के समान निर्मल है। जो व्यक्ति वहाँ जिस भाव से जाता है, वह द्वीप उसे वैसा ही दिखाई देता है; जैसे—सिद्धों को वह सिद्ध पीठ, भोगियों को वह सुन्दरी पद्मिनियों का देश, तामसी वृत्ति वालों को राक्षसों का देश दिखाई पड़ता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि पद्मिनी का रूप दर्पण के समान है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भाव और कर्मों के अनुसार ही उसके रूप को

पाठ-भेद—१. बरनक=वर्णक, वर्णन करने वाला। २. दीपक-नारी। ३. सराँदीप।
४. कुसस्थल।

देखता-ग्रहण करता है। यहाँ विम्ब-प्रतिविम्ब भाव की ध्वनि आती है—'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत तिन देखी तैसी', वाली बात चरितार्थ होती है।

वह द्वीप धन्य है जहाँ की नारियाँ दीपक के समान (प्रज्वलित, प्रकाशवान, सुन्दर और स्निग्ध) रूप वाली हैं और जहाँ विधाता ने पद्मिनी को जन्म दिया है। सब लोग सात द्वीपों का वर्णन करते हैं, अर्थात् लोक-विश्रुति यह है कि संसार में सात द्वीप हैं। परन्तु इन सातों द्वीपों में से एक भी ऐसा नहीं जो सिंहल द्वीप की बराबरी कर सके। दियादीप (दिउ नामक द्वीप जो काठियावाड़ समुद्रतट के पास है) में वैसा प्रकाश नहीं होता। सरन द्वीप (स्वर्ण द्वीप, आधुनिक सुमात्रा द्वीप का मध्यकालीन नाम) किसी भी प्रकार उसकी समानता नहीं कर पाता। मैं कहता हूँ कि जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) भी उसके समान नहीं है। लंकद्वीप (कुछ लोग भ्रमवश सिंहल द्वीप को आधुनिक लंका या सीलोन समझ लेते हैं परन्तु यहाँ जायसी ने लंकद्वीप की तुलना सिंहल से कर यह सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों भिन्न-भिन्न द्वीपों के नाम हैं। यह लंकद्वीप भी वर्तमान लंका नहीं है। याकूबी ने एक लंग बालूस द्वीप का उल्लेख किया है जो कहीं देशान्तर में था।) सिंहलद्वीप की छाया तक नहीं छू सकता, अर्थात् उसकी तुलना में नगण्य है। गर्भस्थल (कुशद्वीप) घने जंगलों से भरा पड़ा है। (कुशद्वीप को कुछ लोग वर्तमान अबीसीनिया मानते हैं।) महुस्थल नामक द्वीप मनुष्यों से शून्य है, अर्थात् वहाँ एक भी मनुष्य नहीं रहता।

विधाता ने संसार में सबसे पहले इन सात द्वीपों का निर्माण किया था। परन्तु इनमें से एक भी उत्तमता में सिंहल द्वीप के समीप नहीं आ सकता या उसकी बराबरी नहीं कर सकता।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—असम।

(२) लोककथाओं में 'सात' की संख्या का बड़ा महत्त्व रहा है। प्राचीन काल में सभी महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की संख्या सात ही मानी गई थी; जैसे—सप्तसिन्धु, सप्तनद, सप्तद्वीप आदि। इस छन्द में जायसी ने लोक में प्रसिद्ध इन्हीं सात द्वीपों का वर्णन किया है जो भौगोलिक दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता।

(३) सरनद्वीप—अरब वाले आधुनिक लंका को 'सरनदीप' कहते थे। आचार्य शुक्ल का मत है कि जायसी ने भूगोल का ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण सरन द्वीप अर्थात् स्वर्ण द्वीप और सिंहल को भिन्न-भिन्न माना है, अर्थात् शुक्ल जी इन दोनों को एक ही द्वीप मानते हैं। परन्तु डा० अग्रवाल स्वर्ण द्वीप से वर्तमान सुमात्रा द्वीप का अर्थ लेते हैं, क्योंकि मध्यकाल में सुमात्रा का यही नाम प्रचलित था। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि स्वर्ण द्वीप और लंक द्वीप या तो एक ही द्वीप के दो नाम हैं, और यदि ये भिन्न-भिन्न द्वीप हैं तो स्वर्णद्वीप सुमात्रा और सिंहल द्वीप लंका है। परन्तु जायसी ने लंकद्वीप का नाम देकर एक और समस्या खड़ी कर दी है कि सिंहल द्वीप लंका नहीं है। फिर सिंहल द्वीप को कौन-सा द्वीप माना जाय? यह समस्या उलझी ही रह जाती है।

(४) डा० अग्रवाल के अनुसार श्री० शिरेफ ने इन सातों द्वीपों को पद्मावती के शरीर पर घटा कर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

दियाद्वीप=स्त्री के चमकीले नेत्र। सरन दीप=श्रवण या कान। जम्बूदीप= भौंराली जामुन जैसे काले केश। लंक द्वीप=कटि प्रदेश। गर्भस्थल=स्तन। महुस्थल=मधुस्थल (गुह्यभाग)।

डा० अग्रवाल का मत है कि—"इन नामों का निश्चित, भौगोलिक अर्थ जायसी के मन में था, ऐसी सम्भावना नहीं। उन्हें ये नाम लोक कथाओं से प्राप्त हुए होंगे।"

(५) 'सिंहल' को वर्तमान लंका इस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है कि लंका का अंग्रेजी नाम 'सीलोन' और 'सिंहल' में काफी समानता है। 'सीलोन' सिंहल का ही बिगड़ा हुआ नाम प्रतीत होता है। जायसी के अनुसार सिंहल हठयोगी सिद्धों का सिद्धपीठ माना जाता था।

(६) लंक द्वीप के सम्बन्ध में सम्भवतः यह जनश्रुति रही होगी कि वहाँ राक्षस रहते हैं। वाल्मीकि और तुलसी द्वारा वर्णित लंका में भी राक्षसों का राज्य था। जायसी भी 'लंकद्वीप' को राक्षसों का देश मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार तूफान में भटके हुए जहाज की ओर चल पड़ते थे—"भए कुपंथ लंक दिसि हाँके।" अर्थात् तूफान इन भटके जहाजों को हाँक कर लंका की तरफ ले जाता था जिससे वहाँ रहने वाले राक्षस इन जहाजों में बैठे मनुष्यों को खा जाते थे।

(२६)

गंध्रबसेन सुगंध नरेसू। सो राजा, वह ताकर देसू॥
लंका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बड़ ताकर साजू॥
छप्पन कोटि कटक दल साजा। सबै छत्रपति औ गढ़-राजा[1]॥
सोरह सहस घोड़ घोड़सारा। स्यामकरन अरु बाँक[2] तुखारा॥
सात सहस हस्ती सिंघली। जनु कबिलास एरावत बली॥
अस्वपतिक-सिरमौर कहावै। गजपतीक आँकुस-गज नावै॥
नरपतीक कहँ ओर नरिंदू। भूपतीक जग दूसर इंदू॥
ऐस चक्कवै राजा चहूँ खंड भय होइ।
सबै आइ सिर नावहिं सरबरि करै न कोइ॥२॥

शब्दार्थ—सुगन्ध=गंध युक्त, यशस्वी। देसू=देश। चाहि=अपेक्षा। साजू =सेना। स्यामकरन=श्यामकर्ण, घोड़ों की एक नस्ल, जिसके कान काले होते हैं। बाँक=बाँके। तुखारा=तुषार देश का घोड़ा। सिंघली=सिंघल देश के। कबिलास= कैलास, स्वर्ग। अस्वपतिक=अश्वपतियों का, घोड़े वाले राजाओं का। गजपतीक= हाथियों के राजाओं का। आँकुस-गज=हाथी का अंकुश। नावै=नवा देता है। नर-

पाठ-भेद—१. ओरगहिं=सेवा करने वाले। २. बालका=बलख देश के।

पतीक=नरपतियों, राजाओं। कहँ=कहाँ। भूपतीक=भूपतियों, राजाओं। दूसर=दूसरा। इंदू=इन्द्र। चक्कवै=चक्रवर्ती। सरवरि=बराबरी।

व्याख्या—गंधर्वसेन वहाँ का यशस्वी राजा था। वह वहाँ का राजा था और वह उसका देश था। लंका में जैसा रावण का राज्य सुना जाता है, गंधर्वसेन की सेना तथा ठाट-बाट उसकी अपेक्षा भी बढ़ा-चढ़ा था। उसकी छप्पन करोड़ सजी-सजायी सेना थी। वह गढ़पति सम्पूर्ण राजाओं का अधिपति (सम्राट) था। उसकी घुड़साल में सोलह हजार घोड़े थे जो श्यामकर्ण घोड़ों की नस्ल के, अत्यन्त बाँके तथा तुषार (तुखार) देश के थे। उसके यहाँ सिंहली जाति के सात हजार हाथी थे। वे सब स्वर्ग के हाथी ऐरावत के समान बलवान थे। वह अश्वपतियों का शिरोमणि कहलाता था और गजपतियों को अपने अंकुश द्वारा अपने सम्मुख झुका देता था। राजाओं में उसके समान राजा और कहाँ मिल सकता था? वह संसार के राजाओं में दूसरे इन्द्र के समान बलशाली और वैभव-सम्पन्न था।

वह ऐसा चक्रवर्ती राजा था जिसका आतंक चारों खण्डों अर्थात् सारे संसार में छाया हुआ था। सब लोग उसके सामने आकर शीश झुकाते थे। कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता था।

टिप्पणी—अलंकार—तद्रूप, रूपक और असम।

(२७)

जबहिं दीप नियरावा जाई। जनु कबिलास नियर भा आई॥
घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई। भइ जग छाँह रैनि होइ आई॥
मलय-समीर सोहावन छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ॥
ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास दिखावै॥
पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू। दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू॥
जेइ वह पाई छाँह अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा॥
अस अमराउ सघन घन, बरनि न पारौं अंत।
फलै फरै छवौ ऋतु, जानहु सदा बसंत॥३॥

शब्दार्थ—नियरावा=निकट। अमराउ=आम्रराजी, आम के बाग। भूमि हुत=पृथ्वी से लेकर। लाई=लगाए गए हैं। हरियर=हरियाली। घामू=घाम।

व्याख्या—जब कोई उस द्वीप के पास जाता है तो उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो स्वर्ग पास आ गया हो। उसके चारों ओर घने आमों के वृक्ष खड़े हैं। वे इतने ऊँचे हैं मानो पृथ्वी से उठकर आसमान से जा लगे हों। वहाँ मलय पर्वत से लाकर सारे वृक्ष लगाए गए हैं। उनकी छाया इतनी घनी होती है कि उसके कारण संसार में रात्रि का-सा अन्धकार छा जाता है। वहाँ सदैव मलय-समीर प्रवाहित होता

रहता है और उन वृक्षों की छाया सुहावनी लगती है। उस छाया में जेठ की भयानक गरमी में भी ठण्ड लगने लगती है। उस छाया के कारण चारों ओर रात्रि सी छायी रहती है और सारा आसमान उन वृक्षों की पत्तियों के कारण हरा दिखाई पड़ने लगता है। जो पथिक धूप से व्याकुल होकर वहाँ पहुँच जाता है, वह अपना दुःख भूल जाता है और विश्राम करके सुखी होता है। जिसने उस अनुपम छाया को एक वार भी प्राप्त कर लिया, वह फिर वहाँ से लौटने का नाम नहीं लेता, अर्थात् वहाँ से लौटकर फिर धूप का कष्ट नहीं सहता, वहीं रम जाता है।

वहाँ ऐसे सघन आमों के बाग हैं कि मैं उनका वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। वे बाग छहों ऋतुओं में फूलते-फलते रहते हैं और इस कारण वहाँ सदैव बसन्त की-सी बहार छाई रहती है।

टिप्पणी—अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, समासोक्ति।

(२८)

फरे आँब अति सघन सोहाए। औ जस फरे अधिक सिर नाए॥
कटहर डार पींड सन पाके। बड़हर, सो अनूप अति ताके॥
खिरनी पाकि खाँड अस मीठी। जामुन पाकि भँवर अति डीठी॥
नरियर फरे फरी फरहरी। फुरै जानु इंद्रासन पुरी॥
पुनि महुआ चुअ अधिक मिठासू। मधु चस मीठ, पुहुप जस बासू॥
और खजहजा अनबन[1] नाऊँ। देखा सब राउन-अमराऊँ॥
लाग सबै जस अमृत साखा। रहै लोभाइ सोइ जो चाखा॥
लवँग सुपारी जायफल, सब फर फरे अपूर।
आस-पास घन इमिली, औ घन तार खजूर॥४॥

शब्दार्थ—फरे=फलों से लदे हुए। आँब=आम। सन=से। पींड=तना। पाके=पके हुए। बड़हर=बड़हल। ताके=देखने में। दीठी=दिखाई पड़ती है। नरियर=नारियल। फरहरी=छोटे-छोटे फूलों वाली एक लता। फुरै=सचमुच। चुअ=टपकता है। खजहजा=खाने के फल, मेवा आदि। अनबन=भिन्न-भिन्न। राउन-अमराऊँ=रावण की वाटिका।

व्याख्या—फलों से लदे हुए आमों के सघन वृक्ष अत्यन्त सुहावने लगते हैं। जैसे-जैसे वे फलते जाते हैं, वैसे-वैसे [फलों के बोझ से] अधिक झुकते चले जाते हैं। कटहल के वृक्षों पर पके हुए फल डालों से लेकर उनके निचले तने तक लगे हुए हैं। बड़हल के वृक्ष देखने में अत्यन्त अनुपम और सुन्दर दिखाई पड़ते हैं। खिरनी (खिन्नी) पक कर खाँड़ जैसी मीठी लगती है और पकी हुई जामुन भौंरे के समान काली दिखाई पड़ती हैं। वहाँ नारियल के वृक्ष फल रहे हैं और छोटे-छोटे फूलों वाली लताएँ फूल

पाठ-भेद—१. आव न=नहीं आते।

रही हैं। यह सम्पूर्ण दृश्य सचमुच अमरावती (स्वर्ग की राजधानी) का-सा दिखाई पड़ता है। वहाँ महुए के फल टपकते हैं जो अपनी अत्यधिक मिठास के कारण शहद जैसे मीठे लगते हैं और उनमें से फूलों की-सी मस्त कर देने वाली सुगन्ध निकलती है। वहाँ अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न नामों वाले फल लग रहे हैं जो सब रावण की वाटिका में देखे गए थे। ऐसा प्रतीत होता है, मानो सारे वृक्षों में अमृत से भरी शाखाएँ लग रही हों और जिसने भी उन शाखाओं में लगे फलों को एक बार भी चख लिया, वह सदैव उनके लिए ललचाता रहता है।

लवँग (लौंग), सुपारी, जायफल आदि फल वहाँ भरपूर फले हुए थे और इन वृक्षों के आसपास घने इमली, ताड़ और खजूर के वृक्ष लगे हुए थे।

टिप्पणी—(१) इस छन्द की छठी पंक्ति के अन्तिम भाग में आए 'राउन-अमराऊँ' शब्द का अर्थ डा० अग्रवाल ने 'रमणीक अमराई' किया है। उन्होंने 'राउन' शब्द का अर्थ 'रमणीय' माना है। परन्तु यह खींचतान प्रतीत होती है। जायसी अनेक स्थानों पर रावण का उल्लेख कर चुके हैं। रावण की वाटिका अपने सौन्दर्य के लिए संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध रही है। वाल्मीकि और तुलसी ने उसका खूब लम्बा-चौड़ा वर्णन किया है। इसलिए जायसी ने यहाँ सिंहलद्वीप के इन बागों के सौन्दर्य की तुलना एक प्रकार से रावण की वाटिका से ही की है।

(२) इस छन्द में वस्तु परिगणनात्मक-शैली का वर्णन है।

(२६)

बसहिं पंखि बोलहिं बहु भाखा। करहिं हुलास देखि कै साखा॥
भोर होत बोलहिं चुहचुही। बोलहिं पाँडुक 'एकै तूही'॥
सारौं सुआ जो रहचह करहीं। कुरहिं परेवा औ करबरहीं॥
'पीव-पीव' कर लाग पपीहा। 'तुही-तुही' कर गडुरी जीहा॥
'कुहू-कुहू' करि कोइल राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाखा॥
'दही-दही' करि महरि पुकारा। हारिल बिनवै आपन हारा॥
कुहुकहिं मोर सोहावन लागा। होइ कुराहर बोलहिं कागा॥
जावत पंखी जगत के, भरि बैठे अमराउँ।
आपनि आपनि भाषा, लेंहि दई कर नाउँ॥५॥

शब्दार्थ—चुहचुही=एक छोटी जाति की चिड़िया जिसे 'फुलसुँघनी' कहते हैं। पाँडुक=फाख्ता। सारौं=सारिका, मैना। रहचह करहीं=चहचहाती हैं। करबरही=कलरव करना। कुरहिं=एक पक्षी-विशेष। गडुरी=एक प्रकार का बटेर। भिंगराज=भृङ्गराज, भुजङ्गा जो कई प्रकार की बोली बोलता है। महरि=महोख से मिलती-जुलती एक चिड़िया जिसे ग्वालिन या अहीरिन कहते हैं। यह 'दही-दही' की

रट लगाती रहती है। इसी कारण इसे ग्वालिन कहते हैं। हारिल=हरियल। आपन हारा=अपना हाल। कुराहर=कोलाहल। अमराउँ=आम्रवन।

व्याख्या—उस बाग में अनेक प्रकार के पक्षी बसेरा लेते हैं और अनेक प्रकार की बोलियाँ बोलते हैं। वे वृक्षों की फैली-फूटी हरी शाखाओं को देखकर आनन्दित होते हैं। प्रभात होते ही 'फुलसुँघनी' नामक चिड़िया बोलने लगती है और फाख्ता 'एकै तूही' शब्द की रट लगाने लगती है। मैना और तोता चहचहाने लगते हैं। कुरही, कबूतर आदि पक्षी कलरव करने लगते हैं। पपीहा 'पीव-पीव' की धुन मचाता है और गडुरी 'तुही-तुही' की रट लगाती है। कोयल 'कुहू-कुहू' की रट लगाती है और भृंगराज नामक पक्षी अनेक प्रकार की बोलियाँ बोलते हैं। 'ग्वालिन' पक्षी 'दही-दही' की पुकार मचाता है और हरियल बड़े दीन शब्दों में अपनी दशा का वर्णन करता है। कूकते हुए मोर बड़े सुहावने लगते हैं और जब कौए बोलते हैं तो कोलाहल सा मच जाता है।

संसार में जितने भी प्रकार के पक्षी हैं, वे सब इस अमराई में आकर बसेरा लेते हैं और अपनी-अपनी भाषा में ईश्वर का नाम लेते हैं।

टिप्पणी—(१) अलंकार—अनुप्रास।

(२) इस छन्द में जायसी ने वर्णन की नाम-परिगणनात्मक शैली अपनायी है, परन्तु पक्षियों की बोलियों को देकर इस शैली की नीरसता को दूर करने का यथा-सम्भव प्रयत्न किया है।

(३०)

पैग पैग पर कुआँ बावरी। ताजी बैठक और पाँवरी॥
और कुंड बहु ठावँहि ठाऊँ। औ सब तीरथ तिन्ह के नाऊँ॥
मठ मंडप चहुँ पास सँवारे। तपा-जपा सब आसन मारे॥
कोइ सु ऋषीसुर, कोइ सन्यासी। कोइ रामजती[१] बिसवासी[२]॥
कोई ब्रह्मचार पथ लागे। कोइ सो दिगम्बर बिचरहिं नाँगे॥
कोई सु महेसुर जंगम जती। कोइ एक परखै देबी सती॥
कोई सुरसती कोई जोगी। कोइ निरास पथ बैठ बियोगी॥
सेवरा, खेवरा, बानपर[३], सिध, साधक, अवधूत।
आसन मारे बैठ सब, जारि आतमा भूत॥६॥

शब्दार्थ—पैग-पैग=कदम-कदम। बावरी=बावड़ी। साजी=सजी-सजाई। पाँवरी=सीढ़ी। पास=दिशा। तपा-जपा=जप-तप करने वाले। महेसर=शैव।

पाठ-भेद—१. रामजन। २. मसबासी=एक महीने उपवास करने वाला।
३. बानपस्ती=वानप्रस्थ।

जंगम=एक सम्प्रदाय विशेष का शैव साधु। परखै=परीक्षा लेता है। सेवरा-खेवरा =श्वेत पट जैन साधु तथा क्षपणक जैन साधु। वानपर=वानप्रस्थ।

व्याख्या—सिंहल द्वीप में पग-पग पर कुआँ और बावड़ी बने हुए हैं, जिनमें अत्यन्त सुन्दर बनी हुई बैठकें (कुओं की जगत) तथा सीढ़ियाँ लगी हुई हैं और स्थान-स्थान पर कुण्ड हैं। इन कुण्डों के नाम विभिन्न तीर्थों के नामों पर रखे गए हैं। (दूसरा यह अर्थ भी हो सकता है कि इन कुण्डों में स्नान करने का वही माहात्म्य होता है जो तीर्थों में स्नान करने का होता है।) चारों दिशाओं में मठ और मंडप बने हैं जिनमें अनेक तपस्वी आसन मारे बैठे जप-तप करते रहते हैं। कोई ऋषीश्वर है, कोई संन्यासी है, कोई रामयती है तथा कोई विश्वासी पंथ का अनुयायी है। किसी ने ब्रह्मचर्य के पथ को अपना लिया है, कोई दिगम्बर है जो सदैव नंगा रहता है। कोई महेश्वर का उपासक अर्थात् शैव है तथा कोई हठयोगी (जंगम) तथा यती है। कोई बैठा शक्ति देवी की परीक्षा ले रहा है अर्थात् शक्ति की साधना में रत है। कोई सरस्वती का उपासक है। (ये लोग दसनामियों में होते हैं) कोई योगी है, कोई अपने जीवन से निराश वियोगी है जो यहाँ बैठकर अपनी प्रियतमा का स्मरण कर रहा है।

यहाँ पर श्वेत पट, क्षपणक आदि जैन साधु, वानप्रस्थ, सिद्ध, साधक, योगी आदि विभिन्न वर्गों एवं सम्प्रदायों के उपासक आसन मारकर बैठे अपनी आत्मा तथा शरीर को जलाकर वश में कर रहे हैं।

टिप्पणी—डा० गुप्त तथा डा० अग्रवाल ने इस छन्द की चौथी पंक्ति के अन्तिम भाग का पाठान्तर इस प्रकार दिया है—'कोई रामजन कोई मसवासी।' अर्थात् कोई राम का भक्त है और कोई एक मास (महीने) तक उपवास करने वाला है।

(३१)

मानसरोदक बरनौं[1] काहा। भरा समुद अस अति अवगाहा॥
पानि मोति अस निरमल तासू। अमृत आनि[2] कपूर सुबासू॥
लंकदीप कै सिला अनाई। बाँधा सरवर घाट बनाई॥
खँड-खँड सीढ़ी भईं गरेरी। उतरहिं चढ़हिं लोग चहुँ फेरी॥
फूला कँवल रहा होइ राता। सहस-सहस पखुरिन कर छाता॥
उलथहिं सीप, मोति उतराहीं। चुगहिं हंस औ केलि कराहीं॥
खनि[3] पतार पानी तहँ काढ़ा। छीरसमुद निकसा हुत बाढ़ा॥
ऊपर पाल चहूँ दिसि, अमृत-फल सब रूख।
देखि रूप सरवर कै, गै पियास औ भूख॥७॥

शब्दार्थ—काहा=क्या। अवगाहा=अथाह, गहरा। सिला=पत्थर, शिला।

पाठ-भेद—१. देखिअ। २. बानि=वर्ण, रंग। ३. देखिए टिप्पणी संख्या २।

अनाई=मँगवा कर। भईं=घूमी हैं। गरेरी=चक्करदार। उलथहिं=उलट जाते हैं। हुत=बहुत। बाढ़ा=बढ़ा हुआ। पाल=ऊँचा बाँध या किनारा, भीटा।

व्याख्या—मैं मानसरोवर का क्या वर्णन करूँ! वह समुद्र के समान जल से लबालब भरा हुआ और अथाह है। उसका जल मोती के समान स्वच्छ और निर्मल है। उसमें ऐसी सुगन्धि है मानो अमृत में कपूर मिला दिया गया हो। उस तालाब को लंकाद्वीप से शिलाएँ मँगवा कर चारों तरफ बँधवाया गया है और घाट बनवाये गए हैं। उसके खंड-खंड में अर्थात् एक-एक हिस्से में चक्करदार घूमती हुईं सीढ़ियाँ बनवाई गई हैं। लोग उन पर चारों ओर घूम-घूम कर चढ़ते-उतरते रहते हैं। उसके जल में लाल रंग के कमल के फूल खिल रहे हैं जिनके छत्ते हजारों पंखुड़ियों वाले हैं। सीपें जब तालाब में उलटी हो जाती हैं तो उनके भीतर भरे हुए मोती बाहर निकल कर जल पर उतराने लगते हैं। मानसरोवर में रहने वाले हंस उन मोतियों को चुगते हैं और जल में क्रीड़ा करते हैं। इसका पानी पाताल को खोदकद निकाला गया है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो क्षीर सागर उमड़ कर चारों ओर फैल गया हो।

तालाब के ऊपर चारों ओर ऊँचा बाँध बनाया गया है जिस पर अमृत जैसे मीठे फलों वाले सभी प्रकार के वृक्ष लगे हुए हैं। उस सरोवर के उस रूप को देख कर देखने वाले की सारी भूख और प्यास शान्त हो जाती है, अर्थात् वह उसके इस सौन्दर्य को देखकर इतना विभोर हो उठता है कि उसे भूख-प्यास तक का ध्यान नहीं रहता, उसका मन और शरीर पूर्ण रूप से तृप्त हो जाता है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उपमा।

(२) इस छन्द की सातवीं पंक्ति में पाठान्तर मिलता है। डा० गुप्त का दिया हुआ पाठ इस प्रकार है—

"कनक पंखि पै रहि अति लोने। जानहु चित्र सँवारे सोने।"

इसका अर्थ यह है—सुनहले रंग के पंखों वाले पक्षी उस जल में तैरते हुए अत्यन्त सुन्दर लगते हैं, मानो सोने से सँवारे अर्थात् चित्रित चित्र हों। आचार्य शुक्ल ने भी इस पाठान्तर को स्वीकार किया है।

(३२)

पानि भरै आवहिं पनिहारी। रूप सुरूप पदमिनी नारी॥
पदुमगंध तिन्ह अंग बसाही। भँवर लागि तिन्ह सँग फिराहीं॥
लंक-सिंघिनी, सारँग नैनी। हंस-गामिनी कोकिल बैनी॥
आवहिं झुंड सो पाँतिहि पाँती। गवन सोहाइ सु भाँतिहि भाँती॥
कनक कलस मुखचन्द दिपाहीं। रहस केलि[1] सन आवहिं जाहीं॥

पाठ-भेद—१. कोड=कौतुक, क्रीड़ा।

जा सहुँ वै हेरैं चख नारी। बाँक नैन जनु हनहिं कटारी॥
केस मेघावर सिर ता पाईं। चमकहिं दसन बीजु कै नाईं॥
माथे कनक गागरी, आवहिं रूप अनूप।
जेहि के अस पनहारी, सो रानी केहि रूप॥८॥

शब्दार्थ—भरै=भरने के लिए। लागि=लगे। लंक सिंघिनी=सिंहनी की सी क्षीण कटि वाली। सारंगनैनी=मृगनयनी। गवन=चाल, चलना। दिपाहीं=चमकते हैं। रहस=प्रसन्न। केलि=क्रीड़ा। जा सहुँ=जिसकी तरफ। हेरैं=देख लेती हैं। चख=नेत्र। मेघावर=बादलों की घटा, मेघावलि। सिर ता पाईं=सिर से पैर तक।

व्याख्या—[उस मानसरोवर पर] पानी भरने के लिए पनिहारिनें आती हैं जिनका रूप पद्मिनी नारियों के समान सुन्दर है। उनके शरीर से कमल की-सी गन्ध निकलती रहती है। उस गन्ध से आकर्षित हो भौंरे उनके पीछे लगे रहते हैं। उनकी कटि सिंहनी की कटि के समान क्षीण, नेत्र हरिणी के नेत्रों के समान विशाल, काले, और भोले, चाल हंसिनी की चाल के समान मधुर और सुहावनी है। ऐसी ये पनिहारिनें पंक्ति की पंक्ति झुण्ड बनाकर आती हैं। उनकी विभिन्न प्रकार की चालें देखने में बहुत सुहावनी लगती हैं। अथवा उनका चलना प्रत्येक दृष्टि से सुहावना प्रतीत होता है। उनके सिर पर रखे हुए सोने के कलश और उनके चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख दिप-दिप करते रहते हैं अर्थात् चमकते रहते हैं। वे प्रेम-क्रीड़ा करती हुईं, अर्थात् आपस में हँसी-मजाक करती हुई आती-जाती रहती हैं। ऐसी वे नारियाँ जिस पुरुष की भी तरफ एक बार देख लेती हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो उन्होंने अपने तिरछे नयनों द्वारा (कटाक्ष करके) उसके हृदय में कटार मार दी हो। भाव यह है कि उनके कटाक्ष-बाणों से आहत पुरुष व्याकुल हो तड़पने लगते हैं। उनके सिर से लेकर पैरों तक छाये हुए मेघों की पंक्ति के समान घने काले केश छाये रहते हैं और उन केशों के बीच हँसते समय चमक उठने वाली उनकी दन्त पंक्तियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं, मानों बादलों में बिजली चमक उठी हो।

ऐसी वे अनुपम रूप वाली सुन्दरी नारियाँ मस्तक पर सोने की गागरें रखे हुए आती हैं। जिस रानी की पनिहारिनें ऐसी सुन्दर हों, वह रानी स्वयं कैसी रूपवती होगी [इसकी कल्पना नहीं की जा सकती]।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान और रूपक।

(२) दोहे की प्रथम पंक्ति का पाठान्तर डा० गुप्त ने इस प्रकार दिया है—

"मानहु मैन मुरुति सब अछरीं बरन अनूप।"

अर्थात् मानों वे पनिहारिनें सब-की-सब कामदेव की मूर्तियों जैसी तथा अप्सराओं के समान अनुपम रूप वाली हों।

(३३)

ताल तलाब बरनि नहिं जाहीं। सूझै बार पार किछु नाहीं॥
फूले कुमुद सेत[1] उजियारे। मानहुँ उए गगन महँ तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकै मच्छ बीजु कै बानी॥
पौंरहिं पंख सुसंगहिं संगा। सेत पीत राते बहु रंगा॥
चकई चकवा केलि कराहीं। निसि के बिछोह, दिनहिं मिलिजाहीं॥
कुररहिं सारस करहिं हुलासा। जीवन[2] मरन सो एकहिं पासा॥
बोलहिं सोन ढेक बगलेदी। रही अबोल मीन जल-भेदी॥
नग अमोल तेहि तालहिं, दिनहिं बरहिं जस दीप।
जो मरजिया होइ तहँ, सौ पावै वह सीप॥६॥

शब्दार्थ—उए=उदय हुए। मच्छ=मछलियाँ। बानी=वर्ण, रंग, चमक। पौंरहिं=तैरते हैं। पंख=पक्षी। सुसंगहि=सत्संग के साथ, अर्थात् जोड़े के साथ। राते=लाल। कुररहिं=बोलते हैं। हुलासा=आनन्द। सोन=सवन या कलहंस। ढेक=आंजन बगुला। लेदी=छोटी मुर्गाबी या बत्तख। अबोल=मूक। जल-भेदी=जल को भेदने वाली। बरहिं=जलते हैं। मरजिया=मरजीवा, गोताखोर।

व्याख्या—सिंहल द्वीप के ताल और तलैयों का वर्णन नहीं किया जा सकता। वे इतने विशाल हैं कि उनका ओर-छोर नहीं दिखाई पड़ता। उनमें सफेद और चमकीले रंग वाले कुमुद के फूल खिले ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो आकाश में तारे खिल रहे हों। मेघ उन ताल-तलैयों में उतरते हैं और उनमें से जल भर कर फिर ऊपर चढ़ जाते हैं। जल के भीतर रहने वाली मछलियाँ इस प्रकार चमक रही हैं, मानो आसमान में बिजली चमक रही हो। विभिन्न प्रकार के पक्षी अपने-अपने जोड़ों के साथ उनमें तैर रहे हैं। ये पक्षी सफेद, पीले, लाल आदि अनेक रंगों वाले हैं। चकई-चकवा उनमें क्रीड़ा कर रहे हैं। रात्रि को उनका बिछोह हो जाता है और वे दिन निकलने पर फिर एक-दूसरे से मिल जाते हैं। सारसों की जोड़ियाँ आनन्द में भर कर वहाँ कलरव कर रही हैं। प्रसिद्ध है कि वे साथ-साथ जीवित रहते हैं और मरते हैं, अर्थात् एक-दूसरे का बिछोह उनसे सहन नहीं होता। उन ताल-तलैयों में सोन (सवन या कलहंस), ढेक (आंजन बगुला), बक (बगुला), लेदी (छोटी मुर्गाबी या बत्तख) आदि पक्षी विभिन्न प्रकार की बोलियाँ बोलते हैं। परन्तु अथाह जल को चीरकर पार करने वाली मछलियाँ मूक ही बनी रहती हैं। (मछलियाँ बोलती नहीं, यह सत्य है।)

उन तालों में अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं जो दिन में इस प्रकार चमकते रहते हैं, मानो जल के भीतर दीपक जल रहे हों। जो मरजीवा (गोताखोर) हो, वही इन अमूल्य रत्नों वाली उस सीप को प्राप्त कर सकता है।

पाठ-भेद—१. केत=कितने ही। २. जिअन हमार मुअहिं एक पासा।

दोहे की अन्तिम पंक्ति में जायसी आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी हो उठे हैं। वे उस अलौकिक प्रणय की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि उस ब्रह्म रूपी अमूल्य रत्न को वही साधक प्राप्त कर सकता है जो प्रेम के क्षेत्र में अपने प्राणों की बाजी लगा सके। यहाँ गोताखोर साधक का अमूल्य रत्न ब्रह्म का प्रतीक है।

टिप्पणी—अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा और समासोक्ति।

(३४)

आस-पास[1] बहु अमृत बारी। फरीं अपूर होइ रखवारी॥
नवरँग नीबू सुरँग जँभीरा। औ बादाम बहु भेद अँजीरा॥
गलगल तुरंज सदाफर फरे। नारँग अति राते रस भरे॥
किसमिस सेव फरे नौ पाता। दारिउँ दाख देखि मन राता॥
लागि सुहाई हरफारयोरी[2]। उनै रही केरा कै घौरी॥
फरे तूत कमरख औ न्योजी। रायकरौंदा बेर चिरौंजी॥
संगतरा व छुहारा दीठे। और खजहजा खाटे मीठे॥
पानि देहिं खँड़वानी कुर्वाह खाँड़ बहु मेलि।
लागी घरी रहट कै सींचहि अमृतबेल॥१०॥

शब्दार्थ—बारी=वाटिका। फरीं=फलीं। अपूर=पूर्ण रूप से। सुरंग=सुन्दर रंग वाले। गलगल=बिजौरा नीबू। तुरज=चकोतरा, बातावी नीबू। सदाफर=शरीफा। राते=लाल। नौ पाता=नई पत्तियाँ। राता=प्रसन्न। हर-फारयोरी=लवली, कमरख की जाति का एक वृक्ष जिसमें आँवले के बराबर फल लगते हैं। उनै=झुक रही है। केरा=केला। घौरी=गहर। न्योजी=लीची। रायकरौंदा=राम करौंदा।

व्याख्या—उन ताल-तलैयों के आसपास बहुत-से अमृत-जैसे मीठे फलों के वृक्षों वाले बाग-बगीचे लगे हुए हैं जिनमें भरपूर फल लगते हैं और जिनकी रखवाली की जाती है। नए-नए रंगों वाले नीबू, सुन्दर रंग वाली जम्भीरियाँ, बादाम और अनेक प्रकार के अंजीर लगे हुए हैं। वृक्षों पर बिजौरा नीबू, चकोतरा, शरीफा के फल लटक रहे हैं। अत्यन्त गहरे लाल रंग वाली खूब रसदार नारंगियाँ लगी हुई हैं। किशमिश (अंगूर), सेब के फल नए-नए पत्तों के बीच लटकते हुए शोभा दे रहे हैं। दाड़िम (अनार), दाख (बड़े अंगूर) आदि फलों को देखकर मन बहुत प्रसन्न होता है। लवली के लगे हुए फल बड़े सुहावने प्रतीत होते हैं और केले की घनी गहरें अपने बोझ के कारण नीचे की तरफ झुक रही हैं। शहतूत, कमरख और लीची, राम करौंदा, बेर

पाठ-भेद—१. पुनि जो लागि। २. हरफारेडरी।

और चिरौंजी के वृक्षों पर फल आ गए हैं । सन्तरा और छुहारा लगे हुए दिखाई पड़ते हैं । इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के खट्टे-मीठे मेवे फल रहे हैं ।

इन बाग-बगीचों की सिंचाई कुओं के जल में खाँड़ घोल कर की जाती है । कुओं पर रहट लगे हुए हैं जिनके द्वारा अमृत के समान मीठे फल देने वाली बेलों की सिंचाई होती है ।

(३५)

पुनि फुलवारी लागि चहुँ पासा । बिरिछ बेधि चंदन भइ बासा ॥
बहुत फूल फूलीं घनबेली । केवड़ा चम्पा कुंद चमेली ॥
सुरंग गुलाल कदम और कूजा । सुगँध बकौरी गंध्रब पूजा ॥
जाही जूही बगुचन लावा । पुहुप सुदरसन लाग सुहावा ॥
नागेसर सदबरग नेबारी । औ सिंहारहार फुलवारी ॥
सोनजरद फूलीं सेवती । रूपमंजरी और मालती ॥
मौलसिरी बेइली औ करना । सबै फूल फूले बहुबरना ॥
तेहिं सिर फूल चढ़हिं वै, जेहि माथे मनि-भाग ।
आछहिं सदा सुगंध बहु, जनु बसंत औ फाग ॥११॥

शब्दार्थ—पासा=दिशा, पाश । घनबेली=बेला की एक जाति । गुलाल=लाल गुललाला । कूजा=कुब्जक, एक प्रकार का जंगली गुलाब जो गर्मी में फूलता है । इसके फूल सफेद रङ्ग के होते हैं । बकौरी=बकावली, गुल बकावली । जाही=एक प्रकार का सफेद फूल । बगुचन=ढेर के ढेर । सुदरसन=एक बड़ा सफेद फूल । नागेसर=नागकेसर । सदबरग=गेंदा या उसी से मिलता-जुलता एक फूल । नेबारीं=नवमल्लिका, एक सफेद रंग का फूल । सिंहारहार=हरसिंगार, पारिजात या शेफालिका । सोनजरद=सोनजुही, चमेली से मिलता-जुलता पीले रंग का फूल । रूपमंजरी=लाल रंग का चमेली के समान एक फूल जो सदाबहार रहता है । करना=बसन्त में खिलने वाला एक सफेद फूल । मनि-भाग=सौभाग्य मणि । आछहिं=है । फाग=फाल्गुण मास ।

व्याख्या—जायसी विभिन्न प्रकार के फूलों का वर्णन करते हुए कहते हैं—चारों ओर, सभी दिशाओं में फुलवारियाँ लगी हुई हैं । इन फुलवारियों में लगे फूलों की सुगन्धि ने आस-पास खड़े वृक्षों को भेद कर उन्हें चन्दन के समान सुगन्धित बना दिया है, अर्थात् उन वृक्षों में भी इन फूलों की सुगन्धि बस गई है । घनबेली (बेला की एक जाति), केवड़ा, चम्पा, कुन्द और चमेली आदि खूब फूल रही हैं । सुन्दर रंग वाले गुललाला, कदम, कुब्जक, सुन्दर गन्ध वाली बकावली (गुल बकावली) आदि फूलों द्वारा राजा गन्धर्वसेन पूजा करते हैं या ये फूल गन्धर्व-पूजा में प्रयुक्त होते हैं । जाही (एक प्रकार का सफेद फूल), जुही आदि के फूल के ढेर के ढेर फूल रहे हैं । सुदर्शन के फूल फूले हुए बड़े सुन्दर दिखाई पड़ते हैं । नागकेसर, गेंदा, नवमल्लिका

और हरसिंगार के फूल इन फुलवारियों में खिल रहे हैं। सोनजुही, सेवती, रूपमंजरी, मालती, मौलश्री, वेला, करना आदि के फूल रंग-बिरंगे रूपों में खिल रहे हैं।

ये फूल उनके मस्तकों पर चढ़ाए जाते हैं जिनके मस्तक पर सौभाग्य-मणि होती है अर्थात् ये फूल अमित सौभाग्य वालों को ही प्राप्त होते हैं। ये फूल सदा वैसे ही सुगन्धित बने रहते हैं जैसे कि वसन्त ऋतु और फागुन के महीने में सुगन्धित होते हैं। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि ये विभिन्न प्रकार के फूल यहाँ साल भर तक खिले रहकर इस प्रकार सुगन्धि देते रहते हैं, मानो वहाँ साल भर तक वसन्त और फागुन की ही ऋतु छाई रहती हो।

(३६)

सिंघलनगर देख पुनि बसा। धनी राजा अस जे कै दसा॥
ऊँची पौरी ऊँच अवासा। जनु कैलास इंद्र कर बासा।
राव रंक सब घर घर सुखी। जो दीखै सो हँसता-मुखी॥
रचि-रचि साजे चन्दन चौरा। पोतें अगर मेद औ गौरा[1]॥
सब चौपारहि चंदन खंभा। ओठँघि सभासद[2] बैठे सभा॥
मनहुँ सभा देवतन्ह कर जुरी। परी दीठि इंद्रासन पुरी॥
सबै गुनी औ पंडित ज्ञाता। संसकिरित सबके मुख बाता॥
अस[3] कै मंदिर सँवारे, जनु सिवलोक अनूप।
घर-घर नारि पदमिनी, मोहहि दरसन-रूप॥१२॥

शब्दार्थ—बसा=बसा हुआ। धनि=धन्य। पौरी=ड्योढ़ी। अवासा=महल। हँसता-मुखी=प्रसन्न मुख। मेद=मेदा, एक सुगन्धित पदार्थ। गौरा=गोरोचन। ओंठघि=टेक लगाए हुए, पीठ टेक कर।

व्याख्या—फिर उस बसे हुए सिंहल नगर को देखो। वह राजा धन्य है जिसकी ऐसी [सम्पन्न] स्थिति है। उस नगर में ऊँची-ऊँची ड्योढ़ियों वाले गगनचुम्बी महल बने हुए हैं। उस नगर को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वह इन्द्र का निवास-स्थान, अर्थात् स्वर्ग-स्थित अमरावती हो। राजा से लेकर भिखारी तक सभी स्थितियों वाले व्यक्ति घर-घर में सुखी हैं। जो भी व्यक्ति दिखाई पड़ता है वह प्रसन्न-मुख होता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के मुख पर सदैव प्रसन्नता छाई रहती है। वहाँ के निवासियों ने बड़ी रुचि के साथ चन्दन के सुन्दर कलापूर्ण चबूतरे सजाये हैं। और उन पर मेदा, अगर और गोरोचन जैसे सुगन्धित पदार्थों का लेप चढ़ाया है [जिससे वे हमेशा महकते रहते हैं]। सारी चौपालों पर चन्दन के खम्भे लगे हुए हैं। सभासद गण इन चौपालों में जुड़ी सभाओं में पीठ टेक कर आनन्द और आराम के साथ बैठे रहते हैं। यह दृश्य ऐसा प्रतीत होता है, मानो देवताओं की सभा जुड़ी हुई हो। यह सम्पूर्ण दृश्य इन्द्रपुरी

पाठ-भेद—१. केवरा=केवड़ा। २. सभापति। ३. अँहिक पन्थ=ऐहिक पथ।

(अमरावती) का-सा दिखाई पड़ता है। यहाँ के सारे निवासी गुणी, पंडित और विभिन्न विद्याओं एवं कलाओं के ज्ञाता हैं। सब संस्कृत भाषा में ही बोलते हैं।

यहाँ मन्दिर इस प्रकार सजाये गए हैं, मानो यह अनुपम शिवपुरी हो। घर-घर में पद्मिनी-नारियाँ हैं, जिनके रूप का दर्शन कर मन मोहित हो जाता है।

(३७)

पुनि देखौ सिंहल कै हाटा। नवौ निद्धि लक्षिमी सब बाटा॥
कनक हाट सब कुहकुहुँ लीपी। बैठ महाजन सिंघलदीपी॥
रचहि हथौड़ा रूपन ढारी। चित्र कटाव अनेक सवारी॥
सोन रूप भल भयउ पसारा। धवल सिरी पोतहिं घर बारा॥
रतन पदारथ मानिक मोती। हीरा[1] लाल सो अनबन जोती॥
औ कपूर बेना कस्तूरी। चंदन अगर रहा भरपूरी॥
जिन्ह एहि हाट न लीन्ह बेसाहा। ता कह आन हाट कित लाहा॥
कोई करै बेसाहिनी, काहू केर बिकाइ।
कोई चलै लाभ सन, कोई मूर गँवाइ॥१३॥

शब्दार्थ—कनक हाट=सोने का बाजार अर्थात् सराफा। कुहकुहँ=कुंकुम से। लीपी=पोती। महाजन=सराफ। रचहि=बनाते हैं। हथौड़ा=हाथ का कड़ा। रूपन=चाँदी को। ढारी=ढाल कर। चित्र कटाव=अनेक प्रकार के चित्र बनाते हैं। सोन रूप=सोना-चाँदी। पसारा=फैलाव, प्रसार। धवल=सफेदी। सिरी=श्री, रोली। अनबन=अनोखी, अद्‌भुत। बेना=खस या गन्धबेन। बेसाहा=सामग्री, खरीदा। लाहा=लाभ। बेसाहिनी=खरीद करना।

व्याख्या—इसके उपरान्त सिंहल नगर की हाट, अर्थात् बाजार का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं—

फिर सिंहल नगर की हाट को देखा। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो वहाँ की गली-गली में नव निधियाँ तथा लक्ष्मी (धन) बिखरी पड़ी हों। सोने की हाट अर्थात् सराफा-बाजार कुंकुम से पोता गया है और वहाँ बनी दुकानों में सिंहल नगर के महाजन बैठे हुए हैं। ये महाजन अर्थात् सराफ लोग चाँदी को ढाल कर सुन्दर हाथ के कड़े बना रहे हैं। और उन पर अनेक प्रकार के चित्र बना तथा मीनाकारी कर उन्हें सजा रहे हैं। सारे बाजार में सोना और चाँदी का ही प्रसार दिखाई पड़ता है; अर्थात् सारा बाजार सोना-चाँदी से पटा पड़ा है। इन लोगों ने अपने घर-द्वारों को सफेदी और रोली से लीप-पोत कर सजा रखा है। इस बाजार में विभिन्न प्रकार के रत्न, पदार्थ, माणिक्य, मोती, हीरा और लाल आदि ऐसे रत्न भरे पड़े हैं, जिनकी कान्ति अद्‌भुत और अनुपम है। इस बाजार में कपूर, खस, कस्तूरी, चन्दन आदि सुगन्धित

पाठ-भेद—१. हीर पँवारि=हीरा और प्रवाल (मूँगा)।

पदार्थ भरे पड़े हैं। जिसने इस हाट से कोई सामान नहीं खरीदा, उसे किसी दूसरे बाजार से खरीदने से लाभ ही क्या हो सकता है ?

इस बाजार में कोई सामान खरीदता है और किसी का सामान विकता है। यहाँ से कोई अपना लाभ करके चलता है तथा कोई अपनी गांठ की पूँजी (मूलधन) भी गवाँ बैंठता है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—अन्तिम पंक्तियों में समासोक्ति अलंकार है।

(२) दोहे का एक तो साधारण अर्थ है, जिसे हमने ऊपर दिया है। परन्तु इसका एक दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है जो मानव-जीवन पर घटता है। हाट संसार है, मानव क्रय-विक्रय करने वाला है। यह क्रय-विक्रय उसके कर्म हैं। कुछ लोग सत्कर्मों द्वारा लाभ उठाकर अपने जीवन को सफल बना लेते हैं तथा कुछ बुरे कर्मों द्वारा इस मानव-जीवन रूपी मूलधन को भी खो बैंठते हैं।

(३८)

पुनि सिंगारहाट भल[1] देसा। किए सिंगार बठी तहँ बेसा॥
मुख तमोल, तन चीर कुसुंभी। कानन कनक जड़ाऊ खुंभी॥
हाथ बीन सुनि मिरिग भुलाहीं। नर मोहहिं सुनि, पैग न जाहीं॥
भौंह धनुष, तिन्ह नैन अहेरी। मारहिं बान सान सौं फेरी॥
अलक कपोल डोल, हँसि देहीं। लाइ कटाक्ष मारि जिउ लेहीं॥
कुच कंचुक जानौ जुग सारी। अंचल देहिं सुभावहि ढारी॥
केत खिलार हारि तेहि पासा। हाथ झारि उठि चलहिं निरासा॥
चेटक लाइ हरहिं मन, जब लहि होय गथ फेंट।
साँठ नाठि उठि भए बटाऊ, ना पहिचान न भेंट॥१४॥

शब्दार्थ—सिंगार हाट=शृंगार की हाट, बाजार, अर्थात् वेश्याओं का बाजार। भल=सुन्दर। बेसा=वेश्या। कुसुम्भी=पीले रंग के, हरसिंगार के फूलों के रंग से रँगे हुए। खुम्भी=लौंग या कील, झुमके। सान=शान, हथियार की धार तेज करने वाला पत्थर। फेरी=फेर कर, घिसकर। डोल=हिलते हैं। देहीं=देती हैं। सारी=पासा। ढारी=खिसका देती हैं। खिलार=खिलाड़ी। पासा=पाश, जाल। हाथ झारि=हाथ झाड़कर, सब कुछ हारकर। चेटक=जादू। लहि=तक। गथ फेंट=गाँठ में पूँजी। साँठ=पूँजी। नाँठि=नष्ट होने पर।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी ने सिंहल नगर की वेश्याओं का वर्णन करते हुए लिखा है—फिर उस देश की सुन्दर शृंगार की हाट, अर्थात् वेश्याओं का बाजार है जहाँ शृंगार कर-कर वेश्यायें बैंठी हुई हैं। उनके मुखों में पान के बीड़े दबे हुए हैं और शरीर पर पीले रंग के रेशमी वस्त्र सजे हुए हैं। कानों में सोने के जड़ाऊ झुमके

पाठ-भेद—१. धनि=धन्य, निराला।

लटक रहे हैं, हाथ में वीणा है जिनके स्वर को सुनकर मृग ठगे-से खड़े रह जाते हैं। वीणा के स्तरों को सुनकर मनुष्य मोहित हो जाते हैं और फिर उनसे एक कदम भी आगे उठाते नहीं बनता। उन वेश्याओं की भौंहे धनुष के समान वक्राकार हैं। उनके शिकारी रूपी नेत्र अपने संकेत रूपी शान पर तेज किए गए कटाक्ष रूपी बाण भौंहों रूपी धनुषों पर चढ़ाकर (राह चलते) मनुष्यों को बेध रहे हैं। उनके कपोलों पर केशों की लटें लहरा रही हैं। वे मनुष्यों की तरफ देखकर हँस देती हैं; और अपने कटाक्षों द्वारा उन पर प्रहार कर उनके प्राण ले लेती हैं। चोली में कसे हुए उनके दोनों कुच मानो दो पासों के समान हैं। वे अपने अंचल को अनायास ही नीचे गिरा कर इन कुचों को उखाड़ देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये वेश्याएँ अपने इन कुचों रूपी पाँसों द्वारा चौपड़ का खेल खेलने में पूर्ण दक्ष हैं। उन्हें उनके द्वारा खेलने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। उनकी चाल बिल्कुल ठीक बैठती है; अर्थात् पुरुष उन कुचों को देखकर अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं और प्रणय के उस खेल में हार जाते हैं। इन वेश्याओं के इन पाँसों में फँसकर न मालूम कितने खिलाड़ी हार चुके हैं। और सब कुछ हार जाने पर अपने हाथ झाड़ निराश हो वहाँ से चले जाते हैं।

ये वेश्यायें जादू डाल, पुरुषों के मन को हर लेती हैं और यह काम तभी तक करती हैं जब तक उन पुरुषों की गाँठ में धन रहता है। सारी पूँजी नष्ट हो जाने पर वे पुरुष पथिक की भाँति उठकर चुपचाप वहाँ से चले जाते हैं। इसके उपरान्त उनके प्रति उन वेश्याओं का व्यवहार ऐसा बदल जाता है जैसे उनकी इन पुरुषों से न तो कोई जान-पहचान ही रही हो और न कभी मुलाकात ही हुई हो।

टिप्पणी—अलंकार—'भौंह····धनुष···फेरी—रूपक।
'कुच कंचुकि·· सारी'—उत्प्रेक्षा।
'केत····भेंट'—समासोक्ति।

(३९)

लेइ के फूल बैठ फुलहारी। पान अपूरब धरे सँवारी॥
सोंधा सबै बैठ लै गाँधी। फूल कपूर खिरौरी बाँधी॥
कतहूँ पंडित पढ़हिं पुरानू। धरमपंथ कर करहिं बखानू॥
कतहूँ कथा कहै किछु कोई। कतहूँ नाच-कूद[1] भल होई॥
कतहूँ चिरहँटा पंखी लावा। कतहूँ पखंडी काठ नचावा॥
कतहूँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक-कला॥
कतहुँ काहु ठगविद्या लाई। कतहुँ लेहिं मानुष बौराई॥
चरपट चोर (धूत) गँठिछोरा, मिले रहहिं ओहि नाच।
जो ओहि हाटँ सजग भा, (अगुमन) गथ ताकर पै बाँच॥१५॥

पाठ-भेद—१. नाच-कोड=नृत्य और कौतुक, तमाशे। दोहे में 'धूत' और 'अगुमन'—
ये दो शब्द डा० गुप्त वाले पाठ में अधिक मिलते हैं।

शब्दार्थ—सोंधा=सुगन्ध। गाँधी=गन्धी। खिरौरी=केवड़े में बसी कत्थे की टिकिया। चिरहँटा=बहेलिया। पखंडी=कठपुतली वाला। काठ=काठ की पुतलियाँ। नाद सबद=गाना-बजाना। चेटक-कला=जादू की कला। चरपट=चालाक। गंठिछोरा=जेबकट।

व्याख्या—उस हाट में मालिनें तरह-तरह के फूल लाकर बैठती हैं। सुन्दर पान सजा कर रखे गये हैं। गन्धी सब तरह की सुगन्धित वस्तुओं (इत्र आदि) को लेकर बैठे हुए हैं। फूल, कपूर और केवड़े की गन्ध में बसी हुई कत्थे की टिकियाँ रखी हुई हैं। कहीं पंडित पुराणों का पाठ कर रहे हैं और धर्म-मार्ग की प्रशंसा कर रहे हैं। कहीं कोई कुछ दूसरी कथा सुना रहा है, कहीं सुन्दर नाच-कूद हो रहा है। कहीं बहेलिए तरह-तरह के पक्षी लाकर बैठे हैं, कहीं कठपुतली वाले कठपुतलियों का नाच दिखा रहे हैं। कहीं सुन्दर गाना-बजाना हो रहा है, कहीं नाटक और जादू का तमाशा हो रहा है। कहीं कोई ठग-विद्या द्वारा किसी को ठग रहा है, कहीं कोई मनुष्यों को अपने प्रभाव द्वारा पागल बनाकर लूट रहा है।

उस नाच के रंग के वातावरण में उचक्के (धूर्त्त), चोर, गाँठ काटने वाले आदि मिले रहते हैं। उस हाट में जो सदैव सतर्क रहता है उसकी पूँजी बच जाती है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—समासोक्ति।

(२) इस छन्द के दोहे का समासोक्ति-परक अर्थ करने से यह अर्थ निकल सकता है कि इस संसार में मनुष्यों को लुभाने या भटकाने वाली बहुत-सी वस्तुएँ हैं। माया विविध रूप धारण कर मनुष्य को छलती रहती है। परन्तु जो मनुष्य विवेक (ज्ञान) द्वारा इस माया के प्रति सतर्क बने रहते हैं, उनका जीवन नष्ट नहीं हो पाता।

(३) दोहे में 'धूत' का अर्थ है धूर्त्त और 'अगुमन' का—पहले से ही।

(४०)

पुनि आए सिंघल गढ़ पासा। का बरनौं जनु लाग अकासा॥
तरहिं करिन्ह[1] बासुकि कै पीठी। ऊपर इन्द्र लोक पर दीठी॥
परा खोह चहुँ दिसि अस बाँका। काँपै जाँघ, जाइ नहिं झाँका॥
अगम असूझ देखि डर खाई। परै सो सपत-पतारहिं जाई॥
नव पौरी बाँकी, नवखंडा। नवौ जो चढ़ै जाइ बरम्हंडा॥
कंचन कोट जरे नग सीसा। नखतहिं भरी बीजु जनु दीसा॥
लङ्का चाहि ऊँच गढ़ ताका। निरखि न जाइ दीठि तन[2] थाका॥
हिय न समाइ दीठि नहिं, जानहुँ ठाढ़ सुमेर।
कहँ लगि कहौं ऊँचाई, कहँ लगि बरनौ फेर॥१६॥

शब्दार्थ—पासा=पास। तरहिं=तले में, नीचे, नींव में। करिन्ह=दिग्गजों।

पाठ-भेद—१. कुरुंभ=कुर्म, कच्छप। २. मन।

खोह=परिखा । दीसा=दिखाई पड़ता है । चाहि=अपेक्षा, अधिक । ताका=देखने में । ठाड़=खड़ा है । फेर=घेरा ।

व्याख्या—इसके उपरान्त सिंहल गढ़ के पास आए । उसका मैं क्या वर्णन करूँ ! वह ऐसा लगता है, मानो आसमान के समान ऊँचा हो । उसकी नींव इतनी गहरी है, मानों चारों दिशाओं के चार हाथियों (दिग्गजों) या शेषनाग की पीठ पर टिकी हुई हो । (मान्यता है कि पृथ्वी पाताल में स्थित चार दिग्गजों या शेषनाग पर टिकी हुई है ।) और ऊपर इतना ऊँचा है कि उसकी ओर देखने में दृष्टि इन्द्रलोक (स्वर्ग अर्थात् आकाश) से जा लगती है । उसके चारों तरफ बड़ी बाँकी परिखा (चहारदीवारी) है, जिस पर चढ़कर नीचे झाँकते समय जाँघें काँपने लगती हैं और देखा नहीं जाता । उस गढ़ के चारों तरफ बनी हुई खाई इतनी अगम्य और गहरी है, कि उसे देखकर डर लगने लगता है । यदि कोई उसमें गिर जाय तो सीधा सात-पातालों में पहुँच जाता है । उस गढ़ में बाँकी नौ ड्योढ़ियाँ बनी हैं तथा वह नौ मंजिल ऊँचा है । कोई उन नौ मंजिलों को चढ़कर ऊपर पहुँच जाता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है, मानो आकाश में पहुँच गया हो । कोट (किला) सोने का बना हुआ है जिस पर कांच के स्थान पर रत्न जड़े हुए हैं । इन रत्नों से जड़ा हुआ सोने का वह किला ऐसा लगता है मानो बिजली में नक्षत्र जड़ दिए गए हों । (यहाँ सोने का किला बिजली और उसमें जड़े झिलमिलाते रत्न नक्षत्र हैं ।) वह गढ़ देखने में लंका गढ़ से भी ऊँचा दिखाई देता है । उसे देखा नहीं जा सकता, उसे देखते-देखते दृष्टि और शरीर—दोनों थक जाते हैं ।

उस गढ़ की शोभा तथा विशालता हृदय में नहीं समाती और दृष्टि द्वारा या इन आँखों द्वारा उसे पूरी तरह से नहीं जाना या देखा जा सकता । वह ऐसा प्रतीत होता है, मानो गगनचुम्बी सुमेरु पर्वत (स्वर्ण का पर्वत) खड़ा हुआ हो । मैं उसकी ऊँचाई का वर्णन कहाँ तक करूँ और उसके घेर या चौड़ाई को कहाँ तक कहूँ । वह इतना विशाल और ऊँचा है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

टिप्पणी—(१) इस छन्द में सिंहलगढ़ का जो वर्णन किया गया है, वह हठयोगियों द्वारा किये गए मानव-शरीर के वर्णन पर बहुत-कुछ घट जाता है । यद्यपि रूपक पूरी तरह से पूरा नहीं उतरता, फिर भी 'नव पौरी······बरम्हंडा', पंक्ति हठयोग के प्रति संकेत करती है । सिंहल द्वीप हठयोगियों के सिद्धपीठ के रूप में प्रसिद्ध था, ऐसी मान्यता थी । हठयोग में इस मानव-शरीर को ही सम्पूर्ण संसार का रूप मानकर साधना की जाती है । सिंहलगढ़ उसी मानव-शरीर के अनुरूप है । इस गढ़ का जीतना उतना ही दुष्कर कार्य है, जितनी कि हठयोग की साधना करना । हठयोगी हठयोग की साधना द्वारा नवइन्द्रियों को साध कर ब्रह्माण्ड को प्राप्त करता है । उपर्युक्त पंक्ति में 'नवपौरी' तथा 'नवखंडा' शब्द मानव-शरीर की नवइन्द्रियों के प्रतीक हैं । इनको साध लेने अर्थात् वश में कर लेने के उपरान्त कुंडलिनी, सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग द्वारा ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है और यह पहुँचना ही इस साधना की चरम उपलब्धि है ।

यहाँ 'ब्रह्माण्ड' शब्द 'ब्रह्मरंध्र' के लिए प्रयुक्त हुआ है। कुछ आलोचकों ने इस प्रकार के वर्णनों के आधार पर ही 'पदमावत' को अन्योक्ति माना है।

(२) **अलंकार**—समस्त छन्द में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार।

'जस लाग अकासा'—में उत्प्रेक्षा तथा सम्बन्धातिशयोक्ति।

'तरहिं करन्हि····दीठी'—में सम्बन्धातिशयोक्ति।

'नव पौरी····ब्रह्मण्डा'—में समासोक्ति तथा रूपकातिशयोक्ति।

'कंचन कोट····दीसा'—में उपमा।

(४१)

निति गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू। नाहिं त होइ बाजि रथ चूरू॥
पौरी नवौ वज्र कै साजी। सहस सहस तहँ बैठे पाजी॥
फिरहिं पाँच कोतवाल सुभौंरी। काँपै पाँव चँपत वह पौरी॥
पौरिहि पौरि सिंह गढ़ि काढ़े। डरपहिं लोग देखि तहँ ठाढ़े॥
बहुबिधान वै नाहर गढ़े। जनु जागहिं, चाहहिं सिर चढ़े॥
टारहिं पूँछ, पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा॥
कनक-सिला गढ़ि सीढ़ी लाईं। जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताईं॥
नवौं खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र-केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै[1] पार॥१७॥

शब्दार्थ—बाँचि=बच कर। ससि सूरू=चन्द्रमा और सूर्य। बाजि=घोड़े। चूरू=चूर-चूर। पाजी=पैदल सैनिक, पदाति। सुभौंरी=भौंरे के समान चक्कर लगाना। चँपत=रखते ही। टारहिं=हिलाते हैं। गुंजरि=गरज कर। लीहा=लिया, पकड़ा। लाईं=बनाई गई हैं। ताईं=उसके। चारि बसेरे=चार पड़ाव, सूफी-साधना की चार स्थितियाँ—शरीअत, तरीकत, हकीकत तथा मारिफत।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी ने पिछले छन्द की अस्पष्ट हठयोग भावना को अधिक स्पष्ट रूप देते हुए सिंहलगढ़ का वर्णन किया है। जायसी कहते हैं—

प्रति दिन सूर्य और चन्द्रमा उस अत्यन्त ऊँचे गगनचुम्बी महल को बचाकर आकाश में चलते हैं; अर्थात् वह गढ़ इतना ऊँचा है कि उन्हें यह भय बना रहता है कि ऐसा न करने से उनके रथ और घोड़े उस गढ़ से टकरा कर कहीं चूर-चूर न हो जायँ। (कुछ विद्वानों ने 'बाजि' शब्द का अर्थ 'बजना', 'टकरा जाना' किया है परन्तु सूर्य के रथ और घोड़ों से यहाँ यही अर्थ अधिक ठीक बैठता है।) उस गढ़ की नौ ड्यौढ़ियाँ वज्र की बनी हुई हैं, अर्थात् वज्र के समान मजबूत और अभेद्य हैं। और उन ड्यौढ़ियों के सामने एक-एक हजार पैदल सिपाही तैनात हैं। पाँच कोतवाल

पाठ-भेद—१. चढ़ै जो।

बरावर भौंरे के समान उस गढ़ में चक्कर लगाते हुए पहरा देते रहते हैं। उन ड्यौढ़ियों पर पैर रखते ही भय के कारण हृदय काँपने लगता है। प्रत्येक ड्योढ़ी पर बड़ी कुशलतापूर्वक सिंहों के चित्र बनाये गए हैं। उन्हें देखकर लोग भयभीत हो, जहाँ-के-तहाँ खड़े रह जाते हैं। उन सिंहों के चित्रों को अनेक प्रकार से बहुत सजा-सजा कर बनाया गया है। उन्हें देखकर ऐसा लगता है—मानो वे अभी गर्जना करके सिर पर चढ़ना चाहते हों, झपट पड़ना चाहते हों। वे अपनी पूँछ हिलाते हैं और जीभ बाहर निकाले हुए हैं। उन्हें देखकर हाथी भयभीत हो उठते हैं। उन्हें लगता है, मानो वे सिंह अभी गरज कर उन पर चढ़ बैठेंगे। उस गढ़ की सीढ़ियाँ स्वर्ण-शिलाओं द्वारा बनाई गई हैं, जो नीचे से लेकर ऊपर तक सदैव जगमगाती रहती हैं।

उस गढ़ में नौ खंड और नौ ड्यौढ़ियाँ हैं और उन पर वज्र के बने या वज्र के समान मजबूत किवाड़ लगे हुए हैं। इस गढ़ पर चढ़ने के लिए चार पड़ावों पर विश्राम लेना पड़ता है। जो सत्य का सम्बल लेकर चढ़ता है वही अपने इस प्रयत्न में सफल हो पाता है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—इस समस्त पद में समासोक्ति अलंकार है। कुछ विद्वान् 'पदमावत' को अन्योक्ति मानते हैं। परन्तु हमारी दृष्टि में यह महाकाव्य अन्योक्ति न होकर समासोक्ति ही है, और वह भी आंशिक रूप में ही। इसका कारण यह है कि इसमें कथा प्रधान है और सूफीमत के सिद्धान्त अप्रधान। समासोक्ति और अन्योक्ति में मूल अन्तर यह है कि समासोक्ति में प्रस्तुत का वर्णन प्रधान और अप्रस्तुत का वर्णन अप्रधान होता है तथा अन्योक्ति में अप्रस्तुत का वर्णन प्रधान तथा प्रस्तुत का वर्णन अप्रधान रहता है। यदि हम इस ग्रन्थ को समस्ततः अन्योक्ति मानें तो पूरा वर्णन पूरी तरह से अन्योक्ति नहीं बैठता। केवल कुछ स्थलों पर ही अन्योक्ति का आभास मिलता है। इसे समासोक्ति मानने से कथा-रस का भी निर्वाह हो जाता है और अप्रत्यक्ष रूप से अन्योक्ति का भी। इसी कारण हमने इसे समासोक्ति माना है।

(२) सिंहलगढ़ के इस वर्णन को हठयोग के सिद्धान्तों पर घटाया जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार नौ ड्यौढ़ियाँ मनुष्य-शरीर की नौ इन्द्रियाँ, हजार-हजार पैदल सिपाही जीवन के असंख्य विकार, पाँच कोतवाल – काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, जो मानव-मन के विकारों को सदैव सजग-सन्नद्ध बनाये रहते हैं, चित्र के सिंह मिथ्या-अहंकार, सोने की सीढ़ी सुषुम्ना नाड़ी, गढ़ ब्रह्मरंध्र, कुंडलिनी अर्थात् जीवात्मा इसी सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ब्रह्मरंध्र तक पहुँचती है। इन नौ ड्यौढ़ियों तथा नव खंडों रूपी मानव-इन्द्रियों पर अज्ञान के वज्र के समान मजबूत किवाड़ लगे हुए हैं जो जीवात्मा को ज्ञान और विवेक द्वारा मोक्ष रूपी गढ़ के ऊपर नहीं पहुँचने देते। वहाँ तक कोई भी एकाएक नहीं पहुँच सकता। उसे बड़ी कठोर साधना अर्थात् परिश्रम करना पड़ता है। वहाँ पहुँचने के लिए जीवात्मा को चार पड़ाव पार करने पड़ते हैं। ये चार पड़ाव हैं सूफी साधना की चार स्थितियाँ —शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत।

हिन्दू-साधना में इन्हें—ज्ञान, कर्म, भक्ति और वास्तविकता (ईश्वर प्राप्ति) माना गया है। भारतीय हठयोग में अष्टचक्र और नवद्वार का उल्लेख मिलता है। जायसी ने इन दोनों को नवपौरी और नवखंड में ही अन्तर्भुक्त कर दिया है। मानव का मिथ्या अहंकार (सिंह) उसे सदैव गुमराह करता है, इन्द्रियाँ इसी मिथ्या अहंकार के कारण विचलित हो उठती हैं। इस मार्ग पर केवल वही साधक चल सकता है, जो सत्य अर्थात् ज्ञान का सम्बल लेकर आगे बढ़ सके। ज्ञान ही अज्ञान के वज्र किवाड़ों को तोड़ सकता है। और ज्ञान इस साधना द्वारा ही प्राप्त होता है, और उस ज्ञान द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। साधना का यह मार्ग वस्तुतः बड़ा अटपटा, जटिल और रहस्यमय होता है। आगे चलकर तुलसी को इसी कारण इसका खंडन कर भक्ति का सरल मार्ग प्रतिपादित करना पड़ा था।

(३) डा० माताप्रसाद गुप्त ने दोहे की अन्तिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—'यदि कोई अपने सत्त्व (अथवा सत्य) के द्वारा चढ़ भी सकता तो चार बसेरे करके ही वह (उस गढ़ पर) चढ़ सकता है।'

(४२)

नव पौरी पर दसवँ दुवारा। तेहि पर बाज राज-घरियारा॥
घरी सो बैठि गनै घरियारी। पहर पहर सो आपनि बारी॥
जबहीं घरी पूजि तेइँ मारा। घरी-घरी घरियार पुकारा॥
परा जो डाँड जगत सब डाँड़ा। का निचित माटी कर भाँड़ा?॥
तुम्ह तेहि चाक चढ़े हौ काँचे। आएहु रहै[1] न थिर होइ बाँचे॥
घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ। का निचित होइ सोउ बटाऊ?॥
पहरहिं पहर गजर निति होई। हिया बजर[2], मन जाग न सोई॥
मुहम्मद जीवन-जल भरन, रहँट-घरी कै रीति।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी, जनम गा बीति॥१८॥

शब्दार्थ—दसवें=दसवाँ। राजघड़ियारा=राज घड़ियाल, घंटा, अनहदनाद। घरी=घड़ी। गनै=गिनता है। घड़ियारी=घड़ियाल बजाने वाला। पूजि=पूरी हुई। डाँड़ा=दंड दिया। काँचे=कच्चा। बाँचे=बचा। भरी=व्यतीत हो गई। घटी=कम हुई, घट गई। गजर=घण्टे बजने की आवाज। बजर=वज्र। रहँट-घरी=रहँट में लगा छोटा घड़ा। ढरी=खाली हो गई। गा=गया।

व्याख्या—सिंहलगढ़ की नौ ड्योढ़ियों के ऊपर दसवाँ दरवाजा है (यहाँ दसवें दरवाजे से भाव हठयोगियों के ब्रह्मरंध्र 'सहस्रार' से है।) उस पर राजा का घंटा बजता रहता है। (ब्रह्मरंध्र में अनहद नाद होता रहता है।) यही यहाँ राजा के घंटे की ध्वनि है; अर्थात् जिस प्रकार अनहदनाद साधक को ब्रह्म के प्रति उन्मुख किये

पाठ-भेद—१. फिरै=लौटने के लिए। २. निसोगा=निष्ठुर।

रहता है, उसी प्रकार काल रूपी राजा का घंटा मनुष्य को सदैव इस बात के प्रति सचेत करता रहता है कि समय बीतता चला जा रहा है और काल पास आता जा रहा है।

घंटा बजाने वाला उस घंटे के पास बैठा एक-एक घड़ी गिनता रहता है, और पहरे वालों को अपनी-अपनी बारी आने की सूचना देता रहता है; अर्थात् साधना-मार्ग की एक-एक स्थिति की सूचना देता रहता है। जैसे ही एक घड़ी पूरी होती है, वह घड़ियाल पर डंडे की चोट मारता है। उस घंटे पर जैसे ही डंडे की चोट पड़ती है, वैसे ही सारा संसार यह जान जाता है कि काल संसार को दंड दे रहा है; अर्थात् मानव-जीवन की एक घड़ी आयु कम हो गई है। इस प्रकार बारम्बार चेतावनी मिलते रहने पर भी मनुष्य नहीं चेतता। कवि मानव को सम्बोधित कर कहता है कि ए मिट्टी के भाँड़े मनुष्य ! तू क्या सोच कर इस चेतावनी के प्रति पूर्णतः निर्लिप्त बना निश्चिन्त बैठा हुआ है। तू समय रूपी उसी चाक पर कच्ची मिट्टी के रूप में चढ़ा है, अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार के चाक पर कच्ची मिट्टी का घड़ा चढ़कर चक्कर काटता रहता है, उसी प्रकार तू भी इस संसार में आया है और चक्कर काटता रहता है। तेरी स्थिति मिट्टी के उसी घड़े के समान है। घड़ा बनता है परन्तु कच्चा होने के कारण स्थिर नहीं रहता, टूट जाता है और नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार समय रूपी चाक द्वारा निर्मित यह मानव भी उसी कच्चे घड़े के समान नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार घड़े को आँच में पका कर मजबूत किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी साधना की अग्नि में पक कर ही नाश के इस चक्कर से बच सकता है।

जब घड़ी भर जाती है (प्राचीन काल में समय जानने के लिए जल से भरे घड़े में एक ऐसा छोटा बर्तन डाल दिया जाता था जिसमें नीचे एक छेद होता था। वह बर्तन उस छेद द्वारा भीतर आते पानी से भर कर जब घड़े में डूब जाता था तो एक घड़ी समाप्त हुई मान ली जाती थी, इसी को 'घड़ी भरना' कहते थे।) तो तुम्हारी आयु में से एक घड़ी का समय कम हो जाता है। यह जानते हुए भी ए बटोही, इस प्रकार निश्चिन्त होकर क्यों सोता रहता है। यहाँ प्रतिदिन पहर-पहर पर गरज बजता रहता है (एक-एक घड़ी बीतने पर घंटा बजता है और आठ घड़ी या एक पहर (तीन घंटे) बीतने पर गजर या जोर से घंटा बजाया जाता है और पहरा बदल जाता है) परन्तु तेरा हृदय तो वज्र के समान कठोर हो गया है। इतने जोर से घंटा बजने पर भी तेरा सोता हुआ मन नहीं जागता। भाव यह है कि काल बारम्बार तुझे चेतावनी देता रहता है कि तेरी आयु घटती चली जा रही है, पर तू फिर भी नहीं चेतता, अर्थात् ईश्वर का स्मरण नहीं करता।

कवि मुहम्मद (जायसी) कहता है कि यह जीवन रहट की घरिया के समान निरन्तर चल रहा है। रहट की घरिया जल भरती है और फिर ऊपर आकर उसे बाहर फेंक देती है, उसी प्रकार एक-एक घड़ी के साथ मानव-जीवन समाप्त होता चला जा रहा है और सारी आयु समाप्त हो जाती है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'नव पौरी....घरियारू'—में समासोक्ति ।
'घरी-घरी....पुकारा'—में हेतूत्प्रेक्षा ।
'मुहम्मद....भरन'—में रूपक ।

(२) 'आएहु रहै न थिर होइ बाँचे' का अर्थ यदि यह माना जाय कि तेरी आयु अस्थिर है, तू अमर या स्थिर होकर नहीं रह सकता' तो इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जायसी हिन्दुओं के 'आवागमन' के सिद्धान्त को मानते थे, जो मुस्लिम-सिद्धान्त के नितान्त विपरीत है । इस पंक्ति से इस प्रकार का अर्थ निकाला जा सकता है—क्योंकि हठयोग में इस सिद्धान्त को माना गया है, और जायसी ने यहाँ हठयोग के अनुसार ही यह वर्णन किया है ।

(३) हठयोग के अनुसार दसवाँ द्वार 'सहस्रार' कहलाता है । यहीं सदैव अनहद नाद गूँजता रहता है । इसी द्वार से अमृत झरता रहता है और सुषुम्ना नाड़ी इसी द्वार से ब्रह्माण्ड में प्रवेश करती है ।

(४) इस छन्द में व्यक्त भाव से मिलता-जुलता किसी अज्ञात नामा कवि का एक छन्द मिलता है, जो इस प्रकार है—

'गाफिल तुझे घड़ियाल यह देता है मनादी,
गरदूँ ने घड़ी उम्र की एक और घटा दी ।'

(४३)

गढ़ पर नीर खीर दुहु नदी । पनिहारी[1] जैसे दुरपदी ।।
और कुंड एक मोतीचूरू । पानी अमृत, कीच कपूरू ।।
ओहि क पानि राजा पै पीया । बिरिध होइ नहिं जौ लहि जीया ।।
कंचन-बिरिछ एक तेहि पासा । जस कलपतरु इंद्र-कविलासा ।।
मूल पतार, सरग ओहि साखा । अमरबेलि को पाव, को चाखा ? ।।
चाँद पात औ फूल तराईं । होइ उजियार नगर जहँ ताईं ।।
वह फल पावैं तप करि कोई । बिरिध खाइ तौ जोबन होई ।।
राजा भए भिखारी, सुनि वह अमृत भोग ।।
जेइ पावा सो अमर भा, ना किछु व्याधि न रोग ।।१६।।

शब्दार्थ - नीर खीर=नीर-क्षीर, जल और दूध । दुरपदी=द्रौपदी, पंच इन्द्रियाँ । कुंड=तालाब । बिरिध=वृद्ध, बुड्ढा । तराईं=तारे ।

व्याख्या—सिंहलगढ़ पर दूध और जल की दो नदियाँ हैं और उनके तटों पर द्रौपदी जैसी सुन्दर पनिहारिनें पानी भरने के लिए आती हैं । वहाँ 'मोतीचूर' नाम का एक कुण्ड है जिसका पानी अमृत के समान मीठा और कीचड़ कपूर के समान सुगंधित है । ('मोतीचूर' का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि वह कुण्ड मोती के चूर्ण जैसा उज्ज्वल और निर्मल है ।) राजा उसका पानी पीता है और जब तक जीवित रहता

पाठ-भेद—१. पानी भरहिं ।

है, वृद्ध नहीं होता। उस कुंड के पास ही एक सोने का वृक्ष है जो स्वर्ग में स्थित कल्पवृक्ष के समान है, अर्थात् मनमाना फल देता है। उसकी जड़ें पाताल में तथा शाखाएँ स्वर्ग में हैं। उस पर छाई हुई अमर बेल को कौन पाता है, और कौन चख सकता है ? चन्द्रमा उसके पत्ते और फूल उसके तारे हैं। जहाँ तक नर का विस्तार है, सर्वत्र उसका प्रकाश फैला रहता है। उसके फल को कोई तपस्या करने के उपरान्त ही प्राप्त कर सकता है। यदि कोई वृद्ध उसके फल को खा ले, तो पुनः युवक हो जाता है।

उस अमृत-भोग (अमृत के समान मीठे फल) की प्रशंसा सुनकर राजा भी उसके लिए याचक (भिखारी) बन जाते हैं; अर्थात् भिखारी के समान उसकी कामना करने लगते हैं। और जिसने भी उसे प्राप्त कर लिया वह अमर हो गया और फिर न उसके शरीर में कोई रोग रहता है और न मन में कोई चिन्ता ही।

टिप्पणी—(१) अलंकार—समासोक्ति और रूपकातिशयोक्ति।

'चाँद पात.........ताई'—में रूपक अलंकार।

(२) इस छन्द में जायसी ने हठयोग की अन्तःसाधना तथा सूफी प्रेम तत्त्व का सैद्धान्तिक समन्वय किया है। साधारण दृष्टि से देखने पर यह गढ़ का ही वर्णन प्रतीत होता है परन्तु समासोक्ति द्वारा यह हठयोग तथा सूफी सिद्धान्तों पर भी पूर्णतया घट जाता है। यदि हम समासोक्ति द्वारा इसका अर्थ करें तो इसमें निम्नलिखित प्रतीक मिल जाते हैं—

सिंहलगढ़=मानव शरीर। नीर-खीर दुइ नदी=इड़ा और पिंगला नामक नाड़ियाँ। कुण्ड=हृदय। पानी=प्रेम। कीच=वासना। कंचन बिरिछ=सुषुम्ना नाड़ी। अमर बेलि=सहस्र-दल कमल। दुरपदी=पंचेन्द्रियाँ।

हठयोग के अनुसार मानव-शरीर में तीन नाड़ियाँ होती हैं—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इनमें से इड़ा विष की तथा पिंगला अमृत की नाड़ी है। इसी कारण इड़ा का रंग काला और पिंगला का श्वेत माना गया है। सुषुम्ना इन दोनों के बीच में स्थित है जिसके मूल में कुंडलिनी है और इसके ऊपर ब्रह्मरंध्र। ब्रह्मरंध्र के ऊपर सहस्र-दल कमल है। साधक साधना द्वारा अपनी कुंडलिनी को जाग्रत कर उसे सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर चढ़ाता है। इस क्रिया द्वारा साधक को ज्ञान की प्राप्ति होती है। और जब कुंडलिनी ब्रह्मरंध्र में पहुँच जाती है तो साधक को सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह ब्रह्म से मिलकर तद्रूप हो जाता है। सूफी साधना और हठयोग साधना में अन्तर यह रहता है कि सूफी प्रेम को सर्वोपरि महत्त्व देता है। प्रेमपात्र का मिलन ही सूफी-साधना की चरम परिणति मानी जाती है। हठयोग में जब साधक ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है तो उसकी वासनाओं का क्षय हो जाता है। उसके मन के संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं। उसे परम सन्तोष और शांति की प्राप्ति हो जाती है। वह ज्ञानी कहलाता है और सारे सांसारिक कार्य करते हुए भी जीवन्मुक्त बन जाता है। कुंडलिनी उसकी प्राणशक्ति होती है। जब तक यह सुषुप्तावस्था में

रहती है, तब तक मानव की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि बहिर्मुखी रहती हैं और इसके जाग्रत होने पर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। परन्तु इस छन्द में जायसी ने हठयोग, की इस साधना को अपनाते हुए भी सूफीमत के प्रधान तत्त्व प्रेम को ही सर्वाधिक महत्त्व दे, उसकी प्राप्ति को ही साधक की चरम सिद्धि माना है। इस दृष्टि से इस छन्द का इस प्रकार अर्थ किया जा सकता है—

मानव-शरीर में इड़ा और पिंगला नामक दो नाड़ियाँ हैं, जो क्रमशः विष और अमृत की प्रतीक हैं। मानव की पाँचों इन्द्रियाँ इन्हीं से सत् और असत् भाव प्राप्त करती हैं, अर्थात् इड़ा असत् भावों को उत्पन्न करती है और पिंगला सत् भावों को। इन दोनों के पास ही हृदय रूपी कुंड है, जिसमें प्रेम रूपी अमृत भरा रहता है, और जिसके तल में विरह रूपी कीचड़ जमी रहती है। परन्तु प्रेम से उत्पन्न होने के कारण यह विरह रूपी कीचड़ भी दुर्गन्धित न होकर कपूर के समान सुगन्धित रहती है। जब साधक इस प्रेम रूपी अमृत को पी लेता है तो शाश्वत यौवन प्राप्त कर लेता है। इस हृदय रूपी कुंड के पास ही सुषुम्ना नाड़ी (कल्पवृक्ष) है, जो मनमाना फल देती है। इसकी जड़ें पाताल (कुंडलिनी) में तथा शाखाएँ आकाश (ब्रह्मरंध्र) में हैं। यह मूलाधार चक्र पर टिका हुआ है। साधक जब प्रणय रूपी फल को प्राप्त कर लेता है तो उसे अक्षय यौवन एवं आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। मन इसी प्रेम में अनुरक्त होकर संसार के माया-मोह से निर्लिप्त बन अपने प्रियतम को प्राप्त करने के लिए चल पड़ता है। यहाँ राजा रत्नसेन साधक और पद्मावती साध्य है। राजा पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुन उसे प्राप्त करने के लिए चल पड़ता है।

(४४)

गढ़ पर बसहिं झारि[1] गढ़पती। असुपति, गजपति, भू-नर-पती॥
सब धौराहर सोने साजा। अपने अपने घर सब राजा॥
रूपवंत धनवंत सभागे। परस पखान पौरि तिन्ह जागे॥
भोग-बिलास सदा सब माना। दुख-चिन्ता कोइ जनम न जाना॥
मँदिर-मँदिर सब के चौपारी। बैठि कुँवर सब खेलहिं सारी॥
पासा ढरहिं खेल भल होई। खड़गदान सरि पूज न कोई॥
भाँट बरनि कहि कीरति भली। पावहिं हस्ति घोड़ सिंघली॥
मँदिर-मँदिर फुलबारी, चोवा चंदन बास।
निसि दिन रहै बसंत तहँ छवौ ऋतु बारह मास॥२०॥

शब्दार्थ—गढ़पती=गढ़ के रक्षक। झारि=अनेक। असुपति=अश्वपति। भू-नर-पती=राजा। धौराहर=महल। सभागे=सौभाग्यशाली। परस पखान=पारस पत्थर। सारी=पाँसा, चौपड़। खड़गदान=तलवार का युद्ध। पूज=बराबरी। चोवा=एक विशेष प्रकार की सुगन्धि।

पाठ-भेद—१. चारि=चार।

व्याख्या—उस सिंहलगढ़ पर अनेक गढ़पति, अश्वपति तथा राजा रहते हैं। (ये गढ़ की रक्षा करने वाले चार प्रकार के अधिकारी हैं।) इन सबके महल सोने से सजे हुए हैं। सब अपने-अपने घर के राजा अर्थात् मालिक हैं। ये सब अत्यन्त रूपवान, धनवान और सौभाग्यशाली हैं। इन सबकी ड्यौढ़ियों पर पारस-पत्थर लगे हुए हैं, जिसके कारण इन्हें स्वर्ण अर्थात् धन की कमी नहीं रहती। सब भोग-विलास में मग्न रहते हैं। इन्होंने जीवन में कभी यह तक नहीं जाना कि दुःख और चिन्ता किसे कहते हैं। प्रत्येक मन्दिर (महल) में चौपालें बनी हुई हैं, जिन पर बैठकर राजकुमार चौपड़ खेलते हैं। वे लोग पाँसा फेंकते हैं और इस प्रकार वहाँ सुन्दर खेल होते रहते हैं। साथ ही तलवार चलाने में भी इनकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। भाव यह है कि ये राजकुमार केवल भोग-विलास तथा अन्य प्रकार की क्रीड़ाओं में ही नहीं लगे रहते, बल्कि उच्च कोटि के योद्धा भी हैं। चारण-भाट इनकी बड़ाई करते हैं और पुरस्कार में सिंहली हाथी और घोड़े प्राप्त करते हैं।

यहाँ घर-घर में फुलवारियाँ लगी हुई हैं जिनमें चोवा और चंदन की सुगन्धि छाई रहती है। यहाँ रात-दिन, छः ऋतु और बारह मास वसन्त ऋतु छाई रहती है।

टिप्पणी—(१) इस छन्द की प्रथम पंक्ति में डा० गुप्त ने 'झारि' के स्थान पर 'चारि' पाठ माना है। कुछ आलोचकों एवं टीकाकारों ने 'चारि' शब्द का अर्थ 'चार' मानकर उससे अन्तःकरण के मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार या धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अभिप्राय लिया है और इस प्रकार इस छन्द को समासोक्ति सिद्ध कर दिया है। परन्तु इस प्रकार के अर्थ करने में बहुत खींचतान करनी पड़ती है, अटपटे प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। 'चारि' शब्द को स्वीकार कर लेने पर भी हमारे अर्थ में कोई अन्तर नहीं आ पाता; अर्थात् गढ़ पर चार प्रकार के अधिकारी रहते हैं—गढ़पति, अश्वपति, गजपति और नरपति (राजा)।

(२) चतुर्थ अर्द्धाली की दूसरी पंक्ति में डा० गुप्त ने 'जनम' के स्थान पर 'जरम' पाठ माना है, परन्तु उसका अर्थ 'जनम' ही किया है। जायसी ने अन्यत्र ही 'जनम' शब्द का प्रयोग किया है। फिर इस 'जरम' पाठ को स्वीकार करने में कोई संगति नहीं दिखाई देती।

(४५)

पुनि चलि देखा राज-दुआरा। मानुष[१] फिरहिं पाइ नहिं बारा॥
हस्ति सिंघलो बाँधे बारा। जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा॥
कौनौ सेत, पीत रतनारे। कौनौ हरे, धूम औ कारे॥
बरनहिं बरन गगन जस मेघा। औ तिन्ह गगन पीठि जनु ठेघा॥
सिंघल के बरनौं सिंघली। एक-एक चाहि एक-एक बली॥

पाठ-भेद—१. महिं घूँबिअ = दुनियाँ भर में घूम आइए।

गिरि पहार वे पैगहि पेलहिं । बिरिछ उचारि डारि मुख मेलहिं ॥
माते[1] तेइ सब गरजहिं बाँधे । निस-दिन रहहिं महाउत काँधे ॥
धरती भार न अँगवै, पावँ धरत उठ हालि ।
कुरुम टूटै, भुइँ फाटै, तिन हस्तिन के चालि ॥२१॥

शब्दार्थ—बारा=द्वार, दरवाजा । धूम=धुएँ के से रंग के । ठेघा=सहारा दिया, टेक दी । चाहि=अपेक्षा । पैगहि=पैर से । पेलहिं=धकेलते हैं । उचारि= उखाड़ कर । अँगवै=सहती है । उठ हालि=हिल उठती है ।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी सिंहलगढ़ के विशाल और शक्तिशाली हाथियों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं—

फिर आगे ही सिंहलगढ़ का राज-द्वार है । मनुष्य यदि सारे संसार में घूम आए तो भी ऐसा भव्य द्वार अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकेगा । इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि मनुष्य उसके सामने चक्कर लगाते हैं, मगर उनकी भीतर प्रवेश करने की हिम्मत नहीं पड़ती या वे द्वार तक नहीं पहुँच सकते । उस राजद्वार के सम्मुख सिंहलद्वीप के हाथी बँधे हुए हैं जो इतने विशालकाय हैं, मानों सजीव पर्वत खड़े हुए हों । उनमें से कोई सफेद, कोई पीला, कोई लाल, कोई हरा, कोई धुएँ के से रंग का तथा कोई काला है । वे हाथी वहाँ खड़े हुए ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो आकाश में विभिन्न वर्णों वाले मेघ छा रहे हों । वे इतने ऊँचे हैं, मानो आकाश उन्हीं की पीठ पर टिका खड़ा हो । सिंहलद्वीप के ऐसे सिंहली हाथियों का मैं वर्णन करता हूँ । वे एक-से-एक अधिक बलवान हैं । वे पहाड़ों को अपने पैरों से ठेल देते हैं और वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर अपने मुँह में डाल खा जाते हैं । ये सब हाथी मदमस्त बने उस राजद्वार पर बँधे चिंघाड़ते रहते हैं । महावत रात-दिन उनके कन्धों पर बैठे रहते हैं ।

पृथ्वी इन हाथियों के भार को सह नहीं पाती । जब ये पैर उठाते हैं तो धरती काँप उठती है । जब ये चलते हैं तो इनकी धमक से कच्छप की पीठ टूट जाती है, धरती फट जाती है ।

टिप्पणी—अलंकार—'जनु सजीव····पहारा'—वस्तूत्प्रेक्षा ।
'तिन्ह····ठेगा'—वस्तूत्प्रेक्षा ।
दोहे में—सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है ।

(४६)

पुनि बाँधे रजबार तुरंगा । का बरनौं जस उन्हकै रंगा ॥
लील, समंद चाल जग जाने । हाँसुल, भौंर, गियाह[2] बखाने ॥

पाठ-भेद—१. निमत=जो मदमाते नहीं हैं । २. कियाह=हल्का कालापन लिए लाल रंग वाला ।

हरे, कुरंग, महुअ बहु भाँती। गरर, कोकाह, बुलाह सु पाँती॥
तीख तुखार चाँड़ औ बाँके। सँचरहि पौरि ताज बिनु हाँके[1]॥
मन तें अगमन डोलहिं बागा। देत उसास गगन सिर लागा॥
पौन-समान समुद पर धावहिं। बूड़ न पाँव, पार होइ आवहिं॥
थिर न रहहिं, रिस लोह चबाहीं। भाँजहिं पूँछ, सीस उपराहीं॥
अस तुखार सब देखे जनु मन के रथवाह।
नैन-पलक पहुँचावहिं जहँ पहुँचा कोइ चाह॥२२॥

शब्दार्थ—रजबार=राजद्वार। तुरंगा=घोड़े। उन्हकै=उनके। रंगा=रंग। लील=नीले। समन्द=बादामी रंग का। हाँसुल=कुम्मैत, जिसका रंग मेंहदी का सा तथा पैर कुछ काले होते हैं। गियाह=ताड़ के पक्के फल के रंग का। कुरंच=कुलंग, लाखौरी, जिसका रंग लाख के रंग जैसा हो। महुअ=महुए के जैसा हल्के पीले रंग का। गरर=गर्रा, लाल और सफेद मिले बालों वाला। भौंर=मुश्की, भौंरे के से रंग का। कोकाह=सफेद। बुलाह=बोल्लाह, जिसके गर्दन और पूँछ के बाल पीले रंग के होते हैं। तीख=तेज। तुखार=तुषार देश के। चाँड़=बली। सँचरहिं=चलते हैं। ताज=चाबुक। अगमन=आगे। उसास=आदेश। लोह=लोहे की लगाम। भाँजहिं=फटकारते हैं। उपराहीं=ऊपर। तुखार=घोड़े।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी सिंहलगढ़ के घोड़ों का वर्णन करते हुए कहते हैं—फिर वहाँ राजद्वार पर घोड़े बँधे हुए हैं। उनके जैसे विभिन्न प्रकार के रंग हैं, मैं उनका क्या वर्णन करूँ। कोई नीले रंग का है और कोई बादामी रंग का, जिनकी चाल सारे संसार में प्रसिद्ध है। कोई कुम्मैत, कोई मुश्की, कोई गियाह, कोई हरा (सब्जा), कोई लाखौरी, कोई महुए के से रंग का, कोई गर्रा, कोई सफेद तथा कोई बोल्लाह है। ये घोड़े पंक्ति के पंक्ति वहाँ बँधे हुए हैं। तुषार देश के अत्यन्त तेज और बाँके घोड़े बिना चाबुक लगाए ही ड्यौढ़ियों में इधर से उधर चलते रहते हैं, अर्थात् टापें उठा-उठा कर चलने के लिए व्याकुल रहते हैं। वे घोड़े लगाम हाथ में पकड़ते ही मन से भी अधिक तीव्र गति से चल पड़ते हैं और आदेश देते ही अर्थात् क्षण भर में ही उनके सिर आकाश से जा लगते हैं। वे वायु के समान तीव्र गति से समुद्र पर धावा करते हैं। ऐसा करते समय उनके पैर पानी में नहीं भीग पाते और वे समुद्र को पार कर जाते हैं। जिस प्रकार वायु समुद्र-जल के ऊपर ही ऊपर तैर जाती है, उसी प्रकार ये घोड़े भी पानी के ऊपर ही ऊपर तैर जाते हैं। वे एक क्षण के लिए भी स्थिर होकर खड़े नहीं रह सकते और क्रोध में भर कर मुँह में लगी लोहे की लगाम को चबाने लगते हैं, पूँछ फटकारते हैं और सिर ऊपर उठा लेते हैं।

पाठ-भेद—१. तरपहिं तबहिं तायन बिनु हाँके=वे चाबुक से बिना हाँके ही तड़पते रहते थे।

मैंने उन सारे घोड़ों को ऐसा देखा मानो मन के घोड़े हों अर्थात् मन के समान तीव्र गति से दौड़ने वाले हों। ये पलक झपकते ही सवार को, जहाँ वह पहुँचना चाहता है, वहीं पहुँचा देते हैं।

टिप्पणी—अलंकार—अतिशयोक्ति।

(४७)

राजसभा पुनि देख बईठी। इन्द्रसभा जनु परि गै डीठी॥
धनि राजा असि सभा सँवारी। जानहु फूल रही फुलवारी॥
मुकुट बाँधि सब बैठे राजा। दर निसान नित जिन्हके बाजा॥
रूपवंत, मनि दिपै लिलाटा। माथे छात, बैठ सब पाटा॥
मानहुँ कँवल सरोवर फूले। सभा क रूप देखि मन भूले॥
पान कपूर मेद कस्तूरी। सुगँध बास भरि रही अपूरी॥
माँझ ऊँच इन्द्रासन साजा। गंध्रबसेन बैठ तहँ राजा॥
छत्र गगन लगि ताकर, सूर तवै जस आप।
सभा कँवल अस बिगसै, माथे बड़ परताप॥२३॥

शब्दार्थ—बईठी=बैठी हुई। छात=छत्र। मेद=मेदा, एक प्रकार की सुगन्धित जड़। अपूरी=पूर्ण।

व्याख्या—फिर वहाँ राजसभा जुड़ी दिखाई देती है। वह राजसभा इतनी सुन्दर है, मानो इन्द्र की सभा जुड़ी हुई हो। वह राजा धन्य है—जिसने ऐसी सभा सँवारी है, मानो फुलवारी फूल रही हो। वहाँ सारे राजा मुकुट बाँधे हुए बैठे हैं। उनके दरवाजों पर नित्य निशान (धौंसा) बजता रहता है। वे अत्यन्त रूपवान हैं, उनके ललाट मणि के समान दमकते हैं। उनके मस्तक के ऊपर राजछत्र लगे हैं तथा सब अपने-अपने सिंहासनों पर विराजमान हैं। वे सब बैठे हुए इस प्रकार शोभायमान हो रहे हैं, मानो सरोवर में कमल खिले हुए हों, उस सभा के इस अद्‌भुत रूप को देख मन भूल जाता है, विस्मय-विमुग्ध हो उठता है। सारी सभा में पान, कपूर, मेदा तथा कस्तूरी की मनमोहक सुगन्धि भर रही है। इन सब के मध्य एक ऊँचे इन्द्रासन पर राजा गन्धर्वसेन विराजमान है।

उसका राजछत्र आकाश के बराबर ऊँचा है। वहाँ बैठा वह राजा ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो स्वयं सूर्य तप रहा हो। उसके प्रताप से सभा में बैठे सारे राजा इस प्रकार प्रसन्न अर्थात् खिले रहते हैं जैसे सूर्य को देख कमल खिल उठते हैं। ऐसे उस राजा के मस्तक पर प्रताप का तेज दमकता रहता है।

टिप्पणी—अलंकार—'जानहु''''फुलवारी'—उत्प्रेक्षा।
दोहे में—पूर्णोपमा।
'छत्र गगन''''आ'—अतिशयोक्ति।

(४८)

साजा राजमँदिर कैलासू । सोने कर सब धरति[1] अकासू ।।
सात खंड धौराहर साजा । उहै सँवारि सकै अस राजा ।।
हीरा ईंट, कपूर गिलावा । औ नग लाइ सरग लै लावा ।।
जावत सबै उरेह उरेहे । भाँति-भाँति नग लाग उबेहे ।।
भाव कटाव सब अनबत भाँती । चित्र कोरि कै पाँतिहिं पाँती ।।
लाग खंभ-मनि-मानिक जरे । निसि दिन रहहिं दीप जनु बरे[2] ।।
देखि धौरहर कर उँजियारा । छपि गए चाँद सुरुज औ तारा ।।
सुना सात बैकुंठ जस, तस साजे खँड सात ।
बेहर बेहर भाव तस, खंड-खंड उपरात[3] ।।२४।।

शब्दार्थ—कैलासू=स्वर्ग । धौराहर=महल । उहै=उसे । गिलावा=गारा । उरेह=चित्र । उबेहे=जड़े गए । भाव=अनेक प्रकार के । कोरि=खोद कर । बरे=प्रकाशवान, प्रज्वलित । बेहर-बेहर=अलग-अलग । उपरात=ऊपर के ।

व्याख्या—राजमन्दिर (राजमहल) स्वर्ग के समान सजा हुआ है। उसकी सारी जमीन (फर्श) तथा छतें सोने की बनी हुई हैं। उस राजा ने वह सतखंडा (सात-मंजिला) महल सजाया है। उसी के समान श्रेष्ठ राजा ऐसा महल बनवा सकता था। उसके बनवाने में ईंट के स्थान पर हीरा तथा गारे के स्थान पर कपूर का प्रयोग किया गया है और उसमें अनेक प्रकार के नग जड़े हुए हैं। वह इतना ऊँचा बनाया गया है कि स्वर्ग अर्थात् आसमान से बातें करता है। उसमें जितने भी प्रकार के चित्र हो सकते हैं, सब बनाये गए हैं और स्थान-स्थान पर भाँति-भाँति के नग जड़े गए हैं। उनके कटाव (पच्चीकारी) अद्भुत और विभिन्न प्रकार के हैं। उसमें पंक्ति-की-पंक्ति चित्र बनाये गए हैं। खम्भों में मणि और माणिक्य जड़े हुए हैं और रात-दिन इस प्रकार दमकते रहते हैं, मानो दीपक जल रहे हों। उस राजमहल के प्रकाश, अर्थात् चमक को देखकर चाँद, सूर्य और तारे छिप जाते हैं, अर्थात् उसके सम्मुख फीके पड़ जाते।

जैसे सुन्दर सात वैकुण्ठ (स्वर्ग) सुने जाते हैं, वैसे ही इस राजमहल के सातों खंड सजे हुए हैं। वे सातों खंड जैसे-जैसे एक-दूसरे के ऊपर बढ़ते जाते हैं वैसे-ही-वैसे उनकी साज-सज्जा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती चली जाती है। भाव यह है कि प्रत्येक खंड की स्थापत्य-कला मौलिक और भिन्न है।

टिप्पणी—अलंकार—उत्प्रेक्षा, उपमा और अतिशयोक्ति ।
'दीप जनु बारे'— उत्प्रेक्षा अलंकार ।
'छपि····तारा'—अतिशयोक्ति अलंकार ।

पाठ-भेद—१. पुहुमि=पृथ्वी, धरती । २. जनहु दिया दिन आछत बरे=मानो दिन रहते ही दीपक जल रह हों । ३. ऊपर जात=एक खंड से ऊपर दूसरे खंड में जाने पर ।

(४९)

बरनौं राज-मँदिर रनिवासू। जनु अछरीन्ह भरा कविलासू ।।
सोरह सहस पदमिनी रानी। एक एक तें रूप बखानी ।।
अतिसुरूप औ अति सुकुवाँरी। पान फूल के रहहिं अधारी ।।
तिन्ह ऊपर चंपावति रानी। महा सुरूप पाट-परधानी ।।
पाट बैठि रह किए सिंगारू। सब रानी ओहि करहिं जोहारू ।।
निति नौरंग सुरंगम सोई। प्रथम बैस नहिं सरवरि कोई ।।
सकल दीप महँ जेती[1] रानी। तिन्ह महँ दीपक बारह-बानी ।।
कुँवरि बतीसी-लच्छनी, अस सब माँह अनूप ।
जावत सिंघलदीप के, सबै बखानैं रूप ।।२५।।

शब्दार्थ—अछरिन्ह=अप्सराओं। सोरह=सोलह। अधारी=आधार पर। पाट-परधानी=पटरानी। नौरंग=नवरंग, नए रंग, नई साज-सज्जा। सुरंगम=सुन्दर। प्रथम बैस=प्रथम अवस्था, नवयुवती, मुग्धा। बारह-बानी=द्वादशवर्णी, सूर्य के समान प्रकाश वाली, शुद्ध और सर्वोत्तम स्वर्ण के वर्ण वाली। जावत=जितने भी।

व्याख्या—इसके उपरान्त मैं राजमहल के भीतर स्थित रनिवास का वर्णन करता हूँ। वह [सुन्दरियों से भरा] ऐसा प्रतीत होता है मानो अप्सराओं से भरा स्वर्ग हो। वहाँ पद्मिनी जैसे स्वरूप वाली सोलह हजार रानियाँ हैं जो रूप और सौन्दर्य में एक-से-एक बढ़-चढ़कर हैं। वे सब अत्यन्त रूपवती और सुकुमारी हैं। वे इतनी कोमल हैं कि केवल पान और फूल के सहारे ही जीवित रहती हैं। उन सब के ऊपर रानी चम्पावती है जो अत्यधिक सुन्दर और सब की पटरानी है। वह श्रृङ्गार करके सिंहासन पर बैठी रहती है और अन्य सारी रानियाँ उसे प्रणाम किया करती हैं। वह नित्य नए-नए रंगों के सुन्दर वस्त्र धारण कर सुशोभित बनी रहती है। वह नई उम्र वाली अर्थात् पूर्ण नवयुवती है। उसकी समानता कोई भी दूसरी रानी नहीं कर सकती। इस सम्पूर्ण द्वीप में जितनी भी रानियाँ हैं, उन सब के मध्य वह द्वादश-वर्णी अर्थात् बारह कलाओं वाले सूर्य के समान देदीप्यमान होती रहती है। उसका रूप अन्य रानियों के मध्य ऐसा प्रतीत होता है, मानो दीपकों के मध्य सूर्य जगमगा रहा हो। यह कुँवरि (रानी) बत्तीस लक्षणों वाली अर्थात् सर्वगुणसम्पन्ना है। ऐसी वह रानी सब से अनुपम है। सिंहलद्वीप में जितने भी मनुष्य रहते हैं, सब उसके रूप की प्रशंसा करते रहते हैं।

टिप्पणी—अलंकार—'जनु''''कविलासू'—उत्प्रेक्षा अलंकार।
'पान''''अधारी'—अतिशयोक्ति।
'तिन्ह''''बानी'—उत्प्रेक्षा।

पाठ-भेद—१. चुनि चुनि आनी=चुन-चुन कर लाई गईं।

(५०)

चंपावति जो रूप सँवारी[1]। पदमावति चाहै औतारी ॥
भै चाहै असि कथा सलोनी। मेटि न जाइ लिखी जस होनी ॥
सिंघलदीप भए तब नाऊँ। जो अस दिया बरा तेहि ठाऊँ ॥
प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथे मनि भई ॥
पुनि वह जोति मातु-घट आई। तेहि ओदर आदर बहु पाई ॥
जस अवधान पूर होइ मासू। दिन दिन हिये होइ परगासू ॥
जस अंचल महँ[2] छिपै न दीया। तस उँजियार दिखावै हीया ॥
सोने मँदिर सँवारहिं औ चंदन सब लीप।
दिया जो मनि सिवलोक महँ उपना सिंघलदीप ॥१॥

शब्दार्थ—औतारी=अवतार लेना, जन्म लेना। भै=होना। बरा=प्रकाशित हुआ। मातु-घट=माता के उदर में। ओदर=उदर। अवधान=गर्भाधान का समय। पूर=पूरा। उपना=उत्पन्न हुआ।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी पद्मावती के जन्म की कथा कहते हुए बताते हैं कि उसके जन्म के पूर्व वैसे ही शुभ लक्षण प्रकट हुए थे जैसे कि महापुरुषों (अवतारों) के जन्म लेने से पहले प्रकट होते हैं। अवतार ब्रह्म की ज्योति होते हैं। उनके जन्म से पूर्व उनकी माताओं में इस ब्रह्म ज्योति के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। वही लक्षण रानी चम्पावती (पद्मावती की माता) में पद्मावती के जन्म से पूर्व प्रकट होने लगे थे। जायसी कहते हैं—

रानी चम्पावती, जो अत्यन्त ही सुन्दर थी, के गर्भ से पद्मावती जन्म लेना चाहती थी। उसी पद्मावती की ऐसी सुन्दर कथा संसार में प्रकट होने वाली है। विधाता ने जो लिख दिया है, वह मिटाया नहीं जा सकता। इस द्वीप का नाम सिंहल-द्वीप तभी पड़ा—जब पद्मावती जैसा दीपक उस स्थान पर प्रज्वलित हुआ, अर्थात्

पाठ-भेद—१. चंपावती जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति कि जोति मन छाहाँ।—अर्थात् चम्पावती इस समय अपने रूप के सर्वोत्कृष्ट दिनों में थी, क्योंकि उसके मन की छाया में पद्मावती की ज्योति आ गई थी। २. झीने मँह।

पद्मावती के कारण ही इस द्वीप का नाम सारे संसार में फैल गया। पहले वह ज्योति-स्वरूप थी और उसका आविर्भाव तत्त्व-रूप में आकाश में हुआ था, अर्थात् वह ब्रह्म की ज्योति थी। इसके उपरान्त वह ज्योति (राजा गन्धर्वसेन) के माथे पर मणि के समान चमक उठी। (वीर्यवान पुरुषों का ललाट दमकता रहता है, ऐसी मान्यता है।) फिर वह ज्योति माता के गर्भ में आई और माता के उदर में आकर उसने बहुत आदर पाया। भाव यह है कि जब पद्मावती माता के गर्भ में आई तो गर्भवती होने के कारण माता का बहुत सम्मान होने लगा। जैसे-जैसे गर्भाधान के महीने एक-एक कर पूरे होने लगे वैसे-वैसे दिन-प्रति-दिन माता के हृदय में प्रकाश बढ़ने लगा, अर्थात् माता अधिक प्रसन्न रहने लगी। जिस प्रकार अंचल में छिपाने पर भी जलता हुआ दीपक नहीं छिप पाता, उसी प्रकार जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता गया, वैसे-वैसे उसका प्रकाश बढ़ता गया। भाव यह है कि माता का गर्भ बढ़ने पर वह सब पर प्रकट होने लगा और सब की प्रसन्नता भी बढ़ने लगी।

आसन्न-प्रसव की वेला जानकर सारे महल सोने से सजाये गए और चन्दन से लीपे जाने लगे। इसका कारण यह था कि जो दीपक मणि स्वर्गलोक में उत्पन्न होने योग्य थी, वह सिंहलद्वीप में उत्पन्न होने वाली थी।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'जस अंचल····हिया'—उपमा।

(२) डा० मनमोहन गौतम ने 'रूप', 'जोति', 'सलोनी' आदि शब्दों का श्लेषात्मक अर्थ करते हुए 'सलोनी' शब्द से उस क्रिया का सम्बन्ध जोड़ा है जो स्वर्ण में से चाँदी को अलग करने के लिए की जाती है। उन्होंने इस छन्द का अर्थ करने के उपरान्त निम्नलिखित टिप्पणी दी है—

"ईसा मसीह और मुहम्मद साहब की उत्पत्ति के समय माताओं में जिस ज्योति का प्रकाश बताया गया है, वही जायसी ने चम्पावती में दिखाने का प्रयास किया है। ईश्वर रूपी परम ज्योति की छाया घट-घट में प्रतिबिम्बित होती है। विशुद्ध निरंजन ज्योति का दर्शन मातृ-कुक्षि में ही सम्भव है। स्थूल के सम्पर्क में आकर सूक्ष्म ज्योति मलिन होती है। मातृ-कुक्षि में आ जाने से मलिन हो जाने के कारण उसकी शुद्धता के लिए सलोनी क्रिया भी आवश्यक है। अरूप ज्योति को भौतिक रूप प्राप्त करने के लिए माता के गर्भ में आना पड़ता है। यही अरूप ज्योति की सलोनी (लावण्यमयी) कहानी है।"

'सलोनी' वह क्रिया-विशेष होती है जिसमें सोने पर 'सलोनी' नामक मसाला लगाकर उसे तपाते हैं। ऐसा करने से सोना शुद्ध हो जाता है।

डा० अग्रवाल ने भी 'सलोनी' शब्द से यही अभिप्राय लिया है। परन्तु उक्त विद्वानों में से किसी ने भी यह नहीं बताया कि यह 'सलोनी' क्रिया कैसे हुई। अतः उनका अर्थ अस्पष्ट रह जाता है। हमने इसी कारण 'सलोनी' का यह उलझन भरा अर्थ स्वीकार न कर 'लावण्यवती' अर्थ ही माना है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी 'सलोनी' का अर्थ सुन्दर और लावण्यवती माना है।

(५१)

भए दस मास पूरि भइ घरी। पदमावति कन्या औतरी ।।
जानौ सूर किरिन-हुति काढ़ी। सूरुज-कला घाटि, वह बाढ़ी ।।
भा निसि महँ दिनकर परकासू। सब उजियार भएउ कबिलासू ।।
इते रूप मूरति परगटी। पूनौ ससी छीन होइ घटी ।।
घटतहि घटत अमावस भई। दिन दुइ लाज गाड़ि भुइँ गई ।।
पुनि जो उठी दुइज होइ नई। निहकलंक ससि बिधि निरमई ।।
पदुम-गंध बेधा जग बासा। भौंर पतंग भए चहुँ पासा ।।
इते रूप भै कन्या जेहि सरि पूज न कोइ।
धनि सो देस रूपवंता जहाँ जन्म अस होइ ।।२।।

शब्दार्थ—हुति=से। सूरुज=सूर्य। पदुम-गन्ध=कमल गन्ध। बेधा=बिंध गया। भौंर-पतंग=भौंरे और पतिंगे।

व्याख्या—गर्भ के दस मास पूरे हुए और वह घड़ी आ गई, जब पद्मावती ने कन्या के रूप में अवतार लिया, वह पैदा हुई। ऐसा जान पड़ता था, मानो वह सूर्य की किरणों से निकाली गई थी। भाव यह है कि यह कन्या इतनी सुन्दर थी, मानो सूर्य की किरणों के सार तत्त्व से उनकी रचना की गई थी। सूर्य की किरणों का सौन्दर्य और प्रकाश इस कन्या की तुलना में घटकर था, वह कन्या उनसे भी श्रेष्ठ थी। उसके उत्पन्न होते ही रात्रि में दिन का-सा प्रकाश छा गया और सारा स्वर्ग प्रकाश से भर उठा। वह कन्या-मूर्ति इतना रूप लेकर प्रकट हुई कि उसके सौन्दर्य को देख पूर्ण चन्द्र लज्जित हो उठा और अफसोस के कारण क्षीण होने लगा, घटने लगा। वह घटते-घटते पूर्ण रूप से विलीन हो गया, अर्थात् अमावस्या आ गई। रूप के क्षेत्र में अपनी इस पराजय-जनित लज्जा के कारण चन्द्रमा दो दिन तक धरती में मुँह छिपाये पड़ा रहा। दो दिन बाद जब द्वितीया को वह चन्द्र-कला पुनः प्रकट हुई तो देखा गया कि इस बार विधाता ने उसे पूर्ण रूपेण निष्कलंक बनाकर भेजा था। भाव यह है कि पूर्ण चन्द्र में कलंक होता है और बालिका पद्मावती का रूप निष्कलंक था। चन्द्रमा अपने कलंक के कारण ही लज्जित हो, क्षीण होता चला गया और पुनः जब प्रकट हुआ तो निष्कलंक रूप में। (द्वितीया के चन्द्रमा में कलंक की वह रेखा नहीं होती जो पूर्ण चन्द्र में दिखाई पड़ती है।)

पद्मावती के शरीर से निकलने वाली कमल-गन्ध सारे संसार में बस गई, व्याप्त हो गई, अर्थात् पद्मावती का सुयश सारे जगत में फैल गया। उस सुगंधि को प्राप्त करने के लिए, अर्थात् उसके सौन्दर्य के दर्शन करने के लिए भौंरे (सच्चे प्रेमी) और पतिंगे (रूप के लोभी) उसके चारों ओर मँडराने लगे। (कवि-प्रसिद्धि है कि भौंरा कमल का सच्चा प्रेमी होता है।)

वह कन्या इतना अनुपम रूप लेकर उत्पन्न हुई थी कि सौन्दर्य में उसकी कोई भी समता नहीं कर सकता था। वह सुन्दर देश (सिंहलद्वीप) धन्य है जहाँ ऐसी रूपवती कन्या का जन्म हुआ।

टिप्पणी—अलंकार—'जानहु····परगासू'—व्यतिरेक।
'इते रूप····गई'—हेतूत्प्रेक्षा।

(५२)

भै छठि राति छठी सुख मानी। रहस कूद[1] सौं रैनि बिहानी।।
भा बिहान पंडित सब आए। काढ़ि पुरान जनम अरथाए।।
उत्तिम घरी जनम भा तासू। चाँद उआ भुइँ, दिपा अकासू।।
कन्यारासि उदय जग कीया। पदमावती नाम अस दीया।।
सूर प्रसंसै[2] भएउ फिरीरा[3]। किरिन जामि, उपना नग हीरा।।
तेहि तें अधिक पदारथ करा। रतन जोग उपना निरमरा।।
सिंघलदीप भए औतारू। जंबूदीप जाइ जम बारू।।
राम अजुध्या ऊपने, लछन बतीसो संग।
रावन रूप सौं भूलिहि, दीपक जैस पतंग[4] ।।३।।

शब्दार्थ—रहस=क्रीड़ा, आनन्द। बिहान=सवेरा। अरथाए=अर्थ किया, व्याख्या की। फिरीरा=फिरकनी। जामि=जमकर। उपना=उत्पन्न हुआ। पदारथ=पद्मावती। करा=कला। जम बारू=यम द्वार, तात्पर्य मृत्यु से है।

व्याख्या—पद्मावती के जन्म के उपरान्त छठी रात को कन्या की छठी का उत्सव मनाया गया। नर-नारियों ने वह रात आनन्द-क्रीड़ा, अर्थात् नाच-रंग के साथ व्यतीत की। प्रभात होने पर सारे पंडित [राजमहल में] आए और उन्होंने अपने पोथी-पत्रे निकाल कर उस कन्या के जन्म के लग्न की व्याख्या की। ज्योतिषियों ने बताया कि इस कन्या का जन्म अति ही उत्तम घड़ी में हुआ है। वह पृथ्वी पर चन्द्रमा के समान प्रकट हुई है और उसके स्निग्ध, कोमल प्रकाश से सारा आकाश आपूरित हो उठा है। ज्योतिषियों ने बताया कि उसका उदय (जन्म) कन्याराशि में हुआ है। अतः [जन्म नक्षत्र के अनुसार] उन्होंने उसका नाम पद्मावती रखा। (कन्या राशि में जन्म लेने वालों के नाम का प्रथम वर्ण 'प' भी होता है।) सूर्य फिरीरा (फिरकनी) के समान

पाठ-भेद—१. कोड=कौतुक, क्रीड़ा। २. परस सों=स्पर्श मणि से।
३. किरीरा=क्रीड़ा।
४. रामा आइ अजोध्याँ उपनी लखन बतीसौ अंग।
रावन राइ रूप सब भूलै दीपक जैस पतंग।।
अर्थात्—यह तो रामा है जो आकर अयोध्या में बत्तीस लक्षणों के साथ उत्पन्न हुई है। इसका रागी रमण इसके रूप के वशीभूत होकर उसी प्रकार सब कुछ भूल बैठेगा जैसे दीपक के वशीभूत होकर पतिंगा सब कुछ भूल बैठता है।

चक्कर लगाता हुआ उसकी प्रशंसा कर रहा है। सूर्य की किरणें जमकर अर्थात् एक ही वस्तु में घनीभूत हो हीरा तथा अन्य नग बन जाती हैं। पद्मावती भी उसी हीरे के समान थी, क्योंकि उसका जन्म भी मानो सूर्य की किरणों के मूल तत्त्व से हुआ था। (देखिए—'जानौ सूर किरिन-हुति काढ़ी'—छन्द सं० ५१)। यह पदार्थ, अर्थात् पद्मावती सूर्य की किरणों से निर्मित उस नग (हीरे) से भी बढ़कर थी; अर्थात् उसके रूप की चमक हीरे से भी अधिक थी। विधाता ने उसके योग्य एक निर्मल रत्न (रत्नसेन) का निर्माण कर रखा था। यद्यपि सिंहलद्वीप में उसका अवतार (जन्म) हुआ है परन्तु जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) में जाकर उसे यम-द्वार (मृत्यु) प्राप्त होगा। (यहाँ ज्योतिषियों ने पद्मावती के विषय में भविष्यवाणी की है कि वह जम्बूद्वीप के राजा रत्नसेन की पत्नी बनेगी और वहीं उसकी मृत्यु होगी।)

राम का जन्म अयोध्या में बत्तीसों लक्षणों के साथ हुआ था। उसी प्रकार रत्नसेन का जन्म भी बत्तीस लक्षणों वाले पुरुष के रूप में हो चुका है। जिस प्रकार राम सीता को ब्याहने आए थे, उसी प्रकार रत्नसेन भी पद्मावती को ब्याहने आयेगा। रत्नसेन भी पद्मावती के रूप पर मुग्ध हो उसी प्रकार सिंहलद्वीप आयेगा, जिस प्रकार रावण दीपक पर पतिंगे के समान सीता के रूप पर मुग्ध हो लंका से जनकपुरी आया था।

टिप्पणी—अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।
'तेहि ते····निरमरा'—श्लेष।

(५३)

कहेन्हि[1] जनम-पत्री जो लिखी। देइ असीस बहुरे जोतिषी॥
पाँच बरस महँ भय सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी॥
भै पदमावति पंडित गुनी। चहूँ खंड के राजन्ह सुनी॥
सिंघलदीप राजघर बारी। महा सुरूप दई औतारी॥
एक पदमिनी औ पंडित पढ़ी। दहुँ केहि जोग गोसाईं[2] गढ़ी॥
जा कहँ लिखी लच्छि घर होनी। सो अस पाव पढ़ी औ लोनी॥
सात दीप के बर जो ओनाहीं। उत्तर पावहिं, फिर फिरि जाहीं॥
राजा कहै गरब कै, अहौं इंद्र सिवलोक।
को सरवरि है मोरे, कासौं करौं बरोक॥४॥

शब्दार्थ—कहेन्हि=कहे अनुसार। बहुरे=लौट गए, चले गए। बारी=बाला, बड़ी। बैसारी=बैठाया। पंडित पढ़ी=शिक्षिता, विद्वान्। दहुँ=(किधौं) पता नहीं। लच्छि=लक्ष्मी। ओनाहीं=आते हैं। अहौं=हूँ। बरोक=बरेच्छा, सगाई।

पाठ-भेद—१. अही=जैसी थी। २. दैयँ असि गढ़ी=विधाता ने ऐसा निर्माण किया है।

व्याख्या—ज्योतिषियों ने पद्मावती के जन्म के विषय में जो कुछ कहा था, उसी के अनुसार उसकी जन्मपत्री लिखकर तैयार की और फिर उसे आशीर्वाद दे, वे ज्योतिषी लौट गए। पाँच वर्ष में ही वह बाला अर्थात् खूब बड़ी हो गई और उसे पुराण (धर्मग्रन्थ) देकर पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। पढ़-लिख कर पद्मावती विद्वान् और चतुर बन गई और उसकी इस विद्वत्ता के विषय में चारों खंडों, अर्थात् सम्पूर्ण देशों के राजाओं ने सुना। एक तो वह सौन्दर्य में पद्मिनी थी और दूसरी तरफ विदुषी भी थी। पता नहीं, ऐसी उस सर्वगुण-सम्पन्ना नारी को विधाता ने किसके लिए गढ़ा था। विधाता ने जिसके भाग्य में ऐसी लक्ष्मी का प्राप्त होना लिखा है, वही उस जैसी विदुषी तथा लावण्यवती नारी को प्राप्त करेगा। उसके इस रूप और विद्वत्ता की प्रशंसा सुन-सुन कर सातों द्वीपों से जो वर (राजागण) उसे प्राप्त करने के लिए सिंहलद्वीप आते थे, वे राजा गंधर्वसेन का निराशाजनक उत्तर पाकर अपने-अपने देशों को लौट जाते थे।

राजा गंधर्वसेन गर्व के साथ कहता था कि मैं शिवलोक का इन्द्र हूँ। मेरे समान और कौन है जिसके साथ मैं अपनी पुत्री की वरेच्छा (सगाई) करूँ।

टिप्पणी—अलंकार—रूपक तथा वितर्क।

(५४)

बारह बरस माहँ भै रानी। राजै सुना सँजोग सयानी ॥
सात खंड धौराहर तासू। सो पदमिनि कहँ दीन्ह निवासू ॥
औ दीन्ही सँग सखी सहेली। जो सँग करैं रहसि रस केली ॥
सबै नवल पिउ संग न सोईं। कँवल पास जनु बिगसी कोईं ॥
सुआ एक पदमावति ठाऊँ। महा पँडित हीरामन नाऊँ ॥
दई दीन्ह पंखिहि अस जोती। नैन रतन, मुख मानिक मोती ॥
कंचन-बरन सुआ अति लोना। मानहुँ मिला सोहागहिं सोना ॥
रहहिं एक सँग दोऊ, पढ़हिं सासतर बेद।
बरम्हा सीस डोलावहीं, सुनत लाग तस भेद ॥५॥

शब्दार्थ—भै=हुई। रानी=रानी के समान। संजोग=संयोग, विवाह। धौराहार=धवलगृह, महल। बिगसी=विकसित। कोईं=कुमुदिनी। लोना=सुन्दर। सोहागहिं=सुहागे में।

व्याख्या—बारह वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही पद्मावती रानी जैसी सुन्दर, भव्य और आकर्षक दिखाई पड़ने लगी, अर्थात् युवती हो गई। राजा ने जब इस बात को सुना तो उसने सोचा कि पद्मावती अब विवाह के योग्य सयानी हो गई है। इस-लिए उसने उसके लिए एक सतखंडा (सात मंजिला) महल दे दिया और वह उसी महल में जाकर रहने लगी। राजा ने पद्मावती के साथ रहने के लिए अनेक सखी-सहेलियाँ नियत कर दीं जो उसके साथ आनन्द-क्रीड़ायें करती रहती थीं। ये सब

सखी-सहेलियाँ नवयुवती और कुमारियाँ थीं। उनमें से कोई भी अभी तक अपने पति के साथ नहीं सोई थी, अर्थात् सभी अविवाहिता थीं। वे सब पद्मावती के साथ रहती हुईं ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो कमल के आसपास अनेक कुमुदिनियाँ खिल रही हों। पद्मावती के पास हीरामन नामक एक तोता था। यह तोता महा पंडित (उद्‌भट विद्वान्) था। विधाता ने इस पक्षी को ऐसी ज्योति प्रदान कर रखी थी कि उसके नेत्र रत्न, मुख माणिक्य व मोती तथा रंग सोने के समान उज्ज्वल था। वह अत्यन्त सुन्दर था। उस तोते के रूप और गुण को देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो सोने में सुहागा मिला दिया गया हो। (सोने में सुहागा मिला देने से उसकी ज्योति और अधिक बढ़ जाती है।)

ये दोनों अर्थात् पद्मावती और हीरामन तोता एक साथ रहते थे और शास्त्र तथा वेदों का अध्ययन करते थे। इन दोनों द्वारा की गई शास्त्रों की व्याख्याओं, तर्कों को सुन-सुन कर ब्रह्मा अपना मस्तक हिलाते थे, अर्थात् इन व्याख्याओं को सुन मुग्ध होते थे। भाव यह है कि ये दोनों उच्च कोटि के विद्वान् थे। उनके द्वारा की गईं व्याख्याओं से शास्त्रों के नए-नए भेद और रहस्य प्रकट होते थे और उन्हें सुन ब्रह्मा मुग्ध हो सिर हिलाने लगते थे।

टिप्पणी—(१) अलंकार—सम्वन्धातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा।

(२) बारह वर्ष की अवस्था में बालिका का विवाह-योग्य अर्थात् युवती हो जाना सम्भव नहीं प्रतीत होता। अतः इस अर्थ को यदि हम इस प्रकार ग्रहण करें कि पद्मावती पाँच वर्ष की अवस्था में पढ़ने बैठी थी और उसके पश्चात् बारह वर्ष व्यतीत होने पर विवाह योग्य हुई थी। इस प्रकार उसकी अवस्था बारह और पाँच= सत्रह वर्ष की मानी जा सकती है।

(५५)

भै उनंत पदमावति बारी। रचि रचि विधि सब कला सँवारी[1] ॥
जग बेधा तेहि अंग-सुबासा। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासा ॥
बेनी नाग मलयगिरि पैठी। ससि माथे होइ दूइज बैठी ॥
भौंह धनुक साधै सर फेरै। नयन कुरंग भूलि जनु हेरै ॥
नासिक कीर, कँवल मुख सोहा। पदमिनि रूप देखि जग मोहा ॥
मानिक अधर, दसन जनु हीरा। हिय हुलसे कुच कनक-जँभीरा ॥
केहरि लंक, गवन गज हारे। सुरनर देखि माथ भुइँ धारे ॥
जग कोइ दीठि न आवै आछहिं नैन अकास।
जोगि जती संन्यासी तप साधहिं तेहि आस ॥६॥

पाठ-भेद—१. धज धोरैं सब करी सँवारी=उसके धज (तनों) और धोरों (शाखाओं) ने अर्थात् पद्मावती के शरीर और उसके अंग-प्रत्यंग ने कलियाँ सजा ली। अर्थात् उसके शरीर में यौवन का लावण्य प्रस्फुटित होने लगा।

शब्दार्थ—उनंत=ओनंत, भार से झुकी अर्थात् यौवन-भार से झुकी। बारी =कुमारी, वाला, तथा फुलवाड़ी। अंग-सुवासा=अंगों की सुगन्धि। कनक-जँभीरा =स्वर्ण के बड़े नीवू। लंक=कटि।

व्याख्या—पद्मावती रूपी वाटिका अपने पुष्प-भार (यौवन भार) से झुक गई। भाव यह है कि जिस प्रकार वाटिका के पौधे पुष्प-भार से झुक जाते हैं, उसी प्रकार पद्मावती यौवन के कारण उन्नत हुए अपने विभिन्न अंगों के भार से झुक गई, गम्भीर बन गई। उसकी बाल्यावस्था की चंचलता नष्ट हो गई। विधाता ने सम्पूर्ण कलाओं द्वारा उसे रच-रच कर सजाया। उसके शरीर से निकलने वाली कमल-गन्ध सारे संसार में व्याप्त हो गई; अर्थात् उसके सौदर्न्य की चर्चा सारे जग में फैल गई। जिस प्रकार कमल-गन्ध से लुब्ध होकर भौंरे कमल के चारों ओर मँडराने लगते हैं, उसी प्रकार पद्मावती के रूप के लोभी राजकुमार उससे विवाह करने के लिए उसके चारों ओर चक्कर काटने लगे।

पद्मावती की वेणी ऐसी प्रतीत होती थी, मानो सर्पिणी मलय पर्वत पर जा वैठी हो। यहाँ पद्मावती का शरीर मलय पर्वत के समान तथा वेणी सर्पिणी के समान है। उसका ललाट ऐसा था, मानो द्वितीया का चन्द्रमा हो। (द्वितीया का चन्द्रमा वक्राकार होता है, उसका ललाट भी वैसा ही वक्राकार, प्रशस्त, भव्य और आभायुक्त था।) उसकी भौंहें धनुष के समान झुकी हुई थीं और वह उस धनुष पर कटाक्ष रूपी वाणों का सन्धान करती रहती थी। उसके नेत्र ऐसे भोले और सुन्दर थे, मानो हिरणी भूली हुई सी किसी की ओर देख रही हो। उसकी नासिका (नाक) तोते के समान तथा मुख कमल के समान सुन्दर था। ऐसी उस पद्मिनी के रूप को देखकर सारा संसार मोहित हो उठा। उसके होठ माणिक्य (लाल) के समान लाल तथा दन्तपंक्ति हीरे के समान शुभ्र तथा उज्ज्वल थी। उसके हृदय-प्रदेश में स्थित उसके स्तन सोने के बड़े नीबू के समान प्रतीत होते थे। उसकी कटि सिंह के समान पतली तथा चाल हाथी की मस्त चाल को भी लज्जित करने वाली थी। देवता और मनुष्य उसके इस रूप को देखकर नतमस्तक हो जाते थे, पृथ्वी पर मस्तक टेक देते थे।

सारे संसार में उसके समान अन्य कोई भी सुन्दरी नहीं दिखाई पड़ती थी। अनेक योगी, यती और संन्यासी ऊपर आकाश की ओर टकटकी बाँधे, अर्थात् ईश्वर से प्रार्थना करते हुए उसे प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रहे थे।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'बारी' शब्द में श्लेषालंकार है। 'बेनी···पैठी'—में रूपक तथा उत्प्रेक्षा का सन्देह होने के कारण सन्देह-संकर अलंकार है। 'भौंह····फैरै', 'नासिक कीर', 'हिय···जंभीरा' में—रूपक अलंकार। 'सुरनर'····धारे' में—प्रतीप; दोहे में—समासोक्ति, और सम्पूर्ण पद में—मुद्रा अलंकार।

(२) इस छन्द में जायसी ने पद्मावती का नख-शिख-वर्णन किया है। भारतीय परम्परानुसार नायिका का नख-शिख-वर्णन चरणों के नख से प्रारम्भ होकर क्रमशः

शिख तक किया जाता है परन्तु यहाँ जायसी ने यह वर्णन फारसी पद्धति के अनुसार शिख से प्रारम्भ किया है। सूरदास ने भी राधा का इसी प्रकार का नख-शिख-वर्णन किया है, जो चरणों से प्रारम्भ होकर क्रमशः ऊपर की ओर चलता है। जैसे—

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
ता पर सरवर, वा पर गिरिवर, तेहि पर फूले कंज पराग ॥—आदि

(५६)

एक दिवस पदमावति रानी। हीरामनि तइँ कहा सयानी ॥
सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई ॥
पिता हमार न चालै बाता। त्रासहि बोलि सकै नहिं माता ॥
देस-देस के बर मोहि आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं ॥
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह-देह हम्ह लाग अनंगा ॥
हीरामन तब कहा बुझाई। विधि कर लिखा मेटि नहिं जाई ॥
आज्ञा देउ देखौं फिरि देसा। तोहि जोग बर मिलै नरेसा ॥
जौ लगि मैं फिरि आवौं, मन चित धरहु निवारि।
सुनत रहा कोइ दुरजन, राजहि कहा विचारि ॥७॥

शब्दार्थ—तइँ=से। बुझाई=समझा कर। चालै=चलाते। देह-देह=अंग-प्रत्यंग। फिर=घूमकर।

व्याख्या—एक दिन चतुर रानी पद्मावती ने हीरामन तोता से कहा कि—'हे हीरामन! मेरी बात सुन! मैं तुझ से समझाकर कहती हूँ। मुझे प्रतिदिन कामदेव आकर सताता है; अर्थात् मैं काम विह्वल हो उठती हूँ। मेरे पिता कहीं पर भी मेरे विवाह की बात नहीं चलाते और माता उनके भय के कारण कुछ कह नहीं पातीं। मेरे लिए देश-विदेश के अनेक वर आते हैं परन्तु मेरे पिता उनकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखते; अर्थात् मेरे पिता को वे पसन्द नहीं आते। मेरा यौवन गंगा के समान उमड़ रहा है और मेरे अंग-प्रत्यंगों में काम व्याप्त हो गया है।' पद्मावती की ये बातें सुनकर हीरामन ने उसे समझाते हुए कहा कि—'ब्रह्मा का लिखा मिटाया नहीं जा सकता, अर्थात् जो भाग्य में लिखा है वही होगा। अगर तुम आज्ञा दो तो मैं देश-विदेश में घूमकर तुम्हारे योग्य किसी वर की तलाश करूँ। मुझे विश्वास है कि कोई राजा तुम्हारे योग्य अवश्य मिल जायेगा।'

'जब तक मैं लौटकर न आ जाऊँ, तब तक तुम धैर्य धारण कर अपने मन को समझाती रहना।' इन दोनों की इस बात को कोई दुष्ट मनुष्य छिपा हुआ सुन रहा था। उसने जाकर ये सारी बातें राजा से कह दीं।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० वासुदेव शरण अग्रवाल इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं। इसी कारण उन्होंने इसे अपने 'पदमावत' में स्थान नहीं दिया

है। परन्तु कथा-क्रम को देखते हुए यह पद प्रक्षिप्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इससे आगे वाला पद 'राजा सुना' से प्रारम्भ होता है। राजा ने इस वात को तभी तो सुना होगा जब किसी दुष्ट ने जाकर उससे कहा होगा। इसलिए इस पद को प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता।

(५७)

राजा सुना दीठि भै आना। बुधि जो देहि सँग सुआ सयाना।।
भएउ रजायसु मारहु सूआ। सुर सुनाव चाँद जँह ऊआ।।
सत्रु सुआ के नाऊ बारी। सुनि धाए जस धाव मँजारी।।
तब लगि रानी सुआ छपावा। जब लगि ब्याध[1] न आवै पावा।।
पिता क आयसु माथे मोरे। कहहु जाय विनवौं कर जोरे।।
पंखि न कोई होइ सुजानू। जनै भुगुति, कि जान उड़ानू।।
सुआ जो पढ़ै पढ़ाए बैना। तेहि कत बुधि जेहि हिये न नैना।।
मानिक मोती देखि[2] वह, हिये न ज्ञान करेइ।
दारिउँ दाख जानि कै, अबहिं ठौर भर लेइ।।८।।

शब्दार्थ—आना=बदल गई। बुधि=बुद्धि। ऊआ=उदय हुआ। बारी=नौकर आदि। धाव=झपटती है। छपावा=छिपा लिया। सुजानू=विद्वान्। भुगुति=खाना। दारिउँ=दाड़िम, अनार। अबहिं=तुरन्त। ठौर=मुँह।

व्याख्या—राजा ने जब उस दुष्ट मनुष्य द्वारा यह बात सुनी तो तुरन्त उसकी निगाह बदल गई, अर्थात् वह क्रुद्ध हो उठा। उसने सोचा कि पद्मावती को जो इस प्रकार की बातें सिखाता है वह अवश्य ही उसके साथ रहने वाला वह चालाक तोता ही होगा। यह सोचकर राजा ने तुरन्त तोते को मार डालने की आज्ञा दी, क्योंकि जहाँ चन्द्रमा उदय हुआ है, वहाँ वह सूर्य की चर्चा सुनाता है; अर्थात् विपरीत बात करता है। राजाज्ञा सुनकर उस तोते के दुश्मन नाई-बारी आदि उसे मरवा डालने के लिए इस प्रकार दौड़ पड़े जैसे तोते पर बिल्ली झपटती है। परन्तु जब तक बहेलिया उसे मारने के लिए आए, तब तक पद्मावती ने तोते को छिपा दिया। और कहा कि—पिता की आज्ञा मेरे सिर-माथे पर है। उनसे जाकर हाथ जोड़कर मेरी यह विनती सुनाओ कि यह तो बेचारा पक्षी है, न कि कोई विद्वान्। यह तो केवल दो ही बातें जानता है—खाना या उड़ना। तोता तो वही बात बोलता है जो उसे सिखाई जाती है। जिसके हृदय के नेत्र नहीं होते, अर्थात् ज्ञान की दृष्टि नहीं होती उसमें बुद्धि कहाँ से आ सकती है। वह (तोता) तो माणिक्य (लाल) और मोती को देखकर अपने हृदय में उनकी पहचान तक नहीं कर पाता और उन्हें अनार और अंगूर समझ कर तुरन्त चोंच में भर लेता है।

पाठ-भेद—१. आइ मजारिन्ह पावा=जब तक इन बिल्लियों को वह मिल सकता।
२. देखावहु=दिखाने पर।

(५८)

वै तौ फिरे उतर अस पावा। बिनवा सुआ हिये डर खावा ॥
रानी तुम जुग-जुग सुख पाऊँ। होइ अज्ञा बनवास तो जाऊँ ॥
मोतिहिं मलिन जो होइ गइ कला। पुनि सो पानि कहाँ निरमला ? ॥
ठाकुर अंत चहै जेहि मारा। तेहि सेवक कर कहाँ उबारा ? ॥
जेहि घर काल-मजारी नाचा। पंखहिं नाउँ जीउ नहिं बाँचा ॥
मैं तुम्ह राज बहुत सुख देखा। जौ पूछहि देइ जाइ न लेखा ॥
जो इच्छा मन कीन्ह सो जेंवा। यह पछिताव चल्यों बिनु सेवा ॥
मारै सोइ निसोगा, डरै न अपने दोस।
केरा केलि करै का, जौं भा बैरि परोस ॥६॥

शब्दार्थ—फिरे=लौट गए। पावा=पाकर। पानि=पानी, आब। लेखा=हिसाब। जेंवा=खाया। निसोगा=निःशंक। केरा=केले का वृक्ष। का=क्या। बैरि=बेर का वृक्ष। परोस=पास, पड़ोस।

व्याख्या—वे लोग अर्थात् तोते को मारने के लिए आए हुए नौकर आदि पद्मावती का ऐसा उत्तर पाकर लौट गए। तब हृदय में भयभीत हो तोता पद्मावती से इस प्रकार विनय करने लगा—हे रानी ! तुम युग-युग तक सुखी रहो। यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं वनवास करने के लिए चला जाऊँ, अर्थात् वन में जाकर रहने लगूँ; क्योंकि मोती की आब जब एक बार मलिन पड़ जाती है, अर्थात् जब मोती का पानी उतर जाता है तो वह अपनी उस पहले जैसी निर्मल आभा को पुनः नहीं प्राप्त कर पाता। इसी प्रकार मैं राजा की नजर से गिर चुका हूँ इसलिए आशा नहीं कि कभी पुनः अपने उसी पूर्व गौरव को प्राप्त करने में समर्थ हो सकूँगा। अन्ततः जिस सेवक को उसका स्वामी ही मारना चाहे तो उस सेवक का फिर कैसे उद्धार हो सकता है ? जिस घर में रात-दिन काल रूपी बिल्ली का नृत्य होता रहे तो उस घर में किसी पक्षी नाम का प्राणी कैसे बच सकेगा; अर्थात् जब रात-दिन सिर पर मौत की छाया रहे तो वहाँ कैसे प्राण-रक्षा हो सकेगी। मैंने तुम्हारे राज्य में बहुत सुख पाया। यदि कोई मुझसे इसका लेखा-जोखा माँगे तो मैं ऐसा करने में असमर्थ रहूँगा। भाव यह है कि मैंने तुम्हारी छत्र-छाया में अमित सुखों का भोग किया है। मैंने जिस चीज की खाने की इच्छा की, मुझे वही प्राप्त हुई। मेरे मन में केवल इसी बात का पश्चात्ताप है कि मैं तुम्हारी सेवा किए बिना ही यहाँ से चला जाऊँगा।

वही व्यक्ति दूसरे के प्राण ले सकता है जो परलोक की चिन्ता से सदैव मुक्त रहता है। ऐसा व्यक्ति अपने दोष अर्थात् पाप-कर्मों से कभी भयभीत नहीं होता, क्योंकि जब उसे परलोक की चिन्ता ही नहीं रहती कि उसके पाप-कर्मों का परलोक में उसे कैसा दंड मिलेगा, तो वह निर्द्वन्द्व होकर पाप-कर्म करता है। राजा ऐसा ही है। वह मुझे अवश्य मरवा डालेगा। यहाँ मेरी वही स्थिति हो गई है जैसी कि बेर के

पास लगे हुए केला के वृक्ष की होती है। केला का वृक्ष बेर के काँटों के भय से निश्चिन्त होकर क्रीड़ा नहीं कर पाता। इसी प्रकार यहाँ रहने पर मेरे मन में सदैव राजा का भय समाया रहेगा, और मैं निश्चिन्त होकर पठन-पाठन न कर सकूँगा।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक और द्रष्टान्त।

(२) केला और बेर सम्बन्धी नीति-वाक्य अनेक कवियों का प्रिय विषय रहा है। पास में भय का कारण रहने पर कोई भी निश्चिन्त नहीं रह सकता। जायसी ने इस नीति-वाक्य द्वारा इसी व्यावहारिक सत्य का निदर्शन किया है।

(५६)

रानी उतर दीन्ह कै माया। जौं जिउ जाउ रहै किमि काया ?॥
हीरामन ! तू प्रान परेवा। धोख न लाग करत तोंहि सेवा॥
तोंहि सेवा बिछुरन नहिं आखौं। पींजर हिए घालि कैं राखौं॥
हौं मानुस, तू पंखि पियारा। धरम क प्रीति तहाँ केइ मारा ?॥
का सो प्रीति तन माँह बिलाई[1] ?। सोइ प्रीति जिउ साथ जो जाई॥
प्रीति भार लै हियै न सोचू। ओहि पंथ भल होइ कि पोचू॥
प्रीति-पहार-भार जो काँधा। सो कस छुटै, लाइ जिउ बाँधा॥
सुअटा रहै खुरुक जिउ, अबहिं काल सो आव।
सत्रु अहै जो करिया, कबहुँ सो बोरै नाव॥१०॥

शब्दार्थ—माया=दया, अनुकम्पा। धोख=धोखा, चूक। लाग=होगी। आखौं=कहती हूँ। घालि=रखकर। केइ=कौन। बिलाई=नष्ट हो गई। पोचू=नीच, बुरा। काँधा=कन्धे पर उठा लिया। खुरुक=खटका, भय। करिया=कर्ण-धार। बोरै=डुबा देगा।

व्याख्या—रानी पद्मावती ने करुणा से विगलित हो उत्तर दिया कि हे हीरामन ! यदि प्राण ही चला जायेगा तो फिर शरीर कैसे जीवित रह सकेगा ? तू तो मेरे लिए प्राणरूपी पक्षी है। यदि तू ही चला जायेगा तो मैं कैसे जीवन धारण कर सकूँगी ? तुझसे मेरी सेवा करते हुए कभी किसी भी प्रकार की भूल-चूक नहीं हुई। मैं तुझसे यह नहीं कहती कि तू मेरी सेवा छोड़ कर चला जा। मैं इस बात की प्रतिज्ञा करती हूँ कि तुझे अपने हृदय रूपी पिंजड़े में बन्द करके रखूँगी, अर्थात् अपने प्राणों के समान तेरी रक्षा करूँगी। मैं मानवी हूँ और तू मेरा प्यारा पक्षी है। जहाँ धर्म पर आधारित प्रेम अर्थात् सच्चा प्रेम होता है वहाँ कौन किसी का वध कर सकता है। अर्थात् प्रेम-मार्ग के पथिक का कोई भी वध नहीं कर सकता। जब कोई व्यक्ति प्रेम का भार उठा लेता है, अर्थात् प्रेम करने लगता है तो फिर उसके हृदय में किसी

पाठ-भेद—१. बिदाई।

भी प्रकार की चिन्ता नहीं रह जाती। चाहे प्रेम का वह पंथ भला हो या बुरा हो। प्रेम अन्धा होता है। जिसने एक बार प्रेम रूपी पहाड़ के भार को अपने कन्धों पर उठा लिया तो उस भार से वह फिर मुक्ति नहीं पा सकता, क्योंकि प्रेम के भार से उसके प्राण बँधे रहते हैं।

पद्मावती की ये बातें सुनकर भी तोते के मन का खटका नहीं मिटा, क्योंकि उसे यह भय लग रहा था कि मेरा काल अभी आता होगा, अर्थात् अब मेरे प्राणों की रक्षा होना असम्भव है। जब हमारा कर्णधार (मल्लाह) ही हमारा शत्रु बन जाय तो वह किसी भी क्षण नाव को पानी में डुबा सकता है। अर्थात् जब राजा ही तोते का शत्रु बन गया है तो किसी भी समय उसका वध हो सकता है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—समासोक्ति, रूपक तथा दृष्टान्त।

(२) इस छन्द में जायसी ने सूफी-प्रेमतत्त्व की मार्मिक व्यंजना की है। प्रेम का मार्ग दुर्गम होता है, पहाड़ के समान भारी। परन्तु जब साधक एक बार इस मार्ग पर कदम बढ़ा देता है तो उसके लिए पीछे लौटना सम्भव नहीं रहता। सच्चा प्रेम भविष्य के परिणाम की चिन्ता नहीं करता।

४

मानसरोदक-खंड

(६०)

एक दिवस पून्यो[1] तिथि आई। मानसरोदक चली नहाई॥
पदमावति सब सखी बुलाई। जनु फुलवारि सबै चलि आई॥
कोइ चंपा कोइ कुंद सहेली। कोइ सु केत, करना रस बेली॥
कोइ सु गुलाल सुदरसन राती। कोई सो बकावरि-बकुचन भाँती॥
कोइ सो मौलसिरि, पुहपावती। कोइ जाही जूही सेवती॥
कोई सोनजरद, कोइ केसर। कोइ सिंगार-हार नागेसर॥
कोइ कूजा सरबरग चमेली। कोई कदम सुरस रस-बेली॥
चली सबै मालति सँग, फूलीं कवँल कुमोद।
बेधि रहे गन गँधरब, बास-परमदामोद[2] ॥१॥

शब्दार्थ—केत=केतकी। करना=वसन्त में खिलने वाला एक सफेद फूल। गुलाल=बसन्त में खिलने वाला एक फूल। सुदरसन=सुदर्शन, एक बड़ा सफेद फूल। बकावरि=गुल-बकावली। बकुचन=गुच्छा। जाही=चमेली की जाति का एक पुष्प। सेवती=सफेद गुलाब। सोनजरद=सोन-जुही। नागेसर=नागकेसर। कूजा=सफेद जंगली गुलाब। सदवरग=गेंदा की जाति का एक फूल। परमदामोद=परम आमोद।

व्याख्या—एक दिवस पूर्णिमा की तिथि आई। पद्मावती मानसरोवर में स्नान करने लगी। उसने अपनी सारी सखियाँ बुलाईं। वे सारी सखियाँ वहाँ सजी-धजी उमंग में भरी इस प्रकार चली आईं मानो कोई फूलों से खिली फुलवारी ही उठकर चली आई हो। इन सखियों में से कोई चम्पा, कोई कुन्द, कोई केतकी, कोई करना तथा कोई रस बेलि के समान थीं; तथा कोई गुलाल, कोई लाल सुदर्शन, कोई गुल-बकावली के गुच्छों के समान सुशोभित थीं। कोई मौलश्री के समान फूलों से लदी हुई थी। कोई जाही, कोई जूही, कोई सफेद गुलाब, कोई सोनजुही, कोई केसर, कोई

पाठ-भेद—१. कौनिउँ=कोई पर्व की। २. परिमलामोद=परिमल और आमोद।

हर-सिंगार, कोई नागकेसर, कोई सफेद जंगली गुलाब, कोई सदवर्ग, कोई चमेली, कोई कदम्ब के समान सरस लताओं जैसी थी।

ये सारी सखियाँ पद्मावती के साथ चलती हुईं इस प्रकार शोभा पा रहीं थीं जैसे कमल के चारों ओर कुमुदिनियाँ खिल रही हों। गंधर्व रूपी भौंरे उनके शरीर से उठने वाली सुगन्धि का पान कर परम आनन्द में मदमत्त हो रहे थे।

(६१)

खेलत मानसरोवर गईं। जाइ पाल पर ठाढ़ी भईं॥
देखि सरोवर हँसैं कुलेली[1]। पदमावति सौं कहहिं सहेली॥
ए रानी ! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी॥
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू॥
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम, कित यह सरवर-पाली॥
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलि कै खेलब एक साथा॥
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न निसरैं[2] देहीं॥
पिउ पियार सिर ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख, दहुँ कस जनम निबाह॥२॥

शब्दार्थ—पाल=किनारा, पाड़, बाँध। कुलेली=क्रीड़ा करती। चारी=चार। सासुर=ससुराल। गवनव=जायँगी। काली=कल। बोलिन्ह=बोल मार कर, ताने मारकर। दारुन=कठोर। निसरैं=निकलने। दहुँ=पता नहीं, न मालूम। की=कि, अथवा।

व्याख्या—खेलते-खेलते सारी सखियाँ मानसरोवर पर पहुँच गईं और जाकर सरोवर के किनारे खड़ी हो गईं। वे सब उस सरोवर को देख-देख कर हँसने और किलोलें करने लगीं अर्थात् बहुत प्रसन्न हुईं। वे वहाँ खड़ी होकर पद्मावती से बोलीं—हे रानी ! मन में यह विचार कर देखो कि इस मायके (पीहर) में हमें चार दिन (बहुत थोड़े समय तक) रहना है। जब तक हमारे ऊपर पिता का शासन है, अर्थात् जब तक हम पिता की छत्रछाया में है, तब तक हमें जितना और जो खेल खेलना हो, उसे आज ही खेल लेना चाहिए, अर्थात् हम जितना आनन्द मना सकती हैं, उसे आज ही मना लेना चाहिए। फिर कल अर्थात् शीघ्र ही हम अपनी-अपनी ससुराल चली जायेंगी। उस समय कहाँ हम होंगी और कहाँ यह सरोवर का किनारा होगा। उस समय अपने हाथ में हमारा आना न हो सकेगा और न हम पुनः मिलकर एक साथ खेल सकेंगी। भाव यह है कि ससुराल जाते ही हम पराधीन हो जायेंगी। ससुराल में सास और ननदें कड़े

पाठ-भेद—१. रहसहिं केली=केलि-क्रीड़ा में आनन्द लेने लगीं। २. आवै=आने।

बोल बोल-बोल कर हमारे प्राण ले लेंगीं, हमारा जीवन दूभर कर देंगी। और कठोर स्वभाव वाला ससुर हमें घर से बाहर नहीं निकलने देगा। हमारे सिर पर पति का प्यार रहेगा परन्तु न मालूम वह भी क्या कर बैठे ? पता नहीं वह सुख से रखेगा या दुख देगा। ऐसी स्थिति में न मालूम हमारा जीवन वहाँ कैसे कटेगा ?

टिप्पणी—(१) अलंकार—यदि हम इस पद का अध्यात्मपरक अर्थ लें तो इसमें 'समासोक्ति' अलंकार मानना पड़ेगा। लौकिक पक्ष में समासोक्ति अलंकार नहीं माना जायेगा।

"जौ लगि····आज़'—में स्वभावोक्ति अलंकार है।

(२) इसमें एक तरफ तो जीवन की क्षणभगुरता के प्रति संकेत मिलता है। तथा दूसरी तरफ इसका अध्यात्मपरक अर्थ भी किया जा सकता है। "चार दिना की चाँदनी फिर अँधेरी रात"—वाली लोकोक्ति इस पद पर पूरी तरह से घट जाती है। यह जीवन चार दिन का है फिर मृत्यु का अन्धकार घेर लेता है।

नैहर से जायसी का तात्पर्य इस संसार से है। यहाँ रहकर जीव अनेक प्रकार के आनन्द मना सकता है परन्तु मृत्यु होने पर पति अर्थात् परमेश्वर के लोक में जाना पड़ेगा जहाँ न मालूम कितने कष्ट उठाने पड़ेंगे। वहाँ हमारे कर्मों के अनुसार ही हमारे साथ कटु-मधु व्यवहार किया जायेगा। परमेश्वर का भय सबसे अधिक है, क्योंकि वही पति के समान प्यारा है परन्तु भक्त को यह आशंका बनी रहती है कि न मालूम वह भी हमारे साथ कैसा व्यवहार करेगा, सुख देगा या दुख, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इस दृष्टिकोण के आधार पर इस छन्द को अध्यात्मपरक न मानकर नीतिपरक मानना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। वैसे आध्यात्मिक दृष्टि से नैहर को यह लोक तथा ससुराल को परलोक माना जा सकता है। कबीर आदि सन्त भक्तों की भी यही मान्यता रही है।

(६२)

मिलहिं रहसि सब चढ़हिं हिंडोरी। झूलि लेंहि सुख बारी भोरी॥
झूलि लेहु नैहर जब ताईं। फिर नहिं झूलन देइहिं साईं॥
पुनि सासुर लेई राखिहि तहाँ। नैहर चाह न पाउब जहाँ॥
कित यह धूप, कहाँ यह छाहाँ। रहब सखी बिनु मन्दिर माहाँ॥
गुन पूछिहि औ लाइहि दोखू। कौन उतर पाउब तहँ मोखू॥
सासु ननद के भौंह सिकोरे। रहब सँकोचि दुवौ कर जोरे॥
कित यह रहसि जो आउब करना। ससुरेइ अन्त जनम दुख मरना॥
कित नैहर पुनि आउब, कित ससुरे यह खेल।
आपु आपु कह होइहि, परब पंखि जस डेल॥३॥

शब्दार्थ—रहसि=प्रसन्न होकर। बारी-भोरी=भोली बालायें। चाह=खबर। उतर=उत्तर। सिकोरे=सिकोड़ने पर। ससुरेइ=ससुराल में ही। अन्त

जनम=जीवन पर्यन्त। भरना=उठाना। आपु-आपु=अलग-अलग। परब=पड़ेगी। डेल=डलिया, टोकरी।

व्याख्या—मायके में रहते समय हम सब मिलकर आनन्द मनायेंगी और झूले पर झूलेंगी और इस प्रकार सारी भोली बालायें झूलकर सुख प्राप्त करेंगीं। जब तक हम सब अपने मायके में हैं तभी तक झूल लो। इसके बाद तो ससुराल जाने पर स्वामी फिर नहीं झूलने देंगे। ससुराल में जाकर स्वामी हमें ऐसे स्थान पर बन्द करके रखेंगे जहाँ हमें अपने मायके की कोई भी खबर न मिल सकेगी। वहाँ हमको घर के भीतर परदे में बन्द होकर रहना पड़ेगा, बाहर निकलने की आज्ञा नहीं मिलेगी। ऐसी स्थिति में हम इस धूप और इस छाया का आनन्द कैसे उठा पायेंगी। हमें अपनी सखी-सहेलियों के बिना अकेले ही घर के भीतर बन्द होकर रहना पड़ेगा। वहाँ लोग हमसे हमारे गुणों के विषय में पूछेंगे और बात-बात में दोष लगायेंगे; अर्थात् वहाँ हमारे गुणों को भी दोषों के रूप में गिना जायेगा। ऐसी स्थिति में हम क्या उत्तर देकर उनके व्यंग-बाणों से मुक्ति पा सकेंगी, अर्थात् हम उत्तर देने में भी असमर्थ रहेंगी, क्योंकि यह भी हमारा दोष घोषित कर दिया जायेगा। सास-ननद बात-बात पर भौंहें सिकोड़ेंगी और हमें संकोच के साथ हाथ जोड़कर उनके सम्मुख रहना पड़ेगा। ससुराल में पुनः यह आनन्द-क्रीड़ा करने का अवसर कहाँ मिल सकेगा। हमें तो वहाँ जीवन-पर्यन्त दुख उठाते हुए ही जीवन व्यतीत करना पड़ेगा।

फिर हम पुन: मायके कैसे आ सकेंगी, ससुराल में ये खेल कैसे खेल सकेंगी। हमें अलग-अलग अपनी-अपनी ससुराल रूपी पिंजड़ों में उसी प्रकार बन्द होकर रहना पड़ेगा जिस प्रकार बहेलिया पक्षियों को पकड़-पकड़ कर अपनी डलिया में बन्द करके रखता है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—विषम और उपमा। अध्यात्म-परक अर्थ लेने पर समासोक्ति अलंकार भी मानना पड़ेगा।

(२) अनेक विद्वान् लेखकों का यह आग्रह रहा है कि इन पदों का अध्यात्म-परक अर्थ ही माना जाय। परन्तु यह बड़ा कठिन प्रतीत होता है। ससुराल को यदि ईश्वर का लोक या परलोक मान लिया जाय तो यह रूपक ठीक नहीं बैठता। ससुराल में सभी प्रकार के अन्याय-अत्याचारों के प्रति इस पद में जो संकेत दिया गया है वह ईश्वर-लोक या परलोक की कल्पना के नितान्त विपरीत है। परलोक में यदि अन्याय-अत्याचार होता है तो फिर ईश्वर की कल्पना ही निरर्थक प्रतीत होती है। वैसे खींचतान कर सभी छन्दों का अध्यात्मपरक अर्थ किया जा सकता है परन्तु ऐसे छन्दों के काव्य-सौन्दर्य की रक्षा तभी सम्भव है जब हम परलोक आदि के माया-मोह से मुक्त होकर इनका शुद्ध लौकिक अर्थ करें। लौकिक अर्थ के साथ 'नीति' की व्यंजना ऐसे छन्दों की प्रभविष्णुता को बहुत अधिक बढ़ा देती है।

(३) ऐसे छन्दों में जायसी ने परम्परा से चले आते लोकगीतों की अभि-व्यंजना-पद्धति को अपना कर इनके सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिए है। हमें इसी

प्रकार के भावों को व्यक्त करने वाले असंख्य लोकगीत आज भी ग्रामीण बालाओं के कंठों से निःसृत होते हुए सुनाई पड़ते हैं।

(४) डा० माताप्रसाद गुप्त इस छन्द को प्रक्षिप्त मानते हैं।

(६३)

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकुलाई ॥
ससि-मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागन्ह झाँपि लीन्ह चहुँ[1] पासा ॥
ओनई घटा परी जग छाहाँ। ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ ॥
छपि गै दिनहिं भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चाँद परगसा ॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघघटा महँ चन्द देखावा ॥
दसन दामिनी, कोकिल भाखी। भौंहें धनुख गगन लेइ राखी ॥
नैन खँजन दुइ केलि करेहीं। कुच-नारँग मधुकर रस लेहीं ॥
सरबर रूप बिमोहा, हिये हिलोरहि लेइ।
पाँव छुवै मकु पावौं, ऐहि मिस लहरहि देइ ॥४॥

शब्दार्थ--खोंपा=जूड़ा। मुकुलाई=खोलकर। झाँपि=ढक लिया। कै दसा=कातर होकर। कुच-नारंग=स्तन रूपी नारंगी। मकु=शायद।

व्याख्या--इस छन्द में जायसी स्नान करने के लिए उद्यत पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन नख-शिख-वर्णन के अनुसार करते हुए कहते हैं--

पद्मावती सरोवर के तीर पर आई। वहाँ आकर उसने अपने जूड़े को खोल कर अपने केश बिखरा दिए। उसका मुख चन्द्रमा के समान और शरीर मलयगिरि के समान सुगन्धित था। उसके खुले हुए बाल उसके शरीर पर लहराते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उसके शरीर से निकलने वाली चन्दन की सुगन्धि से लुब्ध हो सर्पों ने उसके शरीर को चारों ओर से ढक लिया हो। (किम्बदन्ती है कि मलय पर्वत पर चन्दन की सुगन्धि के लोभी सर्प रहते हैं। यह पद्मावती का शरीर मलयगिरि, उसके शरीर की गन्ध मलय-वास तथा बिखरे हुए बाल सर्पों के समान हैं।) पद्मावती के केश बिखराते ही मेघों की घनघोर घटा उमड़ आई और सारे संसार में अन्धकार छा गया या उसके केश रूपी काले राहु ने उसके चन्द्रमा रूपी मुख के पास आकर शरण ली। केशों की सघनता एवं श्यामता को देखकर सूर्य अत्यन्त कातर हो दिन में ही छिप गया, अस्त हो गया और चन्द्रमा नक्षत्रों को साथ लेकर आकाश में उदय हुआ। (यहाँ पर पद्मावती चन्द्रमा तथा उसकी सखियाँ नक्षत्र हैं।) चकोर मुग्ध होकर मेघ घटा के मध्य स्थित उस चन्द्रमा की ओर टकटकी बाँध कर देखने लगा। पद्मावती की दन्त पंक्ति बिजली के समान तथा वाणी कोयल के समान थी। उसकी भौंहें ऐसी प्रतीत होती थीं मानो आकाश से इन्द्र धनुष को लाकर वहाँ सजा दिया गया हो।

पाठ-भेद--१. अरघानी=सूँघ रहे हों, सुगन्ध ले रहे हों।

उसके नेत्र ऐसे प्रतीत होते थे मानो खंजनों का एक जोड़ा क्रीड़ा कर रहा हो। उसके नारंगी के समान स्तनों का ऊपरी श्याम भाग (काली सी घुंडी) ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे नारंगी पर बैठकर भौंरे उसके रस का पान कर रहे हों।

पद्मावती के ऐसे रूप को देखकर सरोवर मोहित हो गया और हृदय में हिलोरें लेने लगा। वह अपनी लहरों को बारम्बार तट पर इसलिए भेजता था कि शायद इसी बहाने पद्मावती का चरण-स्पर्श कर सके।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'ससि-मुख····बासा'—में रूपक, 'नागिन....पासा'—में उत्प्रेक्षा, 'ओनई····छाहाँ'—में अतिशयोक्ति, 'ससि····राहाँ'—में उत्प्रेक्षा, 'लेइ····परगसा'—में रूपक तथा भ्रमालंकार, 'झूलि····देखावा'—में भ्रान्ति, 'पाव····देह'—में कैतवापन्हुति अलंकार।

इसके अतिरिक्त उपमा अलंकार भी है।

(२) सरोवर का पद्मावती के चरण-स्पर्श के निमित्त उद्वेलित हो उठना, उस लोक-प्रसिद्धि का प्रमाण है जिसके अनुसार चन्द्रमा समुद्र का पुत्र माना गया है। पूर्णिमा के चन्द्र को देखकर समुद्र अपने बिछुड़े पुत्र से मिलने के लिए व्याकुल हो ऊपर की ओर उछलने लगता है। यहाँ पद्मावती चन्द्रमा है, इसलिए सरोवर उससे मिलने के लिए व्याकुल हो उठा है।

(३) इस छन्द में जायसी ने मुक्तकेशा पद्मावती के निरावरण सौन्दर्य का आलंकारिक शैली द्वारा अत्यन्त कलात्मक चित्रण किया है। इस चित्रण में स्वाभाविकता के साथ-साथ एक नैतिक सौष्ठव भी है।

(६४)

धरी तीर सब कंचुकि[1] सारी। सरवर महँ पैठीं सब बारी ॥
पाइ नीर जानौं सब बेली। हुलसहिं करहिं काम कै केली ॥
करिल केस बिसहर बिस-भरे। लहरैं लेहिं कवँल मुख धरे ॥
नवल बसंत सँवारी करी। होइ प्रगट जानहु[2] रस-भरी ॥
उठी कोंप जस दारिउँ दाखा। भई उनंत पेम कै साखा ॥
सरिवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा ॥
धनि सो नीर ससि तरई ऊईं। अब कित दीठ कमल औ कूईं ॥
चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलौं, हो नाहँ।
एक चाँद निसि सरग महँ, दिन दूसर जल माहँ ॥५॥

शब्दार्थ—बारी=बालायें। पैठीं=घुसीं। काम कै केली=काम-क्रीड़ायें। करिल=काले। धरे=पकड़ कर। करी=कली। कोंप=कोंपल। उनंत=झुक गई। पेम=प्रेम। ऊईं=उदय हुईं। कूईं=कुमुदिनी।

पाठ-भेद—१. छीपक=छपी हुई, छापे की। २. चाहहिं।

व्याख्या—पद्मावती तथा उसकी सारी सखियों ने अपनी चोली और साड़ियाँ उतार कर तीर पर रख दीं और सारी बालायें सरोवर में उतर गईं। जल का स्पर्श पाते ही वे सब इस प्रकार आनन्द में भरकर काम-क्रीड़ायें करने लगीं जिस प्रकार लतायें जल का स्पर्श पाते ही फूल उठती हैं। उनके काले केश विषधर सर्पों के समान मुख रूपी कमलों को अपने पाश में जकड़ कर लहरा रहे थे। जल में स्नान करती हुईं वे ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो बसन्त ने उन बालाओं रूपी नवीन कलियों को सँवारा हो और वे रस से आप्लावित हो प्रस्फुटित (खिल उठने) हो उठने के लिए व्याकुल हो उठी हों। भाव यह है कि जिस प्रकार वसन्त में नई कलियाँ रस से भर खिल उठने को उद्वेलित हो उठती हैं, उसी प्रकार ये सारी बालायें जल के स्पर्श से मदमस्त हो काम-क्रीड़ायें करने लगी थीं। सरोवर के उस नीले जल में स्नान करते समय पड़ गए उनके लाल मुख ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो अनार और अंगूर की बेलों में लाल-लाल कोपलें फूट रही हों अथवा प्रेम की शाखा रस-भार से झुक गई हो। इन सखियों के स्नान करने से सरोवर इतना विशाल हो उठा मानो संसार में नहीं समा सकेगा। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो सरोवर पद्मावती के चरणों का केवल स्पर्श प्राप्त करने के लिए लहरों के रूप में उमड़ रहा था (छन्द संख्या ६३ का दोहा) वह पद्मावती को स्वयं अपने अंक में पाकर प्रसन्नता से इतना उद्वेलित हो उठा मानो संसार में नहीं समा पायेगा। यहाँ स्नान की हलचलों से उत्पन्न लहरें सरोवर के उद्वेलन के रूप में ग्रहण की जा सकती हैं। वह सरोवर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो चन्द्रमा तारागणों को साथ ले, उसमें घुसकर स्नान कर रहा हो। (यहाँ पद्मावती चन्द्रमा और सखियाँ तारागण हैं।) वह जल अथवा सरोवर धन्य है जिसमें चाँद और तारे उदय हुए हों। अब उसमें कमल और कुमुदिनियों के दर्शन कहाँ सम्भव होंगे, अर्थात् कुमुदिनियों से घिरे कमल के सौन्दर्य की ओर अब किसी का भी ध्यान नहीं जायेगा, क्योंकि पद्मावती और उसकी सखियों के सौन्दर्य के समक्ष उनका सौन्दर्य निष्प्रभ हो उठा है।

पद्मावती रूपी चन्द्रमा तथा सखियों रूपी तारागणों को देख रात्रि आई जान चकवी अपने प्रियतम चकवे से बिछुड़ कर पुकार उठी कि—हे स्वामी ! तुम कहाँ हो ! क्योंकि एक चाँद तो ऊपर आकाश में है और दूसरा दिन में ही जल के भीतर दिखाई पड़ रहा है। आकाश का चाँद तो रात में वियोग कराता ही था, अब यह दूसरा चाँद आकर दिन में भी वियोग की पीड़ा दे रहा है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'करिल····घरे'—में उत्प्रेक्षा, 'उठे····साखा'—में उत्प्रेक्षा, 'सरवर····तारा'—में रूपकातिशयोक्ति, 'अब····कूई'—में प्रतीप, 'चकई····माँह'—में भ्रान्तिमान।

(२) ऐसे छन्द जायसी की उस अपूर्व काव्यशक्ति के प्रमाण हैं, जिसके द्वारा वे सहज-सरल शब्दों द्वारा वर्णित दृश्य का एक सजीव चित्र-सा अंकित कर देते हैं।

(३) यहाँ श्रृंगार का उद्दीपन विभाव प्रधान है।

(६५)

लागीं केलि करैं मँझ नीरा। हंस लजाइ बैठि होइ तीरा ॥
पदमावति कौतुक कहँ राखी। तुम ससि होहु तराइन्ह साखी ॥
बाद मेलि कै खेल पसारा। हार देइ जो खेलत हारा ॥
सँवरिहि साँवरि, गोरिहि गोरी। आपनि आपनि लीन्ह सो जोरी ॥
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हार न होइ पराए हाथा ॥
आजुहि खेल, बहुरि कित होई। खेल गएँ कित खेलै कोई ? ॥
धनि सो खेल खेल सह पेमा[1]। रउताई औ कूसल खेमा ? ॥
मुहमद बाजी पेम के, ज्यौं भावै त्यों खेल।
तिल फूलहि के संग ज्यों, होइ फुलायल तेल ॥६॥

शब्दार्थ—मझ = मध्य, में। साखी = साक्षी, मध्यस्थ। बाद मेलि कै = बाजी लगाकर। पसारा = प्रारम्भ किया। सँवरिहि साँवरि = साँवली के साथ साँवली। रउताई = ठकुराई, स्वामित्व। कूसल खेमा = कुशल क्षेम।

व्याख्या—सारी सखियाँ पद्मावती के साथ जल के भीतर क्रीड़ा करने लगीं। उनकी उस क्रीड़ा एवं सौन्दर्य को देख हंस मन में लज्जित हो किनारे पर जाकर बैठ गए। उन सखियों ने पद्मावती को खेल देखने वाली, अर्थात् मध्यस्थ बनाकर उससे कहा कि तुम चन्द्रमा के समान हम सब सखी रूपी तारागणों के खेल की मध्यस्थ (साक्षी) बन जाओ। यह निश्चित करके उन्होंने आपस में हार-जीत की बाजी बदी कि जो खेल में हार जायगी, वह शर्त के अनुसार जीतने वाली को अपने गले का हार दे देगी। यह कहकर उन्होंने खेल आरम्भ कर दिया। साँवली ने साँवली को तथा गोरी ने गोरी को अपना-अपना जोड़ा बना लिया। और फिर कहा कि समझ-बूझ कर एक साथ खेलो और ऐसा प्रयत्न करो जिससे तुम्हारा हार पराये हाथ न लग सके अर्थात् दूसरा पक्ष न जीत सके। आज ही अवसर है, इसलिए आज ही जी भर कर खेल लो, फिर यह खेल कहाँ हो सकेगा ? खेल समाप्त हो जाने पर फिर कोई उस खेल को कहीं खेल सकता है ? वह खेल धन्य है जो प्रेम के साथ खेला जाता है। ठकुराई (मालिक होने की धौंस) तथा कुशल-क्षेम साथ-साथ नहीं रह सकते। भाव यह है कि यदि खेल में किसी ने ठकुराई या हेकड़ी दिखाई तो फिर वहाँ कुशलता नहीं रह सकती, अर्थात् झगड़ा हो जाता है। खेल में सब समान होते हैं (खेलत में को काको गोसैंया—सूर)।

जायसी कहते हैं कि प्रेम की बाजी लगाकर जिस तरह मन चाहे उस तरह खेलो। जिस प्रकार तिलों को फूलों के साथ रख देने से उनका तेल भी सुगन्धित हो जाता है, उसी प्रकार प्रेम के साथ खेलने से वह खेल भी मधुर हो उठता है।

पाठ-भेद—१. रस बेमा = प्रेमरस। यहाँ यह पाठ गलत प्रतीत होता है। 'रस प्रेमा' पाठ होना चाहिए।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक तथा समासोक्ति।

(२) इस छन्द में समासोक्ति अलंकार स्वीकार करने से इसका यह भाव निकलता है कि जीवन की क्रीड़ा क्षणिक है। अतः हमें इस क्रीड़ा को सतर्क होकर प्रेम की बाजी लगाकर अर्थात् ईश्वर के प्रति प्रेम की लगन के साथ खेलना चाहिए। जीवात्माएँ प्रेम का खेल खेलती हैं और ईश्वर तटस्थ मध्यस्थ की भाँति उनके इस खेल का साक्षी बन उनके कर्मानुसार उन्हें फलाफल देता है। प्रेम के क्षेत्र में स्वामी और सेवक का भाव नहीं चल सकता। वहाँ तो केवल प्रेम का ही सम्बन्ध रहता है। पंथ चाहे जो हो, परन्तु उस पर चलना प्रेम का आधार लेकर ही है। प्रेम किसी भी पन्थ को सुगम और मधुर बना देता है।

(६६)

सखी एक तेइ खेल न जाना। भै अचेत मनि-हार गवाँना॥
कवँल डार गहि भै बेकरारा। कासौं पुकारौं आपन हारा॥
कित खेलै आइउँ एहि साथा। हार गँवाइ चलिउँ लेई हाथा॥
घर पैठत पूँछब यह हारू। कौन उतर पाउब पैसारू॥
नैन सीप आँसू तस भरे। जानौ मोति गिरहिं सब ढरे॥
सखिन कहा बौरी कोकिला। कौन पानि जेहि पौन न मिला ?॥
हार गँवाइ सो ऐसै रोवा। हेरि हेराइ लेइ जौं खोवा॥
लागीं सब मिलि हेरै, बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोइ उठी मोती लेइ, काहू घोंघा हाथ॥७॥

शब्दार्थ—भै=होकर। डार=डाल, कमल नाल। पैसारू=प्रवेश।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी ने स्पष्ट रूप से प्रेम-मार्ग की विकटता का संकेत दिया है। प्रेम मार्ग की साधना कठिन है। इस पर बड़ी समझ-बूझ के साथ चलना पड़ता है। जरा सी चूक होते ही साधक डगमगा उठता है, परन्तु बारम्बार प्रयत्न करने से सफलता मिल ही जाती है।

जायसी कहते हैं कि उन सखियों में से एक सखी उस खेल को नहीं जानती थी। वह खेलते-खेलते गाफिल हो गई और गफलत की उस हालत में उसका मणियों का हार खो गया। यह देखकर वह व्याकुल हो उठी और अचेत होने से बचने के लिए उसने कमल-नाल का सहारा ले लिया और कहने लगी कि अब मैं अपना हार किससे माँगू ? मैं इनके साथ खेलने के लिए आई ही क्यों ? अब हार गवाँ कर खाली हाथ हिलाती घर जाऊँगी तो घर में घुसते ही घर वाले पूछेंगे कि हार कहाँ है ? उस स्थिति में मैं कौन-सा उत्तर देकर घर में प्रवेश पा सकूँगी ? यह सोचकर उसके सीप जैसे उज्ज्वल नेत्रों में आँसू भर आए और इस तरह टपकने लगे जैसे सीप में से मोती झरते हैं। यह देखकर सखियों ने कहा कि—हे सखी ! तू तो भोली कोयल के समान है जो वर्षा की हरियाली को देख, वसन्त का आगमन जान भ्रमवश कूकने लगती

है। कौन सा पानी अर्थात् वर्षा की झड़ी ऐसी होती है जिसके साथ पवन (आँधी) न आता हो। भाव यह है कि जिस प्रकार वर्षा-जल की शीतलता के साथ आँधी का प्रकोप सहना पड़ता है, उसी प्रकार खेल के आनन्द में भी कष्ट उठाना पड़ता है। तू तो हार खोकर इस तरह व्याकुल होकर रो रही है। आओ, चलो, जो चीज खो गई है उसे ढ़ूँढ़ें और ढुँढ़वायें। ढ़ूँढ़ने से वह अवश्य मिल जायेगी।

ऐसा कह कर सारी सखियाँ एक साथ डुबकी लगा-लगा कर हार को ढ़ूँढ़ने लगीं और परिणामस्वरूप जल की तलहटी से कोई हाथ में मोती लेकर ऊपर आई और किसी के हाथ घोंघा लगा।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—रूपक, उपमा एवं उत्प्रेक्षा का मिश्रित प्रयोग है।

(२) इस छन्द में जायसी ने प्रेम-मार्ग को साधना का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख किया है। मानसरोवर हृदय का प्रतीक है और सारी सखियाँ जीवात्माओं, अर्थात् साधकों की। मानस अर्थात् हृदय का खेल (प्रेम का खेल) बड़ी कठिन योग साधना है। इसे चतुर खिलाड़ी ही भली प्रकार खेल सकता है। प्रेम की इस साधना में जरा सा भी गाफिल होते ही साधक अपना सब-कुछ खो बैठता है। परन्तु असफल हो जाने से हताश नहीं हो जाना चाहिए। वारम्वार प्रयत्न करना चाहिए। जिसकी जैसी साधना होती है उसे उसका फल भी वैसा ही मिलता है। किसी को ज्ञान प्राप्त होता है तथा कोई तुच्छ साधना से प्राप्त घोंघे जैसे तुच्छ पदार्थ ही प्राप्त कर पाता है। इस साधना में चूक हो जाने से परलोक में ईश्वर इसका लेखा-जोखा माँगता है। इसलिए प्रेम-मार्ग पर बड़ा सतर्क और तन्मय होकर चलना चाहिए। इस साधना द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है।

(३) डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस छन्द के सम्बन्ध में लिखा है—"इस छन्द की पंक्तियों में कवि ने सांकेतिक शैली में एक तो यह कहना चाहा है कि मनुष्य को आदि में दिव्य अनुभूति प्राप्त थी किन्तु अपने अज्ञान के कारण उसने उस अनुभूति को खो दिया, साधकों ने उस अनुभूति को खोज निकालने के अनेक प्रयत्न किए हैं; जिनसे मानवता को अनेक मूल्यवान और मूल्यहीन तत्त्वों की प्राप्ति हुई है। दूसरे यह कि जगत में युक्तियों से जो तात्त्विक उपलब्धि सम्भव नहीं हुई, वह उस रूप-स्रोत का आश्रय लेने पर अनायास ही सम्भव हो जाती है। हार-विषयक एक उक्ति कबीर में भी है : मेरो हार हिरानो में लजाऊँ।"

(६७)

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई॥
भा निरमल तिन्ह पायँन्ह परसे। पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय-समीर बास तन आई। भा सीतल, गै तपनि बुझाई॥
न जनौं कौन पौन लेइ आवा। पुन्य-दसा भै पाप गँवावा॥
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चन्द बिहँसाना॥

बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा। भइ तहँ ओप जहाँ जोइ देखा॥
पावा रूप रूप जस चहा। ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा॥
नयन चो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर॥८॥

शब्दार्थ—चाह=चाहा। पारस-रूप=पारस के समान पद्मावती। न जनौं=नहीं जानता। उतिराना=तैरने लगा। नग हीर=रत्न और हीरा।

व्याख्या—जब सारी सखियाँ प्रयत्न करके हार गईं और हार न मिला तो तट पर मध्यस्थ के रूप में बैठी पद्मावती स्वयं सरोवर के जल में उतरी। उसे अपने अंक में पा मानसरोवर ने कहा कि मेरी मनोकांक्षा पूर्ण हो गई। पारस के समान पद्मावती स्वयं मेरे पास आ गई। उसके चरणों का स्पर्श कर मैं निर्मल हो गया और उसके रूप का दर्शन कर मैं भी रूपवान बन गया, धन्य हो गया। उसके शरीर से निकलने वाली चन्दन की सुवास मेरे तन अर्थात् जल में बस गई, मैं भी सुवासित हो उठा। मेरे शरीर की सम्पूर्ण तपन बुझ गई और मुझे शीतलता प्राप्त हुई। न मालूम आज कौन-सा पवन इसे मेरे प स ले आया। इसके दर्शन एवं स्पर्श से आज मेरे पुण्य उदय हुए और सारे पाप कट गए। (मानसरोवर ने पद्मावती का स्पर्श प्राप्त करने के लिए ही हार चुराकर छिपा लिया था। जब उसकी मनोकामना पूर्ण हो गई तो) उसी क्षण हार जल के ऊपर उतराने लगा। सखियों ने उसे उठा लिया और चन्द्रमा रूपी पद्मावती हँसने लगी। पद्मावती रूपी चन्द्रमा की हास्य रूपी किरणों को देखकर सखियाँ रूपी कुमुदिनियाँ खिल उठीं अर्थात् प्रसन्न हो उठीं। और जिसने जिधर भी दृष्टि डाली उसे उधर ही प्रकाश विकीर्ण होता हुआ दिखाई पड़ा; अर्थात् पद्मावती के प्रसन्न होते ही सारी सृष्टि प्रकाश से भर उठी। जिसने जो रूप चाहा, वही उसे प्राप्त हुआ; अर्थात् पद्मावती (ईश्वर) को जिस साधक ने भी जिस रूप में देखना चाहा उसे उसका वैसा ही रूप दिखाई पड़ा। पद्मावती का चन्द्रमा रूपी मुख सबके लिए दर्पण के समान हो गया; अर्थात् जिसने जिस भाव के साथ उसे देखा, उसे उसमें वैसा ही रूप दिखाई दिया। (इस पंक्ति का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि उस पद्मावती के मुख के लिए तालाब दर्पण के समान हो गया। परन्तु यह अर्थ अधिक सार-गर्भित नहीं प्रतीत होता।)

पद्मावती की रूप दृष्टि से ही सर्वत्र सौन्दर्य के उपकरण खिल उठे। जहाँ-जहाँ उसके नेत्रों की दृष्टि पड़ी वहाँ-वहाँ कमल खिल उठे। उसके शरीर की निर्मल आभा से सरोवर का जल स्वच्छ हो गया। उसने जिस तरफ हँस कर देखा, उसी तरफ श्वेत हंसों की सृष्टि हो गई। उसके दाँतों की चमक विभिन्न प्रकार के रत्न और हीरों के रूप में परिणत हो गई।

इस छन्द में जायसी ने ईश्वर की झलक का संकेत दिया है। ईश्वर की आभा अर्थात् ज्ञान जिस समय आत्मा में आकर समा गया, उस समय जीवन का

प्रभात हो गया । संसार की समस्त वस्तुओं में ईश्वर की आभा है । जैसा ईश्वर चाहता है, प्रत्येक वस्तु को वैसा ही रूप प्रदान कर देता है । साधक भी अपनी-अपनी साधना के अनुरूप ही ईश्वर के रूप का दर्शन करते हैं । इस प्रकार जायसी ने इस छन्द में रहस्यवाद की सृष्टि की है । इस छन्द में कबीर की प्रसिद्ध पंक्ति—'लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल'—की ध्वनि भी मिलती है । साथ ही तुलसी की उस प्रसिद्ध पंक्ति का भी आभास मिल जाता है—'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन देखी तैसी ।'

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—समासोक्ति । 'चन्द बिहसाना'—में रूपकातियोक्ति ।

(२) प्रेम-मार्गी साधना की दृष्टि से इस छन्द का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता है । हृदय में जब परमेश्वर की ज्योति अर्थात् प्रेम समा जाता है तो उसमें पूर्ण परिवर्तन हो जाता है । उसकी जलन नष्ट होकर शान्ति, शीतलता और आनन्द छा जाता है । सारी सृष्टि ईश्वर के रूप से ही प्रतिबिम्बित दिखलाई पड़ने लगती है । यहाँ दर्शन के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की झलक मिलती है । सारी सृष्टि उसी ईश्वर (पद्मावती) के रूप का ही प्रतिबिम्ब है ।

(३) इस छन्द में सरोवर का पद्मावती का स्पर्श पा, पूर्णरूपेण कृतार्थ हो जाने की कल्पना सूर की उस कल्पना से बहुत कुछ समानता रखती है जिसमें वसुदेव जब कृष्ण को मथुरा से गोकुल ले जा रहे थे तो कृष्ण के चरणों का स्पर्श पाने के लिए यमुना उमड़ आई थी और चरण-स्पर्श करते ही उतर गई थी । ऐसी मनोरम कल्पनायें काव्य-सौन्दर्य को अनूठा रूप प्रदान कर देती हैं । जायसी इस कला में पारंगत प्रतीत होते हैं ।

(४) डा० गुप्त ने इस छन्द के रहस्यपरक अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"……कवि एक तो यह कहना चाहता है कि मूलतः रूपवान एकमात्र वही परमात्मा था; संसार में जो रूप की सृष्टि हुई वह सृष्टि की अपनी वस्तु नहीं थी—सृष्टि तो जड़ और रूपहीन थी, उस रूप की प्रतिमा की जब सृष्टि पर छाया पड़ी, तब उसमें रूप का विकास हुआ; दूसरे यह कि उस रूप को सृष्टि तभी प्राप्त कर सकी जब दर्पण रूप होकर उस रूप-स्रोत के सम्पर्क में आई । अतः साधक भी जब तक इस दर्पणभाव की सिद्धि नहीं कर लेता है, वह अपने को सम्पूर्ण रूप से उसकी छवि को धारण करने के योग्य नहीं बना लेता है, उसे सफलता नहीं मिलती है ।"

५

सुआ-खंड

(६८)

पदमावति तहँ खेल दुलारी[1]। सुआ मँदिर महँ देखि मँजारी ॥
कहेसि चलौं जौ लहि तन पाँखा। जिउ लै उड़ा ताकि बन ढाँखा ॥
जाइ परा बनखँड जिउ लीन्हें। मिले पँखि, बहु आदर कीन्हें ॥
आनि धरेन्हि आगे फरि साखा। भुगुति[2] भेंट जौ लहि बिधि राखा ॥
पाइ भुगुति सुख तेहि मन भएऊ। दुख जो अहा बिसरि सब गएऊ ॥
ए गुसाइँ तूँ ऐस विधाता। जावत जीव सबन्ह भुकदाता ॥
पाहन महँ नहिं पतँग बिसारा। जहँ तोहि सुमिरि दीन्ह तुँइ चारा ॥
तौ लहि सोग बिछोह कर, भोजन परा न पेट।
पुनि बिसरन भा सुमिरना, जब संपति[3] भै भेंट ॥१॥

शब्दार्थ—चलौं=चल दूँ। पाँखा=पंख। ताकि=देखकर। फरि=फल। भुगुति=भोजन। अहा=था। भुकदाता=भोजन देने वाला।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी पुनः टूटे हुए से कथा-सूत्र को जोड़ते हुए राजा के आतंक से भयभीत हीरामन तोते का राजमहल छोड़कर भाग जाने तथा वन में जाकर भोजन प्राप्त करने का वर्णन कर ईश्वर के विश्व-प्रतिपालक रूप की स्तुति करते हुए कहते हैं—

पद्मावती तो वहाँ प्रेम के साथ अपने खेल में लगी हुई थी, इधर तोते को महल में रात-दिन बिल्ली अर्थात् मृत्यु का भय लगा रहता था। इसलिए उसने मन-ही-मन कहा कि जब तक इस शरीर में पंख हैं तब तक यह अच्छा होगा कि मैं अपने प्राण बचाकर किसी वन में भाग चलूँ। ऐसा सोच वह तुरन्त वन की ओर देख उधर ही उड़ चला। जब वह वन में पहुँच गया तभी उसने चैन की साँस ली। वहाँ उससे अनेक पक्षी मिले जिन्होंने उसका बहुत आदर-सम्मान के साथ स्वागत किया। इसके उपरान्त उन पक्षियों ने उसके सम्मुख अनेक फलों से लदी शाखायें लाकर रख दीं। तोते ने मन में सोचा कि जब तक विधाता जीवित रखता है, तब तक भोजन का

पाठ-भेद— १. धमारी=ऊधम मचाते खेलना। २. भुगुति न मिटै=भोगना नहीं मिट सकता। ३. सपने।

अभाव नहीं होने देता। उस भोजन को पाकर तोते के मन में बड़ा सुख पहुँचा और जितना भी दुख था, वह सब भूल गया। उसने ईश्वर की स्तुति करते हुए कहा कि हे ईश्वर ! तू ऐसा विधाता है कि इस संसार में जितने भी जीव-जन्तु हैं, सबको भोजन देता है। तू पत्थरों के भीतर रहने वाले कीड़े-मकोड़ों को भी नहीं भुलाता। जो कोई जहाँ भी तेरा स्मरण करता है, तू वहीं उसे भोजन भेज देता है।

वियोग का शोक उसी समय तक रहता है, जब तक पेट में भोजन नहीं पड़ता। जैसे ही पेट भर जाता है और प्राणी सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है, वैसे ही वह तेरा स्मरण करना भूल जाता है। डा० गुप्त के पाठ के अनुसार इसका यह अर्थ होगा कि—उसे तेरा स्मरण इस प्रकार विस्मृत हो जाता है मानो तुझसे भेंट स्वप्न में हुई रही हो।

टिप्पणी—(१) अलंकार—अन्तिम पक्ति में विरोधाभास अलंकार माना जा सकता है।

(२) इस छन्द में जायसी ने ईश्वर के विश्व-पोषक, अमित करुणामय रूप का चित्रण करने के साथ ही साथ मनुष्य की कृतघ्नता का वर्णन किया है। 'दुख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोइ'—इस प्रसिद्ध पंक्ति से इस दोहे का भाव बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

(३) डा० गुप्त द्वारा दिए गए पाठ में इस छन्द की सातवीं पंक्ति सम्मिलित नहीं है।

(६९)

पदमावति पहँ आइ भँडारी। कहेसि मँदिर महँ परी मँजारी॥
सुआ जो उतर देत रह पूछा। उड़िगा, पिंजर न बोलै छूँछा॥
रानी सुना सबहिं सुख गएऊ। जनु निसि परी, अस्त दिन भएऊ॥
गहने गही चाँद कै करा। आँसु गगन जस नखतन्ह भरा॥
टूट पाल सरवर बहि लागे। कँवल बूड़, मधुकर उड़ि भागे॥
ऐहि बिधि आँसु नखत होइ चूए। गगन छाँड़ि सरवर महँ[1] ऊए॥
चिहुर चुईं मोतिन कै माला। अब सँकेत बाँधा चहुँ[2] पाला॥
उड़ि यह सुअटा कहँ बसा, खोजु सखी सो बासु।
दहुँ है धरती की सरग गा, पौन न पावै तासु॥२॥

शब्दार्थ—भँडारी=भंडार की देख-रेख करने वाला। पँह=पास। परा=घिर आई। गहने=ग्रहण। करा=कला। बूड़=डूब गया। ऊए=उदय हुए। चिहुर=चिकुर, केश। चुईं=टपकी। संकेत=संकरा। बाँधा=बाँध।

पाठ-भेद— १. भरि=भर कर। २. चह=चाहती है।

व्याख्या—भंडारी ने पद्मावती के पास जाकर कहा कि महल में बिल्ली आ गई है। वह तोता, जो प्रश्न करने पर उत्तर देता था, उड़ गया है। अब वह पिंजड़े में नहीं बोलता, पिंजड़ा खाली पड़ा है। रानी पद्मावती ने जब यह दारुण समाचार सुना तो उसका सारा सुख जाता रहा। वेदना से उसका मुख इस प्रकार मलिन हो गया मानो सूर्य अस्त हो गया और रात घिर आई। (यहाँ क्रीड़ा करते समय पद्मावती के मुख पर खिलने वाली आनन्द और सुख की कान्ति सूर्य के समान तथा उसे नष्ट कर घिर आई विषाद की काली छाया रात्रि के समान है।) उसकी दशा ऐसी हो गई मानो चन्द्रमा की कला को ग्रहण लग गया हो। उसके नेत्रों में इस प्रकार आँसू छलछला उठे जैसे आकाश में नक्षत्र भर जाते हैं। फिर उसके नेत्रों से आँसू इस प्रकार उमड़ने लगे मानो सरोवर का बाँध टूट गया हो और उसका पानी चारों ओर बह रहा हो। आँसुओं के उस अविरल प्रवाह में उसके नेत्र रूपी कमल डूब गये और उन नेत्रों पर छाई भ्रमर रूपी पुतलियाँ उड़ गईं; अर्थात् आँसुओं से भर जाने के कारण पुतलियाँ अदृश्य हो गईं। उसके नेत्रों से आँसू टपक-टपक कर इस प्रकार गिरने लगे, जैसे आकाश से टूट-टूट कर तारे नीचे गिर रहे हों। उन आँसुओं को देखकर ऐसा प्रतीत होने लगा मानो तारे आकाश को छोड़कर सरोवर में आकर उदय हुए हों। आँसुओं की इस वर्षा से उसके खुले हुए केश भर गए और उनमें से आँसू इस तरह टपकने लगे मानो मोतियों की माला में से मोती नीचे झर रहे हों। परन्तु पद्मावती ने शीघ्र ही अपने को सम्हाल लिया। अपने धैर्य रूपी किनारों से उस आँसुओं रूपी तालाब को सँकरा करके चारों तरफ से बाँध दिया, अर्थात् रोना बन्द कर दिया।

और फिर अपनी सखी से कहा कि हे सखी! तू इस बात का पता लगा कि यह तोता उड़कर कहाँ जा बसा है, तू उसके निवास स्थान का पता लगा कि वह धरती पर ही है या स्वर्ग चला गया अर्थात् मर गया या जीवित है। उसकी तो हवा तक नहीं मिलती अर्थात् उसका पता ही नहीं चलता।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'टूट पाल······भागे'—में रूपकातिशयोक्ति। सम्पूर्ण छन्द में उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति अलंकार का मिश्रण है।

(२) कुछ आलोचक इस छन्द में रहस्यवाद की झलक देखते हैं परन्तु यह असंगत सा प्रतीत होता है। समासोक्ति का प्रयोग कहीं भी करके किसी भी छन्द का रहस्यपरक अर्थ लगाया जा सकता है। परन्तु ऐसा करने से कथा की शृंखला और रोचकता नष्ट हो जाती है। अतः यहाँ हमें पद्मावती के दुख का अर्थ ही लेना चाहिए।

(७०)

चहूँ पास समुझावहिं सखी। कहाँ सो अब पाउब, गा पँखी॥
जौ लहि पींजर अहा परेवा। रहा बन्दि महँ, कीन्हेस सेवा॥

तेहि बन्दि हुति छुटै जो पावा। पुनि फिरि बन्दि होइ कित आवा ?।।
वै उड़ान-फर तहियै खाए। जब भा पंखि, पाँख तन आए।।
पींजर जेहिक सौंपि तेहि गएऊ। जो जाकर सो ताकर भएऊ।।
दस दुवार[1] जेहि पींजर माँहा। कैसे बाँच मँजारी पाहाँ ?।।
एह धरती अस केतन लीला। पेट गाढ़ अस, बहुरि न ढीला।।
जहाँ न रात न दिवस है, जहाँ न पौन न पानि।
तेहि बन सुअटा चलि बसा, कौन मिलावै आनि ?।।३।।

शब्दार्थ—अह=था। बन्दि=बन्धन। हुति=से। उड़ान-फर=उड़ने का फल। तहियै=तभी। भा=हुआ था। बाँच=बचे। पाहाँ=से। केतन=कितने।

व्याख्या—चारों ओर से घेर कर सखियाँ पद्मावती को समझाने लगीं कि हे रानी ! जो पक्षी चला गया उसे अब कहाँ पा सकोगी। जब तक वह पक्षी पिंजड़े के भीतर था, तब तक उसके बन्धन में रहा और तुम्हारी सेवा करता रहा। जब उसने उस बन्धन से मुक्ति पा ली तो फिर अब पुनः उसी बन्धन में बन्दी बनने के लिए वह क्यों आयेगा ? उसने उड़ने का फल अर्थात् उड़ने का आनन्द या महत्त्व उसी समय जान लिया था जब उसने पक्षी का जन्म लिया था और उसके पंख उत्पन्न हुए थे। वह जिसका पिंजड़ा था उस पिंजड़े को उसी को सौंप कर चला गया। जो वस्तु जिसकी थी वह उसी की हो गई। जिस पिंजड़े में दस दरवाजे हों, उसमें रहने वाला पक्षी बिल्ली से कैसे बच सकता है। उसका पेट इतना गहरा है कि जो एक बार उसमें समा गया वह फिर मुक्त न हो सका।

जहाँ न रात होती है और न दिन, जहाँ न पवन है और न जल, वह तोता उसी वन में जाकर बस गया है। अब उसे कौन लाकर मिला सकता है।

इस छन्द का समासोक्ति-परक अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

जब शरीर रूपी पिंजड़े से आत्मा रूपी पक्षी एक बार उड़ गया तो फिर लौटकर उसमें कैसे आ सकता है, अर्थात् जीव शरीर के बन्धन से मुक्त होकर पुनः शरीर धारण करने नहीं आता। जीव जब तक इस शरीर रूपी पिंजड़े में बंद था तब तक उसने सारे शारीरिक धर्म निवाहे, सेवा की। लेकिन जब एक बार वह इस बन्धन से मुक्त हो गया तो फिर लौटकर पुनः उसी बन्धन में क्यों पड़ना चाहेगा ? जीव मुक्ति के आनन्द का आभास तो उसी दिन प्राप्त कर चुका था जब उसे ज्ञान रूपी पंख प्राप्त हुए थे। इसलिए जैसे ही उसे निकल भागने का अवसर मिला, वह पंच तत्त्वों से निर्मित इस शरीर रूपी पिंजड़े को उन्हीं पंच तत्त्वों को सौंपकर उड़ गया। ये पंच तत्त्व अपने-अपने मूल-तत्त्वों में जा मिले अर्थात् शरीर नष्ट हो गया। जिस शरीर रूपी पिंजड़े में मौत के घुसने के दस दरवाजे (दस इन्द्रियाँ) हों, उसमें रहने वाला

पाठ-भेद—१. बाटैं=रास्ता, मार्ग।

आखिर मौत के पंजे से कैसे बच सकता है ? इस मौत ने संसार में न मालूम कितनों को निगल लिया है और जिसे एक बार निगल लिया है, उसे फिर वापस नहीं आने दिया। (मुसलमानों में पुनर्जन्म नहीं माना जाता। इसीलिए उनके यहाँ मृत्यु के उपरान्त जीव या आत्मा पुनर्जन्म लेती हुई नहीं मानी जाती।) इस बन्धन से मुक्त होकर जीव रूपी आत्मा अब ऐसे लोक में पहुँच गई है, जहाँ इस संसार का कोई भी नियम लागू नहीं होता। इसलिए अब उसे कौन वापस ला सकता है ?

टिप्पणी—(१) अलंकार—समासोक्ति तथा रूपक।

(२) इस छन्द में रहस्य-भावना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है। इसका अर्थ अभिधा-पद्धति से करने पर प्रभावहीन और निरर्थक हो जाता है। जायसी ऐसे ही स्थलों पर अपनी रहस्य-भावना अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों का अपनी कथा में पुट दे देते हैं, परन्तु सर्वत्र नहीं। इसलिए हमें उनके छन्दों की व्याख्या करते समय अधिक सतर्क रहना चाहिए। जहाँ रहस्य-भावना न हो, वहाँ खींचतान कर उसे लाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

(७१)

सुए तहाँ दिन दस कल काटी। आय बियाध ढुका लेइ टाटी॥
पैग पैग भुईं चापत आवा। पंखिन्ह देखि हिए डर खावा॥
देखिय कछु अचरज अनभला। तरिवर एक आवत है चला॥
एहि बन रहत गई हम्ह आऊ। तरिवर चलत न देखा काऊ॥
आज जो तरिवर चल, भल नाहीं। आवहु यह बन छाँड़ि पराहीं॥
वै तौ उड़े और बन ताका। पंडित सुआ भूलि मन थाका॥
साखा देखि राजु जनु पावा। बैठ निचिंत चला वह आवा॥
पाँच बान कर खोंचा, लासा भरे सो पाँच।
पाँख भरे तन अरुझा, कित मारे बिनु बाँच॥४॥

शब्दार्थ—कल=आराम से। ढुका=छिप गया। पैग-पैग=कदम-कदम। चापत=धीरे-धीरे रखता हुआ। अनभला=अकल्याण, संकट। गई=व्यतीत हुई। मन थाका=हतबुद्धि हो गया। खोंचा=चिड़िया फँसाने का बाँस। भरे=चिपक गए। अरुझा=उलझ गया। मारे=मरने से। बाँच=बच सकता है।

व्याख्या—उस वन में हीरामन तोता के दस दिन आराम से कट गए। एक दिन एक बहेलिया उस वन में अपनी टटिया लेकर आ छिपा। वह धरती पर धीरे-धीरे कदम रखता हुआ चुपचाप आया। पक्षियों ने जब उसे देखा तो वे मन में भयभीत हो उठे। उन्होंने एक प्रकार का ऐसा आश्चर्य देखा जो अकल्याणकारी था। उन्होंने देखा कि एक वृक्ष चलता चला आ रहा है। (वृक्ष इसलिए चलता हुआ सा लगा, क्योंकि बहेलिए ने वृक्षों की अनेक टहनियों को तोड़कर हाथ में ले लिया था

और उनके नीचे अपने शरीर को छुपाए चलता आ रहा था। अतः उसे देखकर पक्षियों को यह भ्रम हुआ कि कोई वृक्ष ही चल रहा है।) उन पक्षियों ने आपस में कहा कि इस वन में रहते हुए हमारी सारी उम्र बीती परन्तु आज तक किसी ने भी वृक्ष को चलते हुए नहीं देखा था। आज यह वृक्ष चल रहा है, इसलिए कुछ-न-कुछ अनिष्ट अवश्य होगा। इसलिए आओ, इस वन को छोड़कर कहीं दूसरी जगह भाग चलें। यह कहकर उस वन के रहने वाले पक्षी पास ही एक-दूसरे वन की ओर देखकर उधर ही उड़ कर भाग गए। परन्तु हीरामन तोता तो पण्डित था। वह इस अद्भुत घटना (वृक्ष का चलना) देखकर हतबुद्धि सा वहीं का वहीं बैठा रह गया। उसने जब उस वृक्ष की हरी-भरी शाखाओं को देखा तो उसे ऐसा लगा मानो उसे कहीं का राज्य मिल गया हो। इसलिए वह निश्चिन्त मन से उस शाखा पर आकर बैठ गया।

उस शाखा के बीच पाँच सिरों वाला लासा लगा हुआ एक लम्बा बाँस छिपा हुआ था। उस लासे में हीरामन तोते के पंख चिपक गए और उसका शरीर उलझ गया। अब मरे बिना उसका उद्धार नहीं हो सकता था।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—दोहे में समासोक्ति अलंकार माना जा सकता है।

(२) दोहे में जायसी पुनः अध्यात्म की ओर झुके प्रतीत होते हैं। यहाँ 'पाँच बान कर खोंचा' मानव की पाँच इन्द्रियाँ तथा 'लासा भरे सो पाँच' उन पंचेन्द्रियों के आकर्षण गुण—रूप, रस, गंध स्पर्श और शब्द—माने जा सकते हैं। भाव यह है कि मानव इन आकर्षणों के जाल में फँस माया के बन्धन में पड़ जाता है।

(७२)

बँधिगा सुआ करत सुख केली। चूरि पाँख मेलेसि धरि डेली॥
तहवाँ दहुत पंखि खरभरहीं। आपु आपु महँ रोदन करहीं॥
बिखदाना कित होत अँगूरा[1]। जेहि भा मरन डन्ह धरि चूरा॥
जौं न होत चारा कै आसा। कित चिरिहार ढुकत लेइ लासा॥
यह विष चारै सब बुधि ठगी। औ भा काल हाथ लेइ लगी॥
एहि झूठी माया मन भूला। ज्यों पंखी तैसे तन फूला॥
यह मन कठिन मरै नहिं मारा[2]। काल न देख, देख पै चारा॥
हम तो बुद्धि गँवावा, विष-चारा अस खाइ।
तैं सुअटा पंडित होइ,[3] कैसे बाझा आइ ? ॥५॥

शब्दार्थ—चूरि पाँख=पंख चूर-चूर कर, तोड़ कर। मेलेसि=डाल दिया। डेली=डलिया, टोकरी। तहवाँ=वहाँ। खरभरहीं=फड़फड़ा रहे थे। बिखदाना=विष का दाना। अँगूरा=अंगूर। उन्ह=डैना, पंख। चिरिहार=चिड़ीमार, व्याध।

पाठ-भेद—१. बिखदाना कत दैय अँकूरा=दैव ने यह विष-धान्य क्यों अंकुरित किया। २. जाल। ३. कत फाँदा आइ=कैसे आ फँसा ?

ढुकत=छिपता । चारै=चारा । भा=हुआ । लगी=लग्गी, लम्बा बाँस । बाझा=फँस गया ।

व्याख्या—सुख से क्रीड़ा करता हुआ हीरामन तोता बन्दी बन गया । बहेलिए ने उसके पंख चूर-चूर कर उसे अपनी डलिया के अन्दर बन्द कर दिया । उस डलिया (टोकरी) के भीतर अन्य बहुत से पक्षी फड़फड़ा रहे थे और अपना-अपना कष्ट कहते हुए रो रहे थे । वे पक्षी विलाप करते हुए कह रहे थे कि अंगूर किस प्रकार विष का दाना (ज़हर) बन गया, जिसके कारण हमें इस प्रकार मरना पड़ा और हमारे पंख चूर-चूर कर डाले गए । यदि हमें चारे (भोजन) का लोभ न होता तो बहेलिया लासा लगाकर वहाँ क्यों आ छिपता ? (भाव यह है कि बहेलिया चारे के प्रति हमारी कमजोरी को जानता था, इसी कारण उसने चारे का लोभ देकर हमें लासा लगाकर पकड़ लिया ।) इस विषमय चारे ने ही हमारी सोचने-समझने की सारी बुद्धि हर ली और यह बहेलिया हाथ में लग्गी लिए हुए हमारे लिए काल बन गया । इसकी झूठी माया में हमारा मन भूल गया । हम पक्षी हैं, मूर्ख हैं, इस कारण उस चारे को देख कर हम प्रसन्नता से फूल उठे थे । यह मन बड़ा कठिन है, मारने से इसे नहीं मारा जा सकता, अर्थात् हमारा मन हमारे बस में नहीं रहा । इसने चारे को तो देख लिया, अर्थात् उसके लालच में फँस गया परन्तु उसके पीछे छिपे उस काल को नहीं देख सका ।

इतना कहकर उन पक्षियों ने हीरामन तोते से कहा कि हे तोते ! हमारी तो बुद्धि मारी गई थी, इसलिए हमने वह विषमय चारा खा लिया था । उस विषमय चारे को खाने के कारण हमारी बुद्धि मारी गई थी परन्तु तू तो पण्डित अर्थात् ज्ञानी था । तू इस धोखे में कैसे आ फँसा ?

टिप्पणी—(१) अलंकार—'विषदाना' में रूपक तथा समासोक्ति ।

(२) इसमें विषमय चारे के प्रति पक्षियों के आकर्षित होने के प्रसंग से यह नीतिपरक अर्थ निकाला जा सकता है कि हमारा मन संसार की विषय-वासनाओं के प्रति सहज ही आकर्षित हो उठता है । उनके आकर्षण में पड़ हम उनके अन्तिम भयंकर विनाशकारी परिणाम की ओर नजर नहीं डाल पाते, इसी कारण दुख उठाते हैं । इसी प्रकार इसका अध्यात्म-परक अर्थ भी किया जा सकता है कि माया जीव को अपने प्रलोभन में फाँस लेती है और अन्त में उसे अनेक प्रकार के दुख देती है । यहाँ बहेलिया माया, पक्षी जीव, माया के प्रलोभन विषमय चारा, दुखद परिणाम मृत्यु मानी जा सकती है ।

(७३)

सुए कहा हमहूँ अस भूले । टूट हिंडोल-गरब जेहि झूले ॥
केरा के बन लीन्हु बसेरा । परा साथ तहँ बैरी केरा ॥
सुख कुरबारि फरहरी खाना । ओहु विष भा जब व्याध तुलाना ॥
काहेक भोग बिरिछ अस फरा । आड़ लाइ पंखिन्ह कहँ धरा ?॥

सुखी निंचित जोरि धन करना। यह न चिंत आगे है मरना।।
भूले हमहुँ गरब तेहि माहाँ। सो बिसरा पावा जेहि पाहाँ।।
होइ निंचित बैठे तेहि आड़ा। तब जाना खोंचा हिए गाड़ा।।
चरत न खुरुक कीन्ह जिउ, तब रे चरा सुख सोइ।
अब जो फाँद परा गिउ, तब रोए का होइ ? ।।६।।

शब्दार्थ—हिंडोल-गरब=गर्व रूपी हिंडोला। केरा=केला। बैरी केरा=बेर के पेड़ का। कुरवारि=खोद-खोद कर, चोंच मार-मार कर। फरहरी=फलाहार, फलों का आहार। ओहु=वह भी। तुलाना=आ पहुँचा। भोग बिरछि=भोग अर्थात् फलों का वृक्ष। चिंत=चिन्ता। जेहि पाहाँ—जिस ईश्वर से। आड़ा=अड्डा। गाड़ा=गढ़ा। चरत=खाते हुए। खुरुक=खटका। गिउ=गले में।

व्याख्या—पक्षियों के उक्त प्रश्न को सुनकर हीरामन तोता कहने लगा—

हम भी उसी प्रकार भूल गए थे जैसे कि तुम लोग धोखा खा गए थे। हमारा वह गर्व का झूला—यह गर्व कि हम पंडित हैं—जिस पर हम झूल रहे थे—बेखबर हो आनन्द से समय काट रहे थे—टूट गया। हमने केले के वन में बसेरा लिया था परन्तु वहाँ उस स्निग्ध, मधुर केले के साथ बेर का कँटीला वृक्ष भी था; अर्थात् वहाँ सुख के साथ-साथ भयानक संकट भी था—यह बात हमें मालूम न थी। हम वहाँ सुख के साथ चोंच मार-मार कर फल खाया करते थे परन्तु जैसे ही वहाँ बहेलिया आ पहुँचा, हमारा फल खाना हमारे लिए (प्राणघातक) विष बन गया। वह भोग-वृक्ष अर्थात् फलों का वृक्ष ऐसा क्यों फला जिसका प्रलोभन दिखाकर बहेलिये ने पक्षियों को पकड़ लिया। प्राणी जब तक सुखी रहता है, बराबर निश्चिन्त होकर धन जोड़ता चला जाता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि आगे चलकर मौत उसका इन्तजार कर रही है। हम भी इसी गर्व में पड़कर इस वस्तुस्थिति को भूले हुए थे। हम उस ईश्वर को भूल गए थे जिससे हमने यह सारा सुख-भोग पाया था। इसीलिए हम निश्शंक मन से बहेलिए के उस अड्डे पर जा बैठे। हमें अपनी भूल का ज्ञान तब हुआ जब हमारे हृदय में उसकी लग्गी (खोंचा) गड़ी।

उस फल को खाते समय हमारे मन में तनिक-सा भी खटका (आशंका) नहीं था। उस समय हमने सुखपूर्वक उस फल को खा लिया। अब जब गले में फन्दा पड़ गया है तब रोने से क्या लाभ ?

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—रूपक।

(२) केले के साथ बेर का रहना इस नीति-वाक्य के प्रति संकेत करता है कि सुख के साथ दुख की भी स्थिति रहती है। मनुष्य सुख में भूलकर भावी दुख की आशंका तक नहीं करता। यह दुख सुख में गाफिल व्यक्ति के जीवन में अचानक, चुपचाप ऐसे उतर आता है कि उसे पता तक नहीं लगता। इसी भाव को कविवर बच्चन ने इन पंक्तियों में प्रकट किया है—

"मानव के सुख में दुख ऐसे चुपचाप उतर कर आ जाता ।
है ओस ढुलक पड़ती जैसे मकरन्दमई पंखुरियों पर
है क्रूर समय जिससे सपना, सच होता, सच सपना होता ॥"

(७४)

सुनि कै उतर आँसु पुनि पोंछे। कौन पंखि बाँधा बुधि-ओछे ॥
पंखिन्ह जौ बुधि होइ उजारी। पढ़ा सुआ कित धरै मजारी ? ॥
कित तीतिर बन जीभ उघेला। सो कित हँकरि फाँद गिउ मेला ॥
तादिन व्याध भए जिउ लेवा। उठे पाँख भा नावँ परेवा ॥
भै बियाधि तिसना सँग खाधू। सूझै भुगुति, न सूझ बियाधू ॥
हमहिं लोभवै मेला चारा। हमहिं गर्बवै चाहै मारा ॥
हम निचित वह आव छिपाना। कौन बियाधहि दोष अपाना ॥
सो औगुन कित कीजिए, जिउ दीजै जेहि काज ।
अब कहना है किछु नहीं, मस्ट भलो, पँखिराज ॥७॥

शब्दार्थ—बुधि-ओछे=ओछी बुद्धि । उजारी=उज्ज्वल । उघेला=खोली । हँकरि=हुंकार लगाकर, जोर से पुकार कर । उठे पाँख=पंख निकले । खाधू=खाद्य, भोजन । लोभवै=लोभ ही ने । मेला=डाला । गर्बवै=गर्व ही ने । मस्ट=मौन (संस्कृत—मृष्ट) ।

व्याख्या—हीरामन तोते के इस उत्तर को सुनकर सारे पक्षियों ने फिर अपने आंसू पोंछे और कहने लगे कि किसी ने हमारे शरीर में वचने के लिए पंख तो लगा दिए परन्तु बुद्धि ओछी ही दी अर्थात् प्राणरक्षा करने का साधन तो प्रदान कर दिया परन्तु संसार के छल-छद्मों को पहचानने वाली विवेक वुद्धि न दी । यदि पक्षियों की वुद्धि का अन्धकार दूर कर उनकी बुद्धि को प्रकाश (ज्ञान) से भर उज्ज्वल (तीव्र) बना दिया गया होता तो पढ़े-लिखे तोते को बिल्ली कैसे धर दबोचती । तोते के समान तीतर भी मूर्ख होता है । यदि वह जंगल में अपनी जीभ न खोलता अर्थात् आवाज न लगाता तो क्यों पकड़ा जाता ? वह किसलिए जोर-जोर से आवाज लगा-कर स्वयं ही अपने गले में फन्दा डलवा बैठता है । (तीतर का रंग मटमैला होता है, इसलिए वह दूर से दिखाई नहीं पड़ता । बहेलिये को उसकी उपस्थिति का पता उसके बोल उठने से ही लग जाता है ।) बहेलिया तो उसी दिन से हमारा प्राणलेवा शत्रु बन गया था जिस दिन हमारे पंख निकले थे और हमारा नाम पक्षी रखा गया था; अर्थात् पक्षी की योनि में जन्म लेने मात्र से ही बहेलिया अकारण हमारा शत्रु बन गया । अपने भोजन के प्रति अत्यधिक तृष्णा रखना ही हमारे सर्वनाश का प्रधान कारण, असली रोग है । हमारी दृष्टि सदैव अपने भोजन पर ही लगी रहती है । हम उसके पीछे छिपे हुए बहेलिये को नहीं देख पाते । हमारे इस लोभ ने ही हमारे

लिए यह विष भरा चारा डाला था और हमारे गर्व ने ही हमको मरवा डालना चाहा था। भाव यह है कि प्राणी अपने ही लोभ और अहंकार के कारण मारा जाता है। हम अपने भावी संकट से निश्चिन्त बने रहते हैं, तभी तो वह बहेलिया चुपचाप आकर छिप जाता है। यदि हम सतर्क रहते तो वह ऐसा नहीं कर पाता। इसलिए हम बहेलिये को दोष क्यों दें, यह तो हमारा अपना ही दोष है। बहेलिया तो हमारा जन्मजात शत्रु है ही।

वह अवगुण या बुरा काम क्यों किया जाय जिसके कारण अपने प्राणों से हाथ धोना पड़े। इसलिए हे पक्षिराज ! इस सम्बन्ध में अब कुछ भी कहना-सुनना व्यर्थ है। अब तो मौन रह जाना ही अच्छा है।

टिप्पणी—इस छन्द में जायसी इस सत्य पर प्रकाश डालना चाहते हैं कि प्राणी सदैव अपने लोभ और अहंकार के कारण ही मारा जाता है, यही दोनों अवगुण उसके सर्वनाश के प्रधान कारण बनते हैं।

६

रत्नसेन-जन्म खंड

(७५)

चित्रसेन चितउर गढ़ राजा। कै गढ़ कोट चित्र सम साजा ।।
तेहि कुल रतनसेन उजियारा। धनि जननी जनमा अस बारा ।।
पंडित गुनि सामुद्रिक देखा। देखि रूप और लखन बिसेखा ।।
रतनसेन यह कुल-निरमरा[1]। रतन-जोति मन माथे परा ।।
पदुम[2] पदारथ लिखी सो जोरी। चाँद सुरुज जस होइ अँजोरी ।।
जस मालति कहँ भौंर बियोगी। तस ओहि लागि होइ यह जोगी ।।
सिंघलदीप जाइ ओहि पावै। सिद्ध होइ चितउर लेइ आवै ।।
भोग भोज जस माना, बिक्रम साका कीन्ह।
परखि सो रतन पारखी, सबै लखन लिखि दीन्ह ।।१।।

शब्दार्थ—कै=बनवा कर, कर के। बारा=बालक। सामुद्रिक=सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञाता। बिसेखा=विशिष्ट। कुल-निरमरा=कुल को निर्मल (उज्ज्वल) करने वाला। मन=मणि। पदुम=पद्मावती की ओर संकेत है। अँजोरी=चाँदनी, प्रकाश। भोज=राजा भोज। बिक्रम=विक्रमादित्य। साका=पराक्रम, राजा विक्रमादित्य ने शक विजय के उपरान्त संवत्सर की स्थापना की थी, परन्तु यहाँ अभिप्राय अद्भुत एवं विलक्षण पराक्रम से है।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी चित्तौड़ में राजा रत्नसेन के जन्म होने तथा उसके सम्बन्ध में ज्योतिषियों द्वारा की गई भविष्यवाणी का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

चित्रसेन चित्तौड़गढ़ का राजा था। उसने अपना गढ़ बनवाकर उसके चारों ओर एक परकोटा (चहारदीवारी) खिचवाया और फिर दोनों को चित्र के समान सुन्दर रूप से सजा दिया। उसके कुल को रत्नसेन ने उज्ज्वल किया। वह जननी धन्य है जिसने ऐसे बालक को जन्म दिया। पंडितों ने बड़े ध्यान के साथ उसके सामुद्रिक अर्थात् शारीरिक लक्षणों को देखा। उन्होंने उसके रूप तथा उसके विशिष्ट

पाठ-भेद—१. कुल औतरा=कुल में अवतरित हुआ है। २. पदिक=माला के बीच में लगी रत्नजटित चौकी।

लक्षणों को देखा और फिर यह घोषणा की कि यह अपने कुल को उज्ज्वल करेगा। इसके ललाट पर रत्न और मणि की ज्योति जगमगा रही है। (सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार दमकता हुआ ललाट अमित भाग्य एवं यश का लक्षण माना जाता है।) (विधाता ने) पद्म (रत्नसेन) तथा पदार्थ (पद्मावती) की जोड़ी होना भाग्य में लिख दिया है। (जायसी ने सर्वत्र रत्नसेन को 'रत्न' तथा पद्मावती को 'पदारथ' कहा है। यहाँ 'पदुम' से अर्थ पद्म नामक रत्न से है।) इन दोनों की जोड़ी चन्द्र और सूर्य की सी जोड़ी होगी (जिनके प्रकाश से सारा संसार आलोकित हो उठेगा।) जैसे भौंरा मालती पुष्प का वियोगी बन इधर-उधर उसकी खोज में उड़ता रहता है, इसी प्रकार यह (रत्नसेन) उस पद्मावती के वियोग में योगी बन जायेगा। यह सिंहलद्वीप जाकर उसे प्राप्त करेगा और वहाँ से सिद्ध होकर; अर्थात् सफल-मनोरथ हो उसे चित्तौड़ ले आयेगा।

राजा भोज ने जिस प्रकार संसार का भोग करके यश प्राप्त किया था तथा राजा विक्रमादित्य ने जिस प्रकार अद्‌भुत पराक्रम दिखा कर गौरव पाया था, रत्न के पारखी पण्डितों ने अर्थात् सामुद्रिक शास्त्र के मर्मज्ञ पण्डितों ने रत्नसेन के लक्षणों को देखकर वैसा ही यश और भोग उसकी जन्मकुण्डली में लिख दिया।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—मुद्रालंकार। 'जस मालति····जोगी'—में उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(२) 'पण्डित गुनि सामुद्रिक देखा'—पंक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि पण्डितों, गुणियों तथा सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाताओं ने आकर रत्नसेन को देखा।

(३) पाँचवीं अर्द्धाली की पहली पंक्ति में, डा० गुप्त ने 'पदिक पदारथ लिखी सो जोरी'—पाठ मान कर अर्थ किया है—'पदिक और पदार्थ की जोड़ी इसकी जन्म-पत्री में लिखी हुई है।' उन्होंने 'पदिक' का अर्थ माला के बीच से नीचे की ओर लगने वाली रत्नजटित चौकी, तथा 'पदारथ' का अर्थ बहुमूल्य मणि माना है। परन्तु इससे कोई विशिष्ट और चमत्कारपूर्ण अर्थ नहीं निकलता, जैसा कि 'पदुम पदारथ' पाठ को स्वीकार करने से व्यंजित होता है।

७

बनिजारा-खंड

(७६)

चितउरगढ़ कर एक बनिजारा। सिंघलदीप चला बैंपारा॥
बाम्हन हुत एक निपट[1] भिखारी। सो पुनि चला चलत बैंपारी॥
ऋन काहू सन लीन्हेसि काढ़ी। मकु तहँ गए होई किछु बाढ़ी॥
मारग कठिन बहुत दुख भयऊ। नाँघि समुद्र दीप ओहि गएऊ॥
देखि हाट किछु सूझ न ओरा। सबै बहुत, किछु दीख न थोरा॥
पै सुठि ऊँच बनिज तहँ केरा। धनी पाव, निधनी मुख हेरा॥
लाख करोरिन्ह बस्तु बिकाई। सहसन केरि न कोहु ओहु ओनाई॥
सबहीं लीन्ह बेसाहना, और घर कीन्ह बहोर।
बाम्हन तहवाँ लेइ का ?, गाँठि साँठि सुठि थोर॥१॥

शब्दार्थ—हुत=था। काहूसन=किसी से। काढ़ी=लिया। मकु=शायद। बाढ़ी=बढ़ जायेगा। ओरा=अन्त। सुठि=सुन्दर। बनिज=वाणिज्य, व्यापार। बेसाहना=खरीद। बहोर=लौटना। साँठि=पूँजी। सुठि=बहुत। थोर=थोड़ी। ओनाई=सुनना।

व्याख्या—चित्तौड़गढ़ का एक बनजारा (व्यापारी) व्यापार करने के लिए सिंहलद्वीप के लिए चला। चित्तौड़गढ़ में एक अत्यन्त दीन-हीन भिखारी ब्राह्मण था। वह भी उस व्यापारी के रवाना होते ही उसके साथ चल पड़ा। उसने किसी से थोड़ा सा ऋण ले लिया। उसे आशा थी कि शायद सिंहल-द्वीप जाकर मैं इस धन द्वारा व्यापार कर इसमें थोड़ी सी वृद्धि कर सकूँ। रास्ता बहुत कठिन था। अतएव मार्ग में बहुत दुःख उठाने पड़े और अन्त में समुद्र को पार कर वे लोग सिंहलद्वीप पहुँच गए। वहाँ की हाट (बाजार) को देखकर वे चकित से रह गए। वह बाजार इतना लम्बा-चौड़ा था कि उन्हें कहीं उसका अन्त ही नहीं दिखाई पड़ा। वहाँ सारी वस्तुएँ बहुत अधिक मात्रा में बिक रहीं थीं। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं दिखाई पड़ी जो थोड़ी हो। परन्तु वहाँ का व्यापार अत्यन्त ऊँचे स्तर का था; अर्थात् वहाँ बड़े ऊँचे-ऊँचे सौदे होते थे। वहाँ धनी सब कुछ पा सकता था परन्तु निर्धन खड़ा मुँह देखता रहता था।

पाठ-भेद—१. नस्ट=जिसकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई हो।

भाव यह है कि वहाँ कोई वस्तु इतनी सस्ती नहीं थी कि कोई भी गरीब कुछ खरीद सकता। वहा वस्तुएँ लाखों-करोड़ों की कीमत की बिक रहीं थीं। हजारों का मोल लगाने पर तो वहाँ कोई बात भी नहीं सुनता था।

वहाँ पर सबने चीजें खरीदीं और फिर अपने-अपने घरों को लौट गए। वह निर्धन ब्राह्मण क्या खरीदता, क्योंकि उसकी गाँठ की जमा-पूँजी बहुत ही थोड़ी थी।

(७७)

झूरै ठाढ़ हौं, काहे क आवा ? बनिज न मिला, रहा पछितावा ।।
लाभ जानि आएउँ एहि हाटा। मूर गँवाइ चलेऊँ तेहि बाटा ।।
का मैं मरन-सिखावन सिखी। आएउँ मरै, मींचु हुति लिखी ।।
अपने चलत सो कीन्ह कुबानी। लाभ न देख, मूर भै हानी ।।
का मैं बोआ जनम ओहि भूँजी ?। खोइ चलेउँ घरहू कै पूँजी ।।
जेहि व्योहरिया कर व्यौहारू। का लेइ देव जौ छेंकिहि बारू ।।
घर कैसे पैठब मैं छूँछे। कौन उतर देवौं तेहि पूछे ।।
साथि चले, सँग बीछुरा[1], भए बिच समुँद पहार।
आस-निरासा हौं फिरौं, तू बिधि देहि अधार ।।२।।

शब्दार्थ—झूरै=विलाप करना। हाटा=हाट। मूर=मूलधन। बाटा=रास्ता, मार्ग। सिखी=सीख कर। हुति=थी। कुबानी=कुवाणिज्य, बुरा व्यापार। भै=हुई। भूँजी=भाड़ में भुनवा कर बीज बोया। व्योहरिया=महाजन (संस्कृत=व्यावहारिक)। व्यौहारू=ऋण। छेंकिहि=घेर लेगा। बारू=दरवाजा। पैठव=घुसूँगा। छूछै=खाली हाथ।

व्याख्या—वह दीन ब्राह्मण अपनी पूँजी को गँवा कर सिंहलद्वीप के बाजार में खड़ा इस प्रकार विलाप करने लगा—

अब मैं यहाँ व्यर्थ ही खड़ा रहा हूँ। मैं यहाँ आया ही क्यों था ? मैं कोई व्यापार न कर सका और पश्चात्ताप करता खड़ा रह गया। मैं लाभ की आशा से इस बाजार में आया था। परन्तु हुआ यह कि अपनी गाँठ की पूँजी ही गँवा बैठा। मैंने यह मरने की शिक्षा कैसी सीखी कि यहाँ आकर अपने-आप मृत्यु के मुख में पड़ गया। मेरे भाग्य में यहाँ आकर मरना ही लिखा था। अपना वश रहते तो मैंने कोई बुरा व्यवसाय नहीं किया था, परन्तु फिर भी मुझे लाभ न हुआ और गाँठ की पूँजी भी चली गई। क्या मैंने उस जन्म में बीजों को भाड़ में भुनवा कर बोया था ? (भुने हुए बीज बोये जाने पर उगते नहीं हैं), जिससे मैं अपने घर की पूँजी भी यहाँ खो बैठा। भाव यह है कि क्या मैंने उस जन्म में इतने पाप किए थे कि मुझे उसका परिणाम इस प्रकार भुगतना पड़ा। मैंने जिस महाजन से ऋण लिया था, वह

पाठ-भेद—१. सत बिचला=सत्त्व विचलित हो रहा है।

जब मेरे घर लौटने पर मेरा द्वार घेर कर बैठ जायेगा (तकाजा करेगा) तो मैं उसे क्या दूँगा ? मैं खाली हाथ अपने घर में कैसे घुस पाऊँगा ? जब वह महाजन मुझ से पूछेगा तो मैं उसे क्या उत्तर दूँगा ?

मेरे साथी चल दिए, मेरा संग-साथ बिछुड़ गया। मार्ग में पहाड़ और समुद्र हैं। मैं आशा और निराशा के चक्कर में पड़ा भटक रहा हूँ। हे विधाता ! तू ही सहारा दे।

(७८)

तबहिं ब्याध सुआ लेइ आवा। कँचन-बरन अनूप सुहावा ॥
बेंचै लाग हाट लै ओही। मोल रतन मानिक जहँ होही ॥
सूअहि को पूछ ? पतंग-मँड़ारे[1]। चल न, दीख आछै मन मारे ॥
बाम्हन आइ सुआ सौं पूछा। दहुँ, गुनवंत, कि निरगुन छूछा ? ॥
कहु परबत्ते ! गुन तोहि पाहाँ। गुन न छपाइय हिरदय माहाँ ॥
हम तुम जाति बराम्हन दोऊ। जातिहि जाति पूछ सब कोऊ ॥
पंडित हौ तौ सुनावहु बेदू। बिनु पूछे पाइय नहिं भेदू ॥

हौं बाम्हन औ पंडित, कहु आपन गुन सोइ।
पढ़े के आगे जो पढ़ै, दून लाभ तेहि होइ ॥२॥

शब्दार्थ—बेंचै लागि=बेचने लगा। पतग-मँड़ारे=चिड़ियों के मँड़रे या झाबे में। परबते=पक्षी, तोता। बेदू=वेद-शास्त्र। दून=दुगुना।

व्याख्या—जब वह ब्राह्मण वहाँ खड़ा इस प्रकार विलाप कर रहा था—

उसी समय वह बहेलिया (जिसने हीरामन को पकड़ा था), उस (हीरामन) तोते को लेकर वहाँ हाट में आ पहुँचा। वह तोता सोने के रंग का अत्यन्त अनुपम और दर्शनीय पक्षी था। वह व्याध उसे लेकर उस हाट में बेचने लगा जहाँ पर रत्नों और माणिक्यों का व्यापार होता था। ऐसे उस बाजार में उस तोते को कौन पूछता ? वह तोता बहेलिए की टोकरी में चुपचाप पड़ा, मन मानकर देख रहा था। उस ब्राह्मण ने आकर उस तोते से पूछा कि क्या तू गुणवान है अथवा गुणहीन और कोरा मूर्ख ही है ? हे तोते ! तुझ में जो गुण हों, उनका वर्णन कर। अपने गुणों को अपने हृदय में ही छिपा कर नहीं रखना चाहिए। हम तुम—दोनों ही जाति से ब्राह्मण हैं (पक्षियों में तोता ब्राह्मण अर्थात् विद्वान् माना जाता है)। जाति वाला हमेशा अपनी जाति वाले को ही पूछता हैं, अर्थात् उसके प्रति अनुरक्त होता है। यदि तू पण्डित (विद्वान्) है तो वेद सुना, क्योंकि बिना पूछे किसी का भेद या वास्तविकता नहीं जानी जा सकती।

पाठ-भेद—१. पतिग मँदारे=मन्द आचरण वाले इस पक्षी को।

मैं ब्राह्मण और पण्डित हूँ। इसलिए तू मुझे अपने गुणों के विषय में बता। जो व्यक्ति शिक्षित व्यक्ति के सामने बात करता है उसका दुगुना लाभ होता है; अर्थात् विद्वान के साथ वार्त्तालाप करने से अपने ज्ञान में वृद्धि होती है।

(७६)

तब गुन मोहि अहा, हो देवा ! । जब पिंजर हुत छूट परेवा ।।
अब गुन कौन जो बँदि, जजमाना । घालि मँजूसा बेचै आना ।।
पंडित होइ सो हाट न चढ़ा । चहौ बिकाय, भूलि गा पढ़ा ।।
दुइ मारग देखौं यहि हाटा । दई चलावै दहुँ केहि बाटा ।।
रोवत रकत भएउ मुख राता । तन भा पियर कहौं का बाता ? ।।
राते स्याम कंठ दुइ गीवाँ । तेहि दुइ फंद डरौं सुठि जीवाँ ।।
अब हौं कंठ फंद दुहुँ चीन्हा । दहुँ ए फन्द चाह का कीन्हा ? ।।
पढ़ि गुन देखा बहुत में, है आगे डरु सोइ ।
धुंध जगत सब जानि कै, भूलि रहा बुधि खोइ ।।४।।

शब्दार्थ—हुत=से। बेचै आना=बेचने के लिए लाया है। हाट न चढ़ा=हाट में बिकने नहीं आता। रात=लाल। पियर=पाला। गावा=गर्दन। सुठि=अधिक। चीन्हा=पहचाना। का कीन्हा=क्या करना। धुंध=अन्धकार।

व्याख्या—उस ब्राह्मण के प्रश्नों को सुनकर हीरामन तोता बोला—

हे ब्राह्मण देवता ! मेरे पास गुण तो उस समय था जब मैं पिंजड़े से मुक्त हो स्वच्छन्द बिहार करने वाला पक्षी था। अब मुझ में कौन-सा गुण हो सकता है, जब मेरे यजमान (बहेलिया) ने मुझे बन्दी बनाकर अपनी डलिया में बन्द कर रखा है, और यहाँ बाजार में बेचने के लिए ले आया है। जो पण्डित (विद्वान्) होता है, वह बाजार में बिकने के लिए नहीं आता। परन्तु अब इस बन्धन में पकड़कर मैं अपनी सारी विद्या भूल गया हूँ और चाहता हूँ कि कोई मुझे खरीद ले (जिससे इस बन्धन से मुक्ति पा सकूँ)। मूझे तो इस हाट में केवल दो ही मार्ग दिखाई पड़ते हैं। पता नहीं ईश्वर मुझे किस मार्ग पर चलायेगा ? भाव यह है कि मुझे कोई सज्जन खरीद लेगा तो मैं बच जाऊँगा। न बिकने पर यह बहेलिया मुझे मार कर खा जायेगा। इसी भय के कारण खून के आँसू रोते-रोते मेरा मुख लाल पड़ गया है और मेरा शरीर चिन्ता करते-करते पीला हो गया है। मैं अपने दुख की बात तुमसे क्या कहूँ। मेरी गर्दन में लाल और काली दो कंठियाँ हैं। मैं इन दोनों के फन्दों में पड़कर अपने सुन्दर जीवन के लिए भयभीत हो उठा हूँ कि ये दोनों मेरे गले की फाँसी न बन जायँ। अब मैंने अपनी इन दोनों कंठियों की असलियत को जान लिया है। न मालूम ये दोनों फन्दे क्या करना चाहते हैं।

मैंने इस संसार में पढ़ और समझ कर बहुत कुछ देखा है अब मुझे अपने

भविष्य के विषय में यही डर लग रहा है। मुझे सारे संसार में अन्धकार ही अन्धकार दिखाई पड़ता है और मैं सुध-बुध खोकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो उठा हूँ।

(८०)

सुनि बाम्हन बिनवा चिरिहारू। करि पंखिन्ह कहँ मया न मारू॥
निठुर होइ जिउ बधसि परावा। हत्या केर न तोहि डर आवा॥
कहसि पंखि का[1] दोस जनावा। निठुर तेइ जे परमँस खावा॥
आवहि रोइ, जात पुनि रोना। तबहुँ न तजहिं भोग सुख सोना॥
औ जानहिं तन होइहि नासू। पोखैं माँसु पराये माँसू॥
जौ न होंहि अस परमँस-खाधू। कित पंखिन्ह कहँ धरै बियाधू ?॥
जो व्याधा नित पंखिन्ह धरई। सौ बेचत मन लोभ न करई॥
बाम्हन सुआ बैसाहा, सुनि मति बेद गरंथ।
मिला आइ कै साथिन्ह, भा चितउर के पंथ॥५॥

शब्दार्थ—मया=दया। मारू=मार। परावा=दूसरे की। का=क्या। परमँस=पराया मांस। पोखैं=पोषण करता है। खादू=खाने वाला। वेसाहा= खरीद लिया।

व्याख्या—हीरामन तोते की ये बातें सुनकर ब्राह्मण ने उस बहेलिये से प्रार्थना की कि तू दया कर और इन पक्षियों को न मार। वे लोग निष्ठुर होते हैं जो पराये प्राणों का वध करते हैं। क्या तुझे हत्या के पाप का कोई भय नहीं लगता ? ब्राह्मण की यह बातें सुनकर हीरामन तोते ने कहा कि हे ब्राह्मण ! तुम इसको दोष क्यों देते हो। निष्ठुर तो वे लोग होते हैं जो पराया मांस खाते हैं। मनुष्य जब पैदा होता है तब रोता है और जब मरता है तब भी रोता है। जिसके जीवन का आदि-अन्त ही रोने से होता है—ऐसा वह मनुष्य जीवन की इस व्यर्थता को न समझ इतने पर भी सुख-भोग और सोने को नहीं त्यागता। वह इस बात को जानता है कि एक-न-एक दिन इस शरीर का नाश होना निश्चित है। फिर भी वह पराया मांस खा-खाकर अपने मांस को बढ़ाता रहता है। यदि इस संसार में पराया मांस खाने वाले अर्थात् मांस-भक्षी लोग न हों तो यह बहेलिया किनके लिए पक्षियों को पकड़ता फिरे। जो बहेलिया रोज पक्षियों को पकड़ता फिरता है, वह उन्हें दूसरों को बेच डालता है, स्वयं उन्हें खाने का लोभ नहीं करता। अतः असली अपराधी मांस-भक्षी लोग हैं, न कि यह बहेलिया।

ब्राह्मण ने तोते के इन विचारों तथा वेदादि ग्रन्थों के ज्ञान को सुन उसे खरीद लिया। इसके बाद वह अपने साथियों से जा मिला और चित्तौड़ के मार्ग पर रवाना हो गया।

पाठ-भेद—१. खाधुक मानवा=पक्षियों को खाने वाले मनुष्य।

टिप्पणी—(१) सूफी प्रेम-मार्गी होने के कारण अहिंसावादी होते हैं, इसलिए मांस-भक्षण के विरोधी भी। जायसी सूफी थे, इसी कारण उन्होंने इस छन्द में मांस-भक्षण का घोर विरोध करते हुए मांस-भक्षियों को पापी ठहराया है।

(२) पाठ-भेद के अनुसार तीसरी पंक्ति का यह अर्थ होगा—पक्षी (हीरामन) ने कहा कि मनुष्य पक्षियों का मांस खाने वाले होते हैं।

(८१)

तब लगि चित्रसेन सर साजा[1]। रतनसेन चितउर भा राजा॥
आइ बात तेह आगे चली। राजा बनिज आए सिंघली॥
हैं गजमोति भरी सब सीपी। और वस्तु बहु सिंघलदीपी॥
बाम्हन एक सुआ जेइ आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा॥
राते स्याम कंठ दुइ काँपा। राते डहन लिखा सब पाठा॥
औ दुइ नयन सुहावन राता। राते ठोर अमी-रस बाता॥
मस्तक टीका, काँध जनेऊ। कवि बियास, पंडित सहदेऊ॥
बोल अरथ सौं बोलै, सुनत सीस सब डोल।
राज-मँदिर महँ चाहिय, अस वह सुआ अमोल॥६॥

शब्दार्थ—सर साजा=चिता पर चढ़ गया, मर गया। डहन=डैने, पंख। पाठा=शीर्षक। ठोर=चोंच। बियास=व्यास। सहदेऊ=सहदेव। अरथ सौं=अर्थ-गर्भित।

व्याख्या—तब तक राजा चित्रसेन चिता पर चढ़ कर स्वर्ग सिधार गया, मर गया और रत्नसेन चित्तौड़ के राज-सिंहासन पर बैठा। लोगों ने उसके सामने इस बात की चर्चा चलाई कि हे राजा ! हमारे सिंहलद्वीप गए व्यापारी लौट आए हैं। उनके पास सारी सीपियाँ ऐसी हैं जो गज-मुक्ताओं से भरी हुई हैं। इसके अतिरिक्त उनके पास सिंहलद्वीप की अन्य प्रकार की बहुत सी वस्तुएँ भी हैं। एक ब्राह्मण एक ऐसा तोता लाया है जिसका रंग स्वर्ण के समान है। यह तोता देखने में अत्यन्त सुन्दर और अद्भुत है। उसके लाल रंग के कण्ठ में दो कण्ठियाँ हैं। उसके पंख भी लाल रंग के हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं—मानो उन पर लाल अक्षरों में नीतिपरक वाक्य या शीर्षक लिखे हुए हों। भाव यह है कि वह तोता पूर्ण नीतिज्ञ तथा विद्वान् है। उसके दोनों लाल नेत्र बड़े सुहावने लगते हैं। वह अपनी लाल चोंच से अमृत के समान मीठी-मीठी बातें कहता है। उसके मस्तक पर टीका तथा कन्धे पर जनेऊ है। वह व्यास के समान श्रेष्ठ कवि तथा सहदेव के समान विद्वान् है।

पाठ-भेद—१. सिव साजा=शिव-लाभ प्राप्त किया, मर गया।

वह जो वाक्य बोलता है वे अर्थ-गर्भित होते हैं। वाक्यों को सुन, सब लोग प्रभावित हो, सिर हिलाने लगते हैं। ऐसा अमूल्य तोता तो राजमहल में ही रहने योग्य है।

टिप्पणी—(१) 'पाठा' शब्द से तात्पर्य नीतिपरक और धर्मपरक उपदेशों के शीर्षकों से लिया जाता है जो लाल स्याही से लिखे जाया करते थे। तोते के पंखों का लाल होना ऐसा प्रतीत हो रहा था—मानो उस पर ऐसे शीर्षक लिखे गए हों।

(२) पांडवों में सहदेव अपनी विद्वत्ता के लिए सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे।

(८२)

भैं रजाइ जन दस दौराए[1]। बाम्हन सुआ बेगि लेइ आए॥
बिप्र असीस बिनति औधारा। सुआ जीउ नहिं करौं निनारा॥
पैं यह पेट महा बिसवासी। जेइ सब नाव तपा सन्यासी॥
डासन सेज जहाँ किछु नाहीं। भुइँ परि रहै लाइ गिउ बाहीं॥
आँधर रहे, जो देख न नैना। गूँग रहै, मुख आव न बैना॥
बहिर रहै, जो स्रवन न सुना। पैं यह पेट न रह निरगुना॥
कै कै फेरा निति[2] यह दोखी। बारहिं बार फिरै, न सँतोखी॥
सो मोहिं लेइ मँगावैं, लावैं भूख पियास।
जौ न होत अस बैरी, केहु न केहु कैं आस॥७॥

शब्दार्थ—रजाइ=राजाज्ञा। औधारा=रखी, प्रस्तुत की। निनारा=अलग। बिसवासी=विश्वासघाती। नाव=नवा देता है, झुका देता है। डासन=बिछौना। परि=सो रहता है। निरगुना=गुणहीन। बारहिं बार=दरवाजे-दरवाजे। केहु=कोई।

व्याख्या—राजा की आज्ञा हुई और उस ब्राह्मण और तोते को लाने के लिए दस लोग दौड़ाए गए कि तुरन्त जाकर लाओ। वे लोग शीघ्र ही ब्राह्मण और तोते को ले आए। ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद दिया और फिर उसके सम्मुख अपनी यह प्रार्थना रखी कि यह तोता मेरे लिए प्राणों के समान प्रिय है। मैं इसे अपने से अलग नहीं कर सकूँगा। परन्तु यह पेट बड़ा विश्वासघाती है, जिसने सारे तपस्वियों और संन्यासियों को अपने सम्मुख झुका दिया है; अर्थात् सारे तपस्वी और संन्यासी भी इस पेट के कारण भटकते फिरते हैं। यदि सोने के लिए बिस्तर और पलंग आदि कुछ भी न हो तो जमीन पर परस्पर गलबहियाँ डाल सो जाते हैं। जिसके देखने के लिए नेत्र नहीं होते वह अंधा ही रह लेता है, जो मुख से बोल नहीं पाता वह गूँगा रहकर ही जीवन बिता देता है। जो कानों से नहीं सुन पाता वह बहरा ही बना

पाठ-भेद—१. भई रजाएसु जन दौराए। २. अन्त बहु दोषी।

रहता है परन्तु यह पेट ऐसा है जो अपने गुण या क्रिया के विना नहीं रह सकता। भाव यह है कि आँख, जीभ, कान आदि इन्द्रियाँ मानव-शरीर में स्थित रहते हुए भी अपने स्वाभाविक गुण और क्रिया को त्याग देती हैं, परन्तु यह पेट अपने भूख और प्यास के गुण और क्रिया को नहीं छोड़ता; अर्थात् पेट होने पर भूख और प्यास लगती ही है। यह पापी पेट नित्य मनुष्य को न मालूम कितने चक्कर लगवाता है, वह दरवाजे-दरवाजे माँगता फिरता है फिर भी इसे सन्तोप नहीं होता।

यह पापी पेट मुझे द्वार-द्वार माँगने के लिए विवश करता है, यही भूख और प्यास उत्पन्न करता है। अगर पेट के समान मनुष्य का दुश्मन न होता तो इस संसार में कोई किसी की आशा ही क्यों करता। भाव यह है कि मनुष्य इस पेट के कारण ही भिक्षा माँगने को दूसरों से सहायता लेने को विवश हो जाता है।

(८३)

सुआ असीस दीन्ह बड़ साजू। बड़ परताप अखंडित राजू॥
भागवंत विधि बड़ औतारा। जहाँ भाग तहँ रूप जोहारा॥
कोइ केहु पास आस कै गौना। जो निरास डिढ़ आसन मौना॥
कोइ बिनु पूछे बोल जो बोला। होइ बोल माँटी के मोला॥
पढ़ि गुनि जानि वेद-मति भेऊ। पूछे बात कहैं सहदेऊ॥
गुनी न कोई आपु सराहा। जो बिकाइ, गुन कहा सो चाहा॥
जौ लगि गुन परगट नहिं होई। तौ लगि मरम न जानै कोई॥
चतुरवेद हौं पंडित, हीरामन मोहिं नावँ।
पदमावति सौं मेरवौं, सेव करौं तेहि ठावँ॥८३॥

शब्दार्थ—बड़ साजू=वड़ा ठाट-बाट हो। गौना=जाता है। डिढ़=दृढ़ होकर। मौना=मौन, मूक। भेऊ=भेद। मेरवौं=मिलाऊँ।

व्याख्या—हीरामन तोते ने राजा को आशीर्वाद दिया कि हे राजा! तेरा ठाट-बाट बढ़े, तेरा प्रताप बढ़े और तेरा राज्य अखंडित रहे। ईश्वर ने तुझे बड़ा भाग्यवान बनाकर इस पृथ्वी पर भेजा है। जहाँ भाग्य होता है, वहाँ सौन्दर्य स्वयं उसके सामने जुहार करता है। भाव यह है कि तू वड़ा भाग्यवान और सौन्दर्यशाली है। कोई जब किसी के पास जाता है तो कोई-न-कोई आशा लेकर ही जाता है परन्तु जो निराश अर्थात् आशा रहित होता है (जो पूर्ण परमहंस होता है) वह अपने आसन पर दृढ़ होकर मौन साधे बैठा रहता है। भाव यह है कि आशा-निराशा से मुक्त परमहंस किसी के भी पास नहीं जाता। जो बिना पूछे ही बोलने लगता है, उसकी वाणी का मोल मिट्टी के बराबर अर्थात् कुछ भी नहीं होता। जो व्यक्ति पढ़ और समझ कर, वेद और स्मृति के भेदों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह जब पूछी हुई बात का उत्तर देता है तो सहदेव के समान होता है; अर्थात् ऐसा व्यक्ति ही पूर्ण ज्ञानी माना जाता है। कोई भी गुणी व्यक्ति अपने आप अपनी प्रशंसा नहीं करता। परन्तु

जो विकने के लिए बाजार में जाता है तो ऐसी स्थिति में वह अपने गुणों के सम्बन्ध में कहना ही चाहेगा, क्योंकि विना स्वयं कहे जब तक उसके गुण प्रकट नहीं होंगे, उसे कोई भी नहीं खरीदेगा और न उसके मर्म को ही कोई समझ सकेगा।

(मैं चूँकि यहाँ विकने के लिए आया हूँ, इसलिए मुझे अपने गुण स्वयं अपने ही मुख से बिना तेरे पूछे ही कहने पड़ रहे हैं।) मैं चारों वेदों का ज्ञाता हूँ। मेरा नाम हीरामन है। मैं पद्मावती के साथ तेरा मिलन करवा दूँगा, क्योंकि पहले मैं उसी की सेवा करता था; अर्थात् उसी के पास रहता था।

टिप्पणी—हीरामन तोता विद्वान् था। इसलिए उसे इस बात का बड़ा दुख होता था कि उसे बार-बार वेचा जाता है। छन्द संख्या ७९ में भी उसने इस बात के प्रति दुःख प्रकट किया है—"चहों विकाय, भूलि गा पढ़ा।" विद्वान् का जब सम्मान नहीं होता तो उसे बड़ी आन्तरिक वेदना पहुँचती है। यह-लोक-व्यवहार की बात है। जायसी ने यहाँ हीरामन के माध्यम से इसी लोक-सत्य की मार्मिक व्यंजना की है।

(८४)

रतन हीरामन चीन्हा। एक लाख बाम्हन कहँ दीन्हा।
बिप्र असीस जो कीन्ह पयाना। सुआ सो राजमँदिर महँ आना।।
बरनौं काह सुआ कै भाखा। धनि सो नावँ हीरामन राखा।।
जो बोलै राजा मुख जोवा। जानौ मोतिन हार परोवा।।
जौ बोलै तो मानिक मूँगा। नाहिं त मौन बाँध रह गूँगा।।
मनहुँ मारि मुख अमृत मेला। गुरु होइ आप, कीन्ह जग चेला।।
सुरुज चाँद कै कथा जो कहेऊ। पेम क कहनि लाइ चित गहेऊ।।
जो जो सुनै धुनै सिर, राजहिं प्रीति अगाहु।
अस गुनवन्ता नाहिं भल, सुअटा बाहर करिहै काहु ।।९।।

शब्दार्थ—पयाना=प्रयाण किया, चला। जोवा=देखता था। परोवा=गूँथ रहा हो। बाँध=साध। मारि=बहुत सा। पेम क=प्रेम की। अगाहु=अनुभूति।

व्याख्या—राजा रत्नसेन ने हीरामन तोते के वास्तविक महत्त्व को पहचान लिया कि यह तो गुणी है। इसलिए उसने ब्राह्मण को एक लाख (मुद्राएँ) देकर उसे खरीद लिया। ब्राह्मण राजा को आशीष देता हुआ विदा हो गया, इधर तोते को लाकर राजमहल में रखा गया। जायसी कहते हैं कि मैं उस तोते की वाणी का क्या वर्णन करूँ। वह व्यक्ति धन्य है जिसने उसका नाम हीरामन रखा था। जब वह बोलता था तो राजा (अभिभूत) हो उसका मुख ही देखता रह जाता था। वह चुन-चुन कर ऐसे सुन्दर वचन बोलता था मानो मोतियों का हार पिरो रहा हो। जब वह बोलता था तो ऐसा प्रतीत होता था—जैसे उसके मुख से माणिक्य और मूँगे झर रहे हों

और नहीं तो मौन साधकर गूँगा हो चुपचाप बैठा रहता था। उसकी वाणी इतनी मधुर थी, मानो उसके मुँह में बहुत सा अमृत घोल दिया गया हो। वह स्वयं गुरु होना चाहता था और सारे संसार को अपना चेला बनाना चाहता था। भाव यह है कि उसकी वाणी में उपदेश भरा रहता था। उसने जो 'सूर्य और चन्द्रमा की कथा कही तो उस प्रेम-कहानी को राजा ने मन लगाकर ग्रहण किया, सुना। जिस-जिस ने तोते के द्वारा कही गई उस प्रेम-कहानी को सुना वही-वही अपने सिर को धुनने लगा, अर्थात् उससे पूर्ण रूपेण प्रभावित हो उठा और उसे सुनकर राजा को प्रेम की अनुभूति होने लगी। यह देखकर कुछ लोगों ने कहा कि ऐसा गुणवान तोता अच्छा नहीं है, क्योंकि यह किसी को भी पागल (प्रेम-विह्वल) बना सकता है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'जानौ····परोवा'—में उत्प्रेक्षा अलंकार।

(२) इस छन्द से जायसी अपनी कथा के मुख्य उद्देश्य पर आ जाते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य था—इस कथा के माध्यम से सूफी प्रेम-मार्ग की व्यंजना करना। यहाँ से उसका प्रारम्भ हो जाता है। तोता गुरु है, रत्नसेन साधक है। साधक गुरु को पहचान लेता है। गुरु प्रेम-कहानी का वर्णन कर साधक के चित्त में प्रेम की अनुभूति उत्पन्न करता है। गुरु के वाक्य रत्नों के समान अनमोल होते हैं। साधक मन लगाकर उन्हें सुनता है और अन्त में प्रेम-कहानी सुन प्रेम-विह्वल हो पागल सा हो उठता है। प्रेम के प्रति यह गहन आकर्षण ही साधक को प्रेम-मार्ग पर आगे बढ़ाता है। प्रेम का मतवालापन ही इस मार्ग का एकमात्र सम्बल होता है।

८

नागमती-सुआ-संवाद-खंड

(८५)

दिन दस पाँच तहाँ जो भए। राजा कतहुँ अहेरैं गए ॥
नागमती रुपवंती रानी। सब रनिवास पाट-परधानी ॥
कै सिंगार कर दरपन लीन्हा। दरसन देखि गरब जिउ कीन्हा ॥
भलेहिं सो और पियारी-नाहाँ। मोरे रूप कोइ जग माहाँ ? ॥
हँसत सुआ पहँ आइ सो नारी। दीन्ह कसौटी ओपनिवारी[१] ॥
सुआ बानि कसि कहु कस सोना। सिंघलदीप तोर कस लोना ? ॥
कौन रूप तोरी रुपमनी। दहुँ हौं लोनि, कि वै पदमिनी ॥
जो न कहसि सत सुअटा, तोहि राजा कै आन।
है कोई एहि जगत महँ, मोरे रूप समान ॥ १ ॥

शब्दार्थ—अहेरैं=शिकार के लिए। पाट-परधानी=पटरानी। ओपनिवारी=चमकने वाली। कसि=कसौटी पर कस कर। आन=शपथ।

व्याख्या—तोते को जब वहाँ रहते हुए कुछ दिन (दस-पांच दिन) बीत गए तो एक दिन राजा रत्नसेन शिकार खेलने के लिए कहीं चला गया। उसकी नागमती नामक एक रूपवती रानी थी। वह सारे रनिवास की पटरानी थी। उसने शृंगार कर दर्पण हाथ में लिया और उस दर्पण में अपने रूप के दर्शन कर मन में गर्व से फूल उठी। राजा को भले ही अन्य रानियाँ प्रिय हों, परन्तु इस संसार में क्या रूप में कोई मेरे समान है ? ऐसा सोचकर वह हँसती हुई तोते के पास आई और उसके सम्मुख अपने रूप की चमकती हुई कसौटी रख दी। भाव यह है कि नागमती अपने रूप को ही संसार में सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे ही संसार के सम्पूर्ण रूपों की कसौटी मानती थी। उसने तोते से कहा कि हे तोते ! मेरे इस रूप को अपनी कसौटी पर कस कर बता कि यह किस बान (वर्ण) का सोना है, अर्थात् मेरा रूप कैसा है ? और तेरे सिंहलद्वीप का सौन्दर्य कैसा है ? तेरी रूपवती का रूप कैसा है ? यह बता कि मैं अधिक सुन्दर हूँ या वह पद्मिनी ?

हे तोते ! यदि तू सत्य बात न कहेगा तो तुझे राजा की शपथ है। यह बता कि इस संसार में क्या कोई नारी मेरे समान रूपवती है।

पाठ-भेद—१. औ बनवारी=वर्ण-मालिका, सोने को परखने का साधन।

टिप्पणी—(१) इस छन्द की चतुर्थ पंक्ति के प्रथम अंश का पाठ शुक्लजी ने इस प्रकार दिया है—'बोलहु सुआ पियारे-नाहाँ।' यहाँ इसका अर्थ होगा कि 'हे स्वामी के प्रिय तोते ! बताओ।' परन्तु पाँचवीं पंक्ति में पुनः यह पाठ है कि—'हँसत सुआ पहँ आइ सो नारी।' अर्थात् वह नारी हँसती हुई तोते के पास आई। इस प्रकार नागमती द्वारा प्रारम्भ किया गया वाक्य अकस्मात् बीच में टूट जाता है और फिर छठी पंक्ति में आकर पुनः प्रारम्भ होता है। यह असंगत प्रतीत होता है। इसी कारण हमने डा० गुप्त द्वारा दिया गया पाठ—'भलेहिं सो और पियारी-नाहाँ।' अपनाया है। उसे स्वीकार कर लेने से अर्थ की संगति बैठ जाती है।

(२) पाठ-भेद में आए 'बनवारी' शब्द का अर्थ हैं—वर्ण-मालिका। पुराने जमाने में सोने का वर्ण परखने के लिए विभिन्न शलाकाओं में विभिन्न वर्ण—खरेपन—का सोना लगा कर रख लेते थे जिन पर उनका वर्ण भी अङ्कित था और जब किसी सोने का वर्ण आँकना होता था, कसौटी पर उसकी रेखाएँ खींचकर तथा ज्ञात वर्ण की शलाकाओं की रेखाएँ खींचकर और उनका मिलान कर यह आँक लेते थे कि वह सोना किस वर्ण का है। इन्हीं शलाकाओं को 'बनवारी' अर्थात् वर्णवाली कहते थे। अकबर के युग में सरकारी टकसालों में इनका प्रयोग किया जाता था।

(८६)

सुमिरि रूप पदमावति केरा। हँसा सुआ, रानी मुख हेरा॥
जेहि सरवर महँ हंस न आवा। बगुला तेहि सर हंस कहावा॥
दई कीन्ह अस जगत अनूपा। एक एक तें आगरि रूपा॥
कै मन गरब न छाजा काहू। चाँद घटा औ लागेउ राहू॥
लोनि बिलोनि तहाँ को कहै। लोनी सोई कंत जेहि चहै॥
का पूछहु सिंघल कै नारी। दिनहिं न पूजै निसि अँधियारी॥
पुहुप सुवास तो तिन्ह कै काया। जहाँ माथ का बरनौं पाया ?॥
गढ़ी सो सोने सोंधैं, भरी सो रूपै भाग।
सुनत रूखि भइ रानी, हिये लौन अस लाग॥२॥

शब्दार्थ—सुमिरि=स्मरण करके। आगरि=श्रेष्ठ। रूपा=सौन्दर्य। छाजा=शोभा देना। लोनि-बिलोनि=सुन्दर-असुन्दर। पूजै=समानता करना। पाया=पैर। सोंधे=सुगन्धित। रूखि=रुष्ट।

व्याख्या—नागमती की यह गर्वोक्ति और प्रश्न सुन तोता पद्मावती के रूप का स्मरण कर रानी नागमती के मुख की ओर देख हँस पड़ा और बोला यह कहावत सत्य है कि जिस सरोवर में हंस क्रीड़ा करने नहीं आते, उस सरोवर में बगुले को ही हंस कहा जाता है। विधाता ने इस जगत को ऐसा अनुपम बनाया है कि इसमें एक-से एक बढ़कर रूप भरे पड़े हैं। अपने मन में गर्व करना किसी को भी शोभा नहीं देता। चन्द्रमा ने अपने रूप पर गर्व किया था। परिणामस्वरूप वह दिन-प्रतिदिन क्षीण होता

चला जाता है और उसे राहु ग्रस लेता है (ग्रहण लग जाता है)। ऐसे इस संसार में सुन्दरी और असुन्दरी किसे कहा जाय ? सुन्दरी वही है जिसे उसका स्वामी चाहे। तुम सिंहल की नारियों के विषय में क्या पूछती हो। जिस प्रकार अन्धकार से भरी रात्रि उज्जवल प्रकाश से परिपूर्ण दिवस की समता में नहीं ठहर सकती उसी प्रकार संसार की अन्य नारियाँ सिंहलद्वीप की नारियों के सम्मुख सुन्दरता में नहीं ठहर सकतीं। सिंहल की उन नारियों के शरीर से पुष्पों की सुगन्ध आती है (पद्मिनी नारी के शरीर से कमल की सुगन्ध आती है, ऐसा लोक-विश्वास है)। जहाँ मस्तक का वर्णन हो रहा हो वहाँ मैं पैरों का क्या वर्णन करूँ; अर्थात् सिंहल की नारियाँ मस्तक के समान श्रेष्ठ तथा अन्य नारियाँ उनकी तुलना में पैरों के समान हेय हैं।

सिंहल की नारियों को विधाता ने सुगन्धित सोने से गढ़ा है और वे सौन्दर्य और सौभाग्य से भरपूर हैं। तोते के इन वचनों को सुन रानी नागमती रुष्ट हो गई और उसे ऐसी जलन हुई जैसे हृदय में नमक लग गया हो, अर्थात् किसी ने घाव पर नमक छिड़क दिया हो।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उपमा और द्रष्टान्त।

(२) इस छन्द में जायसी ने कई लोकोक्तियों का अत्यन्त सुन्दर काव्यात्मक प्रयोग किया है; जैसे—'जेहि सरवर·······हंस कहावा', तथा 'लोनि बिलोनि····जेहि चाहै' आदि।

(८७)

जौ यह सुआ मँदिर महँ रहई। कबहुँ बात राजा सौं कहई॥
सुनि राजा पुनि होइ वियोगी। छाँड़ै राज, चलै होइ जोगी॥
बिख राखिय नहिं, होइ अँकूरू। सबद न देइ भोर[1] तमचूरू॥
धाय दामिनी बेगि हँकारी। ओहि सौंपा हीये रिस भारी॥
देखु, सुआ यह है मँदचाला। भएउ न ताकर जाकर पाला॥
मुख कह आन, पेट बस आना। तेहि औगुन दस हाट बिकाना॥
पंखि न राखिय होइ कुभाखी। लेइ तहँ मारु जहाँ नहिं साखी॥
जेहि दिन कहँ मैं डरति हौं, रैनि छपावौं सूर।
लै चह दीन्ह कवँल कहँ, मोकहँ होइ मयूर॥३॥

शब्दार्थ—अहई=रहेगा। अँकूरू=अंकुर। तमचूर=ताम्रचूड़, मुर्गा। हँकारी=बुलाया। मँदचाला=मन्द चाल वाला, कुचाली। छपावौं=छिपा लेती हूँ। सूर=सूर्य। चह=चाहती है।

व्याख्या—तोते की बातें सुनकर नागमती ने मन में सोचा कि यदि यह तोता राजमहल में रहेगा तो एक-न-एक दिन राजा से इस बात को कह देगा। राजा इसकी

पाठ-भेद—१. बिरह=विरह के आगमन, उत्पन्न होने की सूचना देगा।

इन बातों को सुनकर विरह में वियोगी हो जायेगा और राज्य को त्याग योगी बन चला जायेगा। विष के पौधे को कभी अपने पास नहीं रखना चाहिए—भले ही अभी उसमें अंकुर ही क्यों न फूटा हो। यह तोता मेरे लिए विष के पौधे के समान है। भले ही अभी बात आगे नहीं बढ़ी है परन्तु यह एक-न-एक दिन मेरे जीवन में अवश्य जहर घोल देगा। मुझे भय है कि यह तोता रूपी मुर्गा कहीं मेरे मोहपाश की रात्रि के अंधकार में सोते हुए राजा को पद्मावती रूपी प्रभात के आगमन की सूचना देते हुए बाँग न दे बैठे कि हे राजा! देख, रात्रि समाप्त हुई। दिन की ओर देख। इतना सोचकर उसने दौड़कर दामिनी नामक दासी को बुलाया और हृदय में अत्यन्त क्रुद्ध हो तोते को उसे सौंप दिया और कहा कि ए दासी! देख, यह तोता बड़ा कुचाली है। यह उसका भी नहीं हुआ जिसने (अर्थात् पद्मावती ने) इसे पाला था। यह मुख से कुछ कहता है और इसके पेट में कुछ और ही बात रहती है; अर्थात् यह कपटी और धूर्त है। अपने इसी अवगुण के कारण यह बाजार-बाजार बिकता फिरा है। भाव यह है कि इसे किसी ने भी अपने पास रखना उचित नहीं समझा। अगर पक्षी बुरी वाणी बोलने वाला हो तो उसे कभी अपने पास नहीं रखना चाहिए। ऐसे पक्षी को तो ले जाकर ऐसे स्थान पर मारना, जहाँ कोई दूसरा देखने वाला गवाह तक न हो।

मैं जिस दिन के लिए डरती रहती हूँ और रात को सूर्य को छिपाकर रखती हूँ; अर्थात् राजा रत्नसेन रूपी सूर्य को अपने सौन्दर्य रूपी मोहपाश की रात्रि के अन्धकार में छिपाये रखती हूँ, उसे यह (तोता), कमल अर्थात् पद्मावती को ले जाकर देना चाहता है और मेरे लिए मोर (शत्रु) बन रहा है। (यहाँ 'नागमती' से नाग की व्यंजना है। मोर नाग का स्वाभाविक शत्रु होता है। अतः यह तोता उसी प्रकार नागमती का शत्रु है जिस प्रकार मोर साँप का। सूर्य रत्नसेन है और पद्मावती कमल। सूर्य और कमल में स्वाभाविक प्रेम होता है। इसलिए नागमती को भय है कि यह तोता कहीं प्रभात होने की बाँग देकर उसके मोहपाश में सोये हुए सूर्य को न जगा दे। ऐसा हो जाने पर कमल खिल उठेगा; अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती आपस में मिल जायेंगे।)

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपकातिशयोक्ति तथा श्लेष।

(२) गुरु जब नागमती (रात्रि, माया) के मोहपाश में पड़े साधक (रत्नसेन) जो ज्ञान प्रदान करता है तो वह उस ईश्वर के प्रेम में मतवाला हो, उसकी खोज में निकल पड़ता है। इसी कारण माया सदैव गुरु की विरोधिनी रहती है।

(८८)

धाय सुआ लेइ मारै गई। समुझि गियान हिये मति भई॥
सुआ सो राजा कर बिसरामी। मारि न जाइ चहै जेहि स्वामी॥
यह पंडित खंडित बैरागू। दोष ताहि जेहि सूझ न आगू॥
जो तिरिया[1] के काज न जाना। परै धोख पाछे पछिताना॥

पाठ-भेद—१. तिवान=स्त्री।

नागमती नागिनि-बुधि ताऊ। सूआ मयूर होहि नहिं काऊ ॥
जो न कंत के आयसु माहीं। कौन भरोस नारि कै वाही ? ॥
मकु यह खोज होइ निसि आए। तुरय-रोग हरि माथे जाए ॥
दुइ सो छपाए ना छपै, एक हत्या एक पाप।
अंतहि करहिं बिनास लेइ, सेइ साखी देइँ आप ॥४॥

शब्दार्थ—मारै=मारने के लिए। विसरामी=मनोरंजन की वस्तु, मन को विश्राम (आनन्द) देने वाला। खंडित बैरागू=जिसका वैराग्य (तपस्या) खंडित हो गया है। आगू=भविष्य। नागिनि-बुधि=सर्पिणी जैसी बुद्धि वाली, घातक। तुरय-रोग=घोड़े की बीमारी। हरि-माथे=बन्दर के माथे।

व्याख्या—नागमती की आज्ञा पाकर दासी तोते को मारने के लिए ले चली। परन्तु सोच-समझ कर उसके हृदय में यह बुद्धि उत्पन्न हुई कि यह तोता राजा का मनोरंजन करने वाला है। जिसे स्वामी चाहता हो उसे मारा नहीं जा सकता, (क्योंकि ऐसा हो जाने पर स्वामी नाराज हो जाता है)। यह तोता तो पूर्वजन्म का कोई पंडित है जिसकी वैराग्य-साधना खंडित हो जाने पर इसे इस जन्म में तोता होना पड़ा। संसार हमेशा उसे ही दोष देता है जो भविष्य की बात नहीं सोच पाता। जो व्यक्ति स्त्री के त्रिया-चरित्र को नहीं समझ पाता वह धोखा खाता है और पीछे पछ-ताता है। नागमती एक तो स्त्री है, और उस पर उसकी बुद्धि सर्पिणी के समान कुटिल है। वह जो तोते को अपना शत्रु समझती है, यह उसका भ्रम है। तोता किसी के लिए मयूर अर्थात् शत्रु नहीं बन सकता। जो नारी अपने पति की आज्ञा में नहीं रहती, ऐसी नारी का क्या भरोसा किया जा सकता है। भाव यह है कि नागमती अपने पति के साथ छल कर रही है, क्या भरोसा कि वह मेरे साथ छल नहीं करेगी; अर्थात् तोते को मारने का सारा दोष मेरे सिर नहीं मढ़ देगी। सम्भव है कि रात होने पर जब राजा लौट आयेगा तो इस तोते की ढूँढ़-खोज मचे। उस समय वही मसल होगी कि घोड़ों का रोग बन्दर के माथे मढ़ा जायेगा; अर्थात् तवेले की बला बन्दर के सिर पड़ेगी। भाव यह है कि अपराधी कोई होगा, दंड किसी और को मिलेगा।

इस संसार में दो बातें छिपाने से भी नहीं छिप सकतीं—एक हत्या और दूसरा पाप। अन्त में ये ही इन्हें करने वाले के विनाश का कारण बन जाती हैं और स्वयं ही उसके अपराध की साक्षी देने लगती हैं। इसलिए मेरे द्वारा की जाने वाली यह हत्या भी छिप न सकेगी।

टिप्पणी—(१) इस छन्द में जायसी ने कई लोकोक्तियों का बड़ा सुन्दर और सार्थक प्रयोग किया गया है, जैसे—

'मारि न जाइ, चहै जेहि स्वामी।'
'जो तिरिया के······पछिताना।'

'जो न कन्त……कै वाही।'
'दुई सो………देइँ आप।'

(२) यह लोक-विश्वास है कि जब घोड़ों को कोई रोग हो जाता है तो उनकी घुड़साल में बन्दरों को लाकर बाँध दिया जाता है। ऐसा करने से घोड़ों का रोग बन्दरों पर चला जाता है और घोड़े नीरोग हो जाते हैं।

(८९)

राखा सुआ, धाय मति साजा। भएउ खोज निसि आएउ राजा॥
रानी उतर मान सौं दीन्हा। पंडित सुआ मजारी लीन्हा॥
मैं पूछा सिंघल पदमिनी। उतर दीन्ह तुम्ह, को नागिनी ?॥
वह जस दिन, तुम निस अँधियारी। कहाँ बसन्त, करील क बारी॥
का तोर पुरुष रैनि कर राऊ। उलू न जान दिवस कर भाऊ॥
का वह पंखि कूट मुँह कूटे। अस बढ़ बोल जीभ मुख छोटे॥
जहर चुवै जो जो कह बाता। अस हतियार लिए मुख राता[1]॥
माथे नहिं बैसारिय, जौ सुठि सुआ सलोन।
कान टुटै जेहि पहिरे, का लेई करब सो सोन ?॥५॥

शब्दार्थ—मति साजा=विचार करके। भाऊ=भाव, महत्त्व। कूट=काल-कूट, विष। कूट=कूट-कूट कर। हतियारा=हत्यारा। बैसारिय=बैठाना चाहिए।

व्याख्या—यह सोच-विचार कर दासी ने उस तोते को छिपा लिया। जब रात होने पर राजा लौट कर आया तो उस तोते की ढूँढ़-खोज होने लगी। रानी नागमती ने बड़े मान के साथ उत्तर दिया कि उस पंडित तोते को बिल्ली ले गई। मैंने उससे पूछा था कि सिंहलद्वीप की पद्मिनी कैसी है तो उसने उत्तर दिया कि उसकी तुलना में तू नागिन क्या चीज है। वह दिन के समान है और तू अन्धकार पूर्ण रात के। कहाँ वसन्त ऋतु और कहाँ करील की नंगी झाड़ी ! (अर्थात् पद्मिनी वसन्त के समान सुन्दर है और नागमती करील की झाड़ी के समान कुरूप।) और तेरा पुरुष (पति) ही क्या है ? वह रात के राजा उल्लू के समान है। उल्लू दिन की कीमत (महत्त्व) नहीं जानता। वह पक्षी कैसा था कि उसके मुख में कूट-कूट कर भयंकर जहर भरा गया था। भाव यह है कि वह जहरीली बातें बोलता था। वह 'छोटे मुँह बड़ी बात' करता था अर्थात् अपनी पतली सी जीभ और छोटे से मुख से बड़े बोल बोलता था। वह जो-जो बातें कहता था, उनसे जहर टपकता था। ऐसा था वह हत्यारा लाल मुख वाला तोता ! तोता चाहे कितना ही सुन्दर-सलोना क्यों न हो,

पाठ-भेद—१. भोजन बिनु भोजन=भोजन किए रहने पर भी और बिना भोजन किए भी।

उसे ज्यादा सिर नहीं चढ़ाना चाहिए। ऐसे सोने को लेकर कोई क्या करे जिसे पहनने से कान टूट जायँ।

टिप्पणी—अलंकार—'कान···सोन'—द्रष्टान्त।

(६०)

राजै सुनि वियोग तस माना। जैसे हिय विक्रम पछिताना॥
वह हीरामन पंडित सूआ। जो बोलै मुख अमृत चूआ॥
पंडित तुम्ह खंडित निरदोखा। पंडित हुतैं परै नाहिं धोखा॥
पंडित केरि जीभ मुख सूधी। पंडित बात न कहै विरूधी[1]॥
पंडित सुमति देइ पथ लावा। जो कुपंथि तेहि पँडित न भावा॥
पंडित राता बदन सरेखा। जो हत्यार रुहिर सो देखा॥
की परान घट आनहु मती। की चलि होहु सुआ सँग सती॥
जिनि जानहु कै औगुन, मँदिर सोइ सुखराज[2]।
आयसु मेटें कंत कर, काकर भा न अकाज ? ॥६॥

शब्दार्थ—तस=उसी प्रकार। विक्रम=विक्रमादित्य। खंडित=खंडित वैराग्य। हुतैं=होने पर। विरूधी=विरुद्ध। सरेखा=सज्ञान, चतुर। मती=विचार करके। जिनि=मत। जानहु=समझ। सोइ=सो सकेगी।

व्याख्या—राजा नागमती की बातों को सुन उसी प्रकार वियोग में दुखी हो उठा है, जैसे राजा विक्रमादित्य अपनी करनी पर बाद में मन-ही-मन पछताया था। वह हीरामन बड़ा पंडित तोता था। जब वह बोलता था तो उसके मुख से अमृत सा झरता था। हे हीरामन ! तुम कोई तप-भ्रष्ट ज्ञानी और निर्दोष जीव थे। जो पंडित होता है उससे कभी धोखा नहीं खाया जा सकता। पंडित के मुख में सीधी जीभ रहती है, अर्थात् वह कभी टेढ़ी बात नहीं कह सकता। भाव यह है कि पंडित कभी झूठ नहीं बोलता। पंडित कभी विरुद्ध या झूठी बात नहीं बोलता। पंडित अन्य लोगों को सुबुद्धि प्रदान कर उन्हें भले रास्ते पर लाता है। जो कुपथगामी अर्थात् दुष्ट होते हैं उन्हें पंडित कभी अच्छा नहीं लगता, क्योंकि पंडित को उनकी हरकतें पसन्द नहीं आतीं। पंडित का मुख सदैव ज्ञान के तेज के कारण लाल रहता है; अर्थात् चमकता रहता है। जो हत्यारे होते हैं उन्हें उसके मुख की वह लाली खून जैसी दिखाई पड़ती है। हे नागमती ! मन में सोच-समझ कर या तो मेरे प्राणों के समान प्रिय उस तोते को ले आ, या फिर चलकर तू स्वयं उसी के साथ सती हो जा, मर जा।

यह मत समझ कि इस प्रकार के अवगुण (पाप-कर्म) करके तू इस राजमहल में सुख से राज्य कर सकेगी, क्योंकि अपने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन करने पर किसका अकल्याण नहीं हुआ है ?

पाठ-भेद—१. निबूधी=निर्बुद्धितापूर्ण, मूर्खता भरी। २. सुखसाज।

टिप्पणी—'जैसे हिय विक्रम पछिताना'—के मूल में यह अन्तःकथा प्रसिद्ध है कि राजा विक्रमादित्य के यहाँ भी एक हीरामन जैसा तोता था। उसने एक दिन राजा को एक फल लाकर दिया और कहा कि इसे खाने पर कोई वृद्ध नहीं होता। राजा ने उस फल को माली द्वारा बाग में बुवा दिया। जब उस बीज से उत्पन्न वृक्ष पर फल लगा तो माली ने लाकर वह फल राजा को दे दिया। राजा ने उसे रानी को दिया। रानी ने परीक्षा के लिए उसका थोड़ा सा टुकड़ा कुत्ते को डाला। उसे खाते ही कुत्ता मर गया। राजा ने यह सुन क्रुद्ध हो उस तोते को मरवा डाला। असली बात यह थी कि बाग में उस फल में एक साँप ने अपना जहर डाल दिया था। कुछ दिन पीछे उस वृक्ष में फिर एक फल लगा। एक दिन मालिन ने माली से रूठ कर उस फल को मरने के लिए खा लिया। उसे खाते ही मालिन जवान हो गई। जब राजा को इस बात का पता चला तो वह तोते को मरवा डालने के लिए मन-ही-मन पश्चाताप करने लगा।

(६१)

चाँद जैसे धनि उजियारि अही। भा पिउ रोस, गहन अस गही॥
परम सोहाग निबाहि न पारी। भा दोहाग सेवा जब हारी॥
एतनिक दोस बिरचि पिउ रूठा। जो पिउ आपन कहै सो झूठा॥
ऐसे गरब न भूलै कोई। जेहि डर बहुत पियारी सोई॥
रानी आइ धाय के पासा। सुआ भुआ सेवँर कै आसा॥
परा प्रीति-कंचन महँ सीसा। बिहरि न मिलै, स्याम पै दीसा॥
कहाँ सोनार पास जेहि जाऊँ। देइ सोहाग करैं एक ठाऊँ॥
मैं पिउ-प्रीति भरोसे, गरब कीन्ह जिउ माँह।
तेहि रिस हौं परहेली, रूसेउ नागर नाहँ[1] ॥७॥

शब्दार्थ—पिउ रोस=प्रियतम के क्रोध के कारण। गहन अस गही=जैसे उसे ग्रहण लग गया हो। निबाहि न पारी=निर्वाह न कर सकी। हारी=विचलित हुई। बिरचि=अनुरक्त होकर, प्रभावित होकर। भुआ=फल। सीसा=एक धातु जिसके मिलाने से सोना बिखर जाता है। बिहिर=अलग। सोहाग=सौभाग्य, सुहागा। परहेली=अवहेलना की।

व्याख्या—राजा रत्नसेन के क्रुद्ध वचनों को सुनकर रानी नागमती व्याकुल हो उठी। जायसी कहते हैं—

वह नारी चन्द्रमा के समान उज्जवल और प्रसन्न मुख थी। पति के क्रोध को देखकर वह इस प्रकार मलिन और निष्प्रभ हो उठी मानो चन्द्रमा को ग्रहण लग गया

पाठ-भेद—१. निगड़ रोस किअ नाहँ=स्वामी ने मेरे पैरों में रोष की बेड़ी डाल दी।

हो। वह रत्नसेन जैसे पति को पाकर परम सौभाग्यवती थी परन्तु वह अपने इस सौभाग्य को अधिक समय तक सुरक्षित न रख सकी। अपने सेवा-व्रत से विचलित होते ही दुर्भाग्य ने उसे आ घेरा। उसने मन में सोचा कि मेरे इतने तुच्छ अपराध के कारण प्रभावित हो मेरा पति मुझसे क्रुद्ध हो गया। यदि पुरुष का प्रेम इतना ही अस्थायी होता है तो जो नारी पति को अपना कहे, वह झूठी है। पुरुषों के प्रेम का कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए पति के प्रेम पर गर्व कर कोई नारी भ्रम में न पड़े। पति की प्रेम पात्री तो वही होती है जो सदैव पति से डरती रहे। इतना सोचकर रानी उस दासी के पास आई। दासी के पास उसका आना उसी प्रकार दुराशापूर्ण था जिस प्रकार कि तोता भोजन पाने की आशा में रुई से भरे सेंमल के फल के पास जाता है। नागमती ने सोचा—मेरे इस प्रेम रूपी सोने में राजा का क्रोध रूपी सीसा पड़ गया है। ऐसा हो जाने से वह खंड-खंड हो बिखर गया है, उसकी कान्ति मारी गई है, अब वह काला दिखाई पड़ने लगा है। भाव यह है कि मैं अपने पति के प्रेम को खो बैठी हूँ। अब मुझे चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखाई पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में किस सुनार के पास जाऊँ जो मेरे प्रेम रूपी बिखरे हुए सोने में मेरा सौभाग्य रूपी सुहागा मिलाकर उसे पुनः पहली दशा में ले आए, अर्थात् मेरे और पति के टूटे हुए प्रेम को पुनः जोड़कर मेरा सौभाग्य मुझे लौटा दे।

मैंने अपने पति के प्रेम के भरोसे ही अपने मन में गर्व किया था। इसी कारण मैंने तोते पर क्रुद्ध हो पति के प्रेम की अवहेलना की थी (मुझे विश्वास था कि पति मुझसे कुछ भी नहीं कहेंगे), परन्तु इसका परिणाम यह निकला कि मेरे स्वामी मुझसे रूठ गए।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'भा पिउ-रोस····गही'—उपमा एवं उत्प्रेक्षा। 'सोहाग'—में श्लेष है ?,'सुआ····आया'—में उपमा, 'परा··· दीसा'—में रूपक।

(२) इस छन्द का आध्यात्मिक भाव भी ग्रहण किया जा सकता है। सच्चा साधक वही है जो ईश्वर से प्रेम करता हुआ भी उससे डरता रहे। आध्यात्मिक प्रेम में गर्व और अहंकार का स्थान नहीं रहता।

(६२)

उतर धाय तब दीन्ह रिसाई। रिस आपुहि, बुधि औरहि खाई॥
मैं जो कहा रिस जिनि करु बाला। को न गयउ एहि रिस कर घाला॥
तू रिसभरी न देखेसि आगू। रिस महुँ काकर भएउ सोहागू ?॥
जेहि रिस तेहि रस जोगै न जाई। बिनु रस हरदि होइ पियराई॥
बिरसि बिरोध रिसहि पै होई। रिस मारै, तहि मार न कोई॥
जेहि रिस कै मरिए, रस जीजै। सो रस तजि रिस कबहुँ न कीजै॥
कन्त-सोहाग कि पाइय साधा। पावै सोइ जो ओहि चित बाँधा॥

रहै जौ पिय के आयसु, और बरतै होइ हीन ।[1]
सोइ चाँद अस निरमल, जनम न होइ मलीन ।।८।।

शब्दार्थ—जिनि=मत । करु=करो । घाला=मारा । आगू=भविष्य । जोगै न जाई=रक्षा नहीं की जाती । हरदि=हल्दी । विरसि=अनबन, मनमुटाव । जीजै=जीवित रहना । साधा=साध, लालसा मात्र से । हीन=नम्र ।

व्याख्या—रानी नागमती को अपने पास आया देख दासी ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया कि क्रोध स्वयं क्रोध करने वाले को तथा बुद्धि दूसरों को खाती है, नष्ट करती है। मैंने उस समय तुमसे कहा था कि बाला क्रोध मत करो, क्योंकि क्रोध करने के कारण ऐसा कौन है जो मारा न गया हो, अर्थात् क्रोध स्वयं क्रोध करने वाले को ही नष्ट कर देता है। उस समय तुम क्रोध से पागल हो रही थीं, इसलिए तुमने भविष्य की चिन्ता नहीं की। ऐसा कौन है जिसने क्रोध किया हो और फिर भी उस का सौभाग्य बचा रह गया हो। क्रोधी व्यक्ति प्रेम की रक्षा नहीं कर सकता। बिना प्रेम के नारी का शरीर हल्दी के समान पीला पड़ जाता है। इस पंक्ति का एक अर्थ यह भी किया जा सकता है कि हल्दी सूखी रहने पर पीले रंग की होती है। जब उसमें रस अर्थात् जल डाला जाता है तभी उसके रंग में लाली आती है। भाव यह है कि प्रेम के बिना जीवन पीला अर्थात् मुरझाया और सूखा अर्थात् नीरस रहता है। मन-मुटाव और विरोध सदैव क्रोध के कारण ही उत्पन्न होते हैं। जिसने क्रोध को मार डाला है (जीत लिया है) उसे फिर कोई भी नहीं मार सकता। जिस क्रोध के कारण मरना पड़े और प्रेम के कारण जीवन मिले तो फिर ऐसे जीवनदाता प्रेम को छोड़कर कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। क्या स्वामी (पति) का प्रेम केवल इच्छा करने मात्र से ही प्राप्त हो सकता है? इस प्रेम को तो वही नारी पा सकती है जो अपना चित्त हमेशा अपने पति में ही लगाये रखे।

जो नारी सदैव पति की आज्ञा में रहे और अपने को उसकी तुलना में तुच्छ समझ कर अर्थात् विनम्र होकर उसके साथ व्यवहार करे, वही चन्द्रमा के समान निर्मल रहती है और जीवन पर्यन्त उसे कभी उपेक्षा, अपमान या क्रोध का सामना नहीं करना पड़ता है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'सोइ चाँद····निरमल'—में उपमा है।

(२) इस छन्द में जायसी ने क्रोध और प्रेम की तुलनात्मक व्याख्या कर यह सिद्ध किया है कि क्रोध सदैव नाश का कारण होता है। इसी भाव से मिलती-जुलती तुलसी की एक पंक्ति है—'क्रोध सकल पापन कर मूला।'

(९३)

जुआ हारि समुझी मन रानी । सुआ दीन्ह राजा कहँ आनी ।।
मानु पीय ! हौं गरब न कीन्हा । कंत तुम्हार मरम मैं लीन्हा ।।

पाठ-भेद—१. खीन=क्षीण, गर्वहीन ।

सेवा करै जो बरहौ मासा । एतनिक औगुन करइ बिनासा ।।
जौ तुम्ह देइ नाइ कै गीवा । छाँड़हुँ नहिं बिनु मारे जीवा ।।
मिलतहुँ महँ जनु अहौ निनारे । तुम्ह सौं अहै अँदेस, पियारे ! ।।
मैं जानेउँ तुम्ह मोही माहाँ । देखौं ताकि तौ हौ सब पाहाँ ।।
का रानी, का चेरी कोई । जा कहँ मया करहु भल सोई ।।
तुम्ह सौं कोइ न जीता, हारे बररुचि भोज ।
पहिलै आपु जो खोवै, करै तुम्हार सो खोज ।।९।।

व्याख्या—रानी ने अपने षड्यन्त्र द्वारा पद्मावती और तोते के प्रति राजा का क्रोध जाग्रत करने का जो दाँव चलाया था, उसमें वह हार गई और उसने तोते को लाकर राजा को सौंप दिया। और विनय करने लगी कि हे प्रिय ! मेरी बात का विश्वास करो। मैंने मन में गर्व नहीं किया था। मैं तो केवल तुम्हारा भेद (वास्तविकता) जानना चाहती थी कि तुम पर मेरा कितना अधिकार है। जो व्यक्ति बारह महीने तुम्हारी सेवा करे, उसे तुम इतने से अपराध पर भी मार सकते हो। जो व्यक्ति तुम्हारे सामने स्वयं अपनी गर्दन झुका दे, उसे भी तुम जान से बिना मारे नहीं छोड़ोगे; अर्थात् तुम बड़े निर्मोही और निष्ठुर हो। तुम मिलते हुए भी सदैव अलग रहते हो। इसलिए हे प्रियतम ! तुमसे सदैव आशंका बनी रहती है; अर्थात् तुम्हारे प्रेम का विश्वास नहीं किया जा सकता। मैं यह समझती थी कि तुम सदैव मुझी में समाये रहते हो; अर्थात् मुझसे ही प्रेम करते हो। परन्तु जब मैंने आँख खोलकर देखा तो पाया कि तुम सबके पास हो। चाहे कोई रानी हो या दासी, तुम जिस पर कृपा करो, वही अच्छा है, भला है।

तुमसे कोई भी नहीं जीत सकता। वररुचि और भोज भी तुमसे हार मान गए। जो पहले स्वयं अपने आप को नष्ट कर दे; अर्थात् जो पूर्णतः अपने स्वाभिमान को नष्ट कर दे, वही तुम्हें पाने का प्रयत्न कर सकता है।

टिप्पणी—'हारे वररुचि भोज'—के मूल में यह अन्तःकथा है कि एक बार बररुचि ने घर बैठे राजा भोज के राजकुमार और सिंह-भालू के वृत्तान्त को जान लिया था; वैसे ही राजा रत्नसेन ने सुग्गे की वात जानकर चतुरता में बररुचि को हरा दिया। राजा भोज जैसे भानुमती पर अनुरक्त थे, उसी प्रकार राजा रत्नसेन भी पद्मावती पर अनुरक्त होकर राजा भोज से भी बढ़ गए।

९

राजा-सुआ-संवाद-खंड

(९४)

राजै कहा सत्य कहु सूआ। बिनु सत जन सेंवर कर भूआ ॥
होइ मुख रात सत्य के बाता। जहाँ सत्य तहँ धरम सँघाता ॥
बाँधी सिहिट अहै सत केरी। लछिमी अहै सत्य कै चेरी ॥
सत्य जहाँ साहस सिधि पावा। ओ सतबादी पुरुष कहावा ॥
सत कहँ सती सँवारै सरा। आगि लाइ चहुँ बिसि सत जरा ॥
दुइ जग तरा सत्य जेइ राखा। और पियार दइहि सत भाखा ॥
सों सत छाँड़ि जो धरम बिनासा। भा मतिहीन धरम करि नासा[1] ॥
तुम सयान औ पंडित, असत न भाखौ काउ।
सत्य कहहु तुम मोसौं, दहुँ काकर अनियाउ ॥१॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन ने हीरामन तोते से कहा कि हे तोते ! मुझसे सत्य बात कह। सत्य के बिना मनुष्य ऐसा ही निस्सार होता है जैसे कि सेंमल का फल। जैसे सेंमल का फल देखने में सुन्दर होता है परन्तु उसमें केवल रुई ही भरी रहती है, उसी प्रकार देखने में सुन्दर व्यक्ति यदि सत्य नहीं बोलता तो उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। जब मनुष्य सत्य बोलता है तो आन्तरिक निश्छलता के कारण उसके मुख पर गौरव की लालिमा छा जाती है। जहाँ सत्य होता है, वहाँ धर्म उसका साथी रहता है; अर्थात् सत्य और धर्म का शाश्वत सम्बन्ध है। यह सम्पूर्ण सृष्टि सत्य द्वारा ही बँधी हुई है अर्थात् सत्य द्वारा ही संचालित है। लक्ष्मी अर्थात् धन-सम्पदा सत्य की चेरी है, अर्थात् सत्यवादी ही धन-सम्पदा का अधिकारी होता है। जहाँ सत्य रहता है, वहाँ साहस और साहस से उत्पन्न सिद्धि दोनों ही प्राप्त होते हैं। जो सत्यवादी है वही सच्चा पुरुष कहलाता है। सत्य के कारण ही सती नारी अपनी चिता सजाती है और चारों तरफ से उसमें आग लगाकर सत्य के लिए ही जल मरती है। जो सत्यवादी होता है वह इहलोक और परलोक, अर्थात् दोनों लोकों में सफलता प्राप्त करता है। भगवान को भी वही प्यारा

पाठ-भेद—१. का मति हिएँ कीन्ह सत नासा=हृदय में कौन सा विचार कर उसने सत्य का नाश किया।

होता है जो सत्य बोलता है। जो धर्म को नष्ट करने पर तुल जाता है वही सत्य को छोड़ता है। ऐसे व्यक्ति की मति मारी जाती है और वह धर्म का नाश कर डालता है; अर्थात् असत्यवादी धर्म का शत्रु होता है।

हे हीरामन ! तुम चतुर और पंडित हो। तुम किसी के भी सामने झूठ नहीं बोलते। इसलिए तुम मुझे सच-सच बतलाओ कि इस घटना में अन्याय या दोष किस का था।

(६५)

सत्य कहत राजा जिउ जाऊ। पै मुख असत न भाखौ काऊ॥
हौं सत लेइ निसरेउँ एहि बूते। सिंघलदीप राजघर हूँते॥
पदमावति राजा कै बारी। पदुम-गंध ससि बिधि औतारी॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि रानी। कनक सुगंध दुआदस बानी॥
अहैं जो पदमिनि सिंघल माहाँ। सुगँध रूप सब तेहिके छाहाँ॥
हीरामन हौं तेहिक परेवा। कंठा फूट करत तेहि सेवा॥
औ पाएउँ मानुष कै भाषा। नाहिं त पंखि मूठि भर पाँखा॥
जौ लहि जिऔं रात दिन, सँवरौं ओहि कर नावँ[1]।
मुख राता, तन हरियर, दुहूँ जगत लेइ जावँ॥२॥

शब्दार्थ—निसरेउँ=निकला। बूते=सहारे। हूँते=से। दुआदस बानी=बारह वानी, अर्थात् पूर्ण रूप से शुद्ध सोना। कंठा फूट=गले में कंठे की लकीर प्रकट हुई। मूठि=मुट्ठी। पाँखा=पंख।

व्याख्या—राजा रत्नसेन की बात को सुनकर हीरामन तोते ने कहा कि हे राजा ! सत्य कहने से प्राण भले ही चले जाते हों अर्थात् सत्य बात सदैव कटु होती है और उसे कहने वाले को उसका दंड भुगतना पड़ता है, परन्तु यह जानते हुए भी मैं कभी किसी से भी असत्य बात नहीं कहता। मैं इसी सत्य का आश्रय ले, इसी के बलबूते पर सिंहलद्वीप के राजमहल से बाहर निकला था। सिंहलद्वीप के राजा की पद्मावती राजकुमारी है। ऐसा प्रतीत होता है—मानो विधाता ने कमल-गन्ध और चन्द्रमा का अंश लेकर उसका निर्माण किया हो। उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है और उसके शरीर से मलय पर्वत की सुगन्धि आती रहती है। वह ऐसी प्रतीत होती है मानो बारहवानी (पूर्ण शुद्ध) सोने में सुगन्धि मिलाकर उसका निर्माण किया गया हो। भाव यह है कि उसके शरीर की कान्ति पूर्ण शुद्ध स्वर्ण के समान दमकती रहती है और शरीर से कमल-गन्ध निकलती रहती है। सिंहलद्वीप में जितनी भी पद्मिनी

पाठ-भेद—१. सुमिरौं मरौं तो ओहि लै नाउँ।

नारियाँ हैं, वे सब सुगन्धि और रूप में उसकी छाया तक नहीं पा सकतीं। या उन सबका रूप और गन्ध पद्मावती के रूप और गन्ध की ही छाया है। मैं हीरामन उसी का पक्षी हूँ। जब से मेरे कंठी फूटी अर्थात् जब से मैंने होश सम्हाला है, तभी से मैं उसी की सेवा करता आ रहा था। (कहा जाता है कि तोते के गले में जन्म से ही कंठी का निशान नहीं होता। जब तोता बड़ा होता है तभी उसके कंठी निकलती है और तभी वह बोलता है।) मैंने मनुष्य की भाषा सीखी। यदि मुझ में ये गुण न होते तो मैं मुट्ठी भर पंखों वाले एक साधारण से पक्षी के समान होता; अर्थात् मेरा कोई महत्त्व नहीं होता।

जब तक मैं जीवित रहूँगा, रात-दिन उसी के नाम की माला जपता रहूँगा। मेरा मुख इसी गर्व के कारण लाल रहता है और इसी प्रसन्नता के कारण मेरा शरीर सदा हरा अर्थात् स्वस्थ बना रहता है। मैं चाहता हूँ कि मैं दोनों लोकों में इन्हें अपने साथ ले जाऊँ अर्थात् मैं सदैव पद्मावती का ही स्मरण करते हुए अपनी इन विशेषताओं को सुरक्षित रखूँ। भाव यह है कि मैं दीन और दुनिया—दोनों दृष्टि से धन्य हो जाऊँ।

टिप्पणी—अलंकार—'ससि मुख······ मलयगिरि'—में रूपक और उपमा, 'कनक······ बानी'—में उपमा।

(९६)

हीरामन जो कवँल बखाना। सुनि राजा होई भँवर भुलाना॥
आगे आउ, पंखि उजियारा। कहँ सो दीप पतँग कै मारा[1]॥
अहा जो कनक सुवासित ठाऊँ। कस न होइ हीरामन नाऊँ॥
को राजा, कस दीप उतंगू। जहि रे सनत मन भएउ पतंगू॥
सुनि समुद्र भा चख किलकिला। कवँलहि चहौं भँवर होइ मिला॥
कहु सुगंध धनि कस निरमली। भा अलि-संग, कि अबहीं कली?॥
औ कहु तहँ जहँ पदमिनि लोनी। घर घर सबके होइ जो होनी॥
सबै बखान तहाँ कर, कहत सो मोसौं आव।
चहौं दीप वह देखा, सुनत उठा अस चाव॥३॥

शब्दार्थ - कँवल=कमल अर्थात् कमल-गन्धा पद्मावती। भुलाना=मोहित हो गया। उतंगू=उत्तुंग, ऊँचा। किलकिला=जल के ऊपर मछली के लिए मँडराने वाला एक जल-पक्षी। कँवलहि=कमल से, पद्मावती से। लोनी=लावण्यवती, सुन्दरी, सलोनी। होनी=क्रिया, व्यापार।

व्याख्या—जैसे ही हीरामन तोते ने राजा रत्नसेन के सम्मुख कमल अर्थात् कमल-गन्धा पद्मावती का वर्णन किया, उसे सुनकर राजा पद्मावती पर उसी प्रकार

पाठ-भेद—१. बारा=जलाना।

मोहित हो गया जैसे भौंरा कमल पर मोहित हो उठता है। उसने हीरामन से कहा कि हे उज्ज्वल अर्थात् श्रेष्ठ पक्षी ! मेरे पास आओ और मुझे बताओ कि वह द्वीप कहाँ है जो मनुष्यों को अपनी पद्मिनी नारियों द्वारा लुभाकर उसी प्रकार मार डालता है, व्याकुल बना देता है, जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से आकर्षित कर पतिंगों को नष्ट कर देता है। जो स्थान सुगन्धित सोने से बना हो (यहाँ अभिप्राय पद्मावती से है, क्योंकि उसका शरीर भी सुगन्धित स्वर्ण के समान है), वहाँ रहने वाले का नाम हीरामन क्यों न होगा। भाव यह है कि ऐसे स्थान पर रहने वाले भी हीरा और मणियों के ही समान होंगे। उस द्वीप का राजा कौन है, वह द्वीप कितना ऊँचा अर्थात् विशाल है कि जिसका नाम सुनते ही मेरा मन पतिंगे के समान वहाँ जाने के लिए व्याकुल हो उठा है। मेरे नेत्र उस समुद्र रूपी द्वीप का वर्णन सुनकर (जिसमें पद्मावती जैसा कमल खिला है), किलकिला पक्षी के समान उसके दर्शन करने के लिए व्याकुल हो उठे हैं। मैं चाहता हूँ कि भ्रमर बनकर उस कमल (पद्मावती) से जा मिलूँ। यह बताओ कि वह सुगन्धित बाला कैसी निर्मल है। उसका किसी भौंरे के साथ मिलन हुआ है या वह अभी तक कली के ही समान अछूती और अविकसित है। भाव यह है कि पद्मावती का विवाह हो गया है या वह अभी अविकसित बालिका ही है। और उस स्थान की बातें बताओ जहाँ वह लावण्यवती पद्मावती रहती है। वहाँ के घर-घर में जो काम होते हैं उनका वर्णन करो; अर्थात् वहाँ का सामाजिक जीवन कैसा है, इसका वर्णन करो।

तुम मुझसे वहाँ की सारी बातों का वर्णन करते चले जाओ। मैं उस द्वीप को देखना चाहता हूँ। मेरे मन में उसे देखने का चाव उत्पन्न हुआ है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक।

(२) यदि इस छन्द का समासोक्ति परक अर्थ लिया जाय तो इसमें गुरु द्वारा ईश्वर का वर्णन सुन साधक के मन में उस ईश्वर के विषय में और अधिक जानने की प्रथम जिज्ञासा की स्थिति को माना जा सकता है। ईश्वर के प्रति साधक की जिज्ञासा रहस्यवाद की पहली सीढ़ी होती है।

(९७)

का राजा हौं बरनों तासू। सिंघलदीप आहि कैलासू॥
जो गा तहाँ भुलाना सोई। गा जुग बीति न बहुरा कोई॥
घर घर पदमिनी छतिसौ जाती। सदा बसंत दिवस और राती॥
जेहि जेहि बरन फूल फुलवारी। तेहि तेहि बरन सुगंध सो नारी॥
गंध्रबसेन तहाँ बड़ राजा। अछरिन्ह माहँ इंद्रासन साजा॥
सो पदमावति तेहि कर बारी। जो सब दीप माहँ उजियारी॥
चहूं खंड के बर जो ओनाहीं। गरबहि राजा बोलै नाहीं॥

उअत सूर जस देखिय, चाँद छपै तेहि धूप।
ऐसे सबै जाहिं छपि, पदमावति के रूप ।।४।।

शब्दार्थ—बहुरा=लौटा । छतिसौ जाती=छत्तीसों जाति; अर्थात् सभी जातियों की। अछरिन्ह=अप्सराओं। ओनाही=आते हैं, उमड़ कर आते हैं।

व्याख्या—राजा रत्नसेन की बातें सुनकर हीरामन ने कहा कि हे राजा ! मैं उस द्वीप का क्या वर्णन करूँ। वह तो स्वर्ग के समान सुन्दर है। जो व्यक्ति वहाँ पहुँच गया वह अपने को भूलकर वहीं का होकर रह गया। युग बीत गए परन्तु कोई भी वहाँ से लौटकर नहीं आया। वहाँ घर-घर में, छत्तीसों जातियों अर्थात् सभी घरों में पद्मिनी नारियाँ हैं। वहाँ दिन और रात सदैव बसन्त की बहार छाई रहती है। वहाँ फुलवारियों में जिस-जिस रंग के फूल खिलते हैं, उसी-उसी रंग वाली सुगन्धित शरीर वाली नारियाँ वहाँ रहती हैं। गंधर्वसेन वहाँ का प्रतापशाली राजा है। वह नारियों के मध्य बैठा इस प्रकार सुशोभित होता है मानो इन्द्र अप्सराओं से घिरा अपने इन्द्रासन पर बैठा हो। वह पद्मावती उसी की कन्या है जो सारे द्वीप में अपने सौन्दर्य के कारण प्रसिद्ध है, या जो सारे द्वीप में चाँदनी के समान सुन्दर है। वहाँ उसे प्राप्त करने के लिए चारों दिशाओं से जो अनेक राजकुमारों के झुण्ड-के-झुण्ड उमड़-उमड़ कर आते हैं, राजा गंधर्वसेन गर्व के कारण उनसे बात तक नहीं करता।

ऐसी उस पद्मावती के रूप के सम्मुख वे सारे राजकुमार इस प्रकार छिप जाते हैं, अर्थात् निष्प्रभ हो उठते हैं, जैसे सूर्य के उदय होने पर चन्द्रमा उसकी धूप के प्रकाश में निष्प्रभ हो जाता है।

टिप्पणी—अलंकार—उपमा।

(९८)

सुनि रवि-नावँ रतन भा राता। पंडित फेरि उहै कहु बाता।।
तैं सुरंग मूरत वह कही। चित महँ लागि चित्र होइ रही।।
जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घटि पूरि हिये परगसी।।
अब हौं सुरुज, चाँद वह छाया। जल बिनु मीन, रकत बिनु काया।।
किरिन-करा भा प्रेम-अँकूरू। जौं ससि सरग, मिलौ होइ सूरू।।
सहसौ करा रूप मन भूला। जहँ जहँ दीठि कवँल जनु फूला।।
तहँ भवँर जेउँ कँवला गंधी। भई ससि राहु केरि रनि बंधी।।
तीनि लोक चौदह खंड, सबै पर मोंहि सूझि।
पेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि ।।५।।

शब्दार्थ—रतन=रत्नसेन। किरिन-करा=किरणों की कला। सूरू=सूर्य। जेउँ=जहाँ। गन्धी=सुगन्धित। रिनि=ऋण।

व्याख्या—जिस प्रकार सूर्य की किरणें पड़ने से रत्न खिल उठते हैं—चमक उठते हैं, उसी प्रकार सूर्य का नाम सुनकर रत्नसेन उसके प्रति अनुराग से भर उठा।

(जायसी ने पिछले छन्द में पद्मावती की उपमा सूर्य से दी है। अनुराग का रंग लाल माना गया है।) उसने तोते से कहा कि हे पंडित ! इसी बात को एक बार फिर कहो। तुमने उस सुन्दर मूर्ति का जो वर्णन किया है उसे सुनकर वह मूर्ति मेरे हृदय में चित्र के समान अंकित हो गई है—मानो वह सूर्य होकर मेरे मन में आकर बस गई है और उसने मेरे सम्पूर्ण हृदय को प्रेम के प्रकाश से प्रकाशित कर दिया है। अब मैं सूर्य हूँ और पद्मावती चन्द्रमा अर्थात् मेरी छाया है। (चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश पाता है, इसीलिए उसे सूर्य की छाया माना जाता है।) भाव यह है कि अब मेरा और पद्मावती का ऐसा अभिन्न सम्बन्ध हो गया है जैसा कि सूर्य और उसकी छाया (चन्द्रमा) का होता है। जिस प्रकार जल के बिना मछली और रक्त के बिना शरीर जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार अब मैं पद्मावती के बिना जीवित नहीं रह सकता। अब उस सूर्य (पद्मावती) के रूप की किरणों की कला से मेरे हृदय में प्रेम का अंकुर फूट उठा है। (सूर्य की गरमी से ही जमीन में दबे बीज में अंकुर फूटते हैं।) यदि पद्मावती आकाश में रहने वाले चन्द्रमा के समान है तो मैं भी सूर्य के समान आकाशगामी बन उससे जा मिलूँगा। उसके सूर्य के सहस्र नेत्रों के प्रकाश के समान उज्ज्वल रूप में मेरा मन भूल गया है। मेरी दृष्टि जहाँ-जहाँ पड़ती है, मुझे वहीं-वहीं पद्मावती कमल के समान फूली हुई दिखाई पड़ती है। इस पंक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि अपनी सहस्र किरणों से (रत्नसेन स्वयं को सूर्य कह चुका है और सूर्य सहस्र-किरणों वाला माना जाता है) मेरा मन उसके रूप पर मोहित हो उठा है। जहाँ-जहाँ मेरी दृष्टि पड़ती है, वहाँ-वहाँ मुझे कमल (पद्मावती) खिले हुए दिखाई पड़ते हैं। (सूर्य की किरण पड़ते ही कमल खिल उठते हैं।) भौंरा वहीं रहता है जहाँ कमल की सुगन्धि होती है। अब तो मैं पद्मावती के प्रेम में उसी प्रकार आबद्ध हो गया हूँ जैसे चन्द्रमा राहु के ऋण में सदैव बँधा रहता है। (लोक प्रसिद्धि है कि चन्द्रमा राहु का ऋणी है। राहु उसी ऋण को वसूल करने के लिए उसे पकड़ लेता है और जब लोग दान देते हैं तो उसे छोड़ देता है। यहाँ अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा और राहु का सम्बन्ध अटूट है, उसी प्रकार रत्नसेन पद्मावती का ऋणबन्धी बन गया है।)

तीन लोक और चौदह खण्डों में मुझे जितनी भी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं, उनमें प्रेम के समान सुन्दर अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। यह तथ्य मैंने अपने मन में सोच-विचार कर भली प्रकार समझ लिया है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—उपमा और रूपक।

(२) इस छन्द में जायसी ने सूर्य, चन्द्र और राहु का जो सम्बन्ध जोड़ा है, वह बड़ा असंगत और अव्यवस्थित तथा लोक-विश्वास के प्रतिकूल है। हमारे यहाँ सूर्य और चन्द्रमा को कभी प्रेमी-प्रेमिका नहीं माना गया। प्रेमी-प्रेमिका के प्रगाढ़ एवं अभिन्न सम्बन्ध की उपमा राहु और चन्द्रमा के पारस्परिक सम्बन्ध से देना कुशल काव्योक्ति नहीं मानी जा सकती। जायसी की इस प्रकार की भूलों का कारण यह है

कि वे अधिक शिक्षित नहीं थे। इसलिए उनकी समझ में जैसा आ जाता था, उसे वैसा ही लिख देते थे। ऐसा करते समय उन्हें प्रसंग की सार्थकता का ध्यान नहीं रहता था। कभी वह पद्मावती को सूर्य कहते हैं और कभी रत्नसेन को। डा० गुप्त 'परकाया-प्रवेश' के सिद्धान्त के आधार पर इसका औचित्य सिद्ध करते हैं।

(६६)

पेम सुनत मन भूल न राजा। कठिन पेम, सिर देइ तौ छाजा॥
पेम-फाँद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह पै फाँद न टूटा॥
गिरगिट छंद धरै दुख तेता। खन-खन पीत, रात, खन सेता॥
जान पुछार जो भा बनबासी। रोंव रोंव परे फँद नगपासी॥
पाँखन्ह फिरि-फिरि परा सो फाँदू। उड़ि न सकै, अरुझा भा बाँदू॥
'मुयों मुयों' अहनिसि चिल्लाई। ओही रोस नागन्ह धै खाई॥
पंडुक, सुआ, कंठ वह चीन्हा। जेहि गिउ परा चाहि जिउ दीन्हा॥
तितिर-गिउ जो फाँद है, निति पुकारै दोख।
सो कित हँकार फाँद गिउ (मेलै), कित मारे होइ मोख॥६॥

शब्दार्थ—छन्द=रूप। पुछार=पूँछ वाला मोर। नागपासी=नाग के फन्दे। पाँखन्ह=पंखों में। बाँदू=बन्दी। धै=दौड़कर। पंडुक=एक पक्षी। चीन्हा=चिह्न।

व्याख्या—पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुन, जब राजा रत्नसेन ने उस पर मुग्ध हो उसके प्रति अपने गम्भीर और अथाह प्रेम की व्यंजना करते हुए सिंहलद्वीप जाने की तीव्र अभिलाषा प्रकट की तो हीरामन तोते ने उससे कहा—

हे राजा! प्रेम का नाम सुनते ही मतवाले मत बनो। प्रेम का मार्ग अर्थात् प्रेम करना अत्यन्त कठिन है। प्रेम उसी को शोभा देता है जो उसके लिए अपना सिर दे देता है। जो व्यक्ति प्रेम के फन्दे में एकबार पड़ जाता है वह फिर उससे मुक्त नहीं हो पाता। वह भले ही अपने प्राण दे दे, परन्तु प्रेम के उस फन्दे से उसकी मुक्ति नहीं हो पाती। (इसलिए बहुत सोच-समझ कर इस मार्ग पर कदम रखना।) अनेक प्राणियों ने इसके फन्दे में पड़कर अपने प्राण दे दिए, परन्तु यह प्रेम का फन्दा न टूट सका। जैसे गिरगिट विभिन्न ऋतुओं के अनुसार अपने रंग बदलता रहता है, क्षण में पीला पड़ जाता है, क्षण में लाल और फिर क्षण में सफेद रंग धारण कर लेता है, उसी प्रकार प्रेमी भी प्रेम-मार्ग पर चलता हुआ अनेक प्रकार के सुख-दुख के कारण अपने रंग बदलता रहता है। अनुराग से भरकर कभी उसके मुख का रंग लाल हो जाता है, कभी वियोग के कारण पीला पड़ जाता है तथा कभी भय के कारण सफेद हो उठता है। भाव यह है कि प्रेम का यह मार्ग भयंकर तथा कष्टों से भरा हुआ है। प्रेम की पीड़ा को मोर जानता है जो उसके कारण आबादी को त्याग वन में संन्यासी बन कर जा बसा है। उसके रोम-रोम में प्रेम के प्राणघातक नागफाँसी फन्दे पड़े हुए हैं। उसके पंखों पर भी बार-बार वही फन्दा पड़ा हुआ दिखाई पड़ता है। इन्हीं फन्दों के कारण वह उड़ नहीं पाता

और उन्हीं में उलझ कर प्रेम का बन्दी बन गया है। (मोर के पंखों पर चन्द्राकार रंगीन गोले बने होते हैं। यहाँ जायसी प्रत्येक गोल निशान को प्रेम का फन्दा कह रहे हैं।) वह इस प्रेम के फन्दे में पड़ रात-दिन 'मुयों, मुयों' (हाय मरा, हाय मरा) चिल्लाया करता है और चूँकि उसे प्रेम रूपी नागपाश में जकड़ रखा है, इसलिए वह नागों पर क्रुद्ध हो दौड़कर उन्हें पकड़ खा जाता है। पंडुकी और तोते के गले में भी वही प्रेम का फन्दा पड़ा हुआ है। (इन पक्षियों के कंठी की लकीर होती है।) ये पक्षी भी इस प्रेम की पीड़ा में व्याकुल रहते हैं। यह प्रेम का फन्दा जिसकी गर्दन में एक बार पड़ जाता है वह इसके लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर देने को उद्यत हो जाता है।

तीतर के गले में जो फन्दा पड़ा हुआ है वह प्रेम का ही फन्दा है। वह उसी के दोष के कारण अर्थात् पीड़ित होकर रात-दिन चिल्लाता रहता है। इसलिए हे राजा! उस तीतर के समान पुकार-पुकार कर, अर्थात् अपने प्रेम की घोषणा कर क्यों प्रेम के इस फन्दे को अपने गले में डालता है। न मालूम यह तुझे कहाँ ले जाकर मारेगा और तब तेरी मुक्ति हो सकेगी।

टिप्पणी—(१) अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा।

(२) इस छन्द में जायसी पुनः सूफी प्रेम-मार्ग का परिचय दे रहे हैं। गुरु साधक को प्रेम का परिचय तो दे देता है परन्तु साथ ही उसकी यह परीक्षा भी लेता है कि साधक इस मार्ग पर चलने के लिए योग्य पात्र है अथवा नहीं। इसके लिए वह नव दीक्षित साधक को प्रेम-मार्ग की कठिनता और भयंकरता का परिचय देता है। प्रेममार्ग अत्यन्त दुष्कर मार्ग है। इस पर हरेक नहीं चल सकता। कबीर ने भी इस मार्ग की विषमता का वर्णन करते हुए कहा था कि यह मार्ग खाला का घर नहीं है। इस पर तो वही चल सकता है जो अपना शीश उतार कर पृथ्वी पर रख दे—

'सीस उतारै भुँइ धरै चलै सो हमारे संग।'

(३) इस छन्द में आए दोहे का अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि तीतर के गले में भी प्रेम का फन्दा पड़ा हुआ है। इस फन्दे के कारण वह जोर-जोर से चिल्ला कर बहेलिए को पुकारता है कि आकर उसके गले में मौत का फन्दा डाल दे; क्योंकि उससे प्रेम की यह पीड़ा नहीं सही जाती। इसकी तुलना में उसके लिए मृत्यु की पीड़ा सहना अधिक आसान होगा। भाव यह है कि प्रेम की पीड़ा—मृत्यु की पीड़ा से भी अधिक कष्टदायक और भयंकर होती है।

(१००)

राजैं लीन्ह ऊबि कै साँसा। ऐसे बोल जिनि बोलु निरासा॥
भलेहि पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइ खेला॥
दुख भीतर जो पेम-मधु राखा। लग नहिं मरन सहै जो चाखा[1]॥

पाठ-भेद—१. 'गंजन मरन सहै सो चाखा'—अर्थात् जो गंजन अर्थात् अपमान और मरण सहन करता है, वही उस मधु को चखता है।

जो नहिं सीस पेम-पथ लावा। सो प्रिथिमी महँ काहे क आवा ? ॥
अब मैं पंथ पेम सिर मेला। पाँव न ठेलु, राखु कै चेला ॥
पेम-बार सो कहै जो देखा। जो न देख का जान विसेखा ? ॥
तौ लगि दुख पीतम नहिं भेंटा। मिलै, तौ जाए जनम-दुख मेटा ॥
जस अनूप, तू बरनेसि, नखसिख बरनु सिंगार।
है मोंहि आस मिलै, जौ मेरवै करतार ॥७॥

शब्दार्थ—दुहेला=कठिन खेल। ठेलु=पीछे न हटा। कै चेला=चेला बना कर। प्रेम-बार=प्रेम का दरवाजा। विसेखा=मर्म।

व्याख्या—हीरामन तोते की प्रेम-मार्ग सम्बन्धी भयंकरता की बातों को सुनकर राजा ऊब उठा अर्थात् उस पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने एक लम्बी साँस ली और तोते से बोला कि हे तोते ! तू ऐसे निराशा भरे वचन न बोल। प्रेम का खेल भले ही दुखदायी और कठिन क्यों न हो, परन्तु जो इस प्रेम के खेल को खेल लेता है उसके दोनों लोक—इहलोक-परलोक—दीन और दुनिया—सफल हो जाते हैं, वह तर जाता है। ईश्वर ने दुख के भीतर जो प्रेम का अमृत भर रखा है, उसे चख लेने पर प्रेमी को इस संसार में मरण का दुख नहीं सहना पड़ता, अर्थात् वह अमर हो जाता है। जिसने प्रेम-मार्ग पर चलते हुए अपना शीश नहीं दिया, अर्थात् अपने प्राण संकट में नहीं डाले, उसने इस पृथ्वी पर आखिर जन्म ही किसलिए लिया। अब मैंने प्रेम-मार्ग पर अपना सिर रख दिया है, इसलिए अब तू मुझे पैर से मत ठुकरा, मेरा तिरस्कार मत कर। मुझे अपना चेला बनाकर मेरी रक्षा कर। जिसने प्रेम का द्वार देखा है, अर्थात् जिसने प्रेम किया है वही इसके मर्म को बता सकता है। जिसने इस द्वार को ही नहीं देखा, वह इसके रहस्य को क्या जान सकता है। इस मार्ग में दुख तभी तक रहता है जब तक प्रियतम से भेंट नहीं होती। और जब भेंट हो जाती है तो सारे जन्म के दुख नष्ट हो जाते हैं।

तूने जैसा उस अनुपम सुन्दरी का वर्णन किया है, अब वैसे ही उसके नख-शिख का भी वर्णन कर। यदि भगवान मुझे उससे मिला देने की कृपा करेगा तो मुझे उससे मिलने की आशा है।

१०

नखशिख-खंड

(१०१)

का सिंगार ओहि बरनौं, राजा। ओहिक सिंगार ओहि पै छाजा।
प्रथम सीस कस्तूरी केसा। बलि बासुकि, का और नरेसा॥
भौंर केस, वह मालति रानी। बिसहर लुरें लेंहि अरघानी॥
बेनि छोरि झार जौ बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥
कोंवर कुटिल केस नग कारे। लहरन्हि भरे भुअंग बैसारे॥
बेधे जनौं मलयगिरि बासा। सीस चढ़े लौटहिं चहुँ पासा॥
घुँघरवार अलकैं विषभरी। सँकरैं पेम चहैं गिउ परी॥
अस फँदवार केस वै, परा सीस गिउ फाँद।
अस्टौ कुरी नाग सब, अरुझ केस के बाँद[1] ॥१॥

शब्दार्थ—लुरें=लहराते हैं। अरघानी=आघ्राण, सुगन्धि। झार=झाड़ती है। कोंवर=कोमल। कुटिल=घुँघराले। नग=नाग। बेधे=बेध रखा है, अपने जाल में बाँध रखा है। सँकरैं=शृंखला, साँकल, जंजीर। फँदवार=फन्दे में फँसाने वाले। अस्टौ=आठ। कुरी=कुल।

व्याख्या—जायसी पद्मावती के नख-शिख का वर्णन करते हुए पहले उसके काले, घुँघराले, सुवासित केशों का अनेक अलंकारों द्वारा वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

हे राजा! मैं उस पद्मावती के रूप-शृंगार का क्या वर्णन करूँ! उसका शृंगार तो केवल उसी को शोभा देता है अर्थात् अद्वितीय है। सबसे पहले मैं उसके केशों का वर्णन करता हूँ। उसके केश कस्तूरी के समान काले और सुवासित हैं। और राजाओं की मैं क्या कहूँ, स्वयं नागराज वासुकि उस पर न्यौछावर किया जा सकता है, अर्थात् वे केश वासुकि से भी अधिक काले, चमकीले और लहरियादार हैं। (इसके उपरान्त जायसी पद्मावती के केशों की उपमा अन्य प्रचलित कवि-प्रसिद्धियों के अनुसार विभिन्न वस्तुओं से करते हुए कहते हैं—) रानी पद्मावती मालती लता के समान कोमल,

---

पाठ-भेद—१. अस्टौ कुरी नाग ओरगाने भै केसन्हि के बाँद=आठों कुलों के नाग उन केशों की सेवा में आ गए और उनके बन्दी बन गए।

सुन्दर और सुगन्धि वाली है और उसके केश भौरों के समान हैं जो सदैव उस पर मँडराते रहते हैं। उसके केशों को देख कर ऐसा प्रतीत होता है—मानो उसके शरीर की गन्ध से आकर्षित हो विषधर सर्पों ने उसे घेर लिया हो और उसके चारों ओर लहराते हुए उसकी सुगन्धि का पान कर रहे हों।

जब पद्मावती अपनी वेणी को खोल अपने केशों को झाड़ती है तो स्वर्ग से लेकर पाताल तक अर्थात् चारों ओर अन्धकार छा जाता है। भाव यह है कि उसके केश इतने काले, लम्बे और घने हैं मानो सघन अन्धकार छा रहा हो। उसके लहरियादार कोमल केश ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो काले नाग हों। वे केश उसके सिर पर ऐसे शोभायमान लगते हैं—मानो वहाँ बैठे हुए विषधर काले नाग लहरा रहे हों। ऐसा प्रतीत होता है, मानो मलयगिरि की गन्ध (चन्दन की सुगन्धि) ने इन नागों को व्याकुल बना रखा हो और वे उस गन्ध का पान करने के लिए उसके शीश पर चढ़ कर चारों ओर लोट-पोट हो रहे हों। उसकी अलकें घुँघराली और विष से भरी हुई हैं। वे मानो प्रेम की जंजीरें हैं जो किसी के गले में पड़ने के लिए व्याकुल हो रही हैं।

उसके वे केश ऐसे अपने फन्दे में फँसाने वाले हैं कि सिर पर पड़ते ही गले में फन्दा लगा देते हैं। इन केशों के बन्धन में आठों कुलों के नाग उलझ कर बन्दी बन गए हैं; अर्थात् इन केशों की विषभरी शक्ति उन आठों कुलों के भयङ्कर नागों के विष की शक्ति से भी अधिक भयानक है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'ओहिक····छाजा'—में अनन्वय, 'सीस कस्तूरी केसा'—में उपमा, 'बिसहर····अरघानी'—में उपमा और रूपक, 'का और नरेसा'—में असम, 'भँवर····रानी', 'कोंवर····कारे'—में रूपक, 'बेनी····अँधियारा' तथा 'अस्टौ···बाँद'—में अतिशयोक्ति, 'सँकरैं···परी'—में उत्प्रेक्षा।

(२) यह 'नख-शिख-वर्णन' न होकर 'शिख-नख-वर्णन' कहा जायेगा, क्योंकि कवि ने इसका प्रारम्भ भारतीय पद्धति के अनुसार 'नख' से न कर फारसी पद्धति के अनुसार 'शिख' से किया है। आगे चलकर 'पद्मावती-रूप-चर्चा-खंड' में जायसी ने राघवचेतन के मुख से पुनः पद्मावती के रूप का वर्णन कराया है जो बहुत कुछ इसी वर्णन से मिलता-जुलता हुआ है।

(३) जायसी ने केशों का वर्णन करते समय उनकी कोमलता और सौन्दर्य की अपेक्षा उनकी भयानकता पर अधिक बल दिया है जो प्रेम मार्ग की कष्ट-साध्य-साधना के अनुरूप ही प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि जायसी ने घुमा-फिरा कर कई बार केशों की तुलना काले नागों से की है, जिसे पुनरुक्ति दोष माना जा सकता है।

(४) 'सीस कस्तूरी केसा'—एक नवीन प्रकार की उपमा प्रतीत होती है। फारसी में काले और सुगन्धित केशों को 'जुल्फेमुश्की' कहते हैं। सम्भवतः जायसी ने यहाँ इसी कारण 'कस्तूरी केसा' कहा है।

(५) नागों के आठ कुल माने जाते हैं—वासुकि, तक्षक, कुलक, कर्कोटक, पद्म, शंखचूड़, महापद्म और धनंजय।

(१०२)

बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं॥
बिनु सेंदुर अस जानहु दीआ। उजियर पंथ रैनि महँ कीआ॥
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी॥
सुरुज किरिन जनु गगन बिसेखी। जमुना माँह सुरसती देखी॥
खाँड़े धार रुहिर जनु भरा। करवत लेइ बेनी पर धरा॥
तेहि पर पूरि धरे जो मोती। जमुना माँझ गंग कै सोंती॥
करवत तपा लेंहि होइ चूरू। मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदूरू॥
कनक दुवादस बानि होइ, चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत सब, उवै गगन जस गाँग॥२॥

शब्दार्थ—उपराहीं=ऊपर। बिसेखी=विशेष। सुरसती=सरस्वती नदी, इसका रंग सफेद माना गया है। करवत=करपत्र, आरा। बेनी=त्रिवेणी। धरा=रखा। पूरि=गुँथ कर। सोती=धारा, जल।

व्याख्या—पिछले छन्द में पद्मावती के केशों का वर्णन करने के उपरान्त, जायसी अब उसकी माँग का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मैं उसके शीश के ऊपर स्थित उसकी उस माँग का वर्णन करता हूँ जिसमें अभी तक सिन्दूर नहीं लगाया गया है। (पद्मावती अभी तक कुमारी है, इसलिए उसकी माँग भरी नहीं गई है।) वह माँग बिना सिन्दूर के उस दीपक के समान प्रतीत होती है जिसने रात के अन्धकार में मार्ग को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर दिया हो। (यहाँ माँग के दोनों ओर छाये काले बाल रात्रि का अन्धकार और उसके बीच चमकती उज्ज्वल माँग दीपक के समान है।) वह माँग ऐसी प्रतीत होती है—मानो उसके काले कसौटी रूपी बालों पर एक स्वर्ण-रेखा खींच दी गई हो। (कसौटी का रंग काला होता है) मानो (केश रूपी) बादलों के मध्य बिजली चमक रही हो। ऐसा लगता है मानो आकाश में सूर्य की कोई एक विशेष किरण चमक उठी हो या यमुना के बीच सरस्वती हो। (यमुना का जल नीला होता है तथा सरस्वती का जल सफेद माना गया है।) या रक्त से भरी हुई तलवार की धार हो या त्रिवेणी-संगम पर आरा रखा हुआ हो। (पहले त्रिवेणी-संगम पर कुछ लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिए आरे से अपना शरीर चिरवाते थे। यहाँ पद्मावती के बाल त्रिवेणी-संगम के समान तथा उसके मध्य स्थित माँग उस आरे के समान है।)

ऐसी उस माँग के ऊपर गुँथी हुई मोती की लड़ी सुशोभित है जो ऐसी प्रतीत होती है मानो यमुना के मध्य गंगा की धारा सुशोभित हो। (गंगा का रंग सफेद होता है और यमुना का नीला या काला।) ऐसी उस अद्भूत माँग में सिन्दूर भरने

के लिए अनेक तपस्वी (पद्मावती को प्राप्त करने के लिए तपस्या करने वाले लोग) अपने को उस आरे से चिरवा कर मर जाते हैं कि शायद वह उनके रक्त को लेकर अपने मार्ग में सिन्दूर भर लें। भाव यह है कि अनेक व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं।

जिस प्रकार सोना बारहवानी अर्थात् पूर्ण रूप से शुद्ध होने के लिए सुहागे की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार यह माँग सौभाग्यवती बनना चाहती है; अर्थात् पद्मावती पति को प्राप्त करने की आकांक्षा करती है। (हिन्दुओं में विवाहित नारी को सौभाग्यवती कहा जाता है।) उस माँग में भरी हुई मोतियों की वह लड़ी ऐसी शोभा पाती है—मानों आकाश में उदय हुई आकाश गंगा की सारे नक्षत्रगण सेवा कर रहे हों। यहाँ माँग, आकाश गंगा तथा नक्षत्रगण, उस लड़ी में गुँथे मोती के समान हैं।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—इस समस्त छन्द में उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों की भरमार सी है। कहीं-कहीं सन्देह अलंकार भी बनता गया है। 'सोहाग' शब्द में श्लेष है।

(२) पद्मावती का यह शृंगार वर्णन भारतीय पद्धति के अनुसार सम्पूर्णतः कोमल और कमनीय न बनकर अनेक स्थलों पर फारसी पद्धति के अनुरूप वीभत्स बन गया है। इस कारण इसमें शृंगार रस का पूर्ण परिपाक नहीं माना जा सकता। केश-वर्णन जैसी भयानकता यहाँ भी विद्यमान है। जायसी उपमाओं के मोह में इतने बह गए हैं कि उनसे संगति और शालीनता की रक्षा नहीं हो सकी है। वे एक स्थान पर तो उस माँग को स्वर्ण-रेखा, सूर्य-किरण तथा दीपक के प्रकाश के समान कहते हैं जिनका रंग सुनहला होता है, परन्तु आगे चलकर उसे रक्त भरी तलवार की धार कहते हैं। रक्त का रंग लाल होता है। इसलिए इस प्रकार का वर्णन काव्य-दोष माना जायेगा। सूफी कवियों को रक्त से अधिक प्रेम प्रतीत होता है, इसी कारण वे समय-असमय रक्त का उल्लेख करते रहते हैं। यह सूफी साधना-पद्धति की उस क्लिष्टता एवं भयानकता का प्रतीक है जो उसकी विशेषता होते हुए भी भारतीय साधना-पद्धति के नितान्त विपरीत प्रतीत होती है। ऐसी उपमायें शृंगार के सुमधुर वातावरण में रस-भंग कर विकृति उत्पन्न कर देती हैं।

(१०३)

कहौं लिलार दुइज कै जोती। दुइजहि जोति कहाँ जग ओती॥
सहस किरन जो सुरुज दिपाई। देखि लिलार सोउ छपि जाई॥
का सरिवर तेहि देउँ मयंकू। चाँद कलंकी, वह निकलंकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा॥
तेहि लिलार पर तिलक बईठा। दुइज-पाट जानहु ध्रुव दीठा॥

कनक पाट जनु बैठा राजा। सबै सिंगार अत्र लेइ साजा॥
ओहि आगे थिर रहा न कोऊ। दहुँ का कहँ अस जुरै सँजोगू॥
खरग, धनुक, चक बान दुइ, जग मारन तिन्ह नावँ।
सुनि कै परा मुरछि कै, (राजा) मोकहँ हए कुठावँ[1] ॥३॥

शब्दार्थ—ओती=उतनी। दिपाई=दीप्तिमान। दुइज-पाट=द्वितीया के चन्द्रमा का सिंहासन बनाकर। कहँ=किसके। सँजोगू=एकत्रित। चक=चक्र। तिन्ह नावँ=उनकी प्रसिद्धि है।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी पद्मावती के ललाट का वर्णन करते हुए तोते के मुख से कहलाते हैं—

अब मैं उसके ललाट का वर्णन करता हूँ जो द्वितीया के चन्द्रमा के समान वक्राकार और उज्ज्वल है। परन्तु द्वितीया के चन्द्रमा में भी उतनी ज्योति कहाँ है, जो इस ललाट में है। अपनी सहस्र किरणों से दीप्तिमान सूर्य भी उसके ललाट को देख लज्जित हो छिप जाता है—अस्त हो जाता है, परन्तु यह ललाट सदैव दीप्तिमान रहता है। चन्द्रमा से तो मैं उसकी क्या तुलना करूँ, क्योंकि चन्द्रमा कलंकी है और यह निष्कलंक है। और दूसरी बात यह है कि चन्द्रमा को राहु ग्रस लेता है, परन्तु यह ललाट बिना किसी राहु से भयभीत हुए सदैव प्रकाशवान रहता है अर्थात् इसे किसी का भी भय नहीं है। पद्मावती के ऐसे उस ललाट पर एक बिन्दी लगी हुई है जो ऐसी शोभा देती है—मानो द्वितीया के चन्द्रमा रूपी सिंहासन पर ध्रुवतारा आसीन हो। इसके अतिरिक्त वह तिलक ऐसा प्रतीत होता है, मानो कोई राजा अपना सम्पूर्ण शृंगार कर अपने अस्त्र-शस्त्रों से सज-धज कर सोने के सिंहासन पर बैठा हो। वह राजा ऐसा प्रतापशाली है कि उसके सामने कोई भी युद्ध क्षेत्र में खड़ा नहीं रह पाता। मालूम नहीं कि उसने यह सारी तैयारी किसके साथ युद्ध करने के लिए की है?

आगे दोहे में जायसी उस तिलक रूपी राजा के अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन करते हुए पद्मावती की भौंहों, नासिका, नेत्र आदि को उसके अस्त्र-शस्त्र बताते हैं। तोता कहता है कि हे राजा! पद्मावती की नासिका उसके ललाट रूपी स्वर्ण-सिंहासन पर आसीन तिलक-रूपी राजा का खड्ग है, भौंहें धनुष हैं, पुतलियाँ चक्र हैं तथा कटाक्ष दो बाण हैं जिनकी प्राणघातक के रूप में सारे संसार में प्रसिद्धि है; अर्थात् उसके ये सभी अंग दर्शक के प्राण हर लेने में पूर्ण समर्थ हैं। तोते की इन बातों को सुनकर राजा रत्नसेन यह कहता हुआ मूर्च्छित हो गया कि तुमने मेरे मर्मस्थल पर आघात किया है। भाव यह है कि राजा रत्नसेन पद्मावती के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन सुन उसके प्रेम में व्याकुल हो उठा और विरह की तीव्रता के कारण मूर्च्छित हो गया।

पाठ-भेद—१. मो कहँ भए एक ठाउँ=मेरे प्राणों का हरण करने के लिए ये सारे अस्त्र एक स्थान पर एकत्र हो गए हैं।

टिप्पणी – (१) **अलंकार**—'दुइजहि···ओती'—में व्यतिरेक, 'सहस किरन···· जाई'—में हेतूत्प्रेक्षा, 'का सरवरि···परगासा'—में उत्प्रेक्षा, 'चाँद कलंकी···निकलंकू'—में व्यतिरेक, 'खरग····नावँ'—में रूपकातिशयोक्ति।

(२) इस छन्द में सूफी-मत की 'हाल' की स्थिति का-सा आभास मिलता है, जिसमें साधक ईश्वर के रूप का वर्णन सुन उसके प्रेम में पड़ विरह के कारण मूर्च्छित हो जाता है।

(३) डा० गुप्त द्वारा स्वीकृत दोहे की अन्तिम पंक्ति के पाठान्तर से ध्वनित होने वाला अर्थ अधिक सुन्दर और प्रसंगानुकूल प्रतीत होता है, क्योंकि उससे अस्त्र-शस्त्रों की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

(१०४)

भौंहें स्याम धनुक जनु ताना। जा सहुँ हेर मार विष-बाना॥
हनै धुनै उन्ह भौंहनि चढ़े[1]। केइ हतियार काल अस गढ़े ?॥
उहै धनुक किरसुन पर अहा। उहै धनुक राघौ कर गहा॥
ओहि धनुक रावन संघारा। ओहि धनुक कंसासुर मारा॥
ओहि धनुक बेधा हुत राहू। मारा ओहि सहस्राबाहू॥
उहै धनुक मैं तापहँ चीन्हा। धानुक आप बेझ जग कीन्हा॥
उन्ह भौंहनि सरि केउ न जीता। अछरी छपीं, छपीं गोपीता॥
भौंह धनुक, धनि धानुक, दूसर सरि न कराइ।
गगन धनुक जो ऊगै, लाजहि सो छपि जाइ॥४॥

शब्दार्थ—सहुँ=तरफ, ओर। केइ हतियार=किस हत्यारे ने। धानुक=धनुर्धर। बेझ=बेधना। सरि=से। गोपीला=गोपियाँ। धनि=धन्या, नारी।

व्याख्या—पद्मावती के ललाट का वर्णन करने के उपरान्त हीरामन तोता उसकी भौहों का सुन्दर अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करता हुआ कहता है—

उसकी दोनों काली भौंहें ऐसी हैं— मानो चढ़ा हुआ धनुष हो। वे जिसकी तरफ देख लेती हैं तो मानो उसे विषबुझे बाण मार कर आहत कर देती हैं। जब वे भौंहें किसी की ओर देखकर चढ़ जाती हैं; अर्थात् उन भृकुटियों में बल पड़ जाते हैं तो उनसे आहत हो व्यक्ति वेदना से व्याकुल बन अपना सिर धुनने लगता है। न मालूम किस हत्यारे ने काल के समान इन भौंहों को बनाया है ? यही धनुष भगवान कृष्ण के पास था और इसी धनुष को भगवान राम अपने हाथ में पकड़ते थे। उन्होंने इसी धनुष से रावण का संहार किया था और कृष्ण ने इसी धनुष से कंस नामक असुर को मारा था। इसी धनुष से भगवान विष्णु ने राहु का सिर काटा था।

पाठ-भेद—१. उहै धनुक उन्ह भौंहन्ह चढ़ा=उन धनुषों को जो उन भौंहों पर चढ़े हुए हैं।

(इसका दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है कि अर्जुन ने इसी धनुष से रोहू नामक मछली का द्रौपदी के स्वयंवर के समय मत्स्य-भेद किया था।) इसी धनुष से भगवान परशुराम ने सहस्रार्जुन अर्थात् सहस्रबाहु (नामक राजा) का वध किया था।

मैंने उसी धनुष को पद्मावती के पास पहचान लिया था। भाव यह है कि पद्मावती की भौंहें उसी इतिहास-प्रसिद्ध धनुष के समान सब का संहार करने वाली हैं। वह ऐसे उस धनुष को चलाने वाली धनुर्धर स्वयं ही है और उसने उससे सारे संसार को वेध डाला है। पद्मावती की ऐसी उन भौंहों की तुलना में कोई भी नहीं जीत पाया है। उन्हें देखकर अप्सरायें और गोपिकायें लज्जित होकर छिप जाती हैं, अर्थात् ये भौंहें इन सब की भौंहों से अधिक सुन्दर हैं।

पद्मावती की भौंहें धनुष हैं, वह धन्या अर्थात् नारी पद्मावती स्वयं धनुर्धर (धनुष चलाने वाली) है। इसकी समानता अन्य कोई भी नहीं कर सकता। आकाश में जो धनुष (इन्द्र-धनुष) उदय होता है वह भी इन्हें देख लज्जित हो छिप जाता है।

टिप्पणी—(१) अलंकार —'भौंहें···ताना'— मे उत्प्रेक्षा। 'गगन···जाइ'— में हेतूत्प्रेक्षा।

(२) 'ओहि धनुक कंसासुर मारा' तथा 'मारा ओहि सहस्राबाहू'—में परम्परा का विरोध है, क्योंकि कृष्ण ने कंस को हाथों से तथा परशुराम ने सहस्रबाहु को फरसे से मारा था। जायासी में हिन्दू-गाथाओं से सम्बन्धित ऐसी अनेक असंगतियाँ मिलती हैं।

(१०५)

नैन बाँक, सरि पूज न कोऊ। मानसरोदक[1] उथलहिं दोऊ ॥
राते कँवल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं माति चहहिं अपसवाँ ॥
उठहिं तुरंग लेंहि नहिं बागा। चहहिं उलथि गगन कहँ लागा ॥
पवन झकोरहिं देइ हिलोरा। सरग लाइ भुइँ लाइ बहोरा ॥
जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार जाहिं पल माँहा ॥
जबहि फिराहिं गगन गहि बोरा। अस वै भौंर चक्र के जोरा ॥
समुद-हिलोर फिरहिं जनु झूले। खंजन लरहिं, मिरिग जनु भूले ॥
सुभर सरोवर नयन वै, मानिक भरे तरंग।
आवत तीर फिरावहीं, काल भौंर तेहि संग ॥५॥

शब्दार्थ—उथलहिं=उमड़े हुए। भवाँ=चक्कर काटते हैं। माति=मतवाले होकर। अपसवाँ=उड़कर भाग जाना चाहते हैं, अपसरण। बहोरा=वापस। अड़ार=अड़ जाते हैं। सुभर=सुन्दर जल से भरे हुए। काल भौंर=काली पुतलियाँ या काल रूपी भँवर।

पाठ-भेद—१. मान समुँद=मानस समुद्र अथवा मान समुद्र।

व्याख्या—उसके नेत्र ऐसे बाँके अर्थात् सुन्दर हैं कि कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता। वे दोनों नेत्र ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो दो मानसरोवर उमड़े पड़ रहे हों। उन नेत्रों के लाल डोरे मानसरोवर में खिले कमलों के समान हैं जिन पर भौंरे रूपी काली पुतलियाँ चक्कर काटा करती हैं। ये भौंरे रूपी काली पुतलियाँ मानो उन लाल डोरे रूपी लाल कमलों का रस-पान कर मतवाली हो उठी हों और वहाँ से उड़कर भाग जाना चाहती हों। वे नेत्र ऐसे चंचल, शक्तिशाली घोड़ों के समान उठते हैं जो लगाम का बन्धन नहीं मानते अर्थात् लगाम कसने पर भी काबू में नहीं आते। वे ऐसे चंचल घोड़ों के समान हैं जो उछल कर आकाश से जा लगना चाहते हैं। (यहाँ नेत्रों की अतिशय चंचलता से अभिप्राय है।) वे अपनी ओर देखने वालों को उसी प्रकार झकझोर डालते हैं, (व्याकुल बना देते हैं) जैसे आँधी विश्व को झकझोर डालती है। वे दर्शकों के मन में उसी प्रकार उमंग की हिलोरें उत्पन्न कर देते हैं जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं। वे पहले तो आशा की डोर पर बैठा कर दर्शकों को आकाश तक पहुँचा देते हैं, अर्थात् उन्हें स्वर्ग-सुख प्राप्त होने की आशा होने लगती है परन्तु फिर उन्हें पुनः लाकर पृथ्वी पर पटक देते हैं अर्थात् उनकी आशा भंग कर देते हैं।

ऐसे इन नेत्रों के चंचल होते ही सारा संसार चंचल हो उठता है परन्तु ये स्वयं तुरन्त ही अड़ कर, स्थिर होकर पलकों की ओट में जा छिपते हैं, अर्थात् दर्शकों के साथ आशा-निराशा की आँख-मिचौनीं सी खेलते रहते हैं। (आचार्य शुक्ल ने 'उलटि···पल माहाँ' का अर्थ किया है— बड़े-बड़े अड़ने वाले या स्थिर रहने वाले पल भर में उलट जाते हैं।) ये ऐसे नेत्र जब फिरते हैं अर्थात् इधर-उधर दृष्टि डालते हैं तो आकाश को भी पकड़ कर मानो समुद्र में डुबा देते हैं। वे ऐसे नेत्र मानों भँवर-चक्र (समुद्र में पड़ने वाले भँवर) के एक जोड़े के समान हैं। (जिस प्रकार समुद्र में पड़ने वाला भँवर ऊपर उठ कर आकाश से जा लगता है, उसी प्रकार नेत्र मनुष्य के हृदय रूपी समुद्र में आशा की भयंकर हलचल उत्पन्न कर उसे जैसे आकाश पर चढ़ा देते हैं।) वे नेत्र जब घूमते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो समुद्र की लहरों पर झूला झूल रहे हों। अथवा दो खंजन आपस में लड़ रहे हों, अथवा मार्ग भूले हुए मृग इधर-उधर दौड़ रहे हों। (यहाँ पुनः नेत्रों की चंचलता अभिप्रेत है।)

ऐसे वे नेत्र सुन्दर, निर्मल जल से भरे हुए सरोवरों के समान हैं। उनमें पड़े हुए लाल डोरे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो उन सरोवरों में उठने वाली लहरों में माणिक्य (लाल) भर रहे हैं। काली पुतलियाँ रूपी काल-भँवर उन लहरों के साथ किनारे तक आते हैं और फिर उन्हीं के साथ लौट जाते हैं। यहाँ काली पुतलियाँ उन भयंकर भँवरों के समान हैं जो किसी को अपनी चपेट में कसकर उसे नष्ट कर डालना चाहते हों। भाव यह है कि ये पुतलियाँ जिसकी तरफ देख लेती हैं; उसकी स्थिति भँवर में पड़े हुए प्राणी के समान दयनीय हो उठती है, जिसे वह भँवर एक बार तो तट तक

लाकर उसे प्राण-रक्षा की आशा दिला देता है और फिर उसे किनारे से दूर हटा ले जाता है। इसी प्रकार पद्मावती के नेत्रों की ये पुतलियाँ दर्शकों को आशा-निराशा के जाल में उलझा कर व्याकुल बनाये रखती हैं।

टिप्पणी—(१) अलंकार 'मानसरोदक........दोऊ'—में उत्प्रेक्षा, 'सरग.... वहोरा'—में अतिशयोक्ति, 'खंजन........भूले'—में द्वितीय उल्लेख अलंकार, 'आवत... ....संग'—में उपमा।

(२) नेत्रों का यह रूप-वर्णन जायसी की कवित्त्व-शक्ति का एक सबल प्रमाण है। इस वर्णन में पूर्व-वर्णित वीभत्सता का आभास नहीं मिलता।

(३) 'उठहिं तुरंग लेहिं नहिं बागा'—इस पंक्ति से मिलती-जुलती कविवर बिहारी की भी एक पंक्ति मिलती है—

'लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।'

(१०६)

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी॥
जुरी राम रावन कैं सैना। बीच समुद्र भए दुइ नैना॥
बारहिं पार बनावरि साथा। जा सहुँ हेर लाग विष-बाधा॥
उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा ?। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जस जाहिं न गने। वै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहि सब साखी॥
रोवँ-रोवँ मानुष तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े[1]॥
बरुनि बान अस ओपहँ, बेधे रन बन-ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥६॥

शब्दार्थ—बनावरि=बाणावलि, बाणों की पंक्तियाँ। विष-बाधा=विष का रोग, विषाक्त हो जाना। साखी=वृक्ष। साखी=साक्षी, गवाह। सूत=स्रोत, शरीर के रोम कूप। ओपहँ=तेज। रन=अरण्य, जंगल। सौंजहिं=जानवर।

व्याख्या—पद्मावती के नेत्रों का वर्णन करने के उपरान्त हीरामन तोता उसकी बरौनियों का वर्णन करता हुआ कहता है—

मैं उसकी बरौनियों का क्या वर्णन करूँ जो ऐसी बनी हुई हैं मानो दो सेनायें आपस में आमने-सामने बाण ताने हुए खड़ी हों। या राम और रावण की सेनायें एक-दूसरे के सामने खड़ी हों और उनके बीच में दोनों नेत्र मानो समुद्र के रूप में स्थित हों। भाव यह है कि ऊपर और नीचे की बरौनियाँ आमने-सामने खड़ी सेनाओं के

पाठ-भेद—१. काढ़े=बाहर निकाले हैं।

समान हैं तथा उनके बीच के नेत्र समुद्र के समान हैं। इन समुद्रों के दोनों किनारों पर मानो बाणों की पंक्तियाँ या धनुषों पर बाण चढ़ाये धनुर्धरों की पंक्तियाँ युद्ध के लिए सन्नद्ध हो खड़ी हों। (इनके बीच में स्थित नासिका सेतुबन्ध के समान है।) वह पद्मावती जिसकी तरफ एक बार भी देख लेती है वही विष-बाधा से, शरीर में विष व्याप्त हो जाने वाले व्यक्ति के समान तड़पने लगता है। इस संसार में ऐसा कौन है जो उन बाणों का शिकार न हुआ हो। सारा संसार उन बाणों से विद्ध हो रहा है। आकाश में जो अगणित नक्षत्र हैं वे सब उसी के चलाये हुए बाण हैं। उसने सारी पृथ्वी को अपने इन बाणों से घायल कर रखा है। वृक्ष खड़े हुए इस बात की साक्षी दे रहे हैं। मात्र यह है कि तीर के समान खड़े हुए सारे वृक्ष उसी के चलाये हुए बाण हैं। उसी के चलाये बाण मानव-शरीर में रोमों के रूप में खड़े हुए हैं। वे इतने अधिक हैं कि मनुष्य के प्रत्येक रोम-कूप में गहरे बिंधे हुए खड़े हैं; अर्थात् मनुष्य के रोम वे ही बाण हैं।

उसके ये बरौनियों रूपी बाण इतने तेज हैं कि जंगल के सारे वृक्षों को उन्होंने वेध रखा है। जंगली जानवरों के शरीर के सारे रोम तथा पक्षियों के शरीर के सारे पंख इन्हीं बाणों के रूप हैं।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—चतुर्थ पंक्ति से लेकर अन्तिम पंक्ति तक समासोक्ति मानी जा सकती है।

(२) इस छन्द की दो विशेषतायें द्रष्टव्य हैं। पहली यह कि इसमें रहस्यवाद की झलक मिलती है। पद्मावती ईश्वर का प्रतीक है। सृष्टि का कण-कण उसी की प्रतिच्छाया है, उसी के कारण सुन्दर है तथा सारा संसार उसी के विरह में व्याकुल बना रहता है।

दूसरी बात यह कि जायसी ने रहस्यवाद के चक्कर में पड़कर (यदि इस छन्द में हम रहस्यवाद स्वीकार कर लें तो) बड़ी अटपटी कल्पनायें की हैं। उन्हें जो भी वस्तु सीधी दिखाई पड़ी, उन्होंने उसे ही बाण का रूप दे दिया; यहाँ तक कि पक्षियों के कोमल पंखों तक को उन्होंने नहीं छोड़ा। परन्तु नक्षत्रों को उन्होंने बाण कैसे मान लिया ? यह कल्पना पूर्णरूपेण असंगत है।

(३) इस छन्द को प्रारम्भिक तीन पंक्तियों में जायसी की कल्पना ने अपना अपूर्व चमत्कार दिखाया है। ऊपर-नीचे की बरौनियाँ बाण-सधान किए दो सेनाओं के समान आमने-सामने खड़ी हैं, बीच में नेत्र रूपी समुद्र लहरा रहा है। ऐसी मनोरम कल्पनाएँ साहित्य में विरल ही हैं। जायसी जहाँ रहस्यवाद के जाल में न उलझकर वर्णित प्रसंग से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहते हैं, वहाँ उनकी कल्पनाएँ बड़ी सुन्दर उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का स्वरूप धारण कर लेती हैं। परन्तु जैसे ही वे तथाकथित रहस्यवाद की झोंक में आकर, या जब उनकी कल्पना अपना संयम खो बैठती है, कल्पना करने लगते हैं तो उस समय असंगति की सीमा नहीं रह जाती।

(४) यह छन्द प्रायः जायसी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में उद्धृत किया जाता है। चतुर्थ पंक्ति से वर्णन में जो अटपटापन आ जाता हैं, वही रहस्यवाद का जनक माना गया है, क्योंकि रहस्यवाद अटपटा, अस्पष्ट और क्लिष्ट होता है।

(१०७)

नासिक खरग देउँ केहि जोगू। खरग खीन, वह बदन-सँजोगू॥
नासिक देखि लजानेउ सूआ। सूक आइ बेसरि होइ ऊआ॥
सुआ जो पिअर हिरामन लाजा। और भाव का बरनौं राजा॥
सुआ, सो नाक कठोर पँवारी। वह कोंवर तिल-पुहुप सँवारी॥
पुहुप सुगंध करहिं एहि आसा। मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा[1]॥
अधर दसन पर नासिक सोभा। दारिउँ बिंब देखि सुक लोभा॥
खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं। दहुँ वह रस कोउ पाव कि नाहीं॥
देखि अमिय-रस अधरन्ह, भएउ नासिका कीर।
पौन बास पहुँचावै, अस रम छाँड़ न तीर॥७॥

शब्दार्थ—जोगू=समता। बदन-सँजोगू=मुख से संयुक्त है। लजानेउ=लज्जित होता है। पँवारी=लुहारों का एक औजार, जिससे लोहे में छेद किया जाता है। कोंवर=कोमल। हिरकाइ लेइ=पास सटा ले।

व्याख्या—पद्मावती की बरौनियों का वर्णन करने के उपरान्त हीरामन तोता उसकी नासिका का वर्णन करता हुआ कहता है—

हे राजा! मैं पद्मावती की नासिका की समता खड़ग से कैसे करूँ? वह इसके योग्य कैसे हो सकता है? खड़ग तो क्षीण अर्थात् पतला होता है और यह नासिका उसके मुख से संयुक्त होने के कारण पुष्ट है। जिस प्रकार पद्मावती का मुख सुडौल और भरा हुआ है, उसी प्रकार उस मुख का एक अंग होने के कारण यह नासिका भी सुडौल और पुष्ट है, न कि खड़ग के समान क्षीण। उसकी इस नासिका को देखकर तोता भी लज्जित हो उठता है। उसकी नासिका पर मोहित हो स्वयं शुक (शुक्र तारा) बेसरि (नथ) का रूप धारण कर उस पर सदैव बैठा रहता है; अर्थात् उसकी नथ शुक्र तारे के समान उसकी नासिका पर शोभा देती है। मैं जो हीरामन तोता हूँ सो मैं भी उसकी नासिका से लजाकर पीला पड़ गया हूँ। इससे अधिक सौन्दर्य का मैं और क्या वर्णन कर सकता हूँ। तोते की नासिका तो पँवारी (लोहे का एक औजार) के समान कठोर होती है परन्तु पद्मावती की वह नासिका तो इतनी कोमल है, मानो उसे तिल के फूलों से बनाया गया हो। सारे फूल इसी आशा से अपनी सुगन्धि को विकीर्ण करते रहते हैं कि शायद पद्मावती उनके पास उनकी सुगन्धि लेने के लिए

पाठ-भेद—१. बासा=सुगन्धि।

अपनी नासिका सटा ले। उसके अधर और दन्त-पंक्ति के ऊपर वह नासिका ऐसी शोभा देती है मानो तोता अनार के दाने की छाया को देख उसके लोभ में वहाँ झुका हुआ बैठा हो। (पद्मावती के लाल अधरों की छाया पड़ने के कारण उसके सफेद दाँत अनार के दाने की तरह हल्के लाल हो उठते हैं। तोता उन्हीं की हल्की छाया को देख लुभा उठता है।) उस नासिका के दोनों ओर दो खंजन (नेत्र) क्रीड़ा करते हैं। पता नहीं उन दोनों में से कोई उस रस को पा सकेगा अथवा नहीं।

उसके अधरों में भरे अमृत-रस को देख तोता नासिका बनकर बराबर वहाँ बैठा रहता है। उसके मुख से निकलने वाली वायु (साँस) उस अमृत-रस की सुगन्धि को उस तोते रूपी नासिका तक पहुँचाती है और इससे वह इतना मस्त हो उठा है (रम गया है) कि उसके समीप से हट कर कहीं नहीं जाता।

टिप्पणी—(१) अलंकार—नासिक····सँजोगू' तथा 'सुआ सो नाक ·· ···· सँवारी'—में व्यतिरेक। 'नासिक देख····सूआ', 'सुआ····लाज', 'पुहुप गन्ध····हम पासा', 'अधर दसन—लोभा' तथा 'देखि अमिय····छाँड़ न तीर'—में हेतूत्प्रेक्षा।

(१०८)

अधर सुरंग अमी-रस-भरे। बिंब सुरंग लाजि बन फरे॥
फूल दुपहरी जानौं राता। फूल झरहिं जब-जब कह बाता॥
हीरा लेइ सो बिद्रुम-धारा। बिहँसत जगत होइ उजियारा॥
भए मँजीठ पानन्ह रँग लागे। कुसुम-रंग थिर रहै न आगे॥
अस कै अधर अमी भरि राखे। अबहिं अछूत, न काहू चाखे॥
मुख तँबोल-रँग-धारहिं रसा। केहि मुख जोग जो अमृत बसा?॥
राता जगत देखि रँगराती। रुहिर भरे आछहि बिहँसाती॥
अमी अधर अस राजा, सब जग आस करेइ।
केहि कहँ कँवल बिगासा, को मधुकर रस लेइ?॥८॥

शब्दार्थ—फूल दुपहरी=गुल दुपहरिया, गुड़हल का फूल। धारा=ज्योति। विद्रुम=मूँगा। मँजीठ=लाल रङ्ग। रङ्गराती=रङ्ग से भरे।

व्याख्या—पद्मावती की सुन्दर नासिका का वर्णन कर हीरामन तोता इसके अधरों का वर्णन करता हुआ कहता है—

पद्मावती के सुन्दर लाल अधर अमृत-रस से भरे हुए हैं। बिम्बाफल उसके इन अधरों के सौन्दर्य से लज्जित होकर ही वन में जाकर फलते हैं। उसके अधर गुड़हल के पुष्प के समान लाल-लाल हैं। जब वह बात करती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके मुख से फूल झड़ रहे हों। उसके दांत हीरे के समान उज्ज्वल हैं और अधर मूँगे के समान लाल। उसके इन हीरे के समान श्वेत दाँतों की श्वेत ज्योति जब उसके मूँगे

के समान लाल अधरों की लालिमा से मिलकर खिल उठती है, अर्थात् जब पद्मावती हँसती है तो उसके दाँतों एवं अधरों के श्वेत तथा लाल प्रकाश से सारे संसार में प्रकाश भर जाता है। यहाँ कवि ने उषा या अरुणोदय की लालिमा के प्रति गूढ़ संकेत दिया है। भाव यह है कि उसके हँसते ही सारा संसार उषा की अरुणिमा से भर उठता है।

पानों की लाली लगी होने के कारण उसके अधर मजीठ जैसे लाल हो उठे हैं। उनके आगे मजीठ के फूलों का रंग भी स्थिर नहीं रहता, अर्थात् फीका पड़ जाता है। उसके ऐसे वे अधर अमृत से भरे हुए हैं। वे अभी तक अछूते हैं। उनमें भरे उस अमृत रस को अभी तक किसी ने भी नहीं चखा है। भाव यह है कि वह अभी तक कुमारी है इसलिए किसी ने भी उसके अधरों का चुम्बन नहीं कर पाया है। वह मुख में पान खाती है। उन पानों के रंग से उसकी जिह्वा लाल हो उठी है। ऐसा अमृतरस से भरा हुआ वह मुख किसके योग्य है; अर्थात् कौन उसे प्राप्त करेगा ? उसके उन रंग से भरे हुए अधरों को देखकर सारा संसार अनुराग से भर उठा है। (राग या अनुराग का रंग लाल माना गया है।) सारे संसार को स्वयं इस प्रकार प्रभावित देखकर वह अपने इन रक्त भरे अधरों से हँसती रहती है।

हे राजा ! उसके अधरों में ऐसा अमृत भरा हुआ है कि सारा संसार उसे प्राप्त करने की आशा लगाए रहता है। न जाने वह कमल (पद्मावती) किसके लिए विकसित हुआ है ? न जाने कौन भ्रमर उसके उन पँखुड़ियों जैसे अधरों का रसपान करेगा।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(२) कुछ विद्वानों ने तृतीय पंक्ति—'हीरा…उजियारा', 'राता…रङ्गराते'। तथा 'अमिय….आस करेई'—पंक्तियों में रहस्यवाद की व्यंजना मानी है।

(३) इस छन्द में जायसी की काव्य-कला अपना सुन्दर रूप दिखा रही है। वह पद्मावती के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का ऐसा मादक और आकर्षक वर्णन कर रहे हैं कि राजा की उत्कण्ठा निरन्तर तीव्र होती चली जा रही है। अध्यात्म मार्ग में नव-दीक्षित शिष्य को उसका पथ-प्रदर्शक गुरु ईश्वर के आकर्षक रूप का वर्णन कर इसी प्रकार आत्मविभोर करता चला जाता है। जायसी ने यहाँ इसी कौशल से काम लिया है।

(४) 'रुहिर भरे आछहिं बिहँसाती'—में फारसी प्रभाव लक्षित होता है। शृंगार-चित्रण में ऐसे वर्णन वीभत्स माने गए हैं।

(१०९)

दसन चौक बैठे जनु हीरा। औ बिच-बिच रंग स्याम गँभीरा ॥
जस भादौं-निसि दामिनि दीसी। चमकि उठै तस बनी[1] बतीसी ॥
वह सुजोति हीरा उपराहीं। हीरा-जोति सो तेहि परछाहीं ॥

पाठ-भेद — १ भीनि = भिन्न।

जेहि दिन दसनजोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई ।।
रवि ससि नखत दीन्ह ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ।।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ।।
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी। पुनि[1] ओहि जोति और को दूजी ।।
हँसत दसन अस चमके, पाहन उठे झरक्कि।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ दिया दरक्कि[2] ।।६।।

शब्दार्थ—चौक=चार दाँत, दो ऊपर के तथा दो नीचे के। स्याम गम्भीरा=गहरा काला अर्थात् मिस्सी का। बनी=पंक्ति। सुजोति=सुन्दर ज्योति। झरक्कि=झलक। दरक्कि=दरक कर, फटकर।

व्याख्या—पद्मावती के अधरों का वर्णन करने के उपरान्त हीरामन उसकी दन्तावलि के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ राजा रत्नसेन से कहता है—

पद्मावती के सामने के चार दाँत इतने सफेद और चमकीले हैं मानो हीरे जड़े हुए हों। उनके बीच-बीच में मिस्सी का गहरा काला रङ्ग है। (मिस्सी केवल मसूड़ों को ही रँगती है, दाँतो को नहीं।) बीच-बीच में मिस्सी से काले पड़े मसूड़ों से युक्त जब उसकी सफेद दाँतों की बत्तीसी हँसते समय चमक उठती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो भादों की अँधेरी रात में बिजली कौंध उठी हो। (यहाँ मिस्सी से काले पड़े मसूड़े भादों की अँधेरी रात के समान तथा सफेद दाँत बिजली के समान हैं।) उसके उन दाँतों की सुन्दर ज्योति हीरे की ज्योति से भी अधिक उज्ज्वल है। हीरों में जो ज्योति होती है वह उसके इन दाँतों की ज्योति की ही परछाईं है, अर्थात् हीरों ने उन्हीं से ज्योति प्राप्त की है, जैसे चन्द्रमा सूर्य से प्राप्त करता है।

विधाता ने जिस दिन उसके इन दाँतों की ज्योति का निर्माण किया था, उसी दिन इस ज्योति से ही अन्य अनेक ज्योतियाँ उत्पन्न हुई थीं। भाव यह है कि सारे संसार की ज्योतियाँ उसके दाँतों की ज्योति की ही छायामात्र हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि सभी उसकी उन दाँतों की ज्योति से ही प्रकाशित रहते हैं। सम्पूर्ण रत्न, माणिक्य, मोती तथा अन्य पदार्थ उसी की ज्योति से प्रतिभासित होते रहते हैं। जहाँ-जहाँ वह स्वाभाविक रूप से हँस पड़ी, वहीं-वहीं उसकी वह ज्योति छिटक कर प्रकाशित होने लगी। बिजली की चमक भी उसके दाँतों की बराबरी नहीं कर सकती। फिर और कोई ज्योति उसके सम्मुख कैसे ठहर सकती है।

पद्मावती के हँसते ही उसके दाँत इस प्रकार चमक उठे कि उससे पत्थर भी चमकने लगे (और रत्न बन गए)। अनार भी सौन्दर्य में इन दाँतों की बराबरी न कर सका, इसलिए उसका हृदय लज्जा के मारे विदीर्ण होकर फट गया। (अनार पक जाने पर फट जाता है और उसके दाने चमकने लगते हैं। दाँतों की उपमा दाड़िम—अनार के दानों से दी जाती है।)

पाठ-भेद—१. बिनु=बिना, अतिरिक्त। २. तरक्कि।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'दसन चौक····जनुहीरा', 'जस भादों-निसि···· बतीसी'—में वस्तूत्प्रेक्षा, 'हँसत दसन····दरक्कि'—में हेतूत्प्रेक्षा।

(२) भारतीय नख-शिख-वर्णन पद्धति में मिस्सी का वर्णन नहीं किया जाता। मिस्सी लगाने की प्रथा सम्भवतः मुसलमानों के साथ ही यहाँ आई होगी। जायसी ने फारसी के प्रभाव से प्रभावित होकर ही मिस्सी का वर्णन किया है। भारतीय सौन्दर्य-बोध की मिस्सी लगे दाँतों के सौन्दर्य से सङ्गति नहीं बैठती।

(३ यह छन्द जायसी के रहस्यवाद के प्रमाण स्वरूप प्रायः उद्धृत किया जाता है। जायसी पद्मावती के रूप को ही सम्पूर्ण संसार में प्रतिबिम्बित होता हुआ देखते हैं जिसके कारण उनके ऐसे वर्णन लौकिक न रहकर अलौकिक सा रूप धारण कर लेते हैं और अलौकिकता तथा ईश्वर का शाश्वत सम्बन्ध है, इसलिए ऐसे पदों में वाध्य होकर रहस्यवाद की स्थिति को स्वीकार करना ही पड़ता है। इस छन्द की प्रथम तीन पंक्तियाँ पद्मावती के दन्त-सौन्दर्य का अतिशयोक्ति पूर्ण परन्तु मोहक वर्णन प्रस्तुत करती हैं परन्तु चतुर्थ पंक्ति—'जेहि दिन····' के प्रारम्भ होते ही उस सौन्दर्य का रूप लौकिक न रह अलौकिक हो उठता है, और पद्मावती एक सुन्दर मानवी न रह सर्वशक्तिमान ईश्वर का स्वरूप धारण कर लेती है।

(११०)

रसना कहौं जो कह रस बाता। अमृत-बैन सुनत मन राता॥
हरै सो सुर चातक कोकिला। बिनु बसंत यह बैन न मिला॥
चातक कोकिल रहहिं जो नाहीं। सुनि वह बैन लाज छपि जाहीं॥
भरे प्रेम-रस बोलै बोला। सुनै सो माति घूमि के डोला॥
चतुरवेद-मत सब ओहि पाहाँ। रिग, जजु, साम, अथरबन माहाँ॥
एक-एक बोल अरथ चौगुना। इंद्र मोह, बरम्हा सिर धुना॥
अमर, भागवत[1], पिंगल गीता। अरथ बूझि[2] पंडित नहीं जीता॥
भासवती[3] और व्याकरन, पिंगल पढ़ै पुरान।
बेद-भेद सौं बात कह, सुजनन्ह लागै बान॥१०॥

शब्दार्थ—माति=मतवाला होकर। घूमि=चक्कर खाकर। मत=ज्ञान। रिग, जजु, साम, अथरबन=ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। अमर=अमर-कोष। पिंगल=काव्यशास्त्र। भासवती=भास्वती नामक ज्योतिष का एक ग्रन्थ, जिसका लेखक शतानन्द माना जाता है।

व्याख्या—पद्मावती की दंतपंक्ति का वर्णन कर हीरामन तोता राजा रत्नसेन से उसकी जिह्वा तथा उससे उच्चरित शब्दों का वर्णन करता हुआ कहता है—

पाठ-भेद—१. भारथ=महाभारत। २. अरथ-जूझ=अर्थ-युद्ध, शास्त्रार्थ। ३. भाव-सती=भास्वती।

हे राजा ! अब मैं उसकी उस रसना (जिह्वा) का वर्णन करता हूँ, जिससे वह रसभरी बातें कहती है। उसके उस रसना से निकले अमृत-भरे वचनों को सुनते ही मन उसके प्रति अनुरक्त हो जाता है। उसका स्वर इतना सुन्दर है कि चातक और कोयल ने भी उसे चुराने का प्रयत्न किया है परन्तु उन्हें भी ऐसा मधुर स्वर वसन्त-ऋतु आए बिना नहीं मिल पाता। अन्य ऋतुओं में चातक और कोकिल वहाँ नहीं रहते, अन्यत्र चले जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे पद्मावती के सुन्दर सरस स्वर की समता न कर पा सकने के कारण लज्जित हो दूर देशों में जा छिपते हैं। (लोक-प्रसिद्धि है कि कोयल बसन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में कहीं दूसरी जगह चली जाती है, इसी कारण उसकी कूक सुनाई नहीं देती।) वह पद्मावती ऐसे प्रेम रस से भरे वचन बोलती है कि जो कोई उन्हें सुनता है, वही मतवाला हो चक्कर खाता हुआ घूमने लगता है।

वह चतुर्वेद की ज्ञाता है, पंडित है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद—चारों वेदों का ज्ञान उसके पास है। उसके एक-एक शब्द में चार-चार अर्थात् अनेक अर्थ भरे रहते हैं जिन्हें सुनकर इन्द्र मोहित हो जाता है और ब्रह्मा अपना सिर धुनने लगता है। अमरकोष, भागवत, छन्दशास्त्र, गीता आदि ग्रन्थों के शास्त्रार्थ में कोई भी पंडित उससे नहीं जीत पाता।

वह भास्वती (एक ज्योतिष-ग्रन्थ), व्याकरण, छन्दशास्त्र और पुराणों का अध्ययन कर चुकी है। वह अपने शब्दों में वेदों का सा गूढ़ रहस्य भर देती है, जिसे सुनकर विद्वान् इस प्रकार दंग रह जाते हैं मानो उन्हें बाण मार दिया गया हो। भाव यह है कि वेद जैसे गूढ़ रहस्यों भरे उसके वचनों को सुन, विद्वानों के हृदय में तीर-सा गढ़ जाता है। उन्हें इस बात का खेद होता है कि वे ऐसी गूढ़ार्थ भरी बातें नहीं जानते।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'चातक कोकिल····छपि जाँहि'—में हेतूत्प्रेक्षा।

(२) इस छन्द की द्वितीय पंक्ति का अन्तिम अंश पाठान्तर की अपेक्षा रखता है। डा० अग्रवाल ने इसके स्थान पर यह पाठ माना है—'बीन बंसि वह बैनु न मिला।' और इसका अर्थ किया है—'वीणा और वंशी में भी वह स्वर नहीं मिलता।' यह पाठ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि कोयल तो वसंत-ऋतु में कूकती सुनाई पड़ती है परन्तु चातक (पपीहा) का स्वर इस ऋतु में नहीं सुनाई पड़ता। पपीहा वर्षा ऋतु में ही बोलता है।

(१११)

पुनि बरनौं का सुरंग कपोला। एक नारँग दुइ किए अमोला।।
पुहुप-पंक रस अमृत साँधे। केइ यह सुरँग खरौरा बाँधे।।
तेहि कपोल बाएँ तिल परा। जेइ तिल देखि सो तिल-तिल जरा।।
जनु घुँघची ओहि तिल करमुही। बिरह-बान साधे सामुहीं।।

अगिनि-बान जानों तिल सूझा। एक कटाछ लाख दस जूझा॥
सो तिल गाल मेटि नहिं गएऊ। अब वह गाल काल जग भएऊ॥
देखत नैन परी परिछाहीं। तेहि तें रात साम उपराहीं॥
सो तिल देखि कपोल पर, गगन रहा धुव गाड़ि।
खिनहिं उठै खिन बूड़ै, डोलै नहिं तिल छाँड़ि॥११॥

शब्दार्थ—पुहुप-पंक रस=पुष्प-पराग। साँधे=गूँध कर। खरीरा=खाँड़ के लड्डू, खँड़ौरा। रात साम=लाल और काले। उपराहीं=ऊपर। धुव=ध्रुव तारा।

व्याख्या—तोता पद्मावती के सुन्दर कपोल और उस पर बने काले तिल का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करता हुआ कहता है—

मैं उसके सुन्दर कपोलों का क्या वर्णन करूँ, वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो एक अमूल्य नारङ्गी के बीच में से दो टुकड़े कर उन्हें उसके कपोलों के रूप में सजा दिया गया हो। वे ऐसे सुन्दर लगते हैं—मानो फूलों के पराग को अमृत के साथ गूँध कर किसी ने ये दो सुन्दर खाँड़ के लड्डू वहाँ बाँध दिए हों। (डा० अग्रवाल ने खरौरा का अर्थ 'कत्थे की टिकिया' से लिया है अर्थात् किसने ये कत्थे की सुरंग टिकियाँ बाँधी हैं।) उसके बाँये कपोल पर एक तिल है। जो उस तिल को देख लेता है वह उसके प्रेम में पड़ तिल-तिल कर जलता रहता है। मानो घुँघची (गुंजा) भी उसी तिल के कारण काले मुख वाली बन गई है; अर्थात् वह इसके सौन्दर्य को देख ईर्ष्या के कारण काली पड़ गई है। वह काला तिल ऐसा है, मानो कोई सामने ही विरह का बाण ताने खड़ा हो; अर्थात् उस तिल को देखते ही देखने वाले के हृदय में विरह की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। मानो वह तिल उसे अग्निबाण के समान दिखाई पड़ता है (जो उसके हृदय में विरह की आग लगा देता है)। उसके एक कटाक्ष से दस लाख; अर्थात् लाखों मनुष्य जूझ जाते हैं, मर जाते हैं। ऐसा वह भयंकर तिल भी पद्मावती के उस सुन्दर कपोल को नष्ट नहीं कर सका हैं, अर्थात् वह कपोल उस तिल से भी अधिक शक्तिशाली है, इसलिए अब वह संसार के लिए काल के समान भयंकर बन गया है। भाव यह है कि वह कपोल इतना सुन्दर हैं कि संसार का प्रत्येक प्राणी उसे प्राप्त करने के प्रयत्न में अपने प्राणों को संकट में डाल देता है। नेत्रों ने जैसे ही तिल से सुशोभित उस कपोल की ओर दृष्टि डाली वैसे ही उन पर उसकी परछाहीं पड़ गई और वे ऊपर से काले और नीचे लाल हो गए। भाव यह है कि पद्मावती के कपोल लाल हैं, उन पर पड़ा तिल काला है। इस प्रकार कपोल और तिल मिलकर घुँघची का सा रूप धारण कर लेते हैं (घुँघची ऊपर काली और नीचे लाल होती है)। काले तिल को धारण किए ऐसे उस लाल कपोल की मानो नेत्रों में परछाहीं पड़ रही हो जिससे उनका ऊपरी भाग अर्थात् पुतलियाँ काली और भीतरी भाग (लाल डोरों से भरा हुआ) लाल हो उठा है।

ऐसे उस कपोल पर पड़े उस तिल को देख ध्रुवतारा आकाश में उसके सौन्दर्य से अभिभूत हो स्थिर होकर रह गया है। (जैसे तिल स्थिर होता है वैसे ही ध्रुवतारा भी स्थिर रहता है, स्थान नहीं बदलता) वह उस तिल के सौन्दर्य से इतना प्रभावित हो उठा है कि क्षण भर में उदय हो जाता है और दूसरे ही क्षण अस्त हो जाता है, परन्तु अपने स्थान से तिल भर भी परे नहीं हटता।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'पुनि बरनौ····अमोला'—में उपमा। 'पुहुप पंक···बाँधे', 'जनु घुँघची···करमुँहा', तथा 'सो तिल····छाँड़ि'—में उत्प्रेक्षा।

(२) इस छन्द में जायसी ने कपोलों का अत्यन्त सुन्दर और मनोरम चित्रण किया है। 'इक नारङ्ग दुइ किए अमोला'—उपमा तो सम्भवतः अन्यत्र दुर्लभ ही है। कपोल नारङ्गी के आधे टुकड़े के समान अर्द्ध गोलाकार तथा हल्के लाल रङ्ग के हैं। इनकी कल्पना करते ही नेत्रों के समक्ष सुन्दर, सुडौल, सुरङ्ग कपोलों का अभिनव एवं मनोरम चित्र सा अङ्कित हो जाता है। इस उपमा में अर्थ-गौरव का चमत्कार दर्शनीय है।

(११२)

स्रवन दुइ सीप दीप सँवारे। कुँडल कनक रचे उजियारे॥
सनि-कुंडल झलकैं अति लोने। जनु कौंधा लौकहि दुइ कोने॥
दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं॥
तेहि पर खूँट दीप दुइ बारे। दुइ धुव दुऔ खूँट बैसारे॥
पहिरे खुंभी सिंघलदीपी। जनौं भरी कचपचिआ सीपी॥
खिन खिन जबहि चीर सिर गहे। काँपति बीजु दुऔ दिसि रहै॥
डरपहिं देवलोक सिंघला। परै न बीजु टूटि एक कला॥
करहिं नखत सब सेवा, श्रवन दीन्ह[1] अस दोउ।
चाँद सुरुज अस गोहने[2], और जगत का कोउ॥१२॥

शब्दार्थ—लौकहि=चमकती है, दिखाई पड़ती है। खूँट=किनारे। कचपचिआ=कृत्तिका नक्षत्र, जिसमें बहुत से तारे एक गुच्छे से में दिखाई पड़ते हैं। गोहने=साथ में, सेवा में।

व्याख्या—हीरामन तोता पद्मावती कानों तथा के उनमें शोभायमान कुंडलों आदि का वर्णन करता हुआ कहता है—

पद्मावती के कान सीपियों के समान सुडौल, चिकने और उज्ज्वल हैं। उनमें दो स्वर्ण के चमकीले सुन्दर कुंडल पड़े हुए ऐसे लग रहे हैं मानो सीपियों में दो दीपक प्रज्वलित हो रहे हों। ये मणि-जटित कुण्डल, झलकते हुए अत्यन्त सुन्दर लगते हैं।

पाठ-भेद—१. दिपहिं=शोभा देते हैं। २. गहने=आभूषण।

मानो दोनों कानों में विजली कौंध रही हो, अथवा दोनों दिशाओं में सूर्य और चन्द्रमा चमक रहे हों। उन कुण्डलों में जड़े हुए रत्न नक्षत्रों के समान इस प्रकार चकाचौंध उत्पन्न कर रहे हैं कि उनकी ओर देखा तक नहीं जा सकता। इन कानों के ऊपरी भाग में खूँट नामक दो आभूषण ऐसे शोभा दे रहे हैं मानो दो दीपक जल रहे हों। मानो दोनों कानों पर दो ध्रुव तारे बैठा दिए गए हों। उसने सिंहलद्वीप के बने खुम्भी नामक आभूषण (कुकुरमुत्ते की टोपी के आकार का कान के छेदों में पहनने का गहना) पहन रखे हैं जो ऐसे प्रतीत होते हैं—मानो उन कान रूपी सीपियों के भीतर अनेक प्रकार के रत्न इस प्रकार भर दिए गये हों, जैसे कृत्तिका नक्षत्र में वहुत से तारे एक साथ गुच्छे के रूप में जुड़े से दिखाई पड़ते हैं।

क्षण-क्षण में अर्थात् रह-रह कर जब पद्मावती अपने पल्ले को सिर पर रख लेती है तो उसके कानों में पड़े वे आभूषण चमकते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं मानो दोनों दिशाओं में बिजली चमक रही हो। उस चमक को देखकर देवलोक भी सिंहलद्वीप से इस आशंका के कारण भयभीत हो उठा है कि कहीं वहाँ चमकती हुई उस बिजली की एकाध कला (टुकड़ा) टूट कर उसके ऊपर न आ गिरे।

विधाता ने उसे ऐसे सुन्दर कान दिए हैं जो अनेक प्रकार के रत्नजटित आभूषणों से ऐसे शोभा देते हैं मानो नक्षत्र (आभूषणों में जड़े रत्न) उनकी सेवा कर रहे हों। सूर्य और चन्द्रमा जैसे तो उसकी सेवा में रहते ही हैं, औरों की तो मैं बात ही क्या कहूँ।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—सम्पूर्ण पद में उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

(२) दोहे में पुनः रहस्यवाद की झलक दिखाई पड़ती है। सूर्य और चन्द्रमा जिसके सेवक हों, ऐसी शक्ति ईश्वर के अतिरिक्त और कोई भी दूसरी नहीं हो सकती।

(११३)

बरनौं गीउ कंबु[१] कै रीसी। कंचन-तार-लागि जनु सीसी[२]॥
कुंदै फेरि जानि गिउ काढ़ी। हरी पुछार ठगी जनु काढ़ी॥
जनु हिय काढ़ि परेवा ठाढ़ा। तेहि तें अधिक भाव गिउ बाढ़ा॥
चाक चढ़ाइ साँच जनु कीन्हा। बाग[३] तुरंग जानु गहि लीन्हा॥
गए मयूर तमचुर जो हारे। उहै पुकारैं साँझ सकारे॥
पुनि तेहि ठाँव परी तिनि रेखा। घूँट जो पीक लीक सब देखा॥
धनि ओहि गीउ दीन्ह बिधि भाऊ। दहुँ कासौं लेइ करै मेराऊ॥
कंठसिरी मुकुतावली, सोहै अभरन गीउ।
लागै कंठहार होइ, को तप साधा जीउ॥११३॥

पाठ-भेद—१. कूँज=क्रौंच पक्षी, सारस। २. कंज नार जनु लागेउ सीसी=मानों स्तबक (सीसी) के रूप में लगा हुआ कंज-नाल है। ३. बाँक=बाँका।

शब्दार्थ—गीउ=ग्रीवा, गर्दन। कंबु=शंख। रीसी=ईर्ष्या (उत्पन्न करने वाली) अथवा 'केरीसी'=कैसी, जैसी, समान। कुंदै=खराद। पुछारि=मोरनी। काढ़ि=निकाल कर, तान कर। सकारे=सुबह। तिनि=तीन। भाऊ=सौन्दर्य। मेराऊ=मिलन। कंठसिरी=कंठ श्री (गले का एक आभूषण)।

व्याख्या—हीरामन तोता पद्मावती की सुन्दर ग्रीवा का वर्णन करता हुआ कहता है—

मैं पद्मावती की शंख के समान सुन्दर ग्रीवा का वर्णन करता हूँ। (यदि 'रीसी' शब्द का अर्थ 'ईर्ष्या उत्पन्न करने वाली' माना जाय तो इसका अर्थ होगा कि) जो शंख के हृदय में भी ईर्ष्या उत्पन्न करने वाली है; अर्थात् शंख से भी अधिक सुन्दर है। वह ग्रीवा ऐसी सुन्दर प्रतीत होती है, जैसे किसी शीशी में सोने का तार लगा हुआ हो। वह ऐसी सुडौल है, मानो खराद पर तराश कर उतारी गई हो अथवा उसका मोरनी से हरण किया गया हो जिसके कारण मोरनी ठगी सी-खड़ी रह गई है। जब कबूतर अपना सीना तानकर खड़ा हो जाता है तो उस समय उसकी फूली हुई गर्दन बड़ी सुन्दर प्रतीत होती है। परन्तु पद्मावती की इस ग्रीवा का सौन्दर्य उस कपोत की ग्रीवा के सौन्दर्य से भी अधिक बढ़ा-चढ़ा है। (नारी की ग्रीवा की उपमा कपोत ग्रीवा से दी जाती है।) मानो कुम्हार के चाक पर चढ़ाकर उस ग्रीवा को साँचे में ढाला गया है। लगाम खींचने पर जैसे घोड़े की गर्दन तन जाती है, पद्मावती की छवि भी वैसी ही सुन्दर है। उस ग्रीवा के सौन्दर्य को देखकर मोर और मुर्गे भी हार मान गए हैं और अपनी उस पराजय-जनित ग्लानि से दुखी हो सुबह-शाम चिल्लाते रहते हैं। फिर उस ग्रीवा में तीन रेखायें पड़ी हुई हैं। वह अत्यन्त कोमल होने के कारण पारदर्शी-सी हो गई है, क्योंकि जब वह पान की पीक निगलती है तो वह पीक की लाल रेखा उसकी गर्दन में साफ दिखाई पड़ती है। विधाता ने उस नारी, (पद्मावती) को इतनी सुन्दर ग्रीवा प्रदान की है। न जाने विधाता किससे उसका मिलन करायेगा!

उसकी ग्रीवा में कंठश्री (कंठमाला) और मुक्तावली (मोती की माला)—जैसे आभूषण शोभायमान हैं। किस प्राणी ने ऐसी तपस्या की है जो कंठ-हार बनकर उस ग्रीवा से लगने का सौभाग्य प्राप्त करेगा।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—सम्पूर्ण पद में उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

(२) इस छन्द में कुछ स्थलों का भाव स्पष्ट नहीं होता; जैसे—'कंचन-तार लागि जनु सीसी' से जायसी न मालूम किस उपमा की ओर संकेत दे रहे हैं, यह ज्ञात नहीं होता। सोने के तार लगी शीशी का गर्दन के सौन्दर्य से कौन-सा सामंजस्य हो सकता है? डा० गुप्त ने 'कंज नार' पाठ मान कर क्रौंच-ग्रीवा का तथा 'सीसी' का स्तबक (गुच्छा) अर्थ माना है। परन्तु नारी की ग्रीवा को क्रौंच पक्षी (सारस) की ग्रीवा के समान बताना बड़ा हास्यास्पद लगता है। दूसरी पंक्ति है—'हरी पुछार ठगी जनु ठाढ़ी।' इस पंक्ति का अर्थ भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न लगाया है। डा०

मुंशीराम शर्मा 'सोम' इसका अर्थ करते हैं कि जिसको देखकर हरे-हरे मोर भी ठगे हुए के समान खड़े रह जाते हैं। इस अर्थ की संगति नहीं बैठ पाती। एक टीकाकार ने अर्थ किया है—अथवा 'हरी हुई मोरनी ठगी सी खड़ी है।' हमें ये सारे अर्थ अटपटे से प्रतीत हुए, इसलिए हमने डा० अग्रवाल द्वारा किए गये अर्थ के अनुसार ही इस पंक्ति का अर्थ किया है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसके दो पाठान्तर दिये हैं—'हारि पुछारि हरी जनु ठाढ़ी' तथा 'मनहुँ पुछारि ग्रीव जनु ठाड़ी।' इन दोनों ही पाठान्तरों में से द्वितीय को स्वीकार कर लेने से इस पंक्ति का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है; अर्थात् पुछारि (मोर) अपनी ग्रीवा को उन्नत किए खड़ा हो। मोर की ग्रीवा अत्यन्त सुन्दर मानी जाती है।

(११४)

कनक-दंड दुइ भुजा कलाई। जानौं फेरि कुँदेरैं भाई॥
कदलि गाभ[1] कै जानौ जोरी। औ राती ओहि कँवल-हथोरी॥
जानो रकत हथोरी बूढ़ी। रवि परभात तात, वै जूड़ी॥
हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा। रुहिर भरी अँगुरी तेहि साथा॥
औ पहिरे नग-जरी अँगूठी। जग बिनु जीउ, जीउ ओहि मूठी॥
बाहूँ कंगन टाड़, सलोनी। डोलत बाँह भाउ गति लोनी॥
जानौ गति बेड़िन देखराई। बाँह डोलाइ जीउ लेइ जाई॥
भुज-उपमा पौंनार न पूजी, खीन भयउ तेहि चित।
ठाँवहि ठाँव बेध[2] भा, हिरदै ऊबि साँस लेइ नित॥१४॥

शब्दार्थ—कुँदेरैं=खराद पर। भाई=फेर कर सुन्दर बनाया है। कदलि-गाभ=केले की मुलायम पिंडी। कँवल-हथोरी=कमल के समान हथेली। जूड़ी=शीतल। टाड़=टड्डे, वलय। भाउ=सुन्दर। बेड़िन=बेड़िनी, नाचने वाली वेश्या। डोलाइ=हिला कर। पौनार=कमल नाल, पद्मनाल। बेध=काँटे। ऊबि=ऊपर उठ कर।

व्याख्या—हीरामन तोता पद्मावती की भुजा, कलाई आदि का वर्णन करता हुआ कहता है—

उसकी दोनों भुजायें और कलाइयाँ दो स्वर्ण-दंडों के समान हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो (विधाता रूपी) खरादी ने उन्हें खराद पर चढ़ाकर सुडौल और चिकना बनाकर इतना सुन्दर बनाया हो। वे दोनों भुजायें ऐसी मालूम पड़ती हैं, मानो केले के नरम कल्लों की जोड़ी हो। (केले की पिंडी बहुत ही मुलायम, चिकनी और सुडौल होती है।) उसकी लाल हथेलियाँ कमल के समान हैं। हथेलियाँ इतनी लाल हैं मानो रक्त में डूबी हुई हों। प्रभात का बाल-रवि भी सौन्दर्य और गुण में उनकी समानता नहीं कर सकता, क्योंकि बाल-रवि तप्त (गरम) होता है, परन्तु ये हथेलियाँ शीतल हैं।

पाठ-भेद—१. कदलि खाँभ=कदली खम्भ। २. बेह=छिद्र।

वे इतनी अधिक लाल हैं, मानो किसी ने अपना हृदय निकाल कर अपनी हथेली पर रख लिया हो । ऐसी उन हथेलियों में इसी कारण रक्त से भरी उंगलियाँ जुड़ी हुई हैं । हृदय निकालने के कारण ही ये उंगलियाँ रक्त से सन गई हैं । (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—पद्मावती ने न जाने कितनों के हृदय निकाल कर अपनी हथेलियों पर रख लिए हैं । और इसी कारण उसकी उंगलियाँ रक्त से सन गई हैं ।)

अपनी ऐसी रक्त-भरी उंगलियों में वह रत्नजड़ित अंगूठी पहने है । सारा संसार प्राण-विहीन हो रहा है, क्योंकि संसार के प्राणों को तो उसने अपनी मुट्ठी में बन्द कर रखा है । वह अपनी भुजाओं में सुन्दर भुजबन्ध, कंगन और टड्डे पहने हुए है । इन आभूषणों से युक्त उसकी भुजायें जब हिलती हैं तो उनकी यह गति इतनी सुन्दर और आकर्षक दिखाई पड़ती है—मानो बेड़िनी अपनी नृत्य-कला का प्रदर्शन कर रही हो । पद्मावती इस प्रकार मनोरम गति से अपनी भुजाओं का संचालन कर लोगों के प्राण हर लेती है; अर्थात् दर्शक उस पर मोहित हो अपने प्राणों को उस पर न्यौछावर कर बैठते हैं ।

उसकी भुजा की उपमा कमल नाल (कमल को डंडी) से नहीं दी जा सकती । वह कमल नाल अपनी इस पराजय-जनित चिन्ता के कारण ही इतनी क्षीण (पतली) हो गई है । और इस लज्जा के कारण उसका सारा शरीर कंटकित हो उठा है । (कमल नाल में काँटे होते हैं ।) और वह लज्जा के कारण जल के भीतर अपने को छिपा लेती है परन्तु साँस घुट जाने से व्याकुल हो नित्य जल के ऊपर उठ आती है । (जैसे-जैसे जल की सतह ऊँची होती जाती है, कमल नाल भी उसके साथ ही ऊपर उठती चली जाती है ।)

टिप्पणी (१) अलंकार—'कनक-दण्ड……कलाई'—में उपमा। 'कदलि-गाभ……जोरी' तथा 'भुज उपमा……चित'—में हेतूत्प्रेक्षा । 'रवि-परभात……जूड़ी'—में व्यतिरेक ।

(२) 'जानो रकत……तेहि साथा' पंक्तियों में फारसी-प्रभाव या सूफी प्रभाव के कारण वीभत्सता आ गई है । रक्त आदि की उपमा देना सूफी कवियों की विशेषता रही है । हथेलियों और उंगलियों का ऐसा वीभत्स वर्णन पाठक या श्रोता में रसानुभूति जाग्रत न कर, जुगुप्सा-भाव ही उत्पन्न करता है । इसी प्रकार भुजा-संचालन की उपमा बेड़िनी के कला-प्रदर्शन से करना भी बहुत ही भोंड़ा और गन्दा प्रतीत होता है ।

(३) 'जग बिनु जीउ, जीउ ओहि मूठी' में पाठकों का यदि विशेष आग्रह ही हो तो रहस्यवाद की झलक मान सकते हैं । सारे संसार के प्राण ईश्वर की मुट्ठी में रहते हैं और पद्मावती ईश्वर का प्रतीक मान ली गई है ।

(११५)

हिया थार, कुच कंचन लारू । कनक कचोर उठे जनु चारू ॥
कुंदन बेल साजि जानु कूँदे । अमृत रतन मोन दुइ मूँदे[1] ॥

पाठ-भेद—१. अंब्रित भरे रतन दइ मूँदे=अमृत से (प्रिय के लिए) रत्नों से भर कर वन्द कर दिए गए हैं ।

बेधे भौंर कंट केतकी। चार्हाहि बेध कीन्ह कंचुकी ॥
जौबन बान लेंहि नहिं बागा। चार्हाहि हुलसि हिये हठ लागा ॥
अगिन-बान दुइ जानों साधे। गग बेर्धाहि जौं होंहि न बाँधे ॥
उतँग जँभीर होइ रखवारी। छुइ को सकै राजा कै बारी ॥
दारिउँ दाख फरे अनचाखे। अस नारँग दहुँ का कह राखे ॥
राजा बहुत मुए तपि, लाइ लाइ भुइँ माथ।
काहू छुवै न पाए गए मरोरत हाथ ॥१५॥

शब्दार्थ—कचोर=कटोरा। कूँदे=खराद पर चढ़ाये हुए। मोन=मोना, पिटारा, डिब्बा। कंट=काँटा। साधे=सन्धान, चढ़े,। जंभीर=जम्भीरी नीबू।

व्याख्या—पद्मावती का हृदय (छाती) थाल के समान है, जिसमें उसके स्तन रूपी दो सोने के लड्डू रखे हुए हैं। अथवा मानो दो सोने के सुन्दर कटोरे उलट कर उस हृदय रूपी थाल में सजा दिए गए हों। वे स्तन ऐसे सुन्दर लगते हैं मानो सोने के दो वेल के फलों को खराद पर तराश कर वहाँ पर सजा दिया गया हो। अथवा रत्नों से वने दो पिटारों में अमृत भर, बन्द कर वहाँ रख दिया गया हो। उन स्तनों के ऊपर जो काली घुण्डियाँ हैं वे ऐसी प्रतीत होती हैं मानो उन स्तन रूपी केतकी के काँटों में बिंध कर दो भौंरे वहीं चिपके रह गए हों, और अब उसकी कंचुकी (चोली) को फाड़-कर बाहर निकल जाना चाहते हों। (यहाँ भाव चोली के भीतर उभरी हुई स्तन की घुण्डियों से है।) उसके ये स्तन मानो यौवन के बाण हैं, जो धनुर्धर (पद्मावती) का अनुशासन न मानकर उमंग में भर किसी के हृदय में बिंध जाना चाहते हैं। (यहाँ आलिंगन की भावना है।) मानो पद्मावती ने दो अग्निबाण चढ़ा रखे हों। यदि इनको (चोली में) बाँधकर नहीं रखा जाता तो ये सारे संसार को वेध डालते। अथवा ये स्तन पद्मावती के शरीर रूपी वृक्ष पर ऊँचे पर लगे दो जम्भीरी नीबू हैं, जिनकी रात-दिन रखवाली की जाती है। ये राजा की फुलवारी के फूल हैं, ऐसा किसका साहस है जो इनका स्पर्श भी कर सके। (यहाँ 'वारी' शब्द में श्लेप है। इसके अनुसार इसका यह अर्थ है कि यह राजा की कन्या है, ऐसा किसका साहस है जो इसके इन स्तनों रूपी जम्भीरी नीबुओं का स्पर्श भी कर सके।) उसके ये स्तन और उनकी घुंडियाँ ऐसी हैं मानो अनार और अंगूर फल रहे हों जिन्हें किसी ने चखा न हो। (यहाँ स्तन अनार तथा घुंडियाँ काले अंगूरों के समान हैं।) ऐसे ये नारंगी रूपी स्तन न मालूम किसके लिए सम्हाल कर रखे गए हैं।

ऐसे उन स्तनों को प्राप्त करने के लिए अनेक राजा तपस्या कर और पृथ्वी पर माथा टेक-टेक कर मर गए परन्तु किसी ने भी उनका स्पर्श नहीं कर पाया और हाथ मलते हुए अपने-अपने घरों को लौट गए। भाव यह है कि अनेक राजाओं ने पद्मावती को प्राप्त करने के लिए राजा गंधर्वसेन से प्रार्थना की परन्तु उन्हें निराश हो हाथ मलते हुए लौट जाना पड़ा।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'हिया थार······चारू'—में रूपक, 'कुन्दन बेल ······मूँदे'—में उत्प्रेक्षा, 'बेधे भौर······केतकी'—में रूपकातिशयोक्ति, उतँग······ राखै'—में मुद्रा, 'बारी' - में श्लेष, 'चाहहिं······लागा'—में अनुप्रास।

(२) स्तनों के इस वर्णन में शालीनता का अभाव होने के कारण अश्लीलता का पुट आ गया है। जायसी अश्लीलता से मुक्त नहीं हैं, इस बात का ध्यान रखना चाहिए। उनके सौन्दर्य-वर्णन में तुलसी की-सी शालीनता और संयम तथा सूर की सी वाक्-पटुता एवं काव्य-शक्ति का अभाव है। अश्लीलता का कारण यह है कि वे सूफी होने के कारण प्रेम-मार्गी थे। प्रेम-मार्ग में प्रिय के सौन्दर्य का उत्तेजक वर्णन इसलिए अपेक्षित होता है, क्योंकि इसके द्वारा गुरु साधक को प्रिय के प्रति भयानक रूप से अनुरक्त बना देना चाहता है और अश्लीलता सदैव भयानक रूप से उत्तेजक होती है।

(११६)

पेट परत जनु चंदन लावा। कुहँ-कुहँ केसर-बरन सुहावा॥
खीर अहार न कर सुकुवाँरा। पान फूल के रहै अधारा॥
साम भुअंगिनि रोमावली। नाभी निकसि कँवल कहँ चली॥
आइ दुऔ नारंग बिच भई। देखि मयूर[1] ठमकि रहि गई॥
मनहु चढ़ी भौंरन्ह पाँती। चंदन-खाँभ बास कै माती॥
की कालिंदी बिरह-सताई। चलि पयाग अरइल बिच आई॥
नाभि-कुंड[2] बिच बारानसी। सौंह को होई, मीचु तहँ बसी॥
सिर करवत, तन करसी, बहुत सीझ तेहि आस।
बहुत धूम घुटि-घुटि मुए, उतर न देई निरास॥१६॥

शब्दार्थ—परत=पत्र, पत्ता (पाठान्तर—पत्र), परतें। पयाग=प्रयाग। अर-इल=प्रयाग में वह स्थान जहाँ यमुना गंगा से मिलती है। करवत=आरा (काशी-करवट से तात्पर्य है)। करसी=करीष, उपले या कण्डे की आग, जिसमें शरीर सिझाना बड़ा तप समझा जाता था। सीझ=सीझना।

व्याख्या—हीरामन तोता राजा रतनसेन से पद्मावती के पेट, त्रिबली, रोमा-वलि, नाभि आदि का वर्णन करता हुआ कहता है—

पद्मावती के पेट पर परतें पड़ी हुई हैं; अर्थात् त्रिबली (पेट पर पड़ने वाली तीन परतें) ऐसी शोभयमान हैं मानो चन्दन की तीन रेखाओं वाली खौर लगा दी गई हो। उस पेट का रंग कुंकुम और केशर के समान (हल्का लाल और सुनहला) अत्यन्त शोभायमान है। इस पंक्ति का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि उसका पेट

पाठ-भेद—१. मँजूर=मयूर। २ नाभी कुंडर=नाभि-कुंड।

पत्र (पत्ते) के आकार का है और ऐसी शोभा दे रहा है जैसे चन्दन से पुता हुआ पत्ता शोभा देता है। नारी के पेट की शक्ल बिल्कुल पीपल के पत्ते जैसी होती है। चन्दन का लेप उस पेट के उज्ज्वल और हल्की लालिमा लिए गोरे रंग का प्रतीक है। ऐसे उस पत्ते रूपी चन्दन लगे पेट पर कुंकुम और केशर के रंग छिटके हुए हैं।

वह पद्मावती इतनी सुकुमार है अर्थात् उसका पेट इतना कोमल है कि वह दूध का आहार भी नहीं करती और केवल पान-फूल के सहारे रहती है। उस पेट पर रोमावली काली नागिन के समान है जो उसकी नाभि (टुण्डी) रूपी विवर (छेद) से बाहर निकल कर उसके मुख रूपी कमल की गन्ध का पान करने के लिए ऊपर की ओर चली हो। और ऊपर जाकर ग्रीवा (गर्दन) रूपी मोर को देख, भय से ठिठक कर उसकी दोनों कुच रूपी नारंगियों के बीच छिप गई हो। (रोमावली नाभि से आरम्भ होकर दोनों स्तनों के सन्धि-स्थल तक जाती है।) वह रोमवलि ऐसी प्रतीत होती है मानो पद्मावती के शरीर रूपी चन्दन के खम्भे की सुगन्धि से मतवाली हो भौंरों की पंक्ति उसके ऊपर चढ़ रही हो। (यहाँ रोमावलि की श्यामता से अभिप्राय है) या मानो कृष्ण के विरह में सताई हुई यमुना प्रयाग और अरइल के बीच वह रही हो। (यमुना का रंग काला है। प्रयाग और अरइल—दोनों स्तन हैं जिनके बीच यमुना गंगा में मिल समाप्त हो जाती है) उसके नाभि-कुण्ड के मध्य बनारस स्थित है। ऐसी उस नाभि के सामने कौन आ सकता है, क्योंकि वहाँ मृत्यु का वास है। भाव यह है कि जिस प्रकार काशी (बनारस) में आकर मनुष्य 'करवट कुण्ड' में मोक्ष की कामना में अपने प्राण दे देते हैं। (काशी-करवट ले लेते हैं), उसी प्रकार उस नाभि रूपी कुण्ड में मोक्ष की कामना से आने वाले व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होते हैं; अर्थात् वह नाभि इतनी सुन्दर है कि उसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करने को प्रस्तुत हो जाते हैं।

ऐसी उस पद्मावती को प्राप्त करने के लिए अनेक राजकुमारों ने काशी-करवट लिया, अपने सिर को आरे से चिरवाया और शरीर को कण्डों की आग में तपाया; अर्थात् सहर्ष मृत्यु और कष्टों का आलिंगन किया। (कण्डों की आग में तपना पद्मावती के विरह की ज्वाला में दग्ध होना है।) इनमें से अनेक हृदय में लगी विरहाग्नि से उत्पन्न धुएँ से घुट-घुट कर मर गए, अर्थात् विरह में तड़प-तड़प कर समाप्त हो गए। परन्तु पद्मावती ने इनमें से किसी को (स्वीकारात्मक) उत्तर नहीं दिया, क्योंकि वह स्वयं कामना-रहित है। (ईश्वर निष्काम होता है।)

टिप्पणी—(१) नारी के पेट पर विद्यमान त्रिबली और रोमावली का वर्णन करना कवियों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। मैथिल-कोकिल विद्यापति तथा सूरदास ने भी इनका बड़ा ही सरस वर्णन किया है। विद्यापति का वर्णन द्रष्टव्य है—

'नाभि विवर सयँ लोम लतावलि,
भुजगि निसास पियासा

नासा खगपति चंचु भरम-भय,
कुच गिरि सन्धि निवासा।'

(२) जायसी के इस वर्णन में दो असंगतियाँ हैं। यहाँ भुजंगिनी कमल-गन्ध की आशा से ऊपर चढ़ती है परन्तु सर्प चन्दन की गन्ध का प्रेमी होता है, न कि कमल की गन्ध का। इसलिए यहाँ 'कमल' शब्द का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार भौंरा कमल-गन्ध का प्रेमी होता है, न कि चन्दन की गन्ध का। इसलिए चन्दन के खम्भे पर भौंरों का चढ़ना कवि-प्रसिद्धि के विपरीत है।

(३) इस छन्द में भी जायसी नाभि-कुण्ड के वर्णन में भयंकरता ले आये हैं।

(४) दोहे में रहस्यवाद माना जा सकता है, क्योंकि पद्मावती रूपी ईश्वर निष्काम रहता है और असंख्य साधक उसके विरह में अपने प्राण देते रहते हैं।

(११७)

बैरिनि पीठि लीन्हि वह पाछे[1]। जनु फिरि चली अपछरा काछे॥
मलयागिरि के पीठि सँवारी। बेनौ नागिन चढ़ी जो कारी॥
लहरैं देति पीठि जनु चढ़ी। चीर-ओहार कँचुली मढ़ी॥
दहुँ का कहँ अस बेनी कीन्हीं। चंदन बास भुअंगै लीन्हीं॥
किरसुन करा चढ़ा ओहि माथे। तब तौ छूट, अब छुटै न नाथे॥
कारे कवँल गहे मुख देखा। ससि पाछे जनु राहु बिसेखा॥
को देखै पावै वह नागू। सो देखै जेहि के सिर भागू[2]॥
पन्नग पंकज मुख गहे, खंजन तहाँ बईठ।
छत्र, सिंघासन, राज, धन ताकहँ होइ जो डीठ॥१७॥

शब्दार्थ—काछे=सज-धज कर। कै=से। चीर-ओहार=ओढ़नी का झीना वस्त्र। करा=कला, तेज। नाथै=नाथ लेना, सर्प को वश में कर लेना। बिसेखा=दिखाई दे। पन्नग=सर्प। पंकज=कमल। डीठ=दिखाई देना।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी हीरामन तोते द्वारा पद्मावती की पीठ और वेणी के सौन्दर्य का वर्णन करवाते हुए कहते हैं—

पेट की दुश्मन पीठ ने पेट से उस रोमावलि को छीनकर अपने पास पीछे ले लिया है। (मानो रोमावलि ही उसकी वेणी बन गई है।) वह वेणी उसकी पीठ पर ऐसी शोभा देती है मानो कोई अप्सरा मुख मोड़े पीछे की तरफ देखती हुई लौटकर चली जा रही हो। उसकी पीठ ऐसी शोभायमान है मानो मलयगिरि से उसका निर्माण कर उसे सजाया गया हो। भाव यह है कि पीठ मलयगिरि के समान उन्नत, पुष्ट और सुगन्धित है। और उस मलयगिरि रूपी पीठ पर वेणी रूपी काली नागिन चढ़ रही

पाठ-भेद— १. वेणी पीठ लीन्ह ओइ पाछै=उसने वेणी को जो पीठ पर धर रखा है।
२. माथे मनि=मस्तक में मणि जैसा भाग्य हो।

हो। मानो वह वेणी रूपी नागिन उसकी पीठ पर चढ़कर लहरा रही है। वेणी के ऊपर झीनी चुनरी पड़ी हुई है जिसके भीतर वह वेणी इस प्रकार चमक रही है मानो केंचुली चढ़ी नागिन हो। न मालूम ऐसी इस वेणी का निर्माण किसके लिए किया गया है। मानो यह वेणी रूपी सर्पिणी उसकी मलयगिरि रूपी पीठ की चन्दन-गन्ध से आकर्षित हो उसका पान कर रही हो।

भगवान कृष्ण अपनी कला अर्थात् तेज के प्रताप से इसी नागिन के सिर पर चढ़े थे। उस समय तो यह छूट गई थी परन्तु इस बार इसे इस तरह नाथ दिया गया है कि छूटकर नहीं जा सकेगी। यहाँ भाव यह है कि उस वेणी में चुटीला गुँथा हुआ है। इसलिए इस बार वह कस कर नाथ दी गई है; अर्थात् वेणी मस्तक से जुड़ी होने के कारण कभी अलग नहीं हो सकती (कृष्ण ने कालिय नाग को वश में करके छोड़ दिया था। यहाँ उसी प्रसंग के प्रति संकेत है।) इस काले नाग (काली वेणी) को अपने मुख में कमल (पद्मावती का मुख) पकड़े हुए देखा गया है; अर्थात् उस मुख पर वह वेणी इस प्रकार छाई हुई है मानो उसे अपने मुख में पकड़ रखा हो। अथवा ऐसा प्रतीत होता है जैसे चन्द्रमा (मुख) के पीछे राहु (काली वेणी) दिखाई दे रहा हो। ऐसे उस नाग के (वेणी के) कौन दर्शन कर सकता है ? उसके दर्शन तो वही कर सकता है जिसके ललाट पर सौभाग्य के चिह्न हों अर्थात् जो भाग्यशाली हो।

वह वेणी ऐसी प्रतीत होती है मानो काला नाग कमल को मुख में दावे हुए हो और उसके सिर पर खंजन (नेत्र) पक्षी बैठा हो। (ज्योतिषशास्त्र का मत है कि यदि कमल को मुख में दाबे काले नाग के फन पर खंजन पक्षी बैठा दिखाई दे तो देखने वाले को राज्य मिलता है।) ऐसी उस नाग रूपी वेणी के दर्शन करने वाले को राजछत्र, सिंहासन, राज्य, धन आदि की प्राप्ति होगी।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—सन्देह, उत्प्रेक्षा तथा रूपकातिशयोक्ति।

(२) पहली पंक्ति के आरम्भ में, डा० गुप्त ने, 'बैरिनि' के स्थान पर 'वेणी' पाठ माना है। इसे स्वीकार कर लेने से अर्थ की संगति बैठ जाती है। 'बैरिनि' पाठ को स्वीकार करने से अर्थ में खींचतान करनी पड़ती है। अतः 'बेणी' पाठ ही अधिक संगत और सुन्दर है।

(११८)

लंक पुहुमि अस आहि न काहू। केहरि कहौं न ओहि सरि ताहू॥
बसा लंक बरनै जग झीनी। तेहि तें अधिक लंक वह खीनी॥
परिहँस पियर भए तेहिं बसा। लिए डंक[1] लोगन्ह कहँ डसा॥
मानहुँ नाल खंड दुइ भए। दुहुँ बिच लंक-तार रहि गए॥
हिय के मुरे चलै वह तागा। पैग देत कित सहि सक लागा ?॥

पाठ-भेद—१. लंक=कटि।

छुद्रघंटिका मोहहिं राजा। इन्द्र-अखाड़ आइ जन बाजा ।।
मानहुँ बीन गहे कामिनी। गावहिं सबै राग रागिनी ।।
सिंघ न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बनबासु।
तेहि रिस मानुस-रकत पिय, खाय मारि कै माँसु ।।११८।।

शब्दार्थ—लंक=कटि, कमर। बसा=बर्रं। परिहँस=ईर्ष्या, डाह। मानहुँ नाल खंड दुइ=कमाल नाल को तोड़ने पर उसके बीच कुछ महीन सूत लगे रह जाते हैं। लंक-तार=तार रूपी कटि। मुरै=मुड़ने से।

व्याख्या—जायसी पद्मावती की अतिशय क्षीण कटि और उसमें पड़ी करधनी के सौन्दर्य का वर्णन हीरामन तोते के मुख से करवाते हुए कहते हैं—

सारी पृथ्वी पर उसकी जैसी कटि दूसरी कोई भी नहीं है। सिंह की कटि भी उसकी समता में नहीं ठहर पाती। सारा संसार यह कहता है कि बर्रं की कटि बहुत पतली होती है परन्तु पद्मावती की कटि उससे भी अधिक क्षीण (पतली) है। इसी कारण बर्रं ईर्ष्या से पीली पड़ गई और अपना डंक लिए लोगों को डसती फिरती है। पद्मावती की कटि ऐसी है मानो कमल नाल के दो टुकड़े कर दिए गए हों और उन दोनों के बीच कुछ बहुत ही महीन सूत जुड़े रह गए हों। यह कटि उन्हीं सूतों के समान पतली है। वह इतनी संवेदनशील है कि हृदय में होने वाले भाव-परिवर्तन के साथ ही मुड़ जाती है। फिर कदम आगे रखने पर तो वह उस कष्ट और भार को कैसे सह सकेगी। कदम उठाते ही उसके टूट जाने का भय रहता है। ऐसी उस कटि में छोटी-छोटी घण्टियों वाली करधनी पड़ी हुई है जिसके किंकिणि-रव अर्थात् ध्वनि को सुनकर राजा गण मोहित हो जाते हैं और वह स्वर इतना सुन्दर होता है मानो इन्द्र के अखाड़े में सुमधुर बाजा कोमल धुनों के साथ बज रहा हो, अथवा कोई कामिनी हाथ में वीणा पकड़े विभिन्न प्रकार की सभी राग-रागिनियाँ गा रही हो।

सिंह उसकी कटि की समता कर विजय नहीं प्राप्त कर सका, हार गया। और हार कर लज्जा के मारे वनवासी हो गया, वन में जा छिपा। अपनी पराजय के क्रोध के कारण खिसिया कर वह मनुष्यों का रक्त पीता है और उन्हें मार कर उनका मांस-भक्षण करता है।

टिप्पणी—अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(११९)

नाभि कुंड सो मलय-समीरू। समुद-भँवर जस भँवै गँभीरू ।।
बहुतै भँवर बवंडर भए। पहुँचि न सके सरग कहँ गए ।।
चंदन माँझ कुरंगिनि खोजू। दहुँ को पाउ, को राजा भोजू ।।
को ओहि लागि हिवंचल सीझा। का कहँ लिखी, ऐस को रीझा ? ।।
तीवइ कँवल सुगंध सरीरू। समुद-लहरि सोहै तन चीरू ।।

झूलहिं रतन पाट के झोंपा। साजि मैन अस कापर कोपा ?॥
अबहि सो अहै कंवल कै करी। न जनौ कौन भौंर कहं धरी॥
बेधि रहा जग बासना, परमिल मेद सुगंध।
तेहि अरघानि भौंर सब, लुबुधे तजहिं न बंध[1] ॥१९॥

शब्दार्थ—नाभिकुण्ड=कुण्ड के समान गहरी नाभि। समुद-भँवर=वात्या-चक्र, जलचक्र, समुद्र में पड़ने वाला भँवर। भँवै=चक्कर खाती है। खोजू=खुर का निशान। सीझा=तपस्या की। तीवइ=स्त्री। समुद-लहर=लहरियादार वस्त्र। धरी=सुरक्षित रखी है। मेद=सुगन्धित नाभि। अरघानि=सुगन्ध। बंध=बन्धन।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी पद्मावती की नाभि तथा वस्त्र का वर्णन करते हुए कहते हैं—

पद्मावती की नाभि कुण्ड के समान गहरी है और उसमें से मलयगिरि की वायु सी सुगन्धि आती है। वह इतनी गहरी है जितना कि समुद्र में पड़ा हुआ चक्कर खाता भँवर गहरा होता है। उसकी गहराई की समानता करने के प्रयत्न में अनेक भँवर बवंडर (आँधी) बन गए, अर्थात् अत्यन्त भयंकर हो उठे परन्तु उसकी गहराई को तो न पा सके, बल्कि ऊपर उठकर आकाश तक पहुँच गए। (जलचक्र ऊपर उठ कर बहुत ऊँचा पहुँच जाता है।) 'सरग कहँ गए' से दूसरा अर्थ यह लिया जा सकता है कि स्वर्गवासी हो गए अर्थात् मर गए, नष्ट हो गए। अथवा वह नाभि चन्दन के वन में बने हिरणी के खुर के निशान के समान है। ऐसी उस नाभि को कौन प्राप्त करेगा ? पता नहीं, राजा भोज के समान भाग्यशाली कौन राजा उसे प्राप्त करेगा। कौन ऐसा योगी है जिसने उसे प्राप्त करने के लिए हिमालय में जाकर तपस्या की है ? वह किसके भाग्य में लिखी है, ऐसा कौन है जिस पर वह (पद्मावती) रीझ उठेगी ?

ऐसी वह नारी कमल के समान है, और उसके शरीर से कमल की सुगन्धि आती है। उसके शरीर पर लहरियादार वस्त्र शोभायमान है जिसमें रेशम के रत्न-जटित गुच्छे झूल रहे हैं। मालूम नहीं उसे इस प्रकार सजाकर कामदेव ने किस पर कोप किया है। अभी तो वह कमल की कली के समान अछूती और कोमल है। न मालूम विधाता ने किस भौंरे के लिए उसे सुरक्षित करके रखा है।

सारा संसार उसकी सुगन्धियुक्त नाभि से निकलने वाली सुगन्धि से सुवासित हो रहा है। उसकी उस सुगन्धि का पान करने के लिए भौंरे (राजागण) लुब्ध होकर उसके आस-पास मँडराते रहते है और उसके मोह के बंधन से छुटकारा नहीं पाते।

टिप्पणी—अलंकार - रूपक।

(१२०)

बरनौं नितंब लंक कै सोभा। औं गज-गवन देखि मन लोभा॥
जुरे जंघ सोभा अति पाए। केरा-खंभ फेरि जनु लाए॥

पाठ-भेद—१. नीवी बंध=इजारबन्द, नाड़ा।

कँवल-चरन अपि रात बिसेखी। रहै पाट पर, पुहुमि न देखी ॥
देवता हाथ हाथ पगु लेहीं। जहँ पगु धरैं सीस तहँ देहीं ॥
माथे भाग कोउ अस पावा। चरण कवँल लेइ सीस चढ़ावा ॥
चूरा चाँद सुरुज उजियारा। पायल बीच करहिं झनकारा[1] ॥
अनवट बिछिया नखत तराईं। पहुँचि सकै को पायँन ताईं ॥
बरनि सिंगार न जानेउँ, नखसिख जैस अभोग।
तस जग किछुइ न पाएउँ, उपमा देउँ ओहि जोग ॥२०॥

शब्दार्थ—फेरि=उलट कर। बिसेखे=दिखाई देते हैं। पाट=सिंहासन। माथे भाग=सौभाग्यशाली। चूरा=चमक चूड़ा। सुरुज=सूर्य। अनवट=पैर के अँगूठे में पहना जाने वाला छल्ला। अभोग=अछूता।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी हीरामन तोते द्वारा पद्मावती के नख-शिख-वर्णन का उपसंहार करते हुए उसके नितम्ब, जंघा आदि की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अब मैं उसके नितम्बों का वर्णन करता हूँ जो उसकी कटि की शोभा है। उसकी हाथी जैसी मस्त, झूमती हुई चाल को देखकर सब का मन लुब्ध हो उठता है। जुड़ी हुई अर्थात् आपस में एक-दूसरे का स्पर्श करने वाली उसकी जंघायें अत्यन्त सुन्दर लगती हैं। वे ऐसी प्रतीत होती हैं—मानो केले के खम्भों (तनों) को उल्टा करके रख दिया हो। [केले के तने ऊपर की ओर पतले तथा नीचे की ओर मोटे होते हैं। पद्मावती की जंघायें ऊपर की ओर मोटी तथा नीचे की ओर सानुपातिक रूप में पतली हैं। इसी कारण कवि ने उत्प्रेक्षा की है—मानो केले के तनों को उल्टा करके सजा दिया गया हो। साथ ही जंघाओं की मसृणता (चिकनापन) भी अभिप्रेत है।]

उसके दोनों कमल जैसे सुन्दर चरण देखने में अत्यन्त लाल हैं। वे चरण सदैव सिंहासन पर ही रहते हैं, उन्होंने कभी पृथ्वी को देखा तक नहीं है। जब वह चलती है तो देवता उसके उठाये, प्रत्येक कदम को अपने हाथों पर सम्हाल लेते हैं। वह जहाँ-जहाँ पग धरती है वहाँ-वहाँ देवता उसके नीचे शीश रख देते हैं। शायद ऐसा सौभाग्य किसी बिरले ने ही पाया होगा जो इन चरण-कमलों को उठाकर अपने शीश पर चढ़ा सके। उसने चरणों में चमक-चूड़े पहन रखे हैं जो चाँद और सूरज की तरह चमकते हैं और पायलों के बीच पड़े झनकार उत्पन्न करते रहते हैं। उसके चरणों की उंगलियों में पहने गए छल्ले और बिछिया नक्षत्र और तारों के समान झलमलाते रहते हैं। ऐसे उन चरणों के पास कौन पहुँच सकता है!

तोता कहता है कि मैं श्रृंगार का वर्णन करना नहीं जानता। उसका श्रृंगार नख से लेकर शिख तक जैसा अछूता है उसका वर्णन करना मेरी सामर्थ्य से बाहर

पाठ-भेद—१. पायल बीजु करहिं चमकारा=पायल बिजली हैं, जो चमत्कार करते रहते हैं।

है। मुझे तो इस संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं दिखाई पड़ती, जिससे मैं उसके सौन्दर्य की उपमा दे सकूँ।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'केरा-खंभ····लाए'—में उत्प्रेक्षा। 'चूरा चाँद···· उजिआरा'—में उपमा। 'अनवट······ तराई'— में रूपक।

(२) जायसी ने पद्मावती के इस नख-शिख-वर्णन को फारसी-पद्धति के अनुसार 'शिख' से प्रारम्भ कर 'नख' पर लाकर समाप्त किया है; जबकि भारतीय पद्धति के अनुसार यह वर्णन 'नख' से प्रारम्भ कर 'शिख' पर जाकर समाप्त किया जाता है।

(३) पद्मावती के सौन्दर्य का इतना विस्तृत चित्रण करने के उपरान्त भी जायसी को सन्तोष नहीं होता, और वे स्वीकार करते हैं कि मुझे नख-शिख-वर्णन करना नहीं आता। परन्तु उनकी इस उक्ति को उनकी विनयशीलता और शालीनता के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसे नख-शिख-वर्णन सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य, में उंगलियों पर गिनने लायक हैं। इस वर्णन में जायसी ने प्रचलित कवि-प्रसिद्धियों, उपमानों आदि का प्रायः परम्परा-भुक्त रूप ही अपनाया है।

(४) जायसी ने पद्मावती के नख-शिख का वर्णन आगे चलकर 'पद्मावती-रूप-चर्चा खंड' में पुनः किया है जो इस वर्णन से बहुत मिलता-जुलता है।

(५) जिस प्रकार जायसी ने इस छन्द के अन्त में पद्मावती को अनुपमेय माना है, उसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास भी सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते समय यह कहकर चुप से हो जाते हैं कि—

"सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजसु को लेई॥
जो पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥"

(६) यहाँ जायसी ने पद्मावती को बिछिया पहने हुए बताया है जो भारतीय परम्परा के विरुद्ध है, क्योंकि अविवाहित हिन्दू नारियाँ बिछिया नहीं पहनतीं। हिन्दुओं में बिछिया नारी के सुहाग का प्रतीक माना जाता है।

(७) छठवीं पंक्ति के अन्त का डा० गुप्त ने जो पाठ माना है, उससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

११

प्रेम-खंड

(१२१)

सुनतहि राजा गा मुरछाई। जानौं लहरि सुरुज कै आई ॥
प्रेम-घाव-दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई ॥
परा सो पेम-समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा ॥
विरह-भौंर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीउ हिलोरा लेई ॥
खिनहिं उसास[1] बूड़ि जिउ जाई। खिनहिं उठै निसरै[2] बौराई ॥
खिनहि पीत, खिन होइ मुख सेता। खिनहिं चेत, खिन होइ अचेता ॥
कठिन मरन तें प्रेम-बेवस्था। ना जिउ-जियै, न दसवँ अवस्था ॥
जनु लेनिहार न लेंहि जिउ, हरहिं तरासहिं ताहि।
एतनै बोल आव मुख,[3] करैं 'तराहि तराहि' ॥१॥

शब्दार्थ—लहर सुरुज=सूर्य की किरणों की लहर; अर्थात् लू का झोंका। बिसँभरा=बेहोश, बेसँभाल। भाँवरि=चक्कर। बेवस्था=दशा। दसवँ अवस्था=दशम दशा, मरण। लेनिहार=लेने वाले, यम के दूत।

व्याख्या—जब हीरामन तोते ने राजा रत्नसेन के सम्मुख पद्मावती के अनुपम सौन्दर्य का नख-शिख वर्णन किया तो उसे सुन कर राजा मूर्च्छित हो गया। जायसी राजा की उसी दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सुनते ही राजा रत्नसेन मूर्च्छित हो गया मानो सूर्य की लहर, अर्थात् लू का थपेड़ा खा गया हो। प्रेम के घाव की पीड़ा को कोई भी नहीं जानता। जिसके यह घाव लगता है केवल वही इसकी पीड़ा को जानता है। राजा प्रेम के आधार समुद्र में पड़ गया और एक के बाद एक आने वाली लहरों के थपेड़े खा-खा कर बेहोश हो गया। (यहाँ लहरें पद्मावती की स्मृतियाँ हैं; अर्थात् वह पद्मावती की याद कर-कर बेहोश हो गया।) वह पद्मावती के विरह रूपी भँवर में पड़ चक्कर काटने लगा।

पाठ-भेद—१. निसास=साँस रहित, निष्प्राण। २. निसँसै=निश्वास लेता है। ३. एतना बोल न आव मुख।

(व्याकुल हो डगमगाने लगा, चक्कर खाने लगा)। रह-रह कर अर्थात् क्षण-क्षण में उसके प्राणों में एक हूक सी उठने लगी। क्षण भर में ही उसकी साँस डूब जाती थी और उसे प्राणान्तक वेदना होने लगती थी और दूसरे ही क्षण उसकी घुटी हुई साँस पागल के समान एक गम्भीर निश्वास के रूप में बाहर निकल पड़ती थी। भाव यह है कि वह रह-रह कर गहरी साँसें भर रहा था। कभी उसका मुख पीला पड़ जाता था और फिर क्षण भर में ही सफेद हो उठता था। कभी उसे होश आ जाता था और फिर तुरन्त ही वह बेहोश हो जाता था। यह प्रेम की अवस्था मृत्यु से भी अधिक कठिन है। न तो इसमें प्राण जीवित ही रहते हैं और न मौत ही आती है।

प्रेम की इस भयंकर दशा में ऐसा प्रतीत होता है—मानो प्राणों को लेने वाले यमराज के दूत प्राणों को नहीं लेते, परन्तु प्रेमी को धीरे-धीरे त्रास देते हुए पीड़ित करते हैं। ऐसी उस भयानक दशा में राजा रत्नसेन के मुख से बार-बार केवल एक ही शब्द निकल रहा था—'त्राहि-त्राहि !' अर्थात् 'बचाओ बचाओ'।

टिप्पणी—(१) इस छन्द में जायसी प्रेम-मार्ग की प्रथम अवस्था—'हाल' अर्थात् उन्माद की दशा का वर्णन कर रहे हैं। इस दशा, में हर्ष और उल्लास न रह कर केवल विरह की कसक और वेदना ही शेष रह जाती है। इस वेदना से प्रेमी मूर्च्छित हो जाता है और उसे प्राणान्तक वेदना होती है।

(२) इस छन्द में प्रेम की सुन्दर व्यंजना के रूप में जायसी की भावुकता की अपूर्व शक्ति का सौन्दर्य एवं गहनता दर्शनीय है। प्रेम-विरह के संचारी भावों का चित्रण अत्यन्त मनोरम हुआ है।

(१२२)

जहँ लगि कुटुंब लोग औ नेगी। राजा राय आए सब बेगी ॥
जावत गुनी गारुड़ी आए। ओझा, बैद, सयान बोलाए ॥
चरचहिं चेष्टा परिखहिं नारी। नियर नाहिं ओषद तहँ बारी ॥
राजहिं आहि लखन कै करा। सकति-बान मोहा है परा ॥
नहिं सो राम, हनिवँत बड़ि दूरी। को लेइ आव सजीवन-मूरी ॥
बिनय करहिं जे जे गढ़पती। का जिउ कीन्ह, कौन मति मती ? ॥
कहहु सो पीर, कहा पुनि खाँगा ?। समुद सुमेरु आव तुम्ह माँगा ॥
धावन तहाँ पठावहु, देहिं लाख दस रोक।
होइ सो बेलि जेहि बारी, आनहिं सबै बरोक ॥२॥

शब्दार्थ—नेगी=दास-दासी। राय=सामन्त-सरदार। बेगी=शीघ्र, तुरन्त। जावत=जितने। गारुड़ी=साँप का विष उतारने वाले। बारी=फुलवारी, पद्मावती। लखन=लक्ष्मण। करा=कला, लीला, दशा। मती=विचार, इच्छा। खाँगा

=कमी, अभाव । धावन=हरकारे, दूत । रोक=रोकड़, रकम । बरोक=वरेच्छा, फलदान ।

व्याख्या—जहाँ तक जितने भी कुटुम्बी, दास-दासी, राजा और सामन्त-सरदार थे, सब तुरन्त वहाँ आ गए । जितने भी गुणी, गारुड़ी, ओझा, वैद्य, सयाने आदि थे—सभी को बुलवा लिया गया । वे सब लोग राजा की चेष्टाओं को देख-देख तथा नाड़ी की परीक्षा कर-कर अपना-अपना विचार प्रकट करने लगे । लेकिन राजा को जो रोग था, उसकी औषधि राजा की फुलवारी में पास नहीं थी अर्थात् राजा के रोग की औषधि पद्मावती उसके पास नहीं थी, बहुत दूर सिंहलद्वीप में थी । राजा की दसा वैसी ही थी जैसी शक्ति-बाण लगने पर लक्ष्मण की हुई थी । लक्ष्मण शक्ति-बाण के लगने से मूर्च्छित हुए थे, और राजा विरह-बाण लगने से । राजा के पास लक्ष्मण के उपचार की व्यवस्था करने वाले राम जैसे न तो बड़े भाई थे और न संजीवनी-बूटी लाकर देने वाले हनुमान जैसे सेवक । राजा के रोग का उपचार करने वाली संजीवनी बूटी अर्थात् पद्मावती तो वहाँ से बहुत दूर थी, उसे कौन लाता ? वहाँ जितने भी गढ़-पति थे, वे सब राजा से विनय कर रहे थे कि आपके मन में कौन-सी इच्छा उठी है, आप क्या चाहते हैं ? हे राजा ! हमसे अपनी पीड़ा बताओ कि आपको क्या कष्ट है, आपको किस चीज का अभाव सता रहा है । आपकी आज्ञा हो तो हम समुद्र और सुमेरु पर्वत को भी यहाँ ला सकते हैं ।

जहाँ पर आपकी अभिलषित वस्तु है, वहाँ तुरन्त हरकार भेजिए । हम लोग दस लाख की रकम तक देने को तैयार हैं । आपके रोग को शान्त करने वाली लता जिस फुलवारी में होगी उसे वहाँ से वरेच्छा करके ले आयेंगे । भाव यह है कि आप यह तो बताइए कि वह बाला कौन है जिसके विरह में आप इतने व्याकुल हो रहे हैं । हम किसी भी कीमत पर उसके साथ आपकी सगाई पक्की करवा देंगे ।

(१२३)

जब भा चेत उठा बैरागा । बाउर जनौं सोइ उठि जागा ।।
आवत जग बालक जस रोआ । उठा रोइ 'हा ज्ञान सो खोआ' ।।
हौं तो अहा अमरपुर जहाँ । इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ ? ।।
केइ उपकार मरन कर कीन्हा । सकति[1] हँकारि जीऊ हरि लीन्हा ।।
सोवत रहा जहाँ सुख-साखा । कस न तहाँ सोवत विधि राखा ? ।।
अब जिउ उहाँ, इहाँ तन सूना । कब लगि रहै परान-बिहूना ।।
जौ जिउ घटहि काल के हाथा । घट न[2] नीक पै जीउ-निसाथा ।।
अहुठ हाथ तन-सरवर, हिया कवँल तेहि माँह ।
नैनहिं जानहु नीयरे, कर पहुँचत औगाह ।।३।।

पाठ-भेद—१. जगाइ=जाग्रत कर । २. घटन ।

शब्दार्थ—सोइ=सोकर। हँकारि=उद्बुद्ध कर। साखा=छाँह। परान-बिहूना=प्राणों के बिना। निसाथा=बिना साथ के। अहुठ=साढ़े तीन। औगाह=गहरा।

व्याख्या—उस मूर्च्छा के टूटने पर जब राजा को होश आया तो उसके मन में इस जीवन और संसार के प्रति वैराग्य जाग उठा। उसकी दशा ऐसी हो रही थी; जैसे कोई बावला (पागल) सोकर उठे और आँखें फाड़-फाड़ कर इधर-उधर देखने लगे। जिस प्रकार बालक जन्म लेते ही रोने लगता है, राजा रत्नसेन उसी प्रकार रोता हुआ कहने लगा—'हाय, मेरा जो ज्ञान था, वह नष्ट हो गया।' अर्थात् राजा का ज्ञान पद्मावती ही थी। होश आने पर उसके मानस-चक्षुओं के सम्मुख निरन्तर उपस्थित रहने वाली उसकी मूर्ति लुप्त हो गई। राजा कहने लगा कि—'मैं तो अमरपुर (स्वर्ग) में था; यहाँ मर्त्यलोक में कहाँ आ पड़ा? भाव यह है कि अपनी अचेतावस्था में मैं स्वप्न की सी दशा में पद्मावती के साथ स्वर्ग का सा आनन्द लूट रहा था। किसने प्रेम में मेरा मरण करके मेरे साथ यह उपकार किया है, अर्थात् किसने मुझे प्रेम का परिचय देकर उस प्रेम में मर-मिटने की भावना जाग्रत कर मेरे साथ उपकार किया है। (राजा प्रेम-मरण को अपना सौभाग्य समझ रहा है।) किसने मेरी सोई हुई शक्ति को जाग्रत कर मेरे प्राणों को हर लिया; अर्थात् जब मेरी शक्ति सोई हुई थी (मैं अचेत था), तब मेरे प्राण (पद्मावती) मेरे पास थे और अब जब मेरी शक्ति जाग्रत हो उठी है (मैं होश में आ गया हूँ) तो मेरे प्राणों को हर लिया है। (पद्मावती अब मेरे पास नहीं रही है।)

मैं उस अचेतावस्था में उस स्थान पर सो रहा था—जहाँ मुझे सारे सुख उपलब्ध थे; अर्थात् पद्मावती का सान्निध्य प्राप्त था। विधाता ने मुझे उसी स्थान पर क्यों न सोता रहने दिया। अब मेरे प्राण तो वहाँ पड़े हैं और यहाँ यह सूना तन पड़ा है। परन्तु आखिर यह शरीर प्राणों के बिना कब तक जीवित रहेगा। यदि प्राण स्वाभाविक रीति से काल के द्वारा नष्ट हो जायँ तो ठीक है; अर्थात् यदि मेरी स्वाभाविक मृत्यु हो जाय तो ठीक है। परन्तु प्राण-विहीन यह शरीर अच्छा नहीं रहता। भाव यह है कि यदि मैं स्वाभाविक रूप से मर जाऊँ तो अच्छा है, परन्तु यह स्थिति सहन नहीं हो रही कि मेरा शरीर प्राण के बिना यहाँ पड़ा रहे। प्राण के न रहने पर यह शरीर शोभा नहीं देता; अर्थात् मेरा प्राण पद्मावती तो वहाँ है और मैं यहाँ पड़ा हूँ। इस स्थिति से तो मेरी मौत आ जाए, वही अच्छा।

साढ़े तीन हाथ का यह शरीर रूपी सरोवर है जिसमें हृदय रूपी कमल खिल रहा है, अर्थात् हृदय में पद्मावती का निवास है। (जायसी ने प्रायः पद्मावती को कमल कहा है।) नेत्रों से देखने पर तो वह कमल नजदीक जान पड़ता है, परन्तु हाथ बढ़ा कर उसे लेने का प्रयत्न करने पर वह अथाह गहरा अर्थात् पहुँच से दूर प्रतीत होता है। भाव यह है कि पद्मावती मेरे मानस-चक्षुओं के समीप रहती है परन्तु जब मैं हाथ बढ़ाकर उसे पकड़ने का प्रयत्न करता हूँ तो वह दूर हो जाती है।

टिप्पणी—(१) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'बैरागा' शब्द का अर्थ माना है—'किसी वस्तु के लिए अतिशय इच्छा या उत्कण्ठा।' इस अर्थ को स्वीकार कर लेने पर इस पंक्ति का अर्थ-चमत्कार बढ़ जाता है; अर्थात् राजा को चेत होते ही उसके मन में पद्मावती को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा उठ खड़ी हुई, क्योंकि अचेतावस्था में वह पद्मावती के साथ विहार कर रहा था और होश में आते ही पद्मावती गायब हो गई।

(२) अलंकार—'अहुठ हाथ''''माँह' में रूपक।

(३) दोहे में आध्यात्मिक रहस्यवाद माना जा सकता है।

(१२४)

सबन्ह कहा मन समुझहु राजा। काल सेंति कै जूझ न छाजा।।
तासौं जूझ जात जो जीता। जानत कृष्ण तजा गोपीता[१] ।।
औ न नेह काहू सौं कीजे। नाँव[२] मिट, काहे जिउ दीजै।।
पहिले सुख नेहहिं जब जोरा। पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा।।
अहुठ हाथ तन जैस सुमेरू। पहुँचि न जाइ परा तस फेरू।।
[३]ज्ञान-दिस्टि सौं जाइ पहुँचा। पेम अदिस्ट गगन तें ऊँचा।।
धुव तें ऊँच पेम-धुव ऊआ। सिर देइ पाँव देइ सो छूआ।।
तुम राजा औ सुखिया, करहु राज-सुख भोग।
एहि रे पंथ सो पहुँचै, सहै जो दुःख बियोग।।४।।

व्याख्या—राजा की बातों को सुनकर वहाँ पर उपस्थित सब लोगों ने कहा कि हे राजा! तुम मन में विचार कर देखो; अर्थात् समझ से काम लो। काल से युद्ध करना किसी को भी शोभा नहीं देता। युद्ध तो उससे किया जाता है जिस पर विजय प्राप्त करने की सम्भावना हो। कृष्ण इस सत्य को जानते थे, इसीलिए गोपियों को छोड़कर चले गए थे; अर्थात् कृष्ण में गोपियों के साथ जूझने की शक्ति नहीं थी। प्रेम किसी से भी नहीं करना चाहिए। प्रेम करने पर होता यह है कि प्रेमी का नाम-निशान तक मिट जाता है, इसलिए प्रेम करके क्यों अपने प्राणों को दिया जाय? जब किसी से प्रेम का सम्बन्ध जोड़ा जाता है तो पहले तो बड़ा सुख मिलता है परन्तु फिर उस प्रेम-सम्बन्ध को अन्त तक निभाना कठिन हो जाता है। यह मानव-शरीर साढ़े तीन हाथ का है और प्रेम सुमेरु पर्वत के समान ऊँचा है। इसलिए यह उसकी ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकता। यह शरीर संसार के चक्करों में पड़ा रहने के कारण प्रेम की उस उच्चता तक नहीं पहुँच सकता। वहाँ तक तो केवल ज्ञान-दृष्टि द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। प्रेम अदृश्य है, उसे इन नेत्रों से नहीं देखा जा सकता; वह तो आकाश से भी अधिक ऊँचा है। (इन पंक्तियों का एक अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि यह साढ़े तीन हाथ का शरीर सुमेरु पर्वत के समान है जो सांसारिक चक्करों में

पाठ-भेद—१. जात न=नहीं जाते। २. मीठ=मीठा, मधुर। ३. गँगन=आकाश।

लिप्त रहकर इस संसार में पर्वत के ही समान स्थिर होकर रहता है, और प्रेम आकाश से भी ऊँचा है। जिस प्रकार सुमेरु पर्वत आकाश का स्पर्श नहीं कर सकता, उसी प्रकार सांसारिक चक्करों में बँधा यह शरीर प्रेम की उच्चता का स्पर्श नहीं कर सकता है।)

प्रेम रूपी ध्रुव तारा आकाश में उदय होने वाले ध्रुव तारे से भी ऊँचा उदय होता है; अर्थात् प्रेम ध्रुव तारे से भी अधिक स्थिर होता। वह कभी डिग नहीं सकता। इसका स्पर्श तो केवल वही कर सकता है जो पहले अपना सिर कटा ले और तब इस प्रेम-मार्ग पर कदम बढ़ाये।

तुम राजा हो और सुख से रहने के अभ्यस्त हो, इसलिए अपने राज-सुख का भोग करो। इस मार्ग पर तो वही पहुँच सकता है जो वियोग को सह सके। भाव यह है कि तुम्हारा शरीर सुकुमार है, इसलिए तुमसे इस भयङ्कर मार्ग पर नहीं चला जायेगा।

(१२५)

सुए कहा मन बूझहु[1] राजा। करब पिरीत कठिन है काजा।।
तुम राजा जेईं घर पोई। कवँल न भेंटेउ, भेंटेउ कोई[2]।।
जानहिं भौंर जो तेहि पथ लूटे। जीउ दीन्ह औ दिएहु न छूटे।।
कठिन आहि सिंघल कर राजू। पाइय नाहिं जूझ कर साजू।।
ओहि पथ जाइ जो होइ उदासी। जोगी, जती, तपा, संन्यासी।।
भोग किऐ जौं पावत भोगु। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू।।
तुम राजा चाहहु सुख पावा। भोगिहिं जोग करत नहिं भावा।।
साधन्ह सिद्धि न पाइय, जौ लगि सधै न तप्प।
सो पै जानै बापुरा, करै जौ सीस कलप्प।।५।।

शब्दार्थ—जेईं=खाई। पोई=पकी-पकाई। कोईं=कुमुदिनी। साजू=सेना। उदासी=वैरागी। साधन्ह=साध से ही, इच्छा करने से ही। तप्प=तपस्या। कलप्प=काट डाले।

व्याख्या—राजा की ऐसी व्याकुल दशा को देख, हीरामन तोता ने राजा से कहा कि हे राजा! जरा ध्यान देकर मन में विचार करो। प्रेम करना बड़ा कठिन कार्य है। तुम राजा हो (सुख-आराम के साथ रहने वाले)। तुमने अभी तक पकी-पकाई खाई है अर्थात् किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाया है। अभी तक तुम्हारी भेंट कुमुदिनियों से ही हुई है, कमल से अभी तक भेंट नहीं हो सकी है; अर्थात् अभी तक तुमने साधारण स्त्रियों से ही प्रेम किया है जो कुमुदिनियों के समान तुच्छ हैं। इसलिए

पाठ-भेद—१. समुझय=समझ लो। २. कँवल न बैठि बैठ हहु कोईं=किन्तु तुम अभी तक कुमुदिनी पर ही बैठे हो, कमल पर नहीं।

तुम यह नहीं जान सकते कि कमल से प्रेम करने में, अर्थात् पद्मावती से भेंट करने में तुम्हें कितने कष्ट उठाने पड़ेंगे। कमल से भेंट करने में कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, इस बात को तो वह भौंरा ही जानता है जिसका उस मार्ग पर पैर रखते ही सब कुछ लुट गया। उसने अपने प्राण दे दिए और प्राण देने पर भी उसे छुटकारा नहीं मिला। (भौंरा कमल-कोश में बन्द होकर दम घुट जाने से मर जाता है और उसी में बन्द रह जाता है।)

सिंहलद्वीप का राज्य जीतना बड़ा कठिन है। तुम सेना सजा कर युद्ध करके उस राज्य को नहीं प्राप्त कर सकोगे। सिंहलद्वीप के उस मार्ग पर तो केवल वही जा सकता है जो वैरागी, योगी, यती, तपस्वी और संन्यासी हो। यदि भोग करने से ही कोई समस्त भोगों को पा सकता—तो फिर भोग को छोड़कर कोई भी योग नहीं साधता; अर्थात् भोग करने से भोगों की प्राप्ति नहीं होती। वह तो योग साधने से ही होती है। तुम राजा हो, सुख पाना चाहते हो; अर्थात् तुम भोगी हो और भोगी को योग का साधना शोभा नहीं देता।

मन में किसी वस्तु की इच्छा करने से ही उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसकी प्राप्ति के लिए तो साधना और तपस्या की जाती है। इस तथ्य को तो बेचारे वही लोग जानते हैं जो इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए अपना सिर कटा देते हैं; अर्थात् अपने प्राण उत्सर्ग कर देते हैं। भाव यह है कि प्रेम की महत्ता तो केवल वही जान सकते हैं जो प्रेम-मार्ग पर अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं।

(१२६)

का भा जोग - कथनि के कथे। निकसै घिउ न बिना[1] दधि मथे॥
जौं लहि आप हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई॥
पेम-पहार कठिन बिधि गढ़ा। सो पै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा॥
पंथ सूरि कै उठा अँकूरू। चोर चढ़ै, की चढ़ मंसूरू॥
तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरे घटहि माँझ दस पंथा॥
काम, क्रोध, तिस्ना, मद, माया। पाँचौ चोर न छाँड़हि काया॥
नवौ सेंध तिन्ह[2] कै दिठियारा। घर मूसहि निसि, की उजियारा॥
अबहू जागु अजाना, होत आव निसि भोर।
तब किछु हाथ न लागिहि, मूसि जाहि जब चोर॥६॥

शब्दार्थ – सूरि=सूली। मंसूर, प्रसिद्ध सूफी, जो 'अनलहक' का जाप करते हुए बगदाद के खलीफा मुक्तदिर की आज्ञा से सूली पर चढ़ा दिया गया था। दस पंथा =दस मार्ग, दस इन्द्रियाँ। नवौ सेंध=नौ सेंध लगाने के द्वार; अर्थात् नौ इन्द्रियाँ। दिठियारा=देखी हुई। की=क्या। मूसि=लूट।

पाठ-भेद—१. बाजु=बिना। २. ओहि घर मँझियारा।

व्याख्या—हीरामन तोता राजा से कहता है कि केवल योग की कहानी कहने से क्या लाभ ? क्योंकि दही को विना मथे (विलोये) घी नहीं निकलता; अर्थात् जब तक योग की साधना नहीं की जायेगी, तब तक केवल उसका वर्णन करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। जब तक प्रेमी या साधक स्वयं अपने को ही न खो दे; अर्थात् 'स्व' का विनाश कर पूर्ण रूपेण अपने प्रियतम के साथ तदाकार न हो जाय, तब तक संसार भर में उसे खोजते रहने से भी उसे नहीं पाया जाता। विधाता ने प्रेम के पहाड़ को बड़ा कठिन अर्थात् दुर्भेद्य वनाया है। इस पर वही चढ़ सकता है जो सिर के वल चढ़ता है। भाव यह है कि प्रेम के पहाड़ पर संसार की साधारण रीतियों के अनुसार नहीं चढ़ा जा सकता। प्रेम का पथ विचित्र होता है। इस पर केवल वही चल सकता है जो सांसारिक रीति-नीति का सर्वथा उल्लंघन कर एक निराले ही रूप से चले। ('सिर के वल चलना'—मुहावरा संसार की प्रचलित परम्परा के विपरीत की ध्वनि देता है।)

यह प्रेम का पन्थ सूली का मार्ग है जिस पर सूली की नोंकें जगह-जगह पर ऊपर उठी हुई हैं; अर्थात् यह मार्ग कष्टों से भरा हुआ है। सूली पर या तो चोर चढ़ता है या मन्सूर चढ़ा था; अर्थात् यह मार्ग सहज-सरल नहीं है। तुम राजा हो। तुम कथरी क्या पहन सकोगे; अर्थात् तुम योग की साधना क्या कर सकोगे ? तुम्हारे घर में ही अर्थात् तुम्हारे शरीर में ही घुसने के दस दरवाजे (दस इन्द्रियाँ) हैं। काम, क्रोध, तृष्णा, मद और माया रूपी पाँच चोर किसी-न-किसी दरवाजे से हमेशा तुम्हारे शरीर में घुसे रहते हैं, अर्थात् तुम इनके वश में रहते हो। इन पाँचों चोरों ने तुम्हारे शरीर में बने नौ छिद्रों (नव इन्द्रियों) को देख रखा है और उन छिद्रों द्वारा ये रात-दिन भीतर घुसकर तुम्हारे घर (शरीर) को लूटते रहते हैं; अर्थात् तुम रात दिन इन्हीं के चक्कर में पड़े रहते हो।

इसलिए हे मूर्ख राजा ! अब भी अपनी इस मोह-निद्रा से जाग; क्योंकि अब रात्रि समाप्त होकर सवेरा होता जा रहा है। जब चोर तेरे घर को पूरी तरह से लूट कर नष्ट कर डालेंगे, तब तेरे हाथ कुछ भी नहीं लगेगा; अर्थात् अभी अवसर है। ज्ञान प्राप्त कर ले और इन इन्द्रियों के वश में रहना छोड़ दे।

टिप्पणी—इस सम्पूर्ण छन्द में ईश्वर-प्रेम की व्यंजना है। यहाँ हीरामन तोता गुरु बनकर राजा से प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन कर, उसे भय भी दिखाता है और फिर उसे अप्रत्यक्ष रूप से इस मार्ग पर चलने के लिए उकसाता भी है। नख-शिख वर्णन द्वारा उसने साधक (रत्नसेन) के हृदय में ईश्वर (पद्मावती) के प्रति तीव्र प्रेम जाग्रत कर दिया था, और फिर इस पन्थ को दुरूहता का उल्लेख कर उसे सावधान भी कर दिया था, जिससे वह आगे बढ़ने पर डगमगा न जाय। और अन्त में उसे सब कुछ समझा कर उद्बोधन देने लगा कि तू सारी माया-ममता छोड़कर समय रहते ही इस मार्ग पर अग्रसर हो जा।

(१२७)

सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार, पेम चित लागा ।।
नैनन्ह ढरहि मोति औ मूँगा। जस गुर खाइ रहा होइ गूँगा ।।
हिय कै जोति दीप वह सूझा। यह जो दीप अँधियारा बूझा ।।
उलटि दीठि माया सौं रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी ।।
जौ पै नाहीं अहथिर दसा। जग उजार का कीजिय बसा ।।
गुरू बिरह-चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला ।।
अब करि फनिग भृंग कै करा। भौंर होहुँ जेहि कारन जरा ।।
फूल फूल फिरि पूछौं, जौं पहुँचौं ओहि केत।
तन नेवछावरि कै मिलौं, ज्यों मधुकर जिउ देत ।।७।।

व्याख्या—हीरामन तोते की ज्ञान भरी बातों को सुनकर राजा के मन में चेतन भाव जाग्रत हुआ; अर्थात् उसके हृदय में ज्ञान उत्पन्न हो गया है। वह पद्मावती के प्रेम में इतना लवलीन हो गया कि पलक मारना तक भूल गया। खोया हुआ सा टक-टकी बाँधे देखता रह गया। उसके नेत्रों से मोती और मूँगे अर्थात् आँसू और रक्त-बिन्दु गिरने लगे। उसे इस प्रेम-रस में उसी प्रकार अव्यक्त आनन्द आने लगा जिस प्रकार गूँगे को गुड़ खाने में आता है। गूँगा गुड़ खाता तो है परन्तु उसके स्वाद का वर्णन करने में असमर्थ रहता है। उसी प्रकार राजा रत्नसेन भी प्रेम की उस अनुभूति का वर्णन करने में असमर्थ था। उसके हृदय में ज्ञान रूपी दीपक का प्रकाश फैल गया जिससे उसे वह द्वीप (सिंहलद्वीप) दिखाई पड़ने लगा और यह द्वीप अर्थात् अपना देश अन्धकार से भरा प्रतीत होने लगा। संसार के प्रति उसकी दृष्टि बदल गई और माया से रूठ गई अर्थात् सांसारिक माया-मोह से सर्वथा मुक्त हो गई। उसने समझ लिया कि यह माया झूठी है, इसलिए उसने उसकी तरफ मुड़ कर भी नहीं देखा। यदि इस संसार की दशा स्थिर नहीं है तो संसार उजाड़ है, इसलिए ऐसे संसार में बस कर क्या करना? इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जब अपनी ही दशा स्थिर नहीं है तो अपने लिए यह संसार उजाड़ ही है, फिर उसमें बसने से क्या लाभ? गुरु वह है जो शिष्य के हृदय में विरह की चिनगारी डाल देता है परन्तु असली शिष्य वही है जो उस चिनगारी को सुलगा कर प्रदीप्त कर ले, अर्थात् विरह को और अधिक बढ़ा कर पूर्णता तक पहुँचा दे। (प्रियतम से मिलन तभी सम्भव होता है।) राजा सोचने लगा कि अब मैं भृङ्गी कीट का अनुसरण कर उसके लिए भौंरा बन मँडराता रहूँगा जिसके लिए मुझे इस विरहाग्नि को सहना पड़ा है; अर्थात् मैं पूर्णतः उसी के ध्यान में मग्न हो सम्पूर्ण रूप से उसी में लीन हो जाऊँगा, अपने व्यक्तित्व का विस्मरण कर डालूँगा।

मैं एक-एक फूल के पास जा-जा कर पूछूँगा कि मेरी वह केतकी किस दिशा में है। मैं अपनी उस केतकी (पद्मावती) के ऊपर अपना शरीर न्यौछावर कर उसी प्रकार मिलूँगा जिस प्रकार भौंरा केतकी के काँटे में बिंध कर अपने प्राण दे देता है।

टिप्पणी—(१) अलंकार– उपमा और उत्प्रेक्षा।

(२) अपने आराध्य के साथ पूर्ण तादात्म्य कर तद्रूप हो जाना प्रेम की पूर्ण तन्मयता मानी जाती है। विद्यापति और सूरदास ने भी राधा और कृष्ण की विरह-जनित दशा का वर्णन करते समय भृङ्गी कीट की ही उपमा दी है। सूर की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई।"—आदि

(३) इस छन्द में अध्यात्म भावना की भी ध्वनि मिलती है।

(१२८)

बंधु मीत बहुतै समुझावा। मान न राजा कोउ भुलावा॥
उपजी पेम-पीर जेहि आई। परबोधत होइ अधिक सो आई॥
अमृत बात कहत बिष जाना। पेम क बचन मीठ कै माना॥
जौ ओहि बिषै मारि कै खाई। पूँछहु तेहि सन पेम-मिठाई॥
पूँछहु बात भरथरिहि जाई। अमृत-राज तजा बिष खाई॥
औ महेस बढ़ सिद्ध कहावा। उनहूँ बिषै कंठ पै लावा॥
होत आव रवि-किरिन बिकासा। हनुवंत होइ को देइ सुआसा॥
तुम सब सिद्धि मनावहु, होइ गनेस सिधि लेव।
चेला को न चलावै, तुलै गुरू जेहि भेव ? ॥८॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन को उसके बन्धु-बान्धवों तथा मित्रों ने बहुत समझाया परन्तु वह किसी के भी समझाने से नहीं माना। जिसके हृदय में एक बार प्रेम की पीड़ा उत्पन्न हो जाती है वह समझाने से घटने के बजाय और भी अधिक बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में यदि कोई उस प्रेमी से अमृत के समान मीठी बात भी कहता है तो वह उसे विष के समान कड़वी लगती है। उसको केवल प्रेम के वचन ही मीठे लगते हैं अर्थात् प्रेम सम्बन्धी बातें ही सुहाती हैं। जो सांसारिक विषय-वासना रूपी उस विष को मार कर खाता है, उसी से प्रेम-मिठाई की मधुरता के विषय में पूछो, अर्थात् केवल वही उसकी मधुरता को बता सकता है। इस प्रेम की मिठास की बात राजा भर्तृहरि से पूछो जिन्होंने अमृत रूपी राज्य का परित्याग कर विष रूपी प्रेम को ग्रहण किया था; अर्थात् जिन्होंने प्रेम की खातिर राज्य त्याग दिया था। महेश (शिवजी) बहुत बड़े सिद्ध कहे जाते हैं, उन्होंने भी विष को बड़े प्रेम के साथ अपने गले से

लगाया था। (शिवजी का गला विषपान करने से नीला पड़ गया था, इसी कारण उन्हें नीलकण्ठ कहा जाता है।) सूर्य की किरणों का विकास होता आ रहा है, अर्थात् सूर्योदय का समय समीप है। ऐसी विषम स्थिति में कौन हनुमान के समान सुन्दर आशा का सन्देश लाकर दे अर्थात् संजीवनी-बूटी लाए। (यहाँ पद्मावती संजीवनी-बूटी है, रत्नसेन मूर्छित लक्ष्मण तथा हीरामन तोते को ही हनुमान माना जा सकता है, क्योंकि अन्त में उसी ने रत्नसेन और पद्मावती का मिलन कराया था।)

राजा कहता है कि ऐसी स्थिति में तुम सब लोग मिलकर सिद्धि मनाओ, अर्थात् कार्य सिद्ध होने की प्रार्थना करो। गणेश की वन्दना कर तुम सब सिद्धि प्राप्त करने के लिए तैयार हो जाओ। शिष्य को गुरु के अलावा और कोई भी नहीं चला सकता है। जिस भेद तक गुरु पहुँचता है, अर्थात् गुरु जिस तत्त्व का साक्षात्कार कर चुका है; शिष्य को उस तत्त्व का साक्षात्कार केवल वही करवा सकता है। (हीरामन तोता पद्मावती का साक्षात्कार कर चुका है, इसलिए उस तक केवल वही पहुँचा सकता है।)

टिप्पणी—(१) डा० माताप्रसाद गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं।

(२) इस तथा ऐसे ही अन्य पदों में आध्यात्मिकता का समावेश कर जायसी श्रृंगार के लौकिक पक्ष की हत्या सी कर डालते हैं। यदि ऐसे पदों में से रहस्यवादी तथा आध्यात्मिक अंशों को हटा दिया जाय तो ये पद लौकिक श्रृंगार का बहुत ही मनोरम, स्वाभाविक और आकर्षक रूप प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

१२

जोगी-खंड

(१२६)

तजा राज, राजा भा जोगी । औ किंगरी कर गहेउ बियोगी ॥
तन बिसँभर मन बाउर लटा । अरुझा पेम, परी सिर जटा ॥
चंद्र-बदन औ चंदन-देहा । भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा ॥
मेखल, सिंघी, चक्र धँधारी । जोगबाट,[1] रुदराछ, अधारी ॥
कंथा पहिरि दंड कर गहा । सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा ॥
मुद्रा स्रवन, कंठ जपमाला । कर उदपान, काँध बघछाला ॥
पाँवरि पाँव, दीन सिर छाता । खप्पर लीन्ह भेस करि राता ॥
चला भुगुति माँगै कहँ, साधि कया तप जोग ।
सिद्ध होइ पदमावति, जेहि कर हिये बियोग[2] ॥१॥

शब्दार्थ—किंगरी=चिकारा या छोटी सारंगी, इकतारा । बिसँभर=बेसुध, बेसँभाल । मेखल=मेखला, जंजीर । धँधारी=गोरखधन्धा, एक-दूसरे में गुथी हुई लोहे की पतली कड़ियाँ जिनमें उलझे हुए डोरे या कौड़ी को गोरखपंथी साधु अद्भुत रीति से निकाला करते हैं—(शुक्लजी) । जोगबाट=वह वस्त्र जिसे जोगी ध्यान करते समय सिर से पैर तक शरीर पर डाल लेते हैं । ध्यान के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में वह कन्धे पर पड़ा रहता है । इसे 'योगपट्ट' भी कहते हैं—(डा० वासुदेव शरण अग्रवाल) । अधारी=एक झोला जो दोहरा होता है—(शुक्लजी), वह टिकटी, जिसका सहारा लेकर योगी बैठते या सो लेते हैं—(डा० अग्रवाल) । गोरख कहा=गोरखनाथ का नाम उच्चारण करना । उदपान=कमंडल । पाँवरि=खड़ाऊँ । छाता=छत्र ।

व्याख्या—राजा रत्नसेन हीरामन तोते से पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन सुन उस पर मुग्ध हो उठा और सिंहलद्वीप जाने के लिए जोगी बन गया । यहाँ जायसी उसके उसी जोगी रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—

पाठ-भेद—१. जोगौटा=योगपट्ट । २—पाएँ हिरदै जेहि क वियोग ।

राजा रत्नसेन ने राज्य त्याग दिया और जोगी हो गया। उस वियोगी ने हाथ में इकतारा ले लिया। उसको अपने शरीर की भी सुध-बुध नहीं रही। उसका मन पद्मावती के प्रेम में बावला हो गया और शरीर क्षीण होने लगा। वह प्रेम-पाश में उलझ गया और उसके सिर पर जटा बन गईं। उसने अपने चन्द्रमा के समान सुन्दर और कोमल मुख तथा चन्दन के समान सुगन्धित देह पर भस्म चढ़ाकर अपने सारे शरीर को मिट्टी कर डाला। और मेखला, सिंगी, चक्र और गोरखधन्धा धारण कर लिया। कन्धे पर जोगपट्ट डाला, गले में रुद्राक्ष की माला धारण की और अधारी ले ली। इस प्रकार जोगी का रूप बनाकर उसने हाथ में डंडा पकड़ा और सिद्ध का सा वेश धारण कर मुख से 'जय गुरु गोरखनाथ' का उच्चारण करने लगा। उसने कान में कुण्डल पहने, कंठ में जपमाला डाली, हाथ में कमण्डल लिया और कंधे पर बाघ की खाल डाल ली। पैरों में खड़ाऊँ धारण की, सिर पर छत्र (छाता) लगाया और हाथ में खप्पर ले अपने सारे वेश को लाल रंग से रङ्ग लिया।

इस प्रकार जोगी का वेश बनाकर भिक्षा (भोजन) माँगता हुआ वह अपने शरीर को साध कर अर्थात् अपने वश में कर योग और तपस्या करने के लिए चल पड़ा और मन में कामना की कि मुझे वह पद्मावती सिद्ध हो (प्राप्त हो), मेरे हृदय में जिसका वियोग व्याप्त है।

(१३०)

गनक कहहिं गनि गौन न आजू[1]। दिन लेइ चलहु, होइ सिध काजू॥
पेम-पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥
जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत, नैन नहिं आँसू॥
पंडित भूल, न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूछ न कालू॥
सती कि बौरी पूछिहि पाँड़े। औ घर पैठि कि सैंतै भाँड़े॥
मरै जो चलै गंग-गति सेई। तेहि दिन कहाँ घरी को देई?॥
मैं घर बार कहाँ कर पावा। घरी के आपन, अंत परावा॥
हौं रे पथिक पखेरू, जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम आपन घर जाहु॥२॥

शब्दार्थ—गनक=गणक, ज्योतिषी। गौन=प्रस्थान, गवन। दिन लेइ चलहु=शुभ तिथि विचार कर चलो। सरेखा=चतुर, होश में। पाँड़े=पंडित। सैंतै=सम्हालती है। गंग-गति=गंगा के किनारे प्राण छोड़ना।

व्याख्या—राजा रत्नसेन को जोगी का वेश धारण कर प्रस्थान करने के लिए उद्यत पा ज्योतिषियों ने मुहूर्त्त की गणना कर राजा से कहा—

हे राजा! तुम आज प्रस्थान मत करो। तुम शुभ दिन या शुभ मुहूर्त्त विचार

पाठ-भेद—१. करू न गवन आजू=आज प्रस्थान मत करो।

कर प्रस्थान करो। ऐसा करने से ही तुम्हें अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त होगी। ज्योतिषियों की यह बात सुनकर राजा ने कहा कि प्रेम के पंथ पर चलने वाला घड़ी और दिन नहीं देखता अर्थात् शुभ मुहुर्त्त की अपेक्षा नहीं करता। वह ऐसा तो तब करे जब अपने होश-हवास में हो। जिस शरीर में प्रेम का वास होता है उसमें मांस कहाँ से रह सकता है। उसकी काया में न रक्त होता है और न नेत्रों में आँसू; अर्थात् प्रेमी मनुष्य एक प्रकार से अशरीरी सा हो जाता है। पंडित गण भ्रम में पड़े रहते हैं, उन्हें भी शुभ मुहूर्त्त का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि काल जब प्राण हरण करने आता है तब शुभ मुहूर्त्त पूछकर नहीं आता, अचानक आ टपकता है। सती या पागल स्त्री क्या पंडित से मुहूर्त्त पूछती है और क्या शुभ मुहूर्त्त आने की प्रतीक्षा में घर के भीतर घुसकर बर्तन-भाँड़े सम्हालती है ? अर्थात् जिस प्रकार सती नारी तुरन्त अपने पति की चिता पर चढ़कर सती हो जाती है तथा पागल स्त्री उचंग उठते ही घर से बाहर निकल पड़ती है उसी प्रकार प्रेम-मार्ग का पथिक भी शुभ मुहूर्त्त की अपेक्षा न कर मन आते ही तुरन्त घर छोड़कर निकल पड़ता है। जो व्यक्ति अपने अन्तिम समय में गंगा के किनारे पहुँचता है उसे क्या कोई शुभ घड़ी या दिन बताता है। वह तो मृत्यु निकट समझ तुरन्त गंगा-तट के लिए रवाना हो जाता है। मेरा यह जो घरबार है, यह भी मेरा नहीं है। यह घड़ी भर के लिए अपना रहता है और फिर अन्त में दूसरे का हो जाता है। (इसलिए इसके प्रति मोह करना व्यर्थ है।)

मैं तो पथिक और पक्षी के समान हूँ जो उसी वन में जा सकता है जहाँ उसका निर्वाह होता है। मैं अब प्रसन्न मन से उसी वन के लिए प्रस्थान करता हूँ इसलिए तुम सब लोग अपने-अपने घर को जाओ।

(१३१)

चहुँ दिसि आन साँटिया[1] फेरी। भै कटकई राजा केरी ॥
जावत अहँहि सकल अरकाना[2]। साँभर लेहु, दूरि है जाना ॥
सिंघलदीप जाइ अब चाहा। मोल न पाउब जहाँ बेसाहा ॥
सब निबहै तहँ आपनि साँठी। साँठि बिना सो रह मुख माटी ॥
राजा चला साजि कै जोगू। साजहु बेगि चलहु सब लोगू ॥
गरब जो चढ़े तुरय कै पीठी। अब भुइँ चलहु सरग कै डीठी ॥
मंतर लेहु होहु सँग-लागू। गुदर जाइ सब होइहि आगू ॥
का निचिंत रे मानुस, आपन चीते आछु।
लेहि सजग होइ अगमन, मन पछिताव न पाछु ॥३॥

शब्दार्थ—आन=आज्ञा, आन। साँटिया=डोंड़ी पीटने वाले। कटकई=

पाठ-भेद—१. सोंटिअन्ह। २. ओरगाना।

दलबल के साथ चलने की तैयारी। अरकाना=सामन्त-सरदार। साँवर लेहु=संबल, टोसा, कलेऊ। बेसाहा=खरीदने की चीजें। साँठी=पूँजी। गुदर=राजा के सामने हाजिर हो, पेश हो (भा भिनसार गुदारा लागा—तुलसी)। आछ=आ। अगमन= आगे।

व्याख्या—राजा रत्नसेन के डोंड़ी पीटने वालों ने चारों दिशाओं में इस राजाज्ञा की घोषणा की कि राजा के प्रस्थान करने की सारी तैयारी हो चुकी है। राज्य में जितने भी सामन्त-सरदार हों, सब अपना टोसा (कलेवा) लेकर तैयार हो जाएँ, क्योंकि बहुत दूर की यात्रा करनी है। राजा अब सिंहलद्वीप जाना चाहता है जहाँ पर कोई चीज खरीदने से भी नहीं मिल सकेगी। (इसलिए अपनी जरूरत का सारा सामान साथ ले लो।) वहाँ पर अपना सारा काम अपनी गाँठ की पूँजी से ही चलाना पड़ेगा। (यहाँ आध्यात्मिक अर्थ भी लिया जा सकता है कि उस लोक अर्थात् ईश्वर के यहाँ जाने पर अपने कर्मों की पूँजी ही हमारे काम आयेगी।) राजा योग करने के लिए अपनी सम्पूर्ण तैयारियाँ करके चला है। इसलिए सब लोग जल्दी तैयार हो जाओ और चल पड़ो। जो लोग गर्व के साथ घोड़े पर सवार होकर चलते थे, उन्हें अब स्वर्ग की ओर दृष्टि जमा कर पैदल ही पृथ्वी पर चलना पड़ेगा। सब लोग गुरु से दीक्षा-मंत्र लेकर उसके साथी बन जाओ और राजद्वार में पहुँचकर उसके सामने उपस्थित हो जाओ।

रे मनुष्य! तू क्या निश्चिन्त बना रहता है। अपनी चिन्ता कर। सजग होकर आगे चल पड़, जिससे बाद में तुझे पछताना न पड़े।

टिप्पणी—दोहे में संसार के माया-मोह में भूले हुए मनुष्यों को संसार त्याग मुक्ति के मार्ग पर चल पड़ने का सन्देश दिया गया है। इसे नीति-वाक्य भी माना जा सकता है और आध्यात्मिक पक्ष में भी इसका अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

(१३२)

बिनवै रतनसेन कै माया। माथे छात, पाट निति पाया॥
बिलसहु नौ लख लच्छि पियारी। राज छाँड़ि जिनि होहु भिखारी॥
निति चंदन लागै जेहि देहा। सो तन देख भरत अब खेहा॥
सब दिन रहेहु करत तुम भोगू। सो कैसे साधब तप जोगू?॥
कसे धूप सहब बिनु छाहाँ। कैसे नींद परिहि भुइ माहाँ?॥
कैसे ओढ़ब काथरि कंथा। कैसे पाँव चलब तुम पंथा?॥
कैसे सहब खिनहि खिन भूखा। कैसे खाब कुरकुटा रूखा?।
राजपाट, दर, परिगह, तुम्ह ही सौं उजियार।
बैठि भोग रस मानहु, कै न चलहु अँधियार॥४॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन के जोगी बनकर प्रस्थान करने को उद्यत होने का समाचार सुन उसकी माता उससे विनय करने लगी कि हे पुत्र ! तुम्हारे माथे पर सदैव राजछत्र रहा है और तुम नित्य सिंहासन पर बैठते हो। तुम नौ लाख लक्ष्मी जैसी प्यारी रानियों के साथ विलास करते रहे हो। इसलिए अब राज्य छोड़कर भिखारी मत बनो। तुम्हारे जिस शरीर पर नित्य चन्दन लगाया जाता था, उसी शरीर में अब भस्म लगी हुई दिखाई पड़ती है। तुम सब दिन भोग करते रहे हो सो अब इस तपस्या और योग की साधना कैसे कर सकोगे ? बिना छाया के धूप कैसे सहन करोगे, मार्ग में पैदल कैसे चलोगे ? तुम क्षण-क्षण लगने वाली भूख को कैसे सहोगे और रूखा-सूखा ठण्डा मोटे अनाज का भोजन कैसे करोगे ?

राजपाट, सेना (दल), परिजन आदि सब कुछ तुम्हारे ही कारण जगमगाते रहते हैं, प्रसन्न रहते हैं, इसलिए तुम यहीं बैठकर रस-भोग का आनन्द उठाओ और घर को सूना कर विदेश मत जाओ। तुम्हारे चले जाने से सर्वत्र अन्धकार छा जायेगा।

टिप्पणी—डा० अग्रवाल ने 'नव लख लच्छि' का अर्थ किया है—अतुल सम्पत्ति, इतनी सम्पत्ति के उपभोक्ता कि एक-एक लाख मूल्य वाले नौ रत्नों का हार पहिन सके। यह अर्थ बहुत खींचतान कर किया गया प्रतीत होता है। इस पंक्ति के अन्त में 'पियारी' शब्द का तथा प्रारम्भ में 'बिलसहु' शब्द का होना स्पष्ट संकेत देता है कि यहाँ कवि का अभिप्राय नौ लाख लक्ष्मी के समान प्यारी रानियों से है। यह संख्या यद्यपि अतिशयोक्तिपूर्ण है, परन्तु जायसी जब अतिशयोक्ति से काम लेते हैं तब किसी का भी बन्धन स्वीकार नहीं करते। डा० अग्रवाल ने 'नौ लख' शब्द के बहु प्रचलित अर्थ 'नौलखा हार' से ही इस अर्थ को ग्रहण किया है।

(१३३)

मोहि यह लोभ सुनाव न माया। काकर सुख, काकर यह काया॥
जो निआन तन होइहि छारा। माटिहि पोखि मरै को भारा ?॥
का भूलौं एहि चंदन चोवा। बैरी जहाँ अंग कर रोवाँ॥
हाथ, पाँव, सबरन औ आँखी। ए सब उहाँ भरहिं मिलि साखी॥
सूत सूत तन बोलहिं दोखू। कहु कैसे होइहि गति मोखू॥
जौ भल होत राज औ भोगू। गोपिचंद नहिं साधत जोगू॥
उन्ह हिय दीठि जो देख परेवा। तजा राज कजरी-बन सेवा॥
देखि अंत अस होइहि, गुरू दीन्ह उपदेस।
सिंघलदीप जाब हम, माता ! देहू अदेस[1] ॥५॥

पाठ-भेद—१. माता मोर अदेस=हे माता ! तुम्हें मेरा आदेश है। यहाँ 'आदेश' का अर्थ 'प्रणाम' है।

शब्दार्थ—निआन=निदान, अन्त में। पोखि=पोषण करके। चोवा=सुगन्धित पदार्थ। भरहिं=देंगे। साखी=साक्षी। अदेस=आशीष, प्रणाम।

व्याख्या—माता की बात सुनकर राजा रत्नसेन ने कहा—

हे माता! मुझे ये लोभ की बातें मत सुनाओ। भला किसका सुख और किस का यह शरीर? यह निश्चित है कि अन्त में यह शरीर मिट्टी में मिल जायेगा, इसलिए इस मिट्टी (मिट्टी से बने शरीर) का पोषण करके कौन बोझों मरे। ऐसे इस शरीर को चन्दन, चोवा आदि से सजाने में मैं अपने को क्यों भुला दूँ, क्योंकि इस शरीर का एक-एक रोग मेरा शत्रु बन जायेगा। हाथ, पाँव, कान और आँख—ये सब वहाँ (परलोक में) आपस में मिलकर मेरे खिलाफ गवाही देंगे अर्थात् अपने द्वारा किये गए पाप-कर्मों को स्वीकार कर लेंगे। मेरे शरीर का एक-एक रोम मेरे दोषों का बखान करेगा तो बताओ ऐसी स्थिति में मेरी मुक्ति कैसे होगी। यदि राज्य और भोग-विलास अच्छे होते तो राजा गोपीचन्द इन्हें त्याग कर योग की साधना क्यों करते। जब उन्होंने अपने हृदय की दृष्टि से (आत्मज्ञान प्राप्त कर) इस आत्मा रूपी पक्षी को देख लिया तो वह राज्य छोड़कर कदली-वन में जाकर रहने लगे। भाव यह है कि आत्मा इन सांसारिक सुख-भोगों में कभी आनन्द नहीं प्राप्त करती।

इस शरीर का अन्तिम परिणाम ऐसा होता है, यही देखकर गुरु ने मुझे उपदेश दिया है। इसलिए हे माता? अब हम सिंहलद्वीप जाते हैं, हमें आशीष दो। अथवा हे माता! मेरा प्रणाम स्वीकार करो।

(१३४)

रोवहिं नागमती रनिवासू। केइ तुम्ह कंत दीन्ह बनवासू? ॥
अब को हमहिं करिहि भोगिनी। हमहूँ साथ होब जोगिनी ॥
की हम्ह लावहु अपने साथा। की अब मारि चलहु एहि हाथा ॥
तुम्ह अस बिछुरै पीउ पिरीता। जहँवाँ राम तहाँ सँग सीता ॥
जौ लहि जिउ सँग छाँड़ न काया। करिहौं सेव, पखरिहौं पाया ॥
भलेहि पदमिनी रूप अनूपा। हमते कोइ न आगरि रूपा ॥
भवैं भलेहि पुरुषन कै डीठी। जिन्हहिं जान तिन्ह दीन्ही पीठी ॥
देहिं असीस सबै मिलि, तुम्ह माथे नित छात।
राज करहु चितरउरगढ़, राखउ पिय! अहिबात ॥६॥

शब्दार्थ—पीउ पिरीता=प्रियतम। पखरिहौं=पखारूँगी, धोऊँगी। आगरि=आगे, श्रेष्ठ। भवै=चंचल होती है, इधर-उधर घूमती है। दीन्ही पीठी=पीठ देना, छोड़ देना। अहिवात=सौभाग्य, सुहाग।

व्याख्या—राजा रत्नसेन के जोगी बनकर सिंहलद्वीप के लिए प्रस्थान करने का समाचार सुन रानी नागमती रनिवास में रोने लगी और राजा से कहने लगी कि हे स्वामी! तुम्हें किसने वनवास दिया है। अब कौन हमारे साथ भोग-विलास कर

हमारी 'भोग्या' संज्ञा सार्थक करेगा। हम भी तुम्हारे साथ जोगिनी बनकर चलेंगी। या तो तुम हमें भी अपने साथ ले चलो या अब अपने इसी हाथ से हमारा वध करके चले जाओ। तुम्हारे जैसे प्रियतम से बिछुड़ कर मैं कैसे और कहाँ रहूँगी। जहाँ राम रहते थे वहीं सीताजी रहती थीं। इसी प्रकार मैं तुम्हारे ही साथ रहूँगी। जब तक मेरे प्राण मेरे इस शरीर का साथ नहीं छोड़ेंगे, तब तक अर्थात् जीवन-पर्यन्त मैं तुम्हारी सेवा करती रहूँगी, तुम्हारे चरण पखारती रहूँगी। भले ही पद्मावती का रूप अनुपम हो, परन्तु संसार की कोई भी नारी सुन्दरता में मुझ से बढ़कर नहीं हो सकती। भले ही पुरुषों की दृष्टि चंचल होने के कारण इधर-उधर रूप की खोज में भटकती फिरे, क्योंकि उनका तो यह स्वभाव है कि जिनसे उनकी जान-पहचान होती है वे उन्हें छोड़कर (पीठ देकर) चल देते हैं।

हम सब रानियाँ मिलकर तुम्हें आशीष देती हैं कि तुम्हारे सिर के ऊपर सदैव राजछत्र शोभा देता रहे, अर्थात् तुम्हारा राज्य अखंडित रहे। हे प्रियतम! तुम चित्तौड़गढ़ का राज्य करो और हमारे सुहाग की रक्षा करो।

(१३५)

तुम्ह तिरिया मति हीन तुम्हारी। मुरुख सो जो मतै घर नारी॥
राघव जो सीता संग लाई। रावन हरी कवन सिधि पाई ?॥
यह संसार सपन कर लेखा। बिछुरि गए जानौं नहिं देखा॥
राजा भरथरि सूना[1] जो ज्ञानी। जेहि के घर सोरह सै रानी॥
कुच लीन्हे तरवा सहराई। भा जोगी कोउ संग न लाई॥
जोगिहि काइ भोग सौं काजू। चहै न धन धरती औ राजू॥
जूड़ कुरकुटा भीखहि चाहा। जोगी तात भात कर काहा ?॥
कहा न मानै राजा, तजी सबाईं भीर।
चला छाँड़ि के रोवत, फिरि कै देइ न धीर॥७॥

शब्दार्थ—मतै=सलाह लें। लेखा=दिखाई देता है। जूड़=ठंडा, सूखा। तात भात=गरम भात।

व्याख्या— रानी नागमती की बातों को सुनकर राजा रत्नसेन ने उत्तर दिया कि तुम औरत हो, तुम्हारी बुद्धि मारी गई है। वह आदमी मूर्ख है जो अपने घर में बैठकर अपनी औरत से सलाह करता है। राम, जो सीता को अपने साथ ले गए थे तो उन्हें कौन सी सिद्धि मिल गई ? उल्टे रावण सीता को हर ले गया, यह मुसीबत और गले पड़ गई। यह संसार सपने के समान है। यहाँ का तो ऐसा हिसाब है कि एक-दूसरे से बिछुड़ जाने पर उनके आपस के सम्बन्ध इतने टूट जाते हैं मानो उन्होंने एक-दूसरे को कभी देखा तक न हो। राजा भर्तृहरि, जो बहुत ज्ञानी माना जाता था, जिसके राजमहल में सोलह सौ रानी रहती थीं, जो अपने कुचों द्वारा राजा के

पाठ-भेद—१. सुनि रे अयानी=रे मूर्ख स्त्री, सुन।

तलवे सहलाया करती थीं, अन्त में जोगी हो गया और उसने किसी को भी अपने साथ नहीं लिया। योगी को भोग-विलास से क्या काम, वह न धन चाहता है और न धरती तथा न राज्य ही। वह तो सिर्फ इतना ही चाहता है कि उसे खाने के लिए ठंडा रूखा-सूखा अनाज मिल जाय। योगी गरम भात, अर्थात् स्वादिष्ट भोजन को लेकर क्या करेगा?

राजा ने किसी का भी कहना नहीं माना और सारी भीड़ को रोता हुआ छोड़ चल दिया। उसने लौटकर किसी को धीरज तक नहीं बँधाया।

(१३६)

रोवत माय, न बहुरत बारा। रतन चला, घर भा अँधियारा॥
बार मोर जौ राजहिं[1] रता। सो लै चला, सुआ परबता॥
रोवहिं रानी, तजै पराना। नोचहिं[2] बार करहिं खरिहाना॥
चूरहिं गिउ-अभरन, उर-हारा। अब कापर हम करब सिंगारा?॥
जा कहँ कहहिं रहसि कै पीऊ। सोइ चला काकर यह जीऊ॥
मरै चहहिं, पं मरैं न पावहिं। उठै आगि सब लोग बुझावहिं॥
घरी एक सुठि भएउ अँदोरा। पुनि पाछे बीता होइ रोरा॥
टूटे मन नौ मोती, फूटे मन दस काँच।
लीन्ह समेटि सब अभरन[3], होइगा दुखकर नाँच॥८॥

शब्दार्थ—बहुरत=लौटता। बारा=बालक, बच्चा। बार=बच्चा। रता =अनुरक्त था। परबता=पहाड़ी। खरिहाना=ढेर। गिउअभरन=गले के आभूषण। कापर=किसके लिए। सुठि=अधिक। अँदोरा=हलचल, आन्दोलन।

व्याख्या—राजा रत्नसेन की माता उसे जाता हुआ देखकर रोती हुई विलाप करती है परन्तु उसका बच्चा (पुत्र) वापस नहीं लौटता। रत्नसेन के चलते ही सारे घर में अन्धकार छा गया। उसकी माता विलाप करने लगी—'मेरा बच्चा जो अपने राजकाज में मग्न रहता था, उसे पहाड़ी तोता ले चला।' सारी रानियाँ रोती हैं, अपने प्राणों को रो-रो कर तजे डाल रही हैं, अपने बाल नोंचती हैं और उन्हें नोंच-नोंच कर खलिहान का सा ढेर लगाती जा रही हैं। वे अपने गले के आभूषणों, छाती पर पहने हारों को चूर-चूर कर फेंक रही हैं और विलाप करती जाती हैं कि 'अब हम किसके लिए श्रृंगार करेंगी। जिसे हम उमंग में भरकर प्रियतम कहकर पुकारती थीं वही जब चला जा रहा है तो अब ये प्राण किसके होकर जीवित रहेंगे। हम मरना चाहती हैं परन्तु मरा भी नहीं जाता, अर्थात् प्राण नहीं निकलते। जब हमारे हृदय में वेदना की अग्नि प्रज्वलित होती है तो सब लोग समझा-बुझा कर उसे शान्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार घड़ी-भर तक वहाँ हलचल-सी मची रही और

पाठ-भेद—१. रजियाउरि=राज्य के कार्य। २. फोरहिं बलय=चूड़ियाँ फोड़ती हैं।
३. ओबरनि=कोठरियों में।

इसके बाद वह शोर गुल शान्त हो गया। भाव यह है कि रत्नसेन के वियोग में सारी रानियाँ घड़ी भर रो-धोकर चुप हो गईं।

उन रानियों द्वारा तोड़े गए आभूषणों तथा चूड़ियों का वहाँ ढेर लग गया। वहाँ नौ मन मोती तथा दस मन काँच तोड़ा गया। इसके उपरान्त जब रोना-धोना समाप्त हो गया तो उन रानियों ने अपने सारे आभूषणों को समेट कर रख लिया। और इस प्रकार दुःख का वह नाच अर्थात् प्रदर्शन समाप्त हो गया।

टिप्पणी—उपर्युक्त तृतीय पंक्ति के अन्तिम अंश का पाठ डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस प्रकार दिया है—'फोरहिं वलय, करहिं खरिहाना।' अर्थात् सारी रानियाँ अपनी चूड़ियों को फोड़-फोड़ कर वहाँ खलिहान का सा ढेर लगाती जा रही थीं। यह पाठ असंगत सा प्रतीत होता है, क्योंकि हिन्दू सधवा स्त्री अपने पति के जीवित रहते स्वयं अपने हाथों से अपनी चूड़ियाँ नहीं फोड़ती। यह अपशकुन माना जाता है। परन्तु विलाप करते समय हाथ पीटने से चूड़ियों के स्वतः ही टूट जाने की सम्भावना रहती है। उस अवसर पर ऐसा ही हुआ होगा जिससे वहाँ उन चूड़ियों के टूटे हुए दस मन काँच का ढेर लग गया होगा। अतः हमारी समझ में शुक्लजी द्वारा स्वीकार किया उपर्युक्त पाठ ही संगत और उपयुक्त प्रतीत होता है।

(१३७)

निकसा राजा सिंगी पूरी। छाँड़ा नगर मेलि कै धूरी॥
राय रान सब भए बियोगी। सोरस सहस कुँवर भए जोगी॥
माया मोह हरा सेइ हाथा। देखेन्हि बूझि निआन न साथा॥
छाँड़ेन्हि लोग कुटुँब सब कोऊ। भए निनार सुख दुख तजि दोऊ॥
सँवरैं राजा सोइ अकेला। जेहि के पंथ चलै[1] होइ चेला॥
नगर नगर औ गाँवहिं गाँवा। छाँड़ि चले सब डाँवहिं ठावाँ॥
काकर मढ़, काकर घर माया। ताकर सब जाकर जिउ काया॥
चला कटक जोगिन्ह कर, कै गेरुआ सब भेसु।
कोस बीस चारिहु दिसि, जानों फूला टेसु॥९॥

शब्दार्थ—पूरी=बनाई। मेलि कै=लगाकर। राय रान=राव और राणा अर्थात् सामन्त और सरदार। हरा सेइ हाथा=हाथों-हाथ त्याग दिया। निआन=निदान, अन्त में। निनार=न्यारे, अलग। सँवरैं=स्मरण करते हैं।

व्याख्या—राजा रत्नसेन बाहर निकला और उसने सिंगी बजाई। उसने अपने सारे शरीर में धूल अथवा भस्म लगाकर नगर को छोड़ दिया। जितने भी राव और राणा (सामन्त-सरदार) थे सब वियोगी हो गए। इस प्रकार सोलह हजार राजकुमारों ने जोगी का वेश धारण कर लिया। उन्होंने मन-ही-मन यह समझ कर कि अन्त में

पाठ-भेद—१. खेलै=क्रीड़ा करता हुआ।

कोई किसी का साथ नहीं देता, हाथों-हाथ (तुरन्त) माया-मोह को छोड़ दिया, अर्थात् संसार से विरक्त हो गए। सब लोगों ने अपने-अपने कुटुम्बों को त्याग दिया और सबसे अलग होकर सुख और दुख—दोनों भावनाओं से मुक्त हो गए अर्थात् परमहंस बन गए। वे सारे राजकुमार केवल उसी राजा रत्नसेन का स्मरण करने लगे जिसके पंथ पर वे उसके चेले होकर घर से निकले थे। [इसका दूसरा अर्थ यह भी किया गया है कि 'राजा केवल उसी (पद्मावती) का स्मरण कर रहा था जिसके मार्ग में वह चेला बनकर जा रहा था' परन्तु यह अर्थ-संगत नहीं बैठता, क्योंकि यहाँ राजा का वर्णन न होकर अन्य राजकुमारों का हो रहा है और छन्द के अन्त तक उन्हीं का वर्णन होता चला गया है। भाव यह है कि वे सब राजकुमार पूर्णतः राजा के अनुयायी होकर चल पड़े, क्योंकि वह उनका राजा था।]

इस प्रकार वे लोग नगरों और गाँवों को पार करते हुए उन्हें अपने ही स्थानों पर छोड़ते हुए आगे बढ़ गए अर्थात् उन्होंने मार्ग में कहीं भी विश्राम हेतु डेरा नहीं डाला। उन सब के मन में यही भाव घर कर गया था कि यह सब मठ, घर और माया-मोह किसके हैं; अर्थात् किसी का भी साथ नहीं देते। हम लोग इनके मालिक नहीं। ये सब तो उसी ब्रह्म के हैं जिसके कि हमारे ये शरीर और प्राण हैं, अर्थात् मनुष्य का यह दम्भ करना व्यर्थ है कि अमुक वस्तु के हम स्वामी हैं।

इस प्रकार जोगियों की यह सेना गेरुआ वेश धारण कर चली। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो चारों दिशाओं में बीस-बीस कोस तक टेसू का वन फूल रहा हो। (उन जोगियों का वेश गेरुआ रंग का था, इसलिए वे सब टेसू के लाल फूलों जैसे दिखाई पड़ रहे थे।)

(१३८)

आगे सगुन सगुनिये ताका। दहिने माछ रूप के टाँका[1] ।।
भरे कलस तरुनी जल आई। 'दहिउ लेहु' ग्वालिनि गोहराई ।।
मालिनि आव मौर लिए गाँथे। खंजन बैठ नाग के माथे ।।
दहिने मिरिग आइ बन[2] धाएँ। प्रतीहार बोला खर बाएँ ।।
बिरखि सँबरिया दहिने बोला। बाएँ दिसा चाषु[3] चरि डोला ।।
बाएँ अकासी धौरी[4] आई। लोवा दरस आइ दिखराई ।।
बाएँ कुररी, दहिने कूचा। पहुँचै भुगुति जैस मन रूचा ।।
जा कहँ सगुन होहि अस, औ गवनै जेहि आस।
अस्ट महासिधि तेहि कहँ, जस कवि कहा बियास ।।१०।।

शब्दार्थ—रूप=चाँदी। टाँका=बरतन। दहिउ=दही। गोहराई=आवाज लगाई। गाँथे=गुँथा हुआ। प्रतीहार=तीतर। चाषु=चाष, नीलकंठ। डोला=

पाठ-भेद—१. दहिउ=दही। २. गौ धाई। ३. गादुर=गीदड़। ४. धोबिन=सफेद चील।

घूमता। अकासी=चील। लोना=लोमड़ी। कुररी=टिटिहरी। कूचा=कौंच, सारस। पहुँचै भुगुति=इच्छा पूर्ण होगी। बियास=व्यास।

व्याख्या—राजा रत्नसेन और उन राजकुमारों की जोगी-सेना के साथ चलने वाले शकुन-विचारकों ने आगे बढ़कर शकुन का विचार किया। उन्होंने देखा कि दाहिनी ओर चाँदी के बर्तनों में मछली आ रही हैं। तरुणी माथे पर जल का भरा कलश लिए आ रही है। ग्वालिन 'दही लो, दही लो', की आवाज लगा रही है। मालिन फूलों का गुँथा हुआ मुकुट लिए आ रही है। खंजन पक्षी नाग के माथे पर बैठा हुआ है। दाहिनी ओर वन से दौड़ते हुए हिरन आए और तीतर पुकार उठा। बाईं ओर से गधे ने रेंकना प्रारम्भ कर दिया। काला साँड़ दाहिनी ओर दहाड़ने लगा। बाईं ओर नीलकंठ चारा चुगता हुआ दिखाई पड़ा। बाँई ओर सफेद चील (क्षेमकरी, धोबिन) आई और लोमड़ी ने आकर दर्शन दिए। बाँई ओर कुकरी (टिटिहरी) तथा दाहिनी ओर क्रौंच पक्षी दिखाई दिए। ये सारे शुभ शकुन थे जो इस बात के प्रतीक थे कि जो मन में अभिलाषा होगी, वह अवश्य पूर्ण होगी, अर्थात् मनमानी चीज प्राप्त होगी।

शकुन विचार करने वालों ने इन शुभ शकुनों को देखकर कहा कि जिसको प्रस्थान करते समय ऐसे शकुन होते हैं— उसके वे सारे कार्य, जिनकी आशा मन में लेकर वह प्रस्थान करता है, सिद्ध हो जाते हैं। कवि व्यास कह गए हैं कि ऐसे शकुन होने पर आठों महासिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

टिप्पणी—(१) इस छन्द में जायसी ने शुभ-शकुनों का सुन्दर वर्णन किया है। इससे प्रतीत होता है कि जायसी लोक में प्रचलित शकुन-पद्धति से परिचित थे।

(२) यह छन्द हिन्दू रीति-रिवाजों एवं विश्वासों के प्रति जायसी के अनुराग का एक सुन्दर प्रमाण माना जा सकता है। जो लोग जायसी पर यह आक्षेप लगाते हैं कि जायसी पद्मावत द्वारा इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे, ऐसे छन्द उनके भ्रम को मिटा देने में पूर्ण सक्षम हैं।

(१३९)

भएउ पयान चला पुनि राजा। सिंगि-नाद जोगिन कर बाजा॥
कहेन्हि आजु किछु थोर पयाना। काल्हि पयान दूरि है जाना॥
ओहि मिलान जौ पहुँचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
है आगे परबत कै बाटा[1]। विषम पहार अगम सुठि घाटा॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा। ठाँवहि ठाँव बैठ[2] बटपारा॥
हनुवँत केर सुनब पुनि हाँका। दहुँ को पार होइ, को थाका॥
अस मन जानि सँभारहु आगू। अगूआ केर होहु पछलागू॥

पाठ-भेद—१. पाटी=पट्टियाँ, शृंखला। २ उठहिं।

करहिं पयान भोर उठि, पंथ कोस दस जाहिं[1]।
पंथी पंथा जे चलहिं, ते का रहहिं ओठाहिं[2] ॥११॥

शब्दार्थ—मिलान=पड़ाव, टिकने का स्थान। वटपारा=बटमार, लुटेरे। केर=की। आगू=आगा, भविष्य। पछलागू=पिछलग्गू, अनुकरण करने वाला। ओठहिं=उस जगह, अलसा जाना।

व्याख्या—सारे दल ने पुनः प्रस्थान किया और राजा आगे चल पड़ा। साथ में जोगियों का सिंगी बाजा बजता जा रहा था। राजा ने अपने साथियों से कहा कि आज तो थोड़ा सा ही चलना है। कल बहुत दूर का सफर करना पड़ेगा। उस पड़ाव पर जो कोई पहुँच जाता है तभी हम उसे भला आदमी (श्रेष्ठ पुरुष) कहेंगे, मानेंगे। आगे रास्ता पहाड़ी है। मार्ग में विषम (भयंकर) पहाड़ और अगम्य गहरी-गहरी घाटियाँ हैं। बीच-बीच में नदी, गुफायें और नाले हैं, जगह-जगह लुटेरे बैठे हुए हैं। पुनः वहाँ हनुमान की गरज सुनाई पड़ेगी। पता नहीं ऐसे उस भयंकर मार्ग को कौन पार कर सकेगा और कौन बीच में ही थक जायेगा। इसलिए इन सारी बातों को अपने मन में विचार कर आगे बढ़ने के लिए प्रस्तुत हो जाओ और अपने अगुआ (पथ-प्रदर्शक) के पीछे-पीछे चलो।

हम सब लोग सुबह होते ही प्रस्थान करेंगे और दस कोस का मार्ग तय करेंगे। जो पंथी (यात्री) मार्ग पर चल पड़ते हैं, वे क्या उसी स्थान पर रह जाते हैं? भाव यह है कि यात्री मार्ग पर चल पड़ते हैं, वे आलस्य में आकर उसी स्थान पर ठहरे न रहकर आगे बढ़ जाते हैं।

टिप्पणी—'हनुवँत केर सुनव पुनि हाँका'—पंक्ति उस किंवदन्ती की ओर संकेत करती है जिसके अनुसार सिंहल के मार्ग में भारत और लंका के बीच हनुमान प्रहरी बन कर आज तक हाँक लगाते रहते हैं जिसके भय से राक्षस लोग इधर न आएँ। जायसी ने आगे चलकर 'पार्वती महेश खंड' में पुनः इसका वर्णन किया है—

'हनिवँत बीर लंक जेइँ जारी। परबत ओहि रहा रखबारी।
बैठ तहाँ भा लङ्का ताका। छठएँ मास देइ उठि हाँका॥'

इन पंक्तियों से यह सिद्ध होता है कि जायसी के युग में यह किंवदन्ती बहुत प्रचलित थी।

(१४०)

करहु दीठि होइ थिर बटाऊ। आगे देखि धरहु भुइँ पाऊ॥
जो रे उबट होइ परे भुलाने। गए मारि, पथ चलै न जाने॥
पाँयन पहिरि लेहु सब पौरी। काँट धसैं, न गड़ैं अँकरौरी॥

पाठ-भेद—१. नितहिं=नित्य, प्रतिदिन। २. ओनाहिं=सुनते हैं।

परे आइ बन[1] परबत माहाँ। दंडाकरन बीझ-बन जाहाँ[2] ॥
सघन ढाँच बन चहुँदिसि फूला। बहु दुख पाव उहाँ कर भूला ॥
झाँखर जहाँ सो छाँड़हु पंथा। हिलगि मकोइ न फारहु कंथा ॥
दहिने बिदर, चँदेरी बाएँ। दहुँ कहँ होइ बाट दुइ ठाएँ ॥
एक बाट गई सिंघल, दूसर लंक समीप।
हैं आगे पथ दूऔ, दहुँ गौनब केहि दीप ॥१२॥

शब्दार्थ—उबट=ऊबड़-खाबड़, कठिन मार्ग। अँकरौरी=कंकड़ी। बीझ-बन=सघन वन। बिदर=बीदर। चँदेरी=एक राज्य का नाम। दुइ ठाँए=दो ओर, दो तरफ। गौनब=पहुँचेंगे।

व्याख्या—राजा ने अपने साथियों से कहा कि अब सीधे अपने मार्ग पर दृष्टि स्थिर कर, यात्री वन, आगे बढ़ो। हमेशा अपने आगे देखकर धरती पर पैर रखना। जो यात्री मार्ग भूलकर ऊबड़-खाबड़ स्थान पर जा निकलता है वह मारा जाता है, क्योंकि उसे रास्ता चलना नहीं आता। (यहाँ अपने लक्ष्य के प्रति एकाग्र रहने का संकेत है। साथ ही इसका आध्यात्मिक अर्थ भी लिया जा सकता है कि साधक को पूर्ण सजग होकर अपने साधना-पथ पर बढ़ना चाहिए, उसमें जरा सी भी चूक हो जाने से प्राण संकट में पड़ जाते हैं और सारी साधना नष्ट हो जाती है। जायसी यहाँ प्रेममार्ग की कठिन साधना के प्रति संकेत करते प्रतीत होते हैं।) सब लोग पैरों में खड़ाऊँ पहन लो जिससे पैरों में न तो काँटे लगेंगे और न कंकड़ चुभेंगे। अब हम लोग वन और पर्वतों के बीच आ पहुँचे हैं, जहाँ दण्डकारण्य नामक सघन वन है। चारों ओर ढाक का सघन वन फूलों से भरा हुआ है। यहाँ अगर कोई रास्ता भूल जायेगा तो बड़े कष्ट उठाने पड़ेंगे। (फूलों से भाव सांसारिक आकर्षक वस्तुओं से भी लिया जा सकता है।) जहाँ मार्ग में कँटीली झाड़ियाँ पड़ें उस मार्ग को छोड़कर अलग हट कर चलना। उसमें उलझ कर अपने कपड़ों को न फाड़ लेना। तुम्हारे दाहिनी तरफ बीदर तथा बाँयीं तरफ चन्देरी है। इन दोनों स्थानों के बीच दोनों मार्गों में से हमें न जाने कौन-सा मार्ग अपनाना पड़ेगा।

इन दोनों मार्गों में से एक मार्ग सिंहल को जाता है और दूसरा लङ्का द्वीप के समीप पहुँचाता है। ये दोनों मार्ग आगे हैं, इन पर चलने से हम लोग न जाने किस द्वीप में जा पहुँचेंगे।

टिप्पणी—इस छन्द में जायसी राजा रत्नसेन द्वारा अपनाये गए मार्ग का भौगोलिक वर्णन कर रहे हैं। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस मार्ग का विवेचन करते हुए लिखा है—"दंडकारण्य और विन्ध्याचल का वन। यह मालवे का पठार और उसके दक्षिण का पहाड़ी प्रदेश एवं नर्मदा के दोनों ओर का जंगल था। प्राचीन मार्ग उज्जयिनी से जाता हुआ महेश्वर के पास नर्मदा पार कर पूर्व की ओर बढ़ता

पाठ-भेद—१. अब बनखंड। २. बीझ बनाहाँ=विंध्याचल का वन।

था। यहाँ जायसी ने मोटे रूप में चन्देरी और दक्षिण की ओर वीदर, अपने दो समकालीन स्थानों का संकेत किया है। दोनों ही वीच के मार्ग से लगभग बराबर की दूरी पर थे। शुक्लजी ने 'विदर' से विदर्भ लिया है, वीदर नहीं। नर्मदा पार करने के बाद एक स्थल-मार्ग नागपुर की ओर बढ़ता हुआ दक्षिण चला जाता था, और दूसरा रतनपुर, विलासपुर अर्थात् दक्षिण कोसल के वीच से निकल कर उड़ीसा के तट पर पहुँचता था जहाँ से सिंहल और पूर्वी द्वीपों को यात्री जहाज लेते थे। जायसी का लक्ष्य इसी दूसरे मार्ग से है। लंका द्वीप और सिंहलद्वीप को अलग-अलग मानना मध्यकालीन भूगोल की विशेषता थी। साधारणतः जायसी का कहा हुआ भौगोलिक पथ स्पष्ट है।"

(१४१)

ततखन बोला सुआ सरेखा। अगुआ होइ पंथ जेइ देखा॥
सो का उड़ै न जेहि तन पाँखू। लेइ हो परासहि बूड़त साखू॥
जस अंधा अंधै कर संगी। पंथ न पाव होइ सहलंगी॥
सुनु मत, काज चहसि जौं साजा। बीजानगर विजयगिरि राजा॥
पहुँचौ[1] जहाँ गोंड औ कोला। तजि बाएँ अँधियार, खटोला॥
दक्खिन दहिने रहहि तिलंगा। उत्तर बाएँ गढ़ काटंगा॥
माँझ रतनपुर सिंघदुवारा[2]। झारखण्ड देइ बाँव पहारा॥
आगे पाव उड़ैसा, बाएँ दिए सो बाट।
दहिनावरत देइ कै, उतरु समुद के घाट॥१३॥

शब्दार्थ—परासहि=पत्ते को। सहलंगी=संगलगा, साथी। अँधियार=अँजारी, जो बीजापुर का एक परगना था। खटोला=गढ़मंडल का पश्चिमी भाग। तिलंगा=तैलङ्ग प्रदेश, तैलङ्गाना। गढ़-काटंगा=जबलपुर के आस-पास का प्रदेश। रतनपुर=विलासपुर जिले में एक नगर। सिंघ दुवारा=छिन्दवाड़ा। झारखंड=छत्तीसगढ़ और गोंडवाने का उत्तरी भाग। दहिनावरत=दक्षिणावर्त, दक्षिण की ओर।

व्याख्या—इस छन्द में जायसी सिंहलद्वीप को जाने वाले मार्ग पर पड़ने वाले विभिन्न प्रदेशों का परिचय देते हुए हीरामन तोता के मुख से कहलवाते हैं—

राजा की उन दुविधा भरी बातों को सुन चतुर हीरामन तोता तुरन्त कहने लगा कि अगुआ (पथ-प्रदर्शक) वही बन सकता है, या होता है जिसने वह मार्ग देखा हो। जिसके शरीर में पंख न हों, वह क्या उड़ सकेगा? ऐसा व्यक्ति तो अपने अनुयायियों की वही दशा कर देता है जो दशा शाखा के डूबते समय उसमें लगे पत्तों की होती है अर्थात् उस शाखा में लगे पत्ते भी उसी के साथ डूब जाते हैं। इसी प्रकार

पाठ-भेद—१. पूँछु न=मत पूछो। २. सौंह दुवारा=सामने द्वार रहे।

मार्ग से अनभिज्ञ पथ-प्रदर्शक अपने पीछे चलने वालों को मौत के मुँह में ले जाता है। (यहाँ पथ-प्रदर्शक से भाव ज्ञानी गुरु से है जिसे साधना के पथ से पूर्णरूपेण परिचित होना चाहिए। अज्ञानी गुरु अपने चेलों को पथ-भ्रष्ट कर मृत्यु के मुख में धकेल देता है। यहाँ हीरामन तोता ही ज्ञानी गुरु है जो मार्ग को पहचानता है।)

जैसे अन्धा अन्धे का साथी हो तो वह उस अन्धे के साथ लगा रहकर, उसका साथी बनकर कभी अपने सही मार्ग को नहीं पा सकेगा। इसलिए यदि तुम लोग अपने कार्य में सफलता प्राप्त करना चाहते हो तो मेरी सलाह सुनो। विजयानगरम्, बीजागढ़ के राजाओं के राज्यों को पार कर उस स्थान पर पहुँचो जहाँ गोंड़ और कोल नामक जातियाँ रहती हैं। और अँजारी तथा खटोला प्रदेशों को अपनी बाईं ओर छोड़कर आगे बढ़ो। तुम्हारे दक्षिण में तैलंगाना दाहिनी तरफ तथा उत्तर में बाईं तरफ गढ़ काटंगा रह जायेगा। बीच में रतनपुर और छिन्दवाड़ा पड़ेगा। झारखंड के पर्वत तुम्हारी बाईं तरफ रह जायेंगे।

इसके आगे बाईं ओर वाले मार्ग पर चलने से तुम उड़ीसा में जा पहुँचोगे। उसके पश्चात् दक्षिण की ओर उतर कर तुम समुद्र के तट पर जा उतरोगे।

टिप्पणी—(१) इस छन्द की प्रारम्भिक तीन पंक्तियों में योग-मार्ग की साधना में योग्य ज्ञानी गुरु के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता एवं अनिवार्यता पर बल दिया गया है। अयोग्य अर्थात् अज्ञानी गुरु साधना-मार्ग से भली-भाँति परिचित न रहने के कारण अपने शिष्यों को भी अपने साथ ले डूबता है।

(२) जायसी द्वारा वर्णित इस मार्ग के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिंहलद्वीप आधुनिक श्रीलंका से भिन्न कोई अन्य द्वीप था जो बंगाल की खाड़ी में कहीं रहा होगा। क्योंकि उड़ीसा के समुद्र तट से बंगाल की खाड़ी में स्थित द्वीपों की ओर ही मार्ग जाता होगा। यदि सिंहलद्वीप वर्तमान श्रीलंका होता तो राजा रत्नसेन वर्तमान मद्रास को पार कर रामेश्वरम् पर पहुँचता और फिर वहाँ से समुद्र पार कर सिंहलद्वीप जाता।

(१४२)

होत पयान जाइ दिन केरा। मिरिगारन महँ भएउ बसेरा॥
कुस-साँथरि भइ सौंर सुपेती। करवट आइ बनी भुइँ सेंती॥
चलि दस कोस ओस तन भीजा। काया मिलि तेहि भसम मलीजा॥
ठाँव ठाँव सब सोअहिं चेला। राजा जागै आपु अकेला॥
जेहि के हिये पेम-रँग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा॥
बध अँधियार, रैन अँधियारी। भादों बिरह भएउ अति भारी॥
किंगरी हाथ गहे बैरागी। पाँच तन्तु धुन ओही लागी[1]॥

पाठ-भेद—१. उठु लागी=उठने लगी।

नैन लाग तेहि मारग, पदमावति जेहि दीप।
जैस सेवातिहि सेवै, बन चातक, जल सीप ।।१४।।

शब्दार्थ—मिरिगारन=मृगारण्य, जंगली जानवरों का वन, यह आजकल निमाड़ में है। सौंर=चटाई। सुपेती=ओढ़ना-बिछौना। ओस=जल अर्थात् पसीना। मलीजा=मलना। जामा=जमा, उत्पन्न हुआ।

व्याख्या—यात्रा करते-करते दिन व्यतीत हो गया और उन लोगों ने मृगारण्य में जाकर पड़ाव डाला। उन्होंने कुश की चटाइयों को ही अपना ओढ़ना-बिछौना बनाया और करवट ले, जमीन से लगकर सो गए। दस कोस की यात्रा करने से परिश्रम के कारण उनके शरीर पसीने से भीग गए। उनके शरीर पर लगी हुई भस्म उस पसीने से मिलकर कीचड़ बन गई। सारे चेले जगह-जगह सो गए। अकेला राजा ही वहाँ बैठा जाग रहा था। जिसके हृदय में प्रेम का रंग उत्पन्न हो जाता है, उसे फिर क्या भूख, नींद और विश्राम की कोई खबर रहती है, अर्थात् वह इन सारी बातों का अनुभव नहीं करता। वन अन्धकार से ढका था, रात अँधेरी थी। भादों का महीना होने के कारण राजा को विरह सताने लगा। वह वैरागी बना किंगरी हाथ में लिए बजा रहा था। किंगरी के पाँचों तारों में से वही एक ध्वनि (पद्मावती का नाम) निकल रही थी।

उसके नेत्र उस मार्ग पर लगे हुए थे जो उस द्वीप (सिंहलद्वीप) की तरफ जाता था, जहाँ पद्मावती रहती थी। जैसे वन में चातक और जल में सीप बराबर स्वाति नक्षत्र के जल की बूँद पाने के लिए रट लगाये रहते हैं, उसी प्रकार राजा रत्नसेन बराबर टकटकी बाँधे उसी मार्ग की ओर देखता हुआ पद्मावती के नाम का जाप कर रहा था।

१३

राजा-गजपति-संवाद-खंड

(१४३)

मासेक लाग चलत तेहि बाटा। उतरे जाइ समुद के घाटा ॥
रतनसेन भा जोगी जती। सुनि भेंटै आवा गजपती।
जोगी आपु, कटक सब चेला। कौन दीप कहँ चाहहिं खेला ॥
"आए भलेहि, मया अब कीजै। पहुनाई कहँ आयसु दीजै" ॥
"सुनहु गजपती उतरु हमारा। हम्ह तुम्ह एकै, भाव निरारा ॥
नेंवतहु तेहि जेहि नहिं यह भाऊ[1]। जो निहचै तेहि लाउ नसाऊ ॥
इहै बहुत जौ बोहित पावौं। तुम्ह तें सिंघलदीप सिधावौं ॥
जहाँ मोहि निजु जाना, कटक होउँ लेइ पार।
जौं रे जिऔं तौ बहुरौं, मरौं त ओहि के बार" ॥१॥

शब्दार्थ—गजपती=कलिंग के राजाओं की उपाधि विशेष। खेला=मन की मौज में जाना चाहते हैं। निहचै=निश्चिन्त, चिन्ता रहित, निर्लिप्त। लाउ=लगाव, प्रेम। नेवतहु=निमंत्रण दो।

व्याख्या—राजा रत्नसेन और उसके साथियों को उस मार्ग को पार करने में लगभग एक महीने का समय लग गया और वे लोग समुद्र के किनारे जा पहुँचे। कलिंग का राजा गजपति यह सुनकर कि राजा रत्नसेन जोगी हो गया है, उससे भेंट करने के लिए आया। उसने आकर देखा कि रत्नसेन स्वयं जोगी है और सारी सेना उसकी शिष्य बनी हुई है। यह देखकर वह मन में सोचने लगा कि न मालूम इनके मन में किस द्वीप को जाने की उमंग उठी है। यह सोचकर उसने राजा रत्नसेन को सम्बोधन कर कहा—'आपने बड़ी कृपा की जो मेरे यहाँ पधारे। अब कृपा कर मुझे

पाठ-भेद—१. सो तिन्ह कहँ जिन्ह महँ बहुभाऊ=वह आतिथ्य की बात उनके लिए होती है, जिनमें (इहलोक विषयक) बहुत से भाव होते हैं।

अपना अतिथि-सत्कार करने की आज्ञा प्रदान करें।' यह सुन राजा रत्नसेन ने कहा—'हे गजपति ! हमारा उत्तर सुनो। हम-तुम एक से ही हैं, परन्तु हमारे-तुम्हारे भावों (इच्छाओं) में अन्तर है। निमन्त्रण तो उसको देना चाहिए जिसके हृदय में ऐसे भाव न हों अर्थात् जो सांसारिक सम्बन्धों में आस्था रखता हो। परन्तु जो संसार से निर्लिप्त अर्थात् वीतराग हैं उनके लिए इन सांसारिक सम्बन्धों के प्रति लगाव रखना विनाश का कारण होता है। भाव यह है कि मै तो इन सांसारिक लोकाचारों से निर्लिप्त हूँ, इसलिए मेरे साथ इस प्रकार का लोकोचित व्यवहार मत करो। मेरे लिए इतना ही काफी होगा, यदि मुझे नौकायें मिल जायँ, जिनके द्वारा मैं तुम्हारे पास से सिंहलद्वीप पहुँच जाऊँ।

जहाँ मुझे स्वयं जाना है वहीं मैं अपनी सेना को भी साथ ले जाऊँगा और यदि जीवित रहा तो लौटूँगा, नहीं तो उसी के द्वार पर मेरी मृत्यु होगी।'

(१४४)

गजपति कहा "सीस[1] पर माँगा। बोहित नाव न होइहि खाँगा[2] ॥
ए सब देउँ आनि नव-गढ़े। फूल सोइ जो महेसहिं चढ़े ॥
पै गोसाइ सन एक विनाती। मारग कठिन, जाब केहि भाँती ॥
सात समुद्र असूझ अपारा। मारहिं मगर मच्छ घरियारा ॥
उठै लहरि नहि जाइ सँभारी। भागिहि कोइ निबहै बैपारी ॥
तुम सुखिया अपने घर राजा। जोखिउँ एत सहहु केहि काजा[3]? ॥
सिंघल दीप जाइ सो कोई। हाथ लिए आपन जिउ होई ॥
खार, खीर, दधि, जल उदधि, सुर, किलकिला अकूत।
को चढ़ि नाँघै समुद ए, काकर अस बूत ?" ॥२॥

व्याख्या—राजा गजपति ने राजा रत्नसेन की माँग को सुनकर कहा—'हे राजा ! आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। जहाज और नावों की कोई कमी नहीं रहेगी। मैं ये सारी चीजें बिलकुल नई बनवाकर आपको दूँगा। फूल वही है जो महादेव के ऊपर चढ़ाया जाता है, अर्थात् किसी भी वस्तु की सार्थकता इसी में है कि वह किसी शुभ कार्य में काम आए। परन्तु हे गोस्वामी ! आपसे मेरी एक विनय है। (सिंहलद्वीप का) मार्ग अत्यन्त कठिन है। आप वहाँ तक कैसे जायेंगे ? मार्ग में असीम और अथाह सात समुद्र हैं जिनमें रहने वाले मगर, मच्छ और घड़ियाल मनुष्यों को मार डालते है। उन समुद्रों में ऐसी भयानक लहरें उठती हैं जिनकी टक्कर सही नहीं जाती। इनकी टक्कर लगने पर लोग भाग जाते हैं। कोई-कोई व्यापारी ही इनकी टक्कर झेल कर पार जा पाता है। आप अपने घर में सुख से रहने वाले राजा हैं।

पाठ-भेद—१. बरु=भले ही, चाहे। २. एतने बोल=इतनी सी बात में। ३. एल जो दुक्ख=इतना दुख।

आप इस इतनी बड़ी जोखिम को किसलिए उठा रहे हैं ? सिंहलद्वीप तो केवल वही जा सकता है, जिसने अपने प्राण हथेली पर रख लिए हों।

मार्ग में क्षार, क्षीर, दधि, जल, उदधि, सुर और किलकिला नामक सात अपार समुद्र पड़ते हैं। इन समुद्रों को जहाज पर चढ़कर कौन पार उतर सकेगा ? किसमें इतना साहस और बल है ?

टिप्पणी—उपर्युक्त सात समुद्रों के नामों में से 'जल' शब्द से मानसरोदक नामक समुद्र समझना चाहिए। यह मानसरोदक नामक समुद्र, जायसी के मतानुसार, सिंहलद्वीप में था। राजा रत्नसेन को वहीं पहुँचना था। जायसी ने आगे चलकर 'सात-समुद्र खंड' में 'मानसर' को सातवाँ समुद्र कहा है—'सतए समुँद मानसर आए।'

(१४५)

"गजपति यह मन सकती-सीऊ। पै जेहि पेम कहाँ तेहि जीऊ॥
जो पहिले सिर दै पगु धरई। मूए केर मीचु का करई ?॥
सुख त्यागा, दुख साँभर लीन्हा। तब पयान सिंघल-मुँह कीन्हा॥
भौंरा जान कवँल कै प्रीती। जेहि पहँ बिथा पेम कै बीती॥
औ जेइ समुद पेम कर देखा। तेइ एहि समुद बूँद करि लेखा॥
सात समुद सत कीन्ह सँभारू। जौं धरती, का गरुअ पहारू ?॥
जौ पै जीउ बाँध सत बेरा। बरु जिउ जाइ फिरै नहिं फेरा॥
रंगनाथ हौं जाकर, हाथ ओहि के नाथ।
गहे नाथ सो खैंचै, फेरे फिरै न माथ॥३॥

व्याख्या—राजा गजपति की चेतावनी पूर्ण बातों को सुनकर राजा रत्नसेन ने उत्तर देते हुए कहा कि—हे राजा गजपति ! यह मन शक्ति की सीमा है अर्थात् सच्ची शक्ति मन में रहती है, शरीर में नहीं। मन तो असीम शक्तिशाली होता है। परन्तु जिसके हृदय में प्रेम होता है उसके लिए अपने प्राणों का मूल्य ही फिर क्या रह जाता है ? जो व्यक्ति पहले ही अपना सिर काटकर इस मार्ग पर पग रखता है उसका मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है ? वह तो मरे हुए के समान वैसे ही होता है। भला मरे हुए का मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है ? मैने अपने सम्पूर्ण सुखों को लात मारकर दुःख का सम्बल (सहारा) लिया और ऐसा करके तब सिंहल की ओर मुँह किया अर्थात् प्रस्थान किया। भौंरा ही कमल के प्रति सच्चे प्रेम को जानता है, क्योंकि उसे ही प्रेम की पीड़ा का अनुभव करना पड़ता है। और जिसने प्रेम के समुद्र के दर्शन कर लिए हैं, वह तो इन समुद्रों को बूँद के समान तुच्छ समझता है। ये सातों समुद्र भी सत्य के बल द्वारा ही सम्हाले हुए हैं। वैसे ही जैसे पृथ्वी भारी पहाड़ों के बोझ को सम्हाले रहती है। जिसने अपना मन सत्य के बेड़े से बाँध रखा है, फिर उसके प्राण क्यों न चले जायँ, वह लौटाने से भी नहीं लौट सकता।

मैं जिसके रंग (प्रेम) में रँगा हुआ हूँ, मेरी नकेल तो उसी के हाथ में है; अर्थात् अब मेरा कर्णधार तो वही है। वही (पद्मावती) मेरी नकेल पकड़ कर मुझे खींच रही है। इसलिए अब मैं प्रयत्न करने पर भी उस ओर से अपने विचार नहीं बदल सकता; अर्थात् अब तो मुझे खिचकर उसके पास जाना ही पड़ेगा।

टिप्पणी—अलंकार—'भौंरा.......पहारू'—में उपमा।

(१४६)

पेम-समुद्र जो अति अवगाहा। जहाँ न वार न पार न थाहा॥
जो एहि खीर-समुद महँ परे। जीउ गँवाइ हंस होइ तरे[1]॥
हौं पदमावति कर भिखमंगा। दीठि न आव समुद औ गंगा॥
जेहि कारन गिउ काथरि कंथा। जहाँ सो मिलै जावँ तेहि पंथा॥
अब एहि समुद परेउँ होइ मरा। मुए केर पानी का करा ?॥
मर होइ बहा कतहुँ लेइ जाऊ। ओहि के पंथ कोउ धरि खाऊ॥
अस मैं जानि समुद महँ परऊँ। जौ कोइ खाइ बेगि निसतरऊँ॥
सरग सीस, धर धरती, हिया हो पेम-समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहिं सो बुंद॥४॥

व्याख्या—रत्नसेन राजा गजपति से आगे कहने लगा—

प्रेम का समुद्र अत्यन्त अगाध होता है, जिसकी न कोई सीमा होती है और न थाह। जो ऐसे क्षीर समुद्र (दूध के समुद्र) में गिर पड़ते हैं अर्थात् प्रेम मार्ग के पथिक बन जाते हैं, वे अपने इन पार्थिव प्राणों को त्याग हंस अर्थात् शुद्ध आत्मा बन मोक्ष प्राप्त करते हैं, इस समुद्र के पार पहुँच जाते हैं। मैं तो पद्मावती का भिखारी हूँ अर्थात् मुझे पद्मावती चाहिए। इसलिए मुझे यह दिखाई ही नहीं पड़ता कि मेरे मार्ग में समुद्र है या गंगा अर्थात् मेरा मार्ग समुद्र के समान कठिन है या गंगा के समान सरल। मैंने जिसके लिए गले में कथरी और कंथा धारणा किए हैं वह मुझे जहाँ भी मिलेगी, मैं उसी मार्ग पर चलूँगा। अब तो मैं इस समुद्र (प्रेम-समुद्र) में मृतक होकर अपने को मरा हुआ मानकर घुस पड़ा हूँ। मरे हुए का पानी क्या बिगाड़ सकेगा ? मैं मृतक होकर इसमें बह रहा हूँ—अब यह मुझे चाहे जहाँ ले जाय, मुझे चिन्ता नहीं। भले ही इस मार्ग में कोई मुझे पकड़ कर खा जाय। मैं अपने हृदय में इस बात को जानकर ही इस समुद्र में उतरा हूँ; अर्थात् मैंने प्रेम-मार्ग पर पग रखे हैं। यदि कोई मुझे खा जाय तो शीघ्र ही मेरी मुक्ति हो जायेगी। मैं प्रेम की पीड़ा से छुटकार पा जाऊँगा।

पाठ-भेद—१. जौं वह समुँद काह एहि परे। जौं अवगाह हंस होइ तरे=यदि उस समुद्र में पड़ चुका तो इस समुद्र में पड़ने से कौन सा कष्ट होगा। यदि यह समुद्र अवगाह (बहुत गहरा) हुआ, तो हम हंस होकर इसे पार कर जायेंगे।

मेरा सिर आकाश है, धड़ पृथ्वी और हृदय प्रेम-समुद्र। मेरे नेत्र कौड़िल्ला पक्षी के समान हो रहे हैं जो इस प्रेम-समुद्र में डुबकी मार-मार कर ऊपर उठते हैं और आँसू रूपी जल की बूँदें टपकाते रहते हैं। (कौड़िल्ला पक्षी जब जल में से मछली पकड़ कर बाहर निकलता है तो उसके शरीर से जल की बूँदें टपकती रहती हैं।) भाव यह है कि मैं अपने नेत्रों द्वारा अपने ही हृदय में स्थित प्रेम-समुद्र में स्थित पद्मावती के दर्शन रूपी मछली को पकड़-पकड़ कर प्रेमाश्रु बहाता रहता हूँ।

अन्तिम पंक्ति का अर्थ डा० गुप्त ने इस प्रकार किया है—मेरे नेत्र कौड़िया पक्षी हो रहे हैं और वे उससे (मुक्ता) बिन्दु (दिव्य सौन्दर्य की ज्योति) ले-लेकर ऊपर उठ रहे हैं।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक।

(२) दोहे में प्रेमी का स्वरूप द्रष्टव्य है। सूफी प्रेमी अपने प्रियतम के वियोग में अहर्निशि दग्ध होता हुआ प्रेमाश्रु बहाता रहता है। वह एक प्रकार से 'मरजीवा' बन जाता है।

(१४७)

कठिन बियोग जाग[1] दुख-दाहू। जरतहि मरतहि[2] ओर निबाहू॥
डर लज्जा तहँ दुबौ गवाँनी। देखैं किछु न आगि नहिं पानी॥
आगि देखि वह आगे धावा। पानि देखि देहि सौंह धँसावा॥
अस बाउर न बुझाए बूझा। जेहि पथ जाइ नीक सो सूझा[3]॥
मगर-मच्छ-डर हिये न लेखा। आपहु चहै पार भा देखा॥
और न खाहि ओहि सिंघ सदूरा। काठहु चाहि अधिक सो झूरा॥
काया माया संग न आथी। जेहि जिउ सौंपा सोई साथी॥
जो किछु दरब अहा सँग, दान दीन्ह संसार।
ना जानी केहि सत सेंती, देव उतारै पार॥५॥

शब्दार्थ—जाग=जाग्रत हो उठता है। सौंह=सीधा। बुझाए=समझाने से। सदूरा=शार्दूल, चीता। झूरा=सूखा। आथी=अस्ति, है।

व्याख्या—जब हृदय में कठिन वियोग जाग्रत हो उठता है तो हृदय दुख की ज्वाला से दग्ध होने लगता है। ऐसा वियोगी अपने अन्त समय तक बराबर वियोग की अग्नि में ही जलता और मरता रहता है। वह अपने सांसारिक भय और लज्जा दोनों को त्याग देता है और आग या पानी—किसी से भी भय नहीं मानता। भाव यह है कि न तो संकटों की परवाह करता है और न लोक-लज्जा की ही। अग्नि को सम्मुख देखकर वह उसके सामने दौड़ पड़ता है और पानी को देखकर सीधा उसमें

पाठ-भेद—१. जोग=योग। २. जरम जरत=जीवन भर जलते हुए। ३. जौनिहिं भाँति जाइ का सूझा=वह जिस भाँति भी जाए, उसे सूझता क्या है?

घुसता चला जाता है। वह ऐसा पागल हो जाता है कि समझाने से भी नहीं समझता। उसे तो वही मार्ग अच्छा लगता है जिस पर वह चलता है। वह अपने हृदय में मगर-मच्छ आदि किसी का भी भय नहीं मानता। वह स्वयं ही इस प्रेम-समुद्र को पार कर अपने प्रियतम के दर्शन करना चाहता है। और उसे शेर-चीते भी नहीं खाते, क्योंकि वियोग की अग्नि में तप-तप कर वह काठ से भी अधिक कठोर और शुष्क हो जाता है। यह शरीर और धन-सम्पत्ति किसी का भी साथ नहीं देते। वियोगी का साथी तो वही है जिसे उसने अपने प्राण सौंप दिए हैं।

मेरे साथ जो कुछ भी धन-सम्पत्ति थी वह सब मैंने संसार को दान कर दी। न मालूम अब भगवान किस सत्य के बल से मुझे उस पार लगायेगा।

(१४८)

धनि जीवन औ ताकर हीया। ऊँच जगत महँ जाकर दीया ।।
दिया सो जप-तप सब उपराहीं। दिया बराबर जग किछु नाहीं ।।
एक दिया ते दसगुन लहा। दिया देखि सब जग मुख चहा ।।
दिया करै आगे उजियारा। जहाँ न दिया तहाँ अँधियारा ।।
दिया मँदिर निसि करै अँजोरा। दिया नाहिं घर मूँसहिं चोरा ।।
हातिम करन दिया जो सिखा। दिया रहा धर्मन्ह महँ लिखा ।।
दिया सो काज दुवौ जग आवा। इहाँ जो दिया उहाँ बस पावा ।।
"निरमल पंथ कीन्ह तेइ, जेइ रे दिया किछु हाथ।
किछु न कोइ लेइ जाइहि, दिया जाइ पै साथ ।।"६।।

व्याख्या—उसका जीवन और हृदय धन्य है जिसका दिया हुआ दान संसार में श्रेष्ठ माना जाता है। दान देना जप-तप आदि सभी से श्रेष्ठ होता है। दान के बराबर इस संसार में और कुछ भी नहीं है। जो एक देता है उसे बदले में उसका दस गुना मिलता है। उसके दान को देख सारा संसार सदैव उसके मुख की ओर ही टकटकी लगाए रहना चाहता है। दीपक अपने आगे प्रकाश करता है; जहाँ दीपक नहीं होता वहाँ अन्धकार छाया रहता है। दीपक रात्रि के समय मन्दिर में प्रकाश करता है। जिस घर में दीपक नहीं होता उसे चोर लूट ले जाते हैं। भाव यह है कि दान रूपी दीपक मनुष्य के भविष्य को उज्ज्वल बनाता है। जो दान नहीं देता है उसका इहलोक और परलोक – दोनों ही अन्धकारमय रहते हैं, क्योंकि जब वह कुछ दान ही नहीं करता तो न तो इस लोक में उसे सम्मान प्राप्त होता है और न परलोक ही सुधरता है। दान देने से मनुष्य का हृदय रूपी मन्दिर ज्ञान के प्रकाश से भर उठता है। जो दान नहीं देता उसके घर को चोर लूट लेते हैं। हातिमताई और कर्ण ने जो दान करना सीखा था, उसके कारण उनका नाम धर्मात्माओं में गिना जाता है। दिया हुआ दान दोनों लोकों में काम आता है। जो यहाँ अर्थात् इस लोक में दान करता है, वह परलोक में जाकर उसे पुनः प्राप्त करता है।

जिन्होंने इस संसार में अपने हाथ से कुछ भी अर्थात् थोड़ा-सा भी दान दिया है, उन्होंने अपने जीवन को निर्मल (उज्ज्वल) बना लिया है। इस संसार से जाते समय कोई अपने साथ कुछ भी नहीं ले जाता। केवल दिया हुआ दान ही उसके साथ जाता है। भाव यह है कि दान देने पर ही परलोक में मनुष्य को सुख मिलता है। इसलिए दानी सर्वश्रेष्ठ है।

टिप्पणी—(१) 'दिया' शब्द में यमक और श्लेष अलंकार हैं।

(२) यहाँ दान देने से जायसी का तात्पर्य सम्पूर्ण सांसारिक सुख-विलास, धन-सम्पत्ति, माया-मोह आदि से मुक्ति पाना है। प्रेमी इन सब का त्याग कर केवल प्रेम का सम्बल ले प्रेम-मार्ग पर अग्रसर होता है, और अन्त में अपने प्रियतम (ईश्वर) के दर्शन कर परलोक में सुख पाता है। इस छन्द में इसी भाव की अभिव्यक्ति है।

१४

बोहित-खंड

(१४६)

सो[1] न डोल देखा गजपती। राजा सत्त दत्त दुहुँ सती ॥
अपनेहि कया, आपनेहि कंथा[2]। जीउ दीन्ह अगुमन तेहि पंथा ॥
निहचै चला भरम[3] जिउ खोई। साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई ॥
निहचैं चला छाँड़ि कै राजू। बोहित दीन्ह, दीन्ह[4] सब साजू ॥
चढ़ा बेगि, तब बोहित पेले। धनि सो पुरुष पेम जेइ खेले ॥
पेम-पंथ जो पहुँचै पारा। बहुरि न मिलै आइ एहि छारा ॥
तेहि पावा उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीचु, सदा सुख-बासू ॥
एहि जीवन कै आस का? जस सपना पल[5] आधु।
मुहमद जियतहि जे मुए, तिन्ह पुरुषन्ह कह साधु ॥१॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन की बातों को सुनकर राजा गजपति ने देखा कि राजा रत्नसेन अपने निर्णय से अपने सत्य से विचलित नहीं हो सकता। उसके पास सत्य और ज्ञान दोनों ही शक्तियाँ हैं; अर्थात् वह अपने सत्य-मार्ग (प्रेम मार्ग) पर दृढ़ है और सर्वस्व दान कर निर्लिप्त बन चुका है। इसलिए उसे अपने मार्ग से विचलित करना असम्भव है। वह केवल अपने ही शरीर तथा अपने ही कंथा को लेकर अपने प्राणों का मोह त्याग इस पथ पर अग्रसर हुआ है। वह अपने मन के सारे सन्देहों को नष्ट कर पूर्णतः निर्लिप्त (परम हंस) बन कर चला है। जहाँ साहस होता है वहाँ सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। वह निर्लिप्त होकर अपने राज्य को त्याग चल खड़ा हुआ है। मन में यह सोचकर राजा गजपति ने उसे जहाज तथा अन्य सारा सामान दे दिया। राजा रत्नसेन शीघ्र ही जहाज पर सवार हो गया और जहाज चला दिया। वह पुरुष धन्य है, जो प्रेम के मार्ग पर प्रसन्न मन से चल पड़ता है। जो प्रेम-पंथ को पार कर अपने लक्ष्य (ईश्वर) तक पहुँच जाता है, वह लौटकर पुनः इस मिट्टी में नहीं

पाठ-भेद—१. सत=सत्य। २. आपन नाहिं कया पै कंथा=उसकी काया पर उसका कंथा भी अपना नहीं है। ३. डर=भय। ४. नै=नया। ५. तिल=क्षण।

मिलता, मृत्यु को प्राप्त नहीं होता (अमर हो जाता है)। ऐसे पुरुष को उत्तम स्वर्ग प्राप्त होता है, जहाँ मृत्यु नहीं होती और सदैव सुख छाया रहता है।

इस संसार में इस जीवन की क्या आशा की जाय ? यह तो आधे क्षण देखे गए स्वप्न के समान है, (जो आँख खुलते ही नष्ट हो जाता है)। मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि जो जीते हुए ही मर जाते हैं (मरजीवा होते हैं), ऐसे को ही मनुष्य साधु कहते हैं।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उपमा।

(२) इस छन्द में कवि ने उपनिषदों के 'क्षणवाद' का भाव व्यंजित कर, संसार को स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। यह विचारधारा शंकर के अद्वैतवाद की समर्थक है।

(३) 'जियतहि जे मुए' उन जीवन्मुक्तों की ओर संकेत करता है जो इस संसार में रहते हुए भी सम्पूर्ण सांसारिक माया-मोह से पूर्णतः निर्लिप्त रहते हैं। गीता में ऐसे जागरूक रहने वाले मनुष्य को मुनि कहा गया है—

'यस्यां जागृति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।'

(१५०)

जस[1] बन रेंगि चलै गज-ठाटी। बोहित चले, समुद गा पाटी॥
धावहिं बोहित मन उपराहीं। सहस कोस इक पल महँ जाहीं॥
समुद अपार सरग जनु लागा। सरग न घाल गनै बैरागा॥
ततखन चाल्हा एक देखावा। जन धौलागिरि परबत आवा॥
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुइँ बाजी॥
राजा सेंति कुँवर सब कहहीं। अस-अस मच्छ समुद महँ अहहीं॥
तेहि रे पंथ हम चाहहिं गवना। होहु सँजूत बहुरि नहिं अवना॥
गुरु हमार तुम राजा, हम चेला तुम नाथ।
जहाँ पाँव गुरु राखै, चेला राखै माथ॥२॥

व्याख्या—जहाजों और नावों का वह बेड़ा प्रारम्भ में समुद्र की सतह पर इस प्रकार धीरे-धीरे रवाना हुआ जैसे वन में हाथियों का झुंड मस्त चाल से झूमता हुआ चलता है। उन जहाजों के चलने से सारा समुद्र पट सा गया। (यहाँ जहाजों और नावों की अधिक संख्या के प्रति संकेत है।) इसके उपरान्त जहाजों ने चाल पकड़ी और मन की गति से तेज दौड़ने लगे। वे पल भर में हजार कोस का रास्ता तय कर जाते थे। चारों ओर अपार समुद्र फैला हुआ था, जो ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश से जा लगा हो। वैरागी राजा सोचने लगा कि कहीं आकाश हमारे ऊपर गिर न पड़े। (आचार्य शुक्ल ने 'घाल' का अर्थ 'थोड़े' से लिया है। उनके अनुसार यह अर्थ होगा कि वह वैरागी आकाश की इस रुकावट को पासंग बराबर भी नहीं

पाठ-भेद—१. रथ=अर्थात् जैसे रथों में जुती हुई गज-पंक्तियाँ रेंग चलें।

गिनता था। आकाश उसे रुकावट के रूप में इसलिए प्रतीत हो रहा था, क्योंकि क्षितिज पर समुद्र और आकाश के मिल जाने से मार्ग के अवरुद्ध हो जाने की आशंका होने लगी होगी।)

उसी समय उन लोगों को एक चेल्हवा नामक मछली दिखाई दी। वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो कोई सफेद पर्वत चला आ रहा हो। (हमारा अनुमान है कि चेल्हवा ह्वेल मछली को कहा जाता होगा, क्योंकि आकार में वही पर्वत के समान विशाल होती है।) जब वह मछली क्रुद्ध हुई तो समुद्र में एक भयानक लहर उठी जो आकाश तक ऊँची उठकर पुनः समुद्र की सतह पर आ गिरी। यह देखकर सारे राजकुमार राजा रत्नसेन से कहने लगे कि इस समुद्र में तो ऐसे-ऐसे विशालकाय मच्छ रहते हैं और हम लोग इसी समुद्र के मार्ग से आगे जाना चाहते हैं। इसलिए सब लोग सावधान हो जाओ, क्योंकि हमें इस मार्ग से पुनः लौटकर नहीं आना है। भाव यह है कि उस विशालकाय मछली को देखकर सारे राजकुमार भयभीत हो उठे और सोचने लगे कि अब हमारी मृत्यु निश्चित है। यह मछली हमें खा जायेगी।

राजकुमारों ने राजा से कहा कि हे राजा ! तुम हमारे गुरु और राजा हो। हम तुम्हारे शिष्य हैं और तुम हमारे स्वामी हो। जहाँ पर गुरु अपने कदम रखता है, चेला उस स्थान पर मस्तक रख देता है।

टिप्पणी—चेल्हवा मछली निश्चित रूप से आधुनिक ह्वेल मछली को ही कहा जाता होगा। ह्वेल मछली सफेद रंग की भी होती है। वह जब साँस लेकर छोड़ती है तो उसके नथुनों में से जल का ऊँचा फुहारा सा ऊपर उठता है। उसके हलचल मचाते ही समुद्र में लहरें उठने लगती हैं। यहाँ जायसी ने इस मछली के इसी रूप का वर्णन किया है। वैसे डा० अग्रवाल ने चेल्हवा मछली को आकार में छोटा बताया है। सम्भव है जायसी मछलियों के नाम तथा उनके आकार में संगति बैठाने में असमर्थ रहे हों, क्योंकि आगे उन्होंने रोहू मछली को इससे भी कई गुना अधिक विशाल कहा है। वैसे रोहू छोटी-सी मछली होती है।

जायसी के इस वर्णन से मिलता-जुलता वर्णन अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि लार्ड टेनीसन ने भी किया है—

"We have had enough of action, and of motion we
Roll'd to starboard, Roll'd to tarboard when the surge was seeking free
When the wanowing monster sprouted his foam fountains in the sea."

—*Tennyson* in "Lotus Eaters."

इसमें 'Monster' विशालकाय दैत्य तथा 'foam fountains' उस ह्वेल द्वारा छोड़े गए जल के फव्वारों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

यह ह्वेल मछली हिन्द महासागर में बहुतायत से पाई जाती हैं। हरमन मैन्युअल नामक एक विदेशी उपन्यासकार ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'Moby Dick' में एक सफेद रंग की विशालकाय ह्वेल का वर्णन किया है जो इन दक्षिणी सागरों में बहुत प्रसिद्ध थी। सफेद ह्वेल बहुत ही कम पाई जाती है। इसकी उम्र सैकड़ों वर्षों की होती है। इस Moby Dick को मारने के प्रयत्न ह्वेल के शिकारी बहुत वर्षों से करते आ रहे थे परन्तु उसे मार न पाए थे। जायसी ने इसी प्रकार की सफेद विशालकाय मछली का वर्णन किया है। सम्भव है जायसी के समय में यह सफेद मछली बहुत प्रसिद्ध रही हो और जायसी ने उसी का सुना-सुनाया वर्णन कर दिया हो।

(१५१)

केवट हँसे सो सुनत गवेंजा। समुद न जानु कुवाँ कर मेजा॥
यह तो चाल्ह न लागै कोहू। का कहिहौ जब देखिहौ रोहू?॥
सो अबही तुम्ह देखा नाहीं। जेहि मुख ऐसे सहस समाहीं॥
राजपंखि तेहि पर मेड़राहीं। सहस कोस तिन्ह कै परछाहीं॥
देहि ओहि मच्छ ठोर भर लेहीं। सावक-मुख चारा लेइ देहीं॥
गरजै गगन पंखि जब बोला। डोल समुद्र डैन जब[1] डोला॥
तहाँ चाँद और[2] सूर असूजा। चढ़ै सोइ जो अगुमन बूझा॥
दस महँ एक जाइ कोइ, करम, धरम, तप नेम।
बोहित पार होइ जब, तबहि कुसल औ खेम॥३॥

व्याख्या—राजकुमारों की चेल्हवा मछली-सम्बन्धी बातों को सुनकर जहाजों को चलाने वाले मल्लाह हँस पड़े और कहने लगे कि कुएँ का मेंढक समुद्र को नहीं जान सकता कि वह कितना बड़ा होता है। यह तो साधारण सी चाल्ह मछली है जो किसी को भी नहीं सताती। जब तुम लोग रोहू मछली को देखोगे तो क्या कहोगे। उस रोहू मछली को तुमने अभी तक नहीं देखा है। उसके मुख में ऐसी (चाल्ह जैसी) हजारों मछलियाँ समा जाती हैं। ऐसी उन रोहू मछलियों पर पक्षिराज गरुड़ मड़राते रहते हैं जो इतने विशालकाय होते हैं कि उनकी परछाहीं हजार कोस तक पड़ती है। ऐसे ये गरुड़ पक्षी इस रोहू मछली को अपनी चोंच में दबाकर उठा लेते हैं और उसे जाकर अपने बच्चों के मुख में डाल देते हैं, जिससे बच्चे उसे खाकर अपना पेट भर लें। यह गरुड़ जब चीखता है तो आकाश गरजने लगता है और जब अपने डैने (पंख) हिलाता है तो समुद्र खलबला उठता है (जैसे आँधी चल रही हो)। ऐसे उस समुद्र में चाँद और सूरज दिखाई नहीं पड़ते। ऐसे समुद्र पर वही यात्रा कर सकता है जिसने पहले से ही उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया हो।

ऐसे इस समुद्र के पार दस में से कोई एकाध ही बिरला भाग्यवान अपने कर्म,

---

पाठ-भेद—१. खोलहि। २. न।

धर्म, तप और नियम के पुण्य प्रताप से जा पहुँचता है। जब हमारा जहाज इस समुद्र को पार कर जाय तभी कुशल और क्षेम समझना चाहिए।

(१५२)

राजं कहा कीन्ह मैं पेमा। जहाँ पेम तहँ कूसल खेमा।।
तुम्ह खेवहु जौ खेवैं पारहु। जैसे आपु तरहु मोंहि तारहु।।
मोंहि कुसल कर सोच न ओता। कुसल होत जौ जनम न होता।।
धरती सरग जाँत-पट दोऊ। जो तेहिं बिच जिउ राख न कोऊ।।
हौ अब कुसल एक पैं माँगौं। पेम-पंथ सत बाँधि न खाँगौं।।
जौ सत हिय तो नयनहिं दीया। समुद न डरै पैठि मरजीया।।
तहँ लगि हेरौं समुद ढँढोरी। जहँ लगि रतन पदारथ जोरी।।
सप्त पतार खोजि कै काढ़ौं[1] बेद गरंथ।
सात सरग चढ़ि धावौं, पदमावति जेहि पंथ।।४।।

व्याख्या—मल्लाहों की बातों को सुनकर राजा रत्नसेन कहने लगा कि मैंने प्रेम किया है और जहाँ प्रेम होता है वहाँ सदैव कुशल-मंगल रहता है, अर्थात् अनिष्ट नहीं होता। अगर तुम नावों और जहाजों को भली-भाँति खे सकते हो तो खेओ और पार लगा दो। जैसे तुम लोग स्वयं पार पहुँचोगे उसी प्रकार मुझे भी पहुँचा देना, तार देना। मुझे कुशल-मंगल की उतनी चिन्ता नहीं है। यदि कुशल ही होती तो यह जन्म ही क्यों होता; अर्थात् जन्म धारण करने पर तो विघ्न-बाधाओं का सामना करना ही पड़ता है। यह जीवन तो आकाश और धरती रूपी चक्की के दो पाटों के बीच फँसा रहता है। जो इन दोनों के बीच फँस जाता है, उसके जीवन की रक्षा नहीं हो सकती, अर्थात् मृत्यु अवश्यम्भावी है। मैं अब केवल एक कुशल माँगता हूँ कि प्रेम के इस पथ पर चलते हुए मेरे सत्य में अर्थात् दृढ़ निश्चय में किसी प्रकार की भी कमी न आ सके। यदि हृदय में सत्य अर्थात् दृढ़ भावना रहती है तो नेत्रों में वही दृढ़ निश्चय दीपक के समान प्रज्वलित हो उठता है। मरजीवा (गोताखोर) समुद्र में गोता लगाते समय भयभीत नहीं होता, क्योंकि उसे अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास होता है। मैं इस समुद्र को तब तक खखोलता रहूँगा अर्थात् यात्रा करता रहूँगा जब तक रतन (रत्नसेन) और पदारथ (पद्मावती) की जोड़ी न मिल जाय, अर्थात् जब तक मुझे पद्मावती प्राप्त नहीं हो जाती।

जिस प्रकार मत्स्यावतार में भगवान् विष्णु ने सात पातालों को खखोल कर वेद ग्रन्थों का उद्धार किया था उसी प्रकार मैं पद्मावती को खोज निकालूँगा। जिस मार्ग में पद्मावती रहती है, मैं सात स्वर्गों पर चढ़कर भी उससे जा मिलूँगा।

पाठ-भेद—१. जस काढ़ै=जिस प्रकार विष्णु भगवान ने मत्स्यावतार धारण कर सप्त पाताल में खोज कर वेद-ग्रन्थ निकाले थे।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'सप्त पतार······पंथ'—में उपमा।

(२) 'रतन-पदारथ'—में श्लेष।

(३) कहा जाता है कि भगवान विष्णु ने मत्स्यावतार धारण कर समुद्र से वेदों का उद्धार किया था।

(४) दोहे की प्रथम पंक्ति का पाठान्तर डा० गुप्त ने इस प्रकार दिया है—

'सप्त पतार खोजि जसि काढ़े वेद गरंथ।'

इस पाठान्तर को स्वीकार कर लेने से अर्थ की संगति बैठ जाती है। गुप्तजी द्वारा दिए गए उपर्युक्त पाठ के अनुसार इस पंक्ति का यह अर्थ होगा कि—मैं सात पाताल में ढूँढ़-खोज कर वेद-ग्रन्थों को अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान को निकाल लाऊँगा, प्राप्त कर लूँगा। (यहाँ पद्मावती ईश्वर का प्रतीक होने के कारण ईश्वरीय ज्ञान के रूप में ग्रहण की जा सकती है।)

१५

सात समुद्र-खंड

(१५३)

सायर तरै हिये सत पूरा। जौ जिउ मत, कायर पुनि सूरा॥
तेइ सत बोहित कुरी[1] चलाए। तेइ सत पवन पंख जनु लाए॥
सत साथी, सत कर संसारू। सत्त खेइ लेइ लावै पारू॥
सत्त ताक सब आगू पाछू। जहँ-तहँ मगर मच्छ औ काछू॥
उठै लहरि जनु ठाढ़ पहारा[2]। चढ़े सरग औ परै पतारा॥
डोलहिं बोहित लहरैं खाहीं। खिन तर होंहि, खिनहिं उपराहीं॥
राजै सो सत हिरदै बाँधा। जेहि सत टेकि करै गिरि काँधा॥
खार समुद सों नाँघा, आए समुद जहँ खीर।
मिले समुद वै सातौ, बेहर बेहर नीर॥१॥

व्याख्या—इस छन्द द्वारा जायसी सिंहलद्वीप के मार्ग में पड़ने वाले सात समुद्रों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। पुराणों में समुद्रों की संख्या छः मानी गई है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—क्षार, क्षीर, दधि, घृत, सुरा और मधु। जायसी ने 'घृत' और 'मधु' के स्थान पर 'उदधि' मानकर 'किलकिला' और 'मानसरोदक' नामक दो समुद्र और माने हैं। अस्तु,

इस छन्द में जायसी खार (क्षार, खारा) समुद्र का वर्णन प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

जिसके हृदय में सत्य-बल रहता है, वह सागर को भी पार कर जाता है। यदि हृदय में सत्य-बल हो तो कायर भी शूर बन जाता है। राजा रत्नसेन ने इसी सत्य का सम्बल लेकर अपने जहाजी बेड़े को आगे बढ़ाया। उसी सत्य के बल से मानो वायु के भी पंख लग गए अर्थात् हवा तेज चलने लगी जिससे जहाजों की चाल बढ़ गई। सत्य ही साथी है, सत्य का ही संसार है और सत्य ही मानव-जीवन को खे कर पार लगा देता है; अर्थात् मुक्ति प्रदान करता है। सत्य ही मनुष्य की चारों ओर से—आगे-पीछे से रक्षा करता रहता है। जहाँ-जहाँ मगर, मच्छ और कछुए रूपी भयानक संकट आते हैं, सत्य ही उनसे मनुष्य की रक्षा करता है। समुद्र में पर्वताकार विशाल

पाठ-भेद—१. पूरि। २. नहिं जाइ सँभारा।

(सांसारिक विषय-वासनाओं को) मन मार कर कैसे पी सकेगा।) जिसने अपने शरीर को भट्टी तथा विरह को अग्नि बनाकर उसमें ईंधन की जगह अपनी हड्डियों को जलाया हो और नेत्रों से निकले आँसुओं से पोत दिया हो, उसके हृदय में प्रेम का दीपक प्रज्वलित होते ही प्रेम का मद (शराब) टपकने लगता है। राजा पद्मावती के विरह की सलाखों पर (विरह में उठने वाली हूकें ही सलाख हैं) अपने मांस को भूँज रहा है अर्थात् अपने को धीरे धीरे जला रहा है। उसके नेत्रों से आँसू टपक रहे हैं जो उस भूने जाने वाले मांस में से टपकने वाली रक्त की बूँदों के समान हैं।

जायसी कहते हैं कि जो प्रेम की शराब पीकर अर्थात् प्रेम में मतवाले होकर उसे (पद्मावती—ईश्वर) को प्राप्त करने की इच्छा से उस द्वीप को जाते हैं उन्हें तब तक अपना खाद्य पदार्थ अर्थात् इच्छित वस्तु (पद्मावती या ईश्वर) नहीं प्राप्त होती, जब तक वे उसके प्रेम की ज्वाला में पतिंगे बन कर अपने सिर को नहीं चढ़ा देते।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक।

(२) 'विरह....के जस दिया'—पंक्तियों में जायसी ने शराब चुवाने की क्रिया का रूप प्रस्तुत किया है। इसमें विरह की अग्नि, शरीर की भट्टी, हड्डियों का ईंधन और आँसुओं का पोता बनाकर प्रेम का भभका खींचने की कल्पना की गई है। उससे जो प्रेम रूपी मद टपकता है, जब उससे दीपक जलाकर प्रेमी पतिंगे की तरह अपने प्राणों की आहुति दे तभी प्रेम-सुरा का स्वाद पा सकता है।

(३) 'विरह सरागन्हि....रकत कै आँसू'—जायसी के विरह की ज्वाला की तीव्रता को स्पष्ट करने वाली अत्यन्त प्रसिद्ध पंक्ति है, जो जायसी के विरह-वर्णन का विवेचन करते समय प्रायः उद्धृत की जाती रही है। इसमें रक्त, मांस, हड्डी आदि से परिपूर्ण फारसी-काव्य का वही प्रभाव लक्षित होता है जो वीभत्सता की सृष्टि करता है।

(१५८)

पुनि किलकिला समुद महँ आए। गा धीरज, देखत डर खाए॥
भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परबत कै नाईं। फिरि आवै जोजन सौ ताईं॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा। सकल समुद जानहुँ भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। माथे रंभ[1] समुद जस होई॥
फिरत समुद जोजन सौ ताका। जैसे भँवै कोहाँर क चाका॥
भै परलै नियराना जबहीं। मरै जो जब परलै तेहि तबहीं॥
गे औसान सबन्ह कर, देखि-समुद कै बाढ़ि।
नियर होत जनु लीलै, रहा नैन अस काढ़ि॥६॥

पाठ-भेद—१. महनारम्भ=मथनारम्भ।

व्याख्या—सुरा-सागर को पार कर सब लोग किलकिला समुद्र में पहुँच गए। वहाँ पहुँचते ही सबका धैर्य जाता रहा और उसे देखने में ही भयभीत होने लगे। उसमें ऐसी लहरें उठती थीं कि जिनके उठते समय किलकिलाहट जैसा शोर उठता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो चारों तरफ से आकाश टूट कर गिर पड़ेगा। उस सागर में पर्वत के समान विशाल लहरें उठती थीं जो सौ योजन का फेरा लगाकर वापस आती थीं; अर्थात् एक-एक लहर सौ-सौ योजन तक बढ़ी चली जाती थी। वे लहरें धरती से लेकर आकाश तक ऊपर उठ जाती थीं। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो सारा समुद्र उठकर खड़ा हो गया हो। उस समुद्र का पानी ऊपर-नीचे इस प्रकार उठ रहा था—मानो समुद्र-मंथन हो रहा हो। देखने पर यह समुद्र सौ यौजन तक उसी प्रकार चक्कर खाता हुआ दिखाई पड़ता था जिस प्रकार कुम्हार का चाक चक्कर खा रहा हो। उसके निकट आते ही सबको ऐसा प्रतीत होने लगा मानो प्रलय हो रही हो। परन्तु जो व्यक्ति जब मरता है, उसके लिए तो तभी प्रलय होती है।

समुद्र की उस भयंकर बाढ़ को देखकर सबके औसान खता हो गए (होश-हवास जाते रहे)। वह इतना भयंकर मालूम पड़ता था, जैसे कोई आँखें निकाले घूर रहा हो और पास जाते ही निगल जायेगा।

टिप्पणी—इस पद में प्रलयकालीन उमड़ते सागर की भयंकरता का बड़ा संश्लिष्ट चित्र अङ्कित किया गया है। प्रसाद ने 'कामायनी' के 'चिन्ता' सर्ग में प्रलय-कालीन समुद्र के आलोड़न-विलोड़न का ऐसा ही सश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"सबल तरंगाघातों से उस
क्रुद्ध सिन्धु के, विचलित-सी
व्यस्त महाकच्छप-सी धरणी,
ऊभ-चूभ थी, विकलित-सी।"

(१५६)

हीरामन राजा सौं बोला। एही समुद आए सत डोला॥
सिंहलदीप जो नाहिं निबाहू। एही ठाँव साँकर सब काहू॥
एहि किलकिला समुद गँभीरू। जेहि गुन होइ सो पावे तीरू॥
इहै समुद्र-पंथ मँझधारा। खाँड़े कं असि धार निनारा॥
तीस सहस्र कोस कै पाटा। अस साँकर चलि सकं न चाँटा॥
खाँड़े चाहि पैनि बहुताई। बार चाहि ताकर[1] पतराई॥
एही ठाँव कहँ गुरु सँग लीजिय। गुरु सँग होइ पार तौ कीजिय॥
मरन जियन एहि पंथहि, एही आस निरास।
परा सो गएउ पतारहि, तरा सो गा कबिलास॥७॥

पाठ-भेद—१. पातरि=पतली।

व्याख्या—किलकिला समुद्र में पहुँचते ही जब राजा रत्नसेन के साथियों के भय के मारे होश-हवास जाते रहे तो हीरामन तोता राजा से कहने लगा कि इसी समुद्र में आते ही मनुष्य का सत अर्थात् साहस डिग जाता है। लोग, जो सिंहलद्वीप तक नहीं पहुँच पाते उसका कारण इस स्थान को अर्थात् इस समुद्र की भयंकर स्थिति ही है। यह किलकिला समुद्र अत्यन्त गहरा है। इसे तो वही पार कर किनारे पर पहुँच सकता है जिसमें गुण हो। इस समुद्र-मार्ग के मध्य एक धारा है जो तलवार की धार की तरह निराली अर्थात् तेज है। इसका पाट (चौड़ाई) तीस हजार कोस का है। यह जलमार्ग इतना सँकरा है कि इसमें होकर चींटी भी पार नहीं निकल सकती। इसकी तीक्ष्णता (पैनापन) तलवार की धार से भी अधिक है और इसका पतलापन बाल के पतलेपन को भी मात देता है। इसी भयंकर स्थान को पार करने के लिए गुरु को अपने साथ रखना चाहिए। यदि गुरु साथ होगा तो इस स्थान को पार कर जाओगे।

इसी मार्ग में जीवन और मृत्यु—दोनों रहते हैं और यहीं आशा और निराशा रहती हैं। जो इस धार में पड़ जाता है वह रसातल में चला जाता है, और जो इसे पार कर जाता है वह स्वर्ग में पहुँच जाता है। भाव यह है कि इस मार्ग में यही स्थान सर्वाधिक भयंकर है। यदि व्यक्ति इसे पार करने में सफल हो जाता है तो उसे जीवन मिल जाता है; उसकी आशा पूर्ण हो जाती है। असफल होने पर मृत्यु और निराशा मिलती है।

टिप्पणी—(१) जायसी द्वारा वर्णित यह किलकिला समुद्र कौन-सा है, यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। धारा की तीव्रता एवं सँकरेपन के कारण इसे कोई जल-डमरूमध्य होना चाहिए। सम्भव है कि यह जलमार्ग इतना सँकरा हो कि बिना समुद्री पथ-प्रदर्शक (पाइलट) के इसे पार करने में जहाज के, जल के भीतर छिपी चट्टानों से, टकरा कर डूब जाने का भय रहता हो।

आध्यात्मिक अर्थ में यह साधना की कौन सी स्थिति है, इस पर भी विद्वानों ने कोई प्रकाश नहीं डाला है। यह स्थिति होनी चाहिए—अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति से पूर्व की कोई अत्यन्त विषम स्थिति।

(२) यहाँ जायसी ने अद्‌भुत और विचित्र प्रकार की अतिशयोक्ति से काम लिया है। समुद्र का एक तरफ तो तीस हजार कोस चौड़ा और साथ ही इतना सँकरा और बाल के बराबर पतला होना कि उसमें होकर चींटी तक पार न जा सके। इस विरोधाभास से जायसी प्रेम मार्ग-साधना की किस विशेष स्थिति को सूचित करना चाह रहे हैं, समझ में नहीं आता।

(३) 'तीस सहस····चाँटा'—पंक्ति का शुक्ल जी के अनुसार एक पाठान्तर यह भी मिलता है—"एही पंथ सब कहँ है जाना। होइ दूसरै बिसवास निदाना।" इस्लाम धर्म के अनुसार जो वैतरणी का पुल माना गया है, उसकी ओर लक्ष्य है। विश्वास के कारण यह दूसरा ही अर्थात् चौड़ा हो जाता है।

(१६०)

राजै दीन्ह कटक कहँ बीरा । सुपुरुष होहु, करहु मन धीरा ॥
ठाकुर जेहिक सूर भा कोई । कटक सूर पुनि आपुहि होई ॥
जौ लहि सती न जिउ सत बाँधा । तो लहि देहि कहाँर न काँधा ॥
पेम-समुद महँ बाँधा बेरा । यह सब समुद बूँद जेहि केरा ॥
ना हौं सरग क चाहौं राजू । ना मोहिं नरक सेंति किछु काजू ॥
चाहौं ओहि कर दरसन पावा । जेइ मोहिं आनि पेम-पथ लावा ॥
काठहि काह गाढ़ का ढीला ? । बूड़ न समुद, मगर नहिं लीला ॥
कान समद धँसि लीन्हेसि, भा पाछे सब कोइ ।
कोइ काहू न सँभारै, आपनि आपनि होइ ॥८॥

व्याख्या—हीरामन तोता द्वारा किलकिला समुद्र के मार्ग की भयंकर कठिनाइयों को सुन राजा रत्नसेन ने अपनी सारी सेना को बीड़ा दिया अर्थात् साहस बँधाया कि सुपुरुष (वीर) बनो और मन में धैर्य धारण करो, साहस से काम लो । जिस सेना का स्वामी अर्थात् सेनापति वीर पुरुष होता है, वह सारी सेना तो स्वयं ही वीर बन जाती है । सती नारी जब तक अपने हृदय को अपने सत द्वारा संयमित कर सती होने का पूर्ण निश्चय नहीं कर लेती, तब तक कहार भी उसकी पालकी में कन्धे नहीं लगाते । हमने प्रेम के समुद्र में अपना बेड़ा बाँधकर छोड़ दिया है और ये सारे समुद्र उस प्रेम-समुद्र की एक बूँद के समान नगण्य अथवा तुच्छ हैं । मैं न तो स्वर्ग का राज्य चाहता हूँ और न मुझे नरक से ही कुछ काम है । मैं तो केवल उसी के दर्शन प्राप्त करना चाहता हूँ जिसने मुझे इस प्रेम-मार्ग पर अग्रसर होने को प्रेरित किया है । काठ के लिए भारी या हल्का होना कोई महत्त्व नहीं रखता; वह न तो समुद्र में डूब सकता है और न कोई मगर-मच्छ ही उसे निगल सकता है ।

यह कहकर राजा पतवार हाथ में ले उस समुद्र में धँस पड़ा और सब लोग उसके पीछे-पीछे चलने लगे । वहाँ कोई भी किसी को नहीं सम्हालता था । सबको अपनी-अपनी ही पड़ी थी ।

टिप्पणी—डाक्टर माताप्रसाद गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं परन्तु प्रसंग को देखते हुए यह अप्रासंगिक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसमें हताश साथियों को साहस प्रदान कर उस भयंकर समुद्र में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया गया है ।

(१६१)

कोइ बोहित जस पौन उड़ाहीं । कोई चमकि बीजु अस[1] जाहीं ॥
कोई जस भल धाव तुखारू । कोई जैस बैल गरियारू ॥

पाठ-भेद—१. बर=अपेक्षाकृत अधिक ।

लहरें उठती हैं। ये लहरें आकाश से जा लगती हैं और पुनः समुद्र में गहरी धँसती चली जाती हैं अर्थात् जल में भँवर पड़ने लगते हैं। इन लहरों के थपेड़े खाकर जहाज डगमगाते हैं, कभी इन लहरों के नीचे आ जाते हैं और कभी ऊपर पहुँच जाते हैं। राजा रत्नसेन ने उसी सत्य-बल द्वारा अपने हृदय को दृढ़तापूर्वक बाँध रखा था, जिस सत्य-बल द्वारा पहाड़ों को भी अपने कन्धों पर उठा लेने की शक्ति आ जाती है।

इस प्रकार राजा ने खार (क्षार) समुद्र को पार किया और खीर (क्षीर) सागर में आ पहुँचा। मार्ग में उसे वे सातों समुद्र मिले जिनका जल भिन्न-भिन्न प्रकार का था।

(१५४)

खीर-समुद का बरनौं नीरू। सेत सरूप पियत जस खीरू॥
उलथहिं मानिक, मोती, हीरा। दरब देखि मन होइ न थीरा[1]॥
मनुआ चाह दरब औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू॥
जोगी होइ सो मनहिं सँभारै[2]। दरब हाथ कर समुद पँवारै॥
दरब लेइ सोई जो[3] राजा। जो जोगी तेहिके केहि काजा ?॥
पंथहि पंथ दरब रिपु होई। ठग, बटपार, चोर सँग सोई॥
पंथी सो जो दरब सौं रूसै। दरब समेटि बहुत अस मूसै॥
खीर समुद सो नाँघा, आए समुद दधि माँह।
जो हैं नेह क बाउर, तिन्ह कहुँ धूप न छाँह॥२॥

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि मैं क्षीर-सागर का क्या वर्णन करूँ। उसका रंग श्वेत है, और उसका जल पीने में दूध के समान मीठा है। उस जल में माणिक्य, मोती और हीरे उतराते रहते हैं। इस धन को देखकर मन स्थिर नहीं रहता, उसे प्राप्त करने के लिए ललचा उठता है। मन, धन और भोग का अभिलाषी होता है। वह इनके मोह में पड़ अपने मार्ग को भूल जाता है और अपनी तपस्या खंडित कर बैठता है। सच्चा योगी तो वही है जो अपने मन को सम्हाल कर रखे, अपने वश में कर ले और हाथ के धन को अर्थात् अपने पास जो कुछ धन हो, उसे भी समुद्र में फेंक दे। धन तो वही लेता है जो राजा होता है। जो योगी होता है, धन उसके किस काम का ? पथिक के लिए तो धन उसके मार्ग का शत्रु बन जाता है, क्योंकि उस धन के लालच में ठग, लुटेरे, चोर उसके साथ लग जाते हैं। भाव यह है कि धन पास रहने से मन नाना प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों में पड़ जाता है, जिससे मन की योग के लिए अपेक्षित एकाग्रता नष्ट हो जाती है। योग-मार्ग का सच्चा पथिक तो वही है, जो धन के प्रति विरक्त हो जाता है। जिन्होंने धन को समेट (संग्रह किया), ऐसे

पाठ-भेद—१. धरै न धीरा। २. जोगी मनहिं ओहिं रिस मारहिं। ३. अस्थिर।

बहुत से इस मार्ग पर लुट गए; अर्थात् धन के मोह में पड़कर उनकी तपस्या खंडित हो गई।

इस प्रकार राजा रत्नसेन ने अपने साथियों सहित उस क्षीर-सागर को पार किया और दधि समुद्र में आ पहुँचा। जो प्रेम के दीवाने होते हैं उन्हें धूप और छाया की कोई चिन्ता नहीं रहती अर्थात् वे सुख-दुख में समरस रहते हैं।

(१५५)

दधि-समुद देखत तस दाधा[1]। पेम क लुबुध दगध पै साधा ॥
पेम जो दाधा धनि वह जीऊ। दधि जमाइ मथि काढ़ै घीऊ ॥
दधि एक बूँद जाम सब खीरू। काँजी बूँद बिनसि होइ नीरू ॥
साँस डाँड़ि,[2] मन मथनी गाढ़ी। हिये चोट बिन फूट न साढ़ी ॥
जेहि जिउ पेम चँदन तेहि आगी। पेम बिहून फिरै डर भागी ॥
पेम कै आगि जरै जौं कोई। दुख तेहि कर न अँबिरथा होई ॥
जो जानै सत आपहि जारै। निसत हिये सत करै न पारै ॥
दधि-समुद पुनि पार भे, पेमहि कहा सँभार ?
भावै पानी सिर परै, भावै परै अँगार ॥३॥

व्याख्या—उस दधि सागर को देखकर राजा रत्नसेन पद्मावती के वियोग में उसी प्रकार दग्ध होने लगा जिस प्रकार प्रेम का लोभी प्रेम की जलन द्वारा ही अपनी साधना करता है। भाव यह है कि प्रेम द्वारा लुभाया गया प्रेमी बिरह के दाह को सह लेता है। जो प्राण प्रेम में दग्ध होते हैं वे धन्य हैं। प्रेमी दधि रूपी अपनी साधना को जमाकर (एकत्रित कर) उसको विरह रूपी मथानी से मथकर प्रेमरूपी घी को निकाल लेता है अर्थात् अन्त में उसे अपने प्रियतम की प्राप्ति हो जाती है। दही की एक बूँद सारे दूध को जमा देती है और खटाई की एक बूँद उसी दूध को नष्ट कर (फाड़ कर) उसे पानी बना देती है। (यहाँ दही 'साधना' का प्रतीक है।) उस साधना रूपी दही को साँस रूपी नेती तथा मन रूपी मथनी को हृदय में गहरा गाढ़कर जब चोट दी जाती है तभी दही पर जमी माया रूपी मलाई फटती है। भाव यह है कि साँस साधकर (प्राणायाम आदि क्रिया करके) मन को गहरा कर अर्थात् स्थिर, एकाग्र करने से ही हृदय पर जमी माया की पर्तों को नष्ट किया जा सकता है। (यहाँ योग साधना से भाव अपेक्षित है।) जब तक हृदय पर चोट नहीं पड़ती, प्रेम का विकास नहीं होता।

जिसके हृदय में प्रेम रूपी चन्दन होता है, वहीं विरह रूपी अग्नि भी रहती है। जो व्यक्ति प्रेम से रहित होता है, वह इस विरह की अग्नि की ज्वाला से भयभीत हो भागा फिरता है; अर्थात् प्रेम रहित व्यक्ति विरह की अग्नि के भीतर छिपे उस

पाठ-भेद—१. डहा=दग्ध हो गया। २. वोढ=मथने वाली रस्सी।

सच्चे आनन्द को नहीं जानता जिसका अनुभव विरही करता है। जो कोई प्रेम की अग्नि में जलता है, उसका यह दुख उठाना कभी निष्फल नहीं होता; अर्थात् अन्त में उसे प्रेमास्पद की प्राप्ति हो जाती है। जो सत्य को जान लेता है वह स्वयं ही अपने को विरह की अग्नि में जलाता रहता है, पर जो निःसत्त्व अर्थात् दुर्बल है वह सत्य का पालन नहीं कर सकता।

इसके उपरान्त वे सब दधि-सागर को पार कर गए। प्रेम में व्यक्ति को अपना होश-हवास कहाँ रहता है—चाहे उसके सिर पर पानी बरसे या अंगार बरसते रहें। प्रेमी तो बराबर अपनी धुन में मस्त अपने पथ पर आगे बढ़ता ही चला जाता है।

(१५६)

आए उदधि समुद्र अपारा। धरती सरग जरैं तेहि झारा॥
आगि जो उपनी ओहि समुंदा। लंका जरी ओहि एक बुंदा॥
बिरह जो उपमा होइ[1] तें गाढ़ा। खिन न बुझाइ जगत महँ[2] बाढ़ा॥
जहाँ सो बिरह आगि कहँ डीठी। सौंह जरै फिर देह न पीठी॥
जग महँ कठिन खड़ग कै. धारा। तेहि तें अधिक बिरह कै झारा॥
अगम पंथ जो ऐस न होई। साध किये पावैं सब कोई॥
तेहि समुद महँ राजा परा। जरा चहै पै रोंव न जरा॥
तलफै तेल कराह जिमि, इमि तलफै सब नीर।
यह जो मलयगिरि प्रेम, कर बेधा समुद समीर[3] ॥४॥

व्याख्या—दधि-सागर को पारकर राजा रत्नसेन अपने साथियों सहित अपार उदधि नामक समुद्र में आ पहुँचा। इस समुद्र से उठती ज्वाला से पृथ्वी और आकाश सब जल रहे थे। ऐसे उस समुद्र से जो अग्नि उत्पन्न हुई थी उसकी एक ही बूँद से लंका जलकर राख हो गई थी। परन्तु राजा रत्नसेन के हृदय में जो विरह की आग उत्पन्न हुई थी वह इस समुद्र की उस ज्वाला से भी अधिक गाढ़ी अर्थात् भयंकर थी। वह क्षण भर के लिए भी नहीं बुझती थी और सारे संसार में फैलती चली जा रही थी अर्थात् रत्नसेन को सारा संसार विरह में दग्ध होता हुआ प्रतीत हो रहा था। जिसके हृदय में विरह की ऐसी भयंकर ज्वाला प्रज्वलित हो रही हो, उसे ऐसी साधारण अग्नि कहाँ दिखाई पड़ती। ऐसा विरही तो ऐसी अग्नि का निर्द्वन्द्व हो सामना करता और उसमें जलता है, वह उसे पीठ दिखाकर पीछे नहीं भाग खड़ा होता। कहा जाता है कि जगत में तलवार की धार सबसे कठिन होती है। यदि यह पंथ (प्रेम का पंथ) इतना अगम्य अर्थात् कठिन न होता तो कोई भी व्यक्ति इच्छा करने

पाठ-भेद—१. वह हुत=वह था। २. तस। ३. का बुंद समुंद समीर=उसके समीर से वह समुद्र बूँद जैसा बन रहा था।

मात्र से ही इसे प्राप्त कर लेता। राजा ऐसे उस भयानक समुद्र में जा पड़ा है। वह उसमें जलना चाहता है परन्तु उसका एक रोम तक नहीं जलता, क्योंकि उसके हृदय में स्थित विरह की अग्नि इस समुद्र की अग्नि से अधिक प्रबल और भयानक है। वह जलना इसलिए चाहता है—क्योंकि उससे यह विरह की ज्वाला सही नहीं जाती।

उस समुद्र का सारा जल इस प्रकार खौल रहा था—जैसे कड़ाह में तेल खौलता है। यह जो प्रेम का मलयगिरि (राजा रत्नसेन) अर्थात् प्रेम का पुंजीभूत है, उसके प्रेम की सुवास से सारा समुद्र और पवन सुवासित हो उठा है। भाव यह है कि राजा को अपने प्रेम के कारण यह खौलता हुआ समुद्र और उसके ऊपर बहती तप्त वायु भी सुखकर लगती है।

(१५७)

सुरा-समुद पुनि राजा आवा। महुआ मद-छाता दिखरावा।।
जो तेहि पीयँ सो भाँवरि लेई। सीस फिरै पथ पैगु न देई।।
पेम-सुरा जेहि के हिय माहाँ। कित बैठे महुआ कै छाहाँ।।
गुरु के पास दाख-रस रसा। बैरी बबुर मारि मन कसा।।
बिरह के दगध लीन्ह तनु भाठी। हाड़ जराइ दीन्ह सब काठी।।
नैन-नीर सौं पोता किया। तस मद चुवा बरा जस दिया।।
बिरह सरागन्हि भूँजैं माँसू। गिरि गिरि परे, रकत के आँसू।।
मुहमद मद जो पेम कर, गए दीपि तेहि साध[1]।
सीस न देइ पतंग होइ, तौ लगि लहै न खाध[2] ।।५।।

व्याख्या—'उदधि' नामक समुद्र को पार कर राजा रत्नसेन सुरा-सागर (शराब के समुद्र) में आ पहुँचा। इस सागर में महुए के फूलों के गुच्छे तैरते दिखाई पड़ते थे। जो इस समुद्र के जल को पी लेता है, वह चक्कर खाने लगता है। नशे के कारण उसका सिर घूम जाता है और उससे मार्ग पर आगे पग नहीं बढ़ाये जाते। जिसके हृदय में प्रेम की शराब भरी रहती है वह महुए के पेड़ की छाया में बैठकर क्या करेगा, क्योंकि प्रेम की शराब की तुलना में महुए की शराब अत्यन्त ही हीन और तुच्छ होती है। जिस साधक ने अपने गुरु के पास अंगूर की शराब का रसास्वादन कर लिया हो, वह बेर और बबूल रूपी शत्रुओं को नष्ट कर अपने मन को वश में कर लेता है। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जिसने गुरु के उपदेश रूपी अंगूरी मीठी शराब को चख रखा हो वह बेर-बबूल के कसैले स्वाद वाली शराब को

पाठ-भेद—१. किएँ दीप तेहि राखि=उसको दीपक बना कर रखने के बाद भी।
२. तब लगि जाइ न चाखि=तब तक उससे वह मदिरा चखी नहीं जा सकती।

उसे ग्रस लिया हो। चारों ओर चमकीले नक्षत्र चमक रहे हैं जो ऐसे लग रहे हैं मानो जगह-जगह पर किसी ने दीपक जला रखे हों।

और दक्षिण दिशा में ही सोने का पर्वत दिखाई दे रहा है। सारे जगत में ऐसी सुगन्धि भर रही है मानो वसन्त ऋतु का आगमन हो रहा हो।

टिप्पणी—(१) जायसी ने इस छन्द में मानसर से दिखाई पड़ने वाले सिंहलद्वीप का अत्यन्त विचित्र-सा वर्णन किया है। अपने काव्य-कौशल द्वारा उन्होंने मानसर में वर्ष की छहों ऋतुओं को एक साथ ही उपस्थित हुआ सा दिखा दिया है; जैसे—हेमन्त-शिशिर (शीतल पवन); बसन्त (मलय समीर), ग्रीष्म (सूर्य की किरण), वर्षा (आकाश में मेघ और बिजली); शरद (कृत्तिका नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का प्रकाश तथा अन्य नक्षत्र)। सभी ऋतुओं के इन सारे उपकरणों को एक ही स्थान पर एकत्रित देखकर रत्नसेन के मन में भ्रम उत्पन्न हो गया था। इससे आगामी छन्द में कवि ने इन सम्पूर्ण उपकरणों की वास्तविकता का उद्घाटन कर राजा के भ्रम का निवारण कर दिया है।

(२) कुछ लोगों ने इसे समासोक्ति मानकर इसका अध्यात्म-परक अर्थ करने का भी प्रयत्न किया है परन्तु ऐसा करना व्यर्थ की खींच-तान प्रतीत होती है। इसमें राजा के आश्चर्य का ही वर्णन अभिप्रेत है। इसमें जो रहस्यात्मकता-सी आ गई है, उसका रहस्य आगामी छन्द में खुल जाता है जो अपार्थिव न होकर पार्थिव ही है। इस प्रकार के वर्णन को देख डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने जायसी को सिद्ध योगी घोषित किया है।

(१६४)

तूँ राजा जस बिक्रम आदी। तू हरिचंद बैन सतबादी॥
गोपिचंद तुइँ जीता जोगू। औ भरथरी न पूज बियोगू॥
गोरख सिद्धि दीन्ह तोहि हाथू। तारी[1] गुरू मछंदरनाथू॥
जीत पेम तुइँ भूमि अकासू। दीठि परा सिंहल-कबिलासू॥
वह जो मेघ गढ़ लाग अकासा। बिजुरी कनय-कोटि चहुँ पासा॥
तेहि पर ससि जो कचपचि भरा। राजमँदिर सोने नग जरा॥
और जो नखत[2] देख चहुँ पासा। सब रानिन्ह कै आहिं अवासा॥
गगन सरोवर, ससि-कँवल, कुमुद-तराइन्ह पास।
तू रवि ऊआ, भौंर होइ, पौन मिला लेइ बास॥२॥

व्याख्या—हीरामन तोता राजा रत्नसेन के मन में सिंहल को देख उदय हुए भ्रम मिश्रित आश्चर्य के भाव का समाधान करता सिंहलगढ़ की एक-एक वस्तु का विवरण प्रस्तुत करता हुआ कहता है—

पाठ-भेद—१. तारे=उद्धार किया है, अर्थात् तुमने गोरखनाथ बनकर मछिन्दरनाथ का उद्धार किया है। २. कहसि=कह रहा है।

हे राजा ! तुम बिल्कुल विक्रमादित्य के समान हो। तुम हरिश्चन्द्र और राजा वैन्य (यह राजा वेन का पुत्र था जो आदिराज पृथु के नाम से धर्म-व्यवस्था के प्रवर्त्तक के रूप में प्रसिद्ध हुआ) के समान सत्यवादी हो। तुमने योग के साधने में राजा गोपीचन्द को भी जीत लिया है और वियोग में राजा भर्तृहरि भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता। गुरु गोरखनाथ ने तुम्हें अपने हाथ से सिद्धि प्रदान की है और गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने तुम्हें सारे ज्ञान की कुंजी प्रदान की है। तुमने अपने प्रेम-बल द्वारा सारी पृथ्वी और आकाश को जीत लिया है। उसी के फलस्वरूप तुम्हें कैलास (स्वर्ग) रूपी सिंहल दिखाई दिया है। वे जो तुम्हें मेघ से दिखाई दे रहे हैं वह सिंहल का गगनचुम्बी गढ़ है और जो बिजली सी प्रतीत होती है, वह उस गढ़ के चारों ओर बना सोने का परकोटा है। उसके ऊपर कृत्तिका नक्षत्र से घिरा हुआ चन्द्रमा सा दिखाई पड़ रहा है वह रत्नों से जड़ा हुआ राजभवन है। और जो चारों ओर नक्षत्र से दिखाई पड़ रहे हैं, वे सब रानियों के रहने के अलग-अलग महल हैं।

तुम्हें जो आकाश जैसा नीला दिखाई पड़ रहा है वह सरोवर है, उसमें खिले कमल चन्द्रमा तथा कुमुदिनियाँ तारे हैं। जैसे सूर्य के उदय होने पर भौंरा विकसित कमल की गन्ध से आकर्षित हो उसकी ओर जाता है, उसी प्रकार तुम रूपी (रत्नसेन रूपी) सूर्य के आगमन को जान पद्मावती रूपी कमल खिल उठा है और पवन भौंरे के समान उसकी सुगन्धि को लेकर तुम्हारे पास आ रहा है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—सांगरूपक।

(१६५)

सो गढ़ देखु गगन तें ऊँचा। नैनन्ह देखा, कर न पहूँचा॥
बिजुरी चक्र फिरै चहुँ फेरी। औ जमकात फिरै जम केरी॥
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
चाँद सुरुज औ नखत तराईं। तेहि डर अँतरिख फिरहिं सबाईं॥
पौन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा[1]॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ भुइँ चूआ॥
रावन चहा सौंह[2] होइ, उतरि गए दस माथ।
संकरा धरा लिलाट भुइँ, और को जोगीनाथ? ॥३॥

व्याख्या—हीरामन तोता सिंहलगढ़ का वर्णन करता हुआ राजा रत्नसेन से कहता है—

ऐसे उस सिंहलगढ़ को देखो जो आकाश से भी अधिक ऊँचा है। उसे केवल नेत्रों द्वारा ही देख सकना सम्भव है, परन्तु वहाँ पहुँच कर हाथ से उसका स्पर्श करना

पाठ-भेद—१. टूटि भुइँ बहा=टूट कर भूमि पर बहने लगा। २. सौंह गै हेरा=सामने जाकर देखना चाहा।

असम्भव है; अर्थात् कोई भी उस तक नहीं पहुँच सकता। उसके चारों ओर बिजली का चक्र फिरता रहता है और यमराज का खाँड़ा उसकी रक्षा करता हुआ घूमता रहता है। जो कोई मन में साथ करके (इच्छा करके) दौड़ कर वहाँ तक जा पहुँचता है तो चक्र मार कर उसके दो टुकड़े कर दिए जाते हैं। उसी चक्र के डर के मारे चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और तारे अन्तरिक्ष (आकाश) में ही चक्कर काटते रहते हैं। पवन ने भी वहाँ तक पहुँचने की इच्छा की थी परन्तु उस पर ऐसी मार पड़ी कि वह पृथ्वी पर लोटता फिरता है (हवा जमीन पर चलती है)। अग्नि वहाँ तक पहुँचने के लिए उठी, खूब जली परन्तु अन्त में हताश हो—बुझ कर शान्त हो गई। धुआँ उस तक पहुँचने के लिए ऊपर उठा परन्तु बीच में ही गायब हो गया। जल उस तक पहुँचने के लिए बादल का रूप धारण कर ऊपर उठा परन्तु वहाँ तक पहुँचने में असमर्थ हो ग्लानि के मारे रो उठा और धरती पर टपकने लगा।

रावण ने इच्छा की कि उसके सामने जाए, परन्तु उसके दसों मस्तक अलग हो गए; यहाँ तक कि शंकर ने भी उसके सम्मुख धरती पर माथा टेक दिया तो फिर और योगीश्वरों की तो गिनती ही क्या है।

टिप्पणी—जायसी ने प्रस्तुत छन्द में साधक के सम्मुख उसके साधना-मार्ग में जो-जो विघ्न-बाधायें आती हैं, उनका प्रतीकात्मक शैली में वर्णन किया है। इसके लिए उन्होंने सिंहलगढ़ की दुरूहता के माध्यम से हठयोग साधना या षट्चक्र-सिद्धि की दुरूहता का उल्लेख किया है। इस छन्द में आए प्रतीकों को इस प्रकार समझा जा सकता है—

गगन से ऊँचा गढ़ = आकाश अर्थात् विशुद्धि चक्र से ऊपर सहस्रार चक्र।
नैन = भ्रूमध्य या आज्ञाचक्र की अन्तर्दृष्टि।
बिजुरी चक्र = अध्यात्म या हठयोग पक्ष में चक्रों की विद्युत् या प्राणधारा।
अगिनि = सुषुम्णा की साधना।
पानी = रेत के ऊर्ध्व गमन का संकेत।

साधक प्रायः योगमार्ग में असफल हो जाते हैं। सच्चा कामजित योगी उपर्युक्त प्रतीकों को सिद्ध कर लेता है। जिसका योग खंडित हो जाता है, उसके शरीर में प्राण, सुषुम्णा और रेत—सब पुनः असिद्ध अवस्था में आ जाते हैं। केवल इच्छा करने से ही योग की सिद्धि नहीं होती। शीघ्रता करने वाले हठयोगी की शक्ति विभक्त रहती है। किसी न किसी चक्र तक पहुँच कर उसकी साधना खंडित हो जाती है।

—(डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)

(१६६)

तहाँ देखु पदमावति रामा। भौंर न जाइ, न पंखी नामा॥
अब तोहि देउँ सिद्धि एक जोगू। पहिले दरस होइ, तब भोगू॥

कंचन-मेरु देखाव सो जहाँ। महादेव कर मंडप तहाँ ।।
ओहिक खंड जस परबत मेरू। मेरुहि लागि होइ अति फेरू ।।
माघ मास पाछिल पख लागे। सिरी-पंचिमी होइहि आगे ।।
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहिं जाइ सकल संसारू ।।
पदमावति पुनि पूजै आवा। होइहि एहि मिस दीठि-मेरावा ।।
तुम्ह गौनहु ओहि मंडप, हौं पदमावति पास।
पूजै आइ बसंत जब, तब पूजै मन-आस ।।४।।

व्याख्या—ऐसे उस सिंहलगढ़ में सुन्दरी पद्मावती रहती है। वहाँ न कोई भौंरा ही जा सकता है और न पक्षी नाम का कोई प्राणी ही प्रवेश कर सकता है। अब मैं तुम्हें एक उपयुक्त सिद्धि प्रदान करूँगा जिससे पहले तुम्हें उसके दर्शन प्राप्त होंगे और तब उसके पश्चात् तुम उसके साथ भोग-विलास कर सकोगे। वहाँ, उस स्थान पर जहाँ तुम सोने का पर्वत देख रहे हो, महादेव का मन्दिर है। उस मन्दिर के खंड या शिखर सुमेरु पर्वत के समान हैं। वहाँ तक पहुँचने के लिए उस पर्वत के कारण बहुत चक्कर लगा कर जाना पड़ता है। माघ मास के पिछले पक्ष अर्थात् शुक्ल पक्ष लगते ही कुछ दिन बाद वसन्त-पंचमी आएगी। उस दिन महादेव के मन्दिर के पट खुलेंगे और सारा संसार महादेव की पूजा करने के लिए वहाँ जाने को उत्सुक हो उठेगा। वहाँ पर पद्मावती भी पूजा करने के लिए आयेगी। इसी बहाने वहाँ दृष्टि-मिलन हो जायेगा, अर्थात् तुम दोनों परस्पर एक-दूसरे के दर्शन कर लोगे।

इसलिए तुम उसी मंदिर में जाओ और मैं पद्मावती के पास जाता हूँ। जब वह वसन्त की पूजा करने के लिए वहाँ आयेगी तब तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति में आए 'भौंर' तथा 'पंखी' शब्द क्रमशः प्रेम-लुब्ध मनुष्य तथा पक्षी के रूप में दूत या सन्देशवाहक का अर्थ देते हैं।

(१६७)

राजै कहा दरस जौं पावौं। परबत काह, गगन कहँ धावौं ।।
जेहि परबत पर दरसन लहना। सिर सौं चढ़ौं, पाँव का कहना ।।
मोहूँ भावै ऊँचै ठाऊँ। ऊँचै लेउँ पिरीतम के नाऊँ ।।
पुरषहिं चहिए ऊँच हियाऊ। दिन-दिन ऊँचे राखै पाऊ ।।
सदा ऊँच पै सेइय बारा। ऊँचै सौं कीजिय बेवहारा ।।
ऊँचै चढ़ै, ऊँच खँड सूझा। ऊँचे पास ऊँच मति बूझा ।।
ऊँचे सँग संगति निति कीजै। ऊँचे काज जीउ पुनि[1] दीजै ।।
दिन दिन ऊँच होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़त जो खसि परै[2], ऊँच न छाँड़िय काउ ।।५।।

पाठ-भेद—१. बलि। २. परिअ जौं।

कोई जानहुँ हरुआ रथ हाँका । कोई गरुअ भार बहु थाका ।
कोई रेंगहिं जानहुँ चाँटी । कोई टूटि होहिं तर माटी ।।
कोई खाहिं पौन कर झोला । कोई करहिं पात अस डोला ।।
कोई परहिं भौंर जल माहाँ । फिरत रहहिं, कोइ देइ न बाहाँ ।।
राजा कर भा अगुमन खेवा । खेवक आगे सुआ परेबा ।।
कोई दिन मिला सबेरे, कोइ आवा पछ-राति ।।
जाकर जस-जस साजु हुत, सो उतरा तेहि भाँति ।।६।।

व्याख्या—किलकिला समुद्र में आगे बढ़ते ही राजा के जहाज और नावें विभिन्न गति से चल पड़ीं । जायसी कहते हैं—

कोई जहाज वायु के समान तीव्र गति से उड़ा-सा चला जा रहा था । कोई चमक कर बिजली की सी तेजी से बढ़ रहा था । कोई इस प्रकार अच्छी तरह तेजी से दौड़ रहा था जैसे तुषार देश का घोड़ा दौड़ता है और कोई सुस्त बैल के समान धीमी गति से आगे बढ़ रहा था । कोई इस प्रकार धीरे-धीरे डगमगाता हुआ चल रहा था जैसे कोई रथ भारी बोझ को खींचता हुआ थका-सा आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा हो । कोई चींटी के समान धीरे-धीरे रेंग-सा रहा था और कोई टूटकर जल-समाधि ले मिट्टी में मिल जाता था । कोई वायु के थपेड़े खाकर पत्ते के समान डगमगा उठता था । कोई जल के भँवर में पड़ चक्कर काटने लगता था और कोई भी उसे बचाने के लिए सहारा नहीं देता था, (क्योंकि सबको अपनी-अपनी पड़ी थी) । राजा का जहाज सबसे आगे जा पहुँचा । उसके जहाज पर मल्लाह (पथ-प्रदर्शक) के रूप में हीरामन तोता बैठा हुआ था ।

कोई दिन में शीघ्र ही तट पर जा लगा और कोई रात के पिछले पहर में आकर किनारे लगा । जिसका जैसा-जैसा साज-सामान था, वह उसी के अनुसार देर या अबेर से किनारे पर उतरा । भाव यह है कि मनुष्य अपने-अपने कर्मानुसार ही संसार-सागर को शीघ्र या विलम्ब के साथ पार करता है । यदि गुरु पथ-प्रदर्शक होता है तो वह शीघ्र पार पहुँच जाता है ।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—इसमें समासोक्ति अलंकार माना जा सकता है ।

(२) जहाजों के रूप में जायसी ने सम्भवतः विभिन्न प्रकार के साधकों का वर्णन किया है जो अपने-अपने पंथ की साधना के अनुसार देर या अबेर से अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं ।

(३) इस छन्द में भारतीय कर्मवाद-सिद्धान्त की झलक मिलती है । इसकी अन्तिम पंक्ति 'जाकर जस-जस साजु हुत, सो उतरा तेहि भाँति'—गोस्वामी तुलसीदास की उस प्रसिद्ध अर्द्धाली से साम्य रखती है जिसमें उन्होंने कहा है कि—

"कर्म प्रधान बिस्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा ।"

(१६२)

सतएँ समुद मानसर आए। मन[1] जो कीन्ह साहस, सिधि पाए ॥
देखि मानसर रूप सोहाबा। हिय हुलास पुरइनि होइ छाबा ॥
गा अँधियार रैन-मसि छूटी। भा भिनुसार किरिन-रवि फूटी ॥
'अस्ति अस्ति' सब साथी बोले। अंध जो अहे नैन बिधि खोले ॥
कवँल बिगस तस बिहँसी देहीं। भौंर दसन होइ कै रस लेहीं ॥
हँसहिं हंस औ करहिं किरीरा। चुनहिं रतन मुकुताहल हीरा ॥
जो अस आव साधि तप जोगू। पूजै आस, मान रस भोगू ॥
भौंर जो मनसा मानसर, लीन्ह कँवल रस आइ।
घुन जो हियाब न कै सका, झूर काठ तस खाइ ॥१०॥

व्याख्या—किलकिला समुद्र की भयंकर यात्रा समाप्त कर राजा रत्नसेन सिंहलद्वीप के समीपस्थ 'मानसर' नामक समुद्र में पहुँच गया। जायसी यहाँ उसी 'मानसर' का वर्णन करते हैं—

इसके उपरान्त वे लोग सातवें समुद्र 'मानसर' में आ पहुँचे। उन्होंने किलकिला समुद्र को पार करने का मन में जो साहस और संकल्प किया था, उसके कारण उन्हें सिद्धि (अपना अन्तिम लक्ष्य) प्राप्त हो गई, वे सफल-मनोरथ हो गए। उस मानसर के सुन्दर रूप को देख उनके हृदय उल्लसित हो उठे। उनके हृदय का यह उल्लास ही मानो मानसर में छाये कमल के पत्तों के रूप में छा गया। भाव यह है कि मानसर के दर्शन कर उन सबके हृदय कमल के समान खिल उठे। अन्धकार छँट गया, रात्रि की कालिमा नष्ट हो गई। प्रभात हो गया और किरणें चारों ओर विकीर्ण हो उठीं। भाव यह है कि निराशा और दुख का समय बीत गया और सुख और आशा से भरा प्रभात खिल उठा। उस मानसर को देखकर राजा के सारे साथी पुकार उठे—'है, है।' जो अभी तक अन्धे थे, विधाता ने उनकी आँखें खोल दीं। भाव यह है कि अब तक उन लोगों को सिंहलद्वीप के अस्तित्व अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व में पूर्ण आस्था नहीं थी। वे केवल सुनी-सुनाई बातों पर ही विश्वास कर रहे थे। परन्तु मानसर के सुन्दर रूप को देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि सिंहलद्वीप अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व है। इस प्रकार अपने अज्ञानान्धकार के नष्ट हो जाने से उन्हें सत्य (ईश्वर) के दर्शन होने लगे और अपनी साधना की इस सफलता से उनके हृदय उल्लास से भर कमल के समान खिल उठे।

(सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही) मानसर में स्थित कमल खिल उठे; उन्हें खिलता हुआ देखकर उन लोगों का सारा शरीर भी जैसे प्रफुल्लता से भर उठा। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि मानसर के उस सुन्दर रूप को देख उनके मुख-कमल खिल उठे और प्रसन्नता उनके सारे शरीर से प्रकट होने लगी मानो उनका

पाठ-भेद—१. सत=सत्यनिष्ठा के साथ।

सारा शरीर प्रसन्नता के मारे हँसी से भर उठा हो।) उनके नेत्र भौंरों के समान या भौंरे बनकर उन खिले हुए कमलों का रस-पान करने लगे। उस मानसर में हंस कलरव और जल-क्रीड़ा कर रहे थे और विभिन्न प्रकार के रत्न, मोती और हीरे चुन-चुन कर खा रहे थे। भाव यह है कि वहाँ हंस (सफल साधक आत्मायें) प्रसन्न होकर क्रीड़ा कर रही थीं और विभिन्न प्रकार के ज्ञान रूपी रत्नों का उपभोग कर रही थीं। कवि कहता है कि जो इस प्रकार अर्थात् राजा रत्नसेन और उसके साथियों के समान तप और योग की साधना कर यहाँ आते हैं, उनकी मनोकामना पूर्ण होती है और वे इस मानसर के सौन्दर्य का उपभोग करते हैं।

जिस भौंरे ने मानसर तक पहुँचने का अपने मन में संकल्प कर लिया था, वह मानसर तक आ पहुँचा और कमल-रस का पान करने लगा। परन्तु घुन (काठ में लगने वाला कीड़ा) वहाँ तक पहुँचने का मन में साहस न कर सका, इसलिए झुँझला कर सूखा काठ ही चबाने लगा। भाव यह है कि साधक योग मार्ग के अनेक संकटों को जानते हुए भी उस परम ब्रह्म को प्राप्त करने का अपने मन में दृढ़ संकल्प कर साधना मार्ग पर चल पड़ता है और अन्त में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर परमानन्द लाभ करता है। परन्तु कायर ऐसा साहस एवं संकल्प न कर पाने के कारण सांसारिक विषय-वासनाओं में, जो काठ समान रसहीन होती हैं, लिप्त बना रहता है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—रूपक और समासोक्ति।

(२) इस छन्द में जायसी ने प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है। प्रस्तुत—राजा रत्नसेन, उसके साथी, मानसर तथा उसमें खिला हुआ सौन्दर्य और उसका उपभोग है। अप्रस्तुत—साधक आत्मायें, साधना, परम ब्रह्म और परमानन्द (ब्रह्मानन्द) की प्राप्ति है। इस प्रकार जायसी ने इन पंक्तियों में साधना की अन्तिम अवस्था में साधक के हृदय की जो स्थिति होती है उसका अत्यन्त मनोरम, काव्यात्मक और भावपूर्ण वर्णन किया है।

(३) इसमें रहस्यवाद का पूर्ण रूप प्रस्फुटित हुआ है।

१६

सिंहलद्वीप-खंड

(१६३)

पूँछा राजै कहु गुरु सूआ। न जनौं आजु कहाँ दहुँ[1] ऊआ ॥
पौन बास सीतल लेइ आवा। कया दहत चंदनु जनु लावा ॥
कबहुँ न ऐस जुड़ान सरीरू। परा अगिनि महँ मलय-समीरू ॥
निकसत आव किरिन-रविरेखा। तिमिर गए निरमल जग देखा ॥
उठै मेघ अस जानहुँ आगै। चमकै बीजु गगन पर लागै ॥
तेहि ऊपर जनु ससि परगासा। औ सो चंद कचपची गरासा[2] ॥
और नखत चहुँ दिसि उजियारे। ठावहिं ठाँव दीप अस बारे ॥
और दखिन दिसि नीयरे, कँचन-मेरु देखाव ॥
जन बसंत ऋतु आवै, तैसि बास जग आव[3] ॥१॥

व्याख्या—मानसर में पहुँच कर राजा रत्नसेन वहाँ के विचित्र से वातावरण को देखकर समझ न पाया कि वह कहाँ आ पहुँचा है। इसलिए वह हीरामन तोते से पूछता है—

हे गुरु हीरामन ! न मालूम आज हम इस सूर्योदय के साथ किस स्थान पर आ निकले हैं। यहाँ शीतल पवन सुगन्धि लेकर आ रहा है मेरे विरह से दग्ध शरीर को ऐसा सुख पहुँचा रहा है जैसे जलते हुए शरीर पर चन्दन का लेप कर देने से ठंडक पहुँचती है। मेरा शरीर इस तरह से कभी शीतल नहीं हुआ था, अर्थात् मेरे शरीर ने पहले कभी इतना आनन्द नहीं पाया था। ऐसा लग रहा है जैसे अग्नि में झुलसते शरीर को मलय-पवन सहला-सहला कर आनन्द पहुँचा रहा हो। सूर्य किरणों की पंक्तियाँ खिलती चली आ रही हैं, अन्धकार छँट गया है और संसार निर्मल, स्वच्छ दिखाई देने लगा है। सामने ऐसा लग रहा है जैसे बादल उठते चले आ रहे हों और आकाश में बिजली चमक रही हो। उसके ऊपर मानो चन्द्रमा प्रकाश विकीर्ण कर रहा हो और वह चन्द्रमा भी ऐसा धुँधला सा लग रहा है मानो कृतिका नक्षत्र ने

पाठ-भेद—१. दिन। २. कचपचिन्ह भएउ गरासू=कृत्तिका नक्षत्र-माला का ग्रास हो गया हो। ३. पाव=प्राप्त हो रही है।

व्याख्या—हीरामन तोता द्वारा पद्मावती के दर्शन पाने की युक्ति सुनकर राजा रत्नसेन ने कहा—यदि मुझे उसके दर्शन प्राप्त हो जायँ तो पर्वत तो क्या मैं आकाश तक धावा मार सकता हूँ। मुझे जिस पर्वत पर उसका दर्शन मिलेगा, उस पर मैं सिर के बल चढ़ूँगा, पैरों की तो बात ही क्या है। मुझे भी ऊँचे स्थान ही अच्छे लगते हैं। मैं ऊँचे स्वर से ही अपने प्रियतम (पद्मावती) का नाम लेता हूँ। पुरुष को सदैव ऊँचा साहस रखना चाहिए। और उसे दिन-प्रति-दिन उच्चता की ओर पग बढ़ाते हुए अग्रसर होना चाहिए। सदा ऊँचे अर्थात् महान् व्यक्ति की ड्योढ़ी पर ही सेवा करनी चाहिए और ऊँचे व्यक्तियों के साथ ही व्यवहार रखना चाहिए। जो ऊँचे पर चढ़ता है उसे उससे भी अधिक ऊँचा खंड या मंजिल दिखाई पड़ती है; अर्थात् वह और भी ऊँचा चढ़ने का प्रयत्न करता है। ऊँचे अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्तियों के पास रहने से बुद्धि ऊँचे विचारों को समझने लगती है। इसलिए सदैव ऊँचे अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्तियों की ही संगति करनी चाहिए। और ऊँचे (श्रेष्ठ) कार्यों के लिए अपने प्राणों का बलिदान करना चाहिए।

जिसका उत्साह सदैव ऊँचे बढ़ते रहने का होता है, वह दिन-प्रतिदिन ऊँचा (महान्) बनता जाता है। यदि ऊँचे चढ़ते समय कोई व्यक्ति खिसक कर नीचे गिर पड़े तो भी उसे उच्च भावना का परित्याग नहीं करना चाहिए।

(१६८)

हीरामन देइ बचा कहानी। चला जहाँ पदमावति रानी॥
राजा चला सँवरि सो लता। परबत कहँ जो चला परबता॥
का परबत चढ़ि देखै राजा। ऊँच मंडप सोने सब साजा॥
अमृत सदाफर फरे अपूरी[1]। औ तहँ लागि सँजीवन-मूरी॥
चौमुख मंडप चहूँ केवारा। बैठे देवता चहूँ दुवारा॥
भीतर मंडप चारि खँभ लागे। जिन्ह वै छुए पाप तिन्ह भागे॥
संख घंट घन बाजहिं सोई। औ बहु होम जाप तहँ होई॥
महादेव कर मंडप जग, मानुस तहँ आव[2]।
जस हींछा मन जेहि के, सो तैसे फल पाव॥६॥

शब्दार्थ—बचा कहानी=वचन और व्यवस्था। लता=पद्मलता, पद्मावती। हींछा=इच्छा।

व्याख्या—हीरामन तोता राजा रत्नसेन को पद्मावती के पास जाने का वचन

पाठ-भेद—१. अंब्रित फर सब लाग अपूरी=वहाँ अमृत के समान मीठे सारे फल खूब लगे रहते हैं। २ जगत जातरा आउ=सारा जगत वहाँ यात्रा करने आता है।

१५

देकर तथा उन दोनों का पारस्परिक दर्शन कैसे होगा, इसकी व्यवस्था समझा कर वहाँ चला, जहाँ रानी पद्मावती थी। इधर राजा उस पद्मलता के समान पद्मावती का मन में स्मरण करता हुआ परवता (तोता) के वहाँ से चलते ही उस पर्वत की ओर रवाना हो गया (जहाँ वह शिव-मंडप था)। जब राजा पर्वत के ऊपर पहुँच गया तो क्या देखता है कि वह ऊँचा मंडप सारा-का-सारा सोने से सजा है। सदैव फलने वाले अमृत के समान मीठे फल वहाँ प्रचुरता के साथ फल रहे हैं और संजीवनी-लगी हुई है। वह मंडप चौमुखा (चार दरवाजों वाला है) जिनमें चारों ओर किवाड़ लगे हैं और उन चारों दरवाजों पर देवतागण बैठे हुए हैं। मंडप के भीतर चार खम्भ (स्तम्भ) लगे हुए हैं। जो उन खम्भों का स्पर्श कर लेता है उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। वहाँ पर शंख, घण्टों का घनघोर निनाद हो रहा है और अनेक प्रकार के हवन, जाप इत्यादि चल रहे हैं।

ऐसे उस महादेव के मंडप में सारे संसार के मनुष्य दर्शन करने आते हैं। जिसके मन में जैसी इच्छा होती है, अर्थात् जो जैसी कामना को लेकर वहाँ आता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।

टिप्पणी—मंडप के चार दरवाजे, चार स्तम्भ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के प्रतीक माने जा सकते हैं।

१७

मंडपगमन-खंड

(१६९)

राजा बाउर बिरह-बियोगी। चेला सहस तीस[1] सँग जोगी ॥
पदमावति के दरसन-आसा। दँडवत कीन्ह मँडप चहुँ पासा ॥
पुरुब बार होइ कै सिर नावा। नावत सीस देव पहँ आवा ॥
नमो नमो नारायन देवा। का मैं जोग, करौं तोरि सेवा ॥
तूँ दयाल सब के उपराहीं। सेवा केरि आस तोहि नाहीं ॥
ना मोहि गुन, न जीभ रस-बाता। तूँ दयाल, गुन-निरगुन दाता ॥
पुरवहु मोरि दरस कै आसा। हौं मारग जोवौं धरि[2] साँसा ॥
तेहि बिधि बिनै न जानौं, जेहि बिधि अस्तुति तोरि।
करहु सुदिस्टि मोहि पर, हींछा पूजै मोरि ॥१॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन पद्मावती के विरह में वियोगी बन बावला-सा हो गया। उसके साथ उसके तीस हजार चेले थे। राजा ने पद्मावती के दर्शनों की आशा से मंडप के चारों ओर घूम कर दंडवत की। उसने मंडप के पूर्वी द्वार पर जाकर शीश झुकाया और शीश झुकाये हुए ही देवता के पास आया। वहाँ आकर उसने देवता की स्तुति करते हुए कहा—'हे नारायण, हे देव! मैं तुम्हें बारम्बार नमस्कार करता हूँ। मैं किस योग्य हूँ कि तुम्हारी सेवा कर सकूँ। तुम दयालु हो और सब देवताओं के देवता अर्थात् देवाधिदेव हो। तुमको तो किसी की भी सेवा की इच्छा नहीं है। मुझ में न कोई गुण है और न मेरी बातें ही रसीली होती हैं। तुम दयालु हो तथा गुणी और निर्गुणी—दोनों प्रकार के मनुष्यों के दाता हो। पद्मावती के दर्शन की मेरी आशा पूरी करो। मैं साँस रोके उसी के आने की बाट जोह रहा हूँ।

जिस प्रकार तुम्हारी स्तुति की जाती है, मैं उस विधि-विधान को नहीं जानता। मुझ पर अपनी कृपादृष्टि करो जिससे मेरी मनोकामना पूर्ण हो।

(१७०)

करि अस्तुति जब बहुत मनावा। सबर अकूत[3] मँडप महँ आवा ॥
मानुष पेम भएउ बैकुण्ठी। नाहिं त काह, छार भरि मूठी ॥

पाठ-भेद—१. बीस। २. हरि=प्रत्येक, हरेक। ३. अकूट=स्पष्ट।

पेमहिं माँह बिरह-रस रसा। मैंन के घर मधु अमृत बसा।।
निसत धाइ जौं मरै त काहा। सत जौं कर बैठि तेहि लाहा।।
एक बार जौं मन देइ सेवा। सेवहिं फल प्रसन्न होइ देवा।।
सुनि कै सबद मंडप झनकारा। बैठा आइ पुरुब के बारा।।
पिंड चढ़ाइ छार जेति आँटी। माटी भएउ अंत जो माटी।।
माटी मोल न किछु लहै, औ माटी सब मोल।
दिस्ट जौं माटी सौं करै, माटी होइ अमोल ।।२।।

शब्दार्थ—अकूत=आप से आप, अकस्मात, पाठान्तर—'अकूर=अखंड, व्यक्ति के मुख से निकला हुआ शब्द खंडित या परिमित होता है किन्तु महाकाश का शब्द (आकाशवाणी) दिव्य और अखंड होता है'—(डा० अग्रवाल)। बैकुंठी=स्वर्ग के योग्य अर्थात् बैकुंठ में वास करने वाला देवता। मैंन=मोम। आँटी=अँटी, हाथ में समाई।

व्याख्या—जब राजा रत्नसेन ने महादेव की स्तुति कर उन्हें बहुत मनाया तो उस मंडप में एकाएक एक दिव्य शब्द (आकाशवाणी) हुआ—'मनुष्य प्रेम के द्वारा बैकुण्ठ वास करने का अधिकारी बन जाता है। नहीं तो इस मनुष्य का मूल्य ही क्या है? यह मुट्ठी भर मिट्टी ही तो है। प्रेम के भीतर विरह के रस का रसास्वादन मिलता है अर्थात् प्रेम का अमृत के समान माधुर्य तथा विरह की विष के समान जलन; दोनों ही विशेषतायें उसी प्रकार रहती हैं जिस प्रकार मोम के घर अर्थात् छत्ते में अमृत के समान शहद और विष के समान डंक मारने वाली मधु मक्खियाँ—दोनों ही रहती हैं। जो मनुष्य सत्य से रहित हो, इधर-उधर व्यर्थ की भाग-दौड़ करता हुआ मर जाता है तो उसका मूल्य ही क्या होता है; अर्थात् उसका जीवन निष्फल जाता है। परन्तु जो सत्य का आश्रय लेता है, वह घर बैठे ही लाभ प्राप्त करता है, अर्थात् उसकी सारी मनोकामनायें पूर्ण हो जाती हैं। एक बार जो मन लगाकर सेवा करता है तो देवता उसकी सेवा से प्रसन्न हो, उसे फल देता है।' उस मंडप के भीतर इन शब्दों की झङ्कार सुनकर राजा रत्नसेन मंडप के पूर्वी द्वार पर आकर बैठ गया। वहाँ बैठकर उसने मुट्ठी में जितनी मिट्टी समा सकती, उतनी उठा कर अपने शरीर पर मल ली और सोचा कि जो मिट्टी है—वह अन्त में मिट्टी में ही मिल जाती है, अतः इस शरीर का मोह करना व्यर्थ है।

मिट्टी का कुछ भी मूल्य नहीं होता, परन्तु जितनी भी मूल्यवान वस्तुएँ होती हैं—सब मिट्टी की ही होती हैं। यदि कोई व्यक्ति मिट्टी की ओर दृष्टि करे; अर्थात् सम्पूर्ण सांसारिक माया-मोह को मिट्टी के समान तुच्छ समझ ले तो उसका यह शरीर अमूल्य बन जाता है, अर्थात् उसका मानव-शरीर धारण करना सार्थक हो जाता है।

(१७१)

बैठ सिंघछाला होइ तपा । 'पदमावति पदमावति' जपा ॥
दीठि समाधि ओही सौं लागी । जेहि दरसन कारन बैरागी ॥
किंगरी गहे बजावै झूरै । भोर साँझ सिंगी निति पूरै ॥
कंथा जरै, आगि जनु लाई । विरह-धँधार जरत न बुझाई ॥
नैन रात निसि मारग जागे । चढ़े[1] चकोर जानि ससि लागे ॥
कुंडल गहे सीस भुइँ लावा । पाँवरि होउँ जहाँ ओहि पावा ॥
जठा छोरि कै बार बहारौं । जेहि पथ आव सीस तहँ वारौं ॥
चारिहु चक्र फिरौं मैं[2], डंड न रहौं थिर मार ।
होइ कै भसम पौन सँग, (धावौं) जहाँ परान-अधार ॥३॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन सिंह की खाल पर बैठकर तपस्या करने लगा । वह बराबर 'पद्मावती पद्मावती' का ही जाप कर रहा था । समाधि अवस्था में भी उसकी दृष्टि निरन्तर उसी (पद्मावती) की तरफ लगी रही अर्थात् समाधि की अवस्था में भी वह अपने मानस-नेत्रों द्वारा निरन्तर उसी के दर्शन करता रहा, जिसके दर्शन करने के लिए वह वैरागी बना था । वह हाथ में किंगरी पकड़े, उसे बजाता हुआ उसी का चिन्तन करता और सुबह और शाम नित्य सिंगी बजाता रहा । पद्मावती के विरह की अग्नि के कारण उसका कंथा जलने लगा । ऐसा प्रतीत होता था, मानो उसमें आग लग गई हो । उसके हृदय में उठती विरह की ज्वाला प्रज्वलित हो रही थी और बुझाने से भी नहीं बुझ रही थी । रात भर पद्मावती की बाट जोहते-जोहते जागने के कारण उसके नेत्र लाल हो उठे थे । वह ऊपर की ओर इस प्रकार टकटकी लगाये देख रहा था (उसकी आँखें इस प्रकार चढ़ी हुई थीं) जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा की ओर टकटकी बाँधे देखता रहता है । वह अपने कानों के कुण्डल पकड़ कर बार-बार पृथ्वी पर माथा टिकाता था और कहता था कि जहाँ-जहाँ पद्मावती के चरण पड़ेंगे, वहाँ-वहाँ मैं अपने शरीर को पाँवड़ा बनाकर धरती पर बिछा दूँगा और अपनी जटा को खोलकर उसके द्वार पर झाड़ू लगाऊँगा । और वह जिस मार्ग पर होकर आयेगी, मैं उस मार्ग पर अपने शीश को न्यौछावर कर दूँगा ।

मैं उसे खोजता हुआ चारों दिशाओं में फिरूँगा और पल भर के लिए भी अपने मन को मारकर स्थित होकर नहीं बैठूँगा । मैं अपने शरीर को भस्म बनाकर पवन के साथ दौड़कर उस जगह पर पहुँच जाऊँगा, जहाँ मेरा प्राणाधार है ।

पाठ-भेद—१. चकित । २. चारिहुँ चक्र फिरै मन खोजत=मेरा मन चारों चक्रों में, चारों ओर उसे खोजता फिरता है ।

१८

पद्मावती-वियोग-खंड

(१७२)

पदमावति तेहि जोग सँजोगा। परी पेम-बस गहे बियोगा॥
नींद न परै रैनि जौ आवा। सेज केंवाच जानु कोइ लावा॥
दहै चंद औ चंदन चीरू। दगध करै तन बिरह गँभीरू॥
कलप समान रैनि तेहि बाढ़ी। तिलतिल भर जुग-जुग जिमि गाढ़ी[1]॥
गहैं बीन मकु रैनि बिहाई। ससि-बाहन तहँ रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै॥
कहँ वह भौंर कवँल रस-लेवा। आइ परै होइ घिरिनि परेवा॥
सो धनि बिरह-पतंग भइ, जरौ चहै तेहि दीप।
कंत न आव भिंरिग होइ, का चंदन तन लीप ? ॥१॥

शब्दार्थ—जोग-सँजोगा=योग के प्रभाव से। केंवाच=कौंच की फली, कपिकच्छु, जिसके शरीर में छू जाने से खुजली मचने लगती है। उरेहै=बनाने लगी। घिरिनि परेवा=गिरहबाज कबूतर।

व्याख्या—राजा रत्नसेन के उस योग के प्रभाव के कारण पद्मावती उसके प्रेम में पड़ गई और उसे राजा का विरह सताने लगा। रात्रि आने पर उसे नींद नहीं आती। शय्या पर जाते ही वह इस प्रकार व्याकुल होने लगती है, मानो किसी ने उस शय्या पर कौंच की फली बिछा दी हों। चन्द्रमा, चन्दन और रेशमी वस्त्र जैसी शीतलता प्रदान करने वाली वस्तुएँ भी उसे दग्ध करती रहती हैं और गहन विरह उसके सारे शरीर को जलाता रहता है। रात्रि उसके लिए बढ़कर एक कल्प के समान लम्बी हो जाती है और एक-एक क्षण का समय बढ़कर एक-एक युग के समान कठिन हो जाता है। भाव यह है कि विरह के कारण रात्रि किसी भी तरह नहीं कटती। पद्मावती रात्रि का समय काटने के लिए तथा अपना मन बहलाने के लिए इस आशा से वीणा लेकर बजाने लगती है कि शायद इसी के सहारे रात्रि कट जाय, परन्तु होता

पाठ-भेद—१. तिल तिल मरि जुग-जुग बरु गाढ़ी बाढ़ी=रात्रि तिल-तिल कर मरती अर्थात् बीतती थी और युग-युग से भी अधिक लम्बी, भारी हो उठी थी।

यह है कि उस वीणा के मधुर स्वर को सुन चन्द्रमा के रथ में जुते उसके वाहन मृग मुग्ध हो एक ही स्थान पर स्थित हो खड़े रह जाते हैं। यह देख वह उन मृगों को भयभीत कर भगाने के लिए सिंह का चित्र बनाती है। इस प्रकार विरह-व्यथा में तड़पती हुई वह सारी रात जागती रहती है। भाव यह है कि चन्द्रमा के मृगों के स्थिर हो जाने से चन्द्रमा आगे नहीं बढ़ता, इसलिए रात नहीं बीतती।

पद्मावती मन-ही-मन कहती है कि मुझ रूपी कमल का रसपान करने वाला वह राजा रत्नसेन रूपी भौंरा कहाँ है जो गिरहबाज कबूतर के समान गिरह खाकर यहाँ टूट पड़े अर्थात् तुरन्त आ जाए। (गिरहबाज कबूतर अपनी कबूतरी को नीचे बैठा देख तुरन्त कला खाकर तेजी से नीचे उतर आता है।)

वह बाला राजा रत्नसेन के विरह से दग्ध हो, राजा रूपी दीपक के प्रकाश में पतिंगे के समान जल जाना चाहती है; अर्थात् उस पर न्यौछावर हो जाना चाहती है। स्वामी भृंगी कीट के समान आकर उसे अपने में आत्मसात न कर ले तो इस शरीर पर चन्दन का लेप करने से क्या लाभ ? भाव यह है कि विरह की यह अग्नि तभी शान्त हो सकती है, जब प्रियतम आकर उसे अपने हृदय से लगाकर आत्मसात कर ले।

टिप्पणी—(१) अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा।

(२) विरहिणी नारी का उपर्युक्त चित्रण संस्कृत की चली आती हुई प्राचीन परम्परा के अनुरूप किया गया है। विद्यापति तथा सूर ने भी इन्हीं उत्प्रेक्षाओं द्वारा राधा के विरह का अङ्कन किया है। सूर का यह पद बहुत प्रसिद्ध है—

'दूर करहु बीना कर धरिबौ।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चन्द को ढरिबौ।'

तथा—

'ए सखि! आजु की रैन कौ दुख कह्यौ न कछु मोपै परै।
मन राखन को बेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै।।'—आदि।

(३) 'राजा रत्नसेन के योग से पद्मावती के हृदय में उसके प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाना कोई अघटनीय घटना नहीं मानी जा सकती। ऐसा सम्भव हो सकता है। आधुनिक विज्ञान 'Mental Telepathy' (मानसिक सन्देश की क्रिया) में विश्वास करता है।

(४) 'गहै बीन ......सब जागै'—में विषादन तथा द्वितीय पर्यायोक्ति है।

(१७३)

परी बिरह बन जानहुँ घेरी। अगम असूझ जहाँ लगि हेरी।।
चतुर दिसा चितवै जनु भूली। सो बन कहँ-जहँ मालति फूली ?।।
कँवल भौंर ओही बन पावै। को मिलाइ तन-तपनि बुझावै ?।।

अङ्ग-अङ्ग अस कँवल सरीरा[1] । हिय भा पियर कहै पर पीरा ॥
चहै दरस, रबि कीन्ह बिगासू । भौंर-दीठि मनो लागि अकासू ॥
पूँछै धाय, बारि ! कहुँ बाता । तुइँ जस कँवल[2] फूल रँग राता ॥
केसर बरन हिया भा तोरा । मानहुँ मनहिं भएउ किछु भोरा[3] ॥
पौन न पावै संचरै, भौंर न तहाँ बईठ ।
भूलि कुरङ्गिनि कस भई, जान सिंघ तुइँ डीठ ॥२॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन के विरह में पद्मावती की ऐसी विषम स्थिति हो रही थी, मानो बेचारी विरह के जलते हुए वन में चारों ओर से घिर गई हो। वह जहाँ तक देखती है, उसे सारा वन असूझ और अगम दिखाई पड़ता है। भाव यह है कि विरह की इस ज्वाला से त्राण पाने का उसे कोई भी मार्ग नहीं सूझता। वह चारों दिशाओं में भ्रमित सी देखती है। वह कहती है कि वह वन कहाँ है जहाँ मालती खिलती है, क्योंकि भौंरा उसी वन में मालती की सुगन्धि से आकर्षित होकर आता है। इसलिए कमल अर्थात् पद्मावती उसी वन में भौंरे को प्राप्त कर सकेगी। ऐसा कौन है जो उसे (पद्मावती को) उस भ्रमर (राजा रत्नसेन) से मिलाकर उसके विरह-दग्ध शरीर की तपन को दूर करे। उसके (पद्मावती के) शरीर का एक-एक अङ्ग कमल के समान था। पराई पीड़ा अर्थात् रत्नसेन की पीड़ा का अनुमान कर उसका हृदय उसी प्रकार व्यथा से पीला पड़ गया था जिस प्रकार कमल के भीतर का छाता भौंरे की पीड़ा का अनुमान कर पीला पड़ जाता है। (यहाँ कमल के छाते तथा पद्मावती के हृदय के पीलापन का सादृश्य अभिप्रेत है।) वह कमल (पद्मावती) सूर्य के (राजा रत्नसेन के) दर्शन करना चाहता है। मानो कमल अपने ऊपर बैठे भ्रमर रूपी दृष्टि को आकाश में स्थिर कर सूर्य के दर्शन कर विकसित हो उठने को व्याकुल हो उठा हो। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि उसकी कमल तुल्य आँखों की भ्रमर के समान काली पुतलियाँ रत्नसेन रूपी सूर्य के दर्शन से खिल पड़ने को आकुल हो रही हों।)

इसी समय पद्मावती की धाय आकर उससे पूछती है कि हे बाला ! क्या बात है ? तेरा रंग तो कमल के फूल के समान लाल रंग का था। अब तेरा हृदय पीला पड़ गया है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो तेरे हृदय में कोई भ्रम या भय की आशंका भर रही है। (डा० गुप्त ने 'भौंरा' के स्थान पर 'फोरा' शब्द माना है। फोरा का अर्थ है 'फोड़ा'। अतः इस पंक्ति का अर्थ यह होगा कि तेरा हृदय पीला पड़

पाठ-भेद—१. आँक अनँग अस कँवल सरीरा। हिय भा पियर पेम की पीरा। =कमलिनी (पद्मिनी) के शरीर भर में अनंग के अंक इस प्रकार लगे हुए थे कि उसका हृदय प्रेम की पीड़ा से पीला हो रहा था। २. करी= कली। ३. फोरा=फोड़ा।

गया है। मानो तेरे हृदय में कोई फोड़ा उठ आया हो और उसी की व्यथा से तेरा हृदय पीला पड़ गया हो।) यहाँ धाय पद्मावती के हृदय की विरह-जनित वेदना के प्रति संकेत कर रही है।

धाय कहती है कि तू ऐसे स्थान पर रहती है जहाँ पवन की भी गति नहीं होती अर्थात् जहाँ पवन भी नहीं पहुँच सकता। तू उस कमल के समान है, जिस पर भौंरा नहीं बैठ सकता अर्थात् तू किसी भी प्रेमी के लिए अलभ्य है। फिर क्या बात है कि तू उस भयभीत हिरणी के समान हो उठी है जिसने सिंह देख लिया हो।

टिप्पणी--अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(१७४)

धाय ! सिंघ बरु खातेउ मारी। की तसि रहति अही जसि बारी॥
जोबन[1] सुनेउँ की नवल बसंतू। तेहि बन परेउ हस्ति मैमंतू॥
अब जोबन-बारी को राखा। कुंजर-बिरह बिधंसै साखा॥
मैं जानेउँ जोबन रस भोगू। जोबन कठिन सँताप बियोगू॥
जोबन गरुअ अपेल पहारू। सहि न जाइ जोबन कर भारू॥
जोबन अस मैमंत न कोई। नवै हस्ति जौं आँकुस होई॥
जोबन भर भादौं जस गंगा। लहरैं देइ, समाइ न अंगा॥
परिउँ अथाह, धाय ! हौं जोबन-उदधि गँभीर।
तेहि चितवौं चारिहु दिसि, जो गहि लावै तीर॥३॥

व्याख्या—धाय की बातें सुनकर पद्मावती ने कहा कि हे धाय ! अगर मुझे सिंह मारकर खा जाता तो अच्छा होता या फिर मैं वैसी ही (अनजान) रहती जैसी कि बचपन में थी तो अच्छी रहती। मैंने तो यह सुन रखा था कि यौवन नव बसंत के समान सुन्दर होता है परन्तु यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि मेरे यौवन रूपी वन में एक मदमत्त हाथी (विरह) घुस आया है। अब मेरी इस यौवन-रूपी फुलवारी की रक्षा कौन करेगा ? इस विरह रूपी हाथी ने शाखाओं को तोड़कर नष्ट कर डाला है। मैं समझती थी कि यौवन में रस (प्रेम) का भोग मिलता है परन्तु मैंने देखा यह कि यौवन विरह के कठिन सन्ताप का ही दूसरा नाम है। यौवन भारी, अचल पर्वत के समान है। ऐसे इस यौवन का भार मुझसे नहीं सहा जाता। यौवन के समान मतवाला अन्य कोई भी नहीं होता। यदि अंकुश पास में हो तो मतवाले हाथी को वश में किया जा सकता है परन्तु यह यौवन रूपी मतवाला हाथी अंकुश अर्थात् प्रियतम पास न रहने के कारण वश में नहीं रहता। यह यौवन भादों की उमड़ती हुई गंगा के समान उमड़ रहा है। इसकी लहरें उठ रही हैं और अंगों में नहीं समा रही हैं। भाव यह है कि यौवन के प्रबल वेग के कारण मेरा अंग-प्रत्यंग काम से व्याकुल हो उठा है।

पाठ-भेद—१. जो बन=जब मैंने सुना कि वन में नवल वसन्त आया है।

हे धाय ! मैं यौवन के अथाह गहरे समुद्र में गिर पड़ी हूँ। मैं उसकी खोज में चारों ओर दृष्टि दौड़ाती हूँ जो मेरा हाथ पकड़ कर मुझे किनारे पर लगा दे।

टिप्पणी—अलंकार—सांगरूपक। 'बारी'—शब्द में यमकालंकार है—(बाला, वाटिका)

(१७५)

पदमावति ! तुइँ समुद[1] सयानी। तोहि सर समुद न पूजै, रानी ॥
नदी समाहिं समुद महँ आई। समुद डोलि कहु कहाँ समाई ? ॥
अबहीं कवँल-करी हिय तोरा। आइहि भौंर जो तो कहँ जोरा ॥
जोबन-तुरी हाथ गहि लीजिय। जहाँ जाइ तहँ जाइ न दीजिय ॥
जोबन जोर मात गज अहै। गहहु ज्ञान-आँकुस जिमि रहै ॥
अबहिं बारि तुइँ पेम न खेला। का जानसि कस होइ दुहेला ॥
गगन दीठि करु नाइ तराहीं। सुरुज देखु कर आवै नाहीं ॥
जब लगि पीउ मिलै नहिं[2], साध पेम के पीर।
जैसे सीप सेवाति कहँ, तपै समुद मँझ नीर ॥४॥

व्याख्या—पद्मावती की बात सुन, धाय ने कहा कि हे पद्मावती ! तुम समुद्र के समान सयानी और गम्भीर हो। हे रानी ! इसमें समुद्र भी तुम्हारी समता नहीं कर सकता; अर्थात् तुम समुद्र से भी अधिक गम्भीर और समझदार हो। नदी आकर समुद्र में समा जाती है, परन्तु यह तो बताओ कि यदि समुद्र अपने स्थान को छोड़ चलने लगे, अमर्यादित हो उठे तो वह कहाँ समायेगा। भाव यह है कि तुम नदी के समान चंचल नहीं हो बल्कि समुद्र के समान गम्भीर, अचल और स्थिर गति वाली हो; इसलिए तुम्हें साधारण नारियों के समान यौवन के प्रकोप से विचलित नहीं होना चाहिए। तुम्हारा हृदय अभी कमल की कली के समान निर्मल, अस्पृश्य तथा भौंरे के प्रेम-स्पर्श से अनभिज्ञ है। समय आने पर वह भौंरा (तुम्हारा प्रियतम) तुम्हारे पास अवश्य आयेगा जिसे विधाता ने तुम्हारी जोड़ी बनाना निश्चित कर रखा होगा। इसलिए तुम अपने इस यौवन-रूपी घोड़े की लगाम को कसकर हाथ में पकड़े रहो, और यह जहाँ जाना चाहे वहाँ इसे मत जाने दो। यदि तुम्हारा यह यौवन मतवाले हाथी के समान जोर मारता है, उपद्रव करता है तो तुम ज्ञान के अंकुश द्वारा इसे उसी प्रकार वश में रखो जिस प्रकार बिगड़े हाथी को अंकुश के जरिए काबू में रखा जाता है।

हे बाला ! तुम अभी बालिका हो। अभी तुमने प्रेम का खेल नहीं खेला है। तुम अभी क्या जानो कि यह प्रेम का खेल कैसा कठिन होता है। चाहने से ही इसे नहीं खेला जा सकता। हम आकाश की ओर दृष्टि उठाकर चारों को देख तो लेते हैं

पाठ-भेद—१. सुबुधि = अच्छी बुद्धि वाली। २. तोहि = तुझे।

परन्तु उन्हें नीचे नहीं ला सकते। हम सूर्य को देखते तो हैं परन्तु वह हमारे हाथ नहीं आता। भाव यह है कि इच्छा करने मात्र से ही कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती। उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न और प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

इसलिए हे पद्मावती! जब तक तुम्हें प्रियतम न मिलें तब तक प्रेम की इस पीड़ा को उसी प्रकार सहन करो, जिस प्रकार सीप स्वाति-नक्षत्र के जल की एक बूँद के लिए समुद्र के बीच पानी से घिरी हुई प्रतीक्षा करती है; अर्थात् तुम अपने चतुर्दिक व्याप्त आकर्षणों के जाल में फँस कहीं गुमराह न हो जाना।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक और उपमा।

(२) प्रेमास्पद की प्राप्ति के निमित्त तपस्या जनित प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इस प्रतीक्षा में सांसारिक आकर्षण कहीं साधक को पथभ्रष्ट न कर दें, इसके लिए ज्ञान के अंकुश की आवश्यकता होती है; अर्थात् ज्ञान द्वारा मन की भावनाओं को संयमित कर साधना की चरम स्थिति अर्थात् प्रिय-मिलन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है—सूफी प्रेम-मार्ग का यही स्थूल-सा सिद्धान्त है।

(१७६)

दहै,[1] धाय ! जोबन एहि जीऊ। जानहुँ[2] परा अगिनि महँ घीऊ॥
करवत सहौं होत दुइ आधा। सहि न जाइ जोबन कै दाधा॥
बिरह समुद भरा असँभारा। भौंर मेलि जिउ लहरिन्ह मारा॥
बिरह-नाग होइ सिर चढ़ि डसा। होइ अगिनि चँदन महँ बसा॥
जोबन पंखी, बिरह बियाधू। केहरि भयउ कुरंगिनि खाधू॥
कनक-पानि[3] कित जोबन कीन्हा। औटन[4] कठिन बिरह ओहि दीन्हा॥
जोबन-जलहि बिरह मसि छूआ। फूलहि भौंर, फरहि खा[5] सूआ॥
जोबन चाँद उआ जस, बिरह भएउ सँग राहु।
घटतहि घटत छीन भइ, कहै न पारौं काहु॥५॥

व्याख्या—धाय की धैर्य बँधाने वाली बातें सुन पद्मावती उससे कहने लगी कि हे धाय! यह यौवन मेरे प्राणों को उसी प्रकार दग्ध कर रहा है, मानो अग्नि में घी पड़ गया हो; अर्थात् जिस प्रकार घी पड़ने से अग्नि और भी जोर से धधक उठती है उसी प्रकार यौवन मुझे बार-बार व्याकुल बना, मेरी विरह-वेदना को और भी अधिक बढ़ा रहा है। इस वेदना से तो मैं आरे से कटकर दो टुकड़े हो जाना अधिक पसन्द करूँगी, परन्तु यौवन का यह दाह मुझसे नहीं सहा जाता। मेरे हृदय में विरह का अगाध समुद्र भरा हुआ है। यह समुद्र प्रियतम के स्मृति रूपी भँवरों में मेरे प्राणों को डालकर यौवन की व्याकुल कर देने वाली लहरों द्वारा मार रहा है। यह विरह रूपी

पाठ-भेद—१. रहै=रहना, रुकना। २. होइ तेहि बिरह। ३. कनक दान=सोने के वर्ण का। ४. औ तन। ५. भा=हुआ।

नाग मेरे सिर पर चढ़कर मुझे डस रहा है और चन्दन में अग्नि बनकर बसा हुआ है। (वियोगी चन्दन लगाने से भी व्याकुल हो उठते हैं, यह प्रसिद्ध है)। मेरे यौवन रूपी पक्षी को यह विरह रूपी व्याध मारे डाल रहा है। यह मेरे लिए हिरणी को खा जाने वाला सिंह बन गया है; अर्थात् इस विरह की ज्वाला में मेरा यौवन दग्ध होकर नष्ट हुआ जा रहा है।

मेरे यौवन को विधाता ने सोने के पानी के समान चमकदार क्यों बनाया और फिर उसे कठोर विरह के खौलते हुए जल में क्यों डाल दिया; अर्थात् जिस प्रकार सोने का पानी खौलने पर उतर जाता है, उसी प्रकार मेरा यौवन इस विरह-ताप के कारण नष्ट हुआ जा रहा है। मेरे यौवन रूपी जल को विरह रूपी स्याही ने स्पर्श कर उसे काला बना दिया है। जिस प्रकार भौंरा फूलों का रस लेकर तथा तोता फलों को खाकर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार यह विरह मेरे यौवन को नष्ट किए डाल रहा है।

मेरा यौवन चाँद के समान उदय हुआ; अर्थात् खिल उठा। परन्तु जिस प्रकार राहु चाँद को ग्रस लेता है, उसी प्रकार इस विरह रूपी राहु ने मेरे यौवन रूपी चाँद को ग्रस लिया है, निष्प्रभ और धूमिल बना दिया है। जिस प्रकार चन्द्रमा घटते-घटते क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार मेरा यौवन भी धीरे-धीरे नष्ट होता जा रहा है। ऐसे विरह की पीड़ा को मैं किसी से भी नहीं कह सकती।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'जोबन पंखी, बिरह बियाधू ···कुरंगिनी खाधू' में—रूपक।

(२) इसमें विरह-व्यथा की स्वाभाविक अतिशयता तथा यौवन के विरह-ज्वाला के कारण धीरे-धीरे विनष्ट होते जाने का बड़ा भावपूर्ण चित्रण किया गया है। जायसी इस प्रकार के चित्रणों में दक्ष हैं।

(१७७)

नैन ज्यौं चक्र फिरैं चहुँ ओरा। बरजै धाय, समाहिं न कोरा॥
कहेसि पेम जौं उपना, बारी। बाँधु सत्त, मन डोल न भारी॥
जेहि जिउ महँ होइ सत्त-पहारू। परे पहार न बाँकै बारू॥
सती जो जरे पेम सत लागी। जौं सत हिये तौ सीतल आगी॥
जोबन चाँद जो चौंदस-करा। बिरह के चिनगी सो पुनि जरा॥
पौन बाँध सो जोगी जती। काम बाँध सो कामिनी सती॥
आव बसंत फूल फुलवारी। देव-बार सब जैहैं बारी॥
तुम्ह पुनि जाहु बसंत लेइ, पूजि मनावहु देव।
जीउ पाइ जग जनम है, पीउ पाइ कै सेव॥६॥

व्याख्या—पद्मावती के नेत्र अपने प्रियतम की खोज में चतुर्दिक चक्र के समान

चक्कर काट रहे थे अर्थात् घूम रहे थे। धाय उसे ऐसा न करने के लिये बरजती थी, परन्तु वे नेत्र प्रिय दर्शन के लिये इतने व्याकुल हो उठे थे कि अपनी कोरों में नहीं समा रहे थे। यह देख धाय ने पद्मावती से कहा कि हे बाला ! यदि तेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न हुआ है तो उसे अपने सत द्वारा बाँध, संयमित कर, मन को इधर-इधर अधिक चंचल हो मत भटकने दे। जिसके प्राणों का सत प्रहरी होता है, उस पर यदि पहाड़ भी टूट कर गिर पड़े तो भी उसका बाल तक बाँका नहीं हो पाता। सती अपने प्रियतम के प्रेम में जलकर जो सती हो जाती है वह इस सत के कारण ही होती है। यदि हृदय में सत है तो उसे अग्नि भी शीतल प्रतीत होने लगती है। जो यौवन रूपी चन्द्रमा चौदह कलाओं से पूर्णता को प्राप्त होता है वह विरह की चिनगारी से दग्ध हो क्रमशः क्षीण होता चला जाता है। जो योगी प्राणायाम द्वारा अपनी साँस को बाँध लेता है वही सच्चा योगी और यती होता है और जो सुन्दरी नारी काम को जीत लेती है वही सती कहलाती है। वसन्त ऋतु आ रही है, फुलवारियों में फूल खिल उठे हैं, बालायें देव-मन्दिर में पूजा करने के लिए जायेंगी।

तुम भी वसन्त-पूजन की सामग्री लेकर मन्दिर में जाना और देवता की पूजा कर उन्हें प्रसन्न करना। संसार में जन्म लेकर ही जीवन प्राप्त होता है और सेवा करने से ही प्रियतम मिलता है।

(१७८)

जब लगि अवधि आइ नियराई[1]। दिन जुग-जुग[2] बिरहिनि कहँ जाई ॥
भूख नींद निसि-दिन गै दोऊ। हियँ मारि[3] जस कलपै कोऊ ॥
रोवँ रोवँ जनु लागहि चाँटे। सूत-सूत बेधहिं जनु काँटे[4] ॥
दगधि कराह जरे जस घीऊ। बेगि न आव मलयगिरि पीऊ ॥
कौन देव कहँ जाइ कै परसौं। जेहि सुमेरु हिय लाइय कर सों ॥
गुपुति जो फूलि साँस परगटै। अब होइ सुभर दहहि हम्ह घटै[5] ॥
भा सँजोग जौ रे भा जरना[6]। भोगहि गए भोगि का करना ॥
जोबन चंचल ढीठ है, करै निकाजै काज।
धनि कुल कुलवंति जो कुल धरै, कै जोबन मन लाज ॥७॥

व्याख्या – जब तक वसन्तपंचमी के आने की अवधि पास आई तब तक उस विरहिणी (पद्मावती) का एक-एक दिन कई-कई युगों के समान व्यतीत होने लगा। उसे न दिन में भूख लगती थी और न रात में नींद आती थी। विरह-वेदना से वह इस प्रकार तड़पती रहती थी, मानो किसी ने उसके हृदय पर आघात किया हो।

पाठ-भेद – १. चाह सो आई=आना चाहती थी। २. जुग बर=युग के बराबर। ३. माँझि=में, मध्य। ४. बिख काँटे। ५. चहहिं पुन घटै। ६. मरना।

उसके रोम-रोम में जैसे चींटे से काटते रहते थे और नस-नस में मानो काँटे चुभ रहे थे। वह इस प्रकार तड़पती थी जिस प्रकार गर्म कड़ाह में घी खौलता है, क्योंकि मलयगिरि के पवन के समान तप्त शरीर को शान्ति प्रदान करने वाला प्रियतम शीघ्र नहीं आता था। वह कहती थी कि मैं जाकर किस देवता का स्पर्श करूँ जिससे उस सुमेरु (प्रियतम) को अपनी भुजाओं में भर हृदय से लगा, इस ज्वाला से मुक्ति पाऊँ। पहले मेरी जो साँस गुप्त सी रहती थी; अर्थात् साधारण-स्वाभाविक गति से चलती थी वह अब यौवनावेग के कारण फूल कर प्रकट हो जाती है; अर्थात् मैं गहरी-गहरी साँसें लेने लगती हूँ जो मेरे सारे शरीर में भर कर मेरे हृदय को जलाती रहती हैं। (कामासक्त व्यक्ति गहरी साँसें लेने लगता है।) यदि प्रियतम के विरह में इस प्रकार जलने के उपरान्त उससे संयोग हुआ तो क्या लाभ ? क्योंकि जब इस अग्नि में जलकर भोग-विलास की आकांक्षा ही नष्ट हो जायेगी; अर्थात् यह शरीर जल कर खाक हो जायेगा तो फिर भोग किस काम का ?

यह यौवन चंचल और ढीठ है और व्यर्थ के कार्य किया करता है। वह कुलवन्ती नारी धन्य है जो यौवन-काल में अपने मन को लज्जा से संयमित कर कुल-मर्यादा की रक्षा करती है।

१६

पद्मावती-सुआ-भेंट-खंड

(१७६)

तेहि बियोग हीरामन आवा। पदमावति जानहुँ जिउ पावा॥
कंठ लाइ सुआ सौं रोई[1]। अधिक मोह जौं मिलैं बिछोई॥
आगि उठै दुख हिये गँभीरू। नैनहिं आइ चुवा होइ नीरू॥
रही रोइ जब पदमिनि रानी। हँसि पूछहिं सब सखी सयानी॥
मिले रहस भा चाहिय दूना। कित रोइय जौ मिलै बिछूना ?॥
तेहि क उतर पदमावति कहा। बिछुरन-दुख जो हिये भरि रहा॥
मिलत हिये आएउ सुख भरा। वह दुख नैन-नीर होइ ढरा॥
बिछुरंता जब भेंटै, सौ जानै जेहि नेह।
सुक्ख-सुहेला उग्गवै, दुःख झरै जिमि मेह॥१॥

शब्दार्थ—तेहि वियोग=उसी वियोग की दशा में। रहस=आनन्द। बिछूना=बिछड़ा हुआ। सुक्ख-सहेला=सुख का नक्षत्र, अगस्त्य नक्षत्र।

व्याख्या—पद्मावती जब वियोग से अत्यन्त व्याकुल हो रही थी, उसी समय हीरामन तोता वहाँ आ पहुँचा। उसे देखकर पद्मावती इस प्रकार प्रसन्न हो उठी मानो उसके प्राण लौट आए हों। वह तोते को गले से लगाकर रोने लगी, क्योंकि जब बिछुड़े हुए पुनः आपस में मिलते हैं तो उनके प्रति मोह और भी अधिक प्रबल हो उठता है। उसके हृदय में दुःख का अथाह सागर भरा हुआ था और विरह की आग जल रही थी। उस विरह की आग के कारण वह दुख-रूपी जल भाप बनकर ऊपर उठा और नेत्रों द्वारा पानी के रूप में टपकने लगा; अर्थात् पद्मावती रोने लगी। जिस समय रानी पद्मावती रो रही थी, उस समय उसकी चतुर सखियाँ हँसती हुई उससे पूछने लगीं कि हे सखी! यदि बिछुड़ा हुआ स्नेही पुनः मिल जाता है तो ऐसी दशा में आनन्द दूना हो जाना चाहिए; परन्तु यह तो बताओ कि तुम आनन्दित न होकर रो क्यों रही हो? सखियों के इस प्रश्न को सुन पद्मावती ने उन्हें उत्तर दिया कि मेरे हृदय में बिछुड़ने के कारण उत्पन्न हुआ जो दुख भरा था, बिछुड़े हुए आत्मीय से मिलते ही उसके स्थान पर सुख भर गया और वह दुख नयनों के जल के रूप में (आँसुओं के

पाठ-भेद—१. सो हौसर रोई=हौंसले, उमंग के साथ रोई।

रूप में) उमड़ कर बाहर टपकने लगा। भाव यह है कि दुखी अवस्था में जब कोई बिछुड़ा हुआ आत्मीय मिलता है तो उस मिलन के हर्षावेग के कारण हृदय का दुख गल-गल कर आँसुओं के रूप में बहने लगता है; अर्थात् सुख में भी आँसू बहने लगते हैं — यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।

जब बिछुड़ा हुआ पुनः आकर भेंट करता है तो उस भेंट से प्राप्त सुख का अनुमान वही लगा सकता है, जिसके हृदय में प्रेम की भावना होती है। जब सुख का प्रतीक सुहेला नक्षत्र (अगस्त्य नक्षत्र) उदय होता है तो सारे मेघ बरस कर समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार बिछुड़े हुए आत्मीय से पुनः मिलन होने पर हृदय का दुख गल कर आँसुओं के रूप में बाहर निकल समाप्त हो जाता है।

(१८०)

पुनि रानी हँसि कूसल पूछा। कित गवनेहु पींजर कै छूँछा ॥
रानी! तुम्ह जुग-जुग सुख पाटू। छाज न पंखिहि पींजर-ठाटू ॥
जब भा पंख कहाँ थिर रहना। चाहै उड़ा पंखि जौं डहना ॥
पींजर महँ जो परेवा घेरा। आइ मजारि कीन्ह तहँ फेरा ॥
दिन एक आइ हाथ पै मेला। तेहि डर बनोबास कहँ खेला ॥
तहाँ बियाध आइ नर साधा। छूटि न पाव मीचु कर बाँधा ॥
वै धरि बेचा बाम्हन हाथा। जंबूदीप गएउँ तेहि साथा ॥
तहाँ चित्र चितउरगढ़, चित्रसेन कर राज।
टीका दीन्ह पुत्र कहँ, आपु लीन्ह सर साज[1] ॥२॥

शब्दार्थ—छाज न=अच्छा नहीं लगता। खेला=चला गया। नर=नरसल जिसमें लासा लगाकर बहेलिये चिड़िया फाँसते हैं।

व्याख्या—हीरामन तोते से मिल-भेंट, रो-धोकर रानी पद्मावती ने हँस कर हीरामन से उसकी कुशल-क्षेम पूछी और कहा कि तुम पिंजड़े को सूना करके कहाँ चले गए थे? पद्मावती का प्रश्न सुन हीरामन ने आशीष देते हुए उत्तर दिया कि हे रानी! तुम युग-युग तक सुख के सिंहासन पर आसीन रहो; अर्थात् सुख भोगो। पक्षी को पिंजड़े का ठाट-बाट शोभा नहीं देता, अच्छा नहीं लगता। जब पक्षी के पंख निकल आते हैं तो फिर वह स्थिर होकर कैसे रह सकता है? जैसे ही उसके पंख निकलते हैं, वह उड़ना चाहता है। पक्षी को जिसे पिंजड़े में बन्द कर घेर रखा गया हो, देख वहाँ बिल्ली, चक्कर काटने लगी। मैंने मन में सोचा कि एक-न-एक दिन यह मुझे अवश्य पकड़ कर खा डालेगी। इसी भय के कारण मैं वनवास करने चला गया, अर्थात् वन की ओर उड़ गया। वहाँ एक बहेलिये ने आकर नरसल में लासा लगा पक्षियों को पकड़ने के लिए जाल बिछाया और मुझे पकड़ लिया। मौत के बन्धन में

पाठ-भेद—१. आयु कीन्ह सिव साज।

फँसा हुआ मैं छूट न सका। उसने मुझे पकड़ कर एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया और मैं उस ब्राह्मण के साथ जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) पहुँचा।

वहाँ अर्थात् भारतवर्ष में एक विचित्र चित्तौड़गढ़ नामक गढ़ था, जहाँ चित्रसेन नामक राजा राज्य करता था। उसने अपने पुत्र का राजतिलक कर उसे राज्य सौंप दिया और स्वयं चिता पर चढ़ स्वर्ग चला गया।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त ने दोहे की अन्तिम पंक्ति में 'आयु लीन्ह सर साज' पाठ के स्थान पर 'आयु लीन्ह सिव साज' पाठ माना है। 'सिव साज' का अर्थ होता है 'योगी का वेश'। इससे यह अर्थ निकला कि राजा चित्रसेन अपने पुत्र को राज्य देकर स्वयं योगी का वेश धारण कर तपस्या करने चला गया। यह पाठ अधिक उचित और संगत प्रतीत होता है, क्योंकि राजतन्त्र के उस प्राचीन युग में युवराज को राजपाट सौंप, राजा संन्यास धारण कर तपस्या करने चले जाया करते थे।

(१८१)

बैठ जो राज पिता के ठाऊँ। राजा रतनसेन ओहि नाऊँ॥
बरनौं काह देस मनियारा[1]। जहँ अस नग उपना उजियारा॥
धनि माता औ पिता बखाना। जेहि के बंस अंस अस आना॥
लछन बतीसौ कुल निरमला। बरनि न जाइ रूप औ कला॥
वै हौं लीन्ह, अहा अस भागू। चाहै सोने मिला सोहागू॥
सो नग देखि हींछा भइ मोरी। है यह रतन पदारथ जोरी॥
है ससि जोग इहै पै भानू। तहाँ तुम्हार मैं कीन्ह बखानू॥
कहाँ रतन रतनागर[2], कंचन कहाँ सुमेर।
दैव जो जोरी दुहुँ लिखी, मिले सो कौनेहु फेर॥३॥

व्याख्या—हीरामन तोते ने पद्मावती से कहा कि जो राजा अपने पिता के स्थान पर गद्दी पर बैठा, उसका नाम रत्नसेन है। मैं उस सुन्दर-सुहावने देश का क्या वर्णन करूँ जहाँ ऐसा प्रकाशवान रत्न उत्पन्न हुआ। वे माता और पिता भी धन्य हैं जिनके वंश में ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ। इस पुत्र में महापुरुषों के बत्तीसों लक्षण हैं और कुल निर्मल अर्थात् निष्कलंक है। ऐसे उस राजा रत्नसेन के सौन्दर्य और कान्ति का वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ। मेरा ऐसा भाग्य था कि उसने मुझे खरीद लिया। ऐसा इसी कारण सम्भव हो सका कि सोना और सुहागा परस्पर मिलना चाह रहे थे। भाव यह है कि रत्नसेन सोना और तोता सुहागे के रूप में मिलकर अत्यन्त कान्तिमान (तेजस्वी) हो उठते। रत्नसेन का सौन्दर्य, कान्ति और बत्तीस लक्षण हीरामन तोते के

पाठ-भेद—१. का बरनौं धनि देस दियारा। २. रतनाकर।

ज्ञान का सहयोग पाकर पूर्णता को प्राप्त कर लेते। ऐसे उस रत्न अर्थात् रत्नसेन को देख मेरी यह इच्छा हुई कि यह रत्न तो पदारथ (हीरा, पद्मावती) का जोड़ा बनने के योग्य है। पद्मावती रूपी चन्द्रमा के लिए यह रत्नसेन रूपी सूर्य पूर्ण योग्य है, अर्थात् दोनों की जोड़ी चाँद-सूरज की सी जोड़ी लगेगी। यह मन में इच्छा कर मैंने वहाँ तुम्हारा वर्णन किया अर्थात् प्रशंसा की।

कहाँ समुद्र में उत्पन्न होने वाला रत्न और कहाँ सुमेरु पर पाया जाने वाला सोना ? अर्थात् ये दोनों परस्पर इतनी दूरी पर रहते हैं कि इनका मिलन सम्भव नहीं दिखाई देता परन्तु फिर भी रत्न और सोने का संयोग हो जाता है। इसी प्रकार मैंने मन में सोचा कि यदि विधाता ने इन दोनों की जोड़ी निश्चित कर रखी है तो किसी-न-किसी प्रकार इनका परस्पर मिलन अवश्य होगा, अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती अवश्य मिलेंगे।

टिप्पणी—(१) अलंकार द्रष्टान्त।

(२) लछन बतीसौ—बत्तीस लक्षण। चक्रवर्ती राजाओं के शरीर पर बत्तीस शारीरिक लक्षणों का होना बताया जाता है। गौतम बुद्ध के शरीर पर ये लक्षण थे।

(१८२)

सुनत बिरह-चिनगी ओहि परी। रतन पाव जौं कंचन-करी॥
कठिन पेम बिरहा दुख भारी। राज छाँड़ि भा जोगि भिखारी॥
मालति लागि भौंर जस होई। होइ बाउर निसरा बुधि खोई॥
कहेसि पतंग होइ धनि[1] लेऊँ। सिंघलदीप जाइ जिउ देऊँ॥
पुनि ओहि कोउ न छाँड़ अकेला। सोरह सहस कुँवर भए चेला॥
और गनै को संग सहाई ?। महादेव मढ़ मेला जाई॥
सूरज पुरुष दरस के ताईं। चितवै चंद चकोर कै नाईं॥
तुम्ह बारी रस जोग[2] जेहि, कँवलहि जस अरघानि॥
तस सूरुज परगास के, भौंर मिलाएउँ आनि॥४॥

व्याख्या—हीरामन तोता पद्मावती से कहने लगा कि जब मैंने राजा रत्नसेन के सम्मुख तुम्हारा वर्णन किया तो उसे सुनते ही उसके हृदय में विरह की चिनगारी प्रज्वलित हो उठी। जैसे रत्न स्वर्ण कलिका से संयुक्त होता है, उसमें जड़ दिया जाता है, उसी प्रकार उस रत्न (रत्नसेन) ने तुमसे (स्वर्ण कलिका से) संयोग की इच्छा की; अर्थात् वह तुमसे मिलने के लिए व्याकुल हो उठा। किसी प्रकार न मिटने वाले प्रेम के कारण उसे भारी विरह का दुख उठाना पड़ा और फलस्वरूप वह अपना राज-पाट त्याग भीख माँगने वाला योगी बन गया। जिस प्रकार भ्रमर मालती की खोज में पागल बना इधर-उधर भटकता फिरता है, राजा रत्नसेन भी उसी प्रकार

पाठ-भेद—१. धँसि=घुस कर। २. रस-भोग।

तुम्हारे विरह में बावला बन अपनी सुध-बुध खोकर निकल पड़ा। उसने कहा कि मैं पतिंगा बनकर उस पद्मावती को प्राप्त करूँगा और सिंहलद्वीप पहुँच अपने प्राण दे दूँगा; अर्थात् जान पर खेल कर भी उसे प्राप्त करूँगा। उसका ऐसा निश्चय सुन किसी ने भी उसे अकेला नहीं चलने दिया। सोलह हजार राजकुमार उसके शिष्य बन उसके साथ चले। इनके अतिरिक्त उसके साथ अन्य इतने सहायक थे कि उनकी गिनती कौन करे। इस प्रकार वह सबके साथ महादेव के मंडप में आ पहुँचा। वह सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष तुम्हारे दर्शन के लिए उसी प्रकार टकटकी लगाये वहाँ बैठा है, जैसे चकोर चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाये रहता है।

कमल के समान सुगन्धि वाली तुम कुमारी बाला जिसके प्रेमरस के योग्य हो, उसी भ्रमर को मैंने सूर्य के प्रकाश के समान तुमसे लाकर मिला दिया है।

टिप्पणी—अलंकार—पूर्णोपमा।

(१८३)

हीरामन जो कही यह बाता[1]। सुनि कै रतन पदारथ राता ॥
जस सुरुज देखे होइ ओपा। तस भा बिरह कामदल कोपा ॥
सुनि कै जोगी केर बखानू। पदमावति मन भा अभिमानू ॥
कंचन करी न काँचहि लोभा। जौ नग होइ पाव तब सोभा ॥
कंचन जौ कसिए कै ताता। तब जानिय दहुँ पीत की राता ॥
नग कर मरम सो जड़ियाँ जाना। जड़ै जो अस नग देखि बखाना[2] ॥
को अब हाथ सिंघ मुख घालैं। को यह बात पिता सों चालै ॥
सरग इन्द्र डरि काँपै, बासुकि डरै पतार।
कहाँ सो अस बर प्रिथिमी, मोहि जोग संसार ॥५॥

व्याख्या—हीरामन ने जब पद्मावती से राजा रत्नसेन सम्बन्धी ये बातें कहीं तो उन्हें सुन पदार्थ (पद्मावती) के मन में रत्न (रत्नसेन) के प्रति अनुराग जाग्रत हो उठा। जिस प्रकार सूर्य के दिखाई पड़ते ही चारों ओर प्रकाश भर उठता है, उसी प्रकार राजा रत्नसेन का वर्णन सुन पद्मावती के हृदय में विरह व्याप्त हो गया और कामदेव की सेना ने क्रुद्ध हो उस पर आक्रमण कर दिया; अर्थात् पद्मावती काम से व्याकुल हो उठी। उस योगी (रत्नसेन) का वर्णन सुन (कि वह पद्मावती पर पूर्णरूपेण अनुरक्त है) पद्मावती के मन में अभिमान जाग्रत हुआ। वह अभिमान में भर हीरामन से कहने लगी कि स्वर्णकलिका को काँच का कोई लोभ नहीं होता अर्थात् मैं स्वर्ण-कलिका के सम.न हूँ और रत्नसेन काँच के समान साधारण है। यदि वह सच्चा रत्न हो तभी शोभा को प्राप्त हो सकेगा, अर्थात् स्वर्णकलिका के साथ मिलकर सुशोभित हो सकेगा। स्वर्ण को जब गर्म करके कसौटी पर कसा जाता है, तभी यह जान पड़ता

पाठभेद—१. रस बाता। २. हीर पखाना=हीरा और बहुमूल्य पत्थर।

है कि वह पीला, अर्थात् पीतल है या सोना। भाव यह है कि जब रत्नसेन उसके वियोग में तप लेगा, तभी यह ज्ञात होगा कि वह सच्चा प्रेमी है या झूठा। रत्न के मर्म को तो केवल जौहरी ही जानता है जो नग को एक नजर देखते ही उसे पहचान लेता है कि वह सच्चा है या नकली, और फिर उसे इस प्रकार जड़ देता है कि चारों ओर प्रशंसा होने लगती है। परन्तु अब समस्या यह है कि सिंह के मुख में हाथ कौन डाले, अर्थात् पिता के सामने इस बात की चर्चा कौन करे।

मेरे पिता इतने प्रतापशाली हैं कि उनके भय के मारे इन्द्र स्वर्ग में बैठा काँपता रहता है और वासुकि (शेषनाग) पाताल में उनसे भयभीत बना रहता है। भला इस संसार में, इस पृथ्वी पर ऐसा वर कौन-सा है जो मेरे योग्य हो।

(१८४)

तू रानी ससि कंचन-करा। वह नग रतन सूर निरमरा।।
बिरह-बजागि बीच का कोई। आगि जो छुवै जाइ जरि सोई।।
आगि बुझाइ परे जल गाढ़े[१]। वह न बुझाइ आपु ही बाढ़ै।।
बिरह के आगि सूर जरि काँपा[२]। रातिहि दिवस जरैं ओहि तापा[३]।।
खिनहिं सुरग, खिन जाइ पतारा। थिर न रहै एहि आगि अपारा।।
धनि जो जीउ दगध इमि सहै। अकसर जरैं,[४] न दूसर कहै।।
सुलगि सुलगि भीतर होइ सावाँ। परगट होइ न कहै दुख नावाँ।।
काह कहौं हौं ओहि सौं, जेइ दुख कीन्ह निमेट[५]।
तेहि दिन आगि करैं वह, (बाहर) जेहि दिन होइ सो भेंट ।।६।।

व्याख्या—हीरामन तोता पद्मावती की अभिमान भरी बातें सुन, उससे कहने लगा कि हे रानी! तू चन्द्रमा के समान और वह (रत्नसेन) निर्मल सूर्य के समान है। तू कंचन की कला के समान कान्तिमान है और वह रत्न के समान तुझ में जड़ने योग्य है। विरह की भयानक वज्राग्नि (वज्र के समान दाहक अग्नि) में पड़ कर कोई कैसे बच सकता है? उस अग्नि का जो कोई भी स्पर्श करता है, वही जल जाता है। मूसलाधार वर्षा होने से साधारण अग्नि तो बुझ जाती है, परन्तु यह विरह की अग्नि बुझाने से भी नहीं बुझती और अपने आप निरन्तर बढ़ती रहती है। ऐसी इस विरहाग्नि से झुलस कर सूर्य भी जल कर काँपता रहता है, और रात-दिन उसी के ताप से जलता रहता है। क्षण में वह इस ताप से व्याकुल हो आकाश में पहुँच जाता है और क्षण में पाताल में जा गिरता है। इसी अपार अग्नि के दाह के कारण वह क्षण भर भी कहीं स्थिर नहीं रह पाता। वे प्राण धन्य हैं जो ऐसी भयंकर विरहाग्नि को इस प्रकार सहन करते हैं। प्राण इसमें अकेले ही जलते रहते हैं परन्तु अपनी व्यथा किसी

पाठ-भेद—१. ढोइ जल काढ़ै =यदि जल ढो-ढो कर निकाला जाए। २. नहिं टिका। ३. औ धिका। ४. तैस जरैं। ५. अमेंटा।

दूसरे से कभी नहीं कहते। ये प्राण भीतर ही भीतर सुलग कर साँवले पड़ जाते हैं, परन्तु प्रकट रूप से किसी के सामने इस असह्य दुख का नाम तक नहीं लेते। भाव यह है कि विरही अकेला ही अपनी विरह-वेदना को सहन करता रहता है, किसी दूसरे से नहीं कहता।

मैं उससे (राजा रत्नसेन से) जाकर तुम्हारा क्या सन्देश कहूँ, जिसने अपने दुख को अमिट बना रखा है; अर्थात् जो निरन्तर तुम्हारे विरह-जनित दुख को सहन करता रहता है। जिस दिन उसकी तुमसे भेंट होगी, उसके हृदय की यह अग्नि उसी दिन बाहर निकलेगी; अर्थात् वह तुमसे भेंट करने पर ही अपनी इस विरहाग्नि से मुक्त हो सकेगा।

टिप्पणी—अलंकार—'विरह के आगि···अपारा'— में हेतूत्प्रेक्षा।

(१८५)

सुनि कै धनि, 'जारी अस कया'। मन भा मयन, हिये भै मया ॥
देखौं जाइ जरै कस भानू। कंचन जरे अधिक होइ बानू ॥
अब जौ मरै वह पेम-बियोगी। हत्या मोंहि, जेहि कारन जोगी ॥
सुनि कै रतन पदारथ राता। हीरामन सौं कह यह बाता ॥
जौ वह जोग सँभारै छाला। पाईहि भुगुति, देहुँ जयमाला ॥
आव बसंत कुसल जौ पावौं। पूजा मिस मंडप कहँ आवौं ॥
गुरु के बैन फूल हौं गाँथे। देखौं नैन, चढ़ावौं माथे ॥
कवँल-भँवर तुम्ह बरना, मैं माना पुनि सोइ।
चाँद सूर कहँ चाहिए, जौ रे सूर वह होइ ॥७॥

व्याख्या—वह स्त्री अर्थात् पद्मावती हीरामन तोते के मुख से यह सुनकर कि रत्नसेन ने अपनी काया को इस प्रकार उसके विरह में जलाया है, विचलित हो उठी। उसका हृदय काम से उद्वेलित हो उठा और मन भय तथा दया से भर उठा। उसने कहा कि मैं जाकर देखूँगी कि वह सूर्य (रत्नसेन) किस प्रकार जल रहा है। जब कंचन अग्नि में गरम किया जाता है तो उसकी कान्ति और भी अधिक निखर उठती है। भाव यह है कि मेरे विरह में तप कर रत्नसेन का प्रेम और भी अधिक निर्मल और दृढ़ हो जायेगा। अब यदि वह प्रेम-वियोगी मर गया तो उसकी हत्या मुझे लगेगी, जिसके कारण वह योगी बना है। यह बात सुनकर कि रत्नसेन पद्मावती में अनुरक्त है, पद्मावती हीरामन से यह बात कहने लगी कि यदि वह (रत्नसेन) मृगछाला पर बैठकर योग की साधना करेगा तो उसे फल की प्राप्ति अवश्य होगी। मैं उसके कंठ में जयमाला डाल दूँगी। यदि मैंने वसन्त पंचमी के आने तक उसे सकुशल पा लिया अर्थात् यदि तब तक उसकी मृत्यु न हुई तो मैं देवता की पूजा करने के बहाने से महादेव के मंडप में जाऊँगी। तुम्हारे (गुरु के) कहने से मैंने उसके लिए

प्रेम की माला गूँथ ली है। वहाँ मैं अपने नेत्रों से उसके दर्शन कर उसके कंठ में यह जयमाला डाल दूँगी।

तुमने मेरा और राजा का वर्णन कमल और भ्रमर के रूप में किया है; अर्थात् मेरा और राजा का सम्बन्ध वैसा ही माना है, जैसा कि कमल और भ्रमर का होता है। तुम्हारी इस बात को मैंने मान लिया है। चाँद को सूर्य चाहिए यदि वह वास्तव में सूर्य है तो। (यहाँ पद्मावती चाँद तथा रत्नसेन सूर्य है।) भाव यह है कि यदि रत्नसेन की प्रेम-साधना सच्ची है तो वह मुझे अवश्य प्राप्त करेगा।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० वासुदेव शरण अग्रवाल इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में इसे स्थान नहीं दिया है। परन्तु प्रस्तुत कथा-प्रसंग को देखते हुए इसे प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता। इसमें अपने प्रियतम की विरह-दग्ध दशा का वर्णन सुनकर प्रियतमा के हृदय में जो अनुराग, भय, करुणा आदि भावनायें उत्पन्न होती हैं, उनका बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है।

(१८६)

हीरामन जो सुना[1] रस-बाता। पावा पान भएउ मुख राता॥
चला सुआ, रानी तब कहा। भा जो परावा सो कैसे रहा?॥
जो निति चलै सँवारै पाँखा। आजु जो रहा, काल्हि को राखा॥
न जनौं आजु कहाँ दहुँ ऊआ। आएहु मिलै, चलेहु मिलि, सूआ॥
मिलि कै बिछुरि मरन कै आना। कित आएहु जौं चलेहु निदाना?॥
सुनु रानी हौं रहतेउँ राँधा। कैसे रहौं बचन कर बाँधा॥
ताकरि दिस्टि ऐसि तुम्ह सेवा। जैसे कुंज मन रहै परेवा॥
बसै मीन जल धरती, अंबा बसै[2] अकास।
जौ पिरीत पै, दुवौ महँ, अंत होहिं एक पास॥८॥

व्याख्या—जब हीरामन तोते ने पद्मावती की इस प्रकार रस भरी बातें सुनीं और विदा होते समय जब पान खाया तो प्रसन्नता और पान की लाली के कारण उसका मुख लाल हो उठा। जब पद्मावती से विदा लेकर चलने लगा तो रानी पद्मावती ने उससे कहा कि जो पराया हो चुका है, वह कैसे रहेगा; अर्थात् अब तोते का मालिक रत्नसेन बन चुका है, इसलिए तोता अब पराया होने के कारण पद्मावती के पास क्यों रहने लगा। जो पक्षी नित्य ही चलने के लिए अपने पंखों को सँवारता रहता है अर्थात् जाने की उतावली में है, उसे यदि आग्रह कर आज रख भी लिया तो कल उसे जाने से कौन रोक सकेगा। न जाने आज मेरा भाग्य-नक्षत्र कैसे उदय हुआ कि तुम मुझसे मिलने के लिए आए और मिलकर चल भी दिए। समझ में नहीं आता कि मेरे भाग्य में यह हर्ष (तुम्हारे आने का) और विषाद (तुम्हारे जाने का) दोनों भाव-

---

पाठ-भेद—१. कही। २. बिरिख =फल, वृक्ष।

नायें किस नक्षत्र के उदय होने का फल है। मिलकर पुनः बिछुड़ना – मृत्यु के आगमन के समान दुखदायी होता है। जब अन्त में तुम्हें यहाँ से जाना ही था तो आखिर मिलने किसलिए आए थे ?

पद्मावती के इन उपालम्भ भरे विषादपूर्ण वचनों को सुन, हीरामन ने उत्तर दिया कि हे रानी ! सुनो, मैं तुम्हारे समीप ही रहता हूँ। मैं यहाँ तुम्हारे पास कैसे रहूँ, क्योंकि मैं राजा रत्नसेन से लौट आने के लिए वचन-बद्ध हो चुका हूँ। राजा की दृष्टि तुम्हारी सेवा में रात-दिन इस प्रकार लगी रहती है, जिस प्रकार पक्षी का मन कुंज में बसने के लिए व्याकुल रहता है, अर्थात् राजा रात-दिन तुम्हारी प्रतीक्षा में ही जागता बैठा रहता है।

मछली धरती पर जल में रहती है और आम का फल ऊपर आकाश में लगता है परन्तु दोनों में सच्ची प्रीति होने के कारण एक-न-एक दिन दोनों आपस में मिल जाते हैं और एक साथ रहने लगते हैं। जब मछली पकाई जाती है तो उसमें आम की खटाई डाली जाती है, इस प्रकार आम और मछली का संयोग हो जाता है। जिस प्रकार आम और मछली—दोनों का प्रेम एक जल के साथ होने से दोनों में प्रेम-सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार मेरा और रत्नसेन—दोनों का प्रेम तुम पर है। इससे जब दोनों विवाह के द्वारा एक साथ हो जायेंगे, तब मैं भी वहीं रहूँगा।

—(शुक्ल जी)

(१८७)

आवा सुआ बैठ जहँ जोगी। मारग नैन, बियोग बियोगी ॥
आइ पेम-रस कहा सँदेसा। गोरख मिला, मिला उपदेसा ॥
तुम्ह कहँ गुरू मया बहु कीन्हा। कीन्ह अदेस, आदि कहि दीन्हा ॥
सबद, एक उन्ह कहा अकेला। गुरु जस भिंग, फनिग जस चेला ॥
भिंगी ओहि पाँखि पैं लेई। एकहि बार छीनि[1] जिउ देई ॥
ताकहँ गुरू करै असि माया। नव औतार देइ नव काया ॥
होइ अमर जो मरि कै जीया। भौंर कवँल मिलि कै मधु पीया ॥
आवै ऋतु-बसंत जब, तब मधुकर तब बासु।
जोगी जोग जो इमि करै, सिद्धि समापत तासु ॥६॥

व्याख्या—पद्मावती से विदा लेकर हीरामन तोता उस स्थान पर पहुँचा जहाँ योगी (राजा रत्नसेन) बैठा था। उसके नेत्र मार्ग में लगे हुए थे और वह पद्मावती के वियोग में वियोगी बना बैठा था। हीरामन तोते ने आकर उसे प्रेम भरा सन्देश सुनाया। उस सन्देश को सुन राजा रत्नसेन को इतना आनन्द और सन्तोष प्राप्त हुआ मानो उसे साक्षात् गुरु गोरखनाथ के दर्शन हुए हों और उनका उपदेश सुनने को

पाठ-भेद—१. छुएँ।

मिला हो। हीरामन ने उससे कहा कि गुरु ने तुम पर बहुत कृपा की है। तुम्हें आदेश दिया है और प्रेम का मूल मन्त्र कहला भेजा है। उन्होने केवल एक ही शब्द कहा है कि गुरु भृङ्गी कीट के समान तथा चेला पतिंगे के समान होता है। भृङ्गी उस पतिंगे को अपने पंखों के ऊपर बैठा लेता है और एक बार में ही उसके पुराने प्राणों को छीन उसे नया जीवन प्रदान कर देता है। जब गुरु किसी पर इस प्रकार कृपा करता है तो उसे नया जन्म और नया शरीर प्रदान करता है। वही अमर होता है जो मर कर पुनः जीवित होता है। वह भ्रमर के समान कमल से मिल उसके मधु का पान करता है। भाव यह है कि गुरु के ज्ञानोपदेश द्वारा ही शिष्य को अपने अभीष्ट की प्राप्ति होती है। जब कोई प्राणी पहले वियोग में तप कर एक प्रकार से अपने पुराने जीवन अर्थात् माया-मोह आदि का नाश कर पुनः कायाकल्प कर निर्मल हो उठता है, तभी उसे अपने लक्ष्य की (अपने प्रियतम की) प्राप्ति होती है।

जब वसन्त ऋतु होती है, तभी भौंरे आते हैं और तभी फूलों में सुगन्धि उत्पन्न होती है अर्थात् सारे कार्य उचित समय आने पर ही पूर्ण होते हैं। भाव यह है कि उचित समय के आने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस तथ्य को समझ कर जो योगी योग-साधना करता है, अन्त में उसका योग पूर्ण हो जाता है, अर्थात् वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी—यह पद पूर्णतः संकेतात्मक है। यहाँ गुरु के रूप में पद्मावती राजा रत्नसेन को यह सन्देश भिजवाती है कि अभी तुम्हारी प्रेम-साधना पूर्ण नहीं हुई है। प्रेम में अलगाव नहीं रहता। प्रेमी अपने प्रेमास्पद के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है, अर्थात् अपने अहं का विसर्जन कर पूर्णतः तदाकार हो जाता है, तभी उसका मनोरथ सिद्ध होता है, अर्थात् अभी राजा को और तपस्या करनी चाहिए। 'वसन्त' का संकेत देकर वह वसन्त-पंचमी तक प्रतीक्षा करने की बात कहती है।

२०

बसंत-खंड

(१८८)

दैउ दैउ कै सो[1] ऋतु गँवाई। सिरी-पंचमी पहुँची आई॥
भएउ हुलास नवल ऋतु माहाँ। खिन न सोहाइ धूप औ छाहाँ॥
पदमावति सब सखी हँकारी। जावत सिंघलदीप कै बारी॥
आजु बसंत नवल ऋतुराजा। पंचमि होइ, जगत सब साजा॥
नवल सिंगार बनस्पति कीन्हा। सीस परासहि सेंदुर दीन्हा॥
बिगसि फूल फूले बहु बासा। भौंर आइ लुबुधे चहुँ पासा॥
पियर-पात-दुख झरे निपाते। सुख पल्लव उपने होइ राते॥
अवधि आइ सो पूजी, जो हींछा मन कीन्ह।
चलहु देवमढ़ गोहने, चहहुँ सो पूजा दीन्ह॥१॥

व्याख्या—दैव-दैव करके अर्थात् किसी प्रकार ईश्वर का नाम ले-ले कर वह ऋतु (शिशिर ऋतु) समाप्त की; अर्थात् काटी और वसन्त-पंचमी आ पहुँची। इस नवीन ऋतु के आते ही चारों ओर उल्लास छा गया, धूप या छाँह क्षण भर को भी नहीं सुहाती थी। इस ऋतु का आगमन जान पद्मावती ने अपनी सारी सखियों को बुलवाया और कहा कि सिंहलद्वीप में जितनी भी कुमारी बालायें हैं, सब आ जायें। आज ऋतुराज वसन्त की नई ऋतु आ गई है। वसन्त-पंचमी की तिथि है। उसके स्वागत में सारा संसार सज रहा है। सारी वनस्पतियों ने अपना नया शृंगार किया है और पलाश-वृक्षों ने अपने सिर पर सिन्दूर का टीका लगाया है। भाव यह है कि सारी वनस्पतियाँ नई लाल कोपलों से युक्त ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो उन्होंने नवीन शृंगार किया हो। पलाश-वृक्षों पर लाल सिन्दूरी फूल खिल रहे हैं, जो ऐसे लगते हैं मानो उन्होंने अपनी माँग में सिन्दूर भर लिया हो। चारों तरफ विभिन्न प्रकार के फूल खिलकर भिन्न-भिन्न प्रकार की सुगन्धियाँ विकीर्ण कर रहे हैं और उन सुगन्धियों से लालायित हो भ्रमर उनके चारों ओर गुंजार करते हुए घूम रहे हैं। वृक्षों के दुख के प्रतीक पीले पत्ते झड़कर वृक्ष पत्रहीन हो हल्के हो उठे हैं और उनमें सुख की प्रतीक लाल कोंपलें निकल आई हैं। भाव यह है कि वसन्तागम से संसार का सारा दुख नष्ट हो चतुर्दिक उल्लास छा गया है।

पाठ-भेद—१. सिसिर=शिशिर।

मैंने अपने मन में जो इच्छा की थी, आज उसके पूर्ण होने की अवधि आ गई है। इसलिए सब सखियाँ मेरे साथ देवमन्दिर में चलो। मैं अपने मन से संकल्प की हुई पूजा अर्थात् पूजन-सामग्री देवता पर चढ़ाना चाहती हूँ।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में वसन्तागम के समय प्रकृति का आलम्बन रूप द्रष्टव्य है। परन्तु यहाँ कवि एक गलती कर गया है। वसन्त ऋतु हेमन्त ऋतु के बाद आती है न कि शिशर ऋतु के उपरान्त।

(१८६)

फिरी आन ऋतु-बाजन बाजे। और सिंगार बारन्हि सब साजे॥
कवँल-कली पदमावति रानी। होइ मालति जानौं बिगसानी॥
तारा-मँडल पहिरि भल चोला। भरे ससि सब नखत अमोला[1]॥
सखी कुमोद सहस दस संगा। सबै सुगँध चढ़ाए अंगा॥
सब राजा रायन्ह कै बारी। बरन बरन पहिरे सब सारी॥
सबै सुरूप, पदमिनी जाती। पान, फूल, सेंदुर सब राती॥
करहिं किलोल सुरंग-रँगीली। औ चोवा चंदन सब गोली॥
चहुँ दिसि रही सो बासना, फुलवारी अस फूलि।
वै बसंत सौं भूलीं, गा बसंत उन्ह भूलि॥२॥

शब्दार्थ—आन=आज्ञा डौंडी, ऋतु के अनुकूल बाजे। बारिन्ह=कुमारियों ने। होइ मालति=श्वेत हास द्वारा मालती के समान होकर। तारामंडल=एक प्रकार का वस्त्र जिस पर चाँद-तारे या providence ताराबूटी की छपाई होती है। चढ़ाए=लगाए। रायन्ह=सामन्त-सरदार।

व्याख्या—चारों ओर राजाज्ञा प्रचारित की गई कि वसन्त के स्वागत की तैयारियाँ करो। ऋतु के अनुकूल बाजे बजने लगे। सारी कुमारियों ने सब प्रकार से अपना श्रृंगार किया। कमल की कली के समान सुन्दरी रानी पद्मावती प्रसन्न हो हँसने लगी। अपने श्वेत हास्य के कारण वह ऐसी प्रतीत होने लगी मानो मालती खिल उठी हो। (मालती के फूल सफेद होते हैं।) सारी कुमारियों ने तारामंडल (चाँद-सितारे या ताराबूटी) नामक वस्त्र के सुन्दर परिधान धारण किए और अपनी माँग में अमूल्य नक्षत्रों जैसे रत्नों को भर लिया। तारामंडल नामक वस्त्रों तथा उन रत्नों से सजी हुई वे ऐसी लगती थीं—मानो चन्द्रमा नक्षत्रों से घिरा हुआ सुशोभित हो रहा हो। पद्मावती के साथ कुमुदिनी के समान खिली हुईं दस हजार सखियाँ चलीं। ये सब अपने शरीर पर विभिन्न प्रकार की सुगन्धियाँ (इत्र आदि) लगाए हुए थीं। ये सब कुमारियाँ राजा और सामन्त-सरदारों की कन्यायें थीं, जो

पाठ-भेद—१. पहिरै ससि जस नखत अमोला=जैसे चन्द्रमा ने अमूल्य नक्षत्रों को धारण कर रखा हो।

विभिन्न प्रकार के रंगों की साड़ियाँ पहने हुए थीं। ये सभी सुन्दर रूप वाली पद्मिनी जाति की बालायें थीं अर्थात् पद्मिनी के समान सुन्दरी थीं। ये सब पान, फूल और सिन्दूर से सजी हुई लाल रंग की दिखाई दे रही थीं। सुन्दर रंग में रँगी हुई ये रँगीली कुमारियाँ क्रीड़ा कर रही थीं और सबके शरीर चन्दन तथा चोवा आदि सुगन्धित पदार्थों के कारण गीले हो रहे थे।

चारों ओर सुगन्धि छा रही थी— मानो फुलवारी फूल रही हो। वे कुमारियाँ वसन्त के मदमाते सौन्दर्य को देख उस पर मुग्ध हो उठी थीं और वसन्त उनके सुन्दर रूप को देख उन पर मुग्ध हो रहा था।

(१९०)

भै आहा[1] पदमावति चली। छत्तिस कुरि भइँ गोहने भली ॥
भइँ गोरी[2] सँग पहिरि पटोरा। बाम्हनि ठाँव सहस अँग मोरा ॥
अगरवारि गज गौन करेई। बैसिनि पावँ हंसगति देई ॥
चंदेलिनि ठमकहिं पगु धारा। चली चौहानि, होइ झनकारा ॥
चली सोनारि सोहाग सोहाती। और कलवारि पेम-मधु-माती ॥
बानिनि चली सेंदुर दिए माँगा। कयथिनि चली समाइँ न आँगा ॥
पटइनि पहिरि सुरँग-तन चोला। औ बरइनि मुख खात तमोला ॥
चली पउनि सब गोहने, फूल डार लेइ हाथ।
बिस्वनाथ कै पूजा, पदमावति के साथ ॥३॥

शब्दार्थ—आहा=वाह्-वाह्, धन्य। गोहने=साथ में। पटोरा=पाटाम्बर, रेशमी वस्त्र। ठाँव सहस=हजार जगह से। अगरवारि=अग्रवाल। बानिनि=बनैनी। पउनि=नेग पाने वाली।

व्याख्या—इस प्रकार सज-धज कर जब पद्मावती वसन्त-पूजन करने के लिए मन्दिर की ओर चली तो चारों ओर वाह्-वाह होने लगी। उसके साथ क्षत्रियों के छत्तीसों कुलों की कुमारियाँ चलती हुई शोभा दे रही थीं। ये सब गोरी कुमारियाँ रेशमी वस्त्र पहन पद्मावती के साथ हो लीं। (पद्मावती के साथ इन छत्तीस क्षत्रिय कुलों की कुमारियों के अतिरिक्त विभिन्न जातियों की स्त्रियाँ भी थीं। जायसी ने यहाँ इन्हीं का वर्णन करते हुए कहा है कि—) ब्राह्मणियाँ अपने अंगों को हजार जगह से मरोड़ती हुईं चल रही थीं। अग्रवालों की स्त्रियाँ हाथी की सी मस्त चाल से झूमती हुईं तथा वैश्य कुल की बालायें हंस की सी मदिर गति से चल रही थीं। चन्देलिनि ठमक के साथ पैर रखती थीं और चौहान स्त्रियों के चलने से आभूषणों की झंकार-ध्वनि उठ रही थी। सौभाग्य से सुहावनी बनी सुनारिनें और प्रेम के मधु से मदमाती कलवारिनें साथ चल रही थीं। बनैनियाँ माँग में सिन्दूर भरे हुए थीं और कायस्थिन

पाठ-भेद— १. अहानि=प्रसिद्धि फैल गई। २. गौड़ी।

बालायें जब चलती थीं तो उनके अंग नहीं समाते थे। पटुवों की स्त्रियाँ अपने सुन्दर शरीरों पर सुन्दर रंग-बिरँगे वस्त्र पहने हुए थीं और तम्बोलिनों के मुख पान खाने से लाल हो रहे थे।

जितनी भी नेग-दस्तूर पाने वाली स्त्रियाँ थीं, सब अपने हाथों में फूल भरी डालियाँ लिए पद्मावती के साथ विश्वनाथ महादेव की पूजा करने के लिए चलीं।

(१९१)

कवँल सहाय चली फुलवारी। फर फूलन सब करहिं धमारी[1] ॥
आपु आपु महँ करहि जोहारू। यह बसंत सब कर तिवहारू ॥
चहै मनोरा झूमक होई। फर औ फूल लिएउ सब कोई ॥
फागु खेलि पुनि दाहब होरी। सैंतब खेह, उड़ाउब झोरी ॥
आजु साज पुनि दिवस न दूजा। खेलि बसंत लेहु कै पूजा ॥
भा आयसु पदमावति केरा। बहुरि न आइ करब हम फेरा ॥
तस हम कहँ होइहिं रखवारी। पुनि हम कहाँ, कहाँ यह बारी ॥
पुनि रे चलब घर आपने, पूजि बिसेसर-देव।
जेहि काहुहि होइ खेलना, आजु खेलि हँसि लेव ॥४॥

शब्दार्थ—धमारी=होली की क्रीड़ा। मनोरा झूमक=एक प्रकार के गीत जिन्हें स्त्रियाँ झुण्ड बाँध कर गाती हैं। इन गीतों के प्रत्येक चरण के अन्त में 'मनोरा झूमक हो' पंक्ति की पुनरावृत्ति की जाती है। सैंतब=समेट कर इकट्ठा करेंगी। उड़ाउब झोरी=रास करेंगे, झोली भर-भर गुलाल उड़ायेंगी।

व्याख्या—पद्मावती के साथ उसकी सारी सखियाँ चलती हुईं ऐसी शोभा दे रही थीं—जैसे कमल के साथ (या सहायतार्थ) सारी फुलवारी चल रही हो। सारी सखियाँ फल-फूलों के साथ होली की सी क्रीड़ायें कर रहीं थीं, अर्थात् उसी प्रकार उमंग में भर उठी थीं जिस प्रकार होली आने पर उल्लसित हो उठती थीं। वे आपस में एक-दूसरे को जुहार-प्रणाम करती थीं और कहती थीं कि यह वसन्त तो सब का त्यौहार है, इसलिए आज तो मनोरा झूमक गीत होने चाहिए। सब अपने-अपने हाथों में फल-फूल ले लो। हम सब फाग खेलकर फिर होली जलायेंगे। उसके बाद अपने खेतों को समेटेंगीं और फिर अनाज को झोली में भर-भर रास करेंगी। आज के समान सुन्दर और पवित्र दिन दूसरा कोई भी नहीं है, इसलिए आज देवता की पूजा कर वसन्त खेल लो। पद्मावती की आज्ञा हुई कि हम दुबारा यहाँ नहीं आ सकेंगी, क्योंकि वहाँ पतिगृह में हमारी रखवाली होने लगेगी। फिर कहाँ हम होंगी और कहाँ यह फुलवारी होगी। भाव यह है कि विवाह हो जाने पर हम बन्धन में पड़ जायेंगी— फिर यह आनन्द नहीं मना सकेंगी, इसलिए आज खूब जी भर कर उत्सव मना लो।

पाठ-भेद—१. कै इच्छा बारी=इच्छा करके फुलवारी की ओर चलीं।

हम विश्वेश्वर महादेव की पूजा कर फिर अपने घर चलेंगी, इसलिए जिस किसी को खेलना हो वह आज ही खूब हँस-खेल ले।

टिप्पणी—(१) 'सँतब खेह, उड़ाउब झोरी'—की कुछ टीककारों ने बड़ी भ्रमात्मक व्याख्या की है कि "मिट्टी समेट कर उसकी होली उड़ायेंगी" अथवा "राख इकट्ठी करके झोली में भर कर उड़ाओ।" ये अर्थ इसलिए असंगत है, क्योंकि यहाँ कवि वसन्त का वर्णन कर रहा है, न कि होली का। वसन्त-पंचमी के उपरान्त होली का त्यौहार आता है। इसलिए होली खेलने का कोई प्रसंग ही नहीं उठता। सखियाँ यह कह रही हैं कि इस वसन्त के उपरान्त होली आयेगी। हम सब होली जलाकर फाग खेलेंगी। होली के बाद ही खेतों की कटाई प्रारम्भ होती है, इसलिए यहाँ 'सँतब खेह' का अर्थ खेतों की कटाई कर अनाज को समेटने से ही सार्थक बैठता है। अनाज समेट कर खलिहान में इकट्ठा किया जाता है और फिर उसकी 'रास' होती है, अर्थात् हवा की सहायता से अनाज को भूसे से अलग किया जाता है। इसमें अनाज को झोली में भर कर वायु की दिशा में छोड़ते जाते हैं जिससे भूसा उड़-उड़ कर अलग होता जाता है। यहाँ कवि का अभिप्राय इसी से है, न कि होली खेलने से।

(२) 'मनोरा झूमक'—ब्रज की बहु-प्रचलित गीत शैली है। सूरदास ने इस प्रकार के कुछ गीत लिखे हैं। एक गीत की दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'गोकुल सकल गुवालिनी, घर-घर खेलत फाग। मनोरा झूमक हो।
जिनमें राधा लाड़िली, जिनकी अधिक सुहाग। मनोरा झूमक हो।'

(१९२)

काहू गही आँब कै डारा। काहू जाँबु[1] बिरह अति झारा॥
कोइ नारँग कोइ झाड़ चिरौंजी। कोइ कटहर, बड़हर, कोइ न्यौजी॥
कोइ दारिउँ कोइ दाख औ खोरी। कोइ सदाफर, तुरँज जँभीरी॥
कोइ जायफर, लौंग, सुपारी। कोइ नरियर, कोइ गुवा, छोहारी॥
कोइ बिजौर, करौंदा-जूरी[2]। कोइ अमिली, कोइ महुअ, खजूरी॥
काहू हरफारेवरि कसौंदा। कोइ अँवरा, कोइ राय-करौंदा॥
काहू गही केरा कै घौरी। काहू हाथ परी निंबकौरी॥
काहू पाई नीयरे, कोउ गए किछु दूरि।
काहू खेल भएउ विष, काहू अमृत-मूरि॥५॥

व्याख्या—इस छन्द में जायसी ने अपनी नाम-परिगणनात्मक प्रवृत्ति के अनुसार फल-मेवों के विभिन्न प्रकार के वृक्षों के नाम गिनाये हैं—

पद्मावती की क्रीड़ा करने की आज्ञा पाकर, सारी सखियों ने क्रीड़ा करने के

पाठ-भेद—१. फरी जाँबु=अधिक पत्तियों वाली फली हुई जामुन। २. नरियर चूरी=नारियल की डाल तोड़ ली।

लिए विभिन्न वृक्षों को चुन लिया। किसी ने आम की डाल पकड़ ली और किसी ने विरह की ज्वाला से झुलस कर काली पड़ गई जामुनों की डाल को थाम लिया। किसी ने नारंगी, किसी ने चिरौंजी के झाड़ को, किसी ने कटहल, बड़हल और किसी ने चिलगोजे के वृक्षों को पकड़ लिया। किसी ने अनार, किसी ने अंगूर और किसी ने खिरनी को जा पकड़ा। कोई सदाफल, कोई तुरंज तथा कोई जंभीरी नीबुओं को पकड़ कर खड़ी हो गई। किसी-किसी ने जायफल, लौंग, सुपाड़ी, नारियल, दक्खिनी सुपाड़ी, छुहारा, बिजौरा नीबू, करौंदा, जूड़ी, इम्ली, महुआ, खजूर, हरफारेवरि, कसौंदा, आँवला, रायकरौंदा आदि के वृक्षों को पकड़ लिया। किसी ने केले की झौंर (गहर) को पकड़ा तथा किसी के हाथ निंबौरी ही पड़ी।

किसी ने अपना मनवांछित फल का वृक्ष पास ही पा लिया और किसी को कुछ दूर जाने पर मिला। किसी को यह खेल विष हो गया और किसी को अमृत।

(१९३)

पुनि बीनहिं सब फूल सहेली। खोजहिं आस-पास सब बेली[1] ॥
कोइ केवड़ा, कोइ चंप नेवारी। कोइ केतकि मालति फुलवारी ॥
कोइ सदबरग, कुंद, कोइ करना। कोइ चमेलि, नागेसर बरना ॥
कोइ सो गुलाल, सुदरसन कूजा। कोइ सोनजरद पाव भलि पूजा ॥
कोइ मौलसिरि, पुहुप बकौरी। कोई रूपमंजरी गौरी ॥
कोइ सिंगारहार तेहि पाहाँ। कोई सेवती, कदम के छाहाँ ॥
कोइ चंदन फूलहिं जनु फूली। कोइ अजान-बीरौ तर भूली ॥
(कोइ) फूल पाव, कोइ पाती, जेहि के हाथ जो आँट।
(कोइ) हार[2] चीर अरुझाना, जहाँ छुवै तहँ काँट ॥६॥

व्याख्या—इस छन्द में जायसी पुनः विभिन्न प्रकार के फूलों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इसके उपरान्त सारी सखियाँ फूल बीनने लगीं। वे फूलों की खोज में आसपास लगी विभिन्न प्रकार की लताओं और बेलों को देखने लगीं। इन सखियों ने केवड़ा, चम्पा, नेवारी, केतकी, मालती, सदबरग, कुन्द, करना, चमेली, नागकेसर, बरना, मौलश्री, बकौरी के फूल, रूपमंजरी, गौरी आदि विभिन्न प्रकार के फूलों को बीना; किसी को वहाँ हरसिंगार मिल गया और किसी को सेवती तथा कोई कदम्ब की छाया में जा पहुँची। कोई चन्दन के फूलों को पाकर फूल उठी और कोई किसी अनजान वृक्ष के नीचे जाकर सुध-बुध खो बैठी।

किसी को फूल मिले, किसी को केवल पत्तियाँ। जो जिसके हाथ में आया वही उसने ले लिया। किसी का हार और वस्त्र उलझ गया और कोई जहाँ हाथ डालती थी, वहीं उसके काँटे लग जाते थे।

पाठ-भेद— १. जो जेहि आस पास रह बेलीं। २. सिउँ=साथ, सीमा।

(१६४)

फर फूलन्ह सब डार ओढ़ाई[1] । झुंड बाँधि कै पंचम गाई ॥
बार्जाहि ढोल दुंदुभी भेरी । मादर, तूर, झाँझ चहुँ फेरी ॥
सिंगि, संख, डफ बाजन बाजे । बंसी, महुअर सुर सँग साजे ॥
और कहिय जो बाजन भले । भाँति भाँति सब बाजत चले ॥
रर्थाहि चढ़ी सब रूप-सोहाई । लेइ बसंत मठ-मंडप सिधाई ॥
नवल बसत, नवल सब बारी । सेंदुर बुक्का होइ धमारी ॥
खिनहिं चलहिं, खिन चाँचरि होई । नाच कूद भूला सब कोई ॥
सेंदुर-खेह उड़ा अस, गगन भएउ सब रात ।
राती सगरिउ धरती, राते बिरिछन्ह पात ॥७॥

व्याख्या—उन सारी सखियों ने मिलकर एक डाल को अपने साथ लाए फल-फूलों से ढक दिया और उसके चारों ओर झुंड बाँध पंचम स्वर में वसन्त के गीत गाने लगीं । चारों ओर ढोल, दुंदुभी, भेरी, मृदंग, तुरही, झाँझ आदि बाजे बज रहे थे । शृंगी, शंख, ढफ आदि बाजों का स्वर उठ रहा था और उनके साथ वंशी और वीन के स्वर मिल एक सुहावना वातावरण प्रस्तुत कर रहे थे । और जितने प्रकार के अच्छे बाजे कहे जाते हैं वे सब भी भाँति-भाँति से बजते हुए उनके साथ चल रहे थे । सारी रूप-सुन्दरियाँ रथों पर सवार हो वसन्त-पूजन की सामग्री ले महादेव के मंडप को चलीं । नवल वसन्त ऋतु थी, सारी कुमारियाँ भी नई-नवेली थीं । ऐसे उस मादक वातावरण में सिन्दूर और अबीर उड़ रहा था और खूब धमा-चौकड़ी मची थी । ये सखियाँ कभी चलतीं और क्षण भर में ही रुककर चाँचरि राग के साथ चाँचरि नृत्य करने लगतीं । इस नाच-कूद में सब कोई अपने को भूल गया था, अर्थात् पूर्णरूपेण तन्मय हो रहा था ।

वहाँ सिन्दूर की ऐसी धूल उड़ी कि उससे सारा आकाश और सारी धरती लाल हो उठी और वृक्षों के पत्ते भी लाल हो गए ।

(१६५)

एहि बिधि खेलति सिंघलरानी । महादेव-मढ़ जाइ तुलानी ॥
सकल देवता देखै लागे । दिस्टि पाप सब ततछन[2] भागे ॥
एइ कबिलास इंद्र कै अछरी । की कहुँ तें आई परमेसरी ॥
कोई कहै पदुमिनी आई । कोइ कहै ससि नखत तराई ॥
कोई कहै फूली फुलवारी । फूल ऐसि देखहु सब बारी[3] ॥

पाठ-भेद—१. ओनाई=नीचे झुकाई । २ तिन्हके । ३. भूलै सबै देखि सब बारी ।

एक सुरूप औ सुन्दर सारी । जानहु दिया सकल महि बारी ।।
मुरुछि परै जोई मुख जोहै । जानहु मिरिग दियारहि मोहै ।।
कोई परा भौंर होइ, बास लीन्ह जनु चाँप ।
कोइ पतंग भा दीपक, कोइ अधजर तन काँप ।।८।।

शब्दार्थ—तुलानी=जा पहुँची । परमेसरी=परमेश्वरी, मातृका । दियारहि =मृगतृष्णा । चाँप=चम्पा । अधजर=आधा जला हुआ ।

व्याख्या—इस प्रकार खेलती-कूदती हुई सिंहलद्वीप की रानी पद्मावती महादेव के मंडप में जा पहुँची । पद्मावती तथा उसकी सखियों को आया हुआ देख, वहाँ उपस्थित सारे देवता उनकी ओर देखने लगे । इनके दर्शन करते ही सारे पाप तुरन्त नष्ट हो गए । वहाँ उपस्थित लोग सोचने लगे कि या तो ये इन्द्र के अखाड़े की अप्सरायें हैं या स्वयं परमेश्वरी मातृकायें कहीं से यहाँ आ पहुँची हैं । कोई कहता है कि पद्मिनियाँ आई हैं, कोई कहता है कि चन्द्रमा सम्पूर्ण नक्षत्रों और तारों के साथ भूमण्डल पर उतर आया है । (पद्मावती चन्द्रमा तथा सखियाँ नक्षत्र और तारे ।) कोई कहने लगा कि यहाँ तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई फूलों से भरी फुलवारी खिली हुई हो । वे सारी कुमारियाँ फूलों के समान सुन्दर, कोमल, रंग-बिरंगी और सुगन्धित दिखाई पड़ रही थीं । वे सारी कुमारियाँ एक-से-एक चढ़कर रूपवती और सुन्दरियाँ थीं और ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों सारी दुनियाँ में दीपक प्रकाशित हो रहे हों । जो कोई भी उनके ऐसे सुन्दर मुख की ओर देख लेता था वही मूर्च्छित होकर गिर पड़ता था । सब लोग उन पर ऐसे मोहित हो उठे थे जैसे मृग मृगतृष्णा से मोहित हो उठता है । भाव यह है कि ये कुमारियाँ साधारण पुरुषों के लिए उसी प्रकार अलभ्य थीं जिस प्रकार मृग के लिए मृगतृष्णा से उत्पन्न जल ।

इनको देख कोई मूर्च्छित हो इस प्रकार गिर पड़ा जैसे भ्रमर चम्पा की गन्ध सूँघ मूर्च्छित हो जाता है और कोई इनके रूप की ज्वाला में उसी प्रकार तड़पने लगा जैसे पतिंगा दीपक की ज्वाला में झुलस कर अधजला हो तड़पता रहता है ।

(१९६)

पदमावति गै देव-दुवारा । भीतर मँडप कीन्ह पैसारा ।।
देवहि संसै भा जिउ केरा । भागौं केहि दिसि मंडप घेरा ।।
एक जोहार कीन्ह औ दूजा । तिसरे आइ चढ़ाएसि पूजा ।।
फर फूलन्ह सब मँडप भरावा । चंदन अगर देव नहवावा ।।
लेंइ सेंदुर आगे भै खरी । परसि देव पुनि पायन्ह परी ।।
'और सहेली सबै बियाहीं । मो कहँ देव ! कतहुँ बर नाहीं ।।
हौं निरगुन जेइ कीन्ह न सेवा । गुनि निरगुनि दाता, तुम देवा ।।
बर सौं जोग मोहि मेरबहु, कलस जाति हौं मानि ।
जेहि दिन होंछा पूजै, बेगि चढ़ावहुँ आनि ।।९।।

व्याख्या—पद्मावती देवता के द्वार पर अर्थात् मंदिर के द्वार पर गई और फिर उसने मंडप के भीतर प्रवेश किया। उसे आया देख देवता के मन में भी अपने प्राणों के प्रति संशय उठ खड़ा हुआ और वह सोचने लगे कि मैं किधर होकर भागूँ, इन्होंने तो मंडप को चारों ओर से घेर रखा है। भाव यह है कि पद्मावती एवं उसकी सखियों के रूप को देखकर देवता भी एक बार विचलित हो उठे और उनके मोह से त्राण पाने के लिए निकल भागने का मौका ढूँढ़ने लगे। पद्मावती ने देवता को पहली बार प्रणाम किया, फिर दूसरी बार किया और तीसरी बार प्रणाम कर पूजा की। फल और फूलों से सारा मंडप भर गया। पद्मावती ने देवता को स्नान करवा कर अगर और चन्दन लगाया और हाथ में सिन्दूर ले देवता के सम्मुख खड़ी हो गई। (यहाँ सिन्दूर से अभिप्राय यह है कि वह पति की कामना कर रही थी।) फिर उसने देवता का स्पर्श किया (महादेव की पिंडी को पूजा करते समय स्पर्श किया जाता है) और फिर उनके चरणों में गिर पड़ी। यह करके उसने देवता से प्रार्थना की कि मेरी अन्य सारी सखियों के विवाह हो चुके हैं, परन्तु हे देव! मेरे लिए कहीं भी वर नहीं मिलता। मैं गुणहीन हूँ, जिसने तुम्हारी कोई सेवा नहीं की। परन्तु हे देव! तुम तो गुणी और गुणहीन—सब को मुँह-माँगा वरदान देने वाले हो।

इसलिए मैं तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि मेरे योग्य वर से मुझे शीघ्र मिला दो। मैं तुम्हारे ऊपर कलश चढ़ाने की मानता मानती हूँ अर्थात् प्रतिज्ञा करती हूँ कि जिस दिन मेरी इच्छा पूर्ण होगी, मैं उसी दिन शीघ्र आकर तुम्हारे ऊपर कलश चढ़ाऊँगी।

टिप्पणी—'देवहि संसै·····मंडप घेरा'—पंक्ति एक सुन्दर हास्य की सृष्टि करती है। यह मन्दिर महादेव का था। महादेव और कामदेव की पुरानी शत्रुता रही है। उन सुन्दरियों को मंडप में आया देख महादेव को अपने प्राणों के लाले पड़ गए। उन्होंने समझा कि कामदेव ने अपनी सेना-सहित पुराना वैर चुकाने के लिए मेरा मंडप चारों ओर से घेर लिया है। इसलिए वे वहाँ से निकल भागने के लिए व्याकुल हो उठे।

(१६७)

हींछि हींछि बिनवा जस जानी। पुनि कर जोरि ठाढ़ि भइ रानी॥
उतरु को देइ देव मरि गएउ। सबद अकूत[1] मँडप महँ भएउ॥
काटि पवारा जैस परेवा। सोएउ[2] ईस, और को देवा॥
भा बिनु जिउ नहिं आवत ओझा। विष भइ पूरि, काल भा गोझा॥
जो देखै जनु बिसहर-डसा। देखि चरित पदमावति हँसा॥

पाठ-भेद—१. अकूट=स्पष्ट। २. मर भा=मर गए।

भल हम आइ मनावा देवा । गा जनु सोइ, को मानै सेवा ? ॥
को हींछा पूरै, दुख खोवा । जेहिं मानै आए सोइ तनि-तनि सोवा ॥
जेहि धरि सखी उठावहिं, सीस बिकल नहिं डोल ।
धर कोइ जीव न जानौं, मुख रे बकत कुबोल ॥१०॥

शब्दार्थ—जस जानी=ज्ञान के अनुसार। सबद=शब्द । अकूत=दिव्य, अलौकिक । पवारा=फेंक दिया ।

व्याख्या—पद्मावती ने पुनः अपने मन में इच्छा कर अपनी योग्यतानुसार देवता से विनती की और फिर हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई । पर वहाँ उसकी विनती का उत्तर कौन देता ? देवता तो मर गया है । उसी समय मंडप के भीतर एक आकाशवाणी हुई । जैसे कोई पक्षी को काट कर फेंक देता है, उसी प्रकार ईश्वर पर-कटे पक्षी के समान असहाय होकर सो गया है, फिर और देवताओं की तो बात ही क्या चलाई । ओझा अर्थात् पुजारी भी नहीं आता, क्योंकि वह भी प्राणहीन हो गया है । पूड़ियाँ विष के समान हो गईं और गुझिया काल के समान प्राणघातक । जो पद्मावती की ओर देखता था, उसे ही मानो साँप सूँघ जाता था । पद्मावती इस कौतुक को देख हँसने लगी । भाव यह है कि पद्मावती के रूप के प्रभाव से देवता, पुजारी, अन्य देखने वाले—सभी प्राणहीन से हो गए । पद्मावती ने कहा कि अच्छी मैं देवता को मनाने के लिए आई ! वह तो जैसे सो गया है, अब मेरी पूजा को कौन स्वीकार करेगा ? कौन मेरी इच्छा को पूरी करेगा और मेरे दुख को दूर करेगा ? मैं जिसकी मानता मानने आई थी, वह तो अकड़ कर, तन कर सो गया है ।

सखियाँ मन्दिर में जिसका भी सिर पकड़ कर ऊपर उठाती थीं वही व्याकुल हो उठता था परन्तु अपने स्थान से हिलता नहीं था । किसी के भी शरीर में प्राण नहीं मालूम पड़ते थे परन्तु मुख से अनाप-सनाप बक उठता था ।

(१९८)

ततखन एक सखी बिहँसानी । कौतुक आइ न देखहु रानी ॥
पुरुब द्वार मढ़ जोगी छाए । न जनौं कौन देस तें आए ॥
जनु उन्ह जोग तंत तन खेला । सिद्ध होइ निसरे सब चेला ॥
उन्ह महँ एक गुरू जो कहावा । जनु गुड़ देह काहू बौरावा ॥
कुँवर बतीसी लच्छन राता । दसएँ लछन कहै एक बाता ॥
जानौं आहि गोपिचंद जोगी । की सो ओहि भरथरी वियोगी ॥
वै पिंगला गए कजरी-आरन । ए सिंघल आए केहि कारन ॥
यह मूरति, यह मुद्रा, हम न देख अवधूत ।
जानौ होहिं न जोगी, केहु राजा कर पूत ॥११॥

व्याख्या—मंडप के भीतर की उस विचित्र दशा को देख एक सखी पद्मावती

के पास आ हँसने लगी और बोली कि हे रानी ! चल कर एक तमाशा देखो न ! मंडप के पूर्वी द्वारा पर जोगियों का दल सा छा रहा है। न मालूम वे लोग किस देश से आए हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो उन लोगों ने योग के सम्पूर्ण तत्त्वों को भली-भाँति हृदयंगम कर रखा है, अर्थात् वे पूर्ण योगी प्रतीत होते हैं। सारे शिष्य सिद्ध होकर निकल पड़े हैं। उनमें जो एक गुरु कहलाता है वह तो ऐसा पागल सा लगता है मानो गुड़ (मंत्राभिषिक्त) देकर किसी ने उसे पागल बना दिया हो। (यहाँ प्रेम के मीठे होने के प्रति संकेत है, अर्थात् वह प्रेम में पागल सा हो गया प्रतीत होता है।) वह कुमार बत्तीस लक्षणों (महापुरुषों अथवा चक्रवर्ती सम्राट के लक्षणों) से सुशोभित है और एक-एक बात में धर्म के दसों लक्षणों का वर्णन करता है, अर्थात् पूर्ण ज्ञानी है। मानो वह योगी राजा गोपीचन्द के समान है या वियोगी राजा भर्तृहरि है। राजा भर्तृहरि तो रानी पिंगला के कारण योगी बन कदली-वन चले गए थे परन्तु यह नहीं ज्ञात होता कि यह किस कारणवश सिंहलद्वीप आया है।

ऐसी मूर्ति, ऐसी मुख-मुद्रा वाला अवधूत हमने कभी नहीं देखा। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह योगी न होकर किसी राजा का राजकुमार है।

टिप्पणी—शुक्लजी ने 'दसएँ लछन' शब्द से योगियों के बत्तीस लक्षणों में से दसवें लक्षण 'सत्य' का अर्थ माना है। इस अर्थ को स्वीकार कर लेने से यह अर्थ निकलता है कि वह योगी और कोई भी बात न कर सिर्फ एक ही शब्द 'सत्य-सत्य' का उच्चारण कर रहा है। योगी प्रायः 'सत्त-सत्त' शब्द का उच्चारण किया करते हैं। इसलिए यह अर्थ संगत बैठ जाता है और राजा रत्नसेन की उस दशा को देखते हुए अधिक उचित भी प्रतीत होता है।

(१९९)

सुनि सो बात रानी रथ[1] चढ़ी। कहँ अस जोगी देखौं मढ़ी।।
लेइ सँग सखी कीन्ह तहँ फेरा। जोगिन्ह आइ जनु अपछरन्ह घेरा।।
नयन कचोर पेम-मद भरे। भइ सुदिस्टि जोगी सहुँ टरे।।
जोगी दिस्टि दिस्टि सौं लीन्हा। नैन रोपि नैनहिं जिउ दीन्हा।।
जेहि मद चढ़ा[2] परा तेहि पाले। सुधि न रही ओहि एक पियाले।।
परा माति गोरख कर चेला। जिउ तन छाँड़ि सरग कहँ खेला।।
किंगरी गहे जो हुत बैरागी। मरतिहु बार उहै धुनि लागी।।
जेहि धंधा जाकर मन लागै, सपनेहू सूझ सो धंध।
तेहि कारन तपसी तप साधहिं, करहिं पेम मन बंध।।१२।।

व्याख्या—सखी की योगी-सम्बन्धी बात को सुन रानी पद्मावती रथ पर सवार हो गई और सखी से बोली कि मैं उस मढ़ी को देखना चाहती हूँ जहाँ ऐसे योगी ठहरे हुए हैं। इसके उपरान्त सारी सखियों को साथ लेकर वह वहाँ जा पहुँची। उन लोगों

पाठ-भेद—१. सिउँ=साथ। २. जो मधु चहत=जो दृष्टि-मधु चाहता था।

के वहाँ पहुँचते ही ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे योगियों को अप्सराओं ने घेर लिया हो। पद्मावती के नेत्र रूपी कटोरे प्रेम के मद से भरे हुए थे। जैसे ही उसकी नजर योगी (रत्नसेन) पर पड़ी, वह उसकी ओर एकटक देखती रह गई। योगी ने उसकी दृष्टि का स्वागत अपनी दृष्टि उसकी ओर उठा कर किया और अपने नेत्रों को उसके नेत्रों में गड़ा कर अपने प्राणों को उसके नेत्रों को समर्पित कर दिया। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि उसने उसे टकटकी बाँध देखकर अपने वियोग के कारण प्राणहीन से हो गए नेत्रों को पुनः जीवन प्रदान किया।) जो नेत्रों के इस मद के पाले पड़ा, उसी को यह मद चढ़ गया अर्थात् रत्नसेन उस प्रेम के मद से मदमत्त हो उठा। उस मद का एक प्याला (एक ही गहरी दृष्टि) पीते ही उसे अपने तन की सुध-बुध नहीं रही। गुरु गोरखनाथ का वह चेला अर्थात् पूर्ण संयमी योगी उस प्रेम मद के प्रभाव से चक्कर खाकर धरती पर गिर पड़ा और उसके प्राण शरीर को त्याग स्वर्ग चले गए। जो योगी (रत्नसेन) हाथ में किंगरी धारण कर वैरागी बना था, उसे मरते समय भी वही रट अर्थात् पद्मावती के नाम की रट लगी हुई थी।

जिसके मन को जो धन्धा (कार्य) अच्छा लगता है उसे स्वप्न में भी वही धन्धा दिखाई देता है अर्थात् वह उसी धन्धे के सपने देखा करता है। इसी मनचाहे धन्धे के कारण तपस्वी तपस्या करते हैं और अपने मन को प्रेम (ईश्वर प्रेम) के बन्धन में बाँध देते हैं, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति रात-दिन अपने लक्ष्य की प्राप्ति में ही लगा रहता है। राजा रत्नसेन को पद्मावती की धुन लगी हुई थी, इसीलिए बेहोशी की हालत में भी वह उसी के नाम को रट रहा था।

(२००)

पदमावति जस सुना बखानू। सहस-करा देखेसि तस भानू॥
मेलेसि चंदन मकु खिन जागा। अधिकौ सूत, सीर तन लागा॥
तब चंदन आखर हिय लिखे। भीख लेइ तुइँ जोग न सिखे॥
घरी आइ तब गा तूँ सोई। कैसे भुगुति परापति होई?॥
अब जौं सूर अहौ ससि राता। आएउ चढ़ि सो गगन पुनि साता॥
लिखि कै बात सखिन सौं कही। इहै ठाँव हौं बारति रही॥
परगट होहुँ तौ होइ अस भंगू। जगत दिया कर होइ पतंगू॥
जा सहुँ हौं चख हेरौं, सोइ ठाँव जिउ देइ।
एहि दुख कतहुँ न निसरौं, कौ हत्या असि लेइ? ॥१३॥

व्याख्या—पद्मावती ने रत्नसेन का जैसा वर्णन हीरामन से सुना था उसे वैसा ही सहस्र-कला-युक्त सूर्य के समान तेजस्वी पाया। उसने रत्नसेन को मूर्च्छित देख इस आशा से उसके शरीर पर चन्दन लगाया कि शायद क्षण भर के लिए इसे होश आ जायेगा, परन्तु शरीर में चन्दन की शीतलता पहुँचते ही वह और भी गहरी नींद में सो गया। तब उसने रत्नसेन के हृदय पर चन्दन से यह अक्षर लिखे—

"तूने भीख माँगने की युक्ति ही नहीं सीखी। जब अवसर (मिलन का अवसर) आया तो तू सो गया फिर तुझे भिक्षा की प्राप्ति कैसे हो ? अब यदि तू सूर्य के समान मुझ चन्द्रमा पर अनुरक्त होगा तो सातवें आसमान पर चढ़ कर आयेगा !" (मुसलमानों का खुदा सातवें आसमान पर रहता है।) ये बातें लिखकर पद्मावती ने अपनी सखियों से कहा कि मैं ऐसे ही अवसरों को बरकाती रहती थी। यदि मैं अपने को प्रकट कर दूँ तो रस में भंग हो जायेगा। यह जागने पर मेरे लिए दीपक के पतिंगे के समान तड़पने लगेगा।

मैं जिसकी ओर भी अपने नेत्र उठाती हूँ वह उसी स्थान पर अपने प्राण दे देता है। मैं इसी दुख के कारण कहीं निकलती नहीं हूँ कि ऐसी हत्या का पाप अपने सिर कौन ले !

(२०१)

कीन्ह पयान सबन्ह रथ हाँका। परबत छाँड़ि सिंघलगढ़ ताका ॥
बलि भए सबै देवता बली। हत्यारिन हत्या लेइ चली ॥
को अस हितू मुए गह बाहीं। जो पै जिउ अपने घट नाहीं ॥
जौ लहि जिए आपन सब कोई। बिनु जिउ कोइ न आपन होई[१] ॥
भाइ बंधु औ मीत पियारा। बिनु जिउ घरी न राखै पारा ॥
बिनु जिउ पिंड छार कर कूरा। छार मिलावै सो हित पूरा ॥
तेहि जिउ बिनु अब मरि भा राजा। को उठि बैठि गरब सौं गाजा ॥
परी कया भुइँ लोटे,[२] कहाँ रे जिउ बलि भीउँ।
को उठाइ बैठारै, बाजु पियारे जीव ॥१४॥

व्याख्या—पद्मावती ने रथ पर सवार हो अपनी सारी सखियों के साथ रथ हाँक वहाँ से (मंडप से) प्रस्थान किया और उस पर्वत को छोड़कर सिंहलगढ़ की ओर मुँह किया अर्थात् सिंहलगढ़ की ओर चल पड़ी। सारे बलवान देवता उस पर बलिदान हो गए अर्थात् उसके दिव्य दर्शन कर मृत्यु को प्राप्त हुए। ऐसी वह हत्यारिन सब की (देवता तथा रत्नसेन की) हत्या का पाप अपने सिर ले, वहाँ से चली। इस संसार में ऐसा कौन हितू (शुभचिन्तक) होता है जो मर जाने पर भी किसी की बाँह थाम कर सहारा देता है; अर्थात् जब शरीर में प्राण नहीं रहते तो कोई भी हितू सहारा नहीं देता। जब तक शरीर में प्राण रहते हैं, तब तक सब कोई अपने रहते हैं। परन्तु प्राण न रहने पर कोई भी अपना नहीं रहता। भाई-बन्धु, मित्र और प्रियजन बिना प्राण के शरीर को घड़ी भर भी अपने पास नहीं रख सकते। तुरन्त अन्त्येष्टि-क्रिया करने को उतवाले हो उठते हैं। बिना प्राण के यह शरीर मिट्टी का कूड़ा है। वही सच्चा हितैषी है जो उस प्राणहीन शरीर को शीघ्रातिशीघ्र मिट्टी में मिला दे।

पाठ-भेद—१. सबै निरापन होई=सभी पराए हो जाते हैं। २. रोवै।

(अन्त्येष्टि क्रिया कर दे ।) ऐसे उस प्राण के अभाव में अब वह राजा मर गया था। अब कौन उठकर बैठेगा और गर्व के साथ गर्जना करेगा ?

राजा रत्नसेन की काया (शरीर) धरती पर पड़ी लोट रही थी। अब वह भीम और बलि के समान बलवान प्राण कहाँ था ? अब उस प्यारे प्राण के बिना इस काया को कौन उठाकर बैठाए ?

टिप्पणी—(१) डा० अग्रवाल ने 'बलि भए सबै देवता बली'—पंक्ति का अर्थ करते हुए लिखा है कि—'राजा द्वारा पद्मावती के दर्शन से पहले शिव और देवता उसके दिव्य सौन्दर्य से मृतप्राय हो चुके थे। अब उसके भौतिक सौन्दर्य से रत्नसेन चेतनाशून्य हो गया। इस प्रकार जब अध्यात्म रूप का आकर्षण कम हुआ और सौन्दर्य भौतिक रूप के धरातल पर उतर आया, तो देवता पुनः प्रकृतिस्थ हुए। इसी की ओर कवि का संकेत है, मानो रत्नसेन की भीम बलि पाकर देवताओं का बल लौट आया।'

(२) 'बलि भीउँ'—शब्दों का अर्थ भी डा० अग्रवाल ने 'भीम' अर्थात् भयंकर बलि माना है। उस युग में राजा की बलि भीम अर्थात् भयंकर बलि मानी जाती थी। पद्मावती राजा की भयंकर बलि लेकर चली गई थी, इसलिए उस बलि द्वारा सन्तुष्ट हो जाने पर उस बलि लेने वाली देवी का घातक प्रभाव अन्य देवताओं पर से हट गया था, इसीलिए वे पुनः जीवित हो उठे थे।

(२०२)

पदमावति सो मँदिर पईठी। हँसत सिंघासन जाइ बईठी ॥
निसि सूती सुनि कथा बिहारी। भा बिहान कह सखी हँकारी ॥
देव पूजि जस आइउँ काली। सपन एक निसि देखिउँ, आली ॥
जनु ससि उदय पुरुब दिसि लीन्हा। औ रवि उदय पछिउँ दिसि कीन्हा ॥
पुनि चलि सूर चाँद पहँ आवा। चाँद सुरुज दुहुँ भएउ मेरावा ॥
दिन और रात भए जनु एका। राम आइ रावन-गढ़ छेकाँ ॥
तस किछु कहा न जाइ निखेधा। अरजुन-बान राहु गा बेधा ॥
जानहुँ लंक सब लूटी,[1] हनुवँ बिधँसी बारि।
जागि उठिउँ अस देखत, सखि ! कहु सपन बिचारि ॥१५॥

व्याख्या—पद्मावती लौट कर आई और अपने महल में प्रवेश कर हँसती हुई सिंहासन पर जा बैठी। रात होने पर अपनी सखियों द्वारा उस विहार (सैर-सपाटे) की कथा सुनती हुई सो गई। प्रभात होने पर उसने अपनी सखी को बुलाया और कहा कि—जब मैं कल देव-पूजन कर लौटी तो हे सखी ! रात को मैंने एक सपना देखा। ऐसा लगा, जैसे चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदय हुआ हो और सूर्य पश्चिम

पाठ-भेद—१. लूसी=मटियामेंट कर डाली।

दिशा से। फिर सूर्य चलकर चन्द्रमा के पास आया और चन्द्रमा और सूर्य का मिलन हो गया। ऐसा लगा जैसे रात-दिन मिलकर एक हो गए हों अथवा राम ने रावण का गढ़ घेर लिया हो। इसमें ऐसी कोई निषिद्ध अर्थात् बुरी बात तो नहीं कही जा सकती। हाँ, ऐसा प्रतीत हुआ—मानो अर्जुन ने अपने बाण से राधावेध किया हो, अर्थात् रोहू नामक मछली को बेध दिया हो।

ऐसा जान पड़ा मानो सारी लंका लूट ली गई हो और हनुमान ने रावण की पुष्पवाटिका का विध्वंस कर डाला हो। ऐसा देखते ही मैं जाग गई। हे सखी! अब इस स्वप्न का विचार कर मुझे इसका फल बता।

टिप्पणी—(१) चन्द्रमा का पूर्व दिशा में तथा सूर्य का पश्चिम दिशा में उदय होना इस बात की ओर संकेत करता है कि सूर्य (राजा रत्नसेन) पश्चिम दिशा अर्थात् भारतवर्ष से चल कर पूर्व दिशा में उदय हुए (सिंहलद्वीप भारत के पूर्व में माना गया है) चन्द्रमा (पद्मावती) से मिलने के लिए आया। राम द्वारा रावण-गढ़ का घेरा जाना तथा हनुमान द्वारा किया गया विध्वंस भावी विग्रह का सूचक है और अर्जुन द्वारा राधावेध करना द्रौपदी के समान पद्मावती को स्वयंवर में प्राप्त करने का सूचक है।

(२) 'जानहु लंक…बारि'—पंक्ति का गूढ़ार्थ इस प्रकार लिया जा सकता है कि जैसे सारी लंका (अथवा लंक=कटि) लुट गई हो और वाटिका रूपी बाला मर्दित कर डाली गई हो। यहाँ संभोग के समय की क्रिया-विशेष तथा बाला का पति द्वारा मर्दन किए जाने के प्रति सकेत है।

(२०३)

सखी सो बोली सपन-बिचारू। कालिह जो गइहु देव के बारू॥
पूजि मनाइहु बहुतै भाँती[1]। परसन आइ भए तुम्ह राती॥
सूरुज पुरुष चाँद तुम रानी। अस बर देउ मेरावै आनी॥
पच्छिउँ खंड कर राजा कोई। सो आवा बर तुम्ह कहँ होई॥
किछु पुनि जूझ लागि तुम्ह रामा। रावन सौं होइहि सँगरामा॥
चाँद सुरुज दुहुँ होइ बियाहू। बारि बिधंसव बेधब राहू॥
जस ऊषा कहँ अनिरुध मिला। मेटि न जाइ लिखा पुरबिला॥
सुख सोहाग जो तुम्ह कहँ, पान फूल रस भोग।
आजु कालिह भा चाहै, अस सपने क सँजोग॥१६॥

व्याख्या—पद्मावती के स्वप्न को सुनकर उसकी सखी स्वप्न-विचार कर बोली कि कल जो तुम देवता के द्वार (मन्दिर) पर गई थीं और तुमने अनेक प्रकार से विनती कर देवता को मनाया था, उसी से वह देवता रात के समय तुम पर प्रसन्न हुए थे। इस स्वप्न का विचार यह है कि सूर्य पुरुष अर्थात् पति है और तुम चन्द्रमा

पाठ-भेद—१. बिनाती=बिनती की।

हो। देवता ने ऐसे ही वर से तुम्हारा मिलन कराया है। पश्चिम दिशा का कोई राजा आकर तुम्हारा वर बनेगा। हे रानी! फिर तुम जैसी रमणी को प्राप्त करने के लिए उसे थोड़ा-सा युद्ध करना पड़ेगा, वही मानो राम का रावण से संग्राम होगा। चन्द्रमा और सूर्य का परस्पर विवाह होगा। पुष्प-वाटिका का विध्वंस होगा और रोहू मछली का वेध किया जायेगा, अर्थात् पति द्वारा तुम्हारा खूब मर्दन किया जायेगा और तुम्हारे साथ संभोग किया जायेगा। जिस प्रकार उषा और अनिरुद्ध का मिलन हुआ था, उसी प्रकार तुम्हारा और उस राजा का मिलन होगा। पूर्व जन्म का लिखा हुआ लेख किसी भी प्रकार नहीं मिटाया जा सकता; अर्थात् तुम दोनों के भाग्य में विधाता ने यही लिख दिया है।

तुम्हारे भाग्य में सुहाग का सुख और पान-फूल, रस का भोग लिखा हुआ है, अर्थात् ये सारी वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त होंगी। इस स्वप्न का फल आज-कल ही में, अर्थात् अत्यन्त शीघ्र ही मिलने वाला है।

२१

राजा रत्नसेन-सती-खंड

(२०४)

कै बसंत पदमावति गई। राजहि तब बसंत सुधि भई।
जो जागा न बसंत न बारी। ना वह खेल, न खेलनहारी॥
ना वह ओहि कर रूप सुहाई। गै हेराइ, पुनि दिस्टि न आई॥
फूल झरे, सूखी फुलवारी। दीठि परी उकठी सब बारी॥
केइ यह बसत बसंत उजारा ?। गा सो चाँद, अँथवा लेइ तारा॥
अब तेहि बिनु जग भा अँधकूपा। वह सुख छाँह, जरौं दुख-धूपा॥
बिरह-दवा को जरत सिरावा ?। को पीतम सौं करै मेरावा ?॥
हिये देख तब चंदन खेवरा, मिलि कै लिखा बिछोव।
हाथ मींजि सिर धुनि कै, रोवै जो निचिंत अस सोव॥१॥

व्याख्या—वसन्तोत्सव को मनाकर पद्मावती जब चली गई, तब राजा रत्नसेन को वसन्त की सुधि आई अर्थात् उसे होश आया। ('कुछ वसन्त की भी खबर है'—यह मुहावरा होश-हवाश के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है। जायसी ने यहाँ इसी मुहावरे का प्रयोग किया है।) जब वह जागा तो न तो वहाँ वसन्त का ही उत्सव मनाया जा रहा था और न वह बाला (पद्मावती) ही वहाँ थी। (यहाँ 'बारी' शब्द में श्लेष है, अर्थात् बाला अथवा फुलवारी। पद्मावती वसन्त थी और उसकी सखियाँ फुलवारी में खिले फूल।) अब न वह वसन्त का खेल था और न उस खेल को खेलने वाली खिलाड़िनें थीं। न उसका वह सुहाना रूप था। वह खो गई थी और फिर दिखाई तक न दी। फूल झड़ गए थे, फुलवारी सूख गई थी। उसे सारी फुलवारी उखड़ी हुई, सूख कर नष्ट हो गई दिखाई दी। भाव यह है कि पद्मावती और उसकी सखियों के चले जाने से राजा के मन की सारी उमंगें मारी गईं और उसे चारों ओर नीरसता दिखाई पड़ने लगी। वह सोचने लगा कि इस बसे हुए अर्थात् खिले हुए वसन्त को किसने उजाड़ दिया। वह चन्द्रमा चला गया और अपने तारागणों को अपने साथ लेकर अस्त हो गया; अर्थात् पद्मावती अपनी सखियों के साथ चली गई। अब उसके बिना राजा को यह संसार अन्धे कुएँ के समान प्रतीत होने लगा। वह तो सुख की छाया में निवास करती है और मैं यहाँ दुख की धूप में जल रहा हूँ, अर्थात् वह तो

सुख से जा सोई और मैं वियोग की ज्वाला में जल रहा हूँ। मेरी इस विरह की दावाग्नि को कौन ठंडा करे ? कौन प्रियतम से मेरा मिलन कराये ?

इसके बाद उसने अपने हृदय पर लिखे हुए चन्दन के उन अक्षरों को देखा, जिसमें मिलकर बिछोह होने की बात लिखी थी। उसे पढ़कर राजा सोचने लगा कि अवसर आने पर भी जो निश्चिन्त होकर, बेखबर होकर इस प्रकार सोता रह जाता है वह अन्त में हाथ मलकर, सिर धुनता रोता रहता है।

टिप्पणी—अलंकार—रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

(२०५)

जस बिछोह जल मीन दुहेला। जल हुँत काढ़ि अगिनि महँ मेला ॥
चंदन-आँक दाग हिय परे। बुझहिं न ते आखर परजरे ॥
जनु सर-आगि होइ हिय लागे। सब तन दागि सिंघ बन दागे ॥
जरहिं मिरिग बन-खँड तेहि ज्वाला। औ ते जरहिं बैठ तेहि छाला ॥
कित ते आँक लिखे जौं सोवा। मकु आँकन्ह तेइ करत बिछोवा[1] ॥
जस दुसंतहि साकुंतला। मधवानलहि काम-कंदला ॥
भा बिछोह जस नलहि दमावति। नैना मूँदि छपी पदमावति ॥
आइ बसंत जो छपि रहा, होइ फूलन्ह के भेस।
केहि बिधि पावौं भौंर होइ, कौन गुरू-उपदेस ॥२॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन मन-ही-मन विलाप करने लगा कि जिस प्रकार मछली को जल का बिछोह असह्य कष्टकारक होता है, उसी प्रकार का दुख मुझे हो रहा है, मानो मछली को जल में से निकाल कर अग्नि के भीतर डाल दिया गया हो। (राजा सुप्तावस्था में चन्दन की शीतलता और स्वप्न में पद्मावती के सान्निध्य का सुख ले रहा था और जागने पर उसे विरह की असह्य ज्वाला दग्ध करने लगी।) हृदय पर लिखे हुए वे चन्दन के अक्षर उसके हृदय पर विरह की ज्वाला के कारण काले पड़ गए एवं जलने के दाग के समान पीड़ा दे रहे थे। वे अक्षर बुझते नहीं थे, बल्कि और भी अधिक प्रज्वलित हो रहे थे। भाव यह है कि चन्दन के अक्षर उसे पद्मावती की स्मृति दिला-दिला कर और भी अधिक व्याकुल कर रहे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो उसके हृदय को अग्निबाण माद कर बेध दिया गया हो जिसने उसके सारे शरीर को दाग कर, वन में जा सिंहों को भी दाग दिया था। (यहाँ सिंहों के शरीर पर पाये जाने वाले काले दागों तथा धारियों से अभिप्राय है। चीते के शरीर पर काली धारियाँ तथा बाघ और तेंदुए के शरीर पर काले धब्बे होते हैं। यहाँ जायसी का अभिप्राय

पाठ-भेद—१. मकु आँकत नहिं करत बिछोवा=इससे तो यह अच्छा होता कि वह बिछोह करते हुए भी इन अक्षरों को नहीं लिखती।

इन्हीं से है।) उस अग्निबाण से लगी ज्वाला के ही कारण मृग वन-खंड में जल रहे हैं अर्थात् व्याकुल हो इधर-उधर भागते फिर रहे हैं। (यहाँ जायसी का अभिप्राय वन में लगी दावाग्नि से है जो इन्हीं अग्निबाणों द्वारा लगी है।) और जो उन हिरणों की मृगछाला पर बैठते हैं, अर्थात् उन पर बैठकर तपस्या करते हैं, वे भी (ईश्वर के वियोग में) निरन्तर जलते रहते हैं। जब मैं सो रहा था तो किसने किधर से आकर मेरे हृदय पर ये अक्षर लिख दिए। कदाचित् इन्हीं अक्षरों ने उससे मेरा विछोह कराया है। जिस प्रकार दुष्यन्त और शकुन्तला का, माधवानल और कामकंदला का तथा नल और दमयन्ती का विछोह हुआ था, उसी प्रकार यह मेरा और पद्मावती का विछोह है। पद्मावती मेरे नेत्र मूँदते उसी प्रकार छिप गई, जिस प्रकार दयमन्ती को सोता देख नल उसे छोड़कर चला गया था।

मेरा वह वसन्त (अर्थात् सखियों सहित पद्मावती) आया था, मेरी मनोकामना पूर्ण होने का अवसर आया था, परन्तु वह वसन्त इन फूलों के वेश में छिप गया; अर्थात् इन फूलों में पद्मावती का सौन्दर्य समा गया। अब मैं किस गुरु से उपदेश प्राप्त कर भ्रमर बन, किस प्रकार उस पुष्प को (पद्मावती को) प्राप्त करूँ; अर्थात् अब कौन मुझे उसे प्राप्त करने की युक्ति बतायेगा।

टिप्पणी—(१)—'जस बिछोह······मेला'—में उपमा। 'जनु सर-आगि········छाला'—में उत्प्रेक्षा। 'आइ·······भेस'—में रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

(२) दुष्यन्त-शकुन्तला, नल-दमयन्ती तथा माधवानल-कामकन्दला की प्रेम-कथायें प्रसिद्ध कथायें हैं। माधवानल कामकन्दला की कथा को लेकर अवधी, गुजराती और राजस्थानी में कई प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए हैं।

(२०६)

रोवै रतन-माल जनु चूरा। जहँ होइ ठाढ़, होइ तहँ कूरा॥
कहाँ बसंत औ कोकिल-बैना। कहाँ कुसुम अलि बेधा नैना॥
कहाँ सो मूरति परी जो डीठी। काढ़ि लिहेसि जिउ हिये पईठी॥
कहाँ सो बेस दरस जेहि लाहा। जौं सुबसंत करीलहि काहा ?॥
पात-बिछोह रूख जो फूला। सो महुआ रोवै अस भूला॥
टपकै महुअ आँसु तस परहीं। होइ महुआ बसंत ज्यों झरहीं॥
मोर बसंत सो पदमिनि बारी। जेहि बिनु भगउ बसंत उजारी॥
पावा नवल बसंत पुनि, बहु आरति बहु चोप।
ऐस न जाना अंत ही, पात झरहिं, होइ कोप॥३॥

शब्दार्थ—कहाँ सो देस····लाहा=वसन्त के दर्शन से लाभ उठाने वाला अच्छा देश चाहिए, सो कहाँ है—(शुक्लजी)। परहीं=गिरते हैं। चोप=चाह।

व्याख्या—पद्मावती के वियोग में राजा रत्नसेन रोने लगा। उसके नेत्रों से टपकते हुए रक्त के आँसू इस प्रकार गिर रहे थे, मानो रत्नों (माणिक्य) की माला टूट गई हो और उसके रत्न एक-एक कर नीचे टपक रहे हों। वह जहाँ खड़ा होता वहीं पृथ्वी पर उन आँसुओं का ढेर सा लग जाता था। राजा विलाप करता हुआ कहने लगा कि वह वसन्त और कोकिल के समान सुन्दर वचन अब कहाँ हैं ? वह केतकी का पुष्प कहाँ है, जिसने मेरे नेत्र रूपी भ्रमर को बेध कर अपने पास अटका लिया था ? (यहाँ पद्मावती केतकी का रूप है।) वह मूर्ति कहाँ गई जो मुझे दिखाई दी थी ? उसने मेरे हृदय में घुसकर मेरे प्राणों को निकाल लिया है, अर्थात् वह मेरे प्राणों को अपने साथ लेकर कहाँ चली गई ? वसन्त के दर्शन से लाभ उठाने वाला देश चाहिए, सो कहाँ है ? करील के वन में सुन्दर वसन्त के आने से ही क्या लाभ ? (शुक्लजी)। भाव यह है कि पद्मावती वसन्त के समान आई थी, परन्तु मैं उसी प्रकार उसके इस आगमन का लाभ न उठा सका, जिस प्रकार करील वसन्त ऋतु से कोई लाभ न उठा, पुष्पविहीन ही बना रहता है। (करील वसन्त में न खिलकर ग्रीष्म-ऋतु में खिलता है।) जिस प्रकार महुआ का वृक्ष पतझड़ हो जाने के उपरान्त फूलता है और जब उस पर पत्ते नहीं रह जाते तो वह उन पत्तों के वियोग में रोता हुआ-सा अपने फूल रूपी आँसुओं को टपकाता रहता है, वैसे ही मैं पद्मावती के आगमन से लाभ न उठाकर अब उसके वियोग में रोता हुआ पछता रहा हूँ। (उसके आँसू महुए के फूलों की तरह झड़ रहे थे—मानो महुआ वसन्त बनकर झड़ रहा हो।) मेरा वसन्त तो वह पद्मावती बाला थी जिसके बिना अब मुझे वसन्त उजड़ा हुआ सा लग रहा है।

बहुत दुख उठाने और बहुत कामना करने के उपरान्त मेरे जीवन में वह नवल वसन्त आया था। परन्तु मैं यह नहीं जानता था कि अन्त में पत्ते झड़ जायेंगे, अर्थात् मेरी सारी आशायें नष्ट होकर मिट्टी में मिल जायेंगी और मुझे उसके क्रोध का भागी बनना पड़ेगा। (यहाँ क्रोध से संकेत पद्मावती द्वारा लिखे गए चन्दन के उन अक्षरों से है कि—"घरी आइ तब गा तू सोई। कैसे भुगुति परापति होई।" इन अक्षरों से पद्मावती का क्रोध प्रकट हो रहा था। रतनसेन उसी को याद कर दुखी हो रहा था।)

(२०७)

अरे मलिछ बिसवासी देवा। कित मैं आइ कीन्ह तोरि सेवा॥
आपनि नाव चढ़ै जो देई। सो तौ पार उतारै खेई॥
सुफल लागि पग टेकेउँ तोरा। सुआ क सेंबर तू भा मोरा॥
पाहन चढ़ि जो चहै भा पारा। सो ऐसैं बूड़ मँझधारा॥
पाहन सेवा कहाँ पसीजा ?। जनम न ओद[1] होइ जो भीजा॥

पाठ-भेद—१. पलुहै=अंकुरित होना।

बाउर सोइ जो पाहन पूजा। सकत को भार लेइ सिर दूजा ?॥
काहे न पूजिय सोइ निरासा। मुए जिवत मन जाकरि आसा॥
सिंघ तरेंदा जेइ गहा, पार भऐ तेहि साथ।
ते पै बूड़े बाउरे, भेड़-पूँछि जिन्ह हाथ॥४॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन पद्मावती के वियोग में विलाप करता हुआ अन्त में क्रोध में भर उस देवता (महादेव) पर फट पड़ा, जिसकी वह अपनी आशा पूर्ति के लिए अब तक पूजा करता रहा था। वह उस देवता को सम्बोधन कर कहने लगा कि अरे म्लेच्छ, विश्वासघाती देवता! मैंने किधर से और क्यों आकर तेरी सेवा की ? जो अपनी नाव पर किसी को चढ़ा लेता है, वह खेकर उसे पार लगा देता है। मैंने शुभ फल की प्राप्ति की आशा से तेरे चरणों का आश्रय लिया था परन्तु तू मेरे लिए उसी प्रकार निष्फल सिद्ध हुआ जिस प्रकार सेंमल का फल तोते के लिए सारहीन सिद्ध होता है। जो पत्थर पर सवार होकर नदी को पार करना चाहता है, वह इसी प्रकार मँझधार में जाकर डूब जाता है, जिस प्रकार मैं तेरा सहारा लेने के कारण कहीं का न रहा। भला पत्थर भी सेवा करने से कहीं पसीजता है, द्रवित होता है ? चाहे उसे जीवन भर जल से भिगोते रहो, फिर भी उस पर जरा सी भी नमी नहीं टिकती अर्थात् वह सदैव सूखा अर्थात् अप्रभावित ही बना रहता है। इसलिए वह व्यक्ति पागल है जो पत्थर को पूजता है, क्योंकि दूसरे के भार को (उत्तरदायित्व को) अपने सिर कौन ले सकता है ? इसलिए उस आशा-हीन निर्लिप्त अर्थात् ईश्वर की सेवा कर अपने हृदय में निश्चिन्त होकर क्यों न सोया जाय जिसको जीते-मरते सदैव आशा रहती है, अर्थात् उस एक ईश्वर की ही सेवा क्यों न की जाय जो समान भाव से सब की आशा, सदैव पूरी करता है।

जो शक्तिशाली तैरने वाले सिंह की पूँछ पकड़ लेते हैं वे उसी के साथ पार जा लगते हैं परन्तु वे पागल बीच में ही डूब जाते हैं जो भेड़ जैसे निर्बल पशु की पूँछ पकड़ पार होने का प्रयत्न करते हैं। भाव यह है कि निर्बल पत्थर के देवता का सहारा न लेकर उस सर्वशक्तिमान ईश्वर की ही आराधना करने से ही इस संसार सागर से पार होना सम्भव है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—द्रष्टान्त।

(२) इस पद में मूर्ति-पूजा का स्पष्ट खंडन एवं विरोध व्यंजित हुआ है।

(३) परन्तु इस पद को मूर्ति-पूजा का खंडन न करने वाला मानकर व्यक्ति-विशेष की विशेष मानसिक स्थिति का चित्रण भी माना जा सकता है। कभी-कभी व्यक्ति-विशेष असफल मनोरथ हो अपने पूज्य की भी अवहेलना करता पाया जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा इस पद के भाव को रत्नसेन की निराशाजनक क्षुब्ध मानसिक स्थिति का प्रतीक माना जा सकता है।

(२०८)

देव कहा सुनु, बउरे राजा। देवहि अगुमन मारा गाजा ॥
जौं पहिलेहि अपने सिर परई। सो का काहुक धरहरि करई ॥
पदमावति राजा कै बारी। आइ सखिन्ह सह बदन[1] उघारी ॥
जैस चाँद गोहने सब तारा। परेउँ भुलाइ देखि उजियारा ॥
चमकहि दसन बीजु कै नाई। नैन-चक्र जमकात भवाँई ॥
हौं तेहि दीप पतंग होइ परा। जिउ जम काढ़ि सरग लेइ धरा ॥
बहुरि न जानौ दहुँ का भई। दहुँ कविलास कि कहुँ अपसई ॥
अब हौं मरौं निसाँसी, हिये न आवै साँस ॥
रोगिया की को चालै, बैदहि जहाँ उपास ? ॥५॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन की क्रोध भरी बातों को सुनकर देवता ने कहा कि हे बावले राजा ! सुन, देवता पर तो पहले ही वज्रपात हो चुका था । जिसके अपने सिर पर पहले ही विपत्ति आ पड़े तो वह किसी दूसरे का बचाव क्या कर सकता है ? राजकुमारी पद्मावती ने अपनी सखियों सहित यहाँ आकर जब अपना मुख उघाड़ा तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो असंख्य तारागणों के समूहों से घिरा हुआ चन्द्रमा उतर आया हो। मैं तो उसके रूप के प्रकाश को देख अपनी सुध-बुध खो मूर्च्छित हो गया। उसकी दन्तावलि बिजली के समान चमक रही थी और नेत्र रूपी चक्र यमराज के खाँड़े के समान चारों ओर घूम रहे थे। भाव यह है कि पद्मावती जिसकी तरफ भी नेत्र उठा कर देख लेती थी वही मर जाता था। मैं उसके रूप रूपी दीपक पर पतिंगे के समान लुब्ध होकर जल गया और यमराज मेरे प्राणों को निकाल कर स्वर्ग में ले गया। इसके बाद क्या हुआ, यह मुझे नहीं मालूम। वह पद्मावती स्वर्ग चली गई या कहीं गायब हो गई ।

अब मैं बेदम होकर मरा जा रहा हूँ, मुझ से साँस तक नहीं ली जा रही । रोगी की कोई क्या बात चलाए जब कि स्वयं वैद्य को ही उपवास करना पड़ रहा हो, अर्थात् जब कि मुझे स्वयं अपने लाले पड़े हुए थे तो मैं तेरी सहायता क्या करता ?

टिप्पणी—(१) अलंकार—द्रष्टान्त ।

(२) यहाँ जायसी ने देवताओं को साधारण मानवों के समान पद्मावती के रूप से विचलित होता हुआ दिखाकर भारतीय काव्य की उस प्राचीन परम्परा का पालन किया है जिसके अनुसार मानव-कुमारियों को प्राप्त करने के लिए देवता गण भी स्वर्ग से उतर आते थे। इसलिए ऐसे पदों को हमें इस दृष्टि से नहीं ग्रहण करना चाहिए कि जायसी मुसलमान थे, इसलिए हिन्दू देवताओं का अपमान करते थे ।

पाठ-भेद—१ मंडप ।

(२०९)

आनहिं दोस देहुँ का काहू । संगी कया, मया नहिं ताहू ।।
हुता पियारा मीत बिछोई । साथ न लाग आपु गै सोई ।।
का मैं कीन्ह जो काया पोषी । दूषन मोहिं, आप निरदोषी ।।
फागु बसंत खेलि गइ गोरी । मोहि तन लाइ बिरह[1] कै होरी ।।
अब अस काह छार सिर मेलौं ? । छार जो होहुँ फाग तब खेलौं ।।
कित तप कीन्ह छाँड़ि कै राजू । गएउ अहार न भा सिध काजू ।।
पाएउ नहिं होइ जोगी जती । अब सर चढ़ौ जरौं जस सती ।।
आइ जो पीतम फिरि गा, मिला न आइ बसंत ।
अब तन होरी घालि कै, जारि करौं भसमंत ।।६।।

व्याख्या—मैं किसी दूसरे को दोष क्यों दूँ ! मेरे इस साथी शरीर को भी मुझ पर दया नहीं आई। इसने मेरे प्यारे मित्र से मेरा बिछोह करवा कर मुझे मार डाला। इसने मेरा तनिक भी साथ नहीं दिया, स्वयं सो गया। (राजा के मूर्च्छित हो जाने से अभिप्राय है।) मैंने ऐसे इस शरीर का पालन-पोषण कर क्या लाभ पाया ? इसमें सारा दोष मेरा ही है। हे देवता ! आप निर्दोष हैं। वह गोरी (पद्मावती) वसन्त का फाग खेल कर स्वयं तो चली गई और मेरे हृदय में विरह की होली जला गई। अब मैं इस प्रकार अपने सिर में राख क्या डालता रहूँ। अब तो मैं तभी उसके साथ फाग खेलूँगा जब स्वयं क्षार (भस्म) हो जाऊँगा। मैंने राज्य छोड़कर तपस्या क्यों की ? न तो मैं पेट भर भोजन ही कर सका और न मेरा कार्य ही सिद्ध हुआ। (योगी भूखा रहकर तपस्या करता है।) मैं योगी-यती बनकर उसे नहीं पा सका। अब मैं चिता पर चढ़ूँगा और सती के समान जल कर भस्म हो जाऊँगा।

मेरा प्रियतम मेरे पास आकर वापस चला गया। वसन्त आया अर्थात् पद्मावती आई और मैं उससे मिल भी न सका। अब मैं अपने इस शरीर को होली में डाल जला कर भस्म कर दूँगा, क्योंकि इसी शरीर ने मेरे साथ विश्वासघात किया था।

(२१०)

ककनूँ पंखि जैस सर साजा । तस सर साजि[2] जरा चह राजा ।।
सकल देवता आइ तुलाने । दहुँ का होइ देव असथाने ।।
बिरह-अगिनि बज्रागि असूझा । जरै सूर न बुझाए बूझा ।।
तेहि के जरत जो उठै बजागी । तीनउँ लोक जरैं तेहि लागी ।।
अबहि कि घरी सो चिनगी छूटै । जरहिं पहार पाहन सब फूटै ।।
देवता सबै भसम होइ जाहीं । छार समेटे पाउब नाहीं ।।

पाठ-भेद—१. आगि दै=आग लगाकर। २. बैठि।

धरती सरग होइ सब ताता । है कोई एहि राख विधाता ।।
मुहमद चिनगी पेम[1] कै, सुनि महि गगन डेराइ ।
धन बिरही औ धन हिया, तहँ अस अगिनि समाइ ।।७।।

व्याख्या—जिस प्रकार ककनू पक्षी अपनी चिता स्वयं ही सजाता है, उसी प्रकार चिता सजा कर राजा रत्नसेन जल जाना चाहता है। यह जानकर सारे देवता-गण वहाँ आकर यह देखने के लिए एकत्र हो आए कि देवस्थान पर यह क्या हो रहा है। विरह की अग्नि वज्राग्नि के समान अत्यन्त भयङ्कर रूप से जल रही है। राजा रत्नसेन उस अग्नि में जल रहा है और समझाने से भी नहीं मानता। उसके जलने से जो भयङ्कर अग्नि उठ रही है उसके कारण तीनों लोक जल रहे हैं। अभी घड़ी भर में इसमें से जो चिनगारी छूटेंगी उससे पहाड़ जल उठेंगे और उनके पत्थर टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। उस अग्नि में सारे देवता भस्म हो जायेंगे, फिर तो उनकी राख भी समेटे नहीं सिमटेगी। धरती और आकाश—दोनों तप्त हो उठेंगे। हे विधाता ! ऐसा कोई है जो इस ज्वाला से संसार की रक्षा कर सके।

जायसी कहते हैं कि प्रेम की चिनगारी का नाम सुनते ही धरती और आसमान भय से काँपने लगते हैं। वह विरही और उसका वह हृदय धन्य है, जिसमें ऐसी अग्नि समाई रहती है।

टिप्पणी—इस पद में विरहाग्नि की भयङ्करता दिखाना ही कवि का अभिप्रेत है।

(२११)

हनुवँत बीर लंक जेइ जारी । परवत उहै अहा रखवारी ।।
बैठि तहाँ होइ लंका ताका । छठएँ मास देइ उठि हाँका ।।
तेहि कै आगि उहौ पुनि जरा । लंका छाड़ि पलंका परा ।।
जाइ तहाँ वै कहा सँदेसू । पारबती औ जहाँ महेसू ।।
जोगी आहि बियोगी कोई । तुम्हरे मँडप आगि तेइ बोई ।।
जरा लँगूर सु राता उहाँ । निकसि जो भागि भएउँ करमुहाँ ।।
तेहि बज्रागि जरै हौं लागा । बजरअंग जरतहि उठि भागा ।।
रावन लंका हौ दही, वह हौं दाहै आव ।
गए पहार सब औटि कै, को राखै गहि पाव[2] ।।८।।

व्याख्या—वीरवर हनुमान, जिन्होंने लंका जलाई थी, उसी पर्वत पर (जहाँ महादेव का मंडप था) बैठे रखवाली किया करते थे। वह वहाँ बैठे सदैव लंका की

पाठ-भेद—१. अनँग=कामदेव। २. कनै पहार होत है रावट, को राखै गहि पाइ= कनक का पर्वत, जहाँ तुम्हारा मन्दिर है, अब रावट (कसौटी का काला पत्थर) हुआ जा रहा है।

ओर दृष्टि लगाये रहते थे और छठे महीने उठ कर हाँक लगाया करते थे। राजा रत्नसेन की उस अग्नि से वह भी जलने लगे और लंका छोड़कर पलंका द्वीप में जा गिरे। उन्होंने वहाँ जाकर शिव और पार्वती से, जो वहीं निवास करते थे, यह सन्देश कहा कि कोई एक ऐसा वियोगी आया है, जिसने तुम्हारे मंडप में आग का बीज बो दिया है अर्थात् आग लगा दी है। उस अग्नि में मेरी पूँछ (लाँगूल) जल गई, इससे पूँछ का स्थान लाल हो गया और अग्नि से पीड़ित होकर मैं वहाँ से निकल भागा और झुलस जाने से मेरा मुँह काला हो गया। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि उस अग्नि से जो लंगूर जले, उनके मुँह लाल हो गए और जो बचकर निकल भागे उनके मुँह काले हो गए। (बन्दर लाल मुँह के तथा लंगूर काले मुँह के होते हैं।) मैं भी, जिसके अंग वज्र के समान कठोर हैं, उस वज्र के समान दाहक भयंकर अग्नि से जलने लगा और उठकर वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

मैंने रावण की लंका जलाई थी, परन्तु यह अग्नि तो मुझे भी जलाने आई है। उसकी भयंकर ताप से सारे पहाड़ गर्म होकर खलबला उठे हैं। अब ऐसे उस योगी के पैरों पड़कर कौन उसे रोकेगा।

टिप्पणी—(१) एलोरा की पहाड़ी में स्थित कैलास मन्दिरों में से बीच के मन्दिर के दोनों ओर दो बड़े गुफा मडप हैं, जिनमें से एक को रावण की लंका तथा दूसरे को पलंका कहा जाता है। एलोरा की गुफाओं की प्राचीनता को देखते हुए यह विश्वास करना पड़ता है कि पलंका सम्बन्धी जायसी की कल्पना मौलिक न होकर किसी पूर्व प्रचलित किंवदन्ती का ही रूप है।

(२) हनुमान लंका के चारों ओर घिरे समुद्र के तट पर स्थित एक पहाड़ पर बैठे रखवाली किया करते थे कि कहीं राक्षस लंका से उतर कर इस पार न आ जायँ। उनकी हाँक से डर कर राक्षस इधर नहीं आ पाते—ऐसी प्रचलित किंवदन्ती है। जायसी ने पीछे 'सात-समुद्र खंड' में भी इसका उल्लेख किया है।

२२

पार्वती-महेश-खंड

(२१२)

ततखन पहुँचे आइ महेसू । बाहन बैल, कुस्टि कर भेसू ॥
काँथरि कया हड़ावरि बाँधे । मुंड-माल औरे हत्या काँधे ॥
सेसनाग जाके कँठमाला । तनु भभूति, हस्ती कर छाला ॥
पहुँची रुद्र-कबँल कै गटा । ससि माथे और सुरसरि जटा ॥
चँवर घंट और डँवरू हाथा । गौरा पारबती धनि साथा ॥
और हनुवँत बीर सँग आवा । धरे भेस बाँदर जस छावा ॥
अवतहि कहेन्हि न लावहु आगी । तेहि कै सपथ जरहुँ जेहि लागी ॥
की तप करै न पारेहु, की रे नसाएहु जोग ? ।
जीयत जीउ कस काढ़हु, ? कहहु सो मोहिं बियोग ॥१॥

व्याख्या—हनुमान की बातों को सुनकर शिवजी उसी क्षण सिंहलद्वीप आ पहुँचे। वे बैल पर सवार थे और उन्होंने कोढ़ी का वेश धारण कर रखा था। उन्होंने शरीर पर कथरी और हड्डियों की माला धारण कर रखी थी। सामने मुण्डों की माला और कन्धे पर हत्या थी। गले में शेषनाग की कण्ठमाला पड़ी हुई थी, शरीर पर भस्म लगी थी और कमर में हाथी की खाल पहने हुए थे। कलाई में रुद्राक्ष के गोल दानों की मालायें पहुँची के रूप में पड़ी थीं। माथे पर चन्द्रमा और जटा में गंगा विराजमान थी। हाथ में चँवर, घण्टा और डमरू था। साथ में गौरा पार्वती स्त्री के रूप में थीं। और उनके साथ वीर हनुमान आए जो बन्दर का वेश धारण किए सुशोभित हो रहे थे। शिवजी ने आते ही राजा रतनसेन से कहा कि—"तुम अपनी चिता में आग मत लगाओ। तुम्हें उसी की (पद्मावती की) शपथ है, जिसके लिए तुम आग में भस्म हो जाना चाह रहे हो।"

"अरे ! क्या तुम अपनी तपस्या पूरी न कर सके, या तुम्हारी योग-साधना नष्ट हो गई ? तुम जीवित रहते हुए ही अपने प्राण क्यों दे रहे हो ? मुझसे अपने वियोग की बात बताओ।"

टिप्पणी—शिव के कन्धे पर हत्या थी। जायसी ने ऊपर इसका उल्लेख किया

है—'हत्या काँधे' इस 'हत्या' शब्द को लेकर विद्वानों ने विभिन्न कल्पनायें की हैं। शुक्ल जी ने तो स्पष्ट लिख दिया था—'कवि ने शिव के कन्धों पर हत्या की कल्पना क्यों की, यह स्पष्ट नहीं होता।' परन्तु जायसी ने आगे पदसंख्या २१३ व २१६ में पुनः इस हत्या का उल्लेख किया है। सुधाकर जी ने इन दोनों हत्याओं को गंगा और चन्द्रमा के रूप में माना है जो सदैव शिव के साथ रहकर उनके और पार्वती के एकांत मे बाधा डाल कर हत्या के रूप में बने रहते हैं। यदि ऐसा था तो शेष नाग को हत्या क्यों नहीं माना गया ? अतः यह कल्पना भ्रान्त है।

पदमावत के टीकाकार शिरेफ ने शिव द्वारा सती के मृत शरीर को कन्धे पर रखना तथा कामदेव को भस्म करना, ये दो हत्यायें मानी हैं। परन्तु शिव ने सती की हत्या नहीं की थी। अतः एक ही हत्या रह जाती है। इसलिए यह भी संगत नहीं बैठता।

तीसरा मत डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' का है। उन्होंने शिवजी द्वारा गणेश की हत्या करना और फिर उन्हें जीवित करने के लिए हाथी का सिर काटना, ये दो हत्याएँ मानी हैं। हत्या निर्दोष को नहीं लगती है, यदि वह ब्रह्म-हत्या न हो तो। इसलिए इस व्याख्या को संगत माना जा सकता है।

चौथा मत है डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का। आपका कहना है कि जब ब्रह्मा अपनी पुत्री सरस्वती पर आसक्त हो उसके पीछे भागे तो शिव ने उनका सिर काट लिया था। यह हुई ब्रह्म-हत्या नम्बर एक। दूसरी हत्या शिव ने कामदेव को भस्म कर की थी। कामदेव को भी ब्राह्मण माना गया है। यह हुई हत्या नम्बर दो। इसको भी संगत माना जा सकता है।

शिव की ब्रह्म-हत्या का उल्लेख जायसी की कल्पना नहीं है। क्षेमेन्द्र ने भी अपने 'देशोपदेश' नामक ग्रन्थ में शिव की ब्रह्म-हत्या का उल्लेख किया है।

(२१३)

कहेसि मोहिं बातन्ह बिलमावा। हत्या केरि न डर तोहि आवा।।
जरैं, देहु, दुख जरौं अपारा। निस्तर पाइ जाउँ एक बारा[1] ।।
जस भरथरी लागि पिंगला। मो कहँ पदमावति सिंघला।।
मैं पुनि तजा राज औ भोगू। सुनि सो नावँ लीन्ह जप जोगू।।
एहि मढ़ सेएउँ आइ निरासा। गई हो पूजि, मन पूजि न आसा।।
मैं यह जिउ डाढ़े पर दाधा। आधा निकसि रहा, घट आधा।।
जो अधजर सो विलंब न लावा। करत बिलंब बहुत दुख पावा।।
एतना बोल कहत मुख, उठी बिरह कै आगि।
जौं महेस न बुझावत, जाति सकल जग लागि।।२।।

पाठ-भेद—१. जरौं एक बारा=एक बार ही जल जाऊँ।

व्याख्या—शिव की बातों को सुनकर राजा रत्नसेन क्रुद्ध होकर उनसे कहने लगा कि—तू मुझे बातों में क्यों बहला रहा है। क्या तुझे हत्या का डर नहीं लगता ? भाव यह है कि तुझ पर दो हत्यायें पहले से ही सवार हैं, फिर तू मेरी हत्या करने का पाप अपने सिर क्यों लेना चाहता है। तेरे रोक देने से मैं जीवन भर तड़प-तड़प कर मरूँगा और मेरी उस भयंकर मौत की हत्या तुझे ही लगेगी। इसलिए मुझे चैन के साथ मर जाने दे।

मेरा शरीर जल रहा है, मैं अपार दुख में जला जा रहा हूँ। इसलिए चाहता हूँ कि एक बार ही जलकर इस भयंकर विरहाग्नि के दाह से सदैव के लिए छुटकारा पा जाऊँ। जैसे भर्तृहरि के लिए रानी पिंगला विरह का कारण बनी थी, उसी प्रकार मेरे लिए सिंहलद्वीप की पद्मावती विरह का कारण बनी है। मैंने उसके लिए राज्य और भोग-विलास—सब त्याग दिए और उसका नाम सुनते ही उसे प्राप्त करने के लिए तपस्या और योग का मार्ग अपनाया। मैंने इसी मठ में आकर उस आशाहीन अर्थात् निर्लिप्त को प्राप्त करने के लिए देवता की सेवा की। वह यहाँ आई और पूजन करके चली भी गई परन्तु मेरे मन की आशा पूरी न हो सकी। मैंने विरहाग्नि में जलते हुए अपने इस प्राण को इसी कारण चिता में डालकर और जलाया। यह प्राण आधा निकल गया है और आधा अभी शरीर में है। जो व्यक्ति आधा जल जाता है, वह पूरा जलने में और अधिक विलम्ब नहीं लगाता, क्योंकि यदि वह विलम्ब करता है तो उसे बहुत दुख उठाना पड़ता है।

राजा रत्नसेन ने अपने मुख से इतनी बात कही ही थी कि उसमें से विरह की अग्नि निकलने लगी। यदि शिव उस अग्नि को न बुझाते तो वह सारे संसार में लग जाती।

(२१४)

पारवती मन उपना चाऊ। देखौं कुँवर केर सत भाऊ॥
ओहि एहि बीच, की पेमहि पूजा। तन मन एक, कि मारग दूजा॥
भई सुरूप जानहुँ अपछरा। बिहँसि कुँवर कर आँचर धरा॥
सुनहुँ कुँवर मोसौं एक बाता। जस मोंहि रंग न औरहि राता॥
औ बिधि रूप दीन्ह है तोकाँ। उठा सो सबद जाइ सिव-लोका॥
तब हौं तोपहँ इन्द्र पठाई। गइ पदमिनि, तैं अछरी पाई॥
अब तजु जरन, मरन, तप जोगू। मौंसौं मानु जनम भरि भोगू॥
हौं अछरी कबिलास कै, जेहि सरि पूज न कोइ।
मोहि तजि सँवरि जो ओहि मरसि, कौन लाभ तोहि होइ॥३॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन की बातों को सुनकर पार्वती के मन में यह चाव उत्पन्न हुआ कि मैं इस राजकुमार के सत्य भाव (प्रेम में एकनिष्ठता) की परीक्षा

लूँ। उसके (पद्मावती के) और इसके बीच में कोई भेद है या इनका प्रेम पूर्णता को प्राप्त हो चुका है, तन-मन से ये दोनों एक हैं या इन दोनों के मार्ग परस्पर भिन्न हैं ? यह सोच कर पार्वती ने अप्सरा का सुन्दर रूप धारण कर लिया और हँसकर रत्नसेन का पल्ला पकड़ लिया। और बोली कि हे राजकुमार ! मेरी एक बात सुन ! जैसा मेरा रंग सुन्दर है, वैसा और किसी का भी नहीं है और विधाता ने मुझे भी सुन्दर रूप वाला बनाया है। जब तेरे विलाप का शब्द उठा तो वह उठकर शिवलोक अर्थात् स्वर्ग तक जा पहुँचा। उसे सुनकर इन्द्र ने मुझे तेरे पास भेजा। पद्मिनी तो चली गई परन्तु उसकी जगह तुझे अप्सरा प्राप्त हुई है। इसलिए अब तू यह वियोग में जलना, मरना, तप और योग की साधना करना बन्द कर और मेरे साथ जीवन भर भोग-विलास कर।

मैं स्वर्ग की अप्सरा हूँ जिसके समान सुन्दरी अन्य कोई भी इस संसार में नहीं है। यदि मुझे त्याग कर तू उस पद्मावती का स्मरण कर मर जाना चाहता है तो ऐसा करने से तुझे क्या लाभ होगा ?

(२१५)

भलेहि रंग अछरी तोर राता। मोहिं दूसरे सौं भाव न बाता ।।
मोहि ओहि सँवरि मुए अस लाहा। नैन जो देखसि पूछसि काहा ? ।।
अबहिं ताहि जिउ देइ न पावा। तोहि असि अछरी ठाढ़ि मनावा ।।
जौं जिउ देंइहौं ओहि कै आसा। न जानौं काह होइ कबिलासा ।।
हौं कबिलास काह लै करऊँ ? । सोइ कबिलास लागि जेहि मरऊँ ।।
ओहि के बार जीवनहिं बारौं। सिर उतारि नेवछावरि डारौं ।।
ताकरि चाह कहै जो आई। दोउ जगत तेहि देहुँ बड़ाई ।।
ओहि न मोरि किछु आसा, हौं ओहि आस करेउँ।
तेहि निरास पीतम कहँ, जिउ न देउँ का देउँ ।।४।।

व्याख्या—अप्सरा का रूप धारण किए पार्वती की उन लुभावनी बातों को सुन रत्नसेन ने उनसे कहा कि हे अप्सरा ! भले ही तेरा रूप सुन्दर हो, परन्तु मुझे तो किसी भी दूसरी स्त्री से बात करना भी अच्छा नहीं लगता। मुझे उसका स्मरण करते हुए मरने से जो लाभ प्राप्त होगा उसे तू प्रत्यक्ष अपनी आँखों से ही देख रही है, फिर पूछती क्या है ? अभी तो मैं उसके लिए अपने प्राण दे भी नहीं पाया हूँ कि तुझ जैसी अप्सरा मेरे सामने खड़ी हो मुझे मना रही है, मेरी खुशामद कर रही है। यदि मैं उसकी आशा में अपने प्राण दे दूँगा तो न जाने स्वर्ग में क्या होगा, कैसी हलचल मच जायेगी ? मैं स्वर्ग लेकर क्या करूँगा ? मेरे लिए तो वही स्वर्ग है, जिसके लिए मैं मर रहा हूँ। मैं उसके द्वार पर केवल अपने प्राणों को ही न्यौछावर नहीं करूँगा, बल्कि अपना सिर काट कर उसके चरणों पर न्यौछावर कर दूँगा। जो मेरे पास आकर मुझे उसकी खबर सुनायेगा, उसका मैं दोनों लोकों में यश गाता फिरूँगा।

उसे (पद्मावती को) मुझसे कोई भी आशा नहीं है, अर्थात् वह मुझसे कुछ भी नहीं चाहती परन्तु मैं तो उसी की आशा करता हूँ, उसे ही चाहता हूँ। ऐसे अपने उस आशा रहित निर्लिप्त प्रियतम के लिए यदि मैं अपने प्राण न दूँ तो और क्या दूँ।

(२१६)

गौरइ हँसि महेस सौं कहा। निहचै एहि बिरहानल दहा॥
निहचै यह ओहि कारन तपा। परिमल पेम न आछै छपा॥
निहचै पेम-पीर यह जागा। कसे कसौटी कंचन लागा॥
बदन पियर जल ढभकहिं नैना। परगट दुवौ पेम के बैना॥
यह एहि जनम लागि ओहि सीझा। चहै न ओरहिं, ओहीं रीझा॥
महादेव देवन्ह के पिता। तुम्हरी सरन राम रन जिता॥
एहु कहँ तस मया करेहू। पुरवहु आस, कि हत्या लेहू॥
हत्या दुइ के चढ़ाए, काँधे बहु अपराध[1]।
तीसरा यह लेउ माथे, जौ लेवै कै साध॥५॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन की एकनिष्ठ प्रेम की बातें सुन कर पार्वती ने हँस कर शिव जी से कहा कि निश्चय ही यह विरहाग्नि में दग्ध हो रहा है, निश्चय ही यह उसी के कारण तपस्या कर रहा है, क्योंकि प्रेम की सुगन्धि कभी छिपी नहीं रहती अर्थात् जिस प्रकार फूलों की सुगन्धि बिना दिखाई दिए भी अपने अस्तित्व को प्रकट कर देती है उसी प्रकार इसके प्रेम की एकनिष्ठता स्वतः ही स्पष्ट हो रही है। निश्चय ही वह प्रेम की पीड़ा से व्याकुल हो जागरण कर रहा है। सोना कसौटी पर कसने से ही परखा जाता है। यह भी प्रेम की कसौटी पर खरा उतरा है। इसका मुख पीला पड़ गया है, नेत्र आँसुओं से डबडबाये रहते हैं। ये दोनों ही लक्षण इसके प्रेम की बात को स्पष्ट कर रहे हैं। यह इस जन्म में उसी की (पद्मावती की) खातिर जल रहा है। यह और किसी को भी नहीं चाहता, केवल उसी पर रीझा हुआ है। हे महादेव ! तुम देवताओं के पिता हो। तुम्हारी शरण में आने पर ही राम ने रण में विजय प्राप्त की थी। (राम ने लंका पर चढ़ाई करने से पहले महादेव की पूजा की थी।) इसलिए इस पर भी उसी प्रकार दया करो। या तो इसकी आशा पूर्ण करो या इसकी हत्या का पाप अपने सिर लो।

तुमने दो हत्याओं का बहुत बड़ा पाप तो अपने कन्धों पर ले ही रखा है, और यदि तुम्हारे मन में इस पाप को और भी अधिक बढ़ाने की आध (इच्छा) हो तो तीसरी हत्या इसकी भी अपने सिर पर ले लो, अर्थात् या तो इसकी इच्छा पूरी करो, नहीं तो इसकी हत्या का पाप भी तुम्हें ही लगेगा।

पाठ-भेद—१. काँधे अबहुँ न गे अपराध=तुम्हारे कन्धे पर चढ़ी हत्याओं का अपराध ही अभी तक दूर नहीं हुआ।

टिप्पणी—अलंकार—'परिमल······छपा'—में लोकोक्ति अलंकार।

(२१७)

सुनि कै महादेव कै भाखा। सिद्ध पुरुष राजै मन लाखा॥
सिद्धहि अङ्ग न बैठे माखी। सिद्ध पलक नहिं लावै आँखी॥
सिद्धहिं संग होइ नहिं छाया। सिद्धहि होइ भूख नहिं माया॥
जेहि जग सिद्ध गोसाईं कीन्हा। परगट गुपुत रहै को चीन्हा॥
बैल चढ़ा कुस्टी कर भेसू। गिरजापति सत आहि महेसू॥
चीन्है सोइ रहै जो खोजा। जस बिक्रम औ राजा भोजा॥
जो ओहि तंत सत्त[1] सौं हेरा। गएउ हेराब जो ओहि भा मेरा॥
बिनु गुरु पंथ न पाइय, भूलै सो जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सौं भेंट॥६॥

व्याख्या—महादेव की वाणी को सुनकर राजा रत्नसेन ने मन में पहचाना कि यह अवश्य कोई सिद्ध पुरुष है। सिद्ध पुरुष के शरीर पर मक्खी नहीं बैठती और न उसकी आँखों की पलकें ही कभी गिरती हैं। सिद्ध के शरीर की छाया भी नहीं पड़ती और न उसे भूख लगती है, और न किसी प्रकार का माया-मोह ही उसे सताता है। ईश्वर इस संसार में जिसे सिद्ध पुरुष बना देता है, वह प्रकट रहते हुए भी गुप्त रहता है और उसे कोई भी नहीं पहचान सकता। भाव यह है कि सिद्ध पुरुष शरीर से तो प्रकट रहता है परन्तु उसकी शक्ति संसार के लिए गुप्त ही रहती है। यह जो कोढ़ी का वेश धारण किए बैल पर चढ़ा हुआ पुरुष है यह निश्चित रूप से गिरजापति भगवान शंकर ही हैं। इन्हें तो वही पहचान सकता है जो इनकी खोज करता रहता है जैसे कि राजा विक्रमादित्य और राजा भोज ने इन्हें अपनी तपस्या के बल द्वारा ही पहचान लिया था। जो तंत्र-मंत्र और सत्य की साधना द्वारा उसके दर्शन पा लेता है, वह अपने को भूल जाता है (उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है)।

बिना गुरु की सहायता के सत्य-मार्ग नहीं मिल सकता। जो इस सिद्धान्त को नहीं मानता, वह भटकता फिरता है। योगी सिद्ध तभी हो पाता है जब गुरु गोरखनाथ से उसकी भेंट होती है; अर्थात् बिना गुरु गोरखनाथ के उपदेश के सिद्ध होना असम्भव है।

टिप्पणी—इस छन्द में जायसी ने गोरखनाथ के पंथ के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है। सूफियों पर हठयोगियों और सिद्धों का गहरा प्रभाव था। ऐसे पद इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं; साथ ही गुरु के सर्वाधिक महत्त्व पर भी प्रकाश पड़ता है।

पाठ-भेद—१. मंत्त=मंत्र।

(२१८)

ततखन रतनसेन गहबरा। रोउब छाँड़ि[1] पाँव लेइ परा॥
मातै पितै जनम कित पाला। जौ अस फाँद पेम गिउ घाला?॥
धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कै दीन्ह बिछोऊ॥
पदिक पदारथ कर-हुँत खोवा। टूटहिं रतन, रतन तस रोवा॥
गगन मेघ जस बरसै भला। पुहुमी पूरि सलिल बहि चला॥
सायर टूट, सिखर गा पाटा। सूझ न बार पार कहुँ घाटा[2]॥
पौन पानि होइ-होइ सब गिरई। पेम के फंद कोइ जनि परई॥
तस रोवै जस जिउ जरै, गिरै रकत औ माँसु।
रोवँ-रोवँ सब रोवहिं, सूत-सूत भरि आँसु॥७॥

व्याख्या—जब महादेव को रत्नसेन ने पहचान लिया तो वह अपने द्वारा उनकी की गई अवहेलना की बात सोच उद्विग्न हो उठा और उसने रोना छोड़कर महादेव के चरण पकड़ लिए और कहने लगा कि माता-पिता ने क्यों मुझे जन्म दिया था और फिर क्यों पाला था कि जिससे मेरे गले में प्रेम का ऐसा भयङ्कर फन्दा डाला गया। धरती और आसमान—दोनों आपस में मिले हुए थे, फिर किसने इन्हें अलग करके इनका विछोह कराया। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने हाथ में धारण किए तावीज को खोंकर व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार रत्नसेन पद्मावती को खोकर ऐसा रोया कि उसकी आँखों से माणिक्य (रत्न) के समान खून के आँसू टपक-टपक कर नीचे गिरने लगे।

उसके नेत्रों से आँसुओं की ऐसी अविरल धारा बह रही थी, मानो आसमान से मूसलाधार जल-वर्षा हो रही हो। उसके नेत्रों से बहे आँसुओं से सारी पृथ्वी भर गई और जल उसके ऊपर उमड़ कर बहने लगा। उस जल के प्रवाह से सागर अपनी मर्यादा त्याग उमड़ कर बहने लगा, पर्वतों के शिखर तक उस जल में डूब गये। चारों ओर इतना जल भर गया कि उसका कोई कूल-किनारा तक नहीं दिखाई पड़ता था। सब कुछ हवा और पानी हो-हो कर गिरने लगा, अर्थात् सारी पृथ्वी आँधी और पानी से नष्ट-भ्रष्ट होने लगी। प्रेम के फन्दे में भूल कर भी कभी कोई मत पड़ना। भाव यह है कि विरही का रोदन और गहरी साँस सारे संसार में भयङ्कर जलवृष्टि और तूफान का रूप धारण कर संहार का भयंकर दृश्य उपस्थित कर देती है, प्रलय आ जाती है, इसलिए किसी को भूल कर भी प्रेम नहीं करना चाहिए।

रत्नसेन इस प्रकार रो रहा था, मानो उसका हृदय जल रहा हो और उस दाह से जल-जल कर उसका रक्त और मांस आँसुओं के रूप में गल-गल कर टपक रहा हो। उसका एक-एक रोम रो रहा था और प्रत्येक रोम-कूप में आँसू भरे हुए थे।

पाठ-भेद—१. छाँड़ि डफारि=रोना बन्द कर। २. जरै पानि पाहन हिय फाटी= पत्थरों के हृदय फट कर पानी में जलने लगे।

टिप्पणी—(१) अलंकार—सम्बन्धातिशयोक्ति।

(२) 'गगन मेघ·······कहुँ घाटा'—पंक्तियों में जायसी ने प्रलय का एक लघु शब्द चित्र-सा अंकित कर अपनी कुशल काव्य-प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है।

(३) 'गिरै रकत और माँसू'– शब्दों द्वारा कवि ने फारसी ऊहात्मक शैली का प्रयोग कर एक प्रकार की वीभत्सता का सृजन किया है जो भारतीय सौन्दर्य-बोध के विपरीत है।

(२१९)

रोवत बूड़ि उठा संसारू। महादेव तब भएउ मयारू॥
कहेन्हि "न रोव, बहुत तैं रोवा। अब ईसर भा, दारिद खोवा॥
जो दुख सहैं होइ सुख ओकाँ। दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोका॥
अब तैं सिद्ध भएसि सिधि पाई। दरपन-कया छूटि गई काई॥
कहौं बात अब हौं उपदेसी। लागु पंथ, भूले परदेसी॥
जौं लगि चोर सैंधि नहि देई। राजा केरि न मूँसै पेई॥
चढ़ न जाइ बार ओहि खूँदी। परैं त सेंधि सीस-बल मूँदी॥

कहौं सो तोहि सिंहलगढ़, है खँड सात चढ़ाव।
फिरा न कोई जियत जिउ, सरग-पंथ देइ पाव" ॥८॥

शब्दार्थ—मयारू=दयालु, दयार्द्र। ईसर=ऐश्वर्यवान। काई=मलिनता। मूँसै पेई=रत्नपेटी या मंजूषा, मूसने पाता, लूटने पाता। खूँदी=कूद कर। परैत =गिर पड़े तो।

व्याख्या—राजा रत्नसेन के रोने से बहे आँसुओं के जल में सारा संसार डूबने लगा। यह देखकर महादेव उस पर कृपालु हो उठे। उन्होंने रत्नसेन से कहा—'अब मत रो, बहुत रो चुका है। अब तू अपने दारिद्रय को खोकर ऐश्वर्यवान हो उठा है; अर्थात् दीनता छोड़कर पराक्रम से काम ले। जो दुख सहता है, उसे सुख प्राप्त होता है। दुख के बिना न तो सुख ही मिलता है, और न कोई स्वर्ग ही जा पाता है। अब तू सिद्धि प्राप्त कर सिद्ध हो गया है, अर्थात् तेरी तपस्या की अवधि समाप्त हो चुकी है। अब तेरे शरीर रूपी दर्पण पर पड़ी हुई सांसारिक मलिनता रूपी काई छूट गई है, तू पूर्णतः निर्मल हो गया है। इसलिए हे भूले-भटके हुए परदेसी ! मैं अब तुझे उपदेश की अर्थात् ज्ञान की बात बताता हूँ। अब तू भटकना छोड़ अपने लक्ष्य तक पहुँचाने वाले सच्चे मार्ग पर अग्रसर हो। जब तक चोर राजा के महल में सेंध लगाकर भीतर नहीं घुसता, तब तक राजा की रत्न-मंजूषा (रत्नों की पेटी) को नहीं चुरा पाता। भाव यह है कि अब तू सीधे मार्ग का अनुसरण न कर गुप्त मार्ग से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न कर। एक बार में ही कूदकर राजद्वार के ऊपर नहीं चढ़ा जा

सकता, क्योंकि यदि ऐसा करते समय चढ़ने वाले का पैर फिसल जाता है तो वह सिर के बल अपने द्वारा बनाई गई उसी सेंध में गिर कर मर जाता है। उसके सिर से वह सेंध बन्द हो जाती है।

मैं तुझसे ऐसे उस सिंहलगढ़ का वर्णन करता हूँ जिसमें ऊपर चढ़ते समय मार्ग में सात खंड पार करने पड़ते हैं। स्वर्ग के पथ पर एक बार कदम बढ़ाने के बाद कोई भी वहाँ से जीवित नहीं लौटता।'

टिप्पणी—'मूसै पेई'—शब्द का अर्थ शुक्ल जी ने लिखा है—'मूसने पाता है' अर्थात् लूटने पाता है। परन्तु डा० अग्रवाल ने शिरेफ के आधार पर 'पेई' शब्द का अर्थ रत्नपेटी या मंजूषा माना है। भाव दोनों ही अर्थों का समान निकलता है। डा० अग्रवाल का कहना है कि प्राचीन अवधी भाषा में 'पेई' शब्द 'पेटी' के लिए प्रयुक्त होता था। हमने उन्हीं के आधार पर उपर्युक्त अर्थ दिया है।

(२२०)

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया।
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे। जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥
दसवँ दुवार गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका॥
भेदै जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि भेद, चढ़ै होइ चाँटी॥
गढ़ तर कुंड, सुरँग तेहि माहाँ[1]। तहँ वह पंथ कहौं तोहि पाहाँ॥
चोर बैठ जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी॥
जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेइ जो सरग-दूआरी, चढ़ै सो सिंघलदीप॥६॥

शब्दार्थ—छाया=लघु रूप, प्रतिबिम्ब। जझ=लड़ने से। पाँच कोटवारा= पाँच कोतवाल, पंच प्राण अथवा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह नामक पाँच मनोविकार। जो लहि……चाँटी=जो गुरु से भेद पाकर चींटी के समान धीरे-धीरे (योगियों के पिपीलिका मार्ग से) चढ़ता है। तोहि पाहाँ=तुझसे। पैंत=दाँव।

व्याख्या—इस पद में जायसी ने सिंहलगढ़ और पुरुष शरीर को एक समान बाँका अर्थात् पेचीदा बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार हठयोग द्वारा इस शरीर को साध कर सिद्धि प्राप्त की जाती है उसी प्रकार सिंहलगढ़ को विजय करने में भी उसी प्रकार अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

महादेव रत्नसेन को सिंहलगढ़ को विजय करने का रहस्य बताते हुए कहते हैं कि—

यह सिंहलगढ़ उसी प्रकार बाँका अर्थात् टेढ़ा है, जिस प्रकार का कि तेरा शरीर है। पुरुष का शरीर एक प्रकार से उसी गढ़ की छाया अर्थात् लघु रूप है। इस

पाठ-भेद—१. अवगाहा।

बात को तू अच्छी तरह से समझ ले। हठपूर्वक युद्ध करके इस गढ़ पर उसी प्रकार विजय प्राप्त नहीं की जा सकती जिस प्रकार हठयोग द्वारा इस शरीर को पूर्णतः अपने वश में करना असम्भव है। (यहाँ जायसी हठयोग का खंडन कर रहे हैं।) इस गढ़ पर वही विजय प्राप्त कर सकता है जो स्वयं ही इसके रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार आत्मज्ञान (आत्मानुभूति) प्राप्त होने पर ही इस शरीर पर पूर्ण विजय प्राप्त होती है, उसी प्रकार सिंहलगढ़ का पूर्ण रहस्य जान लेने पर ही उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस गढ़ में नौ ड्योढ़ियाँ हैं, जहाँ रात-दिन पाँच कोतवाल पहरा देते रहते हैं। (इस मानव शरीर में भी नौ इन्द्रियों के द्वार हैं जहाँ पर काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के पाँच रक्षक पहरा देते रहते हैं; अर्थात् इन मार्गों द्वारा भीतर घुसना अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करना तब तक असम्भव है, जब तक इन पाँच मनोविकारों को वश में नहीं कर लिया जाता।) उस गढ़ का एक दसवाँ द्वार और है जो गुप्त है। वहाँ तक की चढ़ाई अगम्य और मार्ग अत्यन्त पेचीदा है। (शरीर में ब्रह्मरन्ध्र नामक एक दसवाँ गुप्त स्थान है जहाँ तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है अर्थात् मेरुदंड के पाँच चक्रों से आगे ब्रह्मांड या मस्तिष्क में प्रवेश करने के लिए जो महारन्ध्र है उसमें सुषुम्ना नाड़ी तिरछी होकर प्रवेश करती है।) कोई बिरला व्यक्ति ही उस घाटी का रहस्य जानकर वहाँ तक पहुँच सकता है। जो इस रहस्य को जान लेता है। वह चींटी के समान धीरे-धीरे उस पर चढ़ जाता है। (गुरु से रहस्य जान कर शिष्य उस कठिन स्थान तक पहुँच जाता है और एक-एक चक्र को वश में करता हुआ पिपीलिका गति से आगे बढ़ता है, अर्थात् जो शिष्य अपने गुरु से षट्चक्र भेदन और कुण्डलिनी-सिद्धि का रहस्य जान लेता है, वही पिपीलिका मार्ग से ऊपर चढ़ता है।)

इस गढ़ के नीचे एक कुंड है और उस कुंड में एक सुरंग है। उसी में होकर गढ़ के ऊपर जाने का मार्ग है, मैं यह रहस्य तुझे बताता हूँ। (इस शरीर रूपी दुर्ग में सबसे नीचे मूलाधार चक्र रूपी कुंड है और उसमें सुषुम्ना नाड़ी रूपी सुरंग है। ब्रह्मांड में पहुँचने का मार्ग उसी में होकर गया है। इसी सुषुम्ना मार्ग द्वारा कुंडलिनी ब्रह्मांड तक पहुँचती है।) जिस प्रकार चोर सम्हल कर सेंध लगाकर उसमें घुस जाता है और जुआरी सम्हल कर दाँव लगाता है, अथवा जैसे समुद्र में गोताखोर गोता लगाने पर ही सीप प्राप्त करता है, ऐसे ही जो उस स्वर्ग-द्वार को ढूँढ़ लेता है, वहीं ऐसे सिंहलगढ़ में प्रवेश पा सकता है। (गोताखोर की भाँति जो साधक योग-साधना करता है उसी को मणि संज्ञक शुक्र की प्राप्ति होती है। सहस्रार दल कमल में मणि पद्म या मणि कर्णिका नामक एक स्थान होता है। जो सुषुम्ना के इस स्वर्गद्वार नामक प्रवेश द्वार को पा लेता है, वही ऊर्ध्वगति से अन्तिम सिद्धि-स्थान तक पहुँचता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणी और समाधि के द्वारा कुंडलिनी जगायी जाती है और सुषुम्ना मार्ग द्वारा ऊपर चढ़ती हुई ब्रह्मांड तक पहुँच जाती है।)

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—समासोक्ति।

(२) इस छन्द के प्रारम्भ में जायसी यह तथ्य प्रतिपादित करते हैं कि केवल योग की साधना करने से अमर धाम नहीं प्राप्त किया जा सकता। उसकी प्राप्ति तो आत्मज्ञान द्वारा ही सम्भव होती है। मानव-इन्द्रियों पर सदैव काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह नामक मनोविकारों का पहरा रहता है जो साधक को आत्मज्ञान प्राप्त करने से रोकते रहते हैं। गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव होती है।

(३) जायसी ने इस छन्द में सिंहलगढ़ का स्वरूप मानव-शरीर जैसा ही बताया है। उनका भाव यह है कि जिस प्रकार बिना गुरु के इस शरीर की साधना करना असम्भव है, उसी प्रकार बिना भेदिए से भेद प्राप्त किए सिंहलगढ़ के ऊपर चढ़ना भी असम्भव है। यहाँ महादेव उस भेदिए का कार्य कर रहे हैं।

(४) जायसी ने महादेव द्वारा सिंहलद्वीप के माध्यम से मानव-शरीर की दुरूहता का वर्णन इसलिए करवाया है, क्योंकि महादेव हठयोगियों के आदि देवता और पूर्ण सिद्ध माने गए हैं। वे ही इस साधना के आदि गुरु हैं।

(२२१)

दसवँ दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥
जाइ सौ तहाँ साँस मन बंधी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी॥
तू मन नाथु मारि कै साँसा। जौ पै मरहि अबहिं करु नासा॥
परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासौं राता॥
"हौं हौं" कहत सबै मत खोई। जौ तू नाहिं आहि सब कोई॥
जियतहि जुरै[1] मरै एक बारा। पुनि का मीचु, को मारै पारा ?॥
आपुहि गुरू सौ आपुहि चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला॥
आपुहि मीच जियनि पुनि, आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आप करै जो चाहै, कहाँ सौ दूसर कोइ॥१०॥

शब्दार्थ—ताल=ताड़। लेखा=समान। बंधी=बाँधकर। कान्ह=कृष्ण। मारि=प्राणायाम करके। अबहि—पाठान्तर—आपुहि=अहं।

व्याख्या—महादेव राजा रत्नसेन को सिंहलगढ़ की दुर्गमता का रहस्य बताकर उसे विजय करने का मार्ग बताते हुए उसे जीवन का मोह त्याग साहस के साथ आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं।

उस दुर्ग का दसवाँ द्वार ताड़ वृक्ष के समान ऊँचा है। उसे वही देख सकता है जो अपनी दृष्टि को उलट कर उसे देखने का प्रयत्न करता है; अर्थात् जो व्यक्ति संसार से अपनी दृष्टि हटाकर पूर्ण रूप से उसी की ओर प्रवृत्त हो जाता है वही उस द्वार को पार कर सकता है। (यहाँ सांसारिक माया-मोह से मुक्ति पाने के प्रति संकेत

पाठ-भेद—१. जौ रे।

है ।) वहाँ पर वही जा सकता है जो अपने मन को, साँस को बाँध ले, अपने वश में कर ले, उसी प्रकार जैसे कृष्ण ने यमुना के भीतर घुसकर कालिय नाग को बाँध लिया था । (यहाँ आध्यात्मिक पक्ष में प्राणायाम द्वारा मन और साँस को एकाग्र करने से तात्पर्य है तथा गढ़ के पक्ष में यह भाव है कि उस ताल के नीचे बनी सुरंग में होकर वही व्यक्ति भीतर जा सकता है जो अपने मन को स्थिर कर ले तथा साँस साध सके ।) इसलिए हे राजा ! तू प्राणायाम की क्रिया द्वारा अपने मन तथा साँस को अपने वश में कर आत्म-दमन कर । ऐसा करते समय यदि तू मर जायेगा तो तेरे अहं का नाश हो जायेगा । (और तू जीवन्मुक्त हो जायेगा ।)

प्रकट रूप में अर्थात् बाहरी रूप से तू लोकाचार अर्थात् सांसारिक विषयों सम्बन्धी बातें करता रह परन्तु गुप्त रूप से तू उसी का (पद्मावती का) ध्यान करता रह जिसमें तू अनुरक्त है । (ऐसा करने से कोई तेरे गुप्त उद्देश्य पर संदेह नहीं कर सकेगा और तू गुप्त मार्ग से गढ़ के भीतर पहुँच जायेगा ।) 'मैं, मैं' कहते-कहते अर्थात् अहंकार का प्रदर्शन करते-करते सब लोग पागल हो जाते हैं । यदि तू अपने इस अहं को नष्ट कर दे तो तुझे सब कुछ प्राप्त हो जायेगा । अहं के नष्ट हो जाने पर ही सिद्धि प्राप्त होती है । जो जीवित रहते अपने लक्ष्य की प्राप्ति में प्राणपण से जुट जाता है वही सफलता प्राप्त करता है । मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि मृत्यु बार-बार न आकर केवल एक बार ही आती है । भाव यह है कि जो मरजीवा बनकर साधना के गहन क्षेत्र में प्रवेश करता है वह कायरों के समान बार-बार न मर कर एक बार ही मरता है अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है और जो जीवन्मुक्त हो जाता है उसके लिए फिर मृत्यु का कोई भय नहीं रह जाता । फिर उसे कोई भी नहीं मार सकता । ऐसी स्थिति आ जाने पर वह स्वयं ही गुरु और स्वयं ही चेला बन जाता है, अर्थात् पूर्ण सिद्ध बन जाने पर, उसका द्वैतभाव नष्ट हो जाने पर वह एकाकी रहते हुए भी सब में अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है, 'सोऽहम्' की स्थिति में आ जाता है ।

फिर वह स्वयं ही मृत्यु और स्वयं ही जीवन बन जाता है, स्वयं ही तन और मन हो जाता है, जो चाहता है वही स्वयं करता है, उसके लिए फिर किसी भी दूसरे का अस्तित्व नहीं रह जाता । वह विश्वात्म रूप हो जाता है ।

टिप्पणी—इस पद में कवि मानव को योग-साधना द्वारा अपना अहं विसर्जन कर, द्वैत भावना से मुक्त हो विश्वात्म रूप बन जाने का उपदेश दे रहा है । ऐसा करने के लिए प्राणायाम आदि हठयोग की क्रियाओं की अपेक्षा उसके मन की साधना पर अधिक बल दिया है । वही सिद्धि प्राप्त करता है जो अपने प्राण को अपने मन के वश में कर ले । मन का संकल्प वज्र सा दृढ़ हो जाने पर प्राण या कर्म स्वतः तदनुकूल हो जाता है । दुर्ग के पक्ष में इस भाव को इस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है कि रत्नसेन यदि अपने मन में दुर्ग को विजय करने का वज्र संकल्प कर लेगा तो फिर उसके मार्ग की सारी बाधायें हट जायेंगी ।

२३

राजा-गढ़-छेंका-खंड

(२२२)

सिधि-गुटिका राजै जब पावा। पुनि भइ सिद्ध गनेस मनावा ॥
जब संकर सिधि दीन्ह गुटेका। परी हूल, जोगिन्ह गढ़ छेंका ॥
सबैं पदमिनी देखहिं चढ़ी। सिंघल छेंकि उठा होइ मढ़ी[1] ॥
जस घर भरे[2] चोर मत कीन्हा। तेहि विधि सेंधि चाह गढ़ दीन्हा ॥
गुपुत चोर जो रहै सो साँचा। परगट होइ जीउ नहिं बाँचा ॥
पौरि-पौरि गढ़ आग केवारा। औ राजा सौं भई पुकारा ॥
जोगी आइ छेंकि गढ़ मेला। न जनौं कौन देस तें खेला ॥
भएउ रजायसु देखौ, को भिखारि अस ढीठ।
बेगि बरज तेहि लावहु, जन दुइ पठैं बसीठ ॥१॥

शब्दार्थ—सिधि-गुटिका = सिद्धि-गुटिका; बाँधे हुए पारे की गुटिका सिद्धि-गुटिका कहलाती है, इसे मुख में रखने से उड़ने की शक्ति आ जाती है।

व्याख्या—महादेव ने राजा रत्नसेन को सिंहलगढ़ के सारे भेद बताकर उसे गढ़ के भीतर घुस जाने के लिए प्रोत्साहित किया और उसे सिद्धि-गुटिका दे दी।

जब राजा रत्नसेन को सिद्धि-गुटिका प्राप्त हो गई तो उसने गणेश की वन्दना कर अपने कार्य की सिद्धि के लिए आगे कदम बढ़ाया। जब महादेव ने राजा को सिद्धि-गुटिका दे दी तो चारों ओर हलचल मच गई और योगियों ने जाकर सिंहलगढ़ को चारों ओर से घेर लिया। वहाँ उठे हुए कोलाहल को सुनकर गढ़ की सारी पद्मिनियाँ गढ़ के ऊपर चढ़कर इस कौतुक को देखने लगीं। उन्होंने देखा कि सिंहलगढ़ योगियों द्वारा घिरा हुआ ऐसा लग रहा था, मानो वह गढ़ न होकर योगियों का मठ हो। जिस प्रकार किसी भरे-पूरे घर में घुसने के लिए चोर विचार करता है कि किधर

पाठ-भेद—१. सिंघल घेरि गईं उठि मढ़ी = सिंहलगढ़ को घिरा हुआ देख वे स्त्रियाँ वहाँ से हटकर महादेव की मढ़ी (मंडप) में चली गईं। २. जस खराभरा = त्वरा, तेजी की मति।

सेंध लगाई जाय, उसी प्रकार राजा गढ़ में सेंध लगाने की बात सोच रहा था कि किधर से भीतर घुसा जाय। वही सच्चा अर्थात् पक्का चोर होता है जो अपने को गुप्त रख सके, क्योंकि प्रकट हो जाने पर उसके प्राणों की खैर नहीं रहती। योगियों द्वारा गढ़ को घेर लिए जाने का समाचार मिलते ही सारी ड्यौढ़ियों के किवाड़ बन्द कर दिये गए और गढ़ के रक्षकों ने राजा के पास जा सूचना दी कि योगियों ने आकर गढ़ को चारों ओर से घेर लिया है। न जाने ये लोग किस देश से घूमते हुए यहाँ आ पहुँचे हैं।

यह समाचार सुन राजा ने आज्ञा दी कि ऐसा कौन ढीठ भिखारी है। दो व्यक्तियों को दूत बनाकर उनके पास तुरन्त भेजो जो उन्हें जाकर ऐसा करने से रोक दें।

(२२३)

उतरि बसीठन्ह आइ जोहारे। "की तुम जोगी, की बनिजारे ॥
भएउ रजायसु आगे खेलहिं। गढ़ तर छाँड़ि अनत होइ मेलहिं ॥
अस लागेहु केहि के सिख दीन्हे। आएहु मरै हाथ जिउ लीन्हे ॥
इहाँ इंद्र अस राजा तपा। जबहिं रिसाई सूर डरि छपा ॥
हौ बनिजार तौ बनिज बेसाहौ। भरि बैपार लेहु जो चाहौ ॥
हौ जोगी तो जुगुति सौं माँगौ। भुगुति लेहु, लै मारग लागौ ॥
इहाँ देवता अस गए हारी। तुम्ह पतिंग को अहौ भिखारी ॥
तुम्ह जोगी बैरागी, कहत न मानहु कोहु।
लेहु माँगि किछु भिच्छा, खेलि अनत कहुँ होहु" ॥२॥

व्याख्या—राजाज्ञा सुनकर दूत गढ़ से उतर कर नीचे आए और योगियों के पास जा उन्हें प्रणाम किया और पूछा कि—'तुम लोग योगी हो या कोई व्यापारी ? राजा की आज्ञा हुई है कि तुम यहाँ से आगे जाकर कहीं विचरण करो। गढ़ के नीचे से हट कर किसी दूसरे स्थान पर अपना अड्डा जमाओ। तुम किसके सिखाने से ऐसे काम में लगे हुए हो ? तुम अपने प्राणों को हथेली पर रखे यहाँ मरने के लिए आए हो ? यहाँ इन्द्र के समान शक्तिशाली राजा का शासन है। जब वह राजा क्रोध करता तो सूर्य भी भयभीत हो छिप जाता है। यदि तुम लोग व्यापारी हो तो अपना माल बेचो और जो चाहो वह माल यहाँ से खरीद कर भर लो। और यदि तुम योगी हो तो युक्ति के साथ अर्थात् ढंग से सीधी तरह भिक्षा माँगो और भिक्षा लेकर अपना रास्ता पकड़ो। यहाँ देवता तक हार कर भाग गए हैं तो फिर पतिंगों के समान तुम जैसे भिखारियों की क्या औकात है।

तुम योगी और वैरागी हो इसलिए हमारे कहने का बुरा मत मानना। तुम लोग भिक्षा माँगकर जो मिले उसे लेकर कहीं दूसरी जगह जाकर विचरण करो।

(२२४)

"आनु[1] जो भीखि हौं आएउँ लेई। कस न लेउँ जौ राजा देई ॥
पदमावति राजा कै बारी। हौं जोगी ओहि लागि भिखारी ॥
खप्पर लेइ बार भा माँगौं। भुगुति देइ लेइ मारग लागौं ॥
सोई भुगुति-परापति भुजा[2]। कहाँ जाउँ अस बार न दूजा ॥
अब घर इहाँ जीउ ओहि ठाऊँ। भसम होउँ बरु तजौ न नाऊँ ॥
जस बिनु प्रान पिंड है छूँछा। धरम लागि कहिहौं जो पूछा ॥
तुम्ह बसीठ राजा के ओरा। साखी होहु एहि भीख निहोरा ॥
जोगी बार आव सो, जेहि भिच्छा कै आस।
जो निरास दिढ़ आसन, कित गौने केहु पास ?" ॥३॥

व्याख्या—सिंहलगढ़ के राजा गंधर्वसेन के भेजे दूतों की बातें सुनकर राजा रत्नसेन ने उनसे कहा कि—

मैं जो भीख लेने आया हूँ उसे लाकर दो। अगर राजा मुझे वही भिक्षा, मेरी मनचाही भिक्षा देगा तो मैं कैसे नहीं लूँगा ? राजा की राजकुमारी पद्मावती है। मैं योगी उसी के लिए भिखारी बनकर आया हूँ। मैं खप्पर हाथ में ले दरवाजे पर खड़ा माँग रहा हूँ। मुझे भिक्षा दे दो तो मैं अपने रास्ते चला जाऊँगा। मेरे लिए तो इस भिक्षा की प्राप्ति ही भोग है। ऐसा दूसरा दरवाजा और कौन-सा है जहाँ जाकर मैं यह भीख माँगू। अब मेरा शरीर तो यहाँ है परन्तु मेरे प्राण वहीं अर्थात् पद्मावती के पास हैं। मैं उसके लिए जल कर भस्म हो जाऊँगा, परन्तु उसका नाम लेना नहीं छोड़ूँगा। जिस प्रकार प्राण के बिना यह शरीर निस्सार होता है, इसी प्रकार उसके बिना मेरा जीवन निस्सार है। जो तुमने मुझसे पूछा है, उसका उत्तर मैंने सत्य-सत्य दिया है, अर्थात् धर्म की शपथ खाकर ही मैं तुमसे सत्य बात कह रहा हूँ। तुम राजा के पक्ष के दूत हो, इसलिए मेरी इस भीख के सम्बन्ध में राजा के सामने मेरे साक्षी बनना अर्थात् मेरी सत्यता का प्रमाण देना।

वही योगी भिक्षा की आशा से दरवाजे पर आता है, जिसे भिक्षा लेनी होती है। परन्तु जो आशा या कामना रहित होता है, वह अपने आसन पर अर्थात् अपने स्थान पर अटल बैठा रहता है। वह किसी के भी यहाँ किसी भी आशा से नहीं जाता। भाव यह है कि मैं पद्मावती को प्राप्त करने की इच्छा से ही यहाँ तुम्हारे दरवाजे पर भिखारी के रूप में उपस्थित हुआ हूँ।

(२२५)

सुनि बसीठ मन उपनी रीसा। जौ पीसत घुन जाइहि पीसा ॥
जोगी अस कहुँ कहै न कोई। सो कहु बात जोग जो होई ॥

पाठ-भेद—१. अनु=अवश्य। २. पूजा=पूरा कर सकती है।

वह बड़ राज इन्द्र कर पाटा । धरती परा सरग को चाटा ? ।।
जौ यह बात जाइ तहँ चली । छूटहिं अबहिं हस्ति सिंघली ।।
औ जौ छुटहिं बज्र कर गोटा । बिसरिहि भुगुति, होइ सब रोटा ।।
जहँ केहु दिस्टि न जाइ पसारी । तहां पसारसि हाथ भिखारी ।।
आगे देखि पाँव धरु, नाथा । तहाँ न हेरु टूट जहँ माथा ।।
वह रानी तेहि जोग है, जाहि राज औ पाटु ।
सुन्दरि जाइहि राजघर, जोगिहि बाँदर काटु ।।४।।

व्याख्या—राजा रत्नसेन की बातों को सुन दूतों के मन में क्रोध उत्पन्न हुआ और उन्होंने राजा से कहा कि जौ पीसते समय उनके साथ घुन भी पिस जाता है; अर्थात् यदि हम तुम्हारी बात राजा से जाकर कहेंगे तो तुम्हारे साथ हम भी मारे जायेंगे । कोई भी योगी कभी और कहीं भी ऐसी बात नहीं कहता । इसलिए तुम वही बात कहो जो तुम्हारे योग्य हो अर्थात् छोटे मुँह बड़ी बात मत कहो । वह राजा बहुत बड़ा है । उसका राज्य और सिंहासन इन्द्र के समान बड़ा और ऐश्वर्यशाली है । धरती पर पड़ा हुआ कोई व्यक्ति क्या कभी आसमान को चाट सकता है; अर्थात् बौना क्या खाकर आसमान तक पहुँच सकेगा । यह तो वही कहावत हुई कि—'रहै भूईं औ चाटै बादर ।' अगर तुम्हारी यह बात वहाँ राज-दरबार में पहुँच जायेगी तो तुरन्त सिंहली हाथी तुम्हारे ऊपर छोड़ दिए जायेंगे । और जब वज्र के समान भयंकर गोले छूटेंगे तो तुम सारी भिक्षा माँगना भूल जाओगे और उनकी मार से पिस कर रोटी के समान बन जाओगे । जहाँ पर किसी की दृष्टि तक नहीं जा पाती वहाँ तुम भिखारी होकर उसे प्राप्त करने के लिए हाथ पसार रहे हो; अर्थात् जिस पद्मावती के कोई दर्शन तक नहीं कर पाता, उसे ही तुम जैसा भिखारी प्राप्त करना चाहता है । इसलिए हे नाथपंथी योगी ! तुम आगे देखकर अर्थात् सहम्ल कर आगे कदम बढ़ाओ । उस तरफ निगाह मत उठाओ जहाँ देखने से तुम्हारा सिर फूट जाय ।

वह रानी पद्मावती तो उसके योग्य है, जिसके पास राज्य और सिंहासन हो; अर्थात् जो किसी देश का राजा हो । वह सुन्दरी किसी राजघराने में ही जायेगी । तुम जैसे योगियों के भाग्य में तो बन्दर द्वारा काटा जाना ही बदा है ।

टिप्पणी—'बाँदर काटु'—के विषय में एक किम्वदन्ती है जिसे डा० अग्रवाल ने इस प्रकार बताया है—

"माकंदिका पुरी में एक मौनी योगी रहता था । वह एक वणिक कन्या पर मोहित हो गया और उसे देखकर बिना भिक्षा लिए लौट पड़ा । वणिक पीछे-पीछे आया और योगी से लौटने का कारण पूछा । योगी ने कहा—'वह कन्या अभागी है, उसका विवाह होते ही तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा । अतः तुम उसे लकड़ी के सन्दूक

में बन्द करके उस पर एक दीपक जलाकर रात में नदी में बहा दो।' बनिए ने वैसा ही किया। योगी ने मठ में आकर चेलों को दीपक वाला बहता हुआ सन्दूक लाने को कहा। उधर एक राजकुमार नदी तट पर शिकार से लौटता हुआ ठहरा था। उसने वह सन्दूक निकलवाया और उस सुन्दरी से विवाह कर लिया। वह साथ में एक बन्दर जंगल से लाया था। उसे उन्दूक में बन्द करवा कर उस पर दीपक जला नदी में बहा दिया। चेले इस सन्दूक को मठ में उठा लाए। योगी ने बन्द कमरे में उसे खोला और बन्दर ने उसे काट खाया।"

जायसी ने इसी किम्वदन्ती पर आधारित इस लोकोक्ति का यहाँ प्रयोग किया है।

(२२६)

जौं जोगी सत[1] बाँदर काटा। एकै जोग, न दूसरि बाटा॥
और साधना आवै साधे। जोग-साधना आपुहि दाधे॥
सरि पहुँचाव जोगि कर साथू। दिस्टि चाह अगमन होइ हाथू॥
तुम्हरे जोर सिंघल के हाथी। हमरे हस्ति गुरू हैं साथी॥
अस्ति[2] नास्ति ओहि करत न बारा। परबत करै पाँव कै छारा॥
जोर गिरे गढ़ जावत भए। जे गढ़ गरब करहिं ते नए[3]॥
अंत क चलना कोइ न चीन्हा। जो आवा सो आपन कीन्हा॥
जोगिहि कोह न चाहिय, तस न मोहि रस लागि।
जोग तंत ज्यों पानी, काह करै तेहि आगि ? ॥५॥

शब्दार्थ—सरि पहुँचाव=बराबर या ठिकाने पहुँचा देता है। अस्ति-नास्ति=है और नहीं है अर्थात् बनाते-बिगाड़ते। छारा=मिट्टी।

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन के दूतों की व्यंग्य और क्रोध भरी बातें सुनकर राजा रत्नसेन उनकी एक-एक बात का उत्तर देता हुआ कहता है—

यदि योगी को सौ बन्दर भी काट खायें तो भी उसके लिए एक योगमार्ग को छोड़ अन्य कोई भी दूसरा मार्ग नहीं रह जाता; अर्थात् योगी विफल मनोरथ होकर भी अपने मार्ग से कभी विचलित नहीं होता। अन्य प्रकार की साधनायें तो उनकी साधना करने से ही प्राप्त होती हैं, परन्तु योग-साधना स्वयं अपने को तपा कर दग्ध करके ही की जाती है; अर्थात् मुझे माथा फूटने का कोई भय नहीं, क्योंकि अपने को जलाने से अधिक कष्ट उसमें नहीं होता। (तुमने जो यह कहा कि वह राजा इन्द्र के समान है) तो योग योगी को उस राजा के समान ही तेजस्वी और ऐश्वर्यशाली बना देता है। (और तुम जो यह कहते हो कि उस तक किसी की दृष्टि भी नहीं पहुँच पाती तो उसका उत्तर यह है कि) योगी के हाथ उस दृष्टि से आगे पहुँचने की शक्ति

पाठ-भेद—१. सुठि=अच्छी तरह से। २. हस्ति।
३. गढ़ कै गरब खेह मिलि गए। मंदिर उठहिं ढहहिं भे नए॥

रखते हैं। तुम्हारे पास सिंहली हाथियों का बल है तो मेरे पास मेरे गुरु का बल है जो सदैव मेरे साथ रहते हैं। (तुम जो यह भय दिखाते हो कि तुम्हारे गोले हमें पीस डालेंगे तो इसका उत्तर यह है कि—) मेरे गुरु को किसी को भी बनाते और बिगाड़ते जरा सी भी देर नहीं लगती। वे पर्वत को पीसकर पैर के नीचे पड़ी मिट्टी के समान बना देते हैं। (तुम जो गढ़ आदि की बात कहते हो तो उसका उत्तर यह है कि—) कितने गढ़ गर्व करने के कारण धरती पर गिर तहस-नहस हो गए। जो गढ़ गर्व करते हैं वे अन्त में नीचे गिर मिट्टी में मिल जाते हैं। इसलिए राजपाट का गर्व करना व्यर्थ है। अन्त में मृत्यु आने पर जब यहाँ से चला जाना पड़ेगा उस समय की स्थिति क्या होगी, यह कोई भी नहीं जानता अर्थात् सब को अन्त में खाली हाथ ही यहाँ से जाना पड़ता है। परन्तु फिर भी जो व्यक्ति इस संसार में आता है वह प्रत्येक वस्तु को अपना बना लेना चाहता है और बना लेता है।

योगी को क्रोध नहीं करना चाहिए; इसलिए तुम्हारी बातें सुनकर मुझे क्रोध नहीं आया है अर्थात् तुम्हारी सारी बातों में से केवल यही एक बात सच्ची है। योग का मर्म तो पानी के समान अथाह और शीतल है, भला अग्नि उसका क्या बिगाड़ सकती है; अर्थात् तुम्हारे राजा का क्रोध मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा।

(२२७)

बसिठन्ह जाइ कही अस बाता। राजा सुनत कोह भा राता॥
ठावहिं ठाँव कुँवर सब माँखे। केइ अब लीन्ह जोग, केइ राखे?॥
अबहीं वेगिहि करौ संजोऊ। तस मारहु हत्या नहिं[1] होऊ॥
मंत्रिन्ह कहा रहौ मन बूझे। पति न होइ जोगिन्ह सौं जूझे॥
ओहि मारे तौ काह भिखारी। लाज होइ जौं माना हारी॥
ना भल मुए, न मारे मोखू। दुवौ बात लागै सम[2] दोखू॥
रहै देहु जौं गढ़ तर मेले। जोगी कित आछै बिनु खेले?॥
आछै देहु जौ गढ़ तरे, जनि चालहु यह बात।
निर्तिहि जो पाहन भख करहिं, अस केहिके मुख दाँत॥६॥

व्याख्या—राजा के दूतों ने राजा गंधर्वसेन से जाकर योगियों की बातें कह दीं। राजा उन्हें सुनकर क्रोध से लाल हो गया। स्थान-स्थान पर सिंहल के राजकुमार तैश में भर कर कहने लगे—'देखें किसने योग लिया है और कौन अब उनकी रक्षा करेगा। अभी तुरन्त सारी तैयारियाँ करो और उन योगियों को इस तरह से मारो जिससे हमें हत्या न लगने पाये।' राजकुमारों की यह क्रोध भरी बातें सुनकर मंत्रियों ने कहा—'ठहरो और सोच-समझ से काम लो! योगियों से लड़ने में कोई प्रतिष्ठा नहीं है। अगर तुमने उन्हें मार भी डाला तो भिखारी को मार कर कौन-सा

पाठ-भेद—१. किन=भले ही। २. तुम्ह=तुम्हें।

यश मिलेगा; परन्तु यदि तुम हार गए तो बड़ी लज्जा की बात होगी। न तो स्वयं मरने में ही अपना कल्याण है और न उन्हें मारने से मोक्ष ही प्राप्त होगा। दोनों ही बातों में एक समान दोष लगेगा। यदि वे गढ़ के नीचे इकट्ठे हुए हैं तो उन्हें वहीं रहने दो। वे योगी हैं, भला अन्यत्र विचरण किए बिना कैसे रह सकते हैं।

'यदि वे गढ़ के नीचे रहते हैं तो इन्हें रहने दो। इस प्रकार की बातें करना बन्द करो। आखिर ऐसे दाँत किसके मुख में हैं जो नित्य पत्थर भक्षण कर रह सकें।' भाव यह है कि उन योगियों को जब खाना नहीं मिलेगा तो वे आखिर कितने दिन तक वहाँ भूखे पड़े रह सकेंगे; एक न एक दिन चले ही जायेंगे।

(२२८)

गए बसीठ पुनि बहुरि न आए। राजै कहा बहुत दिन लाए॥
न जनौं सरग बात दहुँ काहा। काहु न आइ कही फिर चाहा॥
पंख न काया, पौन न पाया। केहि बिधि मिलौं होइ कै छाया॥
सँवरि रकत नैंनहि भरि चूआ। रोइ हँकारेसि माझी सूआ॥
परी ज आँसु रकत कै टूटी। रेंगि चलीं जस बीर-बहूटी[1]॥
ओहि रकत लिखि दीन्ही पाती। सुआ जो लीन्ह चोंच भइ राती॥
बाँधी कंठ परा जरि काँठा। बिरह क जरा जाइ कित नाठा?॥
मसि नैना, लिखनी बरुनि, रोइ-रोइ लिखा अकत्थ।
आखर दहै, न कोइ छुवै, दीन्ह परेवा हत्थ॥७॥

व्याख्या—जब दूतों को गए हुए बहुत दिन हो गए तो राजा रत्नसेन ने कहा कि—गए हुए दूत लौटकर नहीं आए। उन्होंने लौटने में बहुत दिन लगा दिए। न जाने वहाँ स्वर्ग में (स्वर्ग के समान सिंहलगढ़ में) क्या बातें हो रही हैं। किसी ने भी लौटकर वहाँ का समाचार नहीं कहा। न तो मेरे शरीर में पंख ही हैं। और न पैरों में हवा के समान उड़ कर जाने की शक्ति। मैं किस प्रकार छाया के समान पद्मावती से जाकर मिलूँ। (यहाँ छाया से भाव सदैव साथ रहने से है।) पद्मावती का स्मरण करने से उसके नेत्रों में खून के आँसू भर आए और टपकने लगे। उसने रोकर तुरन्त अपने खेवट (गुरु) हीरामन तोते को बुलवाया। उसके नेत्रों से जो रक्त के आँसू टपक-टपक कर नीचे गिरे उनकी धार जमीन पर इस प्रकार बह चली, मानो वीर-बहूटियों की कतार रेंगती चली जा रही हो। राजा ने अपने उसी रक्त से एक पत्र लिखा। तोते ने जब उसे अपनी चोंच से पकड़ा तो उसकी चोंच लाल हो गई। इस पर जब राजा ने उस पत्र को उसकी गर्दन में बाँधा तो उसकी गर्दन जल जाने से वहाँ कंठी का निशान बना गया। (तोते की गर्दन में काले रंग की कंठी होती है।) विरह की

पाठ-भेद—१. अबहुँ सो राती बीर बहूटी=उनके कारण बीर बहूटी अब भी लाल है।

अग्नि द्वारा जल जाने से जो निशान पड़ जाते हैं, उन्हें किसी भी प्रकार नहीं मिटाया जा सकता।

राजा रत्नसेन ने अपने नेत्रों को स्याही और बरौनियों की कलम बनाकर रो-रो कर अपनी वह कथा लिखी जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस पत्र पर लिखे अक्षर जल रहे थे, इस कारण उन्हें कोई छू नहीं सकता था। ऐसा वह पत्र उसने हीरामन तोते को दे दिया।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

(२) 'ओही रकत ······कित नाठा'— पंक्तियों में ऊहा का प्रयोग हुआ है जो फारसी काव्य-शैली की अपनी एक निराली विशेषता रही है।

(३) 'मसि नैना···दीन्ह परेवा हत्थ'—में रूपक है। इसमें कवि की सुकुमार कल्पना, अनुभूति की गहनता और सरल शब्दों द्वारा एक शब्द-चित्र-सा अंकित कर देने की अद्भुत क्षमता का अद्वितीय कौशल है। ऐसी मनोरम अतिशयोक्तियाँ जायसी के काव्य-कौशल की अपनी विशेषता है।

(२२६)

औ मुख बचन जो कहा परेवा। पहिले मोरि बहुत कहि सेवा॥
पुनि रे सँवार कहेसि अस दूजी। जो बलि दीन्ह देवतन्ह पूजी॥
सो अबहीं तुम्ह सेव न लागा। बलि जिउ रहा, न तन सो जागा[1]॥
भलेसि ईस हू तुम्ह बलि दीन्हा। जहँ तुम्ह तहाँ भाव बलि कीन्हा॥
जौ तुम मया कीन्ह पगु धारा। दिस्टि देखाइ बान-बिष मारा॥
जों जाकर अस आसामुखी। दुख महँ ऐस न मारँ दुखी॥
नैन-भिखारि न मानहिं सीखा। अगमन दौरि लेहिं पै भीखा॥
नैनहिं नैन जो बेधि गए, नहिं निकसैं वै बान।
हिये जो आखर तुम्ह लिखे, ते सुठि लीन्ह परान॥८॥

शब्दार्थ—सेवा=विनय। सँवार=सवाद, सम्हाल कर। बलि जिउ······ जागा=जीव तो पहले ही बलि चढ़ गया था, (इसी से तुम्हारे आने पर) वह शरीर न जगा। आसामुखी=मुख का आसरा तकने वाला।

व्याख्या—राजा रत्नसेन ने हीरामन तोते को अपने रक्त से लिखा पत्र देकर उससे कहा कि—

हे पक्षी ! इसके उपरान्त उससे मेरा यह मौखिक सम्वाद और कह देना। आरम्भ में मेरी ओर से उसकी सेवा में मेरी विनय निवेदन करना और फिर सम्हाल

पाठ-भेद —१. सो अबहीं तपसी बलि लागा। कब लग कया सून मढ़ जागा=उसमें बलि दिया गया मैं तपस्वी अभी तक पड़ा हुआ हूँ; अभी और कब तक मेरी काया उस शून्य मठ में जागती (जीवित) पड़ी रहेगी।

कर दूसरा संवाद यह कहना कि मैंने देवताओं की पूजा कर जो अपने प्राणों की बलि तुम्हारे निमित्त चढ़ाई थी वह अभी तक तुम्हारी सेवा में नहीं लग सकी, अर्थात् सार्थक न हो सकी। मेरा प्राण तो पहले ही बलि चढ़ गया था, इसी से तुम्हारे आने पर यह प्राणहीन शरीर जाग न सका, मैं मूर्च्छित पड़ा रहा! यह अच्छा हुआ कि महादेव ने भी स्वयं को तुम्हारे ऊपर बलि चढ़ा दिया (नहीं तो उनकी भी मेरी ही जैसी दशा होती)। (मन्दिर में पद्मावती के आते ही महादेव भी संज्ञाहीन हो गए थे।) क्योंकि जहाँ तुम जाती हो वहीं तुम्हें बलि लेना अच्छा लगता है। जब तुमने मुझ पर कृपा करके मन्दिर में पदार्पण किया था तो तेरी तरफ एक ही दृष्टि डाल मेरे हृदय में विष का बाण मार दिया था अर्थात् मैं तुम्हारी दृष्टि पड़ते ही मूर्च्छित हो गया था। जो जिसका मुख जोहता रहता है, अर्थात् जो जिसकी कृपा का भिखारी होता है, उसे वह कभी दुख में और अधिक सता कर दुखी नहीं करता; अर्थात् मैं तो तुम्हारी कृपा का भिखारी था और तुमने मुझे दुखी जानकर भी और भी अधिक दुख दिया। मेरे ये नेत्र तुम्हारे दर्शन के भिखारी बने हुए हैं, कहने से भी नहीं मानते। ये आगे-आगे दौड़ कर पहले ही भिक्षा ले लेने को उतावले हो उठते हैं; अर्थात् मेरे नेत्र तुम्हारे दर्शनों के लिए बहुत व्याकुल हो रहे हैं।

मेरे नेत्रों में तुम्हारे नेत्र रूपी जो बाण बिंध गए थे, वे निकालने पर भी नहीं निकलते; अर्थात् मेरे नेत्र तुम्हारे नेत्रों की छवि को नहीं भूलते। और तुमने मेरे हृदय पर जो अक्षर (चन्दन के) लिखे थे, वे अच्छी तरह से मेरे प्राणों का हनन करते रहते हैं।

(२३०)

ते बिष-बान लिखौं कहँ ताईं। रकत जो चुआ भीजि दुनियाईं॥
जान जो गारै रकत-पसेऊ। सुखी न जान दुखी कर भेऊ॥
जेहि न पीर तेहिं काकरि चिन्ता। पीतम निठुर होइँ अस निन्ता॥
कासौं कहौं बिरह कै भाषा?। जासौं कहौं होइ जरि राखा॥
बिरह-आगि तन बन-बन जरे। नैन-नीर सब सायर भरे॥
पाती लिखी सँवरि तुम्ह नावाँ। रकत लिखे आखर भए सावाँ॥
आखर जरहिं न काहू छूआ। तब दुख देखि चला लेइ सूआ॥
अब सुठि मरौं; छूछि गइ (पाती), प्रेम-पियारे हाथ।
भेंट होत दुख रोइ सुनावत, जीउ जात जौं साथ॥९॥

व्याख्या—मैं तुम्हारे द्वारा अपने हृदय में मारे गए तुम्हारे नेत्र रूपी उन विष भरे बाणों के प्रभाव का कहाँ तक वर्णन करूँ। उनके लगने से मेरे नेत्रों से रक्त की जो बूँदें टपकीं उनसे सारा संसार भीग उठा। इस पीड़ा को वही जान सकता है जो अपने रक्त को पसीने की तरह बहाता है। सुखी व्यक्ति दुखी व्यक्ति की पीड़ा के मर्म को नहीं जान सकता। जिसको कोई पीड़ा नहीं सताती, उसे किसकी चिन्ता रहती है?

प्रियतम तो सदैव इसी प्रकार निष्ठुर हुआ करते हैं। भाव यह है कि पद्मावती को तो विरह की पीड़ा है नहीं, इसलिए वह मेरी व्यथा को क्या समझ सकती है। वह तो निष्ठुर है, क्योंकि निष्काम अर्थात् कामना रहित है। पीड़ा तो वह भोगता है जो किसी की कामना करता है। मैं अपने विरह की बात किससे कहूँ ? क्योंकि जिससे भी कहता हूँ, वही उसके दाह से जल कर राख हो जाता है। विरह की अग्नि ने पहले मेरे शरीर को जलाया और फिर उसी से वन जले, अर्थात् जब विरही घर में रहता है तो उसका शरीर विरहाग्नि से जलता रहता है और फिर वियोग के कारण वह योगी बनकर वन में जलने लगता है और उसके विरह की आग से जैसे वन में भी आग लग जाती है। मेरे नेत्रों से बहे जल से सारे सागर भर गए हैं। (आँसू और सागर का जल—दोनों ही खारे होते हैं।) मैंने तुम्हारे नाम का स्मरण कर यह पत्र लिखा है। इसे मैंने अपने रक्त के अक्षरों से लिखा है। मेरे विरह के ताप के कारण ये अक्षर भी काले पड़ गए हैं। ये अक्षर इस प्रकार दहकते हैं कि कोई भी इन्हें छूने का साहस नहीं कर पाता। तब मेरा इतना भयंकर दुख देखकर ही तोता (साहस कर) इसे लेकर चला है।

अब मैं अच्छी तरह से मर सकूँगा (मैंने अपनी व्यथा का सन्देश तुम तक पहुँचा दिया है, इसलिए अब मुझे कोई चिन्ता नहीं रही), क्योंकि प्रियतम के पास खाली मेरी पत्री ही गई है। यदि मैं अपने प्राणों को भी इस पत्री के ही साथ भेज सकता तो वे तुमसे भेंट होने पर रो-रो कर मेरी दुख गाथा तुम्हें सुनाते (परन्तु मेरे प्राण तो तुम पहले ही अपने साथ ले जा चुकी हो।)

(२३१)

कंचन - तार बाँधि गिउ पाती। लेइ गा सुआ जहाँ धनि राती॥
जैसे कंवल सूर के आसा। नीर कंठ लहि मरत पियासा॥
बिसरा भोग सेज सुख - बासा। जहाँ भौंर सब तहाँ हुलासा॥
तौ लगि सुख धीर सुना नहिं पीऊ। सुना न घरी रहै नहिं जीऊ॥
तौ लगि सुख हिय पेम न जाना। जहाँ पेम कत सुख बिसरामा ?॥
अगर चँदन सुठि दहै सरीरू। औ भा अगिनि कया कर चीरू॥
कथा-कहानी सुनि जिउ[1] जरा। जानहुँ घीउ बसंदर परा॥
बिरह न आपु संभारै, मैल चीर, सिर रूख।
पिउ पिउ करत राति दिन, जस पपिहा मुख सूख॥१०॥

व्याख्या—सोने के तार द्वारा अपने गले में राजा रत्नसेन के पत्र को बाँधकर हीरामन तोता उसे वहाँ ले गया जहाँ वह अनुरक्त बाला अर्थात् पद्मावती रहती थी। जिस प्रकार कमल कंठ तक पानी में डूबा रहकर भी सूर्य के दर्शन की आशा में प्यासा मरता रहता है, उसी प्रकार आकंठ सुख-विलास में निमग्न रहने वाली पद्मावती अपने

पाठ-भेद—१. सुठि=अत्यधिक।

सूर्य (रत्नसेन) के दर्शन की आशा से व्याकुल हो उठी। उसका सारा उल्लास वहीं छिपा हुआ था, जहाँ उसका भ्रमर (रत्नसेन) था। जब तक पति का नाम नहीं सुना, तभी तक धैर्य रहता है। उसका नाम सुनते ही जीव फिर घड़ी भर भी स्थिर नहीं रहता। हृदय में तभी तक सुख रहता है, जब तक वह हृदय प्रेम से परिचित नहीं होता; परन्तु जैसे ही उस हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाता है, फिर कैसा सुख और कैसा विश्राम ? इस अवस्था में अगर और चन्दन जैसे शीतल पदार्थ भी शरीर को दग्ध करने लगते हैं और शरीर पर धारण किए वस्त्र अग्नि के समान दाहक बन जाते हैं। उपदेश की कथायें और प्रेम की कहानियाँ सुन-सुन कर जी और जल उठता है। इन्हें सुनकर प्रेम की आग इस प्रकार और अधिक भड़क उठती है, मानो आग में घी पड़ गया हो।

इस प्रकार पद्मावती विरह के कारण अपना आपा नहीं सम्भाल पाती। उसके वस्त्र मैले हो गए हैं, सिर के बाल तेल न पड़ने के कारण रूखे हो गए हैं। उसका मुख रात-दिन प्रियतम का नाम रटते-रटते उसी प्रकार सूख जाता है, जैसे पपीहे का मुख स्वाति नक्षत्र के जल की आशा में रात-दिन 'पिउ-पिउ' रटते सूख जाता है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा।

(२) डा० अग्रवाल 'सुख-वासा' शब्द का अर्थ 'सुखवासी' (अन्त:पुर का वह कक्ष जहाँ पद्मावती सोती थी) माना है। इसे कोहवर, ओवरी और चित्तरसारी भी कहा गया है।

(२३२)

ततखन गा हीरामन आई। मरत पियास छाँह जनु पाई ।।
भल तुम्ह, सूआ ! कीन्ह है फेरा। कहहु कुसल अब पीतम केरा ।।
बाट न[1] जानौं, अगम पहारा। हिरदय मिला न होइ निनारा ।।
मरम पानि कर जान पियासा। जो जल महँ ता कहँ का आसा ? ।।
का रानी यह पूछहु बाता। जिनि कोइ होइ पेम का राता ।।
तुम्हरे दरसन लागि बियोगी। अहा सो महादेव मठ जोगी ।।
तुम्ह बसंत लेइ तहाँ सिधाई। देव पूजि पुनि ओहि पहँ आई ।।
दिस्टि बान तस मारेहु, घायल भा[2] तेहि ठाँव।
दूसरि बात न बोलै, लेइ पदमावति नाँव ।।११।।

व्याख्या—जिस समय पद्मावती अपने प्रियतम के विरह में व्याकुल हो तड़प रही थी, उसी समय हीरामन तोता वहाँ उसके पास आ पहुँचा। उसके आ जाने से, पद्मावती को ऐसी शान्ति मिली—जैसे प्यास से मरते हुए को छाया का आश्रय मिल

पाठ-भेद—१. बातन्ह=बातों में, कहने को तो। २. घाइ रमा=घायल होकर पड़ा रहा।

गया हो। उसने हीरामन से कहा—'हे तोता ! बड़ा अच्छा हुआ जो तुम लौट आए। अब मेरे प्रियतम की कुशल-क्षेम सुनाओ। मैं उस तक पहुँचने का मार्ग नहीं जानती, मार्ग में अगम्य पर्वत के समान भयंकर बाधाएँ हैं परन्तु मेरा हृदय उससे मिला हुआ है, जो किसी प्रकार भी उससे अलग नहीं होना चाहता। जल के असली महत्त्व को प्यासा ही जानता है। जो सदैव जल में ही निवास करता है, वह उसकी क्या इच्छा करेगा ?' पद्मावती की बातें सुनकर हीरामन ने उससे कहा—'हे रानी ! तुम उसकी (रत्नसेन की) क्या बात पूछती हो। भगवान करे प्रेम का अनुरक्त कोई भी न बने। तुम्हारे दर्शनों के लिए वियोगी बना हुआ महादेव के मठ में वह जो योगी था, वह तुम्हारे वियोग में व्याकुल हो रहा है। जब तुम वसन्त-पूजन की सामग्री लेकर वहाँ मठ में गई थीं तो पहले देवता का पूजन कर फिर उसके पास आई थीं।

उसी समय तुमने उसके हृदय में अपनी दृष्टि का ऐसा बाण मारा था कि वह उसी स्थान पर घायल हो तड़पने लगा था। वह अब अपने मुख से कोई भी दूसरा शब्द नहीं बोलता, केवल पद्मावती का नाम ही लेता रहता है।'

(२३३)

रोवँ रोवँ बै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे ॥
नैनहिं चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा ॥
सूरुज बूड़ि उठा होइ राता। औ मजीठ टेसू बन राता ॥
भा बसंत रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती ॥
पुहुमि जो भीजि, भएउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि पखेरू ॥
राती सती अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेही छाया ॥
ईंगुर भा पहार जौं भीजा। पैं तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा ॥
तहाँ चकोर कोकिला, तिन्ह हिय मया पईठि।
नैन रकत भरि आए, तुम्ह फिर कीन्ह न दीठि ॥१२॥

व्याख्या—हीरामन तोता पद्मावती से वियोगी रत्नसेन की दशा का वर्णन करते हुए आगे कहने लगा कि तुमने उसके हृदय में अपनी दृष्टि के जो बाण मारे थे वे फूट कर उसके रोम-रोम के रूप में बाहर निकल आए और उनके फूटने से उसके रोम-कूपों से रक्त निकलने लगा। उसके नेत्रों से रक्त की धारा बह रही है। उस रक्त से उसकी सारी कथरी भीग कर लाल हो गई है। (योगी लाल रंग की कथरी पहनते हैं।) सूर्य डूबते समय उसी के रक्त में सन गया था, इसलिए जब दुबारा उदय हुआ तो उसी रक्त के कारण उसका मुख लाल हो उठा था। वन में जितने भी मजीठ और टेसू के वृक्ष थे, वे सब उसी के रक्त में सन कर लाल हो उठे हैं। वसन्त और सम्पूर्ण वनस्पतियाँ भी उसी के रक्त से लाल बन गये हैं और सारे योगी और यती भी उसी के कारण लाल हो गए हैं। उस रक्त में जो पृथ्वी भीगी थी वह गेरू बन गई और उस पृथ्वी पर रहने वाले सारे पक्षी भी लाल हो गये। चिता की अग्नि में जलती

हुई सती की काया भी उसी के कारण लाल हो गई और आकाश के मेघों पर उसी रक्त की छाया पड़ने से उनका रंग लाल हो उठा। उस रक्त में जब पहाड़ भीगे तो वे भी सिन्दूरी रंग के हो उठे। भावार्थ यह है कि सारी सृष्टि उसकी उस विरह-वेदना से व्याकुल हो उसी रंग में रँग गई; परन्तु इतने पर भी तुम्हारा एक रोम तक उसकी दशा को देखकर नहीं पसीजा, अर्थात् तुम्हें उस पर तनिक भी दया नहीं आई।

उस स्थान पर जितने भी चकोर और कोयल पक्षी थे, सबके हृदय में उसके प्रति करुणा उत्पन्न हुई और उनके नेत्रों में रक्त भर आया (चकोर और कोयल की आँखें लाल रंग की होती हैं), परन्तु तुमने एक बार भी लौट कर उस पर दुबारा दृष्टि नहीं डाली।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—हेतूत्प्रेक्षा।

(२) यहाँ कवि सारी सृष्टि को रत्नसेन के विरह से प्रभावित हो उसके प्रति सम्वेदना प्रकट करता हुआ दिखा रहा है, जिसमें ऊहा का प्रभाव है। जायसी अवसर मिलते ही खुलकर ऊहा का प्रयोग करने लगते हैं। परन्तु इस पद में आई एक पंक्ति 'पै तुम्हारा नहिं रोवं पसीजा'—उस ऊहा के प्रभाव को अत्यन्त घनीभूत बना उसे ऐसा मनोरम रूप प्रदान कर देती है कि उसके सम्मुख ऊहा की सारी विकृति नष्ट हो जाती है।

(२३४)

ऐस बसंत तुम्हहिं पै खेलहु। रकत पराए सेंदुर मेलेहु॥
तुम्ह तौ खेलि मँदिर महँ आईं। ओहि क मरम पै जान गोसाईं॥
कहेसि जरै[1] को बारहि बारा। एकहि बार होहुँ जरि छारा॥
सर रचि चहा[2] आगि जो लाई। महादेव गौरी सुधि पाई॥
आइ बुझाइ दीन्ह पथ तहाँ। मरन-खेस कर आगम जहाँ॥
उलटा पंथ पेम के बारा। चढ़ै सरग, जौ परै पतारा॥
अब धँसि लीन्ह चहै तेहि आसा। पावै साँस, कि मरै निसाँसा॥
पाती लिखि सो पठाई, इहै सबै दुख रोइ।
दहुँ जिउ रहै कि निसरै, काह रजायसु होइ ? ॥१३॥

शब्दार्थ—आगम=आगमन, सिद्धान्त। उल्टा पंथ=योगियों का अन्तर्मुख मार्ग; विषयों की ओर स्वभावतः जाते हुए मन को उलटा पीछे की ओर फेर कर ले जाने वाला मार्ग।

व्याख्या—हीरामन तोता आगे पद्मावती से कहने लगा कि ऐसा वसन्त का फाग तो तुम्हीं खेल सकती हो कि दूसरे के रक्त से अपनी माँग में सिन्दूर भरती हो। तुम तो वह खेल खेल कर अपने राजमहल में आ गईं और उसकी जो भयानक अवस्था हुई उसका मर्म केवल विधाता ही जानता है; अर्थात् तुमसे बिछुड़ कर उसे मर्मान्तिक वेदना

पाठ-भेद—१. मरै। २. रहा।

पहुँची है। उस वेदना से व्याकुल हो वह (रत्नसेन) कहने लगा कि बार-बार इस वियोग की अग्नि में कौन दग्ध हो। इससे अच्छा तो यह होगा कि मैं एक बार ही जल कर भस्म हो जाऊँ (जिससे इस निरन्तर की वेदना से सदैव के लिए मुक्ति मिल जाय।) यह कहकर उसने चिता सजा कर जो उसमें आग लगानी चाही तो उसी समय महादेव और गौरा (पार्वती) को इसका समाचार मिल गया। उन्होंने आकर उसे समझाया और वहाँ का रास्ता वताया जहाँ पर मृत्यु की क्रीड़ा का आगमन (सिद्धान्त) चलता रहता है। अर्थात् जहाँ मरना केवल खेल का आरम्भ मात्र है। प्रेम के द्वार पर पहुँचने का मार्ग उल्टा होता है। (यहाँ जायसी का अभिप्राय योगियों के अन्तर्मुख मार्ग से है। इसमें विषयों की ओर स्वभावतः जाते हुए मन को उल्टा पीछे की ओर फेर ले जाया जाता है।) इस द्वार द्वारा मनुष्य स्वर्ग में तभी चढ़ सकता है जब पहले वह पाताल में प्रवेश करता है। (यहाँ योग पक्ष में अधोमुखी कुंडलिनी को जाग्रत कर सुषुम्ना मार्ग द्वारा ऊपर ब्रह्मरंध्र की ओर ले जाने से अभिप्राय है तथा गढ़ पक्ष मे उस सुरंग के मार्ग की ओर संकेत है जो गढ़ के नीचे वने कुंड में होकर गढ़ के भीतर जाता है।) अब रत्नसेन तुम्हें प्राप्त करने की आशा से उसी पाताल में घुस कर आना चाहता है। ऐसा करने में चाहे उसे प्राणदान मिले या विनष्ट होकर मृत्यु का आलिंगन करना पड़े, इस बात की उसे चिन्ता नहीं है।

उसने चिट्ठी लिखकर तुम्हारे पास भेजी है, जिसमें अपना यही सब दुखड़ा रोया है। न मालूम उसके प्राण बचेंगे या वह मारा जायेगा। अब बोलो, तुम्हारी क्या आज्ञा है।

(२३५)

कहि कै सुआ छोड़ेसि पाती। जानहु दीप[1] छुबत तस ताती॥
गीउ जो बाँधा कंचन तागा। राता साँब कंठ जरि लागा॥
अगिनि साँस सँग निसरै ताती। तरुवर जरहिं ताहि कै पाती॥
रोइ रोइ सुआ कहै सो बाता। रकत कै आँसु भएउ मुख राता॥
देखु कंठ जरि लाग सो गेरा। सो कस जरै बिरह अस घेरा॥
जरि-जरि हाड़ भएउ सब चूना। तहाँ माँसु का रकत बिहूना॥
वह तोहि लागि कया सब जारी। तपत मीन जल, देहि पवारी[2]॥
तोहि कारन वह जोगी, भसम कीन्ह तन दाह।
तू अति निठुर निछोही, बात न पूछै ताहि॥१४॥

व्याख्या—रानी पद्मावती से इतनी बात कहकर हीरामन तोते ने वह चिट्ठी उसके सामने डाल दी। वह चिट्ठी (रत्नसेन की वियोग-भावना के कारण) इतनी गरम थी कि जब पद्मावती ने उसे उठाने के लिए हाथ बढ़ाया तो उसे ऐसा लगा जैसे

पाठ-भेद—१. दिब्ब=दिव्य, गर्म लोहा। २. देइ न पारी=दे न सकी।

उसने जलते हुए दीपक पर हाथ रख दिया हो। उस चिट्ठी को सोने के धागे से जो हीरामन के कंठ में बाँधा गया था तो उस धागे के जलने से उसका कंठ जल गया और उसमें लाल और काले कंठी के से निशान पड़ गए। तोता जब बात करता था तो उसकी साँस के साथ अग्नि के समान गरम वायु निकलती थी और उस गरम अग्नि से पेड़ों के पत्ते जल उठते थे। तोता रो-रो कर बात कह रहा था और रक्त के आँसू बहाता जाता था जिससे उसका मुख लाल पड़ गया। उसने पद्मावती से कहा कि देखो! जब इस चिट्ठी के दाह के कारण मेरा कंठ जलने लगा, तब मैंने इसे गिरा दिया। तो फिर उस रत्नसेन की दशा की कल्पना करो जिसे ऐसे विरह की अग्नि ने घेर रखा है। उसकी सारी हड्डियाँ जल कर चूने के समान हो गई हैं, तो फिर रक्त-हीन उसके मांस की बात ही भला क्या कहूँ। उसने तुम्हारे लिए अपने सारे शरीर को जला डाला है। वह तुम्हारे विरह में मछली के समान तड़प रहा है, वह अपनी सहानुभूति का थोड़ा सा जल डाल कर उसे सान्त्वना दो; अर्थात् तुम्हारी तनिक सी सहानुभूति पाते ही उसे शान्ति मिल जायेगी।

तुम्हारे ही कारण उसने योगी का वेश धारण किया है और तुम्हारे विरह की अग्नि में अपने शरीर को जला कर भस्म कर डाला है। परन्तु तुम ऐसी निष्ठुर और माया-ममता रहित हो कि उसकी बात तक नही पूछतीं।

(२३६)

कहेसु "सुआ! मोसों सुन बाता। चहौं तो आज मिलौं जस राता॥
पै सो परम न जाना भोरा। जानै प्रीति जो मरि कै जोरा॥
हौं जानति हौं अबही काँचा। वह ना प्रीति रंग थिर राँचा॥
ना वह भएउ मलयगिरि बासा। ना वह रवि होइ चढ़ा अकासा॥
ना वह भएउ भौंर कर रंगू। ना वह दीपक भएउ पतंगू॥
ना वह करा भृंग कै होई। ना वह आपु मरा जिउ खोई॥
ना वह प्रेम औटि एक भएऊ। ना ओहि हिये माँझ डर गएऊ॥
तेहि का कहिय रहब जिउ[1], रहै जो पीतम लागि।
जहँ वह सुनै लेइ धँसि, का पानी की आगि॥१५॥

व्याख्या—हीरामन की बातें सुनकर पद्मावती ने कहा—हे तोता, मेरी बात सुन! अपने प्रति उसके इस अमित अनुराग की बात सुन कर यदि मै चाहूँ तो उससे आज ही मिल सकती हूँ। परन्तु वह भोला आदमी तो प्रेम के मर्म को अर्थात् असली स्वरूप को जानता ही नहीं। प्रेम का मर्म तो वही जानता है जो मर कर प्रेम की गाँठ जोड़ता है। मैं जानती हूँ कि वह अभी तक प्रेम के मामलों में कच्चा अर्थात्

पाठ-भेद—१. रहन खिन=क्षण भर रहने के लिए। इस सम्पूर्ण पद में डा० गुप्त ने 'ना वह' के स्थान पर 'न जनहु' पाठ माना है।

अनाड़ी है और न अभी तक प्रेम के रंग में पूरी तरह से रँग कर स्थिर हो पाया है; अर्थात् अभी तक उसका प्रेम कच्चा और अस्थिर है। न वह मलय-पवन की सुगन्धि के समान सर्वत्र विचरण करने वाला ही बन सका है और न सूर्य बन कर आकाश में चढ़ सबको अपने आतंक से प्रभावित करने की शक्ति ही उसमें आ पाई है। न उसके हृदय में भ्रमर का सा वह भाव ही आ पाया है जो कहीं से भी फूलों की गन्ध पा उड़ कर वहीं जा पहुँचता है, और न उसमें दीपक के ऊपर पतिंगों के समान अपने प्राण न्यौछावर कर डालने की लगन ही उत्पन्न हुई है। न उसमें भृंगी कीट की-सी वह विशेषता ही उत्पन्न हो सकी है जो दूसरे कीड़ों को आत्मसात कर उन्हें अपने रूप का बना लेता है। और न वह अपने प्राणों का बलिदान कर अपने अहं का विसर्जन ही कर पाया है। न वह प्रेम की अग्नि में पक कर अपने प्रियतम के साथ एक रूप हो पाया है और न अभी तक उसके हृदय से भय की भावना ही जा पाई है; अर्थात् यदि उसे भय न होता तो वह अपने प्राणों पर खेल अभी तक मुझसे आ मिलता।

मैं उसके विषय में क्या कहूँ जो अपने प्रियतम के प्रति इतना अनुरक्त होता हुआ भी अभी तक अपने प्राणों को धारण किए हुए है। सच्चा प्रेमी तो वही है जो जहाँ अपने प्रियतम के रहने की बात सुन ले, वहीं तुरन्त जाकर उससे भेंट कर ले। ऐसे प्रेमी के लिए क्या पानी और क्या अग्नि? अर्थात् सच्चा प्रेमी आग या पानी से भयभीत न हो तुरन्त अपने प्रियतम के पास पहुँच जाता है। उसे वहाँ पहुँचने से कोई भी बाधा नहीं रोक सकती।

(२३७)

पुनि धनि कनक-पानि[1] मसि माँगी। उत्तर लिखत भीजी तन आँगी॥
तस कंचन कहँ चहिय सोहागा। जौ निरमल नग होइ तौ लागा॥
हौं जो गई सिव-मंडप भोरी। तहँवाँ कस न गाँठि तैं जोरी?॥
भा बिसँभार देखि कै नैना। सखिन्ह लाज का बोलौं बैना?॥
खेलहिं मिस मैं चंदन घाला। मकु जागति तौं देउँ जयमाला॥
तबहुँ न जागा; गा तू सोई। जागे भेंट, न सोए होई॥
अब जौं सूर होइ चढ़ै अकासा। जौ जिउ देइ त आवै पासा॥
तौ लगि भुगुति न लेइ सका, रावन सिय जब[2] साथ।
कौन भरोसे अब कहौं? जीउ पराए हाथ॥१६॥

व्याख्या—इसके उपरान्त धनि (पद्मावती) ने सोने के पानी की बनी स्याही मँगवाई। उस स्याही से जब वह रत्नसेन के पत्र का उत्तर लिखने लगी तो भावोद्रेक के कारण उसे पसीना छूटने लगा जिससे उसकी चोली भीग गई। उसने लिखा कि—'स्वर्ण को पूर्ण शुद्ध होने के लिए सुहागा चाहिए; अर्थात् मुझे रत्नसेन रूपी सौभाग्य

पाठ-भेद—१. कनक-बानि=सोने के रंग की सुनहरी। २. एक।

चाहिए। मुझ जैसे सोने में वही नग जड़ा जा सकता है जो निर्मल (शुद्ध) हो। भाव यह है कि यदि तुम नग के समान निर्मल हो, अर्थात् तुम्हारा प्रेम निर्मल है तभी मेरे साथ तुम्हारा मिलन हो सकता है। मैं भोली नारी जब महादेव के मंडप में गई थी उस समय तुमने वही गाँठ क्यों न जोड़ ली थी ? तुम तो मेरे नेत्रों को देखकर ही मूर्च्छित हो गए थे और मेरी सखियाँ साथ होने के कारण मैं लज्जावश तुमसे एक भी शब्द न कह सकी। खेल के बहाने मैंने तुम्हारे चन्दन लगाया कि शायद (उसकी शीतलता से) तुम होश में आ जाओ तो मैं तुम्हारे गले में जयमाला डाल दूँ। परन्तु तुम तब भी न जागे, अधिक गहरी नींद में सो गए। भेंट तो जागने से ही होती है सोने से भेंट नहीं हो सकती। अब यदि सूर्य बनकर आकाश में चढ़ो और यदि अपने प्राणों का बलिदान करो, तभी मेरे पास आ सकोगे। भाव यह है कि यदि तुम गढ़ के नीचे स्थित कुंड में से उस सुरंग द्वारा सूर्य के समान धीरे-धीरे गढ़ के ऊपर चढ़ोगे और अपने प्राणों का तनिक भी मोह नहीं करोगे, तभी मेरे पास आ सकोगे। अध्यात्म पक्ष में इसका यह अर्थ होगा कि जब तुम कुंडलिनी को जाग्रत कर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा उसे ऊपर ब्रह्मरंध्र तक पहुँचाओगे तभी ब्रह्म की प्राप्ति हो सकेगी।

रावण तब तक सीता से भिक्षा न प्राप्त कर सका, जब तक सीता के साथ लक्ष्मण थे। जब सीता अकेली रह गई थीं, तभी रावण उनसे भिक्षा प्राप्त कर उनका अपहरण करने में समर्थ हुआ था। अब मैं किसके भरोसे तुमसे यह बात कहूँ कि तुम मुझे आकर ले जाओ, क्योंकि मेरे प्राण पराये हाथ अर्थात् मेरे पिता के हाथ में हैं। यदि तुम किसी प्रकार युक्ति द्वारा पिता को यहाँ से हटा दो, तभी मुझे प्राप्त कर सकोगे।

इस दोहे का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जब सीता रावण के साथ थी तब तो रावण उनका भोग न कर सका और फिर उन्हीं के कारण मारा गया। इसलिए अब मैं तुम्हें क्या भरोसा दिलाऊँ, क्योंकि जब मैं महादेव के मंडप में तुमसे मिली थी तब तुम मुझे न प्राप्त कर सके। अब तो तुम्हें मुझे प्राप्त करने के लिए अपने प्राणों को संकट में डाल मेरे पास आना पड़ेगा।

परन्तु हमारी समझ में उपर्युक्त पहला अर्थ ही अधिक संगत, शालीन और मर्यादा की रक्षा करने वाला है। कुछ विद्वानों ने दूसरे अर्थ को अपना कर जायसी पर असंगत और अनर्गल बातें कहने का आरोप लगाया है, जो ग़लत है। अर्थ को संगत बनाने के लिए ही लक्ष्मण की कल्पना करनी पड़ी है।

(२३८)

अब जौं सूर गगन चढ़ि आवै। राहु होइ तौ ससि कहँ पावै॥
बहुतन्ह ऐस जीउ पर खेला। तू जोगी कित आहि अकेला॥
बिक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनापति कहँ गएउ पतारा॥

मधूपाछ[1] मुगुधावति लागी। गगनपूर[2] होइगा बैरागी ॥
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ ॥
साध कुँवर खंडावत[3] जोगू। मधु-मालति कर कीन्ह वियोगू ॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर[4] साधा। ऊषा लगि अनिरुध बर बाँधा ॥
हौं रानी पदमावती, सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौ मैं तेहिके, प्रथम करै अपनास ॥१७॥

व्याख्या—पद्मावती ने अपने पत्र में आगे लिखा कि अब यदि सूर्य बन आकाश में चढ़कर आओगे तभी चन्द्रमा (पद्मावती) को प्राप्त कर सकोगे। (जायसी ने सर्वत्र रत्नसेन को सूर्य और पद्मावती को चन्द्रमा कहा है।) और यदि तुम राहु के समान हो तो चन्द्रमा को कहाँ पा सकते हो, क्योंकि राहु की छाया मात्र से चन्द्रमा मलिन हो जाता है। अपने प्रियतम को प्राप्त करने के लिए ऐसे बहुत-से अपने प्राणों पर खेल गए हैं अर्थात् अनेक व्यक्तियों ने अपने प्राण दिए हैं। तुम ही योगी क्या उनमें अकेले हो ? अर्थात् तुम कोई नया प्रयत्न नहीं कर रहे हो। राजा विक्रमादित्य प्रेम के अथाह सागर में प्रवेश कर स्वप्नावती को प्राप्त करने के लिए पाताल में गया था। मधुपक्ष मुग्धावती के प्रेम में व्याकुल हो सारे आकाश को अपने क्रन्दन-विलाप से गुंजायमान करता हुआ वैरागी हो गया था। एक राजकुमार मृगावती को प्राप्त करने के लिए कंचनपुर गया था और उसके वियोग में योगी हो गया था। राजकुमार खंडावत ने मधुमालती को प्राप्त करने की साध में भयंकर वियोग-व्यथा सही थी। प्रेमावती को प्राप्त करने के लिए एक राजकुमार ने स्वर्ग की साधना की थी और अनिरुद्ध ने उषा को प्राप्त करने के लिए सेना सजाई थी।

मैं रानी पद्मावती सात स्वर्ग पर निवास करती हूँ। मैं केवल उसी को प्राप्त हो सकती हूँ जो पहले अपना नाश कर दे अर्थात् अपने अहं का विसर्जन कर सके।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने अनेक लोक-प्रसिद्ध प्रेम-कथाओं का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि रत्नसेन कोई निराला पद्मावती को प्राप्त करने में इतने संकट नहीं उठा रहा है। उससे पूर्व भी अनेक प्रेमी अपनी प्रियतमाओं को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के संकट उठा चुके हैं। इन पूर्ववर्ती प्रेमकथाओं के नायकों के नामों के सम्बन्ध में डा० गुप्त और शुक्लजी में मत-वैभिन्य रहा है। हमने पाठ-भेद में इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

'प्रथम करै अपनास'—के दो अर्थ स्पष्ट हैं। प्रेमी-पक्ष में इसका भाव यह है कि वही प्रेमी अपनी प्रेमिका को प्राप्त कर सकता है जो अपने अहं का विसर्जन कर अपनी प्रेमिका के साथ एकाकार हो सके। अध्यात्म पक्ष में यह अर्थ है कि साधक को

पाठ-भेद—१. सुदैबच्छ=डा० गुप्त के अनुसार सुदैबच्छ—सावलिंगा की कथा बहुत प्रसिद्ध रही है। २. कँकन पूरि=कंकण डालकर। ३. मनोहर। ४. सरसुर=बाणासुर।

तभी ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है जब वह अपने अहं का पूर्ण रूप से विसर्जन कर दे। अहं के रहते हुए प्रेमिका या ईश्वर की प्राप्ति असम्भव है।

(२३६)

हौं पुनि इहाँ ऐस तोहि राती। आधी भेंट पिरीतम-पाती ॥
तहुँ जौ प्रीति निबाहै आँटा। भौंर न देख केर कर[1] काँटा ॥
होइ पतंग अधरन्हु गहु दीया। लेसि समुद धँसि होइ मरजीया ॥
रातु रंग जिमि दीपक बाती। नैन लाउ होइ सीप सेवाती ॥
चातक होइ पुकारु पियासा। पीउ न पानि सेवाती कै आसा ॥
सारस कर जस बिछुरा जोरा। नैन होइ जस चन्द[2] चकोरा ॥
होहि चकोर दिस्टि ससि पाहाँ। औ रबि होइ कँवलदल[3] साहाँ ॥
महुँ ऐसं हौउँ तोहि कहँ, सकति तौ ओर निबाहु।
रोहु बेधि अरजुन होइ, जीतु दुरपदी ब्याहु ॥१८॥

व्याख्या—पद्मावती राजा रत्नसेन के लिए लिखे गए पत्र में आगे लिखती है—

फिर यहाँ मैं भी तुम्हारे प्रति ऐसी अनुरक्त हूँ कि अपने प्रियतम का पत्र मेरे लिए आधी भेंट के समान आनन्ददायक हो रहा है; अर्थात् इसे पाकर मुझे ऐसा लग रहा है मानो तुम्हारे साथ मेरा अर्द्ध-मिलन हो गया हो। यदि तुम मुझसे प्रेम करते हो तो इसे निभाने का प्रयत्न करो; संकटों की चिन्ता मत करो, क्योंकि भ्रमर केतकी पर अनुरक्त हो उसके काँटों की चिन्ता नहीं करता। तुम पतिंगा बनकर अपने होठों से दीपक पकड़ने में मत झिझको और मरजीवा (गोताखोर) के समान समुद्र में घुस मुझ जैसे रत्न को प्राप्त करो। तुम प्रेम में उसी प्रकार निमग्न हो जाओ जैसे दीपक के स्नेह (तेल) में भीगकर बत्ती जलती रहती है। तुम भी उसी प्रकार जलना सीखो। जैसे सीप स्वाति नक्षत्र पर अपने नेत्र लगाए रहती है, उसी प्रकार तुम भी रात-दिन मेरी प्रतीक्षा करते रहो। तुम उसी प्रकार मेरा नाम रटते रहो जिस प्रकार चातक स्वाति-जल के लिए प्यासा रहकर निरन्तर 'पिउ' 'पिउ' की रट लगाता रहता है और दूसरे किसी भी जल को नहीं पीता। जिस प्रकार सारस अपने जोड़े से बिछुड़ जाने पर उसके विरह में तड़प-तड़प कर अपने प्राण दे देता है, उसी प्रकार तुम भी मुझसे बिछुड़ कर अपने प्राण दे दो। जैसे चकोर चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाए रहता है, उसी प्रकार तुम भी अपने नेत्रों से निरन्तर मेरी ओर देखते रहो। जैसे चकोर की दृष्टि चन्द्रमा की ओर लगी रहती है और कमल-दल के हृदय में सूर्य की लगन व्याप्त रहती है उसी प्रकार तुम भी मेरे प्रेम में एकनिष्ठ बने रहो।

पाठ-भेद—१. केत=केतकी। २. चक्क=चकवा। यह पाठान्तर असंगत है। चकवा और चकोरी का कोई सम्बन्ध नहीं होता। ३. कँबल दधि=सरोवर की कमलिनि।

यदि मैं भी तुम्हारी दृष्टि में अटूट प्रेम की ऐसी ही पात्री हूँ, तो यदि कर सको तो, अपने इस प्रेम का अन्त तक निर्वाह करो। जिस प्रकार अर्जुन ने मत्स्य-बेध कर द्रौपदी के साथ विवाह किया था, उसी प्रकार तुम भी अपने स्नेह की परीक्षा में उत्तीर्ण हो मुझे प्राप्त करो।

टिप्पणी—अलंकार—रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

(२४०)

राजा इहाँ ऐस तपि झूरा। भा जरि विरह छार कर कूरा॥
नैइ[1] लाइ जो गयउ बिमोही। भा बिनुजिउ, जिउ दीन्हेसि ओही॥
कहाँ[2] पिंगला सुखमन नारी। सुनि समाँधि लागि गइ तारी॥
बूँद समुँद जैस होइ मेरा। गा हेराइ अस मिलै न हेरा॥
रंगहि पानि मिला जस होई। आपहि खोइ रहा होइ सोई॥
सुऐ जाइ जब देखा तासू। नैन रकत भरि आए आँसू॥
सदा पिरीतम गाढ़ करेई। ओहि न भुलाइ, भूलि जिउ देई॥
मूरि सजीवन आनि कै, औ मुख मेला नीर।
गरुड़ पंख जस झारै, अमृत बरसा कीर॥१६॥

व्याख्या—इधर राजा रत्नसेन तप करते-करते सूखकर इतना कृश हो गया कि विरहाग्नि में जलकर राख का ढेर-सा दिखाई पड़ने लगा। जब से वह निर्मोही पद्मावती उसे अपने नेत्रों से घायल कर चली गई है, तब से वह निष्प्राण हो गया है, उसने अपने प्राणों को उसी पद्मावती को सौंप दिया है। अब पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ कहाँ हैं, अर्थात् अब साधना में इनका कोई महत्त्व नहीं रह गया, क्योंकि साधक साधना की इस स्थिति को पार कर शून्य समाधि में नेत्र बन्द कर बैठा हुआ है; अर्थात् शून्य में समाधिस्थ हो त्राटक लगाकर निश्चल बैठा हुआ है। वह पद्मावती के साथ इस प्रकार एकाकार हो गया है जैसे बूँद समुद्र में गिर कर अपने अस्तित्व को विलीन कर समुद्र का ही स्वरूप धारण कर लेती है। (यहाँ परमात्मा के साथ आत्मा के पूर्ण तादात्म्य का भाव भी व्यंजित हो रहा है।) जिस प्रकार बूँद समुद्र में मिल जाने पर फिर खोजने से भी नहीं मिलती, उसी प्रकार रत्नसेन का अपना अस्तित्व (अहंभाव) पूर्णतया नष्ट हो पद्मावती के साथ एकाकार हो गया है। जिस प्रकार पानी में रंग मिल जाने पर पानी उसी रंग को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार रत्नसेन अपने अहं को खोकर पूरी तरह से पद्मावती के रंग में रँग गया है।

पाठ-भेद—१. मदन नवाए=मदन (कामदेव) द्वारा नमित किए जाने के कारण।
२. गही।

जब हीरामन ने जाकर राजा की ऐसी दशा देखी तो दुख के मारे उसके नेत्रों में रक्त के आँसू भर आए। प्रियतम प्रेमी को सदैव कठिन अवस्था में पहुँचा देता है, परन्तु फिर भी उसे भुलाया नहीं जा सकता। प्रेमी उसके प्रेम में अपना आपा भूल कर प्राण दे देता है। भाव यह है कि जिससे हम प्रेम करते हैं, वही हमें सदैव दुख-पूर्ण परिस्थितियों में डालता रहा है। फिर भी हम उसे न भूल पाकर उसके लिए अपने प्राणों को न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहते हैं।

राजा की ऐसी दशा देखकर हीरामन संजीवनी बूटी लाया और उसे निचोड़ कर उसका रस राजा के मुख में डाला। जिस प्रकार गरुड़ अपने पंखों को हिला-हिला कर अमृत की वर्षा करता है, उसी प्रकार तोते ने अपने पंखों से राजा की हवा की और पद्मावती के सन्देश रूपी अमृत की वर्षा की। (यहाँ पद्मावती के सन्देश को ही संजीवनी बूटी मानना चाहिए।)

टिप्पणी—(१) अलंकार—'रंगहि पान····सोई'—उपमा। 'मूरि सजीवन···· कीर'—रूपकातिशयोक्ति।

(२) 'गरुड़ पंख जस झारै अमृत'—के सम्बन्ध में यह पौराणिक कथा प्रच-लित है कि गरुड़ अपने पंखों पर रखकर स्वर्ग से अमृत का घड़ा लाये थे। मार्ग में घड़े के छलक जाने से अमृत की कुछ बूँदें उनके पंखों पर गिर गईं, इसलिए वे जब अपने पंख फड़फड़ाते थे तो उनमें से उसी अमृत की बूँदें झड़ने लगती थीं।

(२४१)

मुआ जिया अस बास जो पावा। लीन्हेसि[१] साँस, पेट जिउ आवा॥
देखेसि जागि, सुआ सिर नावा। पाती देइ मुख बचन सुनावा॥
गुरु क वचन स्रवन दुइ मेला। कीन्हि सुदिस्टि, बेग चलु चेला॥
तोहि अलि कीन्ह आप भइ केवा। हौं पठवा गुरु[२] बीच परेवा॥
पौन साँस तोसौं मन लाई। जोवै मारग दिस्टि बिछाई॥
जस तुम्ह कया कीन्ह अगि-दाहू। सो सब गुरु कहँ भएउ अगाहू॥
तब उदंत छाला लिखि दीन्हा। बेगि आउ, चाहै सिध कीन्हा॥
आबहु सामि सुलच्छना, जीउ बसै तुम्ह नाँव।
नैनहिं भीतर पंथ है, हिरदय भीतर ठावँ॥२०॥

व्याख्या—उस मृतक समान राजा ने जब ऐसी सुगन्धि पाई; अर्थात् पद्मावती के प्रेम-पत्र को पाया तो वह जी उठा। अथवा मरा हुआ भी जीवित हो उठे, इस प्रकार की संजीवनी की सुवास जब राजा ने पाई तो वह जी उठा। उसने अघा कर साँस ली और उसके शरीर में प्राण लौट आए; अर्थात् उसकी जान में जान आई। जब उसने जाग कर अपने नेत्र खोल कर देखा तो तोते ने झुककर उसे प्रणाम किया

पाठ-भेद—१. बहुरी=लौटी। २. कै=बना कर।

और पत्र देकर मुख से पद्मावती का संदेश सुनाया और गुरु के वचनों को उसके दोनों कानों में डाला। हे शिष्य ! पद्मावती ने तेरे ऊपर सुदृष्टि की है, तू शीघ्र चल। उसने तुझे भ्रमर बनाया है और स्वयं केतकी बन गई है और मुझ पक्षी को गुरु के समान मध्यस्थ बनाकर तेरे पास भेजा है। वह अपनी श्वास पवन को देकर तुझ में मन लगाए हुए है, अर्थात् तुझ से मिलने के लिए व्याकुल हो रही है। वह अपनी आँखें बिछाए तेरा रास्ता देख रही है। जिस प्रकार तूने अपने शरीर का अग्निदाह किया है, वह सब उस गुरु को (पद्मावती को) पहले ही ज्ञात हो गया है। उस समाचार को जानकर गुरु ने इस पत्र में अपना सन्देश लिखकर भेजा है कि यदि सिद्धि प्राप्त करना चाहता है तो तुरन्त आ जा।

हे सुलक्षण स्वामी ! मेरे प्राणों में तुम्हारा नाम बसता है, अर्थात् मैं रात-दिन तुम्हारे नाम की माला जपती हूँ। मेरे नेत्रों के भीतर तुम्हारा मार्ग है, अर्थात् मेरे नेत्रों में केवल तुम ही प्रवेश कर सकते हो और मेरे हृदय में केवल तुम्हारे ही लिए स्थान सुरक्षित है।

(२४२)

सुनि पदमावति कै असि भया। भा बसंत, उपनी नइ कया।।
सुआ क बोल पौन होइ लागा। उठा सोइ, हनुवँत अस जागा।।
चाँद मिलै कै दीन्हेसि आसा। सहसौ कला सूर परगासा।।
पाति लीन्हि, लेइ सीस चढ़ावा। दीठि चकोर चंद जस पावा।।
आस-पियासा जो जेहि केरा। जौं झिझकार, ओहि सहुँ हेरा।।
अब यह कौन पानि मैं पीया। भातन पाँख, पतँग मरि जीया।।
उठा फूलि हिरदय न समाना। कंथा टूक-टूक बेहराना।।
जहाँ पिरीतम वै बसहिं, यह जिउ बलि तेहि बाट।
वह जो बोलावै पावँ सौं, हौं तहँ चलौंहि लिलाट।।२१।।

व्याख्या—राजा रत्नसेन पद्मावती की ऐसी कृपा भरी बातें सुन वसन्त के समान खिल उठा। जैसे उसके शरीर में नव जीवन का संचार हो गया हो। हीरामन तोते के वचन उसे पवन के समान शीतल लगे जिनको सुन वह सोकर हनुमान के समान बलवान बनकर उठ बैठा। अर्थात् जिस प्रकार सोकर उठने पर शरीर और मन की सारी क्लान्ति दूर हो जाती है, उसी प्रकार रत्नसेन पद्मावती के भेजे गए सन्देश को सुनकर स्फूर्ति से भर उठा। चन्द्रमा ने मिलने की आशा दिलाई है, यह सुनकर सूर्य (रत्नसेन) अपनी सहस्र कलाओं के साथ प्रकाशित हो उठा, अर्थात् पूर्ण तेजस्वी बन गया। उसने पद्मावती की पत्री ली, लेकर उसे माथे से लगाया। उसे पाकर उसे ऐसा आनन्द प्राप्त हुआ—मानो चकोर के नेत्रों को चन्द्रमा के दर्शन प्राप्त हो गए हों। जो जिसकी आशा का अभिलाषी होता है अर्थात् जो जिसको चाहता है वह यदि उसे झिड़क भी देता है तो भी वह दूर न हटकर और भी अधिक उसके

सामने अर्थात् पास आ जाता है और उसकी ओर देखने लगता है। राजा सोचने लगा कि यह मैंने कौन-से जल का पान किया है जिससे मेरे शरीर में पंख निकल आए हैं मानो मरा हुआ पतिंगा पुनः जीवित हो उठा हो। भाव यह है कि राजा को उसी प्रकार पुनर्जीवन प्राप्त हुआ मानो पंख-जले पतिंगे के पुनः पंख निकल आए हों। राजा इतना प्रसन्न हुआ कि उसकी प्रसन्नता उसके हृदय में न समा सकी और हृदय के फूलने से उसका कंथा फट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया।

जहाँ मेरा वह प्रियतम निवास करता है, मेरे यह प्राण वहाँ जाने वाले मार्ग पर न्यौछावर हैं। यदि वह मुझे पैरों से चलकर आने के लिए कहे तो मैं सिर के बल चलकर उसके पास पहुँचूँगा।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक।

(२) 'हनुवँत अस जागा'—ऐसा लोक-विश्वास रहा है कि हनुमान छह मास तक सोते थे और फिर उठकर हाँक लगाया करते थे जिससे लंका के राक्षस समुद्र पार कर इस तरफ न आने पाएँ। जायसी इसका उल्लेख पीछे भी कर आए हैं।

(२४३)

जो पँथ मिला महेसहि सेई। गएउ समुद ओहि धँसि लेई।।
जहँ वह कुंड बिषम औगाहा। जाइ परा तहँ पाव न थाहा।।
बाउर अंध पेम कर लागू। सौहँ धँसा, किछु सूझ न आगू।।
लीन्हे सिधि साँसा[1] मन मारा। गुरु मछंदरनाथ सँभारा।।
चेला परे न छाँड़हि पाछू। चेला मच्छ, गुरू जस काछू।।
जस धँसि लीन्ह समुद मरजीया। उघरे नैन, बरै जस दीया।।
खोजि लीन्ह सो सरग-दुआरा। बज्र जो मूँदे जाइ उघारा।।
बाँक चढ़ाव सरग-गढ़[2], चढ़त गएउ होइ भोर।
भइ पुकार गढ़ ऊपर, चढ़े सेंधि देइ चोर।।२२।।

व्याख्या—पद्मावती का पत्र पाकर राजा रत्नसेन तुरन्त गढ़ में प्रवेश करने के लिए रवाना हो गया। जायसी इसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

राजा रत्नसेन को महादेव की सेवा करने से जिस मार्ग का ज्ञान हुआ था, वह उसी मार्ग को प्राप्त करने के लिए समुद्र के भीतर घुस गया। वह उस स्थान पर जा पहुँचा जहाँ वह अत्यन्त अगाध और भयङ्कर कुण्ड स्थित था। वह उसी कुण्ड में जा घुसा जिसकी कोई थाह नहीं थी। जिसके हृदय में प्रेम की लगन होती है वह पागल और अन्धा-सा बन जाता है—इसीलिए आगे क्या है; इसकी परवाह न कर जो मार्ग सामने आ जाता है, उसी पर चल पड़ता है। राजा रत्नसेन भी आगे आने वाले संकटों की चिन्ता न कर पागल और अन्धे के समान सामने वाले मार्ग पर ही

पाठ-भेद—१. धँसि सुवाँस। २. सुरंग-गढ़=गढ़ की सुरंग।

अग्रसर हुआ। उसने अपने साथ सिद्ध गुटिका ली और साँस तथा मन को अपने वश में कर अर्थात् साहस कर तथा प्राणायाम चढ़ा सीधा घुसता चला गया। गुरु मत्स्येन्द्र-नाथ ने उसकी रक्षा की। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि वह गुरु मत्स्येन्द्र नाथ का स्मरण कर घुस पड़ा।) यदि चेला दूर भी हो तब भी गुरु उसका पीछा करना नहीं छोड़ता, अर्थात् सदैव उसके साथ रह उसकी रक्षा करता रहता है। चेला मछली के समान चंचल होता है और गुरु कछुए के समान स्थिर। जिस प्रकार मर-जीवा (गोताखोर) समुद्र में घुस जाता है और फिर जब ऊपर निकलता है तो उसके नेत्र लाल हो जाते हैं, उसी प्रकार जब राजा ने उस कुंड में डुबकी लगा ऊपर निकल नेत्र खोले तो वे दीपक के समान जल रहे थे, अर्थात् भयंकर रूप से लाल हो रहे थे। इस प्रकार उसने उस स्वर्ग को जाने वाले दरवाजे को खोज लिया, जिस पर वज्र के समान किवाड़ लगे हुए थे। उसने उन किवाड़ों को खोल दिया।

उस स्वर्ग-गढ़ अर्थात् स्वर्ग के समान ऊँचे गढ़ की चढ़ाई बड़ी टेढ़ी और चक्करदार थी। उस पर चढ़ते-चढ़ते राजा को सवेरा हो गया। गढ़ के ऊपर उसे आया देख पहरेदारों ने शोर मचाया कि चोर सेंध लगाकर ऊपर चढ़ आए हैं।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—समासोक्ति माना जा सकता है।

(२) इस छन्द में जायसी ने समासोक्ति का प्रयोग कर दो प्रकार के अर्थ भर दिए हैं। एक तो गढ़ का सीधा-सादा-सा वर्णन है। महादेव ने राजा को गढ़ का रहस्य बताते हुए इस मार्ग का विस्तृत परिचय पहले ही दे दिया था। गढ़ के नीचे एक कुंड था जिसमें होकर सुरंग गढ़ के भीतर जाती थी। उसी सुरंग द्वारा गढ़ के ऊपर पहुँचा जा सकता था। कुंड में डुबकी लगाते समय साँस रोक कर उतरना पड़ता था जिससे नेत्र लाल हो उठते थे।

दूसरा समासोक्तिपरक अर्थ हठयोग की साधना का है। मूलाधार चक्र गढ़ के नीचे वाला कुंड है, उसमें होकर कुंडलिनी सुरंग रूपी सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ती है। मार्ग में विद्युत् जैसा प्रकाश होता है और स्वर्ग-द्वार अर्थात् हठयोग के दशम द्वार पर त्रिकुटी रूपी वज्र के किवाड़ मिलते हैं, जहाँ पहुँचने पर अनहद नाद सुनाई पड़ता है। यही गढ़ के रक्षकों द्वारा मचाया गया शोर है।

२४

गंधर्वसेन-मंत्री-खंड

(२४४)

राजै सुनि, जोगी गढ़ चढ़े। पूछै पास जो पंडित पढ़े॥
जोगी गढ़ जो सेंधि दे आवहिं। बोलहु सबद सिद्ध जस पावहिं॥
कहहिं बेद पढ़ि पंडित बेदी। जोगि भौंर जस मालति-भेदी॥
जैसे चोर सेंधि सिर मेलहिं। तस ए दुवौ जीउ पर खेलहिं॥
पंथ न चलहिं बेद जस लिखा। सरग जाए सूरी चढ़ि सिखा॥
चोर होइ सूरी पर मोखू। देइ जौ सूरि तिन्हहि नहिं दोखू॥
चोर पुकारि बेधि घर[1] मूसा। खोलै राज-भँडार मँजूसा॥
जस ए राजमँदिर महँ, दीन्ह रैनि कहँ सेंधि[2]।
तस छेंकहु[3] पुनि इन्ह कहँ, मारहु सूरी बेधि॥१॥

शब्दार्थ—पढ़े=विद्वान्। सबद=व्यवस्था, शास्त्र-सम्मत मत। सिद्धि=निर्णय। बेदी=वेदज्ञ। मालति-भेदी=मालती पुष्प को भेद डालने वाला।

व्याख्या—राजा रत्नसेन और उसके साथी सिंहलगढ़ के ऊपर जा पहुँचे। पहरेदारों ने जाकर राजा गंधर्वसेन को इसकी सूचना दी। जायसी इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जब राजा गंधर्वसेन ने यह सुना कि योगी गढ़ पर चढ़ आए हैं तो उसने अपने पास रहने वाले अर्थात् राज-दरबार के विद्वान पंडितों को बुलाकर पूछा कि शास्त्रों के आधार पर निर्णय कर यह बताओ कि जो योगी सेंध लगा कर गढ़ के भीतर प्रवेश करते हैं उन्हें कौन-सा दंड देना चाहिए। वेदों के ज्ञाता पंडितों ने वेदों का अध्ययन कर उत्तर दिया कि योगी उस भ्रमर के समान हैं जो मालती पुष्प की गन्ध प्राप्त करने के लिए उसे वेध डालते हैं। जिस प्रकार चोर सेंध लगाकर उसमें अपना सिर भीतर डाल कर घुसते हैं, उसी प्रकार ये योगी भी अपने प्राणों की परवाह न कर गढ़ पर चढ़ आए हैं। चोर और योगी—दोनों ही अपने प्राणों पर खेलने वाले होते

पाठ-भेद—१. गढ़। २. जस भंडार ये मूसहिं चढ़हिं रैनि दै सेंधि। ३. तस चाही=उसी प्रकार।

हैं । ये लोग वेद-मार्ग पर नहीं चलते अर्थात् वेदादि धर्म-ग्रन्थों द्वारा निर्धारित नियमों को मानकर नहीं चलते । ये स्वर्ग जाने के लिए सूली पर चढ़ना सीखते हैं । चोर को सूली पर चढ़ने से ही मोक्ष मिलता है, अर्थात् उसके पाप प्राणदण्ड पाकर दूर हो जाते हैं । जो लोग अर्थात् राजागण इन्हें सूली देते हैं उन्हें कोई दोष नहीं लगता । चोर आवाज लगाकर, अर्थात् चुनौती देकर घर में सेंध लगाकर लूट लेते हैं और राज-भंडार की मंजूषा (रत्न-पेटिका) को खोलते हैं ।

जिस प्रकार इन योगियों ने रात को राजमहल में सेंध लगाई है, उसी प्रकार तुम चुप-चाप जाकर इन्हें घेर लो और सूली पर चढ़ा कर मार डालो ।

टिप्पणी—(१) 'जैसे चोर……खोलहिं'—पंक्ति में जायसी सूफी संत मंसूर की ओर संकेत कर रहे हैं, जिन्हें 'अनलहक' कहने के कारण खलीफा ने सूली पर चढ़ा दिया था ।

(२) 'पंथ न……सिखा'—पंक्ति सभी प्रकार के उन साधकों की ओर संकेत करती है जो धर्मशास्त्रों का विधि-निषेध स्वीकार न कर अपना निराला स्वच्छन्द मार्ग अपना कर साधना करते है । इस्लाम के सूफी तथा हिन्दुओं के हठयोगी आदि इसी प्रकार के साधक माने जाते हैं जो धर्म-व्यवस्था की परवाह नहीं करते ।

(३) 'बोलहु सबद……जस पावहिं'—पंक्ति तत्कालीन 'न्याय-व्यवस्था का सुन्दर परिचय देती है । उस युग में राजा न्याय करते समय मनमानी न कर विद्वानों से राय लेकर तब अपराधियों का निर्णय किया करते थे और विद्वान धर्म-शास्त्र के अनुसार ही अपनी राय दिया करते थे ।

(४) 'राजभँडार मँजूसा'—का साधारण अर्थ रत्नों की पेटी है परन्तु सहजिया सम्प्रदाय के अनुसार इसका एक योगपरक अर्थ भी होता है । इस सम्प्रदाय में 'सरग' या आकाश से ऊपर महासुख चक्र या सर्वशून्य स्थान है । कान्हपाद के एक गीत में कहा गया है कि वहाँ तक पहुँचने के लिए मोहभंडार के वासनागार (जायसी का राजभंडार) का लूटा जाना आवश्यक है ।—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

(२४५)

राँध जो मंत्री बोले सोई । ऐस जो चोर सिद्ध पै कोई ॥
सिद्ध निसंक रैनि[1] दिन भवँहीं । ताका जहाँ तहाँ अपसबहीं ॥
सिद्ध निडर अस अपने जीवा । खड़ग देखि कै नावहिं गीवा ॥
सिद्ध जाइ पै जिउबध जहाँ । औरहि मरन-पंख अस कहाँ ? ॥
चढ़ा जो कोपि गगन उपराहीं । थोरे साज मरै सो नाहीं ॥
जंबुक जूझ[2] चढ़ै जो राजा । सिंघ साज कै चढ़ै तौ छाजा ॥
सिद्ध अमर, काया जस पारा । छरहि मरहिं, बर जाइ न मारा ॥

पाठ-भेद—१. रैनि पै = रात में भी । २. छेकि = घेर कर ।

छरही काज कृस्न कर छाजा, राजा चढ़ै[1] रिसाइ।
सिद्धगिद्ध जिन्ह दिस्टि गगन, बिनु छर किछु न बसाइ ॥२॥

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन के समीप जो मंत्री बैठे थे, उन्होंने कहा कि हे महाराज! यदि वे ऐसे चोर हैं तो अवश्य कोई सिद्ध होंगे। सिद्ध रात-दिन निडर होकर रहते हैं। वे जिधर देखते हैं, उधर ही चल देते हैं। सिद्ध अपने मन में इतने निडर होते हैं कि तलवार को देख उसके सामने अपनी गर्दन झुका देते हैं। सिद्ध उसी स्थान पर जाते हैं जहाँ प्राणों का वध किए जाने की आशंका होती है। और किसके ऐसे मरण-पंख उगते हैं? भाव यह है कि जिस प्रकार चींटे मरण-पंख उगने पर स्वतः ही दीपक की ओर उड़ कर मरने के लिए चल देते हैं, मृत्यु की चिन्ता नहीं करते, उसी प्रकार ये सिद्ध भी अपने प्राणों की चिन्ता न कर उसी स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ उनके प्राणों का भय रहता है; अर्थात् ये मृत्यु से कभी नहीं डरते। जो सिद्ध क्रुद्ध होकर आकाश के ऊपर चढ़े हैं, अर्थात् इस गगनचुम्बी गढ़ के ऊपर आ चढ़े हैं, वे थोड़ी-सी सेना द्वारा नहीं मारे जा सकते। इसलिए हे राजन्! यदि आप साधारण तैयारी के साथ ही इन पर आक्रमण करोगे तो वह सिंह के साथ शृंगाल के युद्ध करने के समान नाश का कारण बन जायेगा। आपकी शोभा तो तभी है जब तुम सिंह के समान वीरों की सेना सजाकर पूरी तैयारी के साथ उन पर आक्रमण करो। सिद्ध अमर होते हैं। उनके शरीर उसी प्रकार शस्त्रों द्वारा नहीं काटे जा सकते, जिस प्रकार पारे को काटने पर वह पुनः जुड़ जाता है। इन सिद्धों को तो केवल छल द्वारा ही मारा जा सकता है। बल-प्रयोग करने से इनका वध नहीं किया जा सकता।

कृष्ण ने छल अर्थात् कूटनीति द्वारा ही अपने कार्य सिद्ध किए थे। परन्तु राजा कूटनीति का सहारा न ले, क्रोध में भर आक्रमण कर बैठते हैं। सिद्ध गिद्ध के समान सदैव आकाश में स्थित रह अपने लक्ष्य की ओर दृष्टि लगाए रहते हैं। बिना छल का प्रयोग किए ऐसे इन सिद्धों पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती।

(२४६)

अबहीं करहु गुदर मिस साजू। चढ़हिं बजाइ जहाँ लगि राजू ॥
होहिं सँजोवल कुँवर जो भोगी। सब दर छेंकि धरहिं अब जोगी ॥
चौबिस लाख छत्रपति साजे। छपन कोटि दर बाजन बाजे ॥
बाइस सहस हस्ति सिंघली। सकल पहार[2] सहित महि हली ॥
जगत बराबर वै सब चाँपा। डरा इंद्र, बासुकि हिय काँपा ॥
पदुम कोटि रथ साजे आवहिं। गिरि होइ खेइ गगन कहँ धावहिं ॥
जनु भुइँचाल चलत महि परा। टूटी कमठ-पीठि[3], हिय डरा ॥

पाठ-भेद—१. छरहिं=छलपूर्वक। २. पब्बै=पर्वत। ३. कुरुँभ=कच्छप।

छत्रहि सरग छाइगा, सूरुज गएउ अलोपि।
दिनहिं राति अस देखिय, चढ़ा इन्द्र अस कोपि ॥३॥

शब्दार्थ—गुदर=राजा के दरबार में हाजिरी, आधुनिक अर्थ में सैन्य-प्रदर्शन अर्थात् General Parade। मिस=बहाना। सँजोवल=सावधान, तैयार। भोगी=राजा से भोग या गुजारा पाने वाले जागीरदार, सरदार, सामन्त आदि। दर=दल, सेना।

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन के मन्त्री राजा को सलाह देते हुए कहते हैं कि योगियों को पकड़ने के लिए भारी तैयारी करनी चाहिए—

हे महाराज! तुम अभी सेना की आम कवायद करवाने के बहाने से अपने राज्य की सम्पूर्ण सेना को खूब धूमधाम के साथ युद्ध के बाजे बजाते हुए अपने सामने एकत्र होने की आज्ञा प्रचारित कराओ। आपके आश्रित सारे राजकुमार आदि सावधान हो तैयार हो जायेंगे और उन योगियों को चारों ओर से घेर कर पकड़ लेंगे। (राजाज्ञा के प्रचारित होते ही) चौबीस लाख राजा अपनी सेना सजाकर आ गए और उनकी सेनाओं के छप्पन करोड़ बाजे बजने लगे। उनकी सेना में बाईस हजार ऐसे विशालकाय सिंहली हाथी आए जिनके चलने से पृथ्वी अपने सम्पूर्ण पहाड़ों के बोझ सहित हिलने लगी। उन हाथियों ने अपने पैरों से रौंदकर सारी धरती को एक-सा चौरस बना दिया। उनके कारण इन्द्र भयभीत हो उठा (कि कहीं ये मुझ पर आक्रमण करने तो नहीं आ रहे) और शेषनाग का हृदय उनके चलने की धमक से काँपने लगा। पद्मों और करोड़ों अर्थात् असंख्य रथ सेना के साथ आ रहे थे जिनके चलने से पर्वत चूर-चूर हो धूल बन जाते थे और धूल बनकर ऊपर आकाश की ओर उड़ जाते थे। उनके चलने से ऐसा प्रतीत होता था मानो पृथ्वी भूचाल के कारण डगमगा रही हो। उनके पैरों की धमक से कच्छप की पीठ टूट गई और वह हृदय में भयभीत हो उठा।

राजाओं के रथों पर लगे छत्र सारे आकाश में छा गए जिनके कारण सूर्य छिप गया और दिन रात के समान दिखाई पड़ने लगा। राजा गंधर्वसेन इस प्रकार इन्द्र के समान कुपित होकर योगियों पर आक्रमण करने चला।

टिप्पणी—अलंकार—सम्बन्धातिशयोक्ति।

(२४७)

देखि कटक औ मैमँत हाथी। बोले रतनसेन कर साथी ॥
होत आव दल बहुत असूझा। अस जानिय किछु होइहि जूझा ॥
राजा तू जोगी होइ खेला। एही दिवस कहँ हम भए चेला ॥
जहाँ गाढ़ ठाकुर कहँ होई। संग न छाँड़ै सेवक सोई ॥
जो हम मरन-दिवस मन ताका। आजु आइ पूजी वह साका ॥
बरु जिउ जाइ, जाइ नहिं बोला। राजा सत-सुमेरु नहिं डोला ॥

गुरू केर जौ आयसु पावहिं। सौंह होहिं औ चक्र चलावहिं ।।
आजु करहिं रन भारत, सत बाचा देइ राखि ।
सत्य देख सब कौतुक, सत्य भरै पुनि साखि ।।४।।

व्याख्या - राजा गंधर्वसेन की उस सेना तथा मतवाले हाथियों को देखकर राजा रत्नसेन के साथी कहने लगे—'हे राजा ! अपार सेना बढ़ती चली आ रही है। ऐसा लगता है कि आज युद्ध होगा। तुम योगी बनकर विचरण करने घर से निकल पड़े हो। हम इसी दिन के लिए तो तुम्हारे शिष्य बने थे। जहाँ स्वामी पर गहरा संकट आकर पड़ता है, सच्चा सेवक वही है जो ऐसे संकट में अपने स्वामी का साथ न छोड़े। हम अपने मन में जिस मृत्यु-दिवस के सम्बन्ध में सोचते थे अर्थात् रणक्षेत्र में प्राण त्याग करने की जो भावना हमारे मन में समाई हुई थी, आज वह शुभ दिवस आ पहुँचा है अर्थात् आज हमारी वह मनोकामना पूर्ण होने का अवसर आ गया है। इस युद्ध में भले ही हमारे प्राण चले जायँ, परन्तु हमारी प्रतिज्ञा नहीं जाने पायेगी अर्थात् हमारी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी होगी। हे राजा ! सत्य का सुमेरु कभी विचलित नहीं होता, अर्थात् हमारी प्रतिज्ञा पर्वत के समान अटल है। यदि हमें गुरु की (तुम्हारी) आज्ञा मिल जाय तो हम उस सेना के सामने जा डटें और चक्र चलाएँ। (योगियों के पास केवल चक्र ही हथियार के रूप में रहते थे, अन्य शस्त्र नहीं।)

हम आज अपने सत्य वचन की रक्षा के लिए महाभारत के समान भयंकर युद्ध करेंगे। साक्षात् सत्य ही आज हमारे इस कौतुक को देखेगा और फिर वही हमारी साक्षी देगा, अर्थात् हमारा सत्य इस युद्ध का साक्षी या सहायक होगा।

टिप्पणी—'सत्य देख सब कौतुक'—में उस भावी युद्ध को कौतुक इसलिए कहा गया है कि योगी अन्य हथियारों के अभाव में केवल चक्रों द्वारा ही युद्ध कर एक चमत्कार-सा उत्पन्न कर देंगे।

(२४८)

गुरू कहा चेला सिध होहू। पेम-बार होइ करहु न कोहू ।।
जाकहँ सीस नाइ कै दीजै। रंग न होइ ऊभ जौ कीजै ।।
जेहि जिउ पेम पानि भा सोई। जेहि रँग मिलै ओहि रंग होई ।।
जो पैं जाइ पेम सौं जूझा। कित तप मरहिं सिद्ध जो बूझा ? ।।
एहि सेंति[1] बहुरि जूझ नहिं करिए। खड़ग देखि पानी होइ ढरिए ।।
पानिहि काह खड़ग कै धारा। लौटि पानि होइ सोइ जो मारा ।।
पानी सेंती आगि का करई ?। जाइ बुझाइ जौ पानी परई ।।
सीस दीन्ह मैं अगमन, पेम-पानि[2] सिर मेलि ।
अब सो प्रीति निबाहौं, चलौं सिद्ध होए खेलि ।।५।।

पाठ-भेद—१. सत=सत्य। २. पेम पाय=प्रेम के चरणों में।

व्याख्या—अपने साथियों की उत्साह और क्रोध से भरी बातें सुनकर राजा रत्नसेन ने उनसे कहा कि—हे शिष्यो ! तुम लोग सिद्ध बनो। प्रेम के दरवाजे पर जाकर क्रोध मत करो। जिसके सम्मुख एक बार अपना शीश झुका कर आत्म-समर्पण कर दिया जाता है उसके सम्मुख पुनः अपने उसी शीश को गर्व या क्रोध के कारण ऊपर उठाने से (इस प्रेम के खेल में) कोई मजा नहीं रह जाता। जिसके हृदय में प्रेम होता है वह तो पानी के समान द्रवणशील, तरल और प्रवाहित हो उठने वाला होता है। जिस प्रकार पानी जिस रंग में मिलता है, स्वयं उसी रंग को धारण कर लेता है, उसी प्रकार प्रेमी को अपने प्रियतम के रंग में पूरी तरह से रँग लेता है। यदि प्रेम से युद्ध किया जा सकता तो वे सिद्ध पुरुष, जो प्रेम को जानते हैं, उसे प्राप्त करने के लिए क्यों तपस्या करके जान खपाते ? इसलिए हमें पलट कर अर्थात् बदले में युद्ध नहीं करना चाहिए। हमें तलवार को देखकर पानी के समान ढुलक जाना चाहिए, अर्थात् तलवार की कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पानी को तलवार की धार से क्या भय ? पानी को तलवार से काटने पर पानी पुनः जुड़ जाता है और वह काटने वाला अपने कर्म की विफलता देख खुद लज्जा से पानी-पानी हो जाता है। पानी का आग क्या बिगाड़ सकती है ? यदि उस आग पर पानी गिर जाय तो वह तुरन्त बुझ कर नष्ट हो जाती है। भाव यह है कि हम सिद्ध और प्रेमी हैं, इसलिए हमें स्वयं क्रोध नहीं करना चाहिए, क्योंकि शत्रु का क्रोध हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा, बल्कि अन्त में उसे पराजित हो स्वयं ही लज्जा के कारण पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

मैने पहले ही प्रेम रूपी पानी में अपने शीश को डाल आत्म-समर्पण कर रखा है। इसलिए अब तो मैं उस प्रेम को निभाऊँगा और सिद्ध होकर ही विचरण करूँगा।

टिप्पणी—अलंकार—पूर्णोपमा।

(२४९)

राजै छेंक धरे सब जोगी। दुख ऊपर दुख सहै बियोगी॥
ना जिउ धरक धरत होइ कोई। नाहीं मरन जियन डर होई॥
नाग-फाँस उन्ह मेला गोवा। हरख न बिसमौ एकौ जीवा॥
जेइ जिउ दीन्ह सो लेइ निकासा। बिसरै नहिं जौ लहि तन साँसा॥
कर किंगरी तेहि तंतु बजावै। इहै गीत बैरागी गावै॥
भलेहि आनि गिउ मेली फाँसी। है न सोच हिय, रिस सब नासी॥
मैं गिउ फाँद आहि दिन मेला। जेहि दिन पेमपंथ होइ खेला॥
परगट गुपुत सकल महँ[1], पूरि रहा सो नावँ।
जहँ देखौ तहँ ओही, दूसर नहिं जहँ जावँ॥६॥

पाठ-भेद—१. महि मंडल।

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन ने योगियों को चारों तरफ से घेर कर पकड़ लिया। वियोगी रत्नसेन दुख पर दुख उठाने लगा। उन योगियों में से किसी के भी हृदय में किसी भी प्रकार की कोई आशंका नहीं थी। और न मरने-जीने का ही कोई भय था ! राजा गंधर्वसेन ने उसकी गर्दनों में नागफाँस डाल दी थी, पर इससे उन योगियों के मन में हर्ष या विषाद की कोई भावना नहीं उत्पन्न हुई; अर्थात् वे समरस होकर उन कष्टों को झेलते रहे। जिसने जीवन दिया है वह भले ही उसे ले ले। परन्तु जब तक शरीर में साँस है तब तक उस जीवनदाता को नहीं भुलाया जा सकता। (यहाँ जीवन-दाता से लौकिक अर्थ में अभिप्राय पद्मावती से है तथा अध्यात्म पक्ष में ईश्वर से।) वह वैरागी राजा रत्नसेन हाथ में किंगरी (छोटी सारंगी) लिए उसके तारों को छेड़ता रहा और यही गीत गाता रहा (कि जिसने जीवन दिया है वह भले ही उसे ले ले।) भले ही उसने अपने हाथों ही गले में फाँसी का फन्दा डाल लिया था, परन्तु इस बात का उसे तनिक भी अफसोस या चिन्ता नहीं थी—क्योंकि उसने अपने क्रोध पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। राजा रत्नसेन कहने लगा कि मैंने तो अपनी गर्दन में उसी दिन फन्दा डाल लिया था जिस दिन मैं प्रेम-पंथ पर विचरण करने निकल पड़ा था।

अब तो सम्पूर्ण पृथ्वी में प्रकट या गुप्त रूप में केवल वही एक नाम (पद्मावती का नाम) गूँज रहा है। मैं जहाँ देखता हूँ वही दिखाई देती है। मेरे लिए अब ऐसा दूसरा कोई स्थान नहीं रहा जहाँ मैं जाऊँ। (यहाँ नाम की सर्वव्यापकता से ईश्वर के नाम का अभिप्राय भी ग्रहण किया जा सकता है।)

टिप्पणी—इस पद में कवि ने सारी आशंकाओं से निस्पृह प्रेम-विह्वल योगी का बड़ा सुन्दर भावात्मक शब्द-चित्र अंकित किया है। जायसी प्रेम-प्रसंगों का चित्रण करने में कहीं-कहीं सूरदास के समकक्ष पहुँचे से प्रतीत होते हैं। वे स्वयं सूफी थे, इसलिए प्रेम का अंकन करने में उन्हें इतनी सफलता प्राप्त हुई है। अनुभूति की इतनी गहन व्यंजना, अन्यत्र इतने सरल शब्दों में प्रायः कम ही दिखाई पड़ती है।

(२५०)

जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा। कोटि अँतरपट बीचहि दीन्हा॥
जब चीन्हा तब और न कोई। तन मन जिउ जीवन सब सोई॥
'हौं हौं' करत धोख इतराहीं। जब भा सिद्ध कहाँ परछाहीं ?॥
मारै गुरू, कि गुरू जियावै। और को मार ? मरै सब आवै॥
सूरी मेलु, हस्ति करु चूरू। हौं नहिं जानौं; जानै गुरू॥
गुरू हस्ति पर चढ़ा जो पेखा। जगत जो नास्ति, नास्ति पै देखा॥
अंध मीन जस जल महँ धावा। जल जीवन जल दिस्टि न आवा॥
गुरु मोरे मोरे हिये, दिए तुरंगम ठाठ।
भीतर करहिं डोलावै, बाहर नाचै काठ॥७॥

शब्दार्थ—अँतरपट=परदा, व्यवधान। हस्ति करु चुरू=हाथी से कुचलवा चूर-चूर कर डाले। नास्ति=नश्वर। जल जीवन……आवा=यह जीवन जल-सा चंचल है, यह दिखाई नहीं देता। ठाठ=ढाँचा। करहिं=हाथ से या कल को।

व्याख्या—राजा रत्नसेन कह रहा है कि—जब तक मैं गुरु को अर्थात् पद्मावती को पूरी तरह से नहीं पहचान पाया था तब तक मेरे और उसके बीच करोड़ों प्रकार के अन्तर (परदे) पड़े हुए थे। डा० मुंशीराम शर्मा ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है कि—जब तक मैं गुरु बना रहा तब तक मैं उसे—प्रभु को—न पहचान सका।) और जब मैंने उसे पहचान लिया तो उसके अतिरिक्त अब कोई भी दूसरा नजर नहीं आता। अब वही मेरा तन, मन, प्राण, जीवन आदि सभी कुछ है। मैं अब तक 'मैं, मैं' करता हुआ धोखे में पड़ा गर्व से इतराता रहा, अर्थात् अपने अहं के कारण अपने को महत्त्व दे गर्व करता रहा। परन्तु जब मैं सिद्ध हो गया अर्थात् मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया तो अब परछाईं कहाँ रही? भाव यह है कि परछाईं का अस्तित्व शरीर से पृथक् न होकर उसी का प्रतिरूप मात्र होता है। ज्ञान होने पर ही शरीर और परछाईं की यह एकरूपता समझ में आती है। रत्नसेन पद्मावती (या उस प्रभु) की परछाईं मात्र था। उसका अस्तित्व उसी के कारण था। यह ज्ञान होते ही उसका अहंभाव तिरोहित हो गया, अर्थात् जीव ब्रह्म की छाया है, यह द्वैत भावना न रह गई। अब मेरा गुरु ही मुझे मार सकता है अथवा जीवित रख सकता है। गुरु के अतिरिक्त अब मुझे और कोई भी नहीं मार सकता, क्योंकि इस संसार में तो सब स्वयं मरने के लिए ही आते हैं। अब मेरा गुरु चाहे मुझे सूली पर चढ़ा दे या हाथी के पैरों तले कुचलवा कर चूर-चूर कर डाले, इस बात से अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इसे तो अब गुरु ही जाने कि उसे क्या करना है। गुरु हाथी के ऊपर बैठा सब देख रहा है। संसार यदि नश्वर है (नाशवान है), तो गुरु उस नश्वर को ही देख रहा है। जिस प्रकार अन्धी मछली जल के भीतर दौड़ती है और यह नहीं देख पाती कि वह जल चंचल है, आगे बह जाने वाला है, उसी प्रकार जीव भी इस संसार में लिप्त रहता हुआ यह नहीं जानता कि यह संसार नाशवान और जल के समान चंचल है।

मेरा गुरु मेरे हृदय में स्थित है; अर्थात् पद्मावती मेरे हृदय में निवास करती है। उसी ने मुझे यह शरीर रूपी घोड़े का-सा ढाँचा प्रदान किया है। वह हृदय के भीतर बैठी हुई मुझे जैसा इशारा करेगी, मेरा यह बाहरी शरीर उसी के अनुसार नाचने लगेगा। (काठ का घोड़ा उसके भीतर स्थित यंत्र के चलाने से चलने लगता है। यहाँ शरीर काठ का घोड़ा तथा पद्मावती के प्रति प्रेम आज्ञा देने वाला अर्थात् उस यंत्र को चलाने वाला है।)

टिप्पणी—(१) इस पद में पद्मावती और ईश्वर को एकरूप-सा दिखाया गया है। इसलिए इसका अध्यात्मपरक अर्थ भी लिया जा सकता है।

(२) 'जगत जो···पै देखा'—से भाव यह है कि जो जगत नाशवान दिखाई देता है उसे गुरु भी प्रत्यक्ष देखता रहता है, अर्थात् वह सर्वदर्शी होता है।

(२५१)

सो पदमावति गुरु हौं चेला। जोग-तंत जेहि कारन खेला ॥
तजि वह बार न जानौं दूजा। जेहि दिन मिलै, जातरा पूजा ॥
जीउ काढ़ि भुइँ धरौं लिलाटा। ओहि कहँ देउँ हिये महँ पाटा ॥
को मोहि ओहि छुआवै पाया। नव अवतार, देइ नइ काया ॥
जीउ चाहि जो अधिक पियारी। माँगै जीउ, देउँ बलिहारी ॥
माँगै सीस, देउँ सह गीवा। अधिक तरौं जौं मारै जीवा ॥
अपने जिउ कर लोभ न मोहीं। पेम-बार होइ माँगौं ओही ॥
दरसन ओहि कर दिया जस, हौं सो पखारि[1] पतङ्ग।
जो करवत सिर सारैं, मरत न मोरौं अङ्ग ॥८॥

व्याख्या—ऐसी वह पद्मावती मेरी गुरु और मैं उसका चेला हूँ। मैंने उसके कारण ही योग-तंत्र का यह खेल खेला है, अर्थात् योगी वेश धारण कर योग की साधना की है। मैं उसके दरवाजे को छोड़ अन्य किसी के दरवाजे को नहीं जानता। जिस दिन उससे मिलन होगा, उसी दिन मेरी यह यात्रा सफल होगी। मैं उसके सम्मुख अपने प्राणों को निकाल कर मस्तक को भूमि पर रख दूँगा और उसके लिए अपने हृदय में सिंहासन दूँगा, अर्थात् उसे अपने हृदय रूपी सिंहासन पर बैठा लूँगा। ऐसा कौन है जो मुझे उसके पास ले जाकर उसका पद-स्पर्श करवाए। ऐसा व्यक्ति मुझे नव-जीवन प्रदान कर नया शरीर देगा, अर्थात् ऐसा होने पर ही मुझे नव-जीवन प्राप्त होगा। वह पद्मावती, जो मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय है, यदि मेरे प्राण भी माँगे तो मैं उन्हें भी उस पर न्यौछावर कर दूँगा। यदि वह मुझसे मेरा शीश माँगे तो मैं उसे अपनी गर्दन सहित शीश दे दूँगा। और यदि वह मेरे प्राणों का संहार कर दे तो मैं और भी अच्छी तरह से तर जाऊँगा। मुझे अपने प्राणों का कोई लोभ नहीं है। प्रेम के द्वार पर खड़ा मैं केवल उसे ही (पद्मावती को) माँग रहा हूँ।

मेरे लिए उसका दर्शन दीपक के समान है जिस पर मैं पतिंगा बन अपने को बलिदान कर दूँगा। यदि वह आरे से मेरा सिर कटवाये तो भी मैं मरते समय अपने एक भी अंग को नहीं मोड़ूँगा; अर्थात् पीड़ा के कारण चेहरे पर शिकन तक न आने दूँगा।

टिप्पणी—अलंकार—उपमा।

(२५२)

पदमावति चँवला ससि-जोती। हँसै फूल, रोवै सब मोती ॥
बरजा पितै हँसी औ रोजू। लागे दूत, होइ निति खोजू ॥
अबहि सुरुज कहँ लागा राहू। तबहिं कँवल मन भएउ अगाहू ॥

पाठ-भेद—१. भिखारि।

बिरह अगस्त जो बिसमौ उएऊ। सरवर-हरष सूखि सब गएऊ ॥
परगट ढारि सकै नहिं आँसू। घटि घटि माँसु गुपुत होइ नासू ॥
जस दिन माँझ रैनि होइ आई। बिगसत कँवल गएउ मुरझाई ॥
राता बदन गएउ होइ सेता। भँवत भँवर रहि गए अचेता ॥
चित्त जो चिंता कीन्ह[1] धनि, रोवैं रोवँ समेत।
सहस साल सहि, आहि भरि, मुरुछि परी, गा चेत ॥६॥

व्याख्या - पद्मावती कमल और चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान खिली हुई और प्रफुल्लित थी। उसके हँसने से फूल झड़ते थे, और रोने से मोती। पिता (राजा गंधर्वसेन) ने उसके हँसने और रोने पर पाबन्दी लगा दी। एक दूती उसके ऊपर नियुक्त कर दी जो नित्य उसकी चौकसी करती रहती थी। जब सूर्य को राहु का ग्रहण लगता है तो कमल को पहले से ही उसका पता लग जाता है। इसी प्रकार जब पद्मावती के पिता रूपी राहु ने उसके प्रेमी रूप सूर्य (रत्नसेन) को पकड़ लिया तो पद्मावती रूपी कमल को इसका पहले से ही ज्ञान हो गया। विरह रूपी अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने से पद्मावती को जो विषाद हुआ उसके कारण उसके हर्ष रूपी सरोवर का सारा जल सूख गया, अर्थात् पद्मावती को दुख ने घेर लिया। (अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने से पृथ्वी का सारा जल सूख जाता है। तुलसी ने लिखा है—'उदित अगस्त पंथ जल सोखा।') पद्मावती सबके सामने तो आँसू नहीं बहा सकती थी, इसलिए वेदना की अग्नि के दाह के कारण उसका मांस धीरे-धीरे, भीतर-ही-भीतर छीज-छीज कर नष्ट होने लगा। पद्मावती की दशा उस खिले हुए कमल के समान थी जो दिन में ही बादलों के घिर आने के कारण हो आई रात को देखकर मुरझा जाता है। उसका गुलाबी मुखड़ा सूखकर सफेद हो गया और भ्रमर के समान चंचल नेत्र, जो सदैव इधर-उधर घूमते रहते थे, मानो मूर्च्छित हो निश्चल हो गए। भाव यह है कि पद्मावती फटी-फटी-सी आँखों से टकटकी लगाए देखती रहती थी।

उस नारी अर्थात् पद्मावती ने अपने चित्त में जो चिन्ता की—उसके कारण उसका रोम-रोम रो उठा। वह हजारों दुख सह, आह भर, मूर्च्छित हो गिर पड़ी और बेहोश हो गई।

टिप्पणी—अलंकार—उपमा।

(२५३)

पदमावति सङ्ग सखी सयानी। गनत नखत सब रैनि बिहानी[2] ॥
जानहि मरम कँवल कर कोईं। देखि बिथा बिरहिन कै रोईं ॥

पाठ-भेद—१. चितहि जो चित्र कीन्ह=चित्त में, मन में जो चित्र बनाया। २. गुनि कै नखत पीर ससि जानी=नक्षत्र रूपी सखियों ने मन में विचार कर उसकी पीड़ा को जान लिया।

बिरहा कठिन काल कै कला। बिरह न सहै, काल बरु भला ॥
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा। बिरह-काल मारे पर मारा ॥
बिरह आगि पर मेलै आगी। बिरह घाव पर घाव बजागी ॥
बिरह बान पर बान पसारा। बिरह रोग पर रोग सचारा ॥
बिरह साल पर साल नवेला। बिरह काल पर काल दुहेला ॥
तन रावन होवे सर चढ़ा, विरह भएउ हनुवँत ॥
जारे ऊपर जारै, चित मन करि भसमंत ॥१०॥

व्याख्या—उस वियोग-दग्धा पद्मावती के साथ चतुर सखियाँ थीं, जिन्होंने उसके साथ तारे गिनते सारी रात काट दी। कमल के मर्म को (भेद को) कुमुदिनी ही जानती है, क्योंकि वह उसके साथ रात-दिन रहती है। इसी प्रकार पद्मावती के दुख को सदैव उसके साथ रहने वाली सखियाँ अच्छी तरह से जानती थीं। वे विरहिणी पद्मावती के दुख को देख कर रोने लगीं। कवि कहता है कि विरह काल का अत्यन्त कठिन अर्थात् भयङ्कर रूप है। विरह को कोई नहीं सहन कर सकता। उससे तो मर जाना अच्छा है, अर्थात् विरह से काल कम दुखदायी होता है। काल तो प्राण लेकर सीधा चला जाता है परन्तु विरह रूपी काल मरे हुए को और मारता रहता है। विरह जले हुए को और जलाता है। विरह घाव पर वज्राग्नि का सा काम कर वेदना को और बढ़ा देता है। विरह बाण पर बाण मारता रहता है, विरह रोग पर रोग उत्पन्न करता है, विरह दुख पर और नए दुख देता रहता है; सारांश यह कि विरह काल से भी भयङ्कर काल है।

पद्मावती का यौवन से उमँगता शरीर, मानो रावण के समान दुखदायी हो उसे चिता पर चढ़ा रहा है और हनुमान उसके लिए विरह के समान हो रहे हैं। भाव यह है कि रावण एक तो वसे ही दुखदायी था, उस पर हनुमान ने लंका में आग लगाकर उसे और भी अधिक कष्ट पहुँचाया था। यह पद्मावती का शरीर अपने यौवन के कारण रावण के समान उसके मन को पहले ही बहुत कष्ट दे रहा था, उस पर हनुमान ने कुपित हो उसमें विरह की आग और फूँक दी। वह जले हुए को और अधिक जला रहा है और चित्त और मन को भस्म किए डाल रहा है।

टिप्पणी—अलंकार—'गनत नखत····बिहानी', 'जानहिं मरम····कोई'—में वाक्यार्थोपमा; 'बिरहा कठिन····मारे पर मारा'—में व्यतिरेक; 'तन रावन···हनिवँत'—में रूपक।

(२५४)

कोइ कुमोद पसारहिं पाया[1]। कोइ मलयगिरि छिरकहिं काया ॥
कोइ मुख सीतल नीर चुवावै। कोइ अंचल सौं पौन डोलावै ॥

पाठ-भेद—१. कुमोद परसहिं कर पाया=कोई उसके हाथ पैरों में कुमुद का स्पर्श कराने लगीं।

कोइ मुख अमृत आनि निचोवा। जनु विष दीन्ह, अधिक धनि सोवा ।।
जोवहिं साँस खिनहि खिन सखी। कइ जिउ फिरै पौन-पर पँखी ।।
बिरह काल होइ हिये पईठा। जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा ।।
खिनहिं मूँठि बाँधे, खिन खोला[1]। गही जीभ मुख आव न बोला ।।
खिनहि बेझि कै बानन्ह मारा। कंपि-कँपि नारि मरै बेकरारा ।।
कैसेहुँ बिरह न छाँड़ै, भा ससि गहन गरास।
नखत चहुँ दिसि रोवहिं, अँधियर धरति अकास ।।११।।

व्याख्या—पद्मावती को मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिरता हुआ देख उसकी कोई सखी (कमल की कुमुदिनी रूपी सखी) उसके पैरों को सीधा कर उसे आराम पहुँचाने का प्रयत्न करने लगी, और उसके शरीर पर मलयगिरि का चन्दन छिड़कने लगी। कोई उसके मुख में ठंडा पानी डाल रही थी, और कोई अपने आँचल से उस पर हवा कर रही थी। किसी ने लाकर उसके मुख में अमृत निचोड़ा। परन्तु वह अमृत पद्मावती को विष के समान प्रतीत हुआ और वह और भी गहरी नींद में सो गई। उसकी सखियाँ उसके पास बैठीं क्षण-क्षण पर उसकी साँस की परीक्षा कर रही थीं कि साँस चल रही है अथवा नहीं, और मन में सोच रही थीं कि उसका वायु रूप प्राण रूपी पक्षी कब लौटकर आ जाय, अर्थात् वह होश में आ जाय। विरह काल का रूप धारण कर उसके हृदय में प्रवेश कर गया और उसके प्राणों को अपने हाथ में पकड़ कर बैठ गया अर्थात् उसे नाना प्रकार से सताने लगा। कभी वह मुट्ठी बाँधकर उसके प्राणों को मौन कर देता था और क्षण भर उपरान्त उन्हें मुट्ठी खोल मुक्त सा कर देता था। भाव यह है कि कभी पद्मावती मौन हो जाती थी और कभी कराहने लगती थी। उस विरह ने उसकी जीभ को पकड़ रखा था जिससे उसके मुख से बोल नहीं निकलता था। कभी विरह उसे बाणों से मार कर बेध डालता था और उनकी पीड़ा से व्याकुल हो वह बाला काँप-काँप उठती थी, अर्थात् छटपटाने लगती थी।

विरह किसी प्रकार उसे अपने पंजे से मुक्त नहीं कर रहा था। उसकी दशा राहु द्वारा ग्रसित चन्द्रमा की सी हो रही थी, अर्थात् विरह रूपी राहु ने चन्द्रमा रूपी पद्मावती को ग्रस लिया था। उस पद्मावती रूपी चन्द्रमा के चारों ओर घिरी नक्षत्र रूपी उसकी सखियाँ चारों ओर बैठीं रो रहीं थीं और धरती से लेकर आसमान तक चारों ओर अन्धकार छा गया था। (चन्द्र ग्रहण होने पर चारों ओर अन्धकार छा जाता है।)

टिप्पणी—**अलंकार**—रूपकातिशयोक्ति।

पाठ-भेद—१. खिन एक मूँठि बाँध खिन खोला।

(२५५)

घरी चारि इमि गहन गरासी । पुनि बिधि हिए जौति परगासी ॥
निसँस ऊभि भरि लीन्हेसि साँसा । भा अधार, जीवन कै आसा ॥
बिनवहिं सखी, छूट ससि राहू । तुम्हरी जोति जोति सब काहू ॥
तू ससि-बदन जगत उजियारी । केइ हरि लीन्ह, कीन्ह अँधियारी ?॥
तू गज-गामिनि गरब-गहेली । अब कस आस छाँड़ तू, बेली[1] ॥
तू हरि लङ्क हराए केहरि । अब कित हारि करति है हिय हरि ॥
तू कोकिल-बैनी जग मोहा । केइ व्याधा होइ गहा बिछोहा ? ॥
कँवल-कली तू पदमिनि ! गई निसि भयउ बिहान ।
अबहुँ न संपुट खोलसि, जब रे उआ जग भानु ॥१२॥

शब्दार्थ—निसँस=निश्वास लेकर। तू हरि लंक ···केहरि=तूने सिंह से कटि छीनकर उसे हराया। हरि=हिराश, हताश। निछोहा=निष्ठुर। हारि करति है= हार मानती है, निराश होती है।

व्याख्या—इस प्रकार चार घड़ी तक पद्मावती रूपी चन्द्रमा को ग्रहण लगा रहा, अर्थात् पद्मावती मूर्च्छित पड़ी रही। इसके उपरान्त विधाता ने उसके हृदय में ज्योति का प्रकाश किया। वह एक निश्वास छोड़ उठकर बैठ गई और एक गहरी साँस ली। यह देख सखियों को ढाढ़स बँधा, उन्हें उसके पुनः जीवित हो उठने की आशा हो गई। (उसकी वह साँस ही उनके इस विश्वास का आधार थी।) सखियाँ विनय करने लगीं कि चन्द्रमा राहु के बन्धन से मुक्त हो गया है, अर्थात् हे पद्मावती ! अब तुम होश में आ गई हो। तुम्हारी ही ज्योति से सबकी ज्योति है, अर्थात् तुम्हें होश में आया देखकर हम सब के भी प्राण लौट आए हैं। हे चन्द्रमुखी ! तुम्हारी चन्द्रिका के प्रकाश से सारा जगत प्रकाशित हो रहा है। तुम्हारी उस ज्योति को किसने हर कर चारों ओर अन्धकार कर दिया था, अर्थात् तुम्हारा मुख इतना क्यों मुरझा गया था ? हे सखी ! तुम तो गज-गामिनी और गर्वीली हो। हे लता के समान पद्मावती ! अब तुम आशा छोड़कर इस प्रकार निराश क्यों हो रही हो ? तुमने सिंह की कटि को छीन उसे पराजित कर दिया था, अर्थात् तुम्हारी कटि सिंह की कटि से भी पतली है। अब तुम किसलिए इतनी हताश हो, अपने मन में हार मान रही हो, अर्थात् इतनी निराश हो रही हो। भाव यह है कि तुम सिंह के समान साहसी थीं, फिर इतनी हताश क्यों हो रही हो ? तुम्हारी कोकिल के समान मधुर वाणी ने सारे जगत को मोहित कर रखा है। किस बहेलिये ने निष्ठुर होकर तुम्हें पकड़ लिया ?

हे पद्मावती ! तुम कमल की कली हो। अब रात बीत गई है, प्रभात हो गया है। अब भी तुम अपने नेत्र रूपी सम्पुट नहीं खोलतीं, जबकि जगत में सूर्य का

पाठ-भेद—१. सत ढीली=सत्त्व, साहस ढीला कर दिया, छोड़ दिया।

उदय हो चुका है। यहाँ भाव यह है कि अब तुम्हारे दुख की रात बीत चुकी है। रत्नसेन रूपी सूर्य उदय हो चुका है, इसलिए अब तुम्हें खिल उठना चाहिए, प्रफुल्लित हो जाना चाहिए।

टिप्पणी—अलंकार रूपक।

(२५६)

भानु नावँ सुनि कँवल बिगासा। फिर कै भौंर लीन्ह मधु बासा ॥
सरद-चंद मुख जबहिं उघेली। खंजन-नैन उठे करि केली ॥
बिरह न बोल आव मुख ताईं। मरि मरि बोल जीउ बरियाईं ॥
दवैं बिरह दारुन, हिय काँपा। खोलि न जाए बिरह-दुख झाँपा ॥
उदधि-समुद जस तरँग देखावा। चख घूर्मांहि[1] मुख बात न आवा ॥
यह सुनि[2] लहरि लहरि पर धावा। भँवर परा, जिउ थाह न पावा ॥
सखी आनि विष देहु तौ मरऊँ। जिउ न पियार[3], मरै का डरऊँ ? ॥
खिनहिं उठै, खिन बूड़ै, अस हिय कँवल सँकेत।
हीरामनहिं बुलावहि, सखी ! गहन जिउ लेत ॥१३॥

व्याख्या—सूर्य का नाम सुनते ही कमल विकसित हो उठा, अर्थात् रत्नसेन रूपी सूर्य का नाम लेते ही पद्मावती रूपी कमल खिल उठा और भौंरों ने फिर मधु-वास लिया, अर्थात् भौंरों के समान उसकी काली पुतलियाँ खुल गईं। जब पद्मावती ने शरद चन्द्र के समान अपने सुन्दर मुख को खोला तो उसके खंजन रूपी नेत्र भी उठ कर क्रीड़ा करने लगे, अर्थात् चंचल हो उठे। भाव यह है कि रत्नसेन का नाम सुनते ही पद्मावती का मुख प्रसन्नता से खिल उठा और उसके नेत्र खुलकर चंचल हो इधर-उधर रत्नसेन के दर्शनों की अभिलाषा से घूमने लगे। विरह के कारण उसकी आवाज मुख तक नहीं आ पाती थी, अर्थात् वह कुछ कहना तो चाहती थी परन्तु विरहाधिक्य के कारण उसके मुख से आवाज नहीं निकल रही थी। उसने बलात् मुख से 'मरी-मरी' शब्दों का किसी प्रकार उच्चारण किया। उसके हृदय को दारुण विरह भयंकर रूप से दबा कर पीस रहा था, जिसकी पीड़ा से उसका हृदय काँप उठता था। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि विरह की दारुण दावाग्नि में उसका हृदय जल रहा था और पीड़ा से बार-बार काँप उठता था।) हृदय विरह के दुख से आच्छादित हो रहा था, वह उसे खोलने में असमर्थ थी। भाव यह है कि वह अपने हृदय की बात कहना चाहती थी परन्तु विरह के दुख के कारण कह नहीं पाती थी। जिस प्रकार समुद्र में भयंकर लहरें उठती हैं, उसी प्रकार उसके हृदय में विरह की भयंकर लहरें उठ रही थीं। इस पीड़ा से व्याकुल हो, वह अपने नेत्र इधर-उधर घुमाती थी परन्तु

पाठ-भेद—१. कोटिहिं=करोड़ों तरंगें उठ रही थीं। २. सुठि=अत्यधिक।
३. पेट=हृदय में।

उसके मुख से एक भी बोल नहीं निकल पाता था; अर्थात् उसके नेत्रों में अनेक भाव आते थे परन्तु वह मुख से उन्हें व्यक्त करने में असमर्थ थी। रत्नसेन का नाम सुन उसके हृदय में भावनाओं की लहरें उठने लगीं, परन्तु उनके भँवर में पड़े हुए उसके प्राण थाह पाने में असमर्थ थे, अर्थात् उसके प्राणों को कोई सहारा नहीं दिखाई दे रहा था, क्योंकि रत्नसेन वहाँ नहीं था। व्यथा से व्याकुल हो उसने सखी से कहा कि हे सखी ! यदि तू विष लाकर दे दे तो मैं मर जाऊँ। मुझे अब अपने प्राणों से कोई प्रेम नहीं रहा, इसलिए अब मैं मरने से क्यों डरूँ ?

उस कमल रूपी पद्मावती का हृदय ऐसा संकट में पड़ा हुआ था कि क्षण में डूब जाता था और क्षण में फिर ऊपर उठ आता था, अर्थात् वह आशा-निराशा के भँवर में पड़ी हुई थी। उसने सखी से कहा कि हे सखी ! यह विरह रूपी राहु मेरे प्राणों का हनन किए डाल रहा है। तू शीघ्र हीरामन को बुला दे।

(२५७)

चेरी धाय सुनत खिन धाई[1]। हीरामन लेइ आइ बोलाई ॥
जनहु वैद ओसद लेइ आवा। रोगिया रोग मरत जिउ पावा ॥
सुनत असीस नैन धनि खोले। बिरह, बैन कोकिल जिमि बोले ॥
कँवलहिं बिरह-बिथा जस बाढ़ी। केसर-बरन पीर हिय गाढ़ी ॥
कित कँवलहिं भा पेम-अँकूरू। जो पै गहन लेहि दिन सूरू ॥
पुरइनि-छाँह कँवल कै करी। सकल बिथा सुनि अस तुम हरी ॥
पुरुष गँभीर न बोलहिं काहू। जो बोलहिं तौ ओर निबाहू ॥
एतनै बोल कहत मुख, पुनि होइ गई अचेत।
पुनि को चेत सँभारे ? उहै कहत मुख सेत[2] ॥१४॥

व्याख्या—पद्मावती की हीरामन को बुलाने की आज्ञा सुनते ही एक दासी धाय तुरन्त दौड़ी गई और हीरामन को बुलाकर उसके पास ले आई। हीरामन के आगमन ने ऐसा प्रभाव डाला, मानो कोई वैद्य औषध लेकर आ गया हो और रोग की पीड़ा से मरते रोगी ने पुनः प्राणदान पाया हो। हीरामन के आशीर्वाद को सुनते ही बाला (पद्मावती) ने अपने नेत्र खोल दिए और कोकिल की सी मधुर वाणी में अपने विरह की व्यथा कहने लगी। कमल के हृदय में जैसे ही विरह-व्यथा बढ़ी उसका रंग केसर के समान पीला हो गया और हृदय में भयंकर पीड़ा होने लगी, अर्थात् विरह-व्यथा के कारण पद्मावती का रंग पीला पड़ गया। यदि सूर्य को दिन में ही ग्रहण लग जाय तो कमल के हृदय में उसके प्रति प्रेम का अंकुर ही क्यों उत्पन्न हुआ था।

पाठ-भेद—१. पुरइन=डा० गुप्त ने धाय का नाम पुरइन माना है। २. पुनि जौं चेत सँभारै बकति उहै मुख लेत=फिर जब वह होश में आई तो वही वचन मुख से निकालने लगी।

भाव यह है कि यदि राजा गंधर्वसेन रूपी राहु दिन में ही रत्नसेन रूपी सूर्य को पकड़ लेने वाला था तो पद्मावती के हृदय में रत्नसेन के प्रति प्रेम का अंकुर क्यों उत्पन्न हुआ था। जिस प्रकार पुरइन अर्थात् कमल के पत्तों की छाया में कमल की कली निर्द्वन्द्व और सुखी रहती है, उसी प्रकार तुमने आकर मेरी सम्पूर्ण व्यथा को हर लिया है। पुरुष तो स्वभाव से गम्भीर होते हैं और कभी नहीं बोलते और यदि बोलते हैं तो अन्त तक अपने वचनों का निर्वाह करते हैं; अर्थात् तुम पुरुष हो, तुमने मुझे रत्नसेन से मिला देने का वचन दिया था, इसलिए अब उसे निभाओ, अर्थात् रत्नसेन से मेरी भेंट कराओ।

मुख से इतनी बात कहते ही पद्मावती पुनः अचेत हो गई। अब उसको पुनः कौन होश में ला सकता था ? उपर्युक्त वाक्य कहते ही उसका मुख सफेद पड़ गया।

टिप्पणी—'पुरुष········निबाहू'—पंक्ति का एक भावार्थ यह भी लिया जा सकता हैं कि रत्नसेन पुरुष है, और एक बार वचन देकर अन्त तक उसका निर्वाह करते हैं, इसलिए अब रत्नसेन को अपने वचन का पालन कर मुझे शीघ्र ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि अब मुझसे यह विरह-व्यथा नहीं सही जाती।

(२५८)

और दगध का कहौं अपारा। सती[1] सो जरै कठिन अस झारा।।
होइ हनुवंत पैठ है कोई। लंकादाहु लागु करै सोई।।
लंका बुझी आगि जौ लागी। यह न बुझाइ आँच बज्रागी।।
जनहु अगिनि के उठहिं पहारा। और सब लागहिं अंग अँगारा।।
कटि कटि माँसु सराग पिरोवा। रकत कै आँसु माँसु सब रोवा।।
खिन एक बार माँसु अस भूँजा। खिनहिं चबाइ सिंघ अस गूँजा।।
एहि रे दगध हुँत उतिम मरीजै। दगध न सहिय, जीउ बरु दीजै।।
जहँ लगि चंदन मलयगिरि, औ सायर सब नीर।
सब मिलि आइ बुझावहिं, बुझै न आगि सरीर ।।१५।।

व्याख्या—जायसी पद्मावती की भयंकर विरहाग्नि का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए कहते हैं—

मैं उस विरहदग्धा पद्मावती की विरह की अपार जलन का कहाँ तक वर्णन करूँ। वह विरह की अग्नि में इस प्रकार भयंकर रूप से जल रही थी, जैसी सती चिता की अग्नि में जलती है। ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई हनुमान बनकर उसकी हृदय रूपी लंका के भीतर घुस गया है और उसके शरीर को उसी प्रकार जला रहा है जैसे हनुमान ने लंका को जलाया था। परन्तु लंका में जो आग लगी थी वह तो बाद में बुझ गई थी, परन्तु यह आग वज्राग्नि के समान इतनी भयंकर है कि

पाठ-भेद—१. सुनं।

बुझाने से भी नहीं बुझती। पद्मावती के हृदय में विरह की अग्नि इस भयंकर रूप से उठ रही है, मानो अग्नि के पहाड़ उठ रहे हों जो उसके सारे अंगों को अंगारों के समान दग्ध कर रहे हैं। मानो उसके शरीर का मांस काट-काट कर सलाखों में पिरो कर भूना जा रहा हो और वह मांस अपने रक्त रूपी आँसुओं को टपका-टपका कर रो रहा हो। वह वियोग इतना भयंकर था कि कभी क्षण भर के लिए उसे मांस के समान भूनने लगता था और कभी उसके हृदय को चबा कर सिंह के समान गर्जना कर उठता था। भाव यह है कि विरह के कारण पद्मावती कभी पीड़ा से छटपटाने लगती थी और जब वेदना असह्य हो उठती थी तो चीत्कार करने लगती थी। कवि कहता है कि इस प्रकार दग्ध होते रहने से तो मर जाना अधिक अच्छा है। इस ज्वाला को कोई न सहे, भले ही उसे अपने प्राण दे देने पड़ें, अर्थात् विरह का दाह मृत्यु की पीड़ा से अधिक भयंकर होता है।

इस संसार में मलयगिरि पर जितना भी चन्दन हो तथा सागर में जितना भी जल हो, यदि यह सब मिलाकर भी विरह की इस अग्नि को बुझाने के लिए लाए जायँ तो भी पद्मावती के शरीर में लगी उस अग्नि को नहीं बुझाया जा सकेगा।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—अत्युक्ति।

(२) पद्मावती के इस विरह-वर्णन में जायसी ने मसनवी शैली के अनुसार ही वीभत्स परन्तु कारुणिक चित्रण किया है। मांस का भूना जाना, रक्त का टपकना, पीड़ा से विरहिणी का भयानक रूप से तड़पना और चीखना-चिल्लाना—सूफियों द्वारा किए गए विरह-वर्णन की अपनी एक अनोखी शैली एवं विशेषता है। सूफी-प्रेम-पद्धति में विरह का आधिक्य दिखाना ही सर्वाधिक अभिप्रेत होता है। इसी कारण सूफी इस वर्णन में ऊहा का अत्यधिक प्रयोग करते हैं।

(२५९)

हीरामन जौ देखेसि नारी। प्रीति-बेलि उपनी हिय-बारी[1] ॥
कहेसि कस न तुम्ह होहु दुहेली। अरुझी पेम जो पीतम बेली ॥
प्रीति-बेलि जिनि अरुझै कोई। अरुझे मुए न छूटै सोई ॥
प्रीति - बेलि ऐसै तन डाढ़ा। पलुहत सुख, बाढ़त दुख बाढ़ा ॥
प्रीति-बेलि कै अमर को बोई ? । दिन दिन बढ़ै, छीन नहिं होई ॥
प्रीति - बेलि सँग बिरह अपारा। सरग पतार जरै तेहि झारा ॥
प्रीति-बेलि अरुझै जब, तब सुछाँह सुख-साख।
मिलै पिरीतम आइ कै, दाख-बेलि रस चाख ॥१६॥

व्याख्या—पद्मावती की विरह के कारण हुई ऐसी भयंकर दशा को देख जब हीरामन ने उसकी नाड़ी देखी तो उसे विश्वास हो गया कि इसकी हृदयरूपी वाटिका

पाठ-भेद—१. भारी।

में प्रेम की बेल उत्पन्न हो चुकी है। यह देखकर उसने पद्मावती से कहा कि हे रानी! आखिर तुम दुखी क्यों न हो, क्योंकि तुम अपने प्रियतम के प्रेम की बेल में उलझ गई हो अर्थात् अपने प्रियतम से प्रगाढ़ रूप से प्रेम करने लगी हो। इस प्रेम की वेल में कोई कभी न उलझे, क्योंकि इसमें उलझे हुए व्यक्ति का मरने पर भी पीछा नहीं छूटता। यह प्रेम की बेल शरीर को इस प्रकार जलाती है कि जब वह पहले-पहल पल्लवित होती है तो उसमें प्रेम करने वाले को सुख प्राप्त होता है; अर्थात् प्रेम की प्रारम्भिक स्थिति में प्रेमी सुख का अनुभव करता है। परन्तु जब यह बेल बढ़ती है तो उसके साथ ही दुख भी बढ़ता चला जाता है। भाव यह है कि प्रारम्भ में प्रेम करने में सुख मिलता है परन्तु जैसे-जैसे प्रेम की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे विरह के कारण दुख की मात्रा भी बढ़ती जाती है। न मालूम इस प्रेम की बेल को किसने अमर बेल के समान अमर बनाकर वोया है कि जिससे यह दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही चली जाती है और कभी क्षीण नहीं होती, कभी नहीं सूखती। प्रेम की इस बेल के साथ अपार विरह भी उत्पन्न होता है, जिसकी ज्वाला स्वर्ग से लेकर पाताल तक सबको जलाती रहती है। यह प्रेम की बेल अकेले ही चढ़ती है और ऊपर पहुँच कर छा जाती है। वहाँ और कोई दूसरी वेल नहीं फैलने पाती। भाव यह है कि जिस प्रकार अमर बेल किसी वृक्ष पर चढ़ती है तो अकेली ही उस सारे वृक्ष पर छा जाती है, दूसरी कोई बेलि उस वृक्ष पर नहीं चढ़ने पाती, उसी प्रकार प्रेमी भी अपने प्रियतम पर अपने प्रेम का एकाधिकार चाहता है। वह उसके प्रति किसी दूसरे के प्रेम को नहीं पनपने देता।

जब कोई इस प्रेम की बेल में उलझ जाता है, अर्थात् किसी से प्रेम करने लगता है तो उसकी सघन छाया में उसे सुख प्राप्त होता है। जब प्रियतम आकर मिलता है तभी अंगूर की बेल के मीठे रस का स्वाद चखने को मिलता है; अर्थात् प्रेम का सच्चा आनन्द तभी प्राप्त होता है, जब प्रियतम से मिलन होता है।

टिप्पणी—अलंकार—सांगरूपक।

(२६०)

पदमावति उठि टेकै पाया। तुम्ह हुँत देखौं पीतम-छाया॥
कहत लाज औ रहै न जीऊ। एक दिसि आगि दुसर दिसि पोऊ[1]॥
सूर उदयगिरि चढ़त भुलाना। गहने गहा, कँवल कुँभिलाना॥
ओहट होइ मरौं तौ झूरी। यह सुठि मरौं जो नियर, न दूरी॥
घट महँ निकट, बिकट होइ मेरू। मिलहि न मिले, परा तस फेरू॥
तुम्ह सो मोर खेवक गुरु देवा[2]। उतरा पार तेही विधि खेवा॥

पाठ-भेद—१. सीऊ=शीत। २. दसइँ अवस्था असि मोहि भारी [दसएँ लखन होहु उपकारी=अब मुझे इस प्रकार दशम (मरण) की अवस्था प्राप्त हो रही है। इस दसवें लक्षण में तुम मेरे उपकारी हो।]

दमनहिं नलहिं जो हंस मेरावा। तुम्ह हीरामन नावँ कहावा ॥
मूरि सजीवन दूरि है, सालै सकती-बानु ।
प्रान मुकुत अब होत है, बेगि देखावहु भानु ॥१७॥

व्याख्या—हीरामन की बातों को सुन पद्मावती को होश आ गया और उसने उठकर हीरामन के पैरों को पकड़ लिया और कहने लगी कि मैं तुम्हारे द्वारा ही अपने प्रियतम की छाया देखती हूँ, अर्थात् तुम्हारे द्वारा प्रियतम के समाचार सुन कर मुझे ऐसा लगता है—जैसे मैंने उसके अस्पष्ट दर्शन कर लिए हों। (तुम गुरु हो, इसलिए) तुमसे कहने में तो लज्जा आती है, परन्तु बिना कहे यह प्राण नहीं बचते। एक तरफ आग है और दूसरी तरफ प्रियतम है, अर्थात् एक ओर तो विरह की अग्नि मुझे दग्ध कर रही है और दूसरी ओर प्रियतम से मिलन की आशा सान्त्वना प्रदान कर रही है। सूर्य अर्थात् रत्नसेन तो उदयाचल (सिंहलगढ़) पर चढ़ कर मार्ग भूल गया, इसलिए गंधर्वसेन रूपी राहु ने उसे पकड़ लिया और इधर सूर्य को ग्रहण लग जाने से, अर्थात् रत्नसेन के पकड़े जाने से कमल अर्थात् पद्मावती कुम्हला गई। अपने प्रियतम के दूर रहने पर मैं उसके विरह में सूखी जा रही हूँ और अब जब वह मेरे हृदय में निकट है, दूर नहीं है, तो मैं उसके विरह में और भी अधिक जलती मर रही हूँ। वह मेरे हृदय में स्थित हो मेरे निकट है, परन्तु फिर भी उससे मिलन होना अत्यन्त विकट है। कुछ ऐसा चक्कर पड़ गया है कि वह मिलने पर भी, अर्थात् मेरे पास होने पर भी नहीं मिलता। तुम मेरी नैया के कर्णधार, गुरु और देवता हो। मेरी नैया को इस प्रकार खेओ जिससे मैं पार पहुँच जाऊँ; अर्थात् कोई ऐसी युक्ति करो जिससे प्रियतम से मेरा मिलन हो जाये। हंस ने जिस प्रकार दमयन्ती का नल से मिलन कराया था, उसी प्रकार यदि तुम रत्नसेन के साथ मेरा मिलन कराओ तो तुम्हारा हीरामन नाम सार्थक हो।

मुझे विरह का शक्ति-बाण लगा है परन्तु रत्नसेन रूपी संजीवनी बूटी दूर है। इसलिए अब मेरे प्राण इस शरीर से मुक्त होना चाहते हैं। यदि तुम मेरे प्राणों को बचाना चाहते हो तो तुरन्त सूर्य को लाकर मुझे उसके दर्शन कराओ।

टिप्पणी—पाँचवीं पंक्ति के प्रथम अर्द्धांश का यह अर्थ लिया जा सकता है कि मेरा प्रियतम मेरे हृदय में स्थित होने के कारण मेरे निकट है परन्तु हम दोनों के स्थूल मिलन में मेरे पिता सुमेरु पर्वत के समान बाधा बनकर खड़े हुए हैं।

(२६१)

हीरामन भुँइ धरा लिलाटू। तुम्ह रानी जुग-जुग सुख पाटू ॥
जेहि के हाथ सजीवन मूरी। सो जानिय अब नाहीं दूरी ॥
पिता तुम्हार राज कर भोगी। पूजै बिप्र मरावै जोगी ॥
पौंरि पौंरि कोतवार जो बैठा। पेम क लुबुध सुरंग होइ पैठा ॥
चढ़त रैनि गढ़ होइगा भोरू। आवत बार धरा कै चोरू ॥

अब लेइ गए देइ ओहि सूरी । तेहि सौं अगाह बिथा तुम्ह पूरी ॥
अब तुम्ह जिउ काया वह जोगी । कया क रोग जानु पै रोगी[1] ॥
रूप तुम्हार जिउ कै (आपन) पिंड कमावा फेरि ।
आपु हेराइ रहा तेहि काल न पावै हेरि ॥१८॥

शब्दार्थ—रूप·······फेरि=तुम्हारे रूप में (शरीर में) अपने जीव को करके (पर-काया-प्रवेश करके) उसने मानो दूसरा शरीर प्राप्त किया है। हेराइ=खो। हेरि=देख।

व्याख्या—पद्मावती की बातों को सुन हीरामन ने उसके सम्मुख पृथ्वी पर मस्तक टेक उसे प्रणाम किया और फिर आशीर्वाद दिया कि हे रानी ! तुम युग-युग तक राजपाट का सुख भोगो। तुम्हारी विरह-व्यथा को दूर करने वाली संजीवनी बूटी जिसके पास है वह अर्थात् रत्नसेन अब दूर नहीं है। इस बात को तुम निश्चय जान लो। तुम्हारा पिता तो राज-सुख का भोग करने वाला है। वह ब्राह्मणों की तो पूजा करता है और योगियों को मरवा डालता है। इस सिंहलगढ़ की प्रत्येक ड्योढ़ी पर तो कोतवाल बैठे पहरा देते रहते हैं, इसलिए प्रेम में लुब्ध हुए रत्नसेन ने सीधा रास्ता छोड़कर गढ़ के नीचे से ऊपर आने वाली सुरंग द्वारा इस गढ़ में प्रवेश किया था। उसे ऊपर चढ़ते-चढ़ते सारी रात बीत गई और जब ऊपर पहुँचा तब प्रभात हो चुका था। सुरंग के ऊपरी द्वार पर उसके पहुँचते ही गढ़ के रक्षकों ने उसे चोर समझ कर पकड़ लिया। अब उसे सूली पर चढ़ाने के लिए ले गए हैं। इसी कारण, अपने प्रेमी के संकट का पूर्वाभास पा, तुम्हारा हृदय व्यथा से भर व्याकुल हो उठा था। अब तुम प्राण हो और वह योगी शरीर है, अर्थात् अब तुम्हारे बिना उसकी गति नहीं है। शरीर के रोग को तो स्वयं रोगी ही जान सकता है, अर्थात् तुम उसकी व्यथा को समझ सकती हो। तुम्हारे रूप में (शरीर में) अपने जीव को प्रवेश करा कर अर्थात् पर-काया-प्रवेश कर उसने मानो दूसरा शरीर प्राप्त कर लिया है। भाव यह है कि अब वह तुम्हारे साथ पूर्णरूपेण एकाकार हो गया है। वह अपना आपा भूल गया है, अर्थात् उसका सम्पूर्ण अहं नष्ट हो गया है, इसी कारण अब काल उसे देख नहीं पाता। भाव यह है कि अब वह मरण के भय से मुक्त हो चुका है।

टिप्पणी—'पर-काया-प्रवेश' एक ऐसी क्रिया थी जिसे सिद्ध पुरुष किया करते थे। ये सिद्ध जब चाहते थे तभी किसी मुर्दे के शरीर में अपनी आत्मा को प्रविष्ट कर उसे जीवित कर उसी के रूप में विचरण करने लगते थे। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार की अनेक कथायें मिलती हैं। प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य ने कामशास्त्र का व्यावहारिक अध्ययन करने के लिए एक राजा के मृत शरीर में अपनी आत्मा को

पाठ-भेद—१ जीव पै रोगी=काया के रोग से, हो न हो, जीव भी रोगी हो जाता है।

प्रविष्ट करा दिया था और फिर उसी राजा के रूप में कामशास्त्र का व्यावहारिक अध्ययन किया था।

(२६२)

हीरामन जो बात यह कही। सूर गहन चाँद तब गही॥
सूर के दुख सौं ससि भइ दुखी। सो कित दुख मानै करमुखी?॥
अब जौं जोगि मरै मोहि नेहा। मोहि ओहि साथ धरति गगनेहा॥
रहै त करौं जनम भरि सेवा। चलै त, यह जिउ साथ परेवा॥
कहेसि कि कौन करा है सोई। पर-काया परवेस जो होई॥
पलटि सो पंथ कौन बिधि खेला। चेला गुरू, गुरू भा चेला॥
कौन खंड अस रहा लुकाई। आवै काल, हेरि फिरि जाई॥
चेला सिद्धि सो पावै, गुरु सौं करै अछेद॥
गुरू करै जो किरिपा, पावै चेला भेद॥१६॥

व्याख्या—जब हीरामन ने पद्मावती से यह बात कही तो सूर्य का ग्रहण चन्द्रमा को लग गया, अर्थात् पद्मावती बहुत व्याकुल हो उठी, उसका मुख मलिन हो गया। सूर्य अर्थात् रत्नसेन के दुख के कारण चन्द्रमा अर्थात् पद्मावती दुखी हो उठी। परन्तु जो काले मुख वाला अर्थात् पापी होता है, वह दूसरे के दुख से कब दुखी होता है। भाव यह है कि पद्मावती पापिन न होकर पुण्यात्मा थी, इसी कारण वह रत्नसेन का दुख सुन कर दुखी हुई थी।

पद्मावती ने हीरामन से कहा कि यदि वह योगी (रत्नसेन) मेरे प्रेम के कारण मरता है तो मेरा और उसका साथ इस लोक और परलोक में भी रहेगा। और यदि वह बच गया तो मैं आजीवन उसकी सेवा करूँगी। और यदि वह इस संसार को छोड़कर चल देगा, अर्थात् मर जायेगा तो मेरे प्राण भी पक्षी बनकर उसके साथ ही चल देंगे, अर्थात् मैं भी मर जाऊँगी। अब मुझे यह बताओ कि वह कौन-सी कला (युक्ति) है जिसके द्वारा पर-काया प्रवेश किया जाता है। वह (रत्नसेन) कौन से उलटे मार्ग पर चला कि चेला गुरु हो गया और गुरु चेला बन गया। भाव यह है कि जब रत्नसेन ने योग धारण किया था तब वह चेला और पद्मावती गुरु थी। उस समय सिद्धि पद्मावती की इच्छा पर निर्भर थी। अब राजा ने वह मार्ग (योगमार्ग) छोड़ कर सूली पर चढ़ने का यह जो उल्टा मार्ग पकड़ा है तो राजा सिद्ध (गुरु) बन गया है और पद्मावती उसी प्रकार उसके लिए व्याकुल हो उठी है जिस प्रकार चेला गुरु के लिए व्याकुल होता है। न जाने वह किस स्थान पर इस प्रकार छिपा हुआ है कि मृत्यु उसे खोजती हुई आती है और न पाकर लौट जाती है; अर्थात् वह पद्मावती के किस अंग में छिपा हुआ है।

पद्मावती की उपर्युक्त बात सुन तोता उत्तर देता है कि वही चेला सिद्धि प्राप्त

करता है जो अपने गुरु से किसी भी प्रकार का भेदभाव अर्थात् छिपाव नहीं रखता। पूरी तरह से उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर देता है। यदि गुरु चेले पर कृपा करे तो चेला इस रहस्य का भेद पा लेता है; अर्थात् परकाया-प्रवेश की युक्ति तभी प्राप्त की जा सकती है, जब चेला गुरु से किसी प्रकार का छिपाव न करे।

टिप्पणी—अलंकार—'सूर के⋯भई दुखी'—में असंगति अलंकार है।

(२६३)

अनु रानी तुम गुरु, वह चेला। मोहि बूझहु कै सिद्ध नवेला ? ॥
तुम्ह चेला कहँ परसन भई। दरसन देइ मँडप चलि गई ॥
रूप गुरू कर चेलै डीठा। चित समाइ होइ चित्र पईठा ॥
जीउ काढ़ि लै तुम्ह अपसई। वह भा कया, जीव तुम्ह भई ॥
कया जो लाग धूप औ सीऊ। कया न जान, जान पै जीऊ ॥
भोग तुम्हार मिला ओहि जाई। जो ओहि बिथा सो तुम्ह कहँ आई ॥
तुम ओहिके घट, वह तुम माहाँ। काल कहाँ पावै वह छाहाँ ? ॥
अस वह जोगी अमर भा, पर-काया परवेस।
आवै काल, गुरुहि तहँ, देखि सो करै अदेस[1] ॥२०॥

शब्दार्थ—अनु=फिर, आगे (शुक्ल जी), अनुकूल (डा० अग्रवाल)। कहँ=पर। अपसई=वापस चली आईं। करै अदेस=नमस्कार करता है; साधुओं में 'आदेश गुरु' यह प्रणाम प्रचलित है।

व्याख्या—हीरामन तोता पद्मावती को परकाया-प्रवेश का रहस्य बताता हुआ कह रहा है कि—हे रानी ! फिर तुम गुरु हो और वह तुम्हारा चेला है। उसे स्वयं तुमने ही तो नया सिद्ध बनाया है और उल्टा उसका रहस्य मुझ से पूछ रही हो। तुम अपने शिष्य पर प्रसन्न हुई थीं और उसे दर्शन देने के लिए मंडप तक गई थीं। जब चेले ने वहाँ अपने गुरु के रूप का दर्शन पाया तो वह रूप उसके हृदय में समा गया और चित्र के समान वहीं सदैव के लिए अंकित हो गया। इसके उपरान्त तुम उसके प्राणों को निकाल, अपने साथ ले, लौट आईं और वह शरीर रह गया और तुम उसके प्राण बन गईं; अर्थात् अब वह तो केवल काया मात्र है, उसके प्राण तो तुम्हीं हो। शरीर को जो गर्मी और सर्दी लगती है उसे शरीर तो अनुभव नहीं करता, अनुभव करने वाले तो प्राण ही हैं। (इस पारस्परिक आदान-प्रदान से) तुम्हारा सुख जाकर उसे मिल गया और उसकी विरह-व्यथा तुम्हारे पास आ गई। तुम उसके हृदय में और वह तुम्हारे भीतर समाया हुआ है, फिर काल उसकी छाया कैसे पा सकता है ?

पाठ-भेद—१. देखै बहुरै कै आदेस=वहाँ तुम्हारे शरीर में देखता है और आदेश (नमस्कार) कर लौट जाता है।

इस प्रकार परकाया-प्रवेश कर वह योगी अमर हो गया है। जब काल उसे खोजता हुआ आता है तो वहाँ उसके स्थान पर गुरु को देख (भयभीत हो) प्रणाम कर लौट जाता है।

(२६४)

सुनि जोगी कै अमर जो करनी। नेवरी विथा बिरह कै मरनी॥
कवँल-करी होइ बिगसा जीऊ। जनु रवि देख छूटि गा सीऊ॥
जो अस सिद्ध को मारै पारा?। निपुरुष तेइ जरै होइ छारा[१]॥
कहौ जाइ अब मोर सँदेसू। तजौ जोग अब, होइ नरेसू॥
जिनि जानहु हौं तुम्ह सौं दूरी। नैनन माँझ गढ़ी वह सूरी॥
तुम्ह परसेद घटे घट केरा। मोंहि घट जीव घटत नहिं बेरा॥
तुम्ह कहँ पाट हिये महँ साजा। अब तुम मोर दुहूँ जग राजा॥
जौ रे जियहिं मिलि गर रहहिं[२], मरहिं त एकै दोउ।
तुम्ह जिउ कहँ जिनि होइ किछु, मोंहि जिउ होउ सो होउ॥२१॥

व्याख्या—हीरामन द्वारा उस योगी (रत्नसेन) की उस अमर करनी, अर्थात् अद्भुत प्रेम की गहनता की बात सुनकर विरह-व्यथा से मरती हुई पद्मावती को उस व्यथा से छुटकारा मिल गया, अर्थात् वह आश्वस्त हो गई कि अब कोई भय नहीं है। उसका हृदय (प्राण) कमल की कली के समान खिल उठा। उसे ऐसी सान्त्वना प्राप्त हुई जैसे शीत से ठिठुरते व्यक्ति का जाड़ा सूर्य की किरणों को देखते ही दूर हो जाता है। जो ऐसा सिद्ध है उसे कौन मार सकता है और यदि कोई उसे मारने की चेष्टा करेगा तो वह पुरुषार्थहीन हो तुरन्त जल कर भस्म हो जायेगा। इसलिए हे हीरामन! अब तुम जाकर उससे मेरा यह सन्देश कहो कि अब तुम योगी का वेश छोड़ दो और राजा बन जाओ। तुम यह मत समझना कि मैं तुमसे दूर हूँ। तुम्हारे लिए गाड़ी गई वह सूली मेरे नेत्रों में गड़ी हुई है। यदि तुम्हारे शरीर से पसीने की एक बूँद भी घट कर नीचे गिरेगी तो उसी के साथ मेरे प्राणों को भी समाप्त होते देर नहीं लगेगी। भाव यह है कि यदि तुम्हारा बाल भी बाँका हुआ तो मैं अपने प्राण दे दूँगी। मैंने तुम्हारे लिए अपने हृदय में सिंहासन सजा रखा है; अर्थात् तुम मेरे हृदय-सिंहासन के स्वामी बन गए हो। अब तुम मेरे दोनों लोकों—इहलोक और परलोक—के राजा हो।

यदि हम दोनों मिलेंगे तो आपस में गले मिलकर अर्थात् प्रेमपूर्वक साथ-साथ रहेंगी केलि-क्रीड़ा करेंगे और यदि मरेंगे तो भी दोनों साथ-साथ ही मरेंगे। भगवान करे तुम्हारे प्राणों को तनिक-सा भी कष्ट न उठाना पड़े, जो कुछ कष्ट भोगना हो वह मुझे ही भोगना पड़े।

पाठ-भेद – १. नेंबू रस नहिं जेइ होइ छारा = वहाँ वह नीबू-रस नहीं है जिससे वह क्षार हो सके। (पारे को मारने के लिए उसे नीबू के रस में घोंट कर क्षार किया जाता है।—डा० माता प्रसाद गुप्त। २. कलि करहिं।

२५

रत्नसेन-सूली-खंड

(२६५)

बाँधि तपा आने जहँ सूरी । जुरे आइ सब सिंघलपूरी ।।
पहिले गुरुहिं देइ कहँ आना । देखि रूप सब कोइ पछिताना ।।
लोग कहहिं यह होइ न जोगी । राजकुँवर कोइ अहै बियोगी ।।
काहुहि लागि भएउ है तपा । हिये सो माल, करै मुख जपा ।।
जस मारै कहँ बाजा तूरू । सूरी देखि हँसा मंसूरू ।।
चमके दसन भएउ उजियारा । जो जहँ तहाँ बीजु अस मारा ।।
जोगी केर करहु पै खोजू । मकु यह होइ न राजा भोजू ।।
सब पूछहिं, कहु जोगी ! जाति जनम औ नाँव ।
जहाँ ठाँव रोवैं कर, हँसा सो कहु केहि भाव ।।१।।

व्याख्या—उन सम्पूर्ण तपस्वियों (योगियों) को बाँध कर उस स्थान पर लाया गया जहाँ सूली गढ़ी हुई थी। इस समाचार को सुनकर सारे सिंहलपुर निवासी वहाँ (तमाशा देखने के लिए) आकर इकट्ठे हो गए। सबसे पहले गुरु (रत्नसेन) को सूली पर चढ़ाने के लिए लाया गया। उसके रूप को देख सारा उपस्थित जन-समुदाय पछताने लगा। लोग कहने लगे कि यह तो कोई वियोगी राजकुमार है। यह किसी के वियोग में पड़कर तपस्वी बन गया है। यह हृदय में किसी के नाम की माला फेरता है और मुख से किसी का नाम जप रहा है। जैसे ही उसे मारने के लिए, अर्थात् सूली पर चढ़ाने के लिए संकेत-स्वरूप तूर्यनाद किया गया (तुरही बजाई गई) तो सूली की ओर देखकर रत्नसेन उसी तरह हँस पड़ा जिस प्रकार मंसूर सूली को देखकर हँसा था। हँसने के कारण उसके दाँतों की चमक से चारों ओर प्रकाश-सा छा गया। जो व्यक्ति जहाँ खड़ा था वहीं उसके हृदय में विजली सी दौड़ गई। सब लोग कहने लगे कि इस योगी की खोजबीन करनी चाहिए। कहीं यह राजा भोज न हो।

सब लोग रत्नसेन से पूछने लगे कि हे योगी ! यह वताओ कि तुम्हारी जाति कौन सी है, तुम कहाँ पैदा हुए थे और तुम्हारा नाम क्या है। जो स्थान रोने का है, अर्थात् जिस स्थान पर (सूली के स्थान पर) आकर सब रोने लगते हैं, वहाँ आकर तुम किस कारण हँस उठे थे।

(२६६)

का पूछहु अब जाति हमारी। हम जोगी औ तपा भिखारी॥
जोगिहि कौन जाति, हो राजा। गारि न कोह, मारि नहिं लाजा॥
निलज भिखारि लाज जेइ खोई। तेहि के खोज परै जिनि कोई॥
जाकर जीउ मरै पर बसा। सूरि देखि सो कस नहिं हँसा ?॥
आजु नेह सौं होइ निबेरा। आज पुहुमि तजि गगन बसेरा॥
आजु कया-पींजर-बँदि टूटा। आजुहिं प्रान-परेवा छूटा॥
आजु नेह सौं होइ निनारा। आजु प्रेम-सँग चला पियारा॥

आजु अवधि सरि पहुँची, किए जाहुँ मुख रात।
बेगि होहु मोहिं मारहु, जिनि चालहु यह बात॥२॥

व्याख्या—सिंहलगढ़ के लोगों के प्रश्नों को सुनकर रत्नसेन उनसे कहने लगा कि—

अब तुम हमारी जाति क्या पूछते हो। हम तो योगी, तपस्वी और भिखारी हैं। हे राजा ! योगी की कौन-सी जाति होती है। उसे गाली खाने पर न क्रोध आता है, और न मार खाने पर लज्जा आती है। मैं तो निर्लज्ज भिखारी हूँ जिसने अपनी सारी लज्जा खो दी है। इसलिए मुझ जैसे की खोज-बीन करने का किसी को भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जिसके प्राण मरने पर ही शान्ति पा सकेंगे, वह सूली को देखकर कैसे न हँसने लगे। आज प्रेम से मेरा पीछा छूट जायेगा। आज मैं पृथ्वी को त्याग कर स्वर्ग चला जाऊँगा। भाव यह है कि मर जाने से मैं प्रेम के विरह की वेदना से मुक्त हो जाऊँगा। आज मेरे शरीर रूपी पिंजड़े का बन्धन टूट जायेगा और आज मेरा प्राण रूपी पक्षी मुक्त हो आकाश में उड़ जायेगा। आज मैं स्नेह के बन्धन से मुक्त हो जाऊँगा। आज प्रेम करने वाला, अर्थात् मेरा जीव अपने प्रेम को अपने साथ लेकर यहाँ से चल देगा।

आज अन्तिम अवधि सिर पर आ पहुँची है, अर्थात् अवधि पूरी हो गई है। सो मैं यहाँ से लाल मुख करके अर्थात् सुर्खरू होकर जा रहा हूँ। जल्दी करो ! मुझे शीघ्र मार डालो ! और मेरे सम्बन्ध में इस प्रकार की बातें मत पूछो !!

(२६७)

कहेन्हि सँवरु जेहि चाहसि सँवरा। हम तोहि करहिं केत कर भँवरा॥
कहेसि ओहि सँवरौं हरि फेरा। मुए जियत आहौं जेहि केरा॥
औ सँवरौं पदमावति रामा। यह जिउ नेवछावरि जेहि नामा॥
रकत क बूँद कया जस अहहीं। 'पदमावति पदमावति' कहहीं॥

रहै त बूँद बूँद महँ ठाऊँ। परै त सोई लेइ लेइ नाऊँ॥
रोंव रोंव तन तासौं ओधा। सूतहि सूत बेधि जिउ सोधा॥
हाड़हि हाड़ महँ सबद सो होई। नस नस माँह उठै धुनि सोई॥
जागा विरह वहाँ का, गूद माँसु कै हान¹?।
हौं पुनि साँचा होइ रहा, ओहि के रूप समान॥३॥

व्याख्या—सूली देने वाले वधिकों ने रत्नसेन से कहा कि तुम जिसका स्मरण करना चाहते हो, उसका स्मरण कर लो। हम तुम्हें केतकी का भौंरा बना देंगे; अर्थात् जिस प्रकार भौंरा केतकी के काँटे में बिंध जाता है, उसी प्रकार हम तुम्हें सूली पर चढ़ाकर बेध देंगे। वधिकों के इन वचनों को सुन रत्नसेन ने उत्तर दिया कि मैं अपनी हर साँस के साथ उसी का स्मरण करता रहता हूँ जिससे जीवित और मृत—दोनों ही अवस्थाओं में एकनिष्ठ भाव से सम्बन्धित हूँ। मैं उस सुन्दरी पद्मावती का स्मरण करता हूँ जिसके नाम पर मेरे ये प्राण न्यौछावर हैं। मेरे शरीर में जितनी भी रक्त की बूँदें हैं, सब निरन्तर 'पद्मावती-पद्मावती' की ही रट लगाती रहती हैं। यदि मैं जीवित रहा तो मेरे रक्त की एक-एक बूँद में उसी पद्मावती का स्थान रहेगा और यदि ये रक्त की बूँदें पृथ्वी पर गिरीं तो भी उसी का नाम लेती हुई गिरेंगी। मेरे शरीर का रोम-रोम उसी के प्रेम में उलझा हुआ है। मेरा प्रत्येक रोम-कूप बेध कर जीव को उसके द्वारा शुद्ध किया गया है। मेरी हड्डी-हड्डी से पद्मावती के नाम का वही शब्द उठ रहा है और मेरी नस-नस से उसी के नाम की ध्वनि निकल रही है।

जब हृदय में विरह जाग्रत हो उठता है तो फिर मांस और मज्जा की हानि की क्या चिन्ता? मैं तो वह साँचा बना हुआ हूँ जिसमें उस पद्मावती का रूप समाया हुआ है।

(२६८)

जोगहिं जबहिं गाढ़ अस परा। महादेव कर आसन टरा॥
वै हँसि पारबती सौं कहा। जानहुँ सूर गगन अस गहा॥
आजु चढ़े गढ़ ऊपर तपा। राजै गहा सूर तब छपा॥
जग देखै गा कौतुक आजू। कीन्ह तपा मारै कहँ साजू॥
पारबती सुनि पाँयन्ह परी। चलि, महेस! देखें एहि घरी॥
भेस भाँट भाँटिनि कर कीन्हा। औ हनुवंत बीर सँग लीन्हा॥
आए गुपुत होइ देखन लागी। वह मूरति कस सती सभागी॥

पाठ-भेद - १. खाइ विरह गा ताकर गूद माँस की खानि = उसका विरह मेरे गूदे और मांस के कोष-शरीर को खा गया है।

कटक असूझ देखि कै, राजा गरब करेइ।
दैउ क दसा न दैखै, दहुँ का कहँ जय देइ ॥४॥

व्याख्या—उन योगियों पर ऐसा भयानक संकट पड़ा तो महादेव का आसन हिल उठा। उन्होंने हँस कर पार्वती से कहा—ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्य को ग्रहण लग गया है, अर्थात् राजा रत्नसेन पकड़ लिया गया है। आज वे तपस्वी गढ़ के ऊपर चढ़े थे। जब राजा गंधर्वसेन ने उन्हें पकड़ लिया तो राजा रत्नसेन रूपी सूर्य छिप गया। आज सारा संसार इस कौतुक को देखने के लिए वहाँ गया है। आज राजा गंधर्वसेन ने उन तपस्वियों का वध करने के तैयारियाँ की हैं। महादेव की ये बातें सुनकर पार्वती उनके चरणों पर गिर पड़ीं और उनसे प्रार्थना करने लगीं कि हे महेश ! चलो, चलकर इसी क्षण वहाँ का तमाशा देखें। यह सुनकर उन दोनों ने भाट और भाटिनी का वेश बनाया और वीर हनुमान को अपने साथ ले सिंहलगढ़ की ओर चल पड़े। वे लोग गुप्त होकर अर्थात् छिप कर वहाँ यह देखने के लिए आए कि राजा रत्नसेन की सत्य के तेज से मण्डित वह भाग्यवान मूर्ति कैसी है।

अपनी अपार सेना को देखकर राजा गंधर्वसेन मन में गर्व करने लगा। परन्तु वह भगवान के मन की बात नहीं जान सका कि भगवान न जाने किस को विजय प्रदान करेंगे।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं।

(२६६)

आसन लेई रहा होइ तपा। 'पदमावति पदमावति' जपा॥
मन समाधि तासौं धुनि लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी॥
रहा समाइ रूप औ नाऊँ। औ न सूझ बार जहँ जाऊँ॥
औ महेस कहँ करौं अदेसू। जेइ यह पंथ दीन्ह उपदेसू॥
पारबती पुनि सत्य सराहा। औ फिरि मुख महेस कर चाहा॥
हिय महेस जौं, कहै महेसी। कित सिर नावहिं ए परदेसी ?॥
मरतहु लीन्ह तुम्हारहि नाऊँ। तुम्ह चित किए रहे एहि ठाऊँ॥
मारत ही परदेसी, राखि लेहु ऐहि बीर।
कोई काहू कर नाहीं, जो होइ चलै न तीर ॥५॥

व्याख्या—तपस्वी के रूप में राजा रत्नसेन आसन मार कर बैठ गया और 'पद्मावती-पद्मावती' का जाप करने लगा। उसने मन को समाधिस्थ कर अर्थात् एकाग्र कर उसी से (पद्मावती से) अपनी लौ लगा दी जिसके दर्शनों के लिए वह वैरागी बना था। उसके हृदय में उसी का रूप और नाम समाया हुआ था। रत्नसेन ने कहा कि मुझे और दूसरा कोई भी द्वार ऐसा नहीं दिखाई दे रहा जहाँ पर जाऊँ। मैं महादेव को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने मुझे इस मार्ग पर चलने का उपदेश दिया था अर्थात् इस

मार्ग का रहस्य बताया था। यह सुनकर पार्वती ने उसकी सत्यनिष्ठा की सराहना की और फिर महादेव के मुख की ओर देखकर कहने लगी कि जिसके हृदय में सदैव महादेव का निवास हो, ऐसा वह परदेशी (रत्नसेन) किसके सामने और क्यों अपना शीश झुकाए अर्थात् क्यों किसी से डरे। यह मरते समय भी तुम्हारा नाम ले रहा है और इस स्थान पर भी अर्थात् वधस्थल पर भी तुम्हीं से लौ लगाए हुए है।

हे स्वामी! इस परदेशी को लोग मार डालना चाह रहे हैं, तुम इस वीर की रक्षा करो। इस संसार में यदि कोई किसी की सहायता न करे तो फिर कोई किसी का भी नहीं है, अर्थात् सच्चा साथी वही है जो संकट में आकर सहायता करे।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त इस पद को भी प्रक्षिप्त मानते हैं।

(२७०)

लेइ सँदेस सुअटा गा तहाँ। सूरी देहिं रतन कहँ जहाँ॥
देखि रतन हीरामन रोवा। राजा जिउ लोगन्ह हठि खोवा॥
देखि रतन हीरामन केरा। रोवहिं सब, राजा मुख हेरा॥
माँगहिं सब बिधिना सौं रोई। कै उपकार छोड़ावै कोई॥
कहि सँदेस सब बिपति सुनाई। बिकल बहुत, किछु कहा न जाई॥
काढ़ि प्रान बैठी लेइ हाथा। मरै तो मरौं, जिऔं एक साथा॥
सुनि सँदेस राजा तब हँसा। प्रान प्रान घट घट महँ बसा॥
सुअटा भाँट दसौंधी, भऐ जिउ पर एक ठाँव।
चलि सो जाइ अब देख तहँ, जहँ बैठा रह राव॥६॥

व्याख्या—पद्मावती का सन्देश लेकर हीरामन तो वहाँ पहुँचा जहाँ रत्नसेन को सूली दी जाने वाली थी। रत्नसेन को देखकर हीरामन रोने लगा और बोला कि हे राजा! बहुत से लोगों ने हठ करके अपने प्राणों को खो दिया है। हीरामन के रुदन को तथा रत्नसेन के मुख की ओर देख-देख कर सब लोग रोने लगे। (लोगों के रोने का कारण यह था कि एक सुदर्शन पुरुष मारा जाने वाला था।) सब लोग रोते हुए विधाता से यह प्रार्थना करने लगे कि कोई आकर रत्नसेन को छुड़वाकर उन पर उपकार करे। हीरामन ने रत्नसेन को पद्मावती का सन्देश सुना, उसकी विषम अवस्था का वर्णन करते हुए कहा कि पद्मावती बहुत व्याकुल हो रही है। मैं उसकी दशा का वर्णन करने में असमर्थ हूँ। वह अपने प्राणों को निकाल हाथ में लिए बैठी है और कहती है कि यदि रत्नसेन मरेगा तो मैं भी मर जाऊँगी और यदि यह जीवित रहता है तो दोनों एक साथ ही जीवित रहेंगे। पद्मावती का सन्देश सुन राजा रत्नसेन हँसने लगा। पद्मावती के प्राण उसके प्राणों में तथा शरीर उसके शरीर में समा गया, अर्थात् दोनों—शरीर और प्राण—दोनों से एकाकार हो उठे। उनमें कोई अन्तर नहीं रहा।

यह दशा देख हीरामन तोता और दसौंधी भाट—दोनों एक साथ वहीं रत्नसेन के स्थान पर अपने प्राण देने को उद्यत हो गए। उन्होंने कहा कि चलो अब चलकर वहाँ देखें जहाँ राजा गंधर्वसेन बैठा हुआ है; अर्थात् दोनों राजा गंधर्वसेन से मिलने और प्रार्थना करने चल दिए।

टिप्पणी – डा० गुप्त इस पद को भी प्रक्षिप्त मानते हैं।

(२७१)

राजा रहा दिस्टि कै औंधी। रहि न सका तब भाँट दसौंधी ॥
कहेसि मेलि कै हाथ कटारी। पुरुष न आछे बैठ पेटारी ॥
कान्ह कोपि जब मारा कंसू। तब जाना पूरुष कै बंसू[1] ॥
गंध्रवसेन जहाँ रिस-बाढ़ा। जाइ भाँट आगे भा ठाढ़ा ॥
बोला गंध्रवसेन रिसाई। कस जोगी, कस भाँट असाई[2] ॥
ठाढ़ देख सब राजा राऊ। बाएँ हाथ दीन्ह बरम्हाऊ ॥
जोगी पानि, आगि तू राजा। आगिहि पानि जूझि नहिं छाजा ॥
आगि बुझाइ पानि सौं, जूझु न, राजा! बूझु।
लीन्हे खप्पर बार तोहि, भिक्षा देहि, न जूझु ॥७॥

व्याख्या - राजा रत्नसेन अपनी दृष्टि नीची किए बैठा रहा। उसकी यह दशा देख दसौंधी भाट से न रहा गया। उसने अपने हाथ में कटारी लेकर कहा कि जो पुरुष अर्थात् पुरुषार्थी होता है वह संकट के समय पिटारे में बन्द होकर नहीं बैठा रहता। जब कृष्ण ने कुपित होकर कंस को मार डाला था तभी संसार को ज्ञात हुआ था कि वह किन वीरों के वंश का पुत्र था, अर्थात् वह नन्द ग्वाले का पुत्र न होकर राजा वसुदेव का पुत्र था। भाव यह है कि वीरों का पुरुषार्थ समय अपने पर निश्चल नहीं बैठा रहता। वह आगे बढ़कर संकट का सामना कर उस पर विजय प्राप्त करता है। भाट रूपी महादेव की यह बात सुन राजा गंधर्वसेन का क्रोध जैसे ही भड़का, भाट उसके सामने जाकर खड़ा हो गया। उसे देखकर राजा गंधर्वसेन क्रोध में भरकर बोला कि—यह जोगी और यह भाट कैसे अशिष्ट हैं। राजा की यह बात सुन तथा वहाँ आस-पास सारे राजा और सरदारों को खड़ा देख भाट ने अपना बायाँ हाथ उठाकर सबको आशीर्वाद दिया और राजा गंधर्वसेन से कहा कि हे राजा! यह योगी पानी के समान है और तू अग्नि के समान। अग्नि को पानी के साथ झगड़ा करना शोभा नहीं देता। क्योंकि—

अग्नि को पानी बुझा देती है। इसलिए हे राजा! तू इस योगी से युद्ध न कर। समझ से काम ले। यह योगी तेरे द्वार पर हाथ में खप्पर लिए खड़ा है। इसे

पाठ-भेद—१. गूँग के फूँक न बाजै बंसू = गूँगे की फूँक से वंशी नहीं बजती।
२. गन्ध्रपसेनि तूँ राजा महा। हौं महेस मूरति सुनि कहा।

भिक्षा दे, इससे युद्ध न कर। भाव यह है कि यदि गंधर्वसेन रत्नसेन से युद्ध करेगा तो इस युद्ध में गंधर्वसेन की निश्चित रूप से पराजय होगी। इसलिए उसका युद्ध करना व्यर्थ है, क्योंकि अग्नि पानी का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती।

टिप्पणी—दसौंधी—इसका शाब्दिक अर्थ है—दसवें भाग का अधिकारी। प्राचीन काल में भाटों को उपज का दसवाँ भाग मिलता था, इसीलिए उन्हें 'दसौंधी' कहा जाता था। आजकल भी आढ़तियों में यह प्रथा है कि वे जिन व्यापारियों को माल बेचते या खरीदते हैं, उनसे मिली रकम का दसवाँ हिस्सा उस व्यापारी के गुमाश्ते को दे देते हैं। यह 'दसौंध' कहलाता है।—डा० माताप्रसाद गुप्त।

(२७२)

जोगि न होइ, आहि सो भोजू। जानहु भेद करहु सो खोजू॥
भारत होइ जूझ जौ ओधा। होहिं सहाय आइ सब जोधा॥
महादेव रनघंट बजावा। सुनि कै सबद बरम्हा चलि आवा॥
फनपति फन पतार सौं काढ़ा। अस्टौं कुरी नाग भए ठाढ़ा॥
छप्पन कोटि बसंदर बरा। सवा लाख परबत फरहरा॥
चढ़े अत्र लै कृस्न मुरारी। इंद्रलोक सब लाग गोहारी॥
तैंतिस कोटि देवता साजा। औ छानबे मेघ दल गाजा॥
नवौ नाथ चलि आवहिं, औ चौरासी सिद्ध।
आजु महाभारत चले, गगन गरुड़ औ गिद्ध[1]॥८॥

शब्दार्थ—ओधा = ठाना, निश्चय कर लिया है। अस्टौंकुरी = अष्टकुल नाग, आठों कुलों के नाग। बसन्दर = वैश्वानर, अग्नि। फरहरा = फड़क उठे। अत्र = अस्त्र, हथियार। गोहारी = सहायता। नवौ नाथ = नौ नाथ, सम्प्रदाय के नौ प्रमुख आचार्य।

व्याख्या—दसौंधी भाट ने राजा गंधर्वसेन को चेतावनी देते हुए आगे कहा कि यह योगी नहीं है बल्कि राजा है। इसलिए इसके सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल कर इसके रहस्य का पता लगाओ। यदि तुमने युद्ध करने का ही निश्चय कर लिया है तो आज यहाँ महाभारत का सा भयंकर युद्ध होगा। सारे योद्धा आकर इस योगी की सहायता करेंगे। उस भाट की यह बात सुनकर महादेव ने युद्ध का घंटा बजा दिया। उसकी आवाज को सुन ब्रह्मा चल कर वहाँ आ गए। शेषनाग ने पाताल में से अपना फन ऊपर निकाल लिया, आठों कुलों के नाग आकर वहाँ खड़े हो गए। छप्पन करोड़ प्रकार की अग्नियाँ प्रज्वलित हो उठीं। सवा लाख पर्वत युद्ध करने के लिए फड़क

पाठ-भेद—1. अहुठ बज्र जुर धरती = धरती पर साढ़े तीन वज्र इकट्ठे हो गए। यहाँ उस युद्ध के प्रति संकेत है जिसे भीम को, दंगवै राजा की रक्षा करने के लिए कृष्ण से लड़ना पड़ा था।

उठे। भगवान कृष्ण मुरारी अपना अस्त्र (सुदर्शन चक्र) लेकर वहाँ आ गए। और सारा इन्द्रलोक सहायता करने के लिए दौड़ पड़ा। तेतीस करोड़ देवताओं ने युद्ध की तैयारियाँ कर लीं और मेघों के छियानवे दल गरज उठे।

नौ नाथ और चौरासी सिद्ध चल कर वहाँ आ गए। आज महाभारत का सा भयंकर युद्ध होगा, यह जानकर आकाश में गरुड़ और गिद्ध इकट्ठे होने लगे।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने सारे देवता, नाग, नाथ, सिद्ध, अग्नि, पर्वत, ब्रह्मा, कृष्ण आदि सभी को रत्नसेन की सहायता के लिए सन्नद्ध दिखाकर एक विचित्र सा समाँ बाँध दिया है। जायसी की कल्पना में जितने भी लोग समा सके उन सभी को उन्होंने वहाँ एकत्र कर दिया है।

(२७३)

भइ अज्ञा को भाँट अभाऊ। बाएँ हाथ देइ बरम्हाऊ॥
को जोगी अस नगरी मोरी। जो देइ सेंधि चढ़ै गढ़ चोरी॥
इंद्र डरै निति नावै माथा। जानत कृस्न सेस जेइ नाथा[1]॥
बरम्हा डरै चतुर-मुख जासू। औ पातार डरै बलि बासू॥
मही हलै औ चलै सुमेरू[2]। चाँद सूर औ गगन कुबेरू॥
मेघ डरै बिजुरी जेहि दीठी। कुरुम डरै धरती जेहि पीठी॥
चहौं आजु माँगौं धरि केसा। और को कीट पतंग नरेसा॥
बोला भाँट, नरेस सुनु! गरब न छाजा जीउ।
कुंभकरन कै खोपरी, बूड़त बाँचा भीउँ॥६॥

शब्दार्थ—अभाऊ=अशिष्ट, आदर-भाव न जानने वाला। बरम्हाऊ= आशीर्वाद।

व्याख्या—उस दसौंधी भाट के वचनों को सुनकर राजा गंधर्वसेन की आज्ञा हुई कि—'यह कौन अशिष्ट (अभद्र) भाट है जो बाँया हाथ उठाकर आशीर्वाद देता है। मेरे इस नगर में ऐसा कौन सा योगी है जो गढ़ में सेंध लगाकर चोरी से उसके ऊपर चढ़ता है। मुझसे इन्द्र डरता है और नित्य मेरे सामने आकर शीश झुकाता है। मुझे वह कृष्ण भी जानता है जिसने शेषनाग को नाथ डाला था। वह ब्रह्मा भी मुझसे डरता है जिसके चार मुख हैं और पाताल में रहने वाले बलि और वासुकि नाग भी मुझसे डरते हैं। मेरे भय के कारण पृथ्वी काँपने लगती है और सुमेरु डगमगाने लगता है। आकाश में रहने वाले चन्द्र, सूर्य और कुबेर तक मुझसे भय खाते हैं। बिजली जैसे ज्योतिपूर्ण नेत्र वाले मेघ मुझसे भयभीत रहते हैं। (यहाँ बिजली को मेघों की दृष्टि कहा गया है।) मुझसे वह कच्छप भी आतंकित रहता है, जिसकी पीठ पर यह पृथ्वी टिकी हुई

पाठ-भेद—१. किसुन डरै सेस जेइँ नाथा। २. धरती डरै और मँदर मेरू।

है। यदि मैं चाहूँ तो आज इन सबको बाल पकड़ कर यहाँ बुलवा लूँ। फिर कीट-पतिंगों के समान अन्य राजाओं की मेरे सामने क्या हस्ती है ?

राजा गंधर्वसेन की उपर्युक्त गर्वभरी बातों को सुन उस भाट ने कहा कि हे राजा ! मेरी बात सुन ! मनुष्य को गर्व करना शोभा नहीं देता, क्योंकि जब भीमसेन ने गर्व किया था तो वह कुम्भकर्ण की खोपड़ी में डूबने से बचा था; अर्थात् उसका अपने बल का सारा गर्व चूर-चूर हो गया था।

टिप्पणी—'कुम्भकरण कै खोपरी, बूड़त बाँचा भीउँ'— पंक्ति उस किम्वदन्ती पर आधारित प्रतीत होती है जिसके अनुसार अपने बल पर गर्व करने वाला भीमसेन एक बार कहीं जाते हुए मार्ग में जल से भरे एक गढ़े में गिर पड़ा था और बड़ी मुश्किल से उसके प्राण बच पाए थे। जब बाहर निकल आने पर भीमसेन को इस बात का पता चला कि यह तो गढ़ा न होकर कुम्भकर्ण की खोपड़ी थी जिसमें जल भर गया था तो उसका सारा गर्व चूर-चूर हो गया था।

(२७४)

रावन गरब बिरोधा रामू। आही गरब भएउ संग्रामू॥
तस रावन जस को बरिबंडा। जेहि दस सीस, बीस भुजदंडा॥
सूरुज जेहि कैं तपै रसोई। नितिहिं बसंदर धोती धोई॥
सूक सुमंता[1], ससि मसिआरा। पौन करै निति बार बोहारा॥
जमहिं[2] लाइ कै पाटी बाँधा। रहा न दूसर सपने काँधा॥
जो अस बज्र टरै नहिं टारा। सोउ मुवा दुइ तपसी मारा॥
नाती पूत कोटि दस अहा। रोवनहार न कोई रहा॥
ओछ जानि कै काहुहि, जिनि कोइ गरब करेइ।
ओछे पर जो दैउ है, जीति-पत्र तेइ देइ॥१०॥

व्याख्या—वह भाट राजा गंधर्वसेन को इतना गर्व न करने की सलाह दे, उसके सम्मुख रावण का उदाहरण रखता हुआ आगे कहता है—

रावण ने गर्व करके राम का विरोध किया था। उसके उसी गर्व के कारण राम-रावण का संग्राम हुआ था। उस रावण के समान और कौन बलवान था, जिसके दस शीश और बीस भुजायें थीं। सूर्य जिसकी रसोई पकाता था और अग्नि नित्य जिसकी धोती धोता था। जिसके शुक्राचार्य जैसा मंत्री और चन्द्रमा जैसा मशालची था। पवन जिसके द्वार पर झाड़ू लगाता था। ऐसे उस रावण ने यमराज को पकड़ कर अपने पलंग की पाटी से बाँध लिया था। ऐसे उस रावण ने अपने सामने स्वप्न में भी किसी दूसरे को कोई महत्त्व नहीं दिया था। वह रावण वज्र के समान दुर्द्धर्ष और अटल बना रहने वाला था। जिसे कोई विचलित नहीं कर सका था। ऐसे

पाठ-भेद—१. सोंटिया=सोंटा बरदार, वैत्रिक। २. मीचु=मृत्यु, यमराज।

उस रावण को भी केवल दो तपस्वियों (राम और लक्ष्मण) ने मार डाला। उस रावण के दस करोड़ नाती-पोते थे, फिर भी मृत्यु के पश्चात् उसके लिए रोने वाला कोई भी न बच सका, अर्थात् रावण का वंश-नाश हो गया।

किसी को छोटा समझ कर गर्व नहीं करना चाहिए। छोटे पर दैव की कृपा रहती है जो विजय-पत्र को देने वाला है, अर्थात् ईश्वर छोटों की सहायता कर उन्हें विजयी बना देता है।

टिप्पणी—'सोउ मुवा दुइ तपसी मारा'—पंक्ति से कवि यह भाव ध्वनित करना चाह रहा है कि जिस प्रकार उन दो तपस्वियों ने रावण जैसे बलशाली को मार डाला था, उसी प्रकार यह तपस्वी (रत्नसेन) भी तेरा वध कर डालेगा।

(२७५)

अब जो भाँट जहाँ हुत आगे। बिनै उठा राजहि रिस लागे॥
भाँट अहै संकर कै कला। राजा सहुँ राखै अरगला॥
भाँट मीचु पै आपु न दीसा। ता कहँ कौन करै अस रीसा?[1]॥
भएउ रजायसु गंध्रबसेनी। काहे मीचु कै चढ़े निसेनी?॥
कहा आनि बानि अस पढ़ै[2]?। करसि न बुद्धि भैंट जेहि कढ़ै॥
जाँति भाँट[3] कित औगुन लावसि। बाएँ हाथ राज बरम्हावसि॥
भाँट नाँव का मारौं जीवा?। अबहूँ बोल नाइ कै गीवा॥
तूँ रे भाँट, ऐ जोगी, तोहि एहि काहे क संग।
काह छरै अस पावा, काह भएउ चित-भंग॥११॥

व्याख्या—जब उस दसौंधी भाट की बातों को सुनकर राजा गंधर्वसेन क्रोध से भर उठा तो वहाँ उसके सामने जो दूसरा भाट खड़ा था, वह राजा से विनय करने लगा कि भाट शंकर का अंश होता है। इसी कारण राजा उसे अपने सामने अर्गला (रोक) के रूप में रखते हैं, अर्थात् राजा भाट को जान बूझ कर अपने पास इसलिए रखते हैं जिससे वह उन्हें बुरे काम करने से रोकता रहे। भाट अपनी मृत्यु को कभी नहीं देखता, अर्थात् वह अपने प्राणों की चिन्ता न कर राजा को सदैव बुरे कार्य करने से रोकता रहता है, फिर राजा भले ही उस पर नाराज हो जाय। ऐसे भाट पर कौन क्रोध कर सकता है? अर्थात् भाट पर तुम्हारा क्रोध करना व्यर्थ है, क्योंकि वह मृत्यु से नहीं डरता। उस भाट की इन बातों को सुन राजा गंधर्वसेन की आज्ञा हुई कि हे भाट! तू क्यों मृत्यु की सीढ़ी पर चढ़ना चाहता है, अर्थात् क्यों मरना चाहता है? तू ऐसी अन्डवन्ड बातें (अनर्गल प्रलाप करना) कहाँ से सीख आया है? तू अपनी बुद्धि

पाठ-भेद—१. रस रीसा=प्रेम या क्रोध। २. काह अवनि बानी अस मरसी=अपनी ओछी वाणी के कारण तू इस प्रकार क्यों मरना चाहती है [illegible] =कला, यश।

का उपयोग ऐसी बात करने में क्यों नहीं करता जिससे तुझे इनाम मिले, अर्थात् तू मेरी प्रशंसा कर इनाम पाने की कोशिश क्यों नहीं करता ? तू अपनी भाट जाति पर कलंक लगा रहा है कि राजा को बायाँ हाथ उठाकर आशीर्वाद दे रहा है। (आशीर्वाद सदैव दाहिना हाथ उठाकर ही दिया जाता है।) तू नाम का भाट है, इसलिए तुझे प्राणदण्ड क्या दूँ ? तू अब भी मेरे सम्मुख अपना शीश झुकाकर प्रार्थना कर (तो मैं तुझे क्षमा कर दूँगा)।

तू भाट है और यह योगी है। फिर यह बता कि तेरा और इसका क्या साथ है ? तू इस प्रकार छल करके अर्थात् छलभरी बातें करके आखिर क्या पायेगा ? तेरा चित्त क्यों भंग हो रहा है, अर्थात् तू पागलों की सी बातें क्यों कर रहा है ?

(२७६)

जौ सत पूछसि गंध्रब राजा। सत पै कहौं परै नहिं गाजा॥
भाँटहि काह मीचु सौं डरना। हाथ कटार, पेट हनि मरना॥
जंबूदीप औ चित्तउर देसा। चित्रसेन बड़ तहाँ नरेसा॥
रतनसेन यह ताकर बेटा। कुल चौहान जाइ नहिं मेटा॥
खाँड़ै अचल सुमेरु पहारा। टरै न जौ लागै संसारा॥
दान-सुमेरु देत नहिं खाँगा। जो ओहि माँग न औरहि माँगा॥
दाहिन हाथ उठाएउँ ताही। और को अस बरम्हावौं जाही ?॥
नाँव महापातर मोहिं, तेहिक भिखारी ढीठ।
जौं खरि बात कहे रिस, लागै पै कहै बसीठ॥१२॥

व्याख्या—जब राजा गंधर्वसेन ने राजा रत्नसेन का पक्ष लेने वाले उस भाट से यह कहा कि तेरा और इस योगी का क्या साथ है और तू ऐसी छलभरी बातें क्यों कह रहा है तो वह भाट उत्तर देते हुए कहता है—

हे राजा गंधर्वसेन ! यदि तुम मुझसे सत्य बात पूछते हो तो मैं तुमसे सत्य ही कहूँगा—फिर चाहे मुझ पर वज्रपात ही क्यों न हो जाय; अर्थात् मैं मारा ही क्यों न जाऊँ। भाट को मृत्यु से क्या भय ? मेरे हाथ में यह कटार है। अवसर आने पर मैं इसे स्वयं ही अपने पेट में मार कर मर जाऊँगा। भारतवर्ष में चित्तौड़ नामक एक देश है। चित्रसेन नामक वहाँ का एक प्रतापशाली राजा था। यह रत्नसेन उसी का [illegible]त्र है। यह चौहान वंश का है, जिसे कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। यह रत्नसेन सा[illegible] युद्ध में सुमेरु पर्वत के समान अचल बना रहता है। यदि सारा संसार भी युद्ध में इसके विरुद्ध खड़ा हो जाय तो भी इसे विचलित नहीं कर सकता। यह सुमेरु पर्वत के समान [illegible] दान देता है, फिर भी इसके खजाने में तनिक सी भी कमी नहीं पड़ती। और [illegible]सन ! य[illegible] इससे एक बार दान प्राप्त कर लेता है उसे फिर जीवन भर किसी दूसरे से दान माँगने की जरूरत नहीं पड़ती अर्थात् यह उसे इतना दान दे देता है जो उसके

जीवन भर के लिए पर्याप्त होता है। मैं केवल इसी के लिए अपना दाहिना हाथ उठाता हूँ, अर्थात् आशीर्वाद देता हूँ। इस संसार में इसके अतिरिक्त अन्य कौन ऐसा है जिसे मैं इस प्रकार, अर्थात् दाहिना हाथ उठाकर आशीर्वाद दूँ।

मेरा नाम महापात्र है। मैं इसी राजा रत्नसेन का डीठ भिखारी हूँ, अर्थात् इसी के अमित अनुग्रहों के कारण ढीठ बन गया हूँ। यदि खरी बात कहने से किसी को क्रोध आता है तो भी दूत उस क्रोध की चिन्ता न कर सदैव खरी बात ही कहता है।

(२७७)

ततखन पुनि महेस मन लाजा। भाँट-करा होइ बिनवा राजा॥
गंध्रबसेन! तुँ राजा महा। हौं महेस-मूरति, सुनु कहा॥
जौ पै बात होइ भलि आगे। कहा चहिय, का भा रिस लागे॥
राजकुँवर यह, होहि न जोगी। सुनि पदमावति भएउ बियोगी॥
जंबूदीप राजघर बेटा। जो है लिखा सो जाइ न मेटा॥
तुम्हरहि सुआ जाइ ओहि आना। औ जेहि कर, बर कै तेइ माना॥
पुनि यह बात सुनी सिव-लोका। करसि बियाह धरम है तोका॥
माँगै भीख खपर लेइ, सुए न छाँड़ै बार।
बूझउ, कनक-कचोरी, भीखि देहु, नहिं मार॥१३॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन के दसौंधी तथा महापात्र नामक भाटों के साथ हुए राजा गंधर्वसेन के वार्तालाप को सुनकर—

उसी क्षण वहाँ खड़े हुए भाट वेशधारी महादेव लज्जित हो उठे। (उनकी लज्जा का कारण यह था कि एक तो वहाँ भाटों का अपमान हो रहा था और दूसरे वे रत्नसेन की सहायता करने के लिए आकर भी चुपचाप खड़े हुए थे।) उन्होंने भाट के समान ही राजा से विनती करते हुए कहा कि—हे गंधर्वसेन! तुम बड़े प्रतापशाली राजा हो, और मैं साक्षात शिव हूँ, इसलिए मेरा कहना सुनो। जो बात हितकारी हो उसे पहले ही कह देना चाहिए, फिर यदि उसे सुनकर किसी को क्रोध आए तो उससे क्या। यह (रत्नसेन) राजकुमार है, कोई योगी नहीं है। यह पद्मावती के रूप की चर्चा सुन उसके प्रेम में पड़ वियोगी बना हुआ है। यह भारतवर्ष के एक राजघराने का पुत्र है। विधाता ने जो लिख दिया है उसे मिटाया नहीं जा सकता; अर्थात् विधाता ने रत्नसेन और पद्मावती का संयोग निश्चित कर रखा है, तुम उसे मिटा नहीं सकते। तुम्हारा ही तोता (हीरामन) इसे यहाँ लिवा लाया है और वह तोता जिसके लिए इसे वर निश्चित कर लाया है, उसने भी अर्थात् पद्मावती ने भी इसे अपना वर स्वीकार कर लिया है। मैंने यह बात शिवलोक में सुनी थी, इसलिए अब तुम्हारा धर्म यही है कि तुम इन दोनों का आपस में विवाह कर दो।

यह रत्नसेन खप्पर हाथ में लेकर भीख माँग रहा है और मरने पर भी तुम्हारे द्वार को छोड़कर नहीं जायेगा। मेरी बात को समझो। इसे अपनी सोने की कटोरी सी सुन्दर पुत्री पद्मावती को भिक्षा में दे दो। इसे मारो मत।

टिप्पणी—इस पद को डा० माताप्रसाद गुप्त ने प्रक्षिप्त मानकर अपने संग्रह में स्थान नहीं दिया है। इसे प्रक्षिप्त मानने का कारण यह बताया गया है कि इसमें पहले कही गई बातों की ही पुनरावृत्ति की गई है।

(२७८)

ओहट होहु रे भाँट भिखारी। का तू मोंहि देहि असि गारी॥
को मोंहि जोग जगत होइ पारा। जा सहुँ हेरौं जाइ पतारा॥
जोगी जती आव जो कोई। सुनतहि त्रासमान भा सोई॥
भीखि लेंहि फिरि माँगहिं आगे। ए सब रैंनि रहे गढ़ लागे॥
जस हींछा, चाहों तिन्ह दीन्हा। नाँहि बेधि सूरी जिउ लीन्हा॥
जेहि अस साध होइ जिउ खोवा। सो पतङ्ग दीपक अस रोवा॥
सुर, नर, मुनि सब गंध्रब देवा। तेहि कौ गनै करहिं निति सेवा॥
मोसौं को सरवरि करै? सुन, रे झूठे भाँट!
छार होइ जौ चालौं, निज हस्तिन कर ठाट॥१४॥

व्याख्या—भाट वेशधारी महादेव की बातों को सुन राजा गंधर्वसेन ने विश्वास नहीं किया और क्रोध में भर कहने लगा—

हे भाट भिखारी! मेरी आँखों के सामने से दूर हो जा। तू मुझे इस प्रकार गाली देने का साहस कैसे कर रहा है? इस संसार में मेरे समान और दूसरा कौन हो सकता है? मैं जिसकी ओर भी दृष्टि उठाकर देख लेता हूँ वही पाताल में जा गिरता है। योगी, यती जो कोई भी आता है—मेरे प्रताप को सुन आतंकित हो उठता है। वे लोग मुझ से भिक्षा प्राप्त कर यहाँ ठहरने का साहस न कर आगे भिक्षा जा माँगते हैं। परन्तु ये सारे योगी तो रात में मेरे गढ़ के पास ही ठहरे रहे। मेरी जैसी इच्छा होती है, मैं वैसी ही भिक्षा देना चाहता हूँ और यदि कोई उसे स्वीकार नहीं करता तो सूली पर चढ़ा उसके प्राण ले लेता हूँ। जिसके मन में ऐसी इच्छा होती है अर्थात् जो पद्मावती को प्राप्त करने की अभिलाषा लेकर यहाँ आता है, उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। वह उसी प्रकार रोता रह जाता है जिस प्रकार दीपक के प्रेमी पतिंगे उसकी लौ में जल कर छटपटा कर रोते रहते हैं। सुर, नर, मुनि, गंधर्व और सारे देवता नित्य मेरी सेवा करते हैं, फिर इन तुच्छ योगियों की गणना ही क्या है, अर्थात् इनका महत्त्व ही क्या है?

मेरी बराबरी कौन कर सकता है? हे झूठ बोलने वाले भाट! मेरी बात सुन! यदि मैं अपने हाथियों की सेना को इन पर चढ़ा दूँ तो ये सब उनके पैरों तले पिसकर मिट्टी बन जायेंगे।

टिप्पणी—डा० गुप्त इस पद को भी प्रक्षिप्त मानते हैं।

(२७६)

जोगी घिरि मेले सब पाछे। उरए माल आए रन काछे।।
मंत्रिन्ह कहा, सुनहु हो राजा। देखहु अब जोगिन्ह कर काजा।।
हम जो कहा तुम्ह करहु न जूझू। होत आव दर जगत असूझू।।
खिन इक महँ झुरमुट होइ बीता। दर महँ चढ़ि जौ रहै सो जीता।।
कै धीरज राजा तब कोपा। अङ्गद आइ पाँव रन रोपा।।
हस्ति पाँच जो अगमन धाए। तिन्ह अङ्गद धरि सूँड़ फिराए।।
दीन्ह उड़ाइ सरग कहँ गए। लौटि न फिरे, तहँहि के भये।।
देखत रहे अंचभौ जोगी, हस्ती बहुरि न आव।
जोगिन्ह कर अस जूझब, भूमि न लागत पाव।।१५।।

शब्दार्थ—घिरि मेले=घिर कर इकट्ठे हो गए। उरए=उत्साह या चाव से भरे हुए। माल=मल्ल, पहलवान। रन काछे=रण के लिए सज्जित होकर। झुरमुट=अन्धकार। होइ बीता=होना चाहता है। दर महँ=दल बाँध कर। चढ़ि जो रहै=अग्रसर होकर बढ़ता है।

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन की क्रोधभरी गर्वोक्ति को सुन सारे योगी घिर कर पीछे से आगे आ वहाँ एकत्र हो गए। पहलवान उत्साह में भर कर युद्ध के लिए सज्जित हो आगे बढ़ आए। यह देख राजा गंधर्वसेन के मंत्रियों ने उससे कहा कि हे राजा! हमारी बात सुनो। अब इन योगियों का कार्य देखो। हमने तुमसे जो यह कहा था कि युद्ध मत करो (ये योगी असहाय और निर्बल नहीं हैं।) अब देखो इनके दल के दल, जिनका अन्त नहीं दिखाई देता, घिरते चले आ रहे हैं। अभी क्षण भर में ही चारों ओर अन्धकार-सा छा जायेगा। युद्ध में वही विजयी होता है जो दल बाँध कर आक्रमण करता है। अपने मंत्रियों की ये बातें सुन राजा गंधर्वसेन मन में धैर्य धारण कर क्रुद्ध हो उठा, अर्थात् वह उन योगियों की सेना को देख घबड़ाया नहीं। उसी समय अंगद ने आकर रणभूमि में अपने पैर रोप दिए। राजा ने जो पाँच हाथी आगे कर उन योगियों पर छुड़वाये थे, अंगद ने उनकी सूँड़ें पकड़ कर घुमाया और फिर ऊपर आसमान की ओर फेंक दिया। वे हाथी ऊपर की ओर उड़ कर फिर वापस धरती पर नहीं आए। वहीं ऊपर ही रह गए।

सारे योगी इस आश्चर्यजनक घटना को देखते रह गए कि वे हाथी लौटकर फिर नहीं आए। वे योगी इस प्रकार युद्ध करने लगे कि उनके पैर जमीन पर नहीं लगते थे; अर्थात् वे बड़ी फुर्ती के साथ युद्ध करने लगे।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने युद्ध का प्रारम्भ होना दिखाया है। अंगद द्वारा हाथियों को ऊपर फेंक दिया जाना और फिर उनका लौटकर नीचे न आना—

यह कल्पना जायसी ने सम्भवतः महाभारत युद्ध में भीमसेन द्वारा हाथियों को इसी प्रकार ऊपर फेंक दिए जाने वाली घटना के आधार पर की है। डा० गुप्त इस पद को भी प्रक्षिप्त मानते हैं।

(२८०)

कहहिं बात, जोगी सब आये। खिनक माहँ चाहत हैं धाए॥
जो लहि धावहिं अस का खेलहु। हस्तिन केर जूह सब पेलहु॥
जस गज पेलि होहिं रन आगे। तस बगमेल करहु सँग लागे॥
हस्ति क जूह आय अगसारी। हनुवँत तबै लँगूर पसारी॥
जैसे सेन बीच रन आई। सबै लपेटि लँगूर चलाई॥
बहुतक टूटि भए नौ खंडा। बहुतक जाइ परे बरम्हंडा॥
बहुतक भँवत सोइ अँतरीखा। रहे जो लाख भये ते लीखा॥
बहुतक परे समुद महँ, रती न पावा खोज।
जहाँ गरब तहँ पीरा, जहाँ हँसी तहँ रोज॥१६॥

व्याख्या—वहाँ उपस्थित लोगों ने राजा गंधर्वसेन से कहा कि अब योगी आ गए हैं और क्षण भर में ही धावा बोल देने वाले हैं। जब तक कि वे आक्रमण करें तब तक तुम यह चाल चलो, अर्थात् इस प्रकार कूटनीति के साथ युद्ध करो कि अपने हाथियों के झुण्ड को उन पर चढ़ा दो। और जब हाथी आगे युद्ध-भूमि में पहुँच जायँ तो तुरन्त उनके पीछे ही अपने घुड़सवारों को बढ़ा दो। यह सुन कर जब राजा ने ऐसा ही किया और उसके हाथी आगे आ गए तो उन्हें देख हनुमान ने अपनी पूँछ फैलाई। जैसे ही राजा गंधर्वसेन की सेना रणक्षेत्र के बीच पहुँची तो हनुमान ने उस सारी सेना को अपनी पूँछ में लपेट कर फेंक दिया। फेंकने के कारण बहुतों के टूट कर नौ-नौ टुकड़े हो गए और बहुत से ब्रह्माण्ड (आकाश) में जाकर गिरे। बहुत से ऊपर अन्तरिक्ष में चक्कर काटते हुए शोभा देने लगे। और जो लाखों बचे वे एक लीख के बराबर रह गए अर्थात् पिस कर धूल के कण बन गए।

उनमें से बहुत से समुद्र में जा गिरे। उनका प्रयत्न करने पर रत्ती भर भी पता न चला। जहाँ गर्व रहता है, वहाँ पीड़ा भी रहती है। जहाँ हँसी रहती है, वहाँ रुदन भी रहता है। भाव यह है कि जो गर्व करता है उसे कष्ट उठाना पड़ता है और जो दूसरों पर हँसता रहता है उसे अन्त में रोना पड़ता है।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पद को भी प्रक्षिप्त माना है।

(२८१)

पुनि आगे का देखै राजा। ईसर केर घंट रन बाजा॥
सुना संख जो बिस्नू पूरा। आगे हनुवँत केर लँगूरा॥
लीन्हें फिरहिं लोक बरम्हण्डा। सरग पतार जाइ मृदमंडा॥

बलि, बासुकि औ इन्द्र नरिंदू। राहू, नखत, सूरुज औं चंदू॥
जावत दानव राच्छस पुरे। आठौं बज्र आइ रन जुरे॥
जेहि कर गरब करत हुत राजा। सो सब फिरि बैरी होइ साजा॥
जहवाँ महादेव रन खड़ा। सीस नाई पायँन्ह परा॥
केहि कारन रिस कीजिए? हौं सेवक औ चेर।
जहि चाहिए तेहि दीजिए, बारि गोसाईं केर॥१७॥

व्याख्या—इसके उपरान्त राजा गंधर्वसेन आगे क्या देखता है कि रणक्षेत्र में महादेव का घण्टा बज रहा है। उसने विष्णु द्वारा बजाए गए शंख की शंखध्वनि भी सुनी और सबसे आगे हनुमान की पूँछ देखी। हनुमान अपनी पूँछी में लपेटकर सारे लोक को ब्रह्मांड (आकाश) में लिए फिरते हैं और उसके कारण स्वर्ग से लेकर पाताल तक सब धूल से छा गए हैं। राजा बलि, वासुकि नाग, और इन्द्र जैसे राजा, राहु, नक्षत्र, सूर्य और चन्द्रमा, जितने भी दानव और राक्षस थे, वे सब तथा आठों वज्र आकर उस युद्ध में सम्मिलित हो गए। राजा गंधर्वसेन अपनी जिस सेना और सहायकों पर गर्व करता था, वे सब उसके विरुद्ध होकर उसके शत्रु बन गए। यह देख राजा गंधर्वसेन उस स्थान पर पहुँचा जहाँ रणक्षेत्र में महादेव खड़े हुए थे। वह उनके सम्मुख अपना शीश झुका उनके पैरों पर गिर पड़ा और प्रार्थना करने लगा कि—

आप किस कारण से कुपित हो उठे हैं? मैं तो आपका सेवक और दास हूँ। मेरी कन्या (पद्मावती) तो आपकी ही है। उसे आप जिसे चाहें उसी को दे दें।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त इस पद को भी प्रक्षिप्त मानते हैं।

(२८२)

पुनि महेस सब कीन्ह बसीठी[1]। पहिले करुइ, सोइ अब मीठी[2]॥
तूँ गंध्रब राजा जग पूजा। गुन चौदह, सिख देइ को दूजा॥
हीरामन जो तुम्हार परेवा। गा चितउर औ कीन्हेसि सेवा॥
तेहि बोलाइ पूछहु वह देसू। दहुँ जोगी, की तहाँ नरेसू॥
हमरे कहत न जौ तुम्ह मानहु। जो वह कहै सोइ परवाँनहु॥
जहाँ बारि, बर आवा ओका[3]। करहिं बियाह धरम बड़ तोका॥
जो पहिले मन मानि न काँधै। परखै, रतन गाँठि तब बाँधै॥
रतन छपाए ना छपै, पारिख होइ सो परीख।
घालि कसौटी दीजिए, कनक-कचोरी भीख॥१८॥

पाठ-भेद—१. सोइ बिनती सिउँ करौं बसीठी=इसी कारण मैं विनती के साथ बसीठी (दूतत्त्व) करता हूँ। २. अन्त होइ। ३. तहँ आव बरोका=वहाँ बरोका (सगाई) के लिए आया है।

व्याख्या– राजा गंधर्वसेन की दीनता भरी बातों को सुन अब महादेव ने पुनः दूत का कार्य किया। राजा को उनकी जो बातें पहले कड़वी लगी थीं वही अब मीठी लगने लगीं। महादेव ने उससे कहा कि हे राजा गंधर्वसेन! सारा जगत तेरी पूजा करता है। तू चौदह गुणों से सम्पन्न है; फिर दूसरा कोई तुझे क्या शिक्षा दे सकता है? तेरा जो पक्षी हीरामन है, वह चित्तौड़ गया था और वहाँ उसने राजा रत्नसेन की सेवा की थी। तू उसे बुलाकर पूछ ले कि वह कैसा देश है? यह रत्नसेन कोई योगी है या वहाँ का राजा है? हमारे कहने से तो तू हमारी बात नहीं मानता, अब वह तोता जो कहे उसे तो सच्चा प्रमाण मान ले अर्थात् उसकी बात पर तो विश्वास कर जहाँ कन्या थी वहीं उसका वर आ गया है। तू इन दोनों का विवाह कर दे। इससे तुझे बहुत पुण्य प्राप्त होगा। जो व्यक्ति पहले अपने मन की बात को स्वीकार कर दूसरे की बात पर विश्वास नहीं करता, वही जब रत्न की परख कर लेता है तो उसे अपनी गाँठ में बाँध लेता है। भाव यह है कि अब तो तूने इस रत्न अर्थात् रत्न-सेन की परख कर ली, उसकी शक्ति देख ली, इसलिए अब इसे स्वीकार कर ले।

जो सच्चा रत्न होता है, वह छिपाने से भी छिपा नहीं रह सकता। जो पारखी होता है वह उसकी परीक्षा कर उसे जान लेता है। इसलिए अब इस योगी को कसौटी पर कस कर अर्थात् इसकी परीक्षा कर अपनी सोने की कटोरी सी सुन्दर कन्या भिक्षा में इसे दे दे, अर्थात् इन दोनों का परस्पर विवाह कर दे।

(२८३)

राजै जब हीरामन सुना। गएउ रोस, हिरदय महँ गुना॥
अज्ञा भई बोलावहु सोई। पंडित हुँते धोख नहिं होई॥
एकहि कहत सहस्रक धाए। हीरामनहिं बेगि लेइ आए॥
खोला आगे आनि मँजूसा। मिला निकसि बहुदिन कर रूसा॥
अस्तुति करत मिला बहु भाँती। राजै सुना हिये भइ साँती॥
जानहुँ जरत आगि जल परा। होइ फुलवार रहस हिय भरा॥
राजै पुनि पूछी हँसि बाता। कस तन पियर, भएउ मुख राता॥
चतुर बेद तुम पंडित, पढ़े शास्त्र औ बेद।
कहाँ चढ़ाएहु जोगिन्ह, आइ कीन्ह गढ़ भेद॥१६॥

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन ने जब हीरामन के सम्बन्ध में सुना तो उसका सारा क्रोध जाता रहा और उसने अपने हृदय में विचार किया। फिर उसने आज्ञा दी कि तुरन्त हीरामन को बुलाया जाय; क्योंकि पंडित से कभी धोखा नहीं होता, अर्थात् हीरामन पंडित है इसलिए वह धोखा नहीं देगा, झूठी बात नहीं कहेगा। एक को आज्ञा देते ही हजारों लोग हीरामन को लिवा लाने के लिए दौड़ पड़े और तुरन्त उसे लाकर उपस्थित कर दिया। उन्होंने राजा के आगे आकर उसका पिंजड़ा खोल

दिया। बहुत दिनों का रूठा हुआ हीरामन पिंजड़े से बाहर निकल राजा से मिला। वह बहुत प्रकार से राजा की स्तुति करता हुआ उससे मिला-भेंटा। राजा ने जब उसकी विनय भरी बातों को सुना तो उसके हृदय में बड़ी शान्ति पहुँची। उसे इतनी शान्ति मिली, मानो आग से जलते हुए पर किसी ने पानी डाल उस आग को बुझा दिया हो। प्रफुल्लित हो राजा का हृदय आनन्द से भर उठा। इसके उपरान्त राजा ने हँसकर उससे पूछा कि तुम्हारा शरीर पीला और मुख लाल कैसे हो गया ?

तुम चारों वेदों के पंडित और ज्ञाता हो। तुमने सारे शास्त्र और वेदों का अध्ययन किया है। तुमने इन योगियों को कहाँ से लाकर यहाँ चढ़ा दिया कि वे आकर हमारे गढ़ में सेंध लगा भीतर घुस आए।

(२८४)

हीरामन रसना रस खोला। दै असीस, कै अस्तुति बोला।।
इन्द्रराज राजेसर महा। सुनि होइ[1] रिस, कछु जाय न कहा।।
पै जो बात होइ भलि आगे। सेवक निडर कहै रिस लागे।।
सुवा सुफल अमृत पै खोजा। होहु न राजा विक्रम भोजा।।
हौं सेवक तुम आदि गोसाईं। सेवा करौं जिऔं जब ताईं।।
जेइ जिउ दीन्ह देखावा देसू। सो पै जिउ महँ बसै नरेसू।।
जो ओहि सँवरैं 'एकै तूही'। सोई पंखि जगत रतमुहीं।।
नैन बैन औ सरवन, सब ही तोर प्रसाद।
सेवा मोरि इहै निति, बोलौं आसिरबाद।।२०।।

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन के प्रश्न को सुन हीरामन ने अपनी रसभरी जिह्वा खोली और राजा को आशीर्वाद दे, उसकी स्तुति कर कहने लगा—हे महाराज ! तुम देवराज इन्द्र की भाँति प्रतापी हो और राजाओं के भी राजा हो। तुम मेरी बातों को सुनकर क्रुद्ध हो जाओगे, इसलिए मुझसे कुछ कहते नही बनता। परन्तु जो बात भविष्य के लिए हितकारी हो, सेवक उस बात को निडर होकर कह देता है, फिर स्वामी भले ही क्रुद्ध हो जाय। जिस प्रकार एक तोते ने अमृत के समान गुणकारी सुन्दर फल खोजकर राजा विक्रमादित्य या भोज को दिया था उसी प्रकार मैं तुम्हारे लिए अमृत के समान सुन्दर फल अर्थात् पद्मावती के योग्य सुन्दर वर खोजकर लाया हूँ। तुम विक्रम और भोज के समान उसका अनादर मत करो, वरना तुम्हें भी उन्हीं के समान पछताना पड़ेगा। मैं सेवक हूँ और तुम प्रारम्भ से ही मेरे स्वामी रहे हो। जब तक मैं जीवित रहूँगा, तब तक तुम्हारी ही सेवा करता रहूँगा। जिस ईश्वर ने मुझे प्राण दिए और अनेक देश दिखाए, हे राजा ! वही मेरे हृदय में सदा निवास करता

पाठ-भेद—१. मौंहैं रिस = सामने ही क्रोध दिखाई दे रहा है।

है। 'जो एक तू ही है' रटता हुआ उसका स्मरण करता रहता है, वही पक्षी इस संसार में सुर्खरू अर्थात् सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

मेरे नेत्र, वाणी और कान—सब मुझे तुमसे ही प्रसाद रूप में प्राप्त हुए हैं। मैं तुम्हारी यही सेवा करता रहता हूँ कि नित्यप्रति मेरे मुख से तुम्हारे लिए आशीर्वाद निकला करता है।

(२८५)

जो अस सेवक जेइ तप कसा[1]। तेहि क जीभ पै अमृत बसा ॥
तेहि सेवक के करमहिं दोषू। सेवा करत करै पति रोषू ॥
औ जेहि दोष निदोषहि लागा। सेवक डरा जीउ लेइ भागा ॥
जो पंछी कहवाँ थिर रहना। ताकै जहाँ जाइ भए डहना ॥
सप्त दीप फिरि देखेउँ, राजा। जंबूदीप जाइ तब बाजा ॥
तहँ चितउरगढ़ देखेउँ ऊँचा। ऊँच राज सरि तोहि पहूँचा ॥
रतनसेन यह तहाँ नरेसू। एहि आनेउँ जोगी के भेसू ॥
सुआ सुफल लेइ आएउँ तेहि गुन तें मुख रात।
कया पीत सो तेहि डर, सँवरो विक्रम बात ॥२१॥

व्याख्या—हीरामन राजा गंधर्वसेन से आगे कहने लगा कि जो ऐसा सेवक हो, जिसने तपस्या द्वारा अपने शरीर को कस लिया हो, उसकी जिह्वा पर सदैव अमृत का वास रहता है, अर्थात् वह सदैव अमृत के समान मधुर और कल्याणकारी वाणी बोलता है। ऐसे सेवक के कर्मों, अर्थात् भाग्य के दोष के कारण सेवा करते हुए भी उसका स्वामी उससे क्रुद्ध हो उठता है। भाव यह है कि मैं तो सेवक के समान तन-मन से तुम्हारी सेवा करता था परन्तु मेरे भाग्य के दोष से ही तुम मुझ पर क्रुद्ध हो उठे थे और तुमने मुझे प्राणदंड दिया था। और जब ऐसे सेवक को उसके निर्दोष रहते हुए भी दोष लगाया तो वह भयभीत हो उठा और अपने प्राण बचाने के लिए भाग खड़ा हुआ। जो पक्षी है वह कहाँ स्थिर होकर रह सकता है! जब उसके पंख उग आते हैं तो जिधर उसकी निगाह उठती है, वह उधर ही उड़कर चल देता है। यही मैंने किया और सातों द्वीपों को घूमकर देखा। हे राजा! चारों ओर घूमता हुआ मैं भारतवर्ष जा पहुँचा। वहाँ मैंने चित्तौड़ का गगनचुम्बी गढ़ देखा! वह राज्य विशालता में तुम्हारे राज्य के ही समान था। यह रत्नसेन वहीं का राजा है। मैं इसे यहाँ योगी के वेश में ले आया।

मैं तोता इस रत्नसेन के रूप में एक सुन्दर, स्वादिष्ट फल को ले आया हूँ। इसी गुण अर्थात् शुभ कर्म के कारण गर्व से मेरा मुख लाल हो गया है, और शरीर उस भय के कारण पीला पड़ गया है जब मैंने राजा विक्रमादित्य की बात का स्मरण

पाठ-भेद – १. चह पति दसा=स्वामी की सुदशा चाहता है।

किया, अर्थात् इस भय के कारण मैं पीला पड़ गया हूँ कि कहीं तुम भी मुझे विक्रमादित्य के समान मरवा न डालो ।

तोते के कहने का अभिप्राय यह है कि मैं पद्मावती के लिए रत्नसेन के समान सुन्दर और योग्य वर खोज लाया हूँ परन्तु भय है कि राजा गंधर्वसेन कहीं इसे स्वीकार न कर इस अपराध के लिए मुझे मरवा न डाले ।

(२८६)

पहिले भएउ भाँट सत भाखी। पुनि बोला हीरामन साखी ।।
राजहि भा निसचय, मन माना। बाँधा रतन छोरि कै आना ।।
कुल पूछा चौहान कुलीना। रतन न बाँधे होइ मलीना ।।
हीरा दसन पान-रँग पाके। बिहँसत सबै बीजु बर ताके ।।
मुद्रा स्रवन विनय सौं चाँपा[1]। राजपना उघरा सब झाँपा ।।
आना काटर एक तुखारू। कहा सो फेरौ, भा असवारू ।।
फेरा तुरय, छतीसौ कुरी। सबै सराहा सिंघलपुरी ।।
कुंवर बत्तीसौ लच्छना, सहस-किरन जस भान ।
काह कसौटी कसिए ? कंचन बारह-बान ।।२२।।

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि पहले तो दोनों भाटों ने तथा बाद में भाट वेशधारी महादेव ने राजा रत्नसेन के विषय में सत्य बातें कही थीं और फिर हीरामन ने साक्षी दी। इन सारी बातों को सुनकर राजा गंधर्वसेन को निश्चय हो गया और उसने मन में स्वीकार कर लिया कि यह योगी चित्तौड़गढ़ का राजा रत्नसेन ही है। यह सोच कर उसने बँधे हुए रत्नसेन को बन्धनों से मुक्त करवा अपने पास बुलवा लिया। फिर उसने रत्नसेन से उसके कुल के सम्बन्ध में पूछा तो रत्नसेन ने उत्तर दिया कि वह कुलीन चौहान वंश का है। रत्न को कपड़े में बाँधकर रखने से वह कभी मलिन नहीं होता। भाव यह है कि रत्नसेन को बन्दी बना लेने पर भी उसका तेज और गौरव निष्प्रभ नहीं हो पाया था। उसके हीरे के समान उज्ज्वल दाँत पान के रंग से रँगे हुए थे और जब वह हँसा तो सबने देखा मानो बिजली-सी कौंध उठी हो। रत्नसेन ने विनयपूर्वक अपने कानों में पड़े मुद्रालंकारों (कुंडलों) को हाथ से दबाया। ऐसा करते ही उसका सारा योगी का वेश छिप गया और उसका राजा का स्वरूप स्पष्ट हो उठा। भाव यह है कि कानों में पड़े कुण्डल ही उसे योगी का वेश प्रदान कर रहे थे, जब उसने उन्हें हाथों से छिपा लिया तो उसका राज-वेश स्पष्ट हो गया। राजा गंधर्वसेन ने तुषार देश का एक कट्टर घोड़ा मँगवाया और रत्नसेन से कहा कि इसे फिराओ। रत्नसेन तुरन्त उस घोड़े पर सवार हो गया और उसने उस

पाठ-भेद—१. मैन सौं चाँपा = मोम से चिपके हुए ।

घोड़े को इस प्रकार दक्षता के साथ फिराया कि वहाँ उपस्थित सिंहलगढ़ के छत्तीसों कुलों के क्षत्रिय वाह-वाह कर उठे।

उन्होंने राजा गंधर्वसेन से कहा कि यह राजकुमार बत्तीस लक्षणों से युक्त है। इसका तेज सहस्र किरण वाले सूर्य के समान तेजस्वी है। इसे तुम क्या कसौटी पर कसोगे ? यह तो शुद्ध बारहबानी सोने के समान निर्मल है, अर्थात् इसकी क्या परीक्षा ली जाय ? यह तो सर्व-गुण-सम्पन्न तेजस्वी राजपुत्र है।

टिप्पणी—अलंकार—श्लेष, द्रष्टान्त और उपमा।

(२८७)

देखि कुँवर बर कँचन जोगू[1]। 'अस्ति अस्ति' बोला सब लोगू॥
मिला सो बंस अंस उजियारा। भा बरोक तब तिलक सँवारा॥
अनिरुध कहँ जो लिखा जयमारा। को मेटै ? बानासुर हारा॥
आजु मिली अनिरुध कहँ ऊखा। देव अनंद, दैत सिर दूखा॥
सरग सूर, भुइँ सरवर केवा। बनखँड भँवर होइ रस लेवा॥
पच्छिउँ कर बर पुरुब क तारी। जोरी लिखी न होइ निनारी॥
मानुष साज लाख मत साजा। होइ सोइ जो बिधि उपराजा[2]॥
गए जो बाजन बाजत, मारन जिन्ह रन माहिं।
फिर बाजन तेइ बाजे, मंगलचारि ओनाहिं॥२३॥

शब्दार्थ—बर=समान या वर। अस्ति अस्ति=हाँ-हाँ, वाह-वाह। बरोक= वरिक्षा, फलदान। सँवारा=तैयारी हुई। ऊखा=उषा, बाणासुर की कन्या। केवा =कमल (संस्कृत—कुव)। निरारी=अलग, पृथक्। साज=इच्छाएँ, कामनाएँ। उपराजा=निश्चित कर रखा है।

व्याख्या—उस रणक्षेत्र में जितने भी मनुष्य उपस्थित थे, सब राजकुमार (रत्नसेन) को कंचन के समान शुद्ध और योग्य वर देखकर स्वीकृत-सूचक उद्घोष करने लगे अर्थात् कहने लगे कि हाँ, हाँ ! यह वर पूर्ण रूप से पद्मावती के योग्य है। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सब लोग उस वर को कंचन की सी कान्तिवाली पद्मावती के योग्य देखकर प्रशंसा करने लगे।) उन्हें अपने वंश को उज्ज्वल करने वाला अंश मिल गया, अर्थात् रत्नसेन अपने चौहान वंश को उज्ज्वल करने वाला राजकुमार था। यह देख राजा गंधर्वसेन ने वरिक्षा (फलदान) का कार्य सम्पन्न किया और तिलक चढ़ाने की तैयारियाँ होने लगीं। जो जयमाला अनिरुद्ध के भाग्य में विधि ने लिख दी

पाठ-भेद—१. सुरुज बर कँवल सँजोगू=कमलिनी (पद्मावती) के साथ ऐसे सूर्यरूपी वर (रत्नसेन) का संयोग देखकर। २. साजा बिधि सोई पै बाजा।

थी उसे कौन मिटा सकता था। बाणासुर प्रयत्न करने पर भी हार गया था। भाव यह है कि बाणासुर की पुत्री उषा की जयमाला अनिरुद्ध के भाग्य में लिखी थी। बाणासुर ने बहुत विरोध किया अन्त में उसे हार माननी पड़ी और उषा की जयमाला अनिरुद्ध को ही मिली। इसी प्रकार विधाता ने रत्नसेन को ही पद्मावती का वर नियत कर रखा था। गंधर्वसेन विरोध करने पर भी इस सम्बन्ध को न रोक सका और उसे बाणासुर के समान हार माननी पड़ी।

आज अनिरुद्ध को उषा मिल गई। यह देख देवता आनन्दित हो उठे और दैत्यों के सिर में पीड़ा होने लगी, अर्थात् सज्जन प्रसन्न हुए और दुष्ट दुखी। कवि कहता है कि सूर्य ऊपर आकाश में रहता है और कमल पृथ्वी पर स्थित सरोवर में। आपस में इतनी दूरी रहने पर भी दोनों एक-दूसरे के प्रेमी होते हैं। कमल जब सरोवर में खिलता है तो सुदूर वन में विचरण करने वाला भौंरा उसके पास आ, उसके रस का पान करता है। भाव यह है कि स्थानों की दूरी प्रेम में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित कर पाती। इसी प्रेम के कारण रत्नसेन भारतवर्ष से चलकर सुदूर सिंहलद्वीप में रहने वाली पद्मावती को प्राप्त करने में समर्थ हो सका। वर अर्थात् रत्नसेन पश्चिमी दिशा (भारतवर्ष) का रहने वाला था। और बाला (पद्मावती) पूर्व दिशा (सिंहलद्वीप) की रहने वाली थी। परन्तु विधाता ने इन दोनों की जोड़ी लिख दी थी, इसलिए इन्हें कोई भी अलग नहीं कर सकता था। मनुष्य अपने मन में लाखों प्रकार की अभिलाषाएँ सँजोता है परन्तु होता वही है जो विधाता ने पहले से निश्चित कर रखा होता है।

राजा गंधर्वसेन की सेना के जो रणवाद्य (बाजे) उसे मारने के लिए बजते हुए गए थे, वे ही बाजे अब उमंग में भर कर मंगलाचार की ध्वनि बजाने लगे।

टिप्पणी—अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, द्रष्टान्त और विरोध।

(२८८)

बोल गोसाईं कर मैं माना। काह जो जुगुति उतर कहँ आना॥
माना बोल, हरष जिउ बाढ़ा। औ बरोक भा, टीका काढ़ा॥
दुवौ मिले, मनावा भला। सुपुरुष आपु आपु कहँ चला॥
लीन्ह उतारि जाहि हित जोगू। जो तप करै सो पावै भोगू॥
वह मन चित जो एकै अहा। मारै लीन्ह न दूसर कहा॥
जो अस कोई जिउ पर छेवा। देवता आइ करहिं निति सेवा॥
दिन दस जीवन जो दुख देखा। भा जुग-जुग सुख, जाइ न लेखा॥
रतनसेन सँग बरनौ, पदमावति क बियाह।
मंदिर बेग सँवारा, मादर तूर उछाह॥२४॥

शब्दार्थ—बोल=कहना। बोल=आज्ञा। मनावा भला=कल्याण-कामना

की। मारै लीन्ह=मार डालना चाहते थे। न दूसर कहा=पर मुँह से दूसरी बात न निकली। छेवा=झेला, डाला।

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन कहने लगा कि मैंने अपने स्वामी (महादेव) की आज्ञा मान ली। दूसरे उत्तर के लिए युक्ति ही क्या है? अर्थात् मैं इस आज्ञा को मानने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता था? इसलिए मैंने इस आज्ञा को मान लिया और मेरा हृदय हर्ष से भर गया है। इतना कह कर उसने फलदान किया और रत्नसेन का टीका चढ़ाया। इसके उपरान्त दोनों अर्थात् रत्नसेन और गंधर्वसेन आपस में गले मिले और उन्होंने एक-दूसरे के कल्याण की कामना की। इतना करके दोनों ही सज्जन पुरुष अपने-अपने कार्य में संलग्न होने के लिए चल दिए, अर्थात् विवाह की तैयारियाँ करने के लिए चल दिए। राजा रत्नसेन उसे अर्थात् पद्मावती को स्वर्ग से अर्थात् सिंहलगढ़ से नीचे उतार लाया जिसके लिए उसने योग साधना की थी। कवि कहता है कि जो तपस्या करता है, उसे उसका फल अवश्य मिलता है। राजा रत्नसेन मन और चित्त से पद्मावती के साथ एकाकार हो गया था। गंधर्वसेन उसे मार डालना चाहता था परन्तु फिर भी रत्नसेन ने अपने मुँह से पद्मावती के नाम के अतिरिक्त कोई भी दूसरा शब्द नहीं कहा। जो कोई इस प्रकार अपने प्राणों पर कष्ट झेलता है, देवता गण नित्य आकर उसकी सेवा करते हैं, अर्थात् उसकी सहायता करते हैं। जो अपने जीवन में दस दिन अर्थात् थोड़े समय तक दुख झेल लेता है, उसे युग-युग तक वर्णनातीत सुख प्राप्त होता है।

जायसी कहते हैं कि अब मैं रत्नसेन के साथ पद्मावती के विवाह का वर्णन करता हूँ। राजा गंधर्वसेन ने शीघ्र अपने राजमहल को सजाया। चारों ओर मृदङ्ग और तुरही बाजे बजने लगे और उत्साह छा गया।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पद को प्रक्षिप्त माना है। पुनरुक्ति की स्पष्ट छाया होने के कारण इसे प्रक्षिप्त माना जा सकता है।

२६

रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खंड

(२८९)

लगन धरा औ रचा बियाहू । सिंघल नेवत फिरा सब काहू ॥
बाजन बाजे कोटि पचासा । भा अनंद सगरौं कैलासा ॥
जेहि दिन कहँ निति देव मनावा । सोइ दिवस पदमावति पावा ॥
चाँद सुरुज मनि माथे भागू । औ गावहिं सब नखत सोहागू ॥
रचि-रचि मानिक माँड़व छावा । औ भुइँ रात बिछाव बिछावा ॥
चंदन खाँभ रचे बहु भाँती । मानिक-दिया बरहिं दिन-राती ॥
घर-घर बंदन रचे दुवारा । जावत नगर गीत झनकारा ॥
हाट-बाट-सब सिंघल, जहँ देखहु तहँ रात ।
धनि रानी पदमावति, जेहिकै ऐसि बरात ॥१॥

व्याख्या—जायसी रत्नसेन और पद्मावती के विवाह का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

पंडितों ने विवाह की लग्न शोध कर रखी और वैवाहिक कार्य प्रारम्भ हो गए। राजा गंधर्वसेन ने सम्पूर्ण सिंहल निवासियों को निमंत्रण भेजा। वहाँ पचास प्रकार के अर्थात् असंख्य प्रकार के बाजे बजने लगे और सारे स्वर्ग अर्थात् सिंहलगढ़ में आनन्द छा गया। आज पद्मावती ने उस शुभ दिवस को प्राप्त किया, अर्थात् वह शुभ दिवस आ पहुँचा जिसके लिए वह नित्य देवताओं से प्रार्थना किया करती थी, मनौतियाँ मनाया करती थी। सूर्य और चन्द्र अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती के मस्तकों पर मणिरूप सौभाग्य का उदय हो रहा था और नक्षत्र रूपी सखियाँ सुहाग के गीत गा रही थीं। (जायसी ने सर्वत्र रत्नसेन को सूर्य, पद्मावती को चन्द्रमा तथा उसकी सखियों को नक्षत्र कहा है।) मणि-माणिक्यों से भली-भाँति सजाकर मण्डप छाया गया और धरती पर लाल रंग के बिछावन (वस्त्र) बिछाये गए। चन्दन के खम्भों को अनेक प्रकार से सजाया गया, जिन पर दिन-रात माणिक्यों के दीपक जलते रहते थे। नगर में प्रत्येक घर के द्वार पर वन्दनवार सजाये गए और सम्पूर्ण नगर बाजों की झंकार से गूँज उठा।

सिंहल के सारे मार्गों पर, सम्पूर्ण बाजारों में सर्वत्र लालिमा छा रही थी,

अर्थात् चारों ओर आनन्द छा रहा था (आनन्द का रंग लाल माना गया है)। वह रानी पद्मावती धन्य है जिसकी ऐसी सुन्दर बरात है।

(२६०)

रतनसेन कहँ कापड़ आए। हीरा मोति पदारथ लाए ।।
कुँवर सहस दस[1] आइ सभागे । बिनहि करहिं राजा सँग लागे ।।
जाहि लागि तन[2] साधेहु जोगू। लेहु राज औ मानहु भोगू ।।
मंजन करहु, भभूत उतारहु। करि अस्नान चित्र सब[3] सारहु ।।
काढ़हु मुद्रा फटिक अभाऊ। पहिरहु कुंडल कनक जराऊ ।।
छोरहु जटा, फुलायल लेहू। झारहु केस, मुकुट सिर देहू ।।
काढ़हु कंथा, चिरकुट-लावा। पहिरहु राता, दगल सोहावा ।।
पाँवरि तजहु, देहु पग, पौरि[4] जो बाँक तुखार।
बाँधि मौर, सिर छत्र देइ, बेगि होहु असवार ।।२।।

व्याख्या—इस पद में जायसी रत्नसेन की विवाह की तैयारियों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

रत्नसेन के लिए वस्त्र लाए गए जिनमें हीरे, मोती तथा अन्य प्रकार के रत्न जड़े हुए थे। दस हजार सौभाग्यशाली राजकुमार रत्नसेन के पास आकर उससे प्रार्थना करने लगे कि जिसके लिए तुमने इस शरीर से योग की साधना की थी, अब उससे राज्य ग्रहण करो और भोग-विलास करो। अब हाथ-मुँह धोकर अपने शरीर पर लगी इस भस्म को धो डालो और स्नान कर अपने शरीर पर चन्दन और केसर की खौर लगाओ। अपने कान में पड़ी शोभा न देने वाली इन स्फटिक की मुद्राओं को निकाल कर फेंक दो और उनके स्थान पर सोने के रत्नजटित कुंडल धारण करो। अपनी जटा को खोलो और उसमें सुगंधित तेल लगा, बालों को काढ़ कर साफ करो और फिर सिर पर मुकुट रखो। यह फटी-पुरानी कथरी उतार, सुन्दर लाल झँगला पहन लो।

पैरों में पड़ी खड़ाउओं को त्याग बाँके तुषारी घोड़े पर सवार हो राजा गंधर्वसेन की ड्योढ़ी पर जाओ। मस्तक पर मौर बाँधो, सिर के ऊपर छत्र लगाओ और इस प्रकार प्रस्तुत हो शीघ्र घोड़े पर सवार हो जाओ।

टिप्पणी—डा० अग्रवाल ने 'करि अस्नान चित्र सब सारहु' पंक्ति में 'चित्र सब' के स्थान पर 'चतुरसम' पाठ माना है और उसका अर्थ किया है 'चतुरसम-सुगन्धि' अर्थात् चन्दन, अगरु, कस्तूरी, केसर को समभाग लेकर बनाई गई एक

पाठ-भेद—१. सँग=साथ। २. तुम। ३. चतुरसम=चन्दन, कस्तूरी, केसर और अगरु का मिलाया हुआ लेप। ४. पैरीं=जूता, पदत्री।

सुगन्धि-विशेष। इसके अतिरिक्त उन्होंने दोहे की प्रथम पंक्ति में आए 'पौरि' शब्द के स्थान पर 'पैरीं' शब्द मानकर उसका अर्थ 'पनहीं' अर्थात् जूती माना है। 'पौरी' के स्थान पर 'पैरीं' शब्द ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि खड़ाऊँ के स्थान पर जूती पहनी जा सकती थीं।

(२९१)

साजा राजा, बाजन बाजे। मदन सहाय दुवौ दर[1] गाजे॥
औ राता सोने रथ साजा। भए बरात गोहने सब राजा॥
बाजत गाजत भा असवारा। सब सिंघल नइ कीन्ह जोहारा॥
चहुँ दिसि मसियर नखत तराईं। सूरुज चढ़ा चाँद के ताईं॥
सब दिन तपे जैस हिय माहाँ। तैसि राति पाई सुख-छाहाँ॥
ऊपर रात छत्र तस छावा। इन्द्रलोक सब देखै[2] आवा॥
आज इन्द्र अछरी सौं मिला। सब कबिलास होहि सोहिला॥
धरती सरग चहूँ दिसि, पूरि रहे मसियार॥
बाजत आवै मँदिर जहँ, होइ मंगलाचार॥३॥

शब्दार्थ—मदन सहाय=कामदेव के सहायक अर्थात् मेघ। सोहिला=मांगलिक गीत।

व्याख्या—राजा रत्नसेन सज-धज कर तैयार हो गया और बाजे बजने लगे। दोनों दलों में मेघों की सी गर्जना करने वाले बाजों का तुमुल निनाद होने लगा। राजा की सवारी के लिए लाल कपड़े से मढ़ा एक सोने का रथ सजाया गया। सारे राजकुमार उसके साथ बराती के रूप में चले। इस प्रकार बाजे-गाजे के साथ राजा रत्नसेन उस रथ पर सवार हुआ। सिंहलगढ़ के सभी लोग झुक-झुक कर उसे प्रणाम करने लगे। चारों ओर मशालें—नक्षत्र और तारों के समान चमक रही थीं। सूर्य ने चन्द्रमा को प्राप्त करने के लिए चढ़ाई की थी। सूर्य (रत्नसेन) सारे दिन हृदय में जलता रहा था, वैसे ही अब उसने रात में सुख की छाया प्राप्त की अर्थात् राजा रत्नसेन पद्मावती के वियोग में जो इतने कष्ट उठाये थे, अब उतना ही सुख देने वाली विश्रामदायिनी रात्रि आ गई थी। (उसका पद्मावती से मिलन होने वाला था।) रत्नसेन के सिर के ऊपर लाल रंग का राजछत्र इस प्रकार शोभा दे रहा था कि उसे देखने के लिए सारा इन्द्रलोक वहाँ उतर आया था। आज इन्द्र का अप्सरा से मिलन हो रहा था, अर्थात् इन्द्र के समान तेजस्वी रत्नसेन का अप्सरा-तुल्य सुन्दरी पद्मावती से सम्मिलन हो रहा था। सम्पूर्ण स्वर्ग अर्थात् सिंहल में मांगलिक गीत गाये जा रहे थे।

पृथ्वी से लेकर आकाश तक—चारों ओर मशालें ही मशालें दिखाई दे रही

पाठ-भेद—१. दिसि। २. सेवाँ=सेवा करने के लिए।

थीं। राजा रत्नसेन बजते हुए बाजों के साथ राजमहल की ओर जा रहा था, जहाँ मंगल गीत गाये जा रहे थे।

(२६२)

पदमावति धौराहर चढ़ी। दहुँ कस रवि जेहि कहँ ससि गढ़ी ॥
देखि बरात सखिन्ह सौं कहा। इन्ह महँ सो जोगी को अहा ? ॥
केइ सो जोग लै ओर निबाहा। भएउ सूर, चढ़ि चाँद बियाहा ॥
कौन सिद्ध सो ऐस अकेला। जेइ सिर लाइ पेम सौं खेला ? ॥
का सौं पिता बात अस हारी। उतर न दीन्ह, दीन्ह तेहि बारी ॥
का कहँ दैंउ ऐस जिउ दीन्हा। जेइ जयमार जीति रन लीन्हा ॥
धन्नि पुरुष अस नवै न नाए। औ सुपुरुष होइ देस पराए ॥
को बरिबंड बीर अस, मोहिं देखै कर चाव।
पुनि जाइहि जनवासहि, सखि ! मोहिं बेगि देखाव ॥४॥

व्याख्या—पद्मावती यह देखने के लिए महल के ऊपर चढ़ी कि वह सूर्य (रत्नसेन) कैसा है जिसके लिए मुझ (चन्द्रमा) को विधाता ने गढ़ा है। उसने बरात को देखकर अपनी सखियों से कहा कि इनमें वह योगी कौन-सा है जिसने योग धारण कर अन्त तक उसका निर्वाह किया है। किसने सूर्य बन कर आकाश मार्ग से आकर चन्द्रमा से विवाह किया है। वह ऐसा कौन-सा सिद्ध है जिसने अकेले ही सिर के बल प्रेम के क्षेत्र में विचरण किया है। वह कौन-सा योगी है जिसके सम्मुख मेरे पिता वचन हार बैठे और उसे उत्तर न देकर बदले में अपनी पुत्री दे बैठे; अर्थात् वह कौन-सा योगी है जिसे मेरे पिता अपनी कन्या का दान कर बैठे। ईश्वर ने किसे ऐसा जीवन दिया है जिसने रण में विजय प्राप्त कर मेरी जयमाला को प्राप्त कर लिया है। ऐसा वह पुरुष धन्य है जो झुकाने से भी नहीं झुका और पराए देश में आकर भी सत्पुरुष कहलाया।

ऐसा बलवान वीर कौन-सा है ? मुझे उसे देखने का चाव है। हे सखि ! फिर वह जनवासे में चला जायेगा, इसलिए मुझे शीघ्र ही उसे दिखा दे।

टिप्पणी—शुक्लजी ने पाद-टिप्पणी में इस पद की पाँचवीं पंक्ति का एक पाठान्तर दिया है जो इस प्रकार है—

'कासौं पिता बैन अस दीन्हा। महादेव जेहि किरपा कीन्हा।''

अर्थात्—पिता ने किसको ऐसे वचन दिए जिस पर महादेव ने कृपा की।

(२६३)

सखी देखावहिं चमकै बाहू। तू जस चाँद, सुरुज तोर नाहू ॥
छपा न रहै सूर-परगासू। देखि कँवल मन होइ बिकासू ॥

ऊ उजियार जगत उपराहीं। जग उजियार, सो तेहि परछाहीं ॥
जस रवि, देखु, उठै परभाता। उठा छत्र तस बीच बराता ॥
ओही माँझ भा दूलह सब सोई। और बरात संग सब कोई ॥
सहसौ कला रूप विधि गढ़ा। सोने के रथ आवै चढ़ा ॥
मनि माथे, दरसन उजियारा। सौंह निरखि नहिं जाइ निहारा ॥
रूपवंत जस दरपन, धनि तू जाकर कंत।
चाहिय जंस मनोहर, मिला सो मन-भावंत ॥५॥

व्याख्या—पद्मावती की रत्नसेन को देखने की उत्कट जिज्ञासा को देख उसकी सखियाँ अपनी भुजाएँ बढ़ा-बढ़ा कर उसे रत्नसेन को दिखाने लगीं। ऐसा करते समय उनकी गोरी-चिकनी भुजाएँ प्रकाश पड़ने से चमक उठती थीं। सखियाँ पद्मावती से कहने लगीं कि तू जैसी चाँद के समान सुन्दर है, वैसा ही तेरा स्वामी सूर्य के समान तेजस्वी है। सूर्य का प्रकाश कभी छिपा नहीं रह सकता। उसे देखते ही कमल मन में प्रफुल्लित हो खिल जाता है, अर्थात् तेजस्वी पुरुष कभी छिपा नहीं रह सकता। ऐसा वह सूर्य (रत्नसेन) संसार में सबसे अधिक प्रकाशवान, अर्थात् तेजस्वी है। इस संसार में जितना भी प्रकाश (तेज) है वह सब उसी की परछाईं है। वह देख ! जिस प्रकार प्रभात होने पर रवि उदय होता है, उसी प्रकार बरात में सबसे ऊपर वह जो लाल छत्र उठा हुआ है उसी के नीचे तेरा वह दूल्हा बैठा है और उसके साथ अन्य सभी बराती हैं। विधाता ने सूर्य की सहस्र कलाओं से उसके रूप का निर्माण किया है। ऐसा वह तेरा दूल्हा सोने के रथ पर सवार आ रहा है। उसके मस्तक पर मणि शोभायमान है। उसका दर्शन इतना प्रकाशवान है कि उसके सम्मुख दृष्टि करके उसे देखा नहीं जा सकता, अर्थात् उसके रूप को देख आँखों में चकाचौंध उत्पन्न हो उठती है।

वह निर्मल दर्पण के समान रूपवान है। तू धन्य है जिसका ऐसा स्वामी है। तेरे लिए जैसा मनोहर पति चाहिए, वैसा ही मन-भावना स्वामी तुझे मिला है।

टिप्पणी—अलंकार—पूर्णोपमा और रूपक।

(२९४)

देखा चाँद सूर जस साजा। अस्टौ भाव मदन जनु गाजा ॥
हुलसे नैन दरस मद माते। हुलसे असर रंग-रस-राते ॥
हुलसा बदन ओप रबि पाई। हुलसि हिया कंचुकि न समाई ॥
हुलसे कुच कसनी-बँद टूटे। हुलसी भुजा, वलय कर फूटे ॥
हुलसी लंक कि रावन राजू। राम लखन दर साजहिं आजू ॥
आजु चाँद-घर आवा सूरू। आजु सिंगार होइ सब चूरू ॥

आजु कटक जोरा है कामू। आजु बिरह सौ होइ संग्रामू॥
अंग अंग सब हुलसे, कोइ कतहूँ न समाइ।
ठावँहि ठाँव बिमोहा, गइ मुरछा तनु आइ॥६॥

शब्दार्थ—अस्टौ भाव=आठों भाव, कामदेव के आठ भाव—स्वेद, स्तम्भ, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। रावन=रावण या रमण करने वाला पति। कामू=कामदेव।

व्याख्या—चन्द्रमा अर्थात् पद्मावती ने सूर्य के समान तेजस्वी रत्नसेन को देखा और उसे देखते ही उसके हृदय में कामदेव के आठों भाव गरजने लगे, जाग्रत हो उठे। उसके दर्शन से मदमत्त बने उसके नेत्र आनन्द से भर गए और प्रेम के रंग में रँगे अधर फड़क उठे। प्रसन्नता के कारण उसके मुख पर सूर्य की आभा छा गई। हृदय उल्लसित होने से कंचुकी में नहीं समा रहा था। कुच आनन्द से उमंगित हो फूल उठे जिससे चोली के बन्द टूट गए। भुजाएँ प्रसन्नता से फड़क उठीं जिसके कारण कलाइयों में पड़ी चूड़ियाँ चटक गईं। विरह रूपी रावण से शासित उसकी लंका (लंक, कटि) यह सोच कर उल्लास से भर उठी कि आज राम-लक्ष्मण अर्थात् रत्नसेन अपने साथियों सहित इस पर चढ़ाई करने वाले हैं। (यदि 'रावण' का अर्थ रमण करने वाला पति लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि उसका कटि भाग यह जान कर उमङ्ग से भर उठा कि आज वहाँ रमण करने वाले पति का राज्य होगा, अर्थात् सम्भोग होगा। सुलक्षणी स्त्रियों का दल इसीलिए आज इसे सजा रहा है।) आज चन्द्रमा के घर सूर्य आ रहा है और आज उसका सारा शृंगार चूर-चूर हो जायेगा, अर्थात् पति द्वारा रमण किए जाने पर उसका सारा शृंगार अस्त-व्यस्त हो उठेगा। आज कामदेव ने अपनी सेना एकत्रित की है। आज विरह के साथ उसका संग्राम होगा।

यह सोच कर पद्मावती के सारे अंग उल्लास से भर जाने के कारण अपनी सीमाओं में नहीं समा रहे थे। उसका एक-एक अंग भावी पति-मिलन की कल्पना से विमोहित हो उठा और उसके शरीर पर मूर्च्छा ने अधिकार कर लिया। भाव यह है कि पद्मावती भावी पति-मिलन के आनन्द की कल्पना से उत्पन्न सुख के अतिरेक के कारण मूर्च्छित हो गई।

टिप्पणी—(१) डा० अग्रवाल ने 'अस्टौ भाव मदन जनु गाजा'—से यह भाव लिया है कि पद्मावती के आठों अङ्गों में काम-भाव जाग्रत हो गया। ये आठ अङ्ग हैं—नेत्र, अधर, मुख, हृदय, कुच, भुजा, कटि और काममन्दिर (योनि)। जायसी ने जिस क्रम से पद्मावती के अङ्गों के उल्लास का वर्णन किया है उसे देखते हुए 'अस्टौ भाव' से इन्हीं अङ्गों का अर्थ ग्रहण करना अधिक संगत प्रतीत होता है।

(२) इस पद में जायसी ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य का भी अंकन किया है कि जिस प्रकार दुख के आधिक्य से मूर्च्छा आ जाती है, उसी प्रकार सुख के अतिरेक से भी व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है।

(३) डा० अग्रवाल ने 'राम लखन दर साजहिं आजू'— का अर्थ करते हुए 'राम लखन' शब्द से 'सुलक्षणी स्त्रियों' का अभिप्राय लिया है, अर्थात् रम्य लक्षणों वाली स्त्रियाँ। इस अर्थ में श्लेप का चमत्कार तो अवश्य आ जाता है, परन्तु 'रावन राजू' के साथ 'राम लखन' की जो संगति बैठती है, उसमें व्याघात उत्पन्न हो जाता है।

(२६५)

सखी सँभारि पियावहिं पानी। राजकुँवरि काहे कुँभिलानी॥
हम तो तोहि देखावा पीऊ। तू मुरझानि, कैस भा जीऊ॥
सुनहु सखी सब कहहिं बियाहू। मो कहँ भएउ चाँद कर राहू॥
तुम जानहु आवै पिउ साजा। यह सब सिर पर धम-धम बाजा॥
जेते बराती औ असवारा। आए सबै चलावनहारा॥
सो आगम हौं देखति झँखी। रहन न आपन देखौं, सखी!॥
होइ बियाह पुनि होइहि गवना। गवनब तहाँ बहुरि नहिं अवना॥
अब यह मिलन कहाँ होइ? परा बिछोहा टूटि।
तैसि गाँठि पिउ जोरब, जनम न होइहि छूटि॥७॥

व्याख्या—पद्मावती को मूर्च्छित हुआ देख उसकी सखियाँ उसे सम्हालने और पानी पिलाने लगीं और उससे पूछने लगीं कि हे राजकुमारी! तुम इस प्रकार कुम्हला क्यों गईं? हम तो तुम्हें तुम्हारे प्रियतम को दिखा रही थीं और तुम मुरझा गईं, तुम्हरा जी कैसा हो गया है? सखियों की ये बातें सुन पद्मावती उनसे कहने लगी कि हे सखी! सुनो। सब लोग इसे विवाह कहते हैं, परन्तु मेरे लिए तो यह वैसा ही दुखदायी हो रहा है जैसे चन्द्रमा के लिए राहु होता है। तुम तो समझ रही हो कि मेरा पति सज-धज कर आ रहा है परन्तु इस ठाठ-बाट और कोलाहल को देख-सुन कर मेरे सिर में धमाके से बज रहे हैं, पीड़ा हो उठी है। ये जितने भी बराती और सवार हैं, सब मुझे ले जाने के लिए आए हैं। हे सखी! इनका आगमन देखकर ही मैं पछता रही हूँ, क्योंकि अब मेरा यहाँ रहना सम्भव न हो सकेगा। पहले विवाह होगा, फिर गौना और मुझे यहाँ से जाना पड़ेगा। और एक बार यहाँ ले चले जाने पर फिर आना नहीं हो सकेगा!

अब यह हमारा-तुम्हारा मिलन कहाँ हो सकेगा! अकस्मात् विछोह का वज्र हमारे ऊपर टूट कर गिर पड़ा है। प्रियतम मेरे साथ इतनी मजबूत गाँठ जोड़ेगा कि वह जन्म-भर न छूट सकेगी।

टिप्पणी—साधारणतः कन्याएँ जब विवाह कर ससुराल जाती हैं तो बीच-बीच में अपने मायके में भी आती-जाती रहती हैं। परन्तु पद्मावती इसलिए व्याकुल हो रही है कि उसे विवाह के उपरान्त सुदूर चित्तौड़ जाना पड़ेगा, जहाँ से लौटकर

सिंहलगढ़ आना सम्भव न हो सकेगा। परन्तु कुछ आलोचकों ने ऐसे साधारण अर्थ वाले पदों में भी तुरन्त आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध जोड़ दिया है। हम लोग यह भूल जाते हैं कि हमने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की जो कल्पना कर ली है, वह पूर्णतया हमारे सांसारिक सम्बन्धों के आधार पर ही कल्पित की गई है। इसलिए हम संस्कारवश मौके-बेमौके उन्हीं सम्बन्धों की छाया देख, तुरन्त अध्यात्म-परक अर्थ लगा बैठते हैं। हमारी समझ में ऐसा करना—कवि की भावना के साथ अन्याय करना है।

(२९६)

आइ बजावति बैठि बराता। पान, फूल, सेंदुर सब राता।।
जहँ सोने कर चित्तर-सारी। लेइ बरात सब तहाँ उतारी[1] ।।
माँझ सिंघासन पाट सँवारा। दूलह आनि तहाँ बैसारा।।
कनक-खंभ लागे चहुँ पाँती। मानक-दिया बरहिं दिन राती।।
भएउ अचल ध्रुव जोगि पखेरू। फूलि बैठ थिर जैस सुमेरू।।
आजु दैउ हौं कीन्ह सभागा। जत दुख कीन्ह नेग[2] सब लागा।।
आजु सूर ससि के घर आवा। ससि सूरहि जनु होइ मेरावा।।
आजु इन्द्र होइ आएउँ, सजि[3] बरात कबिलास।
आजु मिली मोहिं अहछरा, पूजी मन कै आस।।८।।

व्याख्या—बरात बाजे बजाती हुई आई और आकर सब लोग बैठ गए। सब लोग पान, फूल और सिन्दूर से लाल हो रहे थे। राजा गंधर्वसेन ने बरात को ले जाकर सोने की बनी चित्रशाला में जाकर टिकाया। उस चित्रशाला के बीचोंबीच एक सोने का सिंहासन पट्ट सुशोभित हो रहा था। घरातियों ने दूल्हे (रत्नसेन) को ले जाकर उस पर बैठा दिया। चारों ओर सोने के खम्भों की कतारें लगी थीं, जिन पर दिन-रात माणिक्य के दीपक जलते रहते थे। पक्षियों के समान निरन्तर विचरण करने वाले योगी उस चित्रशाला में पहुँच ध्रुव के समान अचल होकर बैठ गए। वे सब हृदय में उमंगित हो इस प्रकार स्थिर होकर बैठ गए जैसे सुमेरु पर्वत अचल रहता है। राजा रत्नसेन ने कहा कि आज विधाता ने मुझे सौभाग्यशाली बनाया है। मैंने जितना दुख उठाया था, आज उसका उठाना सार्थक हो गया, अर्थात् आज मेरी मनोकामना पूर्ण हो गई। आज सूर्य (रत्नसेन) चन्द्रमा (पद्मावती) के घर आया है। मानो सूर्य और चन्द्रमा का मिलन हो रहा है।

आज मैं इन्द्र के समान बरात सजा कर स्वर्ग में आया हूँ। आज मुझे अप्सरा प्राप्त हुई और मेरे मन की अभिलाषा पूरी हुई है।

पाठ-भेद—१. बैठि बरात जानु फुलवारी। २. नीक। ३. सिउँ=साथ।

(२९७)

होइ लाग जेवनार-पसारा[1]। कनक-पत्र पसरे पनवारा।।
सोन-थार मनि मानिक जरे। राय रँक के आगे धरे।।
रतन-जड़ाऊ खोरा खोरी। जन जन आगे दस दस जोरी।।
गडुबन हीर पदारथ लागे। देखि बिमोहे पुरुष सभागे।।
जानहुँ नखत करहिं उजियारा। छपि गए दीपक औ मसियारा।।
गइ मिलि चाँद सुरुज कै करा। भा उदोत तैसे निरमरा।।
जेहि मानुष कहँ जोति न होती। तेहि भइ जोति देखि वह जोती।।
पाँति पाँति सब बैठे, भाँति भाँति जेवनार।
कनल-पत्र दोनन्ह[2] तर, कनक-पत्र पनवार।।९।।

व्याख्या—बरात को चित्रशाला में टिकाने के उपरान्त उसके भोजन का प्रबंध किया गया। जायसी यहाँ उसी राजसी ज्यौनार का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

ज्यौनार की तैयारियाँ होने लगीं। स्वर्ण-पत्रों की बनी पत्तलें बिछाई गईं। मणि-माणिक्यों से जटित सोने के थाल सारे राजा तथा गरीबों के सामने रखे गए। प्रत्येक बराती के आगे दस-दस जोड़ी रत्न-जटित कटोरे और कटोरी रखे गये। लोटों में हीरे और रत्न जड़े हुए थे जिन्हें देख सौभाग्यशाली पुरुष मुग्ध हो गये। इन रत्न-जटित बर्तनों में जड़े रत्नों से ऐसा प्रकाश उत्पन्न हो रहा था मानो नक्षत्र अपना प्रकाश विकीर्ण कर रहे हों और उस प्रकाश के सामने दीपकों और मशालों का प्रकाश छिप गया, अर्थात् फीका पड़ गया। चन्द्रमा और सूर्य की कलाओं के मिल जाने से जैसा निर्मल प्रकाश उत्पन्न होता है, वैसा ही निर्मल प्रकाश वहाँ हो रहा था। जिस मनुष्य के पास ज्योति न होती, उसे भी उस ज्योति के दर्शन से ज्योति प्राप्त हो रही थी। भाव यह है कि उस वैभव को देख दैन्य-भावना वाले व्यक्ति भी गौरव से भर उठे कि उनका ऐसा भव्य स्वागत किया जा रहा है।

सब लोग पंक्तियों में बैठे गए और उनके सामने भिन्न-भिन्न प्रकार की भोजन की सामग्री परोसी जाने लगी। स्वर्ण-पत्र के बने दोनों के नीचे स्वर्ण-पत्र की बनीं पत्तलें परोसी गईं।

(२९८)

पहिले भात परोसे आना। जनहुँ सुवास कपूर बसाना।।
झालर माँड़े आए पोई[3]। देखत उजर पाग[4] जस धोई।।
लुचुई और सोहारी धरी। एक तौ ताती औ सुठि कोंवरी।।
खँडरा बचका औ डुभकौरी। बरी एकोतर सौ, कोहँडौरी।।
पुनि सँधाने आउ बसाँधे। दूध दही के मुरँडा बाँधे।।

पाठ-भेद—१. जेवनार सुखारा=स्वादिष्ट ज्यौनार। २. धोती। ३. घिउ पोए=घी में पकाए गए। ४. पाप।

औ छप्पन परकार जो आए। नहिं अस देख, न कबहूँ खाए ॥
पुनि जाउरि पछियाउरि आई। घिरित खाँड़ कै बनी मिठाई ॥
जेंवत अधिक सुबासित, मुँह महँ परत बिलाइ।
सहस स्वाद सो पावै, एक कौर जौ खाइ ॥१०॥

व्याख्या—इस पद में जायसी ज्यौनार में परोसे गए विभिन्न प्रकार के पकवानों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

सबसे पहले भात लाकर परोसा गया। वह इतना सुगन्धित था—मानो उसमें कपूर की सुगन्धि बसा दी गई हो। इसके उपरान्त झालरा और चुपड़े हुए माँड़े परोसे गए। ये इतने सफेद थे कि स्वच्छ की हुई सफेद पाग के समान सफेद दिखाई पड़ रहे थे। इसके बाद लुचई, सोहारी सामने रखी गईं। ये एक तो गर्मागर्म थीं और साथ ही बहुत ही मुलायम भी थीं। फिर खँडरा, बचका, डुभकौरी, पेठे की बड़ी तथा एक-सौ एक अन्य प्रकार की बड़ियाँ परोसी गईं। फिर सुगन्धित अचार लाए गए और दूध और दही के बने लड्डू परोसे गए। और वहाँ छप्पन प्रकार के ऐसे व्यंजन परोसे गए जो उन बरातियों ने न तो कभी देखे ही थे और न खाए ही थे। इसके बाद खीर और सिखरन तथा घी और खाँड़ की बनी मिठाइयाँ आईं।

ये सारे पदार्थ खाने में अत्यधिक सुगन्धित थे और मुँह में जाते ही घुल जाते थे। जो व्यक्ति इनका एक भी कौर (गस्सा, निबाला) खाता तो उसे एक साथ ही हजार तरह के स्वादों का आनन्द आ जाता।

टिप्पणी—इस पद में आए हुए खाद्यान्नों के नाम डा० गुप्त की जायसी ग्रन्थावली में कुछ भिन्न मिलते हैं।

(२६६)

जेंवन आवा, बीन न बाजा। बिनु बाजन नहिं जेंवै राजा ॥
सब कुँवरन्ह पुनि खैंचा हाथू। ठाकुर जेंव तौ जेंबै साथू ॥
बिनय करहिं पंडित विद्वाना। काहे नहिं जेंवहिं जजमाना ? ॥
यह कबिलास इंद्र कर बासू। जहाँ न अन्न न माछरि मासू ॥
पान-फूल-आसी सब कोई। तुम्ह कारन यह कीन्ह रसोई ॥
भूख, तौ जनु अमृत है सूखा। धूप, तौ सीअर नींबी रूखा ॥
नींद, तौ भुइँ जनु सेज सपेती। छाँटहुँ का चतुराई एती ? ॥
कौन काज केहि कारन, बिकल भएउ जजमान।
होइ रजायसु सोई, बेगि देहिं हम आन ॥११॥

व्याख्या—ज्यौनार की सामग्री तो परोस दी गई परन्तु रत्नसेन ने भोजन करने से हाथ खींच लिया। जायसी इसी का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

भोजन तो आ गया परन्तु वीन बाजा नहीं बजा और राजा रत्नसेन तब तक

भोजन नहीं करता था, जब तक बाजे नहीं बजाये जाते थे। इसलिए रत्नसेन ने भोजन करना प्रारम्भ नहीं किया। यह देख उसके साथी सारे राजकुमारों ने भी भोजन करने से अपने हाथ खींच लिए और कहने लगे कि यदि हमारे स्वामी (रत्नसेन) भोजन करेंगे तो हम भी करेंगे। यह देख राजा गंधर्वसेन के पक्ष के पण्डित और विद्वान् राजा रत्नसेन से प्रार्थना करते हुए कहने लगे कि हे यजमान। तुम भोजन क्यों नहीं करते? यह तो इन्द्र का निवास स्थल—स्वर्ग है जहाँ न अन्न खाया जाता है और न मछली का मांस। यहाँ तो हम लोग पान-फूल के ही आधार पर रहते हैं अर्थात् पान-फूल का सूक्ष्म भोजन कर जीवित रहते हैं। यह इतनी सारी भोजन-सामग्री तो केवल तुम्हारे ही कारण बनवाई गई है। यदि भूख होती है तो उस समय रूखा-सूखा भोजन भी अमृत के समान मधुर और स्वादिष्ट लगता है। धूप में तपते यात्री को नीम का वृक्ष ही पूर्ण शीतलता प्रदान करने वाला होता है। और यदि नींद आ रही होती है तो धरती ही उज्ज्वल श्वेत शैय्या के समान सुख देने वाली बन जाती है। फिर तुम इतनी चतुराई क्यों छाँट रहे हो? भाव यह है कि योगी लोग रूखा-सूखा खाने वाले, नीम के तले विश्राम करने वाले और धरती पर सोने वाले होते हैं, फिर इतने स्वादिष्ट भोजन तथा इतने ठाठ-बाट के होते हुए भी वे भोजन क्यों नहीं करते। (यहाँ कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्ष के लोगों के साथ व्यंग्य भरी बातें कह कर मजाक कर रहे हैं, जो नितान्त स्वाभाविक है।)

फिर पण्डितों ने राजा रत्नसेन से पूछा कि हे यजमान! तुम किस कारणवश व्याकुल हो रहे हो? आज्ञा होते ही हम तुम्हारी मन-पसन्द वस्तु तुरन्त लाकर प्रस्तुत कर देंगे।

टिप्पणी—डा० गुप्त ने इस पद को प्रक्षिप्त माना है।

(३००)

तुम पंडित सब जानहुँ भेदू। पहिले नाद भएउ तब बेदू॥
आदि पिता जो विधि अवतारा। नाद संग जिउ ज्ञान सँवारा॥
सो तुम बरजि नीक का कीन्हा। जेंवन संग भोग विधि दीन्हा॥
नैन, रसन, नासिक, दुइ स्रवना। इन चारहु सँग जेंवै अवना॥
जेंवन देखा नैन सिराने। जीभहिं स्वाद भुगुति रस जाने॥
नासिक सबै बासना पाई। स्रवनहिं काह करत पहुनाई?॥
तेहि कर हो नाद सौं पोखा। तब चारिहु कर होइ सँतोषा॥
औ सो सुनहिं सबद एक, जाहि परा किछु सूझि।
पंडित! नाद सुनें कहँ, बरजेहु तुम का बूझि॥१२॥

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन के पण्डितों की व्यंग्यपूर्ण परिहासात्मक बातों को सुन राजा रत्नसेन ने भी उसी प्रकार चतुरतापूर्ण उत्तर देते हुए कहा—

तुम लोग पण्डित हो, सारे रहस्यों को जानने वाले हो। पहले नाद उत्पन्न हुआ

था और उसके उपरान्त उसी नाद से वेदों की उत्पत्ति हुई थी। (यहाँ नाद ब्रह्म से तात्पर्य है।) ईश्वर ने जिस आदि पिता (ब्रह्म) को उत्पन्न किया था, उसके हृदय में नाद के साथ ज्ञान का संचार किया था। भाव यह है कि नाद ही ज्ञान का वाहक होता है। ज्ञान का प्रसार नाद अर्थात् वाणी द्वारा ही होता है। सो तुमने ऐसे नाद को न करने की आज्ञा देकर क्या अच्छा किया है? भाव यह है कि जब नाद अर्थात् वाणी का इतना महत्त्व है तो तुमने उस पर बन्धन लगा कर आखिर कौन-सा भला काम किया; अर्थात् तुमने हमारे भोजन के समय बाजों के साथ गाई जाने वाली गालियों पर रोक क्यों लगाई? विधाता ने भोजन के साथ अन्य प्रकार के भोगों का आनन्द प्राप्त करने का विधान किया है; अर्थात् भोजन के साथ अन्य इन्द्रियों की तृप्ति भी आवश्यक है। हम पृथ्वी वासी नेत्र, जिह्वा, नासिका तथा दोनों कानों के साथ भोजन करते हैं; अर्थात् हमारी इन चारों इन्द्रियों को भी साथ-साथ भोजन प्राप्त होना चाहिए, इनकी सन्तुष्टि होनी चाहिए। इस भोजन सामग्री को देख हमारे नेत्र तृप्त हो गए। जिह्वा भोजन के स्वाद का आनन्द प्राप्त करेगी। नासिका इस भोजन से आती सुगन्धि को सूँघ कर सन्तुष्ट हो गई। अब यह बताओ कि तुम लोग इन कानों का अतिथि-सत्कार किस प्रकार करोगे? ये कान तो नाद से ही सन्तुष्ट होते हैं। तभी इन चारों को सन्तोष प्राप्त होगा; अर्थात् हमारे कान तभी तृप्त होंगे, जब वे तुम्हारे यहाँ की स्त्रियों द्वारा गाई जाने वाली गालियों का मधुर संगीत सुनेंगे।

और एक शब्द अर्थात् अनहद नाद को वही लोग सुनते हैं जो सिद्ध होते हैं, जिन्हें कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है; अर्थात् हम योगी लोग अनहद नाद के स्वर-सौंदर्य का आनन्द उठाने वाले हैं, इसलिए हमें इसी के समान सुन्दर, मधुर संगीत सुनने को मिलना चाहिए। हे पण्डितो! तुमने क्या समझ कर हमारे द्वारा नाद (संगीत) सुनने पर बन्धन लगा दिया है?

टिप्पणी—डा० गुप्त इस पद को भी प्रक्षिप्त मानते हैं।

(३०१)

राजा! उतर सुनहु अब सोई। महि डोलै जौ वेद न होई॥
नाद, बेद, मद, पैंड़ जो चारी। काया महँ ते, लेहु विचारी॥
नाद हिये, मद उपनै काया। जहँ मद तहाँ पेड़ नहिं छाया॥
होइ उनमद जूझा सो करै। जो न वेद-आँकुस सिर धरै॥
जोगी होइ नाद सो सुना। जेहि सुनि काय जरै चौगुना॥
कया जो परम तंत मन लावा। घूम माति, सुनि और न भावा॥
गए जो धरम-पंथ होइ राजा। तिनकर पुनि जो सुनै तौ छाजा॥
जस मद पिए घूम कोइ, नाद सुनै पै घूम।
तेहितें बरजे नीक है, चढ़े रहसि कै दूम॥१३॥

शब्दार्थ—पैंड़=ईश्वर की ओर ले जाने वाला मार्ग, मोक्ष का मार्ग (बौद्धों

के अनुसार चौथा सत्य 'मार्ग' है। उन्हीं के यहाँ से वज्रयान योगियों के बीच होता हुआ शायद यह सूफियों तक पहुँचा है)—शुक्लजी। घूम माति=मस्त होकर घूमा करता है। तिनकर...छाजा=जो राजा राजधर्म का पालन करने में रत रहे हैं उनका पुण्य तू सुने तो शोभा देता है। चढ़े....दूम=मन चढ़ने पर उमंग में आकर झूमने लगता है।

व्याख्या—राजा रत्नसेन द्वारा नाद की प्रशंसा और उसकी आवश्यकता की बात सुन कन्या-पक्ष के पण्डितों ने उत्तर देते हुए कहा—

हे राजा! अब तुम अपनी इन्हीं बातों का उत्तर सुनो। यदि वेद न होते तो यह पृथ्वी डगमगा उठती; अर्थात् वेद-मार्ग पर चलने के कारण ही यह पृथ्वी स्थिर है। नाद, वेद, प्रेम-मद और सत्य-मार्ग—ये जो चार मार्ग हैं, ये सब शरीर में ही निवास करते हैं। तुम इस बात को समझ लो। नाद हृदय में उत्पन्न होता है, प्रेम-मद शरीर में पैदा होता है। जहाँ प्रेम-मद का उदय होता है, वहाँ शान्ति और शीतलता प्रदान करने वाले वृक्ष और उनकी छाया नहीं होती; अर्थात् प्रेम-मद में उन्मत्त बना व्यक्ति रात-दिन व्याकुल बना घूमा करता है, उसे शान्ति नहीं मिल पाती। वह उन्मत्त होकर सदैव लड़ता-भिड़ता रहता है (जैसा कि तुमने किया है)। यदि वह वेद का अंकुश नहीं मानता, अर्थात् वह वेद-मार्ग की अवहेलना करता है तो सदैव सर्वत्र उपद्रव मचाता फिरता है। भाव यह है कि राजा रत्नसेन द्वारा अपनाया गया प्रेम-योग का मार्ग वेद-विहित नहीं था। इसी कारण वह प्रेम-मद में उन्मत्त होकर योगी बना देश-विदेश भटकता फिरा और लड़ता-भिड़ता रहा। योगी होकर व्यक्ति उस नाद का श्रवण करता है, जिसे सुन उसकी काया चौगुनी अधिक जलने लगती है। परन्तु जो शरीर परम तत्त्व की ओर मन लगाता है, वह मस्त होकर घूमा करता है। फिर उसे अन्य प्रकार के नाद सुनने में अच्छे नहीं लगते। भाव यह है कि तुम योगी हो, तुमने अनहद नाद का श्रवण किया है इसलिए तुम्हें अन्य प्रकार के नाद-संगीतादि अच्छे नहीं लगने चाहिए। जिन राजाओं ने अपने राज-धर्म का पालन किया है, उनकी यशगाथा यदि तुम सुनो तो तुम्हें शोभा देगा; अर्थात् तुम संगीत (गाली आदि) को सुनने का मोह त्याग धर्मात्मा राजाओं की यशगाथा सुनो।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति शराब पी लेने पर मतवाला होकर घूमता है, उसी प्रकार नाद (संगीतादि) को सुन कर भी वह प्रेम-मद चढ़ने से उन्मत्त होकर घूमने लगता है (जैसा कि तुमने किया था), इसलिए ऐसे नाद पर बन्धन लगा देना ही उचित है, क्योंकि इसे सुन व्यक्ति मद चढ़ने पर उन्मत्त हो झूमने लगता है।

टिप्पणी—(१) यहाँ कन्या-पक्ष के पण्डित प्रकारान्तर से ज्यौनार के समय गाली आदि गीतों के बुरे प्रभाव का संकेत देते हुए उस पर लगाए बन्धन का औचित्य सिद्ध कर रहे हैं।

(२) डा० गुप्त ने इस पद को भी प्रक्षिप्त माना है।

(३) उपर्युक्त तीनों पदों में जायसी ने 'नाद' शब्द से संगीत (गाली आदि के

गीत) से ही अभिप्राय ग्रहण किया है। इस 'नाद' को 'नाद ब्रह्म', 'अनहद नाद' आदि के साथ जोड़ देना उचित नहीं प्रतीत होता। बरात के भोजन करते समय कन्या-पक्ष की स्त्रियाँ गाली गाती हैं। यहाँ 'नाद' से उसी का तात्पर्य है। परन्तु चूँकि नोंक-झोंक पण्डितों और रत्नसेन के बीच हुई है, इसलिए इसमें बातें सीधे-सादे रूप में न कही जाकर घुमा-फिरा कर ही कही गई हैं। डा० गुप्त द्वारा इन पदों को प्रक्षिप्त माना जाना असंगत है। विवाह के अवसर पर कन्या-पक्ष और वर-पक्ष में होने वाली ऐसी नोक-झोंक वातावरण को और अधिक सरस और स्वाभाविक बना देती है। यह प्रथा आज तक चली आ रही है।

(३०२)

भइ जेंवनार, फिरा खँड़वानी। फिरा अरगजा कुँहकुँह-पानी॥
फिरा पान, बहुरा सब कोई। लाग बियाह-चार सब होई॥
माड़ौं सोन क गगन सँवारा। बंदनवार लाग सब बारा[1]॥
साजा पाटा क्षत्र कै छाँहा। रतन-चौक पूरा तेहि माहाँ॥
कंचन-कलस नीर भरि धरा। इंद्र पास आनी अपछरा॥
गाँठि दुलह दुलहिन कै जोरी। दुऔ जगत जो जाइ न छोरी॥
वेद पढ़ै[2] पंडित तेहि ठाऊँ। कन्या तुला रासि लेइ नाऊँ॥
चाँद सुरुज दुऔ निरमल, दुऔ सँजोग अनूप।
सुरज चाँद सौं भूला, चाँद सूरुज के रूप॥१४॥

व्याख्या—ज्यौनार समाप्त हुई। इसके उपरान्त सारे बरातियों को शरबत दिया गया। फिर चन्दन लगाया गया और कुंकुम के रंग का पानी छिड़का गया। फिर पान दिए और सब लोग लौट आए। इसके बाद विवाह की अन्य रस्में होने लगीं। आकाश के समान सोने का मंडप सजाया गया। सारे दरवाजों पर बन्दनवारें बाँधी गईं। मंडप के नीचे एक सिंहासन या पाटा रखा गया और उसके ऊपर रत्नों से चौक बनाया गया। सोने के कलशों में जल भर कर रखा गया। इसके उपरान्त इन्द्र अर्थात् इन्द्र के समान तेजस्वी रत्नसेन के पास अप्सरा जैसी सुन्दरी पद्मावती को लाया गया। पण्डितों ने दूल्हा और दुल्हन की आपस में गाँठें जोड़ीं जो इतनी मजबूत थीं कि दोनों लोकों में—इहलोक तथा परलोक—में भी नहीं खोली जा सकती थीं, अर्थात् उन दोनों को जन्म-जन्मान्तर के लिए आपस में सम्बद्ध कर दिया गया। उस स्थान पर पंडित वेद-मंत्रों का उच्चारण करने लगे और कन्या, तुला आदि विभिन्न राशियों का नाम ले-ले कर विवाह की विधियाँ सम्पन्न करने लगे।

चन्द्रमा (पद्मावती) और सूर्य (रत्नसेन) दोनों ही निर्मल थे। दोनों का यह

पाठ-भेद—१. तारा। २. भनहिं=पढ़ते हैं।

संयोग (मिलन) अनुपम था। सूर्य चन्द्रमा के रूप को देख मुग्ध हो गया और चन्द्रमा सूर्य के रूप पर मोहित हो उठा, अर्थात् पद्मावती और रत्नसेन परस्पर एक-दूसरे के रूप को देख मुग्ध हो उठे।

टिप्पणी—कन्या तुला राशि—पद्मावती की राशि कन्या तथा रत्नसेन की तुला थी।

(३०३)

दुऔ नाँव लै गावहिं बारा[1]। करहिं सो पदमिनि मंगलचारा ॥
चाँद के हाथ दीन्ह जयमाला। चाँद आनि सूरुज गिउ घाला ॥
सूजन लीन्ह, चाँद पहिराई। हार नखत-तरइन्ह स्यौं पाई ॥
पुनि धनि भरि अंजुलि जल लीन्हा। जोबन जनम कंत कह दीन्हा ॥
कँत लीन्ह, दीन्हा धनि हाथा। जोरी गाँठि दुऔ एक साथा ॥
चाँद सुरुज सत[2] भाँवरि लेहीं। नखत मोति नेवछावरि देहीं ॥
फिरहिं दुऔ सत फेर, घुटै कै। सातुह फेर गाँठि से एकै ॥
भइ भाँवरि, नेवछावरि, राज चार सब कीन्ह।
दायज कहौं कहाँ लगि ? लिखि न जाइ जत दीन्ह ॥१५॥

व्याख्या—सिंहल द्वीप की पद्मिनी नारियाँ रत्नसेन और पद्मावती—दोनों के नाम ले-लेकर मंगलाचार के गीत गाने लगीं। चन्द्रमा (पद्मावती) के हाथ में जयमाला दी गई। उसने उसे लेकर सूर्य (रत्नसेन) के गले में पहना दिया। सूर्य ने उसे स्वीकार कर लिया। फिर उसने (रत्नसेन ने) भी पद्मावती के गले में एक हार पहनाया जो उसे नक्षत्र और तारों अर्थात् पद्मावती की सखियों से मिला था। इसके उपरान्त पद्मावती ने अपनी अंजलि में जल लिया और अपने यौवन और जीवन को अपने पति को समर्पित करने का संकल्प किया। पति ने उसे स्वीकार कर लिया। फिर अपना हाथ पद्मावती के हाथ में दे दिया अर्थात् उन दोनों का पाणिग्रहण हुआ। तब दोनों की एक साथ गाँठ जोड़ दी गई। चन्द्रमा और सूर्य सात भाँवरें फिरने लगे और नक्षत्र (सखियाँ) उन पर मोतियों की न्यौछावर करने लगे। उन दोनों ने गाँठ को मजबूत करके सात भाँवरें फिरीं। ग्रन्थि-बन्धन के समय लगाई गई वही एक गाँठ इन सात फेरों का आधार थी।

भाँवरें समाप्त हुईं, न्यौछावर की रस्म पूरी हुई और राजकुल की जितनी भी विवाह सम्बन्धी प्रथाएँ थीं सब पूरी की गईं। जायसी कहते हैं कि राजा गंधर्वसेन ने राजा रत्नसेन को जो दहेज दिया उसका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ ? उसने इतना दहेज दिया कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

टिप्पणी—जायसी ने 'जयमाला' तथा 'हार' दो शब्दों का प्रयोग किया है, जो

पाठ-भेद—१. होइ गोत उचारा=गोत्रोच्चार होने लगा। २. दुहुँ=दोनों।

दो विभिन्न हारों का होना स्पष्ट करता है। प्रथा भी यही है कि वर-वधू परस्पर एक-दूसरे को हार पहनाते हैं। उस्मान ने 'चित्रावली' में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

"पुनि चित्रावलि चौसर हारा। सकुचल कुँअर गीव लै डारा॥
कुँअरहि लै पुनि हार सुहावा। चित्रावलि के गिव पहिरावा॥"

(३०४)

रतनसेन जब दायज पावा। गंध्रबसेन आइ सिर नावा॥
मानुस चित्त आनु किछु कोई। करै गोसाइँ सोइ पै होई॥
अब तुम्ह सिंघलदीप-गोसाईं। हम सेबक अहहीं सेवकाईं॥
जस तुम्हार चितउरगढ़ देसू। तस तुम्ह इहाँ हमार नरेसू॥
जंबूदीप दूरि का काजू ?। सिंघलदीप करहु अब राजू॥
रतनसेन बिनवा कर जोरी। अस्तुति-जोग जीभ कहँ मोरी॥
तुम्ह गोसाइँ जेइ छार छुड़ाई। कै मानुस अब दीन्हि बड़ाई॥
जौ तुम्ह दीन्ह तौ पावा, जिवन जनम सुखभोग।
नातरु खेह पाइकै, हौं जोगी केहि जोग॥१६॥

व्याख्या—जब राजा रत्नसेन ने दहेज प्राप्त कर लिया तो राजा गंधर्वसेन ने आकर उसके सम्मुख अपना शीश झुकाया और कहने लगा कि—मनुष्य अपने मन में चाहे जो सोचे परन्तु होता वही है जो ईश्वर को मन्जूर होता है, अर्थात् मैंने तुम्हारा विरोध किया था परन्तु अन्त में हुआ वही जो विधाता ने निश्चय कर रखा था। अब तुम सिंहलद्वीप के स्वामी हो। हम तुम्हारी सेवा करने के लिए सेवक के रूप में उपस्थित हैं। जैसा तुम्हारा अपना देश चित्तौड़गढ़ है, उसी प्रकार अब तुम यहाँ हमारे राजा हो। भाव यह है कि जैसे तुम चित्तौड़गढ़ के राजा थे, वैसे ही अब यहाँ के राजा हो। भारतवर्ष यहाँ से बहुत दूर है, वहाँ जाने से क्या लाभ होगा ? इसलिए अब तुम यहीं सिंहलद्वीप में राज्य करो। यह सुन रत्नसेन हाथ जोड़ विनय करने लगा कि मेरी वाणी में इतनी शक्ति कहाँ है कि तुम्हारी स्तुति कर सकूँ। तुम मेरे स्वामी हो, जिसने मेरी भस्म को दूर करवा दिया, अर्थात् मेरा योगी वेश छुड़वा दिया और मुझे मनुष्य बना इतना सम्मान दिया।

जब तुमने मुझे जीवन, जन्म और सुखभोग दिया तभी मैंने उन्हें प्राप्त किया। नहीं तो मैं पैरों की धूल के समान हूँ। मैं योगी हूँ, किस योग्य हूँ। भाव यह है कि तुम्हीं ने मेरा योग छुड़वा कर मेरे जीवन, प्राण की रक्षा की और सारे सुख-भोग प्रदान किए। मुझ जैसा तुच्छ व्यक्ति इस योग्य कहाँ था ?

(३०५)

धौराहर पर दीन्हा बासू। सात खंड जहवाँ कबिलासू॥
सखी सहसदस सेवा पाई। जनहुँ चाँद सँग नखत तराई॥

होइ मंडल ससि के चहुँ पासा। ससि सूरहि लेइ चढ़ी अकासा ॥
चलु सूरुज दिन अँथवै जहाँ। ससि निरमल तू पावसि तहाँ ॥
गंध्रबसेन धौराहर कीन्हा। दीन्ह न राजहि, जोगहि दीन्हा ॥
मिलीं जाइ ससि के चहुँ पाहाँ। सुर न चाँपै पावै छाँहा ॥
जब जोगी गुरु पावा सोई। उतरा जोग, भसम गा धोई ॥
सात खंड धौराहर, सात रंग नग लाग।
देखत गा कबिलासहि, दिस्टि-पाप सब भाग ॥१७॥

व्याख्या—राजा गंधर्वसेन ने राजा रत्नसेन को अपने राजमहल के ऊपर रहने के लिए स्थान दिया। वह राजमहल सात खंड का और स्वर्ग के समान सुन्दर और सुखदायक था। रत्नसेन और पद्मावती की सेवा के लिए दस हजार सखियाँ नियुक्त की गईं जो पद्मावती के साथ इस प्रकार सुशोभित हो रहीं थीं जैसे चन्द्रमा के साथ नक्षत्र और तारे शोभा देते हैं। उन सखियों ने पद्मावती के चारों ओर गोल घेरा बना उसे अपने बीच में कर लिया। इस प्रकार पद्मावती रत्नसेन को साथ ले राजमहल के ऊपर चढ़ी। सखियों ने सूर्य (रत्नसेन) से कहा कि हे सूर्य ! वहाँ चल जहाँ दिन अस्त होता है, तुझे निर्मल, निष्कलंक चन्द्रमा (पद्मावती) की प्राप्ति वहीं होगी। भाव यह है कि जब सन्ध्या समय अस्त होते सूर्य की द्युति मन्द पड़ जाती है तभी चन्द्रमा अपनी पूर्ण कान्ति के साथ उदय होता है; अर्थात् सन्ध्या के उपरान्त रात्रि आ जाने पर ही रत्नसेन और पद्मावती का मिलन हो सकेगा, क्योंकि दिन के प्रकाश में चन्द्रमा रूपी पद्मावती सूर्यरूपी रत्नसेन के सम्मुख मलिन अर्थात् लज्जित हो उठेगी। रात्रि होने पर एकान्त में ही वह अपनी पूर्ण प्रभा के साथ उससे मिल सकेगी।

राजा गंधर्वसेन ने जो यह राजमहल बनवाया था वह उसने किसी राजा को न देकर एक योगी को दे डाला। (यहाँ सखियाँ रत्नसेन को योगी कहकर उसके साथ परिहास कर रही हैं।) सारी सखियाँ पद्मावती के चारों और इसलिए इकट्ठी हो गईं जिससे रत्नसेन उसकी छाया तक न छू सके। (सखियों ने यह कार्य इसलिए किया जिससे रत्नसेन दिन में पद्मावती के पास जा न सके।) अब योगी रत्नसेन ने अपने उसी गुरु को, जिसके लिए उसने योग साधा था, प्राप्त कर लिया अर्थात् अब उसे पद्मावती मिल गई। ऐसा हो जाने पर उसका योग समाप्त हो गया और शरीर पर लगी भस्म धुल गई।

उस सात खंड वाले राजमहल में सात रङ्गों वाले रत्न जड़े हुए थे। ऐसे उस स्वर्ग के समान सुन्दर महल को देख दृष्टि के सारे पाप नष्ट हो गए, अर्थात् नेत्र उस महल के सौन्दर्य को देख पूर्णरूपेण तृप्त हो गए।

(३०६)

सात खंड सातौं कबिलासा। का बरनौं जग ऊपर[1] बासा ॥
होरी ईंट कपूर गिलावा। मलयागिरि चंदन सब लावा ॥

पाठ-भेद—१. जस उत्तिम=जैसा उत्तम।

चूना कीन्ह औटि गजमोती। मोतिहु चाहि अधिक तेहि जोती॥
विसुकरमै सो हाथ संवारा। सात खंड सातहि चौपारा॥
अति निरमल नहिं लाइ बिसेखा। जस दरपन महँ दरसन देखा॥
भुइँ गच जानहुँ समुद हिलोरा। कनक-खंभ जगु रचा हिंडोरा॥
रतन पदारथ होइ उजियारा। भूले दीपक औ मसियारा॥
तहँ अछरी पदमावति, रतनसेन के पास।
सातौ सरग हाथ जनु, औ सातौ कबिलास॥१८॥

व्याख्या—जायसी उस सतखंडे महल का वर्णन करते हुए कहते हैं—

उस राजमहल के (धवल गृह के) सातों खंड सात स्वर्गों के समान सुन्दर और सुख देने वाले थे। मैं संसार में सर्वश्रेष्ठ ऐसे उस निवास-स्थान का क्या वर्णन करूँ। उसका निर्माण करने के लिए हीरों की ईंटें तथा कपूर का गारा बनाया गया था। और मलयगिरि से सारा चन्दन लाकर लगाया गया था। गज-मुक्ताओं को उबाल कर उनका चूना बनाया गया था और उस चूने की चमक उन मोतियों से भी अधिक थी। ऐसे उस राजमहल को स्वयं विश्वकर्मा ने अपने हाथों से बनाया था, जिसमें सात खंड तथा साथ ही चौपालें बनी हुई थीं। वह महल इतना निर्मल अर्थात् स्वच्छ था कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसमें अपने प्रतिबिम्ब को उसी प्रकार देखा जा सकता है जिस प्रकार दर्पण में दिखाई पड़ता है। धरती पर फर्श इस प्रकार लहरियादार बनाया गया था मानो समुद्र में लहरें उठ रही हों। और सोने के खम्भे ऐसे थे मानो उसमें हिंडोले पड़े हुए हों। (यहाँ उन खम्भों में लगे आड़े तोरण ही हिंडोले के समान बताए गए हैं।) वहाँ रत्नों और हीरों का ऐसा प्रकाश हो रहा था कि लोग दीपक और मशालें लगाना भूल गए थे।

ऐसे उस सुन्दर महल में रत्नसेन के पास अप्सरा के समान सुन्दरी पद्मावती थी। रत्नसेन को ऐसा अनुभव हो रहा था मानों सातों स्वर्गों का आनन्द उसके हाथ में आ गया हो, अर्थात् वह पूर्ण आनन्द प्राप्त कर रहा हो।

(३०७)

पुनि तहँ रतनसेन पगु धारा। जहाँ नौ रतन सेज सँवारा[1]॥
पुतरी गढ़ि-गढ़ि खंभन काढ़ी। जनु सजीव सेवा सब ठाढ़ी॥
काहू हाथ चंदन कै खोरी। कोइ सेंदुर, कोइ गहे सिंधोरी॥
कोइ कुहँ कहँ केसर लिहे रहै। लावै अंग रहसि जनु चहै॥
कोइ लिहै कुमकुमा चोवा। धनि कब चहै, ठाढ़ि मुख जोवा[2]॥
कोई बीरा, कोइ लीन्हे बीरी। कोइ परिमल अति सुगंध-समीरी॥
काहू हाथ कस्तूरी मेदू। कोइ किछु लिहे, लागु तस भेदू॥

पाठ-भेद—१. सोवनारा=शयनागार। २. दरसन आस ठाढ़ि मुख जोवा।

पाँतिह पाँति चहूँ दिसि, सब सोंधे कै हाट।
माँझ रचा इंद्रासन, पदमावति कहँ पाट ॥१६॥

व्याख्या—इसके उपरान्त रत्नसेन ने उस स्थान में प्रवेश किया जहाँ नव-रत्नो की शैय्या सजाई गई थी। वहाँ पर स्थित खम्भों में विभिन्न पुतलियाँ बनी हुई थीं जो ऐसी सजीव सी प्रतीत होती थीं मानो सेवा करने के लिए सन्नद्ध खड़ी हों। किसी पुतली के हाथ में चन्दन की कटोरी थी, कोई सिन्दूर लिए हुए थी तथा किसी के हाथ में सिन्दूर की डिबिया थी, कोई कुंकुम और केसर लिए इस तरह खड़ी थी, मानो प्रसन्नतापूर्वक उन्हें अङ्गों में लगाना चाह रही हो। कोई कुंकुम भरे कुमकुमे तथा चोवा का पात्र लिए इस तरह खड़ी देखने वाले के मुँह की ओर देख रही थी कि बाला को इनकी कब आवश्यकता पड़ती है। कोई पान के बीड़े, कोई मिस्सी, कोई सुगन्धित वायु वाला परिमल लिए खड़ी थी तथा किसी के हाथ में कस्तूरी तथा किसी के हाथ में मेद से भरे पात्र थे तथा दूसरी कुछ अन्य प्रकार की आवश्यकता की वस्तुएँ लिए खड़ी थीं।

वहाँ चारों ओर पंक्ति-की-पंक्ति विभिन्न प्रकार की सुगन्धियों की हाट-सी लग रही थी। उन खम्भों के बीचोंबीच इन्द्रासन बना हुआ था, जिस पर पद्मावती के बैठने के लिए एक पटा रखा था।

टिप्पणी—इस पद में आये 'सुगन्ध-समीरी' शब्द का भाव स्पष्ट नहीं होता। शुक्ल जी ने इसका अर्थ 'सुगन्ध वायुवाला' लिखा है। डा० अग्रवाल 'समीर' का अर्थ 'समीर से आने वाली'—बताकर उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह कलंबक नामक सुगन्धि ज्ञात होती है जो जेरबाद नामक स्थान से लाई जाती थी। 'जेरबाद' फारसी शब्द है जिसका वही अर्थ हैं जो 'समीरी' का है। मलय द्वीप की भाषा में सुमात्रा के पूर्वीय टापुओं को 'मलय बावह अङ्गी' कहते थे। उसे ही जेरबाद कहने लगे। 'समीरी' सुगन्ध उसी का नाम जान पड़ता है।

पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड

(३०८)

सात खंड ऊपर कबिलासू। तहवाँ नारि-सेज[1] सुख-बासू ॥
चारि खँभ चारिहु दिसि खरे। हीरा - रतन - पदारथ - जरे ॥
मानिक दिया जराबा मोती। होइ उजियार रहा[2] तेहि जोती ॥
ऊपर राता चँदवा छावा। औ भुइँ सुरँग बिछाब बिछावा ॥
तेहि महँ पालक सेज सो डासी। कीन्ह बिछावन फूलन्ह बासी[3] ॥
चहुँ दिसि गेंडुवा औ गलसूई। काँची पाट भरी धुनि रूई ॥
बिधि सो सेज[4] रची केहि जोगू। को तहँ पौढ़ि मान रस भोगू ॥
अति सुकुवाँरि सेज सो डासी[5], छुबै न पारै कोइ।
देखत नवै खिनहि खिन, पाँव धरत कसि होइ ॥१॥

शब्दार्थ सुख-बासू=सुखद, या धवलगृह के सातवें खंड पर बना राजा-रानी का शयन-कक्ष। पालक=पलंग। गेंडुवा=तकिया। गलसुई=गाल के नीचे रखने का छोटा गोल तकिया। काँची=कच्चा रेशम।

व्याख्या—उस धवलगृह के ऊपर सातवें खंड पर स्वर्ग के समान कैलास स्थित था। (जायसी ने सातवें खंड को सर्वत्र कैलास कहा है जिससे अभिप्राय स्वर्ग तथा उस खंड-विशेष से माना जा सकता है।) उस कैलास नामक स्थान पर राजा-रानी का सुखद शयन-कक्ष था। उसी में पद्मावती की शैय्या बिछी हुई थी। उसमें चारों ओर चार खम्भे खड़े हुए थे जिनमें हीरा, रत्न तथा मणि-माणिक्य जड़े थे। उन खम्भों पर मोती-जड़े माणिक्यों के बने दीपक रखे थे, जिनसे निकलने वाले प्रकाश से वहाँ उजियाला हो रहा था। उसके ऊपर लाल रंग का चँदोवा लगा हुआ था और नीचे जमीन पर रंगीन बिछावन या कालीन बिछाए गए थे। उनके ऊपर बीच में पलंग पर वह शैय्या सजाई गई थी जिस पर फूल बिछा उसे सुगन्धित बनाया गया था। उस शय्या पर चारों ओर बड़े तकिए तथा गाल के नीचे रखे जाने वाले अनेक छोटे-छोटे तकिए

पाठ-भेद—१ सोवनार सेज। २. रैनि। ३. का कहँ ऐसि रची सुखवासी। ४. फूलन्ह भरी ऐस। ५. साजी।

पड़े हुए थे जिनमें कच्चे रेशम की धुनी हुई रुई भरी हुई थी। ऐसी वह शैय्या विधाता ने किसके लिए बनाई थी? कौन उस पर लेट, भोग करेगा—अर्थात् भोग-विलास करेगा?

वह बिछाई गई शैय्या इतनी कोमल थी कि कोई उसका स्पर्श तक नहीं कर पाता था। वह दृष्टि के भार से ही नीचे झुक जाती थी। उस पर पैर रखने पर क्या हाल होगा, इसे कौन जाने? भाव यह है कि वह शैय्या इतनी कोमल थी कि उस पर पैर रखते ही नीचे धसक जाने की सम्भावना थी।

टिप्पणी—अलंकार—अतिशयोक्ति।

(३०९)

राजै[1] तपत सेज जो पाई। गाँठ छोरि धनि[2] सखिन्ह छपाई॥
कहैं, कुँवर! हमरे अस चारू। आज कुँवरि का करब सिंगारू॥
हरदि उतारि चढ़ाउब रंगू। तब निसि चाँद सुरुज सौं संगू॥
जस चातक-मुख बूँद सेवाती। राजा-चख जोहत[3] तेहि भाँती॥
जोगि छरा जनु अछरी साथा। जोग हाथ कर भएउ बेहाथा॥
वै चातुरि कर[4] लै अपसईं। मन्त्र अमोल छीनि लेइ गईं॥
बैठेउ खोइ जरी औ बूटी। लाभ न पाव, मूरि भइ टूटी॥
लाइ रहा ठग-लाड़ू, तंत मन्त बुधि खोइ।
भा धौराहर बनखँड, ता हँसि आव, न रोइ॥२॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन ने तपस्या करने के उपरान्त, पद्मावती के विरह में तपने के उपरान्त, काम से व्याकुल हो इस शैय्या को जैसे ही प्राप्त किया, अर्थात् जैसे ही वह शय्या पर शयन करने के लिए पहुँचा, सखियों ने उन दोनों की गाँठ छोड़ पद्मावती को छिपा दिया। और रत्नसेन से कहने लगीं कि—हे राजकुमार! हमारे यहाँ ऐसी रीति है कि आज हम राजकुमारी (पद्मावती) का शृंगार करेंगी। हम उसके शरीर पर लगी हल्दी को उतार उस पर अंगराग लगायेंगी। ऐसा हो जाने पर रात्रि को चन्द्रमा और सूर्य अर्थात् पद्मावती का और तुम्हारा साथ होगा। जिस प्रकार चातक का मुख स्वाति का जल प्राप्त करने के लिए व्याकुल रहता है, सखियों की यह बात सुन राजा रत्नसेन के नेत्र भी पद्मावती को खोजने के लिए उसी प्रकार व्याकुल हो इधर-उधर देखने लगे। वह योगी मानो उन अप्सराओं द्वारा ठग लिया गया। भाव यह है कि आसन्न मिलन के समय ही सखियों ने पद्मावती को छिपा दिया, जिससे रत्नसेन व्याकुल हो उठा। अपने हाथ का योग हाथ से निकल गया अर्थात् पद्मावती के साथ होने वाला संयोग हाथ से जाता रहा। वे सखियाँ चतुराई करके उसके उस अमूल्य मंत्र को उसके हाथ से छीन कर दूर ले गईं। भाव यह है कि इतनी तपस्या

पाठ-भेद—१. सूरुज। २. ससि। ३. चकचौहट=व्याकुलता। ४. चतुरा गुरु।

करने के उपरान्त रत्नसेन को पद्मावती के रूप में जिस अमूल्य मन्त्र की प्राप्ति हुई थी, उसे वे उससे छीन कर दूर ले गईं। वह योगी रत्नसेन अपनी गाँठ की जड़ी और बूटी खो बैठा। इस सौदे में उसे लाभ तो कुछ भी नहीं हुआ, मूलधन में भी घाटा पड़ गया।

राजा रत्नसेन अपना तंत्र-मंत्र और बुद्धि खो, उस व्यक्ति के समान खोया हुआ सा बैठा रह गया—जिसे ठगों ने जहर मिले हुए लड्डू खिलाकर लूट लिया हो। वह धवल गृह रत्नसेन को वनखंड के समान निर्जन-सा प्रतीत होने लगा। वह इतना हत-बुद्धि हो उठा कि न तो उससे हँसा ही जाता था और न रोया ही जाता था।

टिप्पणी—डा० अग्रवाल ने इस पद की चतुर्थ पंक्ति का पाठान्तर इस प्रकार दिया है—

"जनु चात्रिक मुख हुति गौ स्वाती। राजहि चकचौहट तेहि भाँती॥"

अर्थात् जैसे चातक के मुँह के सामने से स्वाति की बूँदें चली जायँ, उसी भाँति राजा को पद्मावती के लिए व्याकुलता और क्षोभ हुआ। मुहावरे की भाषा में इसे 'मुँह का कौर छीन लेना' भी कहा जायेगा। यह पाठ शुक्लजी द्वारा दिए गए उपर्युक्त पाठ से अधिक संगत, प्रभावशाली और सुन्दर है। इसके द्वारा प्रेम-क्रीड़ा के लिए उद्यत व्यक्ति की उस किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित हो जाता है, जब मिलन की पूर्ण सम्भावना और आसन्न निकटता के समय ही प्रियतमा को उससे दूर कर दिया जाय।

(३१०)

अस तप करत गएउ दिन भारी। चारि पहर बीते जुग चारी॥
परी साँझ, पुनि सखी सो आई। चाँद रहा, उपनी जो तराई॥
पूछहिं "गुरु कहाँ, रे चेला !। बिनु ससि रे कस सूर अकेला ?॥
धातु कमाय सिखे तै जोगी। अब कस भा निरधातु बियोगी ?॥
कहाँ सो खोएहु बिरवा लोना। जेहि तें होइ रूप औ सोना॥
का हरतार पार नहिं पावा। गंधक काहे कुरकुटा खावा॥
कहाँ छपाए चाँद हमारा ?। छेहि बिनु रैनि जगत अँधियारा"॥
नैन कौड़िया, हिय समुद, गुरु सो तेहि महँ जोति।
न मरजिया न होइ परे, हाथ न आवे मोति॥३॥

शब्दार्थ—भारी=कठिनाई के साथ। परी=आई, हुई। चाँद""तराई=चन्द्रमा (पद्मावती) तो रह गया, केवल तारे (सखियाँ) उदय हुईं। धातु=वीर्य। निरधातु=निस्सार, निर्वीर्य के समान कान्तिहीन। लोना=सलोना, अमलोनी नाम की घास जिसे रसायन-शास्त्री धातु सिद्ध करने के काम में लाते हैं। रूपा=रूप, चाँदी। हरतार=हड़ताल (गन्धक मिश्रित धातु जो रज का प्रतीक है), पीला रंग। पाट=

पारद, पारा (वीर्य का प्रतीक), पार पाना। गंधक=सुगन्धि युक्त अर्थात् सुगन्धित शरीर वाली पद्मावती। कुरकुटा=ठंडा भात।

व्याख्या—इस पद में पद्मावती की सखियाँ सन्ध्या समय रत्नसेन के पास आकर उससे परिहास करती हैं। जायसी इसी प्रसङ्ग का वर्णन करते हुए कहते हैं—

इस प्रकार पद्मावती के वियोग में तप्त होते हुए या तपस्या करते हुए रत्नसेन का सारा दिन बड़ी कठिनाई के साथ व्यतीत हुआ। दिन के चार पहर उसे चार युगों के समान लम्बे लगे। फिर सन्ध्या हुई और पद्मावती की सखियाँ वहाँ आईं। चन्द्रमा तो छिपा ही रह गया और तारे प्रकट हो गए; अर्थात् पद्मावती तो नहीं आई और उसकी सखियाँ आ गईं। सखियों ने आकर रत्नसेन से पूछा कि हे शिष्य! तेरा गुरु (पद्मावती) कहाँ है? (जायसी ने सर्वत्र पद्मावती को गुरु और रत्नसेन को उसका शिष्य कहा है) हे सूर्य! तू चन्द्रमा के बिना अकेला ही कैसे दिखाई पड़ रहा है? हे योगी! तूने धातु का कमाना अर्थात् वीर्य का संचय करना सीखा था, अब वियोगी के समान निर्वीर्य अर्थात् कान्तिहीन (उदास) क्यों हो रहा है? तूने सुन्दर लता के समान उस पद्मावती को कहाँ खो दिया जिसके साथ तुझे रूप-सौन्दर्य और सुख की प्राप्ति होती? योगी पक्ष में इसका यह अर्थ होगा कि तूने उस अमलोनी नामक घास को कहाँ खो दिया जिससे चांदी और सोना बनाया जाता है। क्या तू हड़ताल का पारे से मिलन नहीं करवा पाया? क्या तुझे वह गन्धक नहीं मिला जो कण रूप में बिखरे हुए पारे को खा जाता है और उसे बद्ध कर लेता है। भाव यह है कि क्या तू हड़ताल अर्थात् हरित या रजोधर्म युक्त पद्मावती के रज के साथ अपने पारद अर्थात् वीर्य का मिलन नहीं करवा पाया अर्थात् उसके साथ सम्भोग न कर सका। या तू उस पीतवर्ण वाली पद्मावती को प्राप्त न कर सका जो तूने उसे पाकर भी खो दिया। तूने उस सुगन्धित शरीर वाली पद्मावती को छोड़ कर ठंडा भात क्यों खाया; अर्थात् उसके वियोग में ठंडी साँसें क्यों भरीं? तूने हमारा वह चाँद अर्थात् पद्मावती कहाँ छिपा रखी है जिसके बिना हमें यह संसार अंधेरी रात के समान लग रहा है।

तेरे नेत्र कौड़िल्ला पक्षी के समान हैं, हृदय समुद्र के समान तथा उसमें रहने वाला प्रकाश गुरु पद्मावती है। जब तक मन गोताखोर बन उस समुद्र के भीतर नहीं घुसेगा तब तक उसे मोती कैसे प्राप्त हो सकेगा। भाव यह है कि तेरे नेत्र पद्मावती के दर्शनों के लिए कौड़िल्ला पक्षी के समान समुद्र की सतह पर बार-बार टूटते हैं परन्तु वहाँ तो तुझे केवल मछली ही मिल सकेगी। पद्मावती उस समुद्र की तह में रहने वाले मोती के समान है। उसे तू तभी प्राप्त कर सकेगा जब अपने मन को गोताखोर के समान समुद्र की अर्थात् हृदय की गहराई में उतारेगा अर्थात् अपने हृदय में स्थित उस गुरु रूपी प्रकाश को तभी प्राप्त कर सकेगा जब तू पुनः अपने जीवन को खतरे में डालेगा।

टिप्पणी—(१) इस पद की प्रथम तीन पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट है, परन्तु चतुर्थ पंक्ति से लेकर छठी पंक्ति तक दो प्रकार के अर्थ निकलते हैं: १—पद्मावती पक्ष,

२—धातु-विद्या पक्ष। डा० अग्रवाल ने इन दोनों ही प्रकार के अर्थों के लिए कुछ विशिष्ट शब्दों की व्याख्या करके इन दोनों प्रकार के अर्थों को सिद्ध किया है। यह व्याख्या इस प्रकार है—

पद्मावती-पक्ष का अर्थ—

धातु कमाय=धातु अर्थात् वीर्य को साध कर मन को वश में करना।

निरधातु वियोगी=वियोगी के समान निस्तेज, कान्तिहीन, वीर्यहीन।

योगी=उर्ध्वरेता, साधक।

बिरवा लोना=सौन्दर्य की बूटी, लता या पौधा।

रूप औ सोना=पद्मावती के साथ में तुझे सौन्दर्य और सुख-शयन दोनों की प्राप्ति होती। हरतार=पीतवर्ण वाली पद्मावती, हरित या रजोधर्म युक्त या पारे (वीर्य) और हरतार (रज) का संकेत रत्नसेन और पद्मावती से है। भाव सम्भोग से है।

गन्धक=गन्धवती या पद्मिनी स्त्री, पद्मावती।

कुरकुटा खावा=ठंडा भात खाया या ठंडी साँसें भरीं।

धातु-विद्यापरक अर्थ—

धातु कमाय=धातु बनाना या रसायन विद्या।

निरधातु वियोगी=वियोगी के समान धातुहीन।

बिरवा लोना=अमलोनी बूटी जिसकी सहायता से चाँदी और सोना बनाया जाता है।

रूप औ सोना=चाँदी और सोना।

हरतार=हड़ताल। गन्धक=एक धातु का नाम।

योगी=सिद्ध या नाथ योगी जो रसायन की प्रक्रिया से ताँबे से सोना बनाते थे और पारे को शुद्ध कर सिद्ध गुटिका बनाते थे।

गन्धक काहे कुरकुटा खावा=पारे में गन्धक मिलाने से गन्धक पारे को खा जाता है और पारे के कण अलग न रह आपस में मिल जाते हैं। योग-पक्ष में गन्धक पार्वती के रज का तथा पारा शिव के वीर्य का प्रतीक माना जाता है। इन दोनों का योग गन्धक और पारे का योग कहा जाता है।

(३११)

का पूछहु तुम धातु, निछोही!। जो गुरु कीन्ह अँतर पट होई॥
सिधि-गुटिका अब मो सँग कहा। भएउँ राँग, सत हिये न रहा॥
सो न रूप जासौं मुख खोलौं। गएउ भरोस तहाँ का बोलौं?॥
जहँ लोना बिरवा कै जाती। कहि कै सँदेस आन को पाती?॥
कै जो पार हरतार करीजै। गंधक देखि अबहिं जिउ दीजै॥
तुम्ह जोरा कै सूर मयंकू। पुनि बिछोहि सो लीन्ह कलंकू॥

जो एहि घरी मिलावै मोहीं। सीस देउँ बलिहारी ओही ।।
होइ अबरक ईंगुर भया, फेरि अगिनि महँ दीन्ह।
काया पीतर होइ कनक, औ तुम चाहहु कीन्ह ।।४।।

शब्दार्थ—निछोही=निष्ठुर। जो गुरु····पर ओही=जो उस गुरु (पद्मावती) को तुमने छिपा दिया है। राँग=राँगा। पार=पारा, वीर्य। हरताल=हड़ताल, रज। करीजै=करा सके। गन्धक=गन्धवती। जोरा कै=एक बार जोड़ी मिलाकर, तोले भर राँगे और तोले भर चाँदी का—दो तोले चाँदी बनाना रसायनियों की बोली में 'जोड़ा करना' कहलाता है।

व्याख्या—पद्मावती की सखियों की परिहास-युक्त बातों को सुन रत्नसेन उन्हें उत्तर देता है—

हे निष्ठुर ! अब तुम मुझसे धातु के विषय में क्या पूछती हो, क्योंकि तुमने मेरे उस गुरु (पद्मावती) को परदे में छिपा रखा है। अब मेरे पास सिद्धि गुटिका कहाँ है ? अब तो मैं उसे खोकर राँगे के समान अर्थात् सत्वहीन हो गया हूँ, मेरी कान्ति जाती रही है। मेरे हृदय में अब तेज (सत्य का बल) नहीं रहा है। अब मेरे सामने वह रूप (पद्मावती का सौन्दर्य) ही नहीं रहा है जिससे मैं कुछ कह सकता। जब सारा भरोसा ही टूट गया तो मैं अब क्या कहूँ। जहाँ वह सौन्दर्य की बूटी पद्मावती है, उसके पास जाकर कौन मेरा उससे सन्देश कहे और उससे मेरे लिए पत्र लाए। यदि पारे और हड़ताल का अर्थात् मेरे वीर्य और पद्मावती के रज का संयोग हो सकता तो मैं उस पद्मगन्धा पद्मावती के दर्शन करने के बदले में अभी अपने प्राणों का त्याग कर देता। तुमने सूर्य और चन्द्रमा का एक बार मिलन कराया था और फिर उन दोना का बिछोह करवा कर अपने ऊपर कलंक ले लिया है। यदि कोई इसी क्षण उससे मेरा मिलन करवा दे तो मैं उस पर बलिहारी हो अपना शीश न्यौछावर कर दूँगा।

जो अभ्रक अग्नि में तप कर सिन्दूर बन गया था—उसे तुमने पुनः अग्नि में डाल दिया है। यदि तुम चाहो तो मेरी यह पीतल की काया पुनः सोना बन सकती है। भाव यह है कि मैं पद्मावती के वियोग में तप कर ईंगुर के समान शुद्ध बन गया था। परन्तु तुमने मुझे पुनः उसी वियोगाग्नि में तपने को बाध्य कर दिया है, जिससे मेरा शरीर पीतल के समान निस्तेज और सत्वहीन बन गया। अब यह अपनी पूर्व कान्ति तभी प्राप्त कर सकेगा, जब इसका पद्मावती से मिलन होगा।

टिप्पणी—डा० गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं।

(३१२)

का बसाइ जो गुरु अस बूझा। चकाबूह अभिमनु[1] ज्यौं जूझा ।।
विष जो दीन्ह अमृत देखराई। तेहि रे निछोही को पतियाई ? ।।
मरै सोइ जो होइ निगूना[2]। पीर न जानै बिरह बिहूना ।।

पाठ-भेद—१. अहिबान=अभिमन्यु। २. तनु-सूना=शरीर का प्राणों से रहित होना।

पार न पाव जो गंधक पीया। सो हत्यार[1] कहौ किमि जीया ॥
सिद्धि-गुटीका जा पहँ नाहीं। कौन धातु पूछहु तेहि पाहीं ॥
अब तेहि बाज राँग भा डोलौं। होइ सार तौ बर कै बोलौं ॥
अबरक कै पुनि ईंगुर कीन्हा। सो तन फेरि अगिनि महँ दीन्हा ॥
मिलि जो पीतम बिछुरहि, काया अगिनि जराइ।
की तेहि मिले तन तप बुझै, की अब मुए बुझाइ ॥५॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन पद्मावती की सखियों से आगे कहने लगा—

यदि मेरे गुरु (पद्मावती) ने मेरे सम्बन्ध में ऐसा ही सोच रखा है तो मेरा क्या बस चल सकता है। गुरु द्रोणाचार्य द्वारा निर्मित चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयत्न करने वाला अभिमन्यु जिस प्रकार उसी में घिर कर मारा गया था वैसी ही मेरी दशा होगी। अर्थात् मैं उसके विरह से युद्ध करता हुआ। (उसे सहता हुआ) मर जाऊँगा। जो अमृत दिखाकर विष दे दे, उस निष्ठुर का कौन विश्वास कर सकता है। जो गुण-हीन होता है, अन्त में वही मरता है। जिसने कभी विरह का अनुभव नहीं किया, वह उसकी पीड़ा को क्या जाने। जिस पारे को गन्धक पी जाता है, वह मिल नहीं सकता, अर्थात् जिसने पद्मगन्धा पद्मावती के शरीर की सुगन्धि का पान कर लिया है, वह कभी पार नहीं पा सकता, तृप्त नहीं हो सकता। (डा० गुप्त ने इस पंक्ति का यह अर्थ किया है—जो गन्धक द्वारा पिए हुए—गन्धक के साथ घोटे हुए बद्ध पारे को न पाए अर्थात् जो अपनी प्रियतमा सुगन्ध वाला पद्मिनी को न पा सके, वह हिरताल तुम्हीं बताओ कैसे जी सकता है।) ऐसा वह हत्यारा आखिर कैसे जीवित रह सकता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो पद्मिनी स्त्री से प्रेम करता है, वह यों ही पार नहीं पा सकता। जिसके पास यह सिद्धि प्राप्त करने वाली पद्मावती रूपी गुटिका नहीं रही, उससे यह पूछना व्यर्थ है कि उसके पास कौन-सी धातु है। भाव यह है कि जिस साधक का रेत सिद्ध न हुआ, उससे अन्य शारीरिक धातुओं की बात पूछना व्यर्थ है। अब उसके बिना मैं राँगे के समान कान्तिहीन बना घूमता फिरता हूँ। यदि मेरे पास कुछ सार होगा, तभी मैं बलपूर्वक कुछ कह सकूँगा। भाव यह है कि जिस प्रकार सिद्धि-गुटिका के खो जाने से योगी महत्त्वहीन असहाय, हो उठता है, उसी प्रकार पद्मावती के बिना मैं निस्तेज हो उठा हूँ। अभ्रक बनाकर तुमने पुनः ईंगुर बना दिया है और इस तन को पुनः अग्नि में डाल दिया है। भाव यह है कि मैं पद्मावती के विरह में दग्ध होकर अभ्रक के समान निर्मल बन गया था। मुझ पर किसी भी प्रकार के दुख का प्रभाव नहीं होता था। परन्तु तुमने पद्मावती से मेरा वियोग करवा कर मुझे पुनः उसके विरह की अग्नि में दग्ध होने के लिए छोड़ दिया है।

यदि प्रियतम मिलकर विछुड़ जाय तो शरीर वियोग की अग्नि में जलने

पाठ-भेद—१. हरतार।

लगता है। उस शरीर की तपन या तो प्रियतम के मिलने से ही शान्त हो सकेगी या फिर मर जाने से ही।

(३१३)

सुनि कै बात सखी सब हँसीं। जानहुँ रैनि तरई परगसीं॥
अब सो चाँद गगन महँ छपा। लालच[1] कै कित पावसि तपा ?॥
हमहुँ न जानहि दहुँ सो कहाँ। करब खोज औ बिनबउ तहाँ॥
औ अस कहब आदि परदेसी। करहि मया हत्या जनि लेसी॥
पीर तुम्हारि सुनत भा छोहू। दैउ मनाउ, होइ अस ओहू॥
तू जोगी फिरि तपि करु जोगू। तो कहँ कौन राज सुख-भोगू[2]॥
वह रानीं जहवाँ सुख राजू। बारह अभरन करै सो साजू॥
जोगी दिढ़ आसन करं, अहथिर धरि मन ठाँव।
जो न सुना तो अब सुनहि, बारह अभरन नाँव॥६॥

व्याख्या—रत्नसेन की बातों को सुन सारी सखियाँ हँसने लगीं—मानो रात्रि के समय तारकावलियाँ उदय हो गई हों। उन्होंने रत्नसेन से कहा कि—अब वह चन्द्र (पद्मावती) तो आकाश में छिपा है। हे तपस्वी ! तू उसे केवल लालच करके किस प्रकार और कहाँ प्राप्त कर सकेगा ? यह तो हमें भी नहीं मालूम कि वह कहाँ है। हम उसकी खोज करेंगी और उसके पास जाकर विनय करेंगी और इस प्रकार कहेंगी कि वह परदेशी है, उस पर दया करो, उसकी हत्या का अपराध अपने सिर पर मत लो। तुम्हारी पीड़ा भरी बातें सुनकर हमारे मन में क्षोभ उत्पन्न हुआ है। ईश्वर से मनाओ कि उसे भी अर्थात् पद्मावती को भी तुम पर उसी प्रकार रहम आ जाये जिस प्रकार कि हमें आ रहा है। तुम योगी हो। तुम फिर तपस्या करो, तुम तपस्या करने में समर्थ हो। तुम्हें राज-सुखों का भोग करके क्या करना है। वह रानी पद्मावती तो उस स्थान पर है जहाँ सदैव सुख का साम्राज्य छाया रहता है, वहाँ वह बारह प्रकार के आभूषण धारण कर अपना शृंगार करती है।

हे योगी ! तुम अपने चित्त को दृढ़ बना, स्थिर हो, तपस्या करो। यदि तुमने बारह आभूषणों के नाम न सुने हों तो अब हमसे सुन लो।

टिप्पणी—शुक्लजी ने बारह आभूषणों के नाम इस प्रकार बताए हैं—नूपुर, किंकिणी, वलय, अँगूठी, कंकण, अंगद, हार, कंठश्री, बेसर, खूँट या बिरिया, टीका, सीसफूल।

(३१४)

प्रथमं मज्जन होइ सरीरू। पुनि पहिरै तन चंदन चीरू॥
साजि माँगि सिर सेंदुर सारं। पुनि लिलाट रचि तिलक सँवारै॥

पाठ-भेद—१. लालि=खुशामद करके।
२. तूँ जोगी तप करु मन जथा। जोगहि कवन राज कै कथा॥

पुनि अंजन दुहुँ नैनन्ह करैं। औ कुँडल कान्ह महँ पहिरैं॥
पुनि नासिक भल फूल अमोला। पुनि राता मुख खाइ तमोला॥
गिउ अभरन पहिरैं जहँ ताईं। औ पहिरैं कर कँगन कलाई॥
कटि छुद्रावलि अभरन पूरा। पायन्ह पहिरैं पायल चूरा॥
बारह अभरन अहैं बखाने। ते पहिरैं बरहौ अस्थाने॥
पुनि सोरहौ सिंगार जस, चारिहु चौक[1] कुलीन।
दीरघ चारि, चारि लघु, चारि सुभर चौ खीन॥७॥

व्याख्या—पद्मावती की सखियाँ रत्नसेन को बारह आभूषणों की व्याख्या करती हुई बताती हैं—

सबसे पहले स्नान करके शरीर को निर्मल बनाया जाता है, फिर उस पर चन्दन के रंग के अथवा चन्दन के समान सुगन्धित और शीतल रेशमी वस्त्र धारण किए जाते हैं। फिर माँग निकाल उसमें सिन्दूर भरा जाता है। इसके उपरान्त ललाट पर तिलक लगाकर सजाती है। फिर दोनों आँखों में अंजन (काजल) लगाया जाता है। और कानों में कुंडल पहने जाते हैं। फिर नाक में सुन्दर अमूल्य लोंग पहनी जाती है और इसके बाद पान खाकर मुख को लाल किया जाता है। फिर गले में जितने भी आभूषण पहने जा सकें, पहने जाते हैं और हाथ की कलाई में कंगन धारण किए जाते हैं। कमर में छोटी-छोटी बजने वाली घंटियों वाली करधनी पहनी जाती है और पैरों में पायल और कड़े धारण किए जाते हैं। वे ही बारह आभूषण कहे गए हैं जो बारह अंगों में पहने जाते हैं।

फिर सोलह श्रृंगार करना चाहिए, जो चार-चार के उत्तम समूहों में इस प्रकार विभक्त हैं। उसके चार अंग दीर्घ, चार छोटे, चार खूब भरे हुए और चार पतले हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद में जायसी ने सोलह श्रृंगार और बारह आभरण दोनों को एक में करके गड़बड़ कर दिया है।

(२) दोहे की अन्तिम पंक्ति का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—
चार दीर्घ अंग=केश, अंगुली, नयन, ग्रीवा।
चार लघु अंग=दशन (दाँत), कुच, ललाट, नाभि।
चार भरे हुए=कपोल, नितम्ब, जाँघ, कलाई।
चार क्षीण=नाक, कटि, पेट और अधर।

(३१५)

पदमावति जो सँवारै लीन्हा। पूनिउँ राति दैउ ससि कीन्हा॥
करि मज्जन तन कीन्ह नहानू। पहिरे चीर, गएउ छपि भानू॥

पाठ-भेद—१. जोग=योग्य।

रचि पत्रावलि, माँग सँदूरू। भरे मोति औ मानिक चूरू॥
चंदन चीर[1] पहिर बहु भाँती। मेघघटा जानहुँ बग-पाँती॥
गूँथि[2] जो रतन माँग बैसारा। जानहुँ गगन टूटि निसि तारा॥
तिलक लिलाट धरा तस दीठा। जनहुँ दुइज पर सुहल[3] बईठा॥
कानन्ह कुंडल खूँट औ खूँटी। जानहुँ परी कचपची टूटी॥
पहिरि जराऊ ठाढ़ि भइ, कहि न जाइ तस भाव।
मानहुँ दरपन गगन भा, तेहि ससि तार देखाव॥८॥

व्याख्या—पद्मावती ने जब अपना श्रृंगार किया तो वह ऐसी प्रतीत होने लगी, मानो विधाता ने पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा का उदय कराया हो, अर्थात् वह पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर लगने लगी। उसने उबटन करके फिर स्नान किया। इसके उपरान्त उसने वस्त्र धारण किए, जिनकी चमक-दमक के आगे सूर्य भी छिप-सा गया, अर्थात् फीका पड़ गया। उसने अपने बालों में पट्टियाँ डालीं और माँग में सिन्दूर भरा। फिर माँग को मोती और माणिक्य के चूर्ण से पूरा। फिर अनेक प्रकार के चन्दन के से रङ्ग के वस्त्र पहने जो इस प्रकार सुन्दर लग रहे थे मानो मेघघटा में बगुलों की पंक्ति उड़ती चली जा रही हो। (यहाँ 'गूँथि' के स्थान पर 'सिरी' पाठ स्वीकार कर लेने से अर्थ की संगति बैठ जाती है। 'सिरी' वह गहना होता है जो माँग में से होता हुआ ललाट पर लटकाया जाता है। काले केशों के बीच उजली माँग में सुशोभित वह ऐसा लगता है जैसे मेघ-घटा के बीच बगुलों की पंक्ति उड़ रही हो।) इसके पश्चात् उसने रत्नों को गूँथ, जब माँग में धारण किया तो ऐसा प्रतीत होने लगा मानो रात्रि के समय आकाश से तारे टूट रहे हों। (केश रात्रि के अन्धकार पूर्ण आकाश के समान, चमकीले रत्न तारों के समान हैं।) उसने अपने ललाट पर तिलक (एक प्रकार का गहना) धारण किया जो इस प्रकार दिखाई पड़ रहा था मानो द्वितीया के चन्द्रमा के पास सुहेला (अगस्त्य) नक्षत्र बैठा हुआ हो। (ललाट द्वितीया का चन्द्रमा तथा तिलक सुहेला नक्षत्र के समान है।) उसने कानों में कुंडल, कर्णफ़ूल और गोखरू नामक आभूषण धारण किए जो झलमलाते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो आकाश से कृत्तिका नक्षत्र टूट-टूट कर नीचे गिर रहा हो।

इस प्रकार जड़ाऊ आभूषण धारण कर जब पद्मावती खड़ी हुई तो उसका जैसा रूप दिखाई पड़ा, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो आकाश रूपी दर्पण में जो चन्द्रमा और तारे दिखाई पड़ते हैं, वे उसी के उन आभूषणों और मुख के प्रतिबिम्ब हों।

पाठ-भेद—१. चन्दन चित्र=चन्दन के चित्र। २. सिरी=श्री, बिन्दिया जो माँग से लगाकर मस्तक पर लटकाई जाती है। ३. नखत।

(३१६)

बाँक नैन औ अंजन-रेखा। खंजन मनहुँ सरद ऋतु देखा।।
जस जस हेर, फेर चख मोरी। लरैं[1] सरद महँ खंजन-जोरी।।
भौंहै धनुक धनुक पै हारा। नैनन्ह साधि बान-विष मारा।।
करनफूल कानन्ह अति सोभा। ससि-मुख आइ सूर जनु लोभा[2]।।
सुरँग अधर औ मिला तमोरा। सोहै पान फूल कर जोरा।।
कुसुमगंध,[3] अति सुरँग कपोला। तेहि पर अलक-भुअंगिनि डोला।।
तिल कपोल अति कवँल बईठा। बेधा सोइ जेइ वह तिल दीठा।।
देखि सिंगार अनूप विधि, बिरह चला तब भागि।
काल-कस्ट इमि ओनवा, सब मोरे जिउ लागि।।६।।

व्याख्या—जायसी पद्मावती के शृंगार सम्वलित सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—

पद्मावती के बाँके (कटीले) नेत्र और उनमें लगी काजल की रेखा ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो शरद् ऋतु में खंजन पक्षी दिखाई दे रहे हों। यहाँ शरद् ऋतु से कवि का अभिप्राय यह है कि पद्मावती का मुख-चन्द्र शरद् के पूर्ण चन्द्र के समान बन शरद् ऋतु का आभास दे रहा था। (खंजन पक्षी केवल शरद ऋतु में ही उत्तर-भारत में दिखाई पड़ते हैं।) वह जब-जब अपने नेत्रों को इधर-उधर मोड़ कर घुमाती हुई देखती थी तो ऐसा लगता था मानो शरद ऋतु में खंजन की एक जोड़ी आपस में लड़ रही हो। (यहाँ नेत्रों की चंचलता से खंजन की जोड़ी के लड़ने का भाव अभिप्रेत है।) उसकी भौहें धनुष के समान थीं, परन्तु उनके बाँकपन के सम्मुख धनुष भी लज्जित हो उठता था। वह इन भौंहों रूपी धनुषों पर साध कर अपने नेत्रों से कटाक्ष रूपी विष-बाण मारती थी, अर्थात् देखने वालों को कटाक्ष द्वारा घायल कर देती थी। उसके कानों में पड़े हुए कर्णफूल अत्यन्त शोभा दे रहे थे, मानो उसके चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख को प्राप्त करने के लोभ में सूर्य आकर उसके पास बैठ गया हो। (जायसी ने सूर्य को चन्द्रमा का प्रेमी बताया है।) सुन्दर लाल रंग वाले अधर और उस पर छाई पान की लाली—ऐसा दृश्य उत्पन्न कर रहे थे, मानो पान और फूल का जोड़ा शोभा दे रहा हो। (यहाँ अधर पुष्प के समान कोमल, गुलाबी हैं तथा लाली पान की है।) सुन्दर गुलाबी कपोल और उनसे उठने वाली फूलों की सुगन्धि मन को आकर्षित कर रही थी। उन कपोलों पर लटकती हुई अलकें (केशों की लट) ऐसी प्रतीत हो रही थीं, मानो उस सुगन्धि से आकर्षित हो कोई सर्पिणी वहाँ लहरा रही हो। उसके

पाठ-भेद—१. लुरैं=चंचल होना।
२. करन फूल नासिक अति सोभा। ससि मुख आइ सूक जनु लोभा।।
३. कुसुम गेंद।

कपोल का तिल ऐसा लग रहा था मानो कमल पर एक भौंरा आकर बैठ गया हो। यहाँ कपोल कमल के समान गुलाबी तथा भौंरा काला तिल है।) जो कोई उस तिल की ओर एक बार देख लेता है वही उसके प्रेमपाश में आबद्ध हो जाता है।

पद्मावती के अद्‌भुत प्रकार से किये गए उस शृंगार को देख विरह वहाँ से यह कहता हुआ भाग खड़ा हुआ कि यह सारा काल-कष्ट (मृत्यु की यंत्रणा) केवल मेरे प्राणों के लिए ही आकर इकट्ठा हुआ है। यहाँ विरह के भाग उठने से अभिप्राय यह है कि पद्मावती ने प्रियतम से मिलने के लिए ही यह शृंगार किया है, अतः अब वहाँ विरह के लिए स्थान ही कहाँ रह जायेगा।

(३१७)

का बरनौं अभरन औ हारा। ससि पहिरे नखतन्ह कै मारा॥
चीर चारु औ चन्दन चोला। हीर हार नग लाग अमोला॥
तेहि झाँपी रोमावलि कारी। नागिन रूप डसै हत्यारी॥
कुच कँचुकी सिरीफल उभे। हुलसहिं चहहिं कंत हिय चुभे॥
बाँहन्ह बहुँटा टाँड़ सलोनी। डोलत बाँह भाव गति लोनी॥
तरवन्ह[1] कँवल-करी जनु बाँधी। बसा-लंक जानहुँ दुइ आधी॥
छुद्रघंट कटि कंचन-तागा। चलतै उठहिं छतीसौ रागा॥
चूरा पायल अनवट, पायँन्ह परहिं वियोग।
हिये लाइ टुक हम कहँ, समदहु मानहुँ भोग॥१०॥

व्याख्या—पद्मावती के शृंगार का वर्णन करने के उपरान्त जायसी उसके द्वारा धारण किये गए आभूषणों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मैं उसके आभूषणों और हारों का क्या वर्णन करूँ? वे उसके शरीर पर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो चन्द्रमा ने नक्षत्रों की माला धारण कर रखी हो। उसने सुन्दर रेशमी ओढ़नी और चन्दन के रंग का चोला धारण कर रखा है। उसके हीरों के हार में अनेक बहुमूल्य रत्न जड़े हुए हैं। उसके ऐसे उस हार ने उसकी काली रोमावली को ढक रखा है। उसकी वह रोमावली उस हार से संयुक्त होकर ऐसी प्रतीत होती थी मानो एक मणिधारिणी नागिन वहाँ बैठी हो, जो डस कर हत्या कर डालती है। भाव यह है कि हार से ढकी हुई उस रोमावलि को देखते ही देखने वाले को वह रोमावलि रूपी नागिन डस लेती थी अर्थात् वह उस पर मुग्ध हो प्रेम-पीड़ा से छटपटाने लगता था। चोली के भीतर उसके श्रीफल के समान सुडौल स्तन उभरे हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उल्लसित हो प्रियतम के हृदय में चुभ जाने को व्याकुल हो रहे हों। पद्मावती ने भुजाओं में सुन्दर भुजबन्ध और टड्डे नामक आभूषण धारण कर रखे थे। उनसे शोभित उसकी भुजाएँ इधर-उधर हिलती हुईं अत्यन्त सुन्दर लगती

पाठ-भेद—१. नीवी।

थीं। उसके तलवे ऐसे गुलाबी और कोमल थे मानो विधाता ने तलवों (हाथ की हथेलियों) के स्थान पर कमल की कलियों को बाँध दिया हो। उसकी कटि इतनी क्षीण थी मानो विधाता ने बर्र की कमर के दो टुकड़े कर उनमें से एक टुकड़ा वहाँ लगा दिया हो। कटि में सोने के तारों में बँधी हुई छोटी-छोटी घण्टियों वाली करधनी पड़ी हुई थी। जब वह चलती थी तो उन घण्टियों से ऐसी मधुर ध्वनि उत्पन्न होती थी—मानो छत्तीसों राग बज रहे हों।

पद्मावती के पैरों के चूड़ा, पायल तथा अनवट (अँगूठों में पहना जाने वाला गहना) बजते हुए ऐसे लग रहे थे—मानो कोई वियोगी पद्मावती के चरणों में पड़ा हुआ यह प्रार्थना कर रहा हो कि हमको भी तनिक अपने हृदय से लगाकर आलिंगन करो और आनन्द मनाओ। यहाँ जायसी संभोग-मुद्रा की ओर संकेत कर रहे हैं।

टिप्पणी—छठवीं पंक्ति का 'तरवन्ह' शब्द असंगत है। यहाँ कवि भुजाओं का वर्णन कर रहा है, इसलिए इसका अर्थ पैर के तलुवे' न मान कर हाथ की 'हथेली' मानना चाहिए। यहाँ 'नीवी' पाठ मान लेने से अर्थ बहुत अधिक सुन्दर और संगत हो उठता है। मानी नीवी अर्थात् कमरवन्द (नाड़ा) ने उसकी कटि को दो भागों में विभाजित कर दिया हो। इसलिए यहाँ 'नीवी' शब्द ही स्वीकार करना चाहिए।

(३१८)

अस बारह सोरह धनि साजै। छाज न और आहि पै छाजै॥
बिनवहिं सखी गहरु का कीजै। जेहि जिउ दीन्ह ताहि जिउ दीजै॥
सँवरि सेज धनि-मनि भइ संका। ठाढ़ि तेवान टेकि कर लंका॥
अनचिन्ह पिउ, काँपौं मन माँहा। का मैं कहब गहब जौ बाँहा॥
बारि बैस गइ प्रीति न जानी। तरुनि भई मैमंत भुलानी॥
जोबन-गरब न मैं किछु चेता। नेह न जानौं साँव कि सेता॥
अब सो कंत जो पूछिहि बाता। कस मुख होइहि पीत कि राता॥
हौं बारी औ दुलहिनि, पीउ तरुन सह तेज।
ना जानौं कस होइहि, चढ़त कंत के सेज॥११॥

व्याख्या—इस पद में जायसी ने पति-समागम के लिए आसन्न उद्यता नववधू की मानसिक दुविधा का मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुए यह दिखाया है कि वह इस प्रथम-मिलन की आशंका से किस प्रकार संकुचित और भयभीत-सी हो उठती है। जायसी इसी स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं—

इस प्रकार सोलह श्रृंगार और बारह आभूषणों से सज्जित हो पद्मावती शोभा पा रही थी। यह श्रृंगार और आभूषण केवल उसी को शोभा देने योग्य था, अन्य किसी को भी नहीं। पद्मावती को इस प्रकार सजा हुआ देख उसकी सखियाँ उससे

विनय करने लगीं कि अब तुम किसलिए विलम्ब कर रही हो, अर्थात् तुम अपने पति के पास क्यों नहीं जातीं ? जिसने तुम्हारे लिए अपने प्राण दिए हैं, तुम जाकर उसे प्राणदान क्यों नहीं देतीं ? भाव यह है कि तुम अपने पति के पास तुरन्त जाकर विरह से विदग्ध उसके प्राणों को शीतलता प्रदान करो। शय्या का स्मरण कर पद्मावती के मन में शंका उत्पन्न हो गई। वह अपनी कटि को टिका कर खड़ी सोचने लगी कि प्रियतम अपरिचित है, इसलिए मैं मन-ही-मन काँप रही हूँ। यदि वह मेरी बाँह पकड़ लेगा तो मैं उससे क्या कहूँगी। मेरी बाल्यावस्था बीत गई परन्तु मैं प्रेम को न जान सकी कि प्रेम कैसा होता है। उसके बाद तरुणी हुई और मदमत्त हो भूली रही। मैंने अपने यौवन के गर्व में भरी रह कुछ भी न सोचा कि प्रेम काला होता है या सफेद, अर्थात् बुरा होता है या अच्छा। अब जो प्रियतम मुझसे कोई बात पूछेगा तो पता नहीं उस समय मेरा मुख भय से पीला पड़ जायेगा या लज्जा के कारण लाल हो जायेगा।

मैं अभी बाला और दुल्हन हूँ, मेरा पति तरुण तौर तेजस्वी है। मालूम नहीं कि पति की शय्या पर चढ़ते समय मुझ पर क्या बीतेगी ?

(३१९)

सुनि धनि ! डर हिरदय तब ताईं। जो लगि रहसि मिलै नहिं साईं।
कौन कली जो भौंर न राई। डार न टूट पुहुप गरुआई॥
मातु पिता जौ बियाहै सोई। जनम निबाह कंत सँग होई॥
भरि जीवन[1] राखै जहँ चहा। जाइ न मेंटा ताकर कहा॥
ताकहँ बिलँब न कोजै बारी। जो पिउ-आयसु सोइ पियारी॥
चलहु बेगि आयसु भा जैसे। कंत बोलावै रहिए कैसे ?॥
मान न करसि, पोढ़ करु लाड़ू। मान करत रिस मानै चाँढ़ू॥
साजन लेइ पठावा, आयसु, जाइ न मेट।
तन मन, जोबन, साजि के, देइ चली लेइ भेंट॥१२॥

व्याख्या—पद्मावती की दुविधा को देख उसकी सखियाँ उससे कहने लगीं—

हे सुन्दरी ! सुन ! हृदय में भय तभी तक रहता है, जब तक प्रियतम प्रसन्न होकर एकान्त में भेंट नहीं करता। ऐसी कौन सी कली है जिस पर भ्रमर अनुरक्त न होता हो। फूल के भार से डाल कभी नहीं टूटती; अर्थात् तुम तरुणी हो, इसलिए तुमसे कोई-न-कोई पुरुष तो प्रेम करेगा ही, और उसके प्रेम में किसी प्रकार का भी भय नहीं रहता। (शुक्लजी ने 'डार·······गरुआई'—पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—'कौन फूल अपने बोझ से ही डाल से टूट कर न गिरा।' परन्तु इस अर्थ से इस पंक्ति का अर्थ स्पष्ट नहीं होता और न संदर्भ में ठीक ही बैठता है।) माता-पिता

पाठ-भेद—१. जमबार=मृत्यु-द्वार अर्थात् जीवन भर।

जिसके साथ विवाह कर देते हैं, उसी पति के साथ जीवन-पर्यन्त निर्वाह करना पड़ता है। वह जहाँ चाहता है वहीं जीवन-पर्यन्त अपनी पत्नी को रखता है। उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। इसलिए हे बाला ! तुम उसके पास जाने में विलम्ब मत करो, क्योंकि प्यारी वही है जो पति की आज्ञाकारिणी होती है। तुम यही समझ लो कि पति ने तुम्हें आने की आज्ञा दी है, इसलिए शीघ्र चलो। जब स्वामी ने तुम्हें बुलाया है तो तुम बिना जाए कैसे रह सकोगी। मान मत करो। उससे खूब कस कर लाड़-प्यार करो, क्योंकि प्रिय बोलने वाला प्रियतम मान करने से नाराज हो जाता है।

हमें तुम्हारे स्वामी ने तुम्हें लिवा लाने के लिए भेजा है। उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। सखियों की इन बातों को सुन पद्मावती अपने तन, मन और यौवन को सजा अपने पति को उनकी भेंट देने के लिए चल पड़ी।

(३२०)

पदमिनि-गवन हँस गए दूरी। कुंजर लाज मेल सिर धूरी ॥
बदन देखि घटि चंद छपाना। दसन देखि कै बीजु लजाना ॥
खंजन छपे देखि कै नैना। कोकिल छपी सुनत मधु बैना ॥
गीव देखि कै छपा मयूरू। लंक देखि कै छपा सदूरू ॥
भौंहन्ह धनुक छपा अकारा। बेनी बासुकि छपा पतारा ॥
खड़ग छपा नासिका बिसेखी। अमृत छपा अधर-रस देखी ॥
पहुँचहि छपी कवँल पौनारी। जंघ छपा कदली होइ बारी ॥
अछरी रूप छपानीं, जबहिं चली धनि साजि।
जावत गरब-गहेली, सबै छपीं मन लाजि ॥१३॥

व्याख्या—इस पद में जायसी पद्मावती के रूप-शृंगार का नख-शिख-वर्णन करते हुए कहते हैं—

पद्मावती की चाल को देख हंस दूर [मान सरोवर] में जाकर छिप गए। हाथी ने लज्जित हो अपने सिर पर धूल डाल ली। उसके मुख को देख चन्द्रमा क्षीण होकर छिप गया। (चन्द्रमा कृष्ण-पक्ष में क्रमशः घटता हुआ अमावस्या की रात को पूरी तरह से छिप जाता है।) उसके दाँतों को देख बिजली लज्जित हो बादलों में जा छिपी। नेत्रों को देख खंजन कहीं दूर जाकर छिप गए। ग्रीष्म और वर्षा ॠतु में खंजन पक्षी उत्तर भारत में दिखाई नहीं पड़ते। वे शीत ॠतु बीतते ही किसी ठण्डे प्रदेश को चले जाते हैं।) कोयल उसकी सुन्दर वाणी को सुन लज्जित हो कहीं जा छिपी। (कोयल की बोली केवल वसन्त और ग्रीष्म ॠतु में ही सुनाई पडती है, अन्य ॠतुओं में नहीं।) उसकी सुन्दर ग्रीवा (गर्दन) को देख मयूर (वन में जाकर) छिप गया। और उसकी कटि को देख सिंह भी लज्जित हो वन में जा छिपा। उसकी

भौंहों को देख इन्द्रधनुष ने अपने आकार को छिपा लिया। और उसकी वेणी को देख वासुकि नाग पाताल में छिपा। उसकी नासिका को देख खड़ग (म्यान के भीतर) छिप गया। और उसके अधरों के रस को देख अमृत ऊपर जा चन्द्रमा में छिप गया। उसकी कलाइयों को देख कमल-नाल जल के भीतर जा छिपी और केला उसकी जंघाओं की सुडौलता और चिकनेपन से लज्जित हो वाटिका के भीतर जाकर छिप गया।

ऐसी वह सुन्दरी पद्मावती जब सज-धज कर चली तो अप्सराएँ उसके रूप को देख स्वर्ग में जा छिपीं। अपने रूप पर गर्व करने वाली जितनी भी सुन्दरियाँ थीं, वे सब मन में लज्जित हो अपने-अपने घरों के भीतर जाकर छिप गईं।

टिप्पणी – **अलंकार**—प्रतीप।

(३२१)

मिलीं गोहने सखी तराईं। लेइ चाँद सूरज पहँ आईं॥
पारस रूप चाँद देखराई। देखत सूरज गा मुरछाई॥
सोरह कला दिस्टि ससि कीन्ही। सहसौ कला सुरुज कै लीन्ही॥
भा रवि अस्त, तराईं हँसी। सूर न रहा, चाँद परगसी॥
जोगी आहि, न भोगी होई। खाइ कुरकुटा गा पै सोई॥
पदमावति जसि निरमल गंगा। तू जो[1] कंत जोगी भिखमंगा॥
आइ[2] जगावहिं 'चेला जागै। आवा गुरू, पायँ उठि लागै'॥
बोलहिं सबद सहेली, कान लागि, गहि माथ॥
गोरख आइ ठाढ़ भा, उठु, रे चेला नाथ! ॥१४॥

व्याख्या—पद्मावती की सखियाँ पद्मावती के साथ मिल उस चन्द्रमा (पद्मावती) को सूर्य (रत्नसेन) के पास लेकर पहुँचीं। सखियों ने उसे चन्द्रमा के पारस के समान उज्ज्वल रूप को दिखाया और उसे देखते ही सूर्य मूर्च्छित हो गया। चन्द्रमा ने अपनी सोलह कलाओं को अर्थात् अपने पूर्ण रूप को दिखाया और उसके द्वारा सूर्य की सहस्र कलाओं को छीन लिया। भाव यह है कि पद्मावती के सोलह श्रृंगार से सज्जित उस रूप को देख रत्नसेन तेजहीन होकर मूर्च्छित हो गया। सूर्य अस्त हो गया, यह देख सारे तारे (सखियाँ) हँसने लगे और कहने लगे कि अब सूर्य नहीं रहा है, क्योंकि चन्द्रमा प्रकट हुआ है। (साधारणतः सूर्य के सम्मुख चन्द्रमा निष्प्रभ हो जाता है परन्तु यहाँ यह आश्चर्यजनक घटना घटी कि चन्द्रमा को देख सूर्य निष्प्रभ हो, अस्त हो गया – रत्नसेन मूर्च्छित हो गया।) रत्नसेन को मूर्च्छित हुआ देख सखियाँ कहने लगीं कि यह योगी है, कोई भोगी—अर्थात् भोग-विलास करने वाला राजा नहीं है। यह रूखा-सूखा अन्न खाने वाला है, इसीलिए केवल दर्शन मात्र से ही सन्तुष्ट हो सो गया है। पद्मावती गंगा के समान निर्मल है, परन्तु तू अर्थात् रत्नसेन तो कोई भीख माँगने

पाठ-भेद—१. नाहिं जोग=योग्य नहीं है। २. अबहुँ=अब भी।

वाला योगी है, अर्थात् पद्मावती के योग्य नहीं है। वे मूर्च्छित रत्नसेन के पास जाकर उसे यह कहती हुई जगाने लगीं कि – हे शिष्य ! जाग ! तेरा गुरु आया है, उठकर इसके चरणों का स्पर्श कर।

सखियाँ रत्नसेन के सिर को पकड़ उसके कान के पास अपना मुँह लगा यह कहने लगीं कि हे नाथपथी योगी ! उठ, तेरा गुरु गोरखनाथ तेरे सामने आकर खड़ा हो गया।

(३२२)

सुनि यह सबद अमिय अस लागा। निद्रा टूटि, सोइ अस जागा[1] ॥
गही बाँह धनि सेजवाँ आनी। अंचल ओट रही छपि रानी ॥
सकुचै डरै मनहि मन बारी। गहु न बाँह, रे जोगि भिखारी ॥
ओहट होसि, जोगि ! तोरि चेरी। भावै बास कुरकुटा केरी ॥
देखि भभूति छूति मोहि लागै। काँपै चाँद, सूर सौं भागै ॥
जोगि तोरि तपसी कै काया। लगि चहै मोरे अँग छाया ॥
बार भिखारि न माँगसि भीखा। माँगे आइ सरग पर सीखा ॥
जोगि भिखारि कोई, मँदिर न पैठे पार।
माँगि लेहु किछु भिक्षा, जाइ ठाढ़ होइ बार ॥१५॥

व्याख्या—इस पद में पद्मावती राजा रत्नसेन को उसके योगी वेश का स्मरण दिलाती हुई उससे परिहास कर रही है। जायसी इसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अमृत के समान यह मीठा शब्द अर्थात् गुरु गोरखनाथ का नाम सुन रत्नसेन की मूर्च्छा भंग हो गई और वह इस प्रकार उठकर बैठ गया जिस प्रकार कोई सोता हुआ व्यक्ति नींद टूटने पर उठकर बैठ जाता है। उसने पद्मावती की बाँह पकड़ उसे पलंग पर खींच लिया परन्तु रानी पद्मावती ने अपने मुख को अपने अंचल की ओट में छिपा लिया। वह बाला मन-ही-मन संकुचित और भयभीत हो रही थी कि न जाने प्रियतम अब क्या करेगा, इसलिए उसने छुटकारा पाने के लिए परिहास करते हुए रत्नसेन से कहा कि हे भिखारी योगी ! मेरी बाँह को मत पकड़। मेरे सामने से दूर हो जा। हे योगी ! मैं तेरी दासी हूँ। परन्तु तेरे मुख से मोटे अन्न खाने की वास आ रही है। तेरे शरीर पर लगी इस भस्म को देख मुझे छूत सी लग रही है। चन्द्रमा रूपी पद्मावती यह कहती हुई (प्रिय स्पर्श तथा शंका के कारण) काँप रही थी और सूर्य (रत्नसेन) से दूर भाग जाना चाहती थी। वह फिर उससे कहने लगी कि हे योगी ! तेरी काया तपस्वी की है और यह मेरे शरीर के साथ छाया की तरह लग जाना चाहती है। तू भिखारी है, इसलिए बाहर द्वार पर खड़ा होकर भीख क्यों नहीं माँगता ? तूने तो स्वर्ग पर चढ़कर भीख माँगना सीख रखा है।

पाठ-भेद—१. टिप्पणी में पाठ-भेद और उसकी व्याख्या द्रष्टव्य है।

कोई भी योगी और भिखारी राजमहल के भीतर घुसने नहीं पाता। तुझे जो कुछ भिक्षा माँगनी हो—वह तू बाहर द्वार पर खड़ा होकर माँग ले।

टिप्पणी—प्रथम पंक्ति का एक पाठान्तर इस प्रकार मिलता है—

"गोरख सबद सुद्ध भा राजा। रामा सुनि रावन होइ गाजा॥"

अर्थात् 'गोरख' यह शब्द सुनते ही राजा को होश आ गया। वह रावण अर्थात् रमण करने वाला पति यह सुनकर कि रामा (रमणी) आई है, गर्जन कर उठा।

(३२३)

मैं[1] तुम्ह कारन, पेम-पियारी। राज छाँड़ि कै भएउँ भिखारी॥
नेह तुम्हार जो हिये समाना। चितउर सौं निसरेउँ होइ आना[2]॥
जस मालति कहँ भौंर बियोगी। चढ़ा बियोग, चलेउँ होइ जोगी॥
भौंर खोजि जस पावै केवा। तुम्ह कारन[3] मैं जिउ पर छेवा॥
भएउँ भिखारि नारि तुम्ह लागी। दीप-पतंग होइ अंगएउँ आगी॥
एक बार मरि मिले जो आई। दूसरि बार मरै कित जाई॥
कित तेहि मीचु जो मरि कै जीया?। भा सो अमर, अमृत-मधु[4] पीया॥
भौंर जो पावै कंवल कहँ, बहु आरति, बहु आस।
भौंर होइ नेवछावरि, कँवल देइ हँसि बास॥१६॥

व्याख्या—पद्मावती की परिहास-भरी बातों को सुन राजा रत्नसेन उससे कहने लगा कि—

हे प्रेम-प्यारी! मैं तुम्हारे कारण ही अपने राज्य को त्याग भिखारी बना हूँ। जब तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय में समा गया तो मैं चित्तौड़ से निकल कर यहाँ आ पहुँचा। जिस प्रकार भ्रमर मालती के लिए वियोगी बना रहता है, इसी प्रकार जब मेरे ऊपर वियोग छा गया तो मैं योगी होकर चल पड़ा। जैसे भ्रमर इधर-उधर उड़ता हुआ कमल की खोज कर अन्त में उसे प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे लिए अपने प्राणों को संकट में डाल यहाँ तक आ पहुँचा हूँ। मैं तुम्हारी जैसी स्त्री की खातिर भिखारी बना हूँ। जिस प्रकार पतिंगा दीपक की अग्नि को सहन करता है, उसी प्रकार मैंने तुम्हारे वियोग की अग्नि को अपने शरीर पर झेला है। जो एक बार मर कर मिल जाता है, वह दूसरी बार क्यों मरने लगा, अर्थात् मैं तो एक बार तुम्हारे वियोग में मर चुका हूँ, इसलिए अब मेरे पुनः मरने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिसने एक बार मर कर पुनः नव-जीवन प्राप्त कर लिया है, उसके लिए अब मृत्यु का क्या भय रहा है? वह तो प्रेम के अमृत के समान मीठे मधु का पान कर अमर हो गया है।

पाठ-भेद—१. अनु=अवश्य। २. चित उर माँह न सुमिरेउ आना=मैंने चित और हृदय में दूसरे का स्मरण नहीं किया। ३. काँटे। ४. मिलि कै मधु।

जो भ्रमर अनेक दुख उठा, अनेक आशाएँ मन में सँजोकर जब अन्त में कमल को प्राप्त कर लेता है और स्वयं को उस पर न्यौछावर कर देता है तो कमल हँस कर अर्थात् खिल कर उसे अपनी सुगन्धि का पान करने देता है। भाव यह है कि भौंरे के समान मैंने भी तुम्हारे लिए अनेक कष्ट सहे हैं, और तुम्हारे ऊपर अपने को न्यौछावर कर दिया है, इसलिए तुम भी कमल के समान प्रसन्न होकर मुझे अपने प्रेम का रसपान करने दो।

(३२४)

अपने मुँह न बड़ाई छाजा। जोगी कतहुँ होहिं नहिं राजा॥
हौं रानी, तूँ जोगि भिखारी। जोगहि भोगहि कौन चिन्हारी॥
जोगी सबै छंद अस खेला। तू भिखारि तेहि माहिं अकेला॥
पौन बाँध अपसवहिं अकासा। मनसहिं जाहिं ताहि के पासा॥
एही भाँति सिस्टि सब छरी। एही भेख रावन हिय हरी॥
भौंरहिं मीचु नियर जब आवा। चंप-बास लेइ कहँ धावा॥
दीपक-जोति देखि उजियारी। आइ पाँखि होइ परा भिखारी॥
रैनि जो देखै चंदमुख, ससितन होइ अलोप[1]।
तुहुँ जोगी तस भूला, करि[2] राजा कर ओप॥१७॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन की बातों को सुन पद्मावती उससे कहने लगी—

अपने ही मुँह अपनी बड़ाई करना शोभा नहीं देता। योगी कहीं भी राजा नहीं होता। मैं रानी हूँ और तू योगी और भिखारी है। योगी और भोगी में परस्पर कैसी जान-पहचान? सभी योगी धूर्त्तता करते हैं, और तू भिखारी तो उन योगियों में एक ही छटा हुआ नम्बरी धूर्त्त है। योगी प्राणायाम साध आकाश को चले जाते हैं और मन में जिसकी इच्छा करते हैं, उसी के पास पहुँच जाते हैं। ये योगी इसी प्रकार सारी सृष्टि को छलते रहते हैं। रावण ने यही योगी का वेश बना सीता का हरण किया था। जब भौंरे की मृत्यु पास आती है तो वह चम्पा के फूल की गन्ध लेने के लिए उसके पास दौड़ा जाता है। (कहा जाता है कि भौंरा चम्पा के पास नहीं जाता और यदि पहुँच भी जाता है तो उसे सूँघते ही मर जाता है।) दीपक के उज्ज्वल प्रकाश को देख पतिंगा उसके ऊपर भूखे भिखारी के समान टूट पड़ता है (और मर जाता है)।

रात्रि के समय यदि चन्द्रमा मेरे इस चन्द्रमुख को देख लेता है तो वह भी लज्जित हो छिप जाता है (क्योंकि चन्द्रमा में कलंक है और मेरा मुख निष्कलंक और चन्द्रमा के समान सुन्दर है।) हे योगी! तू भी उसी प्रकार राजा का सा तेजस्वी रूप

पाठ-भेद—१. मकु तन होइ अनूप=सम्भव है उसका शरीर भी उसी चन्द्रमा के समान अनुपम हो जाय। २. भै=होकर, धारण कर।

धारण कर मेरे इस मुख को देख अपने-आप को भूल गया है। भाव यह है कि मैं अनिंद्य सुन्दरी हूँ, इसी कारण तू योगी होते हुए भी इस रूप पर मोहित हो अपने आप को भूल गया है।

टिप्पणी—अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(३२५)

अनु, धनि तू निसिअर निसि माहाँ। हौं दिनिअर जेहि कै तू छाहाँ॥
चाँदहि कहाँ जोति औ करा। सुरुज के जोति चाँद निरमरा॥
भौंर बास-चंपा नहिं लेई। मालति जहाँ तहाँ जिउ देई॥
तुम्ह हुँत भएउँ पतँग कै करा। सिंहलदीप आइ उड़ि परा॥
सेएउँ महादेव कर बारू। तजा अन्न, भा पवन अहारू॥
अस मैं प्रीति गाँठि हिय जोरी। कटै न काटे, छुटै न छोरी॥
सीतै भीखि रावनहिं दीन्हीं। तूँ असि निठुर अँतरपट कीन्हीं॥
रंग तुम्हारेहि रातेउँ, चढ़ेउँ गगन होइ सूर।
जहँ ससि सीतल तहँ तपौं, मन हींछा, धनि ! पूर॥१८॥

व्याख्या—पद्मावती की परिहासपूर्ण बातों को सुन राजा रत्नसेन उससे कहने लगा—

हे सुन्दरी ! अनुकूल हो। तुम रात्रि में चन्द्रमा के समान सुशोभित हो और मैं दिनकर (सूर्य) हूँ जिसकी कि तुम छाया हो। चन्द्रमा में अपनी ज्योति और कला कहाँ होती है। चन्द्रमा तो सूर्य की ज्योति से ही निर्मल अर्थात् प्रकाशवान बनता है। भ्रमर चम्पा की सुगन्धि को नहीं लेता। वह तो वहीं जाकर अपने प्राण देता है जहाँ मालती होती है। तुम्हारे लिए मैंने पतिंगे की कला सीखी, अर्थात् पतिंगे का रूप धारण किया और उड़कर यहाँ सिंहलद्वीप में आकर गिर पड़ा। यहाँ आकर मैंने महादेव के द्वार पर बैठ उनकी सेवा की और अन्न का भोजन करना त्याग केवल पवन को ही अपना आहार बनाया; अर्थात् प्राणायाम साध योग-साधना की। इस प्रकार मैंने अपने हृदय में तुम्हारे साथ प्रेम की गाँठ जोड़ी, जो अब न काटने से कट सकती है और न छुड़ाने से छूट ही सकती है। सीता ने तो रावण को भिक्षा दे दी थी परन्तु तुम ऐसी निष्ठुर हो कि अंचल की ओट में अपने को छिपाये हुए हो, अर्थात् मुझे अपने दर्शन की भीख तक नहीं देतीं।

मैं तो तुम्हारे ही प्रेम में अनुरक्त हूँ और सूर्य होकर आकाश मार्ग से चढ़ यहाँ तक आया हूँ परन्तु यह क्या विचित्र बात हो रही है कि जहाँ शीतलता प्रदान करने वाला चन्द्रमा हो, वहाँ भी मैं संतप्त हो रहा हूँ अर्थात् तुम्हारे लिए व्याकुल हो रहा हूँ। इसलिए हे सुन्दरी ! मेरे मन की इच्छा को पूर्ण करो, अर्थात् मुझे अपने सान्निध्य का सुख प्रदान करो।

टिप्पणी—'चढ़ेउँ गगन होइ सूर'—पंक्ति दो प्रकार के अर्थों को ध्वनित करती है। एक तो यह है कि रत्नसेन गढ़ के नीचे बनी सुरंग द्वारा सूर्य के समान धीरे-धीरे चढ़कर गढ़ के ऊपर पहुँचा। दूसरा अर्थ यह है कि उसमें योग-साधना द्वारा अधोमुखी कुण्डलिनी को जाग्रत कर ऊर्ध्वमुखी बना सहस्रार कमल तक पहुँचाया है, अर्थात् योग-साधना की पूर्णता प्राप्त कर अपने साध्य को पाया है।

(३२६)

जोगि भिखारि ! करसि बहु बाता। कहसि रंग, देखौं नहि राता॥
कापर रँगे रंग नहिं होई। उपजै औटि रंग भल सोई॥
चाँद के रंग सुरुज जब राता। देखैं लगत साँझ परभाता॥
दगधि विरह निति होइ अँगारा। ओही आँच धिकै संसारा॥
जो मजीठ औटै बहु आँचा। सो रँग जनम न डोलै राँचा॥
जरै बिरह जस दीपक-बाती। भीतर जरै, उपर होइ राती॥
जरि परास होइ कोइला-भेसू। तब फूलै राता होइ टेसू॥
पान, सुपारी, खैर जिमि, मेरइ करै चकचून।
तौ लगि रंग न राँचै, जौ लगि होइ न चून॥१९॥

व्याख्या—रत्नसेन की बातों को सुन पद्मावती उससे कहने लगी—हे भिखारी योगी ! तुम बहुत बातें करते हो। तुम रंग अर्थात् प्रेम की बातें करते हो; परन्तु मैं तुम्हें रँगा हुआ अर्थात् प्रेम में पूर्ण रूप से अनुरक्त नहीं देख रही हूँ। केवल कपड़े रंग लेने से ही रंग पक्का (प्रेम) नहीं होता। अच्छा या पक्का रंग तो वही होता है जो औटाकर कपड़े पर चढ़ाया जाता है, अर्थात् हृदय में विरह जनित सन्ताप सहने पर जो प्रेम पक्का होता है वही सच्चा होता है। जब सूर्य चन्द्रमा के प्रेम में अनुरक्त हो उसके विरह के कारण तप्त हो लाल हो जाता है, तभी उसका रूप प्रभात और सन्ध्या काल में संसार को लाल दिखाई पड़ता है। सूर्य चन्द्रमा के विरह में दग्ध होते रहने के कारण नित्य अँगारे के समान जलता रहता है और उसके उस ताप में ही सारा संसार तपता रहता है। जब मजीठ को खूब आँच जलाकर औटाया जाता है तो उसका जो रंग कपड़े पर चढ़ता है वह कभी रंचमात्र भी फीका नहीं पड़ता। (साहित्य में सच्चे प्रेम या राग को मंजिष्ठा-राग कहते हैं और मंजिष्ठा से ही उसकी उपमा देते हैं।) विरह में उसी प्रकार जला जाता है जिस प्रकार दीपक की बत्ती जलती है, जो भीतर ही भीतर जलती रहती है और ऊपर से लाल दिखाई पड़ती है। पलाश जलकर जब कोयले के समान काला हो जाता है, अर्थात् कोयला बन जाता है, तभी वह लाल होकर ठेसू के फूलों के रूप में फूलता है।

जिस प्रकार पान में सुपाड़ी और कत्था चूरा करके मिलाए जाते हैं परन्तु पान का रंग तब तक नहीं चढ़ता जब तक कि उसमें चूना नहीं लगाया जाता। कत्थे के साथ चूना मिलाने से ही पान का रंग चढ़ता है।

टिप्पणी— (१) अलंकार—उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा।

(२) 'जरि परास होइ कोइला-भेसू'—से तात्पर्य है कि जब पलाश का वृक्ष एक बार फूल चुकता है तो उसे छाँट कर जलाने के काम में लाया जाता है। छाँटने के उपरान्त उसमें नए सिरे से कोंपलें फूटती हैं और फिर समय आने पर फूल खिलने लगते हैं। यहाँ कवि की कल्पना यह है कि यदि पलाश छँटकर ईंधन बनकर न जले तो उसमें पुनः फूल नहीं आ सकते; अर्थात् पलाश जलने के उपरान्त ही फूलता है।

(३२७)

का, धनि ! पान-रंग का, चूना। जेहि तन नेह दाध तेहि दूना ॥
हौं तुम्ह नेह पियर भा पानू। पेड़ी हुँत सोनरास बखानू ॥
सुनि तुम्हार संसार बड़ौना। जोग लीन्ह, तन कीन्ह गड़ौना ॥
करहिं[1] जो किंगरी लेइ बैरागी। नौती[2] होइ बिरइ कै आगी ॥
फेरि फेरि तन कीन्ह भुँजौना। औटि रकत रंग हिरदय औना ॥
सूखि सोपारी भा मन मारा। सिरहिं सरौता करवत सारा ॥
हाड़ चून भा, बिरहँहि दहा। जानै सोइ जो दाध इमि सहा ॥
सोई जान वह पीरा[3], जेहि दुख ऐस सरीर।
रकत-पियासा होइ जो, का जानै पर पीर ॥२०॥

व्याख्या—जब पद्मावती ने रत्नसेन से पान, सुपाड़ी, चूना और कत्था की उपमा देते हुए उसे प्रेम में कच्चा बताया तो रत्नसेन पानों की विभिन्न किस्मों का वर्णन करते हुए अपने प्रेम और साधना का उल्लेख करने लगा—

हे सुन्दरी ! तुम पान और चूने की क्या बात करती हो ? जिस शरीर में प्रेम होता है उसमें दुगुनी दग्धता या अग्नि होती है। अर्थात् एक तो शरीर का ताप तथा दूसरा विरह का ताप। मैं तुम्हारे स्नेह में पान के समान पीला पड़ गया हूँ। मैं पेड़ी का पुराना पान था। तोते ने जाकर मुझसे सोनरास पान अर्थात् तुम्हारा वर्णन किया। (सोनरस या सुनरास पान की एक किस्म होती है।) तुम्हारी उस विश्वव्यावी प्रसिद्धि को सुन मैंने तुम्हें प्राप्त करने के लिए योग धारण किया और अपने शरीर को गड़ौना पान के समान विरह की अग्नि में पकाकर पक्का बना लिया। (गड़ौना पान को जमीन में गाड़ कर उसकी गर्मी से पकाया जाता है।) जो वैरागी अपने हाथ में किंगरी धारण कर लेता है वह विरह की अग्नि में तप कर नवजीवन प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार पानों को बार-बार फिरा-फिरा कर रखा जाता है और सड़ने से बचाया जाता है, उसी

पाठ-भेद— १. करभँज=ताँत की धुनही जिससे किंगरी बजाई जाती है।
२. नौती=पान की एक किस्म।
३. कै जानै सो बापुरा=या तो वह बेचारा ही इसे जान सकता है।

प्रकार मैंने अपने शरीर को बार-बार तुम्हारे विरह की आग में भूना है और अपने हृदय को अपने रक्त के रंग में औटाकर यहाँ लाया हूँ, अर्थात् तुम्हारे विरह के कारण मेरा रक्त गर्म होता रहा है और उसमें औट-औट कर मेरा हृदय तुम्हारे स्नेह के रंग में पूरी तरह से पक गया है। मैंने अपने मन को इतना मारा है, अर्थात् सांसारिक विषय-वासनाओं की इच्छा को इतना दबाया है कि मेरा मन सूख कर सुपाड़ी बन गया है। और साथ ही मैंने अपने सिर पर सरौंते के रूप में आरा चलवा कर उसे कटवाया है। (सुपाड़ी को सरौंते से काटा जाता है।) तुम्हारे विरह में जलकर मेरे हाड़ चूना बन गए हैं। इस दाह को वही जानता है जो इस प्रकार अर्थात् मेरे समान इसमें दग्ध हो चुका है।

विरह की पीड़ा को वही जान सकता है जिसने अपने शरीर पर ऐसे दुख सहे हों। परन्तु जो दूसरे के खून का प्यासा होता है वह पराई पीड़ा को क्या जान सकता है? भाव यह है कि तुम तो (पद्मावती) खून की प्यासी हो, क्योंकि तुम्हें दूसरों को जलाने में ही आनन्द आता है, इसलिए तुम मेरे द्वारा उठाए गए कष्टों की पीड़ा को क्या समझोगी?

टिप्पणी—(१) अलंकार—मुद्रालंकार। इसमें विभिन्न प्रकार के पानों का वर्णन किया गया है।

(२) यहाँ जायसी ने काव्य-कौशल द्वारा रत्नसेन के शरीर में ही पान, सुपाड़ी कत्था, चूना आदि सभी की उपस्थिति बता दी और अन्त में पद्मावती को खून की प्यासी कहकर इस बात का भी संकेत दे दिया कि उसे तो इस प्रकार के पान खाते रहने का अर्थात् अपने प्रेम में प्रेमियों को दग्ध करते रहने की आदत पड़ गई है। यहाँ पद्मावती के पान खाने से—लाल मुख को संकेत कर उसे खून की प्यासी कहा गया है। डा० गुप्त ने 'करभँज' और 'नौती'—दो प्रकार के अन्य पानों का भी उल्लेख किया है।

(३२८)

जोगिन्ह बहुत छंद, न ओराहीं। बूंद सेवाती जैस पराहीं॥
परहिं भूमि पर होइ कचूरू। परहिं कदलि पर होइ कपूरू॥
परहिं समुद्र खार जल ओही। परहिं सीप तौ मोती होहीं॥
परहिं मेरु पर अमृत होई। परहिं नागमुख विष होइ सोई॥
जोगी भौंर निठुर[1] ए दोऊ। केहि आपन भए? कहै जौ कोऊ॥
एक ठाँव ए थिर न रहाहीं। रस लेइ खेलि अनत कहुँ जाहीं॥
होइ गृही पुनि होई उदासी। अन्त काल दूवौ बिसवासी॥

पाठ-भेद—१. न थिर=अस्थिर, चंचल।

तेहि सौं नेह को दिढ़ करै ? रहहिं न एकौ देस ।
जोगी, भौंर, भिखारी, इन्ह सौं दूर अदेस ।।२१।।

शब्दार्थ—ओराहीं=चूकते हैं । छन्द=छल, चाल । कचूर=हल्दी की तरह का एक पौधा, कचूर । बिसवासी=विश्वासघाती । एकौ=एक ही । दूर अदेस=दूर से ही प्रणाम करना चाहिए ।

व्याख्या—रत्नसेन की प्रेम-साधना की बात सुन पद्मावती पुनः उसके योगी-रूप पर कटाक्ष करती हुई कहती है—

योगी लोग बड़े छलछन्दी अर्थात् धोखेबाज होते हैं और ये धोखा देने में कभी नहीं चूकते । ये इतनी तरह की चालें चलते हैं कि उनकी संख्या बताना कठिन है । जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र की बूँदें भिन्न-भिन्न स्थानों पर पड़ने पर अपना भिन्न-भिन्न प्रभाव दिखाती हैं, उसी प्रकार योगी भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की चालें चलते हैं, अतः इनका विश्वास नहीं किया जा सकता । जब स्वाति की बूँदें पृथ्वी पर पड़ती हैं तो कचूर नामक पौधे उत्पन्न होते हैं और वे ही जब केलों के पत्तों पर पड़ती हैं तो कपूर बन जाता है । समुद्र में गिरने पर उन्हीं के कारण जल खारा हो जाता है और सीप के मुख में पड़ती हैं तो मोती बन जाते हैं । पर्वतों पर इनके मुख से अमृत पैदा होता है और यही बूँदें जब साँप के मुख में गिरती हैं तो विष बन जाता है । योगी और भौंरे—दोनों ही निष्ठुर होते हैं । ये दोनों किसके अपने होते हैं ? कौन इन्हें अपना कह सकता है ? ये दोनों एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते । रस लेकर और खेल कर कहीं अन्यत्र चले जाते हैं । पहले गृहस्थ बनते हैं और फिर उदासी साधु बन जाते हैं, और अन्त में दोनों ही विश्वासघाती सिद्ध होते हैं ।

ऐसे इन योगियों से कौन प्रेम को दृढ़ करे, अर्थात् कौन सच्चा प्रेम करे ? ये लोग कभी एक स्थान पर जमकर नहीं रहते । योगी, भ्रमर और भिखारी—इन तीनों को तो दूर से ही प्रणाम कर लेना चाहिए, क्योंकि यह घूमते रहने वाले प्राणी हैं, इसलिए इनसे स्नेह नहीं बढ़ाना चाहिए ।

टिप्पणी—'होइ गृही पुनि होइ उदासी'—कहकर पद्मावती रत्नसेन के प्रति यह व्यंग्य कर रही है कि तुम्हारा क्या विश्वास किया जाय ? क्योंकि तुम पहले गृहस्थ थे, फिर योगी बन गए, और अब फिर गृहस्थ बनना चाहते हो । इस बात का क्या विश्वास कि तुम पुनः मुझे त्याग किसी अन्य के प्रेम में पड़ फिर योगी नहीं बन जाओगे ?

(३२९)

थल थल नग न होहिं जेहि जोती । जल जल सीप न उपनहिं मोती ।।
बन बन बिरछि न चंदन होई । तन तन बिरह न उपनै सोई ।।
जेहि उपना सो औटि मरि गयऊ । जनम निनार न कबहूँ भएऊ ।।
जल अंबुज, रबि रहै अकासा । जौं इन्ह प्रीति जानु एक पासा ।।

जोगी भौंर जो थिर न रहाहीं। जेहि खोजहिं तेहि पावहिं नाहीं ॥
मैं तोहि पायउँ आपन जीऊ। छाँड़ि सेवाति न आनहि पीऊ ॥
भौंर मालती मिलै जौं आई। सो तजि आन फूल कित जाई।
चंपा-प्रीति न भौंरहि, दिन दिन आगरि बास।
भौंर जो पावै मालती, मुएहु न छाँड़ै पास[1] ॥२२॥

व्याख्या रत्नसेन उत्तर देता हुआ कहता है—

ऐसे रत्न प्रत्येक स्थान पर नहीं मिलते जिनमें ज्योति अर्थात् चमक होती है, और न प्रत्येक जल में ऐसी सीपें पाई जाती हैं जिनमें मोती उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक वन में चन्दन के वृक्ष नहीं होते और न प्रत्येक शरीर में विरह ही उत्पन्न होता है। भाव यह है कि विरह का दाह झेलना हरेक के लिए सम्भव नहीं। इसे तो वही झेल सकता है जो सच्चा प्रेमी होता है, जिसमें कुछ विशेषता होती है। (इसलिए तुम्हारा योगी मात्र पर व्यंग्य करना अनुचित है।) यह विरह जिसके हृदय में उत्पन्न होता है वह इसके दाह में उबल-उबल कर मर जाता है, परन्तु जन्म भर उससे कभी अलग नहीं होता। कमल पृथ्वी पर जल में रहता है और सूर्य ऊपर आकाश में। इन दोनों में परस्पर प्रीति है तो इन दोनों को पास-पास ही समझो। भाव यह है कि स्थान की दूरी प्रेम की गहनता में अन्तर नहीं डाल सकती। यदि भ्रमर और योगी स्वभाव से स्थिर न होते तो जिसकी वे खोज करते हैं उसे कभी प्राप्त न कर पाते। भाव यह है कि स्वभाव की स्थिरता, अर्थात् दृढ़ता के कारण ही भ्रमर मालती के पुष्प को ढूँढ़ लेता है और योगी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। (अतः तुम्हारा यह कहना असंगत है कि योगी और भ्रमर अस्थिर स्वभाव के होते हैं।) मैने अपने प्राणों को तुम्हारे भीतर पाया है, थर्थात् मेरे प्राण अब मेरे न रहकर तुम्हारे ही बन गए हैं. इस-लिए अब मैं तुम रूपी स्वाति नक्षत्र के जल के अतिरिक्त अन्य किसी भी जल का पान नहीं करूँगा, अर्थात् आजन्म तुम्हारा ही बनकर रहूँगा। जब भ्रमर आकर मालती से मिल जाता है तो फिर उसे त्याग किसी दूसरे फूल के पास क्यों जाने लगा, क्योंकि वह तो सच्चा प्रेम केवल मालती के पुष्प से ही करता है।

चम्पा के फूल में भले ही दिन-दिन सुगन्धि की वृद्धि होती रहे परन्तु भ्रमर उससे प्रेम नहीं करता इसलिए वह उसके लिए व्यर्थ है। इसी प्रकार भले ही कोई अन्य नारी तुमसे अधिक सुन्दरी हो परन्तु वह मेरे लिए कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि मैं केवल तुमसे ही प्रेम करता हूँ। यदि भ्रमर को मालती मिल जाती है तो वह मरने पर भी उसका साथ नहीं छोड़ता। इसी प्रकार यदि तुम मुझे प्राप्त हो जाओगी तो मैं मरने पर भी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ूँगा।

पाठ-भेद—१. चंपा प्रीति जु पै लहै दिन दिन आगरि बास।
गरि गुरि आपु हेराइ जौं मुएहुँ न छाड़ै पास ॥

टिप्पणी—'थल-थल नग' जैसे भाव को व्यक्त करने वाला संस्कृत का एक श्लोक इस प्रकार है—

'शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।''

जायसी ने सम्भवतः इसी श्लोक का अनुवाद सा कर दिया है।

(३३०)

ऐसे राजकुँवर नहीं मानौं। खेलु सारि पाँसा तब जानौं॥
काँचे बारह परा जो पाँसा। पाके पैंत परी तनु रासा[1]॥
रहै न आठ अठारह भाखा। सोरह सतरस रहैं त राखा॥
सत जो धरैं सो खेलनहारा। ढारि इगारह जाइ न मारा॥
तूँ लीन्हे आछसि मन दूबा। ओ जुग सारि चहसि पुनि छूवा॥
हौं नव नेह रचौं तोहि पाहाँ। दसवँ दाँव तोरे हिय माँहा॥
तौं चौंपर खेलौं करि हिया। जो तरहेल होइ सौतिया॥
जेहि मिलि बिछुरन औ तपनि, अंत होइ जौं निंत।
तेहि मिलि गंजन को सहै? बरु बिनु मिलै निचिंत॥२३॥

शब्दार्थ—सारि पाँसा=गोट और पाँसा अर्थात् चौपड़। पैंत=दाँव। रासा=ठीक। आठ अठारह=आठ को अठारह बताना अर्थात् झूठ बोलना। सत=सात, सत्य। ढारि=चलकर। इगारह=ग्यारह, दस इन्द्रियाँ और एक मन। दूवा=एक दाँव, दुविधा। जुग सारि=दो गोटियाँ, दो कुच। छूवा=स्पर्श करना। दसवँ दाँव=दसवाँ दाँव, अन्त तक पहुँचाने वाली चाल। तरहेल=अधीन, नीचे पड़ा हुआ। सौतिया=तिया अक दाँव, सपत्नी। गंजन=नाश, दुख।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस पद के तीन प्रकार के अर्थ किए हैं—चौपड़परक, अध्यात्मपरक और प्रेमपरक अर्थात् कामक्रीड़ापरक। इस पद में आये कुछ विशिष्ट शब्दों के इन तीनों प्रकार के अर्थ हम नीचे दे रहे हैं जिनका क्रम इस प्रकार रहेगा--१—चौपड़परक अर्थ, २—प्रेमपरक अथवा काम-क्रीड़ा-परक अर्थ, ३—अध्यात्म या योग-परक अर्थ।

सारि=१—गोट, २—चित्रशाला (चित्तरसारी), ३—सार, तत्त्व, सत (फारसी लिपि में 'सारि' का 'सार' पढ़ा जाता है)।

पाँसा=१—पाँसा अर्थात् चौपड़ का खेल, २—पास, साथ, ३—पाँस या खाद की भाँति निस्सार। काँचे बारह परा=१—बारह का एक दाँव जिसमें एक गोट केवल बारह घर चलती है और दो छह-छह घर, २—काम-क्रीड़ा में कच्चा, ढार-

पाठ-भेद—१—कच्चे बारह बार फिरासी। पक्कै तौ फिरि थिर न रहासी।

द्वार घूमने वाला, ३—योगमार्ग में कच्चा, द्वार-द्वार अर्थात् भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भटकता फिरता है।

पाके=१—पौ बारह का दाँव, २—काम-क्रीड़ा में परिपक्व, ३—साधना-मार्ग में अनुभवी।

आठ अठारह=१—चौपड़ के खेल में आठ का दाँव पड़ने पर झूठ बोल उसे अठारह बता देते हैं, २—आठ और अठारह वर्ष की अवस्था, ३—आठ-चक्र या अष्टांग योग-साधन तथा संसार की अठारह चिन्ताएँ।

सोरह=१—सोलह का दाँव, २—सोलह शृंगार, ३—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ तथा एक मन।

सतरस=१—सत्रह का दाँव, २—सत अर्थात् उद्दीपन का रस, ३—सत्य की रक्षा।

सत=१—सात का दाँव, २—सात प्रकार के आलिंगन (वक्षारूढ़, लतावेष्टित जघनोपरिगूढ़, तिलतंडुल, क्षीण, नीवला), ३—सत्य बल।

इगारह=१—ग्यारह का दाँव, २—दस इन्द्रियाँ और एक मन।

दुवा=१—दो का दाँव, २—दुविधा या दूसरी स्त्री, ३—द्वैतभाव।

जुगसरि=१—दो गोटें जिन्हें 'जुग' कहते हैं अर्थात् जोड़ा, २—दो कुच, ३—मन और वीर्य का वश में करना।

नव नेह=१—नौ का दाँव, २—नवोढ़ा का स्नेह, ३—नवचक्रों का प्रेम।

दसवँ दाँव=१—दस का दाँव, २—पाँच प्रकार के नखक्षत (अर्धचन्द्र मंडल, मयूरपद, दशप्लुत, उत्पन्न, पत्र) तथा पाँच प्रकार के दन्तक्षत (तिलक, प्रवाल, विन्दुक, खंडाभ्रु, कोल), ३—दस इन्द्रिय द्वार।

चौपर=१—चौपड़, २—चार प्रकार की सुरति (पद्मासन, नागकरेणु, विदारित, स्कंधपाद), ३—चतुष्पट, चारों किवाड़ खुले हुए, बिल्कुल फक्कड़ बनकर खेलो, अर्थात् योग के पथ पर चलो।

तरहेल=१—तीन बाजी, २—तीन प्रकार की केशाकर्षण क्रिया (समदस्त, भुजंगवलि, कामावतंस) ३—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की साधना।

सौतिया=१—तीन का दाँव, २—सपत्नी, ३=त्रिक साधना।

मिलि बिछुरन=१—जोड़ा बाँधना और जोड़ा फूटना, २—मिलन और वियोग, ३—अध्यात्म मिलन और वियोग।

अब हम एक-एक कर इस पद के तीनों प्रकार के अर्थ करने का प्रयत्न करेंगे, जो इस प्रकार हैं—

१—चौपड़परक अर्थ

पद्मावती राजा रत्नसेन से कहने लगी कि हे राजकुमार ! मैं इस प्रकार तुम्हारी बात मानने वाली नहीं। मैं तो तब जानूँ जब तुम मेरे साथ बैठकर चौपड़

खेलो। यदि कच्चे बारह का दाँव पड़ेगा तो तुम केवल बारह घर चल सकोगे। और यदि पक्के बारह का दाँव पड़े तो ठीक रहेगा। तुम खेलते समय बेईमानी मत करना, अर्थात् आठ पड़ने पर अठारह बताकर झूठ मत बोलना। यदि सोलह और सत्रह का दाँव पड़े तो अच्छा रहेगा, क्योंकि फिर तुम बेईमानी नहीं कर सकोगे। जो सात का दाँव चलता है, वह खिलाड़ी हार जाता है। (चौपड़ के खेल में सात का दाँव अशुभ माना जाता है, कहा भी है—'हारी बाजी जानिए परै पाँच दो सात'।) यदि तुम ग्यारह का दाँव डालोगे तो तुम्हारी गोट नहीं पिट सकेगी (ग्यारह का दाँव पड़ने पर जुड़वाँ गोटें एक साथ चलती हैं और जुड़वाँ रहने पर पिट नहीं सकतीं।) परन्तु यदि मन में अधिक अभिलाषा रखते हुए भी तुम केवल दुआ अर्थात् दो का दाँव डालोगे और फिर दोनों जुड़वाँ गोटों को एक साथ चलोगे तो यह सम्भव नहीं हो सकेगा। मैं तो चाहती हूँ कि तुम नौ का दाँव डालो, परन्तु तुम दस का दाँव डालने के लिए ही उत्सुक प्रतीत होते हो। यदि तुम मेरी इन बातों को स्वीकार कर लो तो हृदय में साहस कर मेरे साथ चौपड़ खेलो। जो तीन बाजी खेलेगा वही तिया अर्थात् तीन-तीन का दाँव लगाने वाला अर्थात् विजयी होगा। भाव यह है कि जो हारने पर भी हिम्मत न हारकर तीन बाजी तक खेलता रहेगा उसके पक्ष में कभी-न-कभी तिया अर्थात् तीन का दाँव अवश्य पड़ेगा और वह जीत जायेगा।

खिलाड़ी जब अपनी दो गोटों का जोड़ा बना लेता है और जब वह जोड़ा फूट जाता है तो उसे बड़ी वेदना होती है। वह अन्त तक उसी का दुख मनाता रहता है। जोड़ा फूट जाये—इससे तो अच्छा यह है कि जोड़ा बाँधा ही न जाय और फिर प्रत्येक गोट निश्चित होकर चलती रहे।

२—प्रेमपरक अथवा कामक्रीड़ापरक अर्थ

पद्मावती ने कहा कि हे राजकुमार ! मैं इस प्रकार तुम्हारी बात नहीं मानूँगी। चित्तरसारी में जब मेरे साथ क्रीड़ा करो, तब जानूँगी, अर्थात् मेरे साथ काम-क्रीड़ा करने पर ही मैं यह जानूँगी कि तुम में शक्ति है अथवा तुम खाद के समान निस्सार हो। यदि तुम काम-क्रीड़ा में या अपने प्रेम में कच्चे होगे तो द्वार पर ही चक्कर काटते रहोगे, अर्थात् मेरे शयन कक्ष में प्रवेश न कर सकोगे। परन्तु यदि तुम काम-कला में पक्के अर्थात् प्रवीण होगे तो मेरे मन के अनुकूल बन सकोगे। आठ नहीं रहते तुम अठारह की बात करते हो अर्थात् खूब डींग हाँक रहे हो। सोलह शृंगार के सामने कौन सत से रह सकता है, अर्थात् ऐसा कौन है जो सोलह शृंगार से शोभित कामिनी को देख विचलित न हो जाय। वही विचलित नहीं होता जिसकी भगवान रक्षा करता है, अर्थात् पूर्ण योगी ही विचलित नहीं होता। अथवा सोलह सुरतों के सम्मुख जिसके सोलहों अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ और एक प्राण विचलित न हों वही अपनी रक्षा कर सकता है। जिसका सत या वीर्य सात प्रकार के आलिंगनों में स्खलित होता है वही काम-क्रीड़ा का सच्चा खिलाड़ी होता है। जब तुम दसों इन्द्रियों तथा एक मन, इन ग्यारह को काम-क्रीड़ा में ढालोगे तो मृत्यु को

कभी प्राप्त नहीं हो सकोगे, अर्थात् यदि तुम सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ काम-क्रीड़ा करोगे तो अमर हो जाओगे। यदि तुम्हारे मन में कोई दुविधा है, अर्थात् यदि तुम किसी अन्य स्त्री के प्रेम के कारण मेरे साथ खेलने में संकोच करोगे तो गोटों के जोड़े के समान मेरे इन स्तनों का स्पर्श नहीं कर पाओगे। मैं तो तुम्हारे साथ नवीन प्रेम रचाती हूँ, पर तुम्हारे मन में दसवाँ दाँव है—अर्थात् तुम अन्त तक निकल जाने वाली चाल चलना चाहते हो। मैं तुम्हारे साथ हृदय से चौपड़ तभी खेलूँगी, जब मेरी सौत मेरे अधीन हो जायगी या मैं मन लगा कर तुम्हारे साथ चार प्रकार की सुरति-केलि खेलूँगी, क्योंकि जो तीन प्रकार की केशाकर्षण रूप-क्रीड़ा में पूरी उतरती है, वही सच्ची स्त्री है। जिस प्रिय के साथ मिलन होने के उपरान्त वियोग और उसका दाह झेलना पड़ता है, उससे मिलकर कौन दुख उठाये ? इससे तो अच्छा यही है कि उससे बिना मिले ही निश्चिन्त होकर रहा जाय।

३—अध्यात्म या योगपरक अर्थ

पद्मावती ने कहा कि राजकुमार ! मैं इस प्रकार तुम्हारी बात नहीं मानने की। यदि तुम खुल कर अर्थात् निर्द्वन्द्व होकर योग-मार्ग का अनुसरण करो तभी मैं यह जान सकूँगी कि तुम में कुछ सार है या तुम निस्सार हो। यदि तुम अपनी साधना में कच्चे रहोगे तो द्वार-द्वार भटकते फिरोगे, और यदि पक्के होगे तो ठीक तरह से चलते जाओगे। तुम अष्टांग योग या अष्ट चक्रों में मन नहीं लगाते, अठारह प्रकार के धन्धों की चिन्ता करते रहते हो, अर्थात् दुनियादारी में फँसे रहते हो। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ तथा एक मन—इन सोलह में सत वही रख सकता है जो उनकी रक्षा करता रहता है। जो इनमें अपने सत से विचलित होता है वह अपनी योग-साधना में हार जाता है अर्थात् उसकी योग-साधना नष्ट हो जाती है। यदि योगी दस इन्द्रियाँ तथा एक मन—इन ग्यारहों को साथ लेता है तो फिर उसे मृत्यु का दुख नहीं उठाना पड़ता, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। अभी तुम्हारे मन में द्वैत भाव विद्यमान है; फिर भी तुम दो सार वस्तुओं—मन और वीर्य को अपने वश में करना चाहते हो। ये दोनों तो अद्वैत भाव आने पर ही वश में होते हैं। मैं तुम्हारे हृदय में नव चक्रों के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहती हूँ परन्तु तुम्हारे मन में दसों इन्द्रिय द्वारों के लिए आसक्ति भरी हुई है। इसलिए तुम एक बार फिर साहस करके पूरे फक्कड़ बन योग-साधना के मार्ग पर अग्रसर हो। वही साधक त्रिक-साधना कर सकता है जो इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीनों नाड़ियों की साधना में पूरा उतरता है। योग-मार्ग की सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् उससे भ्रष्ट होने पर महान् कष्ट उठाना पड़ता है और साधक सदैव उस कष्ट से दग्ध होता रहता है। इसलिए ऐसे कष्ट में कौन पड़े ? इससे अच्छा तो यह है कि इस संकट में न पड़ सदैव निश्चिन्त बना रहे।

(३३१)

बोलो रानी ! बचन सुनु साँचा । पुरुष क बोल सपत औ बाचा ।।
यह मन लाएउ तोहिं अस, नारी । दिन तुइ पासा औ निसि सारी ।।
पौ परि बारहि बार मनाएउ । सिर सो खेलि पैंत जिउ लाएउ ।।
हौं अब चौक पंज तें बाची । तुम्ह बिच गोट न आवहि काची[1] ।।
पाकि उठाएउ आस करीता । हौं जिउ तोहि हारा, तुइँ जीता ।।
मिलि कै जुग नहिं होहु निनारी । कहा बीच दूती देनिहारी ? ।।
अब जिउ जनम जनमतोहिपासा । चढ़ेउँ जोग, आएउँ कबिलासा ।।

जाकर जीउ बसै जेहि, तेहि पुनि ताकर टेक ।
कनक सोहाग न बिछुरै, औटि मिलै होइ एक ।।२४।।

शब्दार्थ—डा० अग्रवाल ने इस पद के भी पिछले पद के समान तीन प्रकार के अर्थ किए हैं—

१—चौपड़-परक अर्थ, २—काम अथवा प्रेम-परक अर्थ, तथा ३—अध्यात्म-परक या योग-परक अर्थ ।

इस पद में आए कई शब्दों के तीन-तीन प्रकार के अर्थ निकलते हैं जो उपर्युक्त क्रम के अनुसार क्रमशः इस प्रकार हैं—

पुरुष=१—पुरुष, २—परुष, ३—आत्म पुरुष ।

सपत=१ शपथ, २ - पतियुक्त या पति के साथ सहवास करने वाली, ३—प्रतिष्ठा युक्त ।

बाचा=१—वचन, २—विवाह में पति के साथ वचनबद्ध होने वाली, ३—बची ।

पासा=१—पाँसा, २—पास, ३—सान्निध्य ।

नारी=१—बाला, २—स्त्री, ३—सुषुम्ना नाड़ी ।

सारी=१—गोट, २—कुच, ३—सारा, सम्पूर्ण ।

पौ परि बारहि बार=१- पौ बारह पड़ना, २—पैरों पर बार-बार पड़ कर, ३—पौ=उजाला, बारहिबार=बारम्बार ।

सिर सौं खेलि=१—खेल का प्रारम्भ, २—केशाकर्षण, चुम्बन, दशन-विन्यास, नख-विन्यास—ये चार क्रीड़ाएँ ऊर्ध्व भाग में होती हैं । ३—सिर देकर ।

पैंत=१—दाँव, २ - पादान्त, अधोभाग, ३—गुरु चरण ।

पाकि=१ पकी हुई गोटें, २—परिपक्व अवस्था, ३—एक बार मन सिद्ध हो जाने पर भी पकड़े जाने का (योग भ्रष्ट हो जाने का) भय ।

जिउ तोहिं=१—जीतने पर भी, २—भोग-विलास में जीत करके भी हार

पाठ-भेद—१. मारि सारि सहि हौं अस राँचा । तेहि बिच कोठा बोल न बाँचा ।।

जाना, ३—प्राण-शुक्र के जीत लेने पर भी मन की एकाग्रता के बिना योगी हार जाता है ।

जुग=१—एक रंग की गोटों का जोड़ा, २—जोड़ा, ३—इड़ा-पिंगला का जोड़ा ।

दूती=१—दूआ और तीया के दाँव, २—द्वैत भाव, विलगाव, ३—द्वैत भाव ।

जोग=१—चौपड़ का जोड़ा, २—जोड़ा, ३—योग ।

कनक=१—सोना, २—स्वर्ण अर्थात् पद्मावती ३—सुवर्ण, सुन्दर वर्ण वाला ओज ।

सोहागा=१—सोहगा, २—सुहागा, सौभाग्य, ३—शुक्र, वीर्य ।

औटि=१—औट कर, तप कर, २—अभिलाषा करके, ३—झूम कर, आवर्तित होकर ।

अब हम इन्हीं अर्थों के अनुसार इस पद की उपर्युक्त तीनों प्रकार से व्याख्या करने का प्रयत्न करेंगे जो क्रमशः इस प्रकार है—

१—चौपड़-परक अर्थ

राजा रत्नसेन पद्मावती की चौपड़ खेलने की बात सुनकर कहने लगा कि—हे रानी ! तुम मेरे सत्य वचनों को सुनो । पुरुष के मुख से कहे गए बचन ही शपथ और प्रतिज्ञा के बराबर होते हैं । हे स्त्री ! यह मन तुम में ऐसा अनुरक्त हुआ है कि मैं दिन-भर तुम्हारे साथ पाँसा फेंकता रहूँ और रात भर गोटी चलता रहूँ । मैं यह मानता हूँ कि बराबर मेरे पौ-बारह के दाँव पड़ते रहें और मैं खेल को सिरे से प्रारम्भ कर अन्त तक मन लगाकर दाँव चलता रहूँ । मैं अब चौका-पंजा अर्थात् छल-कपट से बचना चाहता हूँ, अर्थात् बेईमानी नहीं करना चाहता । अब मेरे और तुम्हारे बीच कच्ची गोटें नहीं चली जायेंगी अर्थात् हम दोनों केवल पक्की गोटों से ही खेलेंगे । कुछ गोटों के पक्की हो जाने पर भी मैं यह आशा कर आगे दाँव चलता हूँ कि मेरी और गोटें पक्की हो जायें । यदि दाँव ठीक न पड़ा तो मैं जीतते हुए भी तुमसे हार जाऊँगा । गोटों का जोड़ा मिलकर कभी अलग न हो । यदि दुआ-तिया के दाँव पड़ें तो इस जोड़े में कैसे अन्तर पड़ सकता है अर्थात् जोड़े की गोटें कभी अलग नहीं हो सकतीं । अब तो मेरा मन जन्म-जन्मान्तर तक तुम्हारे साथ पाँसा खेलने को लालायित है । मैंने कैलास (अन्तिम कोठा) में पहुँच कर अपना जोड़ा बाँध लिया है । जिसका मन जिसमें बसता है, उसे उसी का सहारा होता है । सोना और सोहागा औटकर एक हो जायँ तो फिर अलग नहीं हो सकते ।

(यहाँ दोहे का स्पष्ट चौपड़-परक अर्थ नहीं बैठता)

२—काम अथवा प्रेम-परक अर्थ

हे रानी ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, तुम सुनो । पुरुष के कह देने मात्र से या स्वीकार कर लेने मात्र से ही स्त्री पतिवती अर्थात् पति वाली और विवाह में उसके

साथ वचनबद्ध होती है । यह मन तुम में ऐसा अनुरक्त हुआ है कि मैं सारे दिन और सारी रात तुम्हारे ही पास बना रहना चाहता हूँ । मैं तुम्हारे पैरों पड़कर बारम्बार तुम्हें मनाता हूँ । मैंने सिर से खेल कर अर्थात् अपने सिर को दाँव पर लगाकर तुमसे प्रेम किया है । या मैं सिर से खेल कर (चुम्बनादि केलि करके) रति-क्रीड़ा के लिए पैरों पड़ता हूँ, प्रार्थना करता हूँ । मैं अब चौका-पंजा अर्थात् छल-कपट को छोड़ चुका हूँ । अब मेरे और तुम्हारे बीच कच्ची गोट नहीं पड़ सकती, अर्थात् मैं तुम्हें कभी धोखा नहीं दे सकता । मैं तुम्हारे लिए कितनी आशायें करता था, आज सौभाग्य से मेरी गोट पक्की हो गई है अर्थात् मेरी तुमसे मिलने की अभिलाषा पूरी हो गई है । मैंने अपने प्राणों को तुम्हारे सम्मुख समर्पित कर दिया है; अर्थात् मैं हार गया हूँ और तुम जीत गई हो । अब मेरा और तुम्हारा जोड़ा मिलकर कभी पृथक् नहीं होगा । अब मेरे और तुम्हारे बीच मध्यस्थता करने वाली दूती की क्या आवश्यकता रही है । अब मेरे प्राण जन्म-जन्मान्तर तक तुम्हारे ही पास रहेंगे । मैं तुम्हारे साथ योग मिलाने के लिए ही यहाँ कैलास (राजभवन) में आया था ।

जिसका मन जिसके पास रहता है उसे उसी का सहारा रहता है; अर्थात् मुझे तो अब केवल तुम्हारा ही सहारा रह गया है । अब कंचन (पद्मावती) अपने सौभाग्य (रत्नसेन) से वियुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही विरह की अग्नि में तप्त होकर आपस में मिले हैं ।

३—अध्यात्म अथवा योग-परक अर्थ

हे रानी ! मैं सत्य बात कहता हूँ । मेरी बात सुनो । सुषुम्ना नाड़ी को आत्म-पुरुष के साथ नाद में लीन होने से ही प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और वह बच सकती है । यह मन तुम में ऐसा लगा हुआ है कि दिन-रात मैं तुम्हारा स्मरण करता रहता हूँ । मैं बराबर यहीं मनाता रहता हूँ कि मेरे भीतर कुछ (ज्ञान का) प्रकाश हो । मैं योगसाधना में अपने सिर की बाजी लगाकर गुरु-चरणों में रत रहता हूँ । अब मैं संसार के छल-छन्दों से बच गया हूँ । अब तुम्हारे और मेरे बीच किसी प्रकार की भी कचाई अर्थात् निर्बलता नहीं आ पायेगी । वायु और विन्दु के सिद्ध होने पर भी मन के एकाग्र न होने के कारण मैं विषयों की आशा करता हूँ । मैं योग-मार्ग पर चलकर भी अर्थात् प्राण और शुक्र को अपने वश में कर लेने पर भी हारा हुआ ही रहा । अपने मार्ग में रह कर तुम ही जीत गईं । हे सुषुम्ना नाड़ी ! तुमसे मिलकर मैं अलग नहीं हूँगा । अब दोनों को कौन पृथक् कर सकता है । अब मेरा प्राण मृत्यु-पर्यन्त तुम में ही लगा रहेगा । मैंने योग धारण किया, और अब मैं कैलास पर (शिव के सान्निध्य में) आ गया हूँ ।

जिसका मन जिसके पास रहता है, उसको उसी का सहारा रहता है । ब्रह्मांड-स्थित ओज और विन्दु यदि ऊर्ध्व पातन से एक हो गए हों, तो वियुक्त नहीं होते ।

टिप्पणी—(१) हमने डा० अग्रवाल के अनुसार इस पद के तीन प्रकार के अर्थ

करने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इन अर्थों के करने में कितनी खींच-तान करनी पड़ती है। ऐसे अर्थ करते समय भयंकर मानसिक श्रम करना पड़ता है और उससे सम्भवत: पद का मूल अर्थात् कवि द्वारा अभिप्रेत अर्थ अपना मूल सौन्दर्य खो बैठता है। वैसे जायसी को इस प्रकार का काव्य-कौशल दिखाना अत्यन्त प्रिय है। उनके ऐसे पद दृष्टकूट पदों जैसा क्लिष्ट रूप धारण कर अपना सहज-स्वाभाविक व्याख्यात्मक सौन्दर्य खो बैठते हैं।

(२) इस पद में चौपड़ के खेल में प्रयुक्त होने वाले अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, इसलिए इसमें 'मुद्रालंकार' मानना चाहिए।

(३३२)

बिहँसी धनि सुनि कै सत बाता। निहचय तू मोरे रँग राता॥
निहचय भौंर कँवल-रस रसा। जो जेहि मन सो तेहि मन बसा॥
जब हीरामन भयउ संदेसी। तुम्ह हुँत मँडप गएउँ, परदेसी॥
तोर रूप तस देखेउँ लोना। जनु, जोगी! तू मेलेसि टोना॥
सिधि-गुटिका जो दिस्टि कमाई। पारहि मेलि रूप बैसाई॥
भुगुति देइ कहँ मैं तोहि दीठा। कँवल-नैन होइ भौंर बईठा॥
नैन पुहुप, तू अलि भा सोभी। रहा भेधि अस, उड़ा न लोभी॥
जाकरि आस होइ जेहि, तेहि पुनि ताकर आस।
भौंर जो दाधा कँवल कहँ, कस न पाव सो बास॥२५॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन की उन सत्य बातों को सुन सुन्दरी पद्मावती प्रसन्न होकर हँसी और उससे कहने लगी कि निश्चित रूप से तुम मेरे प्रेम में रँगे हुए हो। भ्रमर निश्चय ही कमल का रस पाने में अनुरक्त हुआ है। जो मन में जिसके प्रति अनुरक्त होता है, वह उसी के मन में बसता है। जब हीरामन तुम्हारा सन्देशवाहक बनकर मेरे पास आया था तो हे परदेशी! मैं तुम्हारे ही लिए अर्थात् तुम्हारे ही दर्शन करने के लिए महादेव के मंडप में गई थी। वहाँ पहुँच कर मैंने तुम्हारे रूप को वैसा ही सलोना पाया जैसा कि हीरामन ने वर्णन किया था। हे योगी! तुम्हारे उस रूप को देखकर मैं ऐसी अवश हो उठी मानो तुमने मुझ पर जादू कर दिया हो। तुमने साधना करके सिद्धि-गुटिका प्राप्त कर जो दृष्टि प्राप्त की है उसने तुम्हारे रूप को मेरे हृदय में लाकर उसी प्रकार आसीन करा दिया जिस प्रकार रसायन शास्त्री पारे में चाँदी को मिलाकर उसे जमा देते हैं। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि अपनी सिद्धि गुटिका के प्रभाव से तुमने मेरी दृष्टि को अपने वश में कर लिया और फिर उस पारे में अपना रूप मिलाकर इसकी द्रुति करके मेरे नेत्रों द्वारा तुमने उस रूप को मेरे हृदय में प्रविष्ट करा दिया। भिक्षा देने के लिए मैंने तुम्हारी तरफ देखा परन्तु तुम मेरे कमल नेत्रों में भौंरा होकर अर्थात् पुतली के समान आकर बैठ गए। मेरे नेत्र पुष्प के

समान थे। उनमें तुम भ्रमर के समान आकर सुशोभित हो गए। हे रस लोभी ! तुम मेरे उन नेत्रों में बिंध कर वहीं बैठे रह गए, उड़ कर कहीं अन्यत्र न जा सके। भाव यह है कि तुम्हारी छवि मेरे नेत्रों में सदैव के लिए उसी प्रकार समा गई जिस प्रकार भ्रमर फूल के काँटे में बिंध कर वहीं बैठा रह जाता है।

जिसको जिसकी आशा होती है, दूसरा भी उसकी उसी प्रकार आशा करने लगता है, अर्थात् प्रेम एकपक्षीय न रहकर उभयपक्षी बन जाता है। जो भ्रमर कमल के लिए इतना दग्ध होता रहता है तो वह उसकी सुगन्धि क्यों न प्राप्त कर सकेगा। भाव यह है कि तुमने मुझे प्राप्त करने के लिए इतने कष्ट झेले हैं तो तुम मुझे अवश्य प्राप्त करोगे।

(३३३)

कौन मोहनी दहुँ हुति तोही। जो तेहिं बिधा सो उपनी मोही ॥
बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातक भएउँ कहत "पीउ पीऊ" ॥
जरिउँ बिरह जस दीपक-बाती। पंथ जोहत भइ सीप सेवाती ॥
डाढ़ि-डाढ़ि[1] जिमि कोइल भई। भइउँ चकोरि, नींद निसि गई ॥
तोरे पेम पेम मोहिं भएऊ। राता हेम अगिनि जिमि तएऊ ॥
हीरा दिपै जौ सूर उदोती। नाहिं त कित पाहन कहुँ जोती ॥
रवि परगासे कँवल बिगासा। नाहिं त कित मधुकर, कित बासा ॥
तासौं कौन अँतरपट, जो अस पीतम पीउ।
नेवछावरि अब सारौं[2]—तन, मन, जोवन, जीउ ॥२६॥

व्याख्या—पद्मावती राजा रत्नसेन से आगे कहने लगी कि न मालूम तुम्हारे पास ऐसा कौन-सा जादू था कि तुम्हारे हृदय की व्यथा अर्थात् विरह की व्यथा मेरे हृदय में उत्पन्न हो गयी। भाव यह है कि जिस प्रकार तुम मेरे विरह में व्यथित हो रहे थे, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे विरह में व्यथित हो उठी। मेरे प्राण तुम्हारे लिए उसी प्रकार व्याकुल होने लगे जैसे मछली जल से बिछुड़ कर उसके लिए व्याकुल होने लगती है। मैं 'प्रियतम-प्रियतम' का नाम रटते हुए चातक के समान बन गई अर्थात् रात-दिन तुम्हारा ही नाम रटने लगी। मैं तुम्हारे विरह में उसी प्रकार दग्ध होती रही जिस प्रकार दीपक की बत्ती जलती रहती है। सीप जैसे स्वाति नक्षत्र के जल की प्रतीक्षा किया करती है, उसी प्रकार मैं रात-दिन तुम्हारी बाट देखने लगी। तुम्हारे विरह में निरन्तर दग्ध होते रहने के कारण मैं कोयल के समान काली पड़ गई। रात्रि में जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा की ओर टक-टकी लगाए रहता है, उसी प्रकार मैं रात-रात भर तुम्हारे दर्शनों की अभिलाषा में जागती रही और मेरी रात की नींद जाती रही। तुम्हारे प्रेम के कारण ही मेरे हृदय में भी प्रेम की भावना उत्पन्न हुई, जिससे मैं तुम्हारे विरह में तप कर तुम्हारे प्रेम में उसी प्रकार लाल

पाठ-भेद—१. डारि-डारि=डाल-डाल पर फिरने वाली। २. कै आकौं=अर्पण करूँ।

(अनुरक्त) हो उठी, जिस प्रकार स्वर्ण को अग्नि में तपाने से वह लाल हो जाता है। हीरा तभी चमकता है जब सूर्य उदय होता है, नहीं तो उस पत्थर में इतनी चमक कहाँ से आती। भाव यह है कि जिस प्रकार सूर्य की किरणें पड़ने से हीरा जैसा पत्थर चमकने लगता है, उसी प्रकार मेरे प्रति तुम्हारे प्रेम के कारण मैं भी तुम्हारे प्रेम में पड़ कर उज्ज्वल हो उठी। सूर्य के उदय होने पर ही कमल विकसित होता है। यदि सूर्य उदय न होता तो न तो कमल खिलता, न उसमें सुगन्धि उत्पन्न होती और न फिर भ्रमर ही उसके पास आता।

जो प्रियतम ऐसा प्रिय पति है, उससे अब परदा कैसा? अब तो मैं तुम्हारे ऊपर अपना तन-मन, यौवन, प्राण आदि सब कुछ न्यौछावर कर दूँगी।

(३३४)

हँसि पदमावति मानी बाता। निहचय तू मोरे रँग राता॥
तू राजा दुहुँ कुल उजियारा। अस कै चरिचिउँ मरम तुम्हारा॥
पै तूँ जंबूदीप बसेरा। किमि जानेसि कस सिंघल मोरा?॥
किमि जानेसि सो मानसर केवा। सुनि सो भौंर भा, जिउ पर छेवा॥
ना तुँह सुनी, न कबहूँ दीठी। कैस चित्र होइ चितहि पईठी?॥
जौं लहि अगिनि करै नहिं भेदू। तौ लहि औटि चुवै नहिं मेदू॥
कहँ संकर तोहि ऐस लखावा?। मिला अलख अस पेम चखावा॥
जेहि कर सत्य सँघाती, तेहि कर डर सोइ मेट।
सो सत कहुँ कैस भा, दुवौ भाँति जो भेंट॥२७॥

शब्दार्थ—चरिचिऊँ=भाँपा। बसेरा=रहने वाला। छेवा=खेला या डाला। भेदू=प्रविष्ट होती।

व्याख्या—पद्मावती ने हँसकर रत्नसेन की बात मान ली और कहा कि निश्चय ही तुम मेरे प्रेम में अनुरक्त हो। हे राजा! तुम दोनों कुलों को उज्ज्वल करने वाले हो; अर्थात् तुमने इतनी कठिन साधना कर अपने कुल को उज्ज्वल किया और अब मुझे प्राप्त कर मेरे कुल को भी उज्ज्वल बनाया। मैंने पहले तुम से जो कटु बातें कहीं थीं उनके द्वारा मैं तुम्हारा रहस्य जानना चाहती थी। परन्तु यह तो बताओ कि तुम तो भारतवर्ष के रहने वाले हो, फिर तुमने यह कैसे जान लिया कि मेरा सिंहल कैसा है। तुमने इस सिंहल रूपी मानसरोवर में खिलने वाले मुझ रूपी कमल को कैसे जान लिया कि मेरा वर्णन सुन तुम भ्रमर के समान अपने प्राणों पर खेल कर यहाँ तक आ पहुँचे। न तुमने मेरे विषय में सुना था और न कभी मुझे देखा था, फिर मैं कैसे चित्र के समान तुम्हारे हृदय में जाकर अङ्कित हो गई। जब तक अग्नि प्रज्वलित होकर भीतर प्रवेश नहीं करती, तब तक मेद की बूँदें बनकर नीचे नहीं टपकतीं। महादेव ने तुम्हें ऐसे दुर्गम मार्ग को कहाँ पर दिखाया, जिस पर चलकर तुमने मुझ

अलक्ष्य को अर्थात् जिसे तुमने कभी नहीं देखा था, उसे अर्थात् मुझे आकर प्राप्त कर लिया और ऐसे प्रेम का रसास्वादन किया।

सत्य जिसका साथी होता है उसका भय वही सत्य मिटा देता है, अर्थात् सत्य का सम्बल ग्रहण करने वाले को किसी प्रकार का भी भय नहीं सताता। मुझे यह बताओ कि उस सत्य को तुमने कैसे प्राप्त किया जिससे तुम्हारी और मेरी—दोनों प्रकार की भेंट सम्भव हो सकी, अर्थात् मानसिक और शारीरिक—दोनों प्रकार का मिलन सम्भव हो सका।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि यह पद 'पद्मावत' की सभी प्रतियों में नहीं मिलता।

(३३५)

सत्य कहौं सुनु पदमावती। जहँ सत पुरुष तहाँ सुरसती॥
पाएउँ सुवा, कही वह बाता। भा निहचय देखत मुख राता॥
रूप तुम्हार सुनेउँ अस नीका। ना जेहि चढ़ा काहु कहँ टीका॥
चित्र किएउँ पुनि लेइ लेइ नाऊँ। नैनहि लागि हिये भा ठाऊँ॥
हौं भा साँच सुनत ओहि घड़ी। तुम होइ रूप आइ चित चढ़ी॥
हौं भा काठ मूर्ति मन मारे। चहै जौ कर सब हाथ तुम्हारे॥
तुम्ह जौ डोलाइहु तबहीं डोला। मौन साँस जौ दीन्ह तौ बोला॥
को सोवै, को जागै? अस हौं गएउँ बिमोहि।
परगट गुपुत न दूसर, जहँ देखौं तहँ तोहि॥२८॥

व्याख्या—रत्नसेन उत्तर देता हुआ कहने लगा—

हे पद्मावती! मेरी बात सुनो! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। जहाँ सत्यवादी पुरुष रहते हैं वहाँ सरस्वती निवास करती है अर्थात् सत्यवादी पुरुष कभी झूठ नहीं बोलते। मुझे हीरामन तोता मिला था। उसी ने मुझसे वह बात कही थी। उसके लाल मुख को देखकर मुझे उसकी बातों पर विश्वास हो गया। मैंने तुम्हारे रूप की इतनी प्रशंसा सुनी और यह भी सुना कि अभी तक तुम्हारे साथ किसी की सगाई नहीं हुई है, तिलक नहीं चढ़ा है। फिर मैंने तुम्हारा नाम ले-ले कर तुम्हारे चित्र की कल्पना की, अर्थात् तुम्हारा कल्पित चित्र बनाया और आँखों से उतार कर उसे हृदय में स्थान दिया। मैं तुम्हारे रूप का वर्णन सुन उसी घड़ी साँचा-सा बन गया और तुम्हारा स्वरूप मेरे चित्त पर उसी प्रकार अङ्कित हो गया जिस प्रकार गली हुई चाँदी साँचे में भरी जाकर उसी के अनुरूप रूप धारण कर लेती है। मैं अपने मन को मारे काठ की मूर्ति सा बन गया अर्थात् मेरी सारी चेतना जाती रही, क्योंकि सब कुछ तुम्हारे ही हाथ में था। तुम जैसा चाहतीं, मैं वैसा ही करता। जब तुमने मुझे चलाया, मैं तभी चला, अर्थात् जब तुमने मुझ से यहाँ आकर मिलने के लिए कहा तभी मैं यहाँ आकर तुमसे

मिला। मैं तो मौन साधे बैठा था। जब तुमने मेरी साँस लौटा दी अर्थात् मिलन का वादा कर जब प्राण लौटा दिए तभी मेरे मुख से बोल फूटे।

मैं तुम्हारे रूप पर इस प्रकार विमोहित हो उठा कि फिर किसका सोना और किसका जागना, अर्थात् मैं तुम्हारे विरह में मूर्च्छित सा बना रहता था और सो भी नहीं पाता था। चाहे प्रकट हो या गुप्त, मुझे दूसरी कोई वस्तु दिखाई ही नहीं देती थी। जिधर मेरी दृष्टि जाती थी, उधर मैं तुम्हारे ही दर्शन करता था।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पद को भी प्रक्षिप्त माना है।

(३३६)

बिहँसी धनि सुनि कै सत भाऊ। हौं रामा तू रावन राऊ॥
रहा जो भौंर कँवल के आसा। कस न भोग मानै रस बासा ?॥
जस सत कहा कुँवर ! तू मोही। तन-मन मोर लागि पुनि तोही॥
जब-हुँत कहि गा पंखि सँदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी॥
तब-हुँत तुम बिनु रहै न जीऊ। चातिक भइउँ कहत 'पिउ पिऊ'॥
भएउ चकोरि सो पंथि निहारी। समुद सीप जस नैन पसारी॥
भइउ बिरह दहि कोइल कारी। डार-डार जिमि कूकि पुकारी॥
कौन सो दिन जब पिउ मिलै, यह मन राता तासु।
वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु॥२६॥

शब्दार्थ—रामा=रमणी। रावण=रमण करने वाला, रावण। पसारी= खोले हुए।

व्याख्या—राजा रत्नसेन की ऐसी सत्य अर्थात् शुद्ध भाव-भरी बातें सुन पद्मावती हँसी और कहने लगी कि मैं रमणी हूँ और तुम मेरे साथ रमण करने वाले राजा हो। जो भ्रमर सदैव कमल की आशा लगाए रहता है, वह उसके रस और सुगन्धि का भोग क्यों न करे, अर्थात् तुम मेरी आशा लगाकर यहाँ आए हो तो अब मेरे साथ भोग-विलास क्यों न करो ? हे राजकुमार ! जिस प्रकार तुमने मुझसे सत्य बात कही है उसी प्रकार मेरा मन भी तुम्ही में लगा हुआ था। जब से पक्षी हीरामन यह सन्देश कह गया था और मैंने यह सुना था कि एक परदेशी आया है, तभी से तुम्हारे बिना मेरे यह प्राण व्याकुल बने रहते थे और मैं 'प्रियतम प्रियतम' रटती हुई चातकी बन गई थी। मैं चकोर के समान टकटकी लगाए तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहती थी। जिस प्रकार सीप समुद्र के जल में रहते हुए भी सदैव मुख खोले स्वाति-नक्षत्र के जल की बाट जोहती रहती है, उसी प्रकार मैं नेत्र खोले तुम्हारी प्रतीक्षा किया करती थी। जिस प्रकार कोयल विरह में जल-जल कर काली हो डाल-डाल पर कूकती हुई अपने प्रियतम को पुकारती रहती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे विरह में दग्ध हो निरन्तर तुम्हारा ही नाम रटा करती थी।

मैं मन में सोचा करती थी कि वह कौन-सा दिन होगा जब मुझे अपना वह प्रियतम मिलेगा, जिसमें मेरा यह मन अनुरक्त हो रहा है। उस समय वह मेरी व्यथा को देखेगा और मैं उसकी व्यथा का साक्षात् करूँगी।

टिप्पणी—इस पद को भी डा० गुप्त प्रक्षिप्त मानते हैं।

(३३७)

कहि सत भाव भई कँठलागू। जनु कंचन औ मिला सोहागू॥
चौरासी आसन पर जोगी। खट-रस, बंधक चतुर सो भोगी॥
कुसुम-माल असि मालति पाई। जनु चंपा गहि डार ओनाई॥
कली बेधि जनु भँवर भुलाना। हना राहु अरजुन के बाना॥
कंचन-करी जरी नग जोती। बरमा सौं बेधा जनु मोती॥
नारंग जानि कीर नख दिए। अधर आमरस जानहुँ लिए॥
कौतुक केलि करहिं दुख नंसा। खूँदहिं कुरलहिं जनु सर हंसा॥
रही बसाइ बासना, चोवा चंदन मेद।
जुहि अस पदमिनि रानी, सो जानै यह भेद॥३०॥

व्याख्या—इस पद में जायसी पद्मावती और रत्नसेन के मध्य हुए प्रश्नोत्तरों के उपरान्त उनके द्वारा की गई काम-क्रीड़ा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

पद्मावती इस प्रकार अपने मन के सच्चे उद्गारों को व्यक्त कर रत्नसेन के कंठ से लिपट गई, मानो स्वर्ण और सोहागा आपस में मिलकर एक हो गए हों। जैसे योगी योग के चौरासी आसनों में पारंगत होता है, वैसे ही चतुर भोगी पुरुष छः प्रकार के रसों का रसास्वादन करने में तथा कामशास्त्र के बन्धों अर्थात् चौरासी आसनों में दक्ष होता है। भाव यह है कि रत्नसेन पूर्ण भोगी होने के कारण कामशास्त्र के चौरासी आसनों द्वारा भोग कर केलिक्रीड़ा का रसास्वादन करने में पूर्ण दक्ष था। रत्नसेन को पद्मावती क्या प्राप्त हुई, मानो मालती-पुष्पों की माला ही उसके कंठ में आ लिपटी हो। उसने पद्मावती को पकड़ कर शय्या पर इस प्रकार झुका लिया, मानो चम्पा की डाल को पकड़ कर नीचे झुका लिया हो। जिस प्रकार भ्रमर कली को वेध कर उसका रसपान करने में मस्त हो जाता है उसी प्रकार रत्नसेन पद्मावती के साथ भोग करता हुआ मस्त हो गया। वह रति-क्रीड़ा में ऐसा एकाग्र और तमन्य हो गया, मानो अर्जुन मत्स्य-भेद करते समय एकाग्र चित्त हो रहा हो। पद्मावती चमकदार रत्नों से जड़ी स्वर्ण-कलिका के समान थी। रत्नसेन ने उसे अपने गाढ़ालिंगन में आबद्ध कर उसके साथ इस प्रकार सम्भोग किया मानो मोती में बरमा से छेद कर दिया गया हो। उसने उसके कुचों पर अपने नख-क्षत बना दिये मानो तोते ने नारंगी पर अपनी चोंच मार दी हो। उसने पद्मावती के अधरों के रस का इस प्रकार पान किया जैसे आम का रस चूसा जाता है। इस प्रकार वे दोनों रति-क्रीड़ा करते हुए अपने इतने दिनों की

विरह वेदना से उत्पन्न दुखों को मिटाने लगे। वे रति-क्रीड़ा करते हुए इस प्रकार शोभा दे रहे थे मानो हंसों का जोड़ा सरोवर में उछल-कूद मचाता हुआ कलरव कर रहा हो।

वहाँ चोवा, चन्दन और मेद की सुगन्धि छा रही थी। रति-क्रीड़ा के इस आनन्द के रहस्य को वही जान सकता है जिसके ऐसी पद्मिनी रानी हो।

(३३८)

रतनसेन सो कंत सुजानू। खटरस-पंडित सोरह बानू॥
तस होइ मिले पुरुष औ गोरी। जैसी बिछुरी सारस-जोरी॥
रची सारि दूनौ एक पासा। होइ जुग-जुग आवहि कबिलासा॥
पिय धनि गही, दीन्हि गलबाहीं। धनि बिछुरी लागि उर माहीं॥
ते छकि रस नव केलि करेहीं। चोका लाइ अधर-रस लेहीं॥
धनि नौ सात, सात औ पाँचा। पुरुष दस ते रह किमि बाँचा?॥
लीन्ह बिधाँसि बिरह धनि साजा। औ सब रचन जीत हुत राजा॥
जनहुँ औटि के मिल गए, तस दूनौ भए एक।
कँचन कसत कसौटी, हाथ न कोऊ टेक॥३१॥

शब्दार्थ—सोरह बानू=सोलह कलाओं से युक्त। सारि=शय्या। जुग=जोड़ा। चोका=चुहका, चूसने की क्रिया या भाव। नौ सात=९+७ अर्थात् सोलह शृंगार। सात और पाँच=७+५ अर्थात् बारह आभरण। पुरुष······बाँचा=वे शृंगार और आभरण पुरुष की दस उँगलियों से कैसे बच सकते हैं।

व्याख्या—वह रत्नसेन चतुर पति है जो षट्रस का भोग करने में प्रवीण है। पद्मावती सोलह कलाओं से युक्त पूर्ण चन्द्र के समान है। इस प्रकार वे दोनों पुरुष (रत्नसेन) और गोरी (पद्मावती) आपस में एक-दूसरे से इस प्रकार मिले जैसे सारसों की बिछुड़ी हुई जोड़ी मिलती है। उन दोनों ने शय्या सजाई और पास-पास लेट गए और फिर आपस में जोड़ी बनाकर अर्थात् परस्पर गाढ़ालिंगन में आबद्ध हो बार-बार स्वर्ग का सा आनन्द भोगने लगे। प्रियतम ने सुन्दरी को पकड़ कर उसके गले में गलबाँही डाल दी। सुन्दरी उसके बाहुपाश को छुड़ा कर उसके हृदय से चिपक गई। इस प्रकार वे दोनों प्रेम-रस में छक कर केलि-क्रीड़ा करने लगे और परस्पर चुम्बन करते हुए अधर-रस का पान करने लगे। सुन्दरी सोलह शृंगार और बारह आभूषण से शोभित थी परन्तु उसका वह शृंगार और आभूषण पुरुष की दसों उँगलियों से कैसे बचे रह सकते थे। रत्नसेन ने विरह से व्याकुल पद्मावती द्वारा धारण किए शृंगार और आभूषणों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और इस प्रकार उसकी सम्पूर्ण प्रसाधन-रचना पर विजय प्राप्त कर ली। भाव यह है कि रत्नसेन ने रति-क्रीड़ा करते समय पद्मावती के सम्पूर्ण शृंगार और आभूषणों को नष्ट-भ्रष्ट कर उस पर पूर्ण विजय प्राप्त की, उसे अपने वश में कर लिया।

वे दोनों आपस में मिलकर इस प्रकार एक हो गए मानो औट कर एक हो गए हों। भाव यह है कि कामोत्तेजना के कारण दोनों प्रगाढ़ालिंगन में आबद्ध हो गए। जब स्वर्ण को कसौटी पर कसा जाता है तो कोई भी हाथ का सहारा लेकर उसे नहीं कसता अर्थात् वह साधारण क्रिया द्वारा ही कसा जाता है, इसी प्रकार इन दोनों की रति-क्रीड़ा बिना किसी बाह्य साधन या सहारे के स्वतः ही स्वाभाविक रूप से होती रही।

टिप्पणी—डा० माताप्रसाद गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं।

(३३९)

चतुर नारि चित अधिक चिहूँटी। जहाँ पेम बाढ़ै किमि छूटी॥
कुरला काम केरि मनुहारी। कुरला जेहिं नहिं सो न सुनारी॥
कुरलहि होइ कंत कर तोखू। कुरलहि किए पाव धनि मोखू॥
जेहि कुरला सो सोहाग सुभागी। चंदन जैस साम कँठ लागी॥
गेंद गोद कै जानहु लई। गेंद चाहि धनि कोमल भई॥
दारिउँ, दाख, बेल रस चाखा। पिय के खेल धनि जीवन राखा॥
भएउ बसंत कली मुख खोली। बैन सोहावन कोकिल बोली॥
पिउ-पिउ करत जो सूखि रहि, धनि चातक की भाँति।
परी सी बूँद सीप जनु, मोती होइ सुख-साँति॥३२॥

व्याख्या—वह चतुर नारी पद्मावती हृदय में और भी अधिक कामातुर हो पति से चिपट गई। जहाँ प्रेम बढ़ रहा हो वहाँ नारी कैसे अपने पति के हृदय से छूट सकती है, अलग हो सकती है। रति-क्रीड़ा द्वारा ही काम की तृप्ति होती है; अर्थात् काम रति-क्रीड़ा द्वारा ही शान्त होता है। जो नारी अपने पति के साथ रति-क्रीड़ा नहीं करती वह अच्छी नारी नहीं होती। उसकी रति-क्रीड़ा द्वारा ही पति को सन्तोष प्राप्त होता है। और सुन्दरी पत्नी रति-क्रीड़ा द्वारा ही मोक्ष प्राप्त करती है; अर्थात् इसके उपरान्त ही उसे पति छुटकारा मिलता है। जो रति-क्रीड़ा करती है, वही सुहागवती और भाग्यशालिनी होती है। सफल नारी वही होती है जो ऐसे समय पति के कंठ से चन्दन के समान लग कर शोभा पाती है। रत्नसेन ने पद्मावती को फूलों की गेंद के समान हल्की और कोमल जान अपनी गोद में ले लिया और वह पद्मावती लज्जा से संकुचित हो गेंद से भी कोमल बन गई। उस सुन्दरी ने अनार, अंगूर और बेलि के रस को चख कर अपने मधुर जीवन को अपने पति के लिए ही सुरक्षित रख छोड़ा था। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रियतम ने उसके साथ भोग-विलास कर अनार, अगूर और बेल के रसों को चखने का सा आनन्द प्राप्त किया और उस बाला ने पति के साथ क्रीड़ा करने में अपना जीवन लगा दिया। वसन्त का आगमन होते ही जैसे पुष्प-कलिकाएँ अपना मुख खोल देती हैं, विकसित हो उठती

हैं और कोयल मधुर वचन बोलने लगती है, उसी प्रकार प्रिय-समागम के समय पद्मावती आनन्द से खिल उठी और मधुर वचन बोलने लगी।

उस सुन्दरी का मुख चातक के समान 'पिउ-पिउ' अर्थात् प्रियतम का नाम रटते हुए जो सूख रहा था, अपने प्रियतम से मिलते ही वह उस सीप के समान शान्त और तृप्त हो उठी, जिसके मुख में स्वाँति नक्षत्र के जल की बूँद पड़ गई हों और उसके गर्भ में मोती का निर्माण होना प्रारम्भ हो गया हो। भाव यह है कि रत्नसेन द्वारा सम्भोग किए जाने पर पद्मावती गर्भ धारण कर पूर्ण रूप से तृप्त और आनन्दित हो उठी।

टिप्पणी—'दारिउँ, दाख, बेल रस चाखा'—का कामशास्त्रीय अर्थ यह भी हो सकता है कि रत्नसेन ने पद्मावती के अनार के दानों जैसे दाँतों से शोभित अगूर के समान मधुर अधरों के रस का पान किया और उसके बेल के समान स्तनों का मर्दन कर रस लिया।

(३४०)

भएउ जूझ जस रावन रामा। सेज बिधाँसि बिरह-संग्रामा॥
लीन्हि लंक, कंचन-गढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा॥
औ जोवन मैमंत बिधाँसा। बिचला बिरह जीउ जो नासा॥
टूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी माँग, भंग भए केसा॥
कंचुक चूरि, चूर भइ तानी। टूटे हार, मोति छहरानी॥
बारी, टाँण सलोनी टूटी। बाहूँ कंगन कलाई फूटी॥
चंदन अंग छूट अस भेंटी। बेसरि टूटि, तिलक गा मेटी॥
पुहुप सिंगार सँवार सब, जोबन नवल बसंत।
अरगज जिमि हिय लाइ कै, मरगज कीन्हेउ कंत॥३३॥

शब्दार्थ—लंक=लंका, कटि। कंचन-गढ़=स्वर्ण-दुर्ग, योनि। बिचला=विचलित हो गया। तानी=तनी, बन्द। बारी=बालियाँ। मरगज=मर्दित, रति के समय मर्दित।

व्याख्या– इस पद में जायसी रति-क्रीड़ा के समय रत्नसेन द्वारा मर्दित पद्मावती की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

रत्नसेन और पद्मावती में ऐसा रति-युद्ध हुआ जैसा कि राम और रावण में हुआ था। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि—उस रमण करने वाले पुरुष और रमणी पद्मावती में राम-रावण जैसा भयंकर रति-संग्राम हुआ।) उस विरह के संग्राम में अर्थात विरह के विरुद्ध हुए उस रति-युद्ध में शय्या का विध्वंस हो गया, शय्या टूट गई। राम ने जिस प्रकार रावण के स्वर्ण-निर्मित दुर्ग को भंग कर उसकी लंका पर अधिकार कर लिया था उसी प्रकार रत्नसेन ने पद्मावती की लंक अर्थात् कटि को पकड़ कर उस कटि के मध्य स्थित योनि का भेदन कर डाला और पद्मावती ने जो शृंगार किया था वह सब लूट

लिया, अर्थात् उसके शृंगार को अस्त-व्यस्त कर दिया। उसने पद्मावती के मदमत्त यौवन को कुचल कर उसे नष्ट कर डाला। ऐसा करने से उस यौवन में निवास करने वाला विरह, जिसने उसके जीवन को नष्ट कर रखा था, विचलित अर्थात् व्याकुल हो भाग खड़ा हुआ। भाव यह है कि इस सम्भोग द्वारा उसकी सारी विरह-वेदना दूर हो गई। इस रति-क्रीड़ा में पद्मावती के सारे अंग और शृंगार टूट गया। माँग बिगड़ गई और बालों का जूड़ा खुल गया। चोली कुचमर्दन के कारण फट गई और उसकी तनियाँ चूर-चूर हो गईं। गले में पड़े मोतियों के हार टूट गए और उनके मोती इधर-उधर बिखर गए। कानों की बालियाँ, टड्डे, सलोनी, कंगन, भुजबन्ध तथा कलाई में पड़ी चूड़ियाँ चूर-चूर हो गईं। रत्नसेन ने उसे इस प्रकार प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध कर लिया कि उसके शरीर पर लगा चन्दन छूट गया। नाक की नथ टूट गई और माथे पर लगा तिलक मिट गया।

पद्मावती ने फूलों से शृंगार कर अपने यौवन रूपी बसन्त को सजाया था। रत्नसेन ने ऐसी सुसज्जित पद्मावती को अरगजा के समान अपने शरीर पर लगा कर, अर्थात् अपने शरीर द्वारा उसके शरीर को मर्दित कर उसे अरगजा के समान दल-मल डाला।

(३४१)

बिनय करै पदमावति बाला। सुधि न[1], सुराही पिएउ[2] पियाला॥
पिय-आयुस माथे पर लेऊँ। जो माँगै नइ नइ सिर देऊँ॥
पै, पिय! बचन एक सुनु मोरा। चाखु, पिया! मधू थोरै थोरा॥
पेम-सुरा! सोई पै पिया। लखै न कोई कि काहू दिया॥
चुवा दाख-मधु जो एक बारा। दूसरि बार लेत बेसँभारा॥
एक बार जो पी कै रहा। सुख-जीवन, सुख-भोजन लहा॥
पान फूल रस रंग करीजै। अधर अधर सौं चाखा कीजै॥
जो तुम चाहौ सो करौ, ना जानौ भल मंद।
जो भावै तो होइ मोंहि, तुम्ह पिउ[3]! चहौं अनंद॥३४॥

व्याख्या—रति-क्रीड़ा में अत्यधिक उन्मत्त हुए रत्नसेन द्वारा अत्यधिक मर्दित किए जाने पर पद्मावती उससे विनय करने लगी कि हे स्वामी! तुम्हें तो कुछ भी सुध-बुध नहीं रही। तुम तो एक प्याला पीने के स्थान पर पूरी सुराही चढ़ा गए। भाव यह है कि नारी तो प्रेम-रस की भरी सुराही के समान है जिसका पान धीरे-धीरे करना चाहिए, न कि एक ही बार में उसका सम्पूर्ण प्रेम-रस लूट लेना चाहिए। मैं अपने प्रियतम की अर्थात् तुम्हारी आज्ञा को शिरोधार्य करूँगी और तुम मुझसे जो

पाठ-भेद— १. सो धनि=वह स्त्री। २. पीउ=प्रियतम=अर्थात् स्त्री सुराही है और पति प्याला है। ३. तुम्हहि पै=तुम्हें आनन्द प्राप्त हो।

कुछ माँगोगे वह तुम्हें शीश झुका कर अर्पित कर दूँगी। परन्तु हे प्रियतम ! मेरी एक बात को सुनो। तुम मेरे प्रेम रूपी रस का पान थोड़ा-थोड़ा करके करो। प्रेम की शराब तो वही पीता है जिसे कोई यह न देख सके कि उसे यह शराब किसने दी है। अंगूर के रस को चुवा कर जो शराब निकाली जाती है उसे एक बार पीना ही अच्छा रहता है। यदि कोई उसे दुबारा पी लेता है तो उसे अपना होश-हवाश नहीं रहता। इसी प्रकार तुम इस प्रेम रस का केवल एक बार ही पान करो। दुबारा करने से तुम्हें अपनी सुध-बुध नहीं रहेगी। जो व्यक्ति इस प्रेम रस को एक बार पीकर ही शान्त हो जाता है, उसे जीवन का सुख और भोजन का आनन्द प्राप्त होता है। तुम रस-क्रीड़ा उसी प्रकार करो जिस प्रकार पान-फूल का स्वल्प-आहार किया जाता है; अर्थात् अधिक ज्यादती मत करो। तुम मेरे अधर रस का पान अपने अधरों द्वारा धीरे-धीरे करो।

तुम्हारे मन में जैसा आए, तुम वैसा ही करो। मैं अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं जानती। जो तुम्हें अच्छा लगेगा वही मेरे लिए भी अच्छा होगा। हे प्रियतम ! मैं तो केवल यह चाहती हूँ कि तुम्हें आनन्द प्राप्त हो।

(३४२)

सुनु, धनि ! प्रेम-सुरा के पिए। मरन जियन डर रहै न हिए ॥
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा[1]। को सो घूमि रह, की मतवारा[2] ॥
सो पै जान पियै जो कोई। पी न अघाइ, जाइ परि सोई ॥
जा कहँ होइ बार एक लाहा। रहै न ओहि बिनु, ओही चाहा ॥
अरथ दरब सो देइ बहाई। की सब जाहु, न जाय पियाई ॥
रातिहु दिवस रहै रस भीजा। लाभ न देख न देखै छीजा ॥
भोर होत तब पलुह सरीरू। पाव खुमारी सीतल नीरू ॥
एक बार भरि देहु पियाला, बार बार को माँग ? ।
मुहमद किमि न पुकारै, ऐस दाँव जो खाँग ? ॥३५॥

शब्दार्थ—मरन-जियन=मरने और जीने का। घूमि रह=चक्कर खाता रहेगा। छीजा=हानि। पलुह=पल्लवित हो जाता है, प्रसन्नता से भर उठता है। खाँग=चूकना।

व्याख्या—पद्मावती की यह बात सुनकर कि प्रेम-रस का पान एक साथ ही न कर धीरे-धीरे करो, रत्नसेन उससे कहने लगा—

हे सुन्दरी ! सुनो ! प्रेम की शराब का पान करने से फिर मन में मरने और जीने का भय नहीं रह जाता। जहाँ प्रेम का नशा होता है, वहाँ फिर संसार की क्या

पाठ-भेद—१. तहाँ कहाँ संभारा=वहाँ होश कहाँ रहता है। २. खुमरिहा=खुमार में रहता है।

चिन्ता ? इसे पीने वाला या तो पागल-सा हो इधर-उधर चक्कर काटता फिरता है या मतवाला हो जाता है। इस प्रेम-सुधा का असली मजा तो वही जानता है जिसने इसका पान किया हो। वह इसे पीते-पीते अघाता नहीं और बेहोश होकर सो जाता है। जिसे यह एक बार प्राप्त हो जाती है, वह फिर इसके बिना नहीं रह सकता, बार-बार इसी की कामना करता है। वह इसके लिए अपनी सम्पूर्ण धन-दौलत बहा देता है, नष्ट कर देता है। उसका सब कुछ भले ही चला जाय परन्तु उसका प्रेम-सुरा पीना कभी नहीं छूटता। वह रात-दिन इसी के रस में भीगा रहता है। वह अपना न लाभ देखता है और न हानि। रात्रि की प्रेम-क्रीड़ा के उपरान्त जब प्रभात होता है तब उसका शरीर आनन्द से पल्लवित सा हो उठता है। उस समय उसे ऐसा आनन्द प्राप्त होता है जैसे नशे की खुमारी में शीतल जल पीने को मिल गया हो।

इसलिए तुम एक बार ही मुझे प्याला भर कर पिला दो। बार-बार कौन माँगता फिरेगा। कवि मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि जो ऐसा दाँव पड़ने पर भी अर्थात् ऐसा अवसर प्राप्त होने पर भी चूक जाय तो वह इसके लिए बार-बार क्यों न माँगेगा। भाव यह है कि रत्नसेन एक बार में ही पद्मावती के प्रेम-रस का पूरा पान कर लेना चाहता है, क्योंकि उसे ऐसा अवसर एक लम्बी साधना के उपरान्त प्राप्त हुआ है, इसलिए वह ऐसे अवसर पर चूकना नहीं चाहता।

टिप्पणी—इस पद में सूफी-प्रेम की पूर्ण तन्मयता दर्शनीय है। सूफी-साधक प्रेम की इसी पूर्ण तन्मयता द्वारा ही ईश्वर का प्रेम प्राप्त किया करते हैं। प्रेम की यह पूर्ण तन्मयता अन्य किसी भी साधना-पद्धति में नहीं मिलती। वैष्णवों पर प्रेम की इस पूर्ण तन्मयता का गहरा प्रभाव पड़ा था।

(३४३)

भा बिहान ऊठा रवि साईं। चहुँ दिसि आईं नखत तराईं ॥
सब निसि सेज मिला ससि सूरू। हार चीर बलया भए चूरू ॥
सो धनि पान, चून भइ चोली। रंग-रँगीलि निरँग भइ भोली ॥
जागत रैनि भएउ भिनसारा। भई अलस सोवत बेकरारा ॥
अलक सुरंगिनि[1] हिरदय परी। नारँग छुव[2] नागिनि विष-भरी ॥
लरी मुरी हिय-हार लपेटी। सुरसरि जनु कालिंदी भेंटी ॥
जनु पयाग अरइल बिच मिली। सोभित बेनी रोमावली ॥
नाभी लाभु पुन्नि कै, कासीकुंड कहाव।
देवता करहि कलप सिर, आपुहि दोष न लाव[3] ॥३६॥

शब्दार्थ—पान=पके पान सी पीली या सफेद। चून=चूर्ण। निरंग=रंगहीन

पाठ-भेद—१. भुअँगिनि=भुजंगिनी। २. ज्यों। ३. दोख न लावहिं काउ=दूसरे को दोष नहीं देते।

अर्थात् निष्प्रभ, पीली। लरी-मुरी=बालों की काली लटें मोतियों के हार से लिपट कर उलझी हुई थीं। नाभी लाभु·······लाव=नाभि पुण्यलाभ करके काशीकुण्ड कहलाती है, इसी से देवता लोग उस पर सिर काट कर मरते हैं, पर उसे दोष नहीं लगता—(शुक्लजी)। कलप=काटना।

व्याख्या—प्रभात हुआ और सूर्य अर्थात् पद्मावती का स्वामी रत्नसेन उठकर बैठ गया। यह देख नक्षत्र और तारागणों के समान पद्मावती की सखियाँ चारों ओर से घिर आईं। सारी रात शय्या पर चन्द्रमा और सूर्य (पद्मावती और रत्नसेन) का मिलन हुआ और हार, वस्त्र तथा चूड़ियाँ सब चूर-चूर हो गए। वह सुन्दरी पद्मावती (रति-क्रीड़ा के समय मर्दित किए जाने के कारण) पके पान के समान पीली पड़ गई और उसकी चोली फट कर चूर-चूर हो गई। वह भोली बाला, जो रंग-रँगीली थी, इस समय रंगहीन अथवा रति-जनित क्लान्ति के कारण विवर्ण हो रही थी। रात भर जागते हुए प्रभात हो गया, इसलिए इस समय वह आलस्य के कारण बेहोश होकर सो रही थी। सोती हुई पद्मावती के हृदय पर उसकी सुन्दर वेणी इस प्रकार पड़ी हुई शोभा दे रही थी, मानो कोई काली विष भरी सर्पिणी उसके नारंगी के समान कुचों का स्पर्श कर रही हो। उसके बालों की काली लटें हृदय पर पड़े मोतियों के हार से लिपट-उलझ कर ऐसी शोभा दे रही थीं मानो गंगा और यमुना का संगम हो रहा हो (यहाँ लटें यमुना के समान काली और मोतियों का हार गंगा के समान सफेद है)। उनके नीचे उसकी ऊपर की ओर उठती रोमावलि ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो प्रयाग और अरैल (एक स्थान का नाम) के बीच त्रिवेणी का संगम हो रहा हो। (त्रिवेणी में गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम होता। यहाँ रोमावलि सरस्वती है।)

नाभि पुण्यलाम करके काशीकुण्ड कहलाती है, इसी से देवता लोग उस पर अपने सिर काट कर मरते हैं, पर उसे दोष नहीं लगता।

टिप्पणी—अलंकार—रूपक और उपमा।

(३४४)

बिहँसि जगावँइ सखी सयानी। सूर उठा, उठु पदमिनि रानी॥
सुनत सूर जनु कँवल बिगासा। मधुकर आइ लीन्ह मधु बासा॥
जनहुँ माति निसयानी बसी। अति बेसँभार फूलि जनु अरसी॥
नैन कँवल जानहुँ दुइ फूले। चितवनि मोहि मिरिग जनु भूले॥
तन न सँभार केस औ चोली। चित अचेत जनु बाउरि भोली॥
भइ ससि हीन गहन अस गही। बिथुरे नखत, सेज भरि रही॥
कँवल माँह जनु केसरि दीठी। जोबन हुत सो गँवाइ बईठी॥
बेलि जो राखी इन्द्र कहँ, पवन बास नहिं दीन्ह।
लागेउ आइ भौंर तेहि, कली बेधि रस लीन्ह॥३७॥

शब्दार्थ—निसयानी=सुध-बुधि खोए हुए। बसी=निमग्न। अरसी=अलसी के फूल। हीन=रंगहीन, विवर्ण। बिथुरे नखत=आभूषण इधर-उधर बिखरे हैं।

व्याख्या—उस रति-श्रम-क्लान्ता पद्मावती को बेहोश सोते हुए देख उसकी चतुर सखियाँ हँसकर उसे जगाने और कहने लगीं कि हे पद्मिनी रानी ! उठो। सूर्य अर्थात् रत्नसेन उठ चुका है, अर्थात् सूर्योदय हो गया। सूर्य का नाम सुनते ही पद्मावती के नेत्र इस प्रकार खुल गए जैसे सूर्योदय होने पर कमल खिल उठते हैं और भ्रमर आकर उनकी सुगन्धि और मधु का पान करते हैं। पद्मावती के नेत्रों की काली पुतलियाँ उन्हीं भ्रमरों के समान शोभा दे रही थीं। इस समय उसकी दशा ऐसी हो रही थी, मानो वह मतवाली हो अपनी सुध-बुध खोए बेहोश पड़ी हो। वह अलसाई हुई ऐसी शोभा दे रही थी मानो असंख्य अलसी के फूल खिल रहे हों। उसके दोनों नेत्र इस प्रकार खुले हुए थे मानो दो कमल खिल रहे हों परन्तु उसकी चितवन इतनी भोली थी मानो हिरण मोहित हो इधर-उधर भूले हुए से देख रहे हों। (यहाँ रत्नसेन का नाम सुन उसकी खोज में पद्मावती के नेत्रों का इधर-उधर ताकना—विमोहित मृग की चितवन के समान है।) उसे अपने शरीर का, केशों और चोली का कोई होश ही नहीं था कि सब कुछ अस्त-व्यस्त हो रहा है। वह ऐसी अचेत सी हो रही थी, जैसे कोई भोली और पगली चेतना शून्य हो अस्त-व्यस्त पड़ी रहती है। वह चन्द्रमा रूपी पद्मावती इस समय ऐसी निष्प्रभ हो रही थी, मानो चन्द्रमा को ग्रहण लग गया हो। उसके बिखरे हुए आभूषणों से सारी शय्या भरी हुई थी। उसके मुख पर ऐसा पीलापन छा रहा था जैसे कमल में पराग दिखाई देता है। उसके पास जो यौवन रूपी निधि थी उसे वह गवाँ बैठी थी, उसका यौवन लूट लिया गया था।

जो लता इन्द्र के लिए सुरक्षित रखी गई थी और जिसने अभी तक अपनी सुगन्धि का किसी को पान नहीं करने दिया था, भ्रमर आकर उस लता से चिपट गया था और कली को बेध उसका रस-पान कर लिया था, अर्थात् जिस अप्सरा सी सुन्दरी पद्मावती को इन्द्र जैसे किसी राजा के लिए सुरक्षित रखा गया था, उसके रस का पान रत्नसेन रूपी भ्रमर ने कर लिया था।

(३४५)

हँसि-हँसि पूछहिं सखी सरेखी। मानहु कुमुद चंद्रमुख देखी॥
रानी ! तुम ऐसी सुकुमारा। फूल बास तन जीव तुम्हारा॥
सहि नहिं सकहु हिये पर हारू। कैसे सहिउ कंत कर भारू॥
मुख-अंबुज बिगसै दिन राती। सो कुंभिलान कहहु केहि भाँती॥
अधर-कँवल जो[1] सहा न पानू। कैसे सहा लाग मुख भानू ?॥
लंक जौ पैग देत मुरि जाई। कैसे रही जो रावन राई ?॥
चंदन चोव पवन अस पीऊ। भइउ चित्र सम[2], कस भा जीऊ॥

पाठ-भेद—१. अधर जो कोंवल=अधर जो इतने कोमल हैं। २. चतुर सम।

सब अरगज मरगज भएउ, लोचन बिब सरोज[1]।
'सत्य कहहुँ पदमावति, सखी परीं सब खोज ॥३८॥

व्याख्या—पद्मावती की ऐसी मर्दित दशा देख पद्मावती की सखियाँ उसके मुख की ओर इस प्रकार देखती हुईं जैसे कुमुदिनियाँ चन्द्रमा की ओर देखती हैं, उससे हँस-हँस कर पूछने लगीं कि हे रानी ! तुम तो ऐसी सुकुमार थीं कि फूलों की सुगन्धि के सहारे तुम्हारे शरीर में प्राण ठहरते थे; अर्थात् तुम्हारा शरीर फूलों के समान कोमल और प्राण पुष्प-गन्ध के समान सूक्ष्म थे। तुम अपने हृदय पर हार के भार को भी नहीं सह सकती थीं, फिर तुमने अपने कन्त के भार को ऐसे कोमल हृदय पर कैसे सहन कर लिया ? तुम्हारा मुख दिन-रात कमल के समान खिला अर्थात् प्रफुल्लित बना रहता था, वह इस तरह कैसे कुम्हला गया ? तुम्हारे कमल की पँखुड़ियों के समान कोमल अधर, जो पान को भी नहीं सह सकते थे, उन्होंने जब सूर्य अर्थात् रत्नसेन उनसे लग गया तो उसे सह लिया ? भाव यह है कि जब रत्नसेन ने उन अधरों का कस कर चुम्बन किया तो वे उसे कैसे सह सके। तुम्हारी जो कटि एक कदम रखते ही मुड़ जाती थी अर्थात् बल खा जाती थी, उसने रमण करने वाले राजा रत्नसेन को अपने ऊपर कैसे सह लिया ? तुम्हारा शरीर चन्दन और चोवा की गन्ध के समान सुगन्धित और कोमल था और तुम्हारा पति पवन के समान तीव्रगामी था। उसके द्वारा झकझोरे जाने पर यह उसे कैसे सह गया ? तुम्हें क्या हो गया, जो तुम चित्र के समान निस्तब्ध और निष्प्राण सी दिखाई पड़ रही हो।

तुम्हारा समस्त अरगजा अर्थात् सुगन्धित द्रव्यों का लेप मर्दित हो गया है और नेत्र कमल के पराग के समान पीले हो रहे हैं। सारी सखियाँ यह कहती हुईं उसके पीछे पड़ गईं कि हे पद्मावती ! हमें सारी बातें सत्य-सत्य बताओ।

(३४६)

कहौं, सखी ! आपन सतभाऊ। हौं जो कहति कस रावन राऊ ॥
काँपी भौंर पुहुप पर देखे। जनु ससि गहन तैस मोहिं लेखे[2] ॥
आजु मरम मैं जाना सोई। जस पियार पिउ और न कोई ॥
डर तौ लगि हिय मिला न पीऊ। भानु के दिस्टि छूटि गा सीऊ ॥
जत खन भानु कीन्ह परगासू। कँवल-कली मन कीन्ह बिगासू ॥
हिये छोह उपना औ सीऊ। पिउ न रिसाउ लेउ बरु जीऊ ॥
हुत जो अपार बिरह-दुख दूखा। जनहुँ अगस्त-उदय[3] जल सूखा ॥
हौं रंग बहुतै आनति, लहरैं जैस समुंद।
पै पिउ कै चतुराई, खसेउ[4] न एकौ बुंद ॥३९॥

पाठ-भेद—१. पीत। २ जहाँ पुहुप अलि देखत सँगू। जिउ डराय काँपत सब अँगू ॥
३. अगस्ति उदधि। ४. सकिउँ=उपभोग न कर सकी।

व्याख्या—सखियों की रति-क्रीड़ा-विषयक जिज्ञासा भरी बातों को सुन पद्मावती कहने लगी—

हे सखी ! मैं अपने मन की सच्ची बात कहती हूँ। पहले मैं जो कहा करती थी कि रमण करने वाला राजा न जाने कैसा होता होगा। मै भ्रमर को पुष्प पर बैठ उसका रसपान करते देख काँप उठती थी। वह दृश्य मुझे ऐसा भयानक सा प्रतीत होता था मानो चन्द्रमा को ग्रहण लग गया हो। परन्तु आज मैंने उसका रहस्य जान लिया कि जितना पति प्यारा होता है उतना अन्य कोई भी नहीं होता। डर तभी तक लगता है जब तक प्रिय से मिलन नहीं होता। मिलन होते ही वह भय इस प्रकार दूर हो जाता है जैसे सूर्य की किरणें पड़ते ही शीत दूर भाग जाता है। जिस क्षण सूर्योदय होता है, कमल-कली मन में प्रसन्न हो खिल उठती है। प्रिय को देखकर पहले हृदय में प्रेम उमड़ता है और फिर भविष्य की कल्पना कर, अर्थात् यह सोचकर कि आगे क्या होगा, भय के मारे शीत सा चढ़ आता है, शरीर काँपने लगता है। परन्तु मन बराबर यही मनाता रहता है कि प्रिय चाहे प्राण भले ही ले ले, परन्तु अप्रसन्न न हो जाय। मेरे हृदय में विरह का जो अपार दुख था वह प्रियतम से मिलकर जाता रहा, उसी प्रकार जिस तरह अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने पर जल सूख जाता है।

मेरे मन में अनेक प्रकार की रंगीन भावनायें उठती थीं जिस प्रकार समुद्र में असंख्य लहरें उठती हैं। परन्तु प्रिय ने अपनी चतुरता द्वारा मेरी एक भी भावना को आघात नहीं पहुँचाया, अर्थात् मुझे तनिक सा भी दुख नहीं दिया।

(३४७)

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ। ओही देखहुँ ठाँवहि ठाँऊँ।।
जौं जिउ महँ तौ उहै पियारा। तन मन सौं नहिं होइ निनारा।।
नैन माँह है उहै समाना। देखौ तहाँ नाहिं कोउ आना।।
आपुन रस आपुहि पै लेई। अधर सोइ लागे रस देई।।
हिया थार कुच कंचन लाडू। अगुमन भेंट दीन्ह कै चाँडू।।
हुलसी लंक लंक सौं लसी। रावन रहसि कसौटी कसी।।
जोबन सबै मिला ओहि जाई। हौं रे बीच हुँत गइउँ हेराई।।
जस किछु देइ धरै कहँ, आपन लेइ सँभारि।
रसहि गारि तब लीन्हेसि[1], कीन्हेहि मोहि ठँठारि ।।४०।।

शब्दार्थ—आना=अन्य। अगुमन=पहले ही। चाँडू=चाह। रहसि=प्रसन्न होकर। जस····कहँ=जैसे कोई वस्तु धरोहर रखे और फिर उसे सहेज कर वापस ले ले। ठँठारि=छूछी, खुक्ख, खाली।

पाठ-भेद—१. तस सिंगार सब लीन्हेसि।

व्याख्या—पद्मावती अपनी सखियों से कहने लगी कि जिस प्रिय को मैं प्रत्येक स्थान पर देखती हूँ, उसके पास अब शृंगार करके क्या जाऊँ। यदि मेरे मन में कोई बसा हुआ है तो वह वही प्यारा है। वह कभी मेरे तन-मन से अलग नहीं हो सकता। मेरे नेत्रों में वही समाया हुआ है। मैं जहाँ देखती हूँ, वहाँ उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं दिखाई देता। अपने रस का भोग वह स्वयं ही कर रहा है। वही मेरे अधरों से लगकर उनमें रस उत्पन्न करता है। भाव यह है कि मुझ में जो कुछ भी रस या आकर्षण है वह सब उसी के कारण है, अर्थात् उसी का दिया हुआ है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है। इसी कारण मैंने अपने शरीर रूपी थाल में अपने कुच रूपी लड्डू रखकर आगे बढ़ बड़ी चाह के साथ उसे पहले ही भेंट कर दिए, अर्थात् मैं उसके शरीर से लग गई। जब मेरे पति (रमण करने वाले) ने प्रसन्न होकर मेरी कटि को कसौटी पर कसा अर्थात् सम्भोग किया तो वह उसके साथ उसी प्रकार शोभायमान हो उठी, जिस प्रकार लंका रावण के साथ शोभित होती थी। मेरा सारा यौवन जाकर उससे मिल गया, और मैं उसके और यौवन के बीच में पड़कर मानो खो सी गई।

जैसे कोई अपनी किसी वस्तु को किसी के पास धरोहर रखे और फिर सम्हाल कर अपनी उस धरोहर को वापस ले ले, उसी प्रकार उसने मेरे शरीर में पहले स्वयं ही प्रेम का रस उत्पन्न किया था और फिर उसे स्वयं ही भोग कर वापस ले लिया और मैं छूँछी रह गई, अर्थात् न मेरा कुछ अपना था और न मैंने उसे अपना कुछ दिया था। उसने जो कुछ लिया, वह उसी का दिया हुआ था, जिसे उसने वापस ले लिया। भाव यह है कि मुझ में उसी ने प्रेम-रस का संचार किया था और उसी का उसने भोग किया। मैं पहले भी इस रस से शून्य थी और अब भोग के पश्चात् भी शून्य ही हूँ।

टिप्पणी—'ठँठारि'—कुछ आलोचकों ने इस शब्द का मूल रूप 'थतिहारि' माना है जिसका अर्थ है—थाती रखने वाला। भाव यह है कि पद्मावती तो उस प्रेम-रस को थाती स्वरूप रखने वाली थी।

(३४८)

अनु रे छबीली ! तोहि छबि लागी। नैन गुलाल कंत सँग जागी॥
चंप सुदरसन अस भा सोई। सोनजरद जस केसर होई।
बैठ भौंर कुच नारँग बारी। लागे नख, उछरी रँग-धारी॥
अधर-अधर सौं भीज तमोरा। अलकाउर मुरि-मुरि गा तोरा॥
रायमुनी तुम औ रतमुहीं। अलिमुख लागि भई फुलचुहीं॥
जैस सिगार-हार सौं मिली। मालति ऐसि सदा रहु खिली॥

पुनि सिंगार करु कला नेवारी[1] । कदम सेवती बैठु पियारी ।।
कुंद कली सम बिगसी[2], ऋतु बसंत औ फाग ।
फूलहु फरहु सदा सुख, औ सख सुफल सोहाग ।।४१।।

शब्दार्थ—अनु=अनुकूल हो, प्रसन्न हो । सोनजरद=सोनजुही, अर्थात् पीली । उछरी=उछर आई हैं । रँग-धारी=प्रेम की रेखाएँ । रायमुनी=एक सुन्दर छोटी चिड़िया, राजा की मुनिया या पुत्री । फुलचुहीं=काली रंग की छोटी सी चिड़िया जिसे फुलसुँघनी कहते हैं, जिसका फूल चूस लिया गया है अर्थात् भुक्त यौवना । सिंगार-हार=हर सिंगार का फूल, शृंगार का हरण करने वाला प्रियतम । मालति=मालती का फूल, सुन्दर स्त्री । कला=बहाना । नेवारी=दूर कर, एक फूल का नाम । कदम-सेवती=चरणों की सेवा करती हुई, कदम्ब और सेवती फूल ।

व्याख्या—पद्मावती की रस-युक्त बातों को सुन सखियों ने उससे कहा कि हे छबीली ! अनुकूल हो, प्रसन्न हो । अब तुम्हें एक नई छवि मिल गई है अर्थात् तुम्हारी छवि के साथ तुम्हारे प्रियतम की छवि का समावेश हो जाने से अब तुम्हारी छवि निराली हो गई है । प्रियतम के साथ रात-भर जागते रहने के कारण तुम्हारे नेत्र गुल्लाला के समान लाल हो रहे हैं । तुम्हारा वह पहले का चम्पा का सा दर्शनीय रंग अब सोनजुही के समान केसर जैसा पीला पड़ गया है । तुम्हारे कुचों पर प्रियतम द्वारा बनाए गए नखक्षत ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, मानो नारंगी की वाटिका में भ्रमर बैठे हुए हों । उन कुचों पर नखक्षत द्वारा प्रेम की रंगीन रेखायें उभर आई हैं । तुम्हारे अधर उसके अधरों से मिल पान के रंग में रँग गए हैं, और तुम्हारी अलकावलि अनेक जगह से मुड़ गई है, अर्थात् अस्त-व्यस्त हो गई है । तुम रायमुनिया अर्थात् राजा की पुत्री और रक्तमुखी थीं, अर्थात् तुम्हारे मुख से प्रेम का रंग टपकता रहता था । परन्तु तुम्हारे मुख से भ्रमर (रत्नसेन) के मुख का स्पर्श होते ही तुम फुलसुँघनी चिड़िया के समान काले मुख वाली बन गईं, अर्थात् चुम्बनों के कारण तुम्हारा मुख काला पड़ गया । भाव यह है कि तुम अक्षत यौवनावस्था के अरुणमुखी थीं परन्तु रसिक प्रेमी द्वारा चुम्बन किए जाने से तुम चूसे हुए फूल के समान मलिन पड़ गईं । तुम तो सदैव मालती पुष्प के समान खिली, अर्थात् प्रफुल्लित रहती थीं परन्तु आज ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे तुम अपने शृंगार का हरण करने वाले अर्थात् प्रियतम से मिली हो जिसने तुम्हारा सारा शृंगार अस्त-व्यस्त कर डाला है । अब तुम बहाना छोड़कर पुनः शृंगार करो और पति के चरणों की सेवा करने वाली प्रिया बन उसके सामने जाकर बैठो । जैसे वसन्त ऋतु और फाल्गुन के दिन आने पर कुन्द की कली खिल उठती है, उसी प्रकार तुम भी सर्वदा सुख, सुफल और सौभाग्य प्राप्त कर फूलो और फलो ।

पाठ-भेद—१. पुनि सिंगार करि अरसि निवारी=आलस्य को दूर कर पुनः शृंगार कर । २. जहवाँ लगि=जहाँ तक ।

टिप्पणी—इस पद में अनेक फूलों के नाम आए हैं; जैसे—गुल्लाला, चम्पा, सुदर्शन, सोनजर्द, हर सिंगार, नेवारी, कदम्ब, सेवती, कुन्द, मालती आदि तथा वाटिका में रहने वाले कुछ नन्हें पक्षियों के भी नाम आए हैं, जैसे—रायमुनी, रतमुही, फूल-चुही। इसलिए इसमें मुद्रालंकार माना जायेगा।

(३४६)

कहि यह बात सखी सब धाईं। चंपावति पहँ जाइ सुनाई॥
आजु निरँग पदमावति बारी। जीवन जानहु पवन-अधारी॥
तरकि तरकि गइ चंदन चोली। धरकि-धरकि हिय उठै न बोली॥
अही जो कली-कँवल रसपूरी[1]। चूर-चूर होइ गई सो चूरी॥
देखहु जाइ जैसि कुँभिलानी। सुनि सोहाग रानी बिहँसानी॥
लेइ सँग सबही पदमिनि नारी। आई जहँ पदमावति बारी॥
आइ रूप सो सबही देखा। सोन-बरन होइ रही सो रेखा॥
कुसुम फूल जस मरदै, निरँग देख सब अंग।
चंपावति भई वारी, चूम केस औ मंग॥४२॥

व्याख्या—सखियाँ पद्मावती से यह बातें कह दौड़ी हुईं रानी चम्पावती (पद्मावती की माँ) के पास गईं और उसे उसका सारा हाल कह सुनाया कि आज वाला पद्मावती या पद्मावती रूपी वाटिका रंगहीन अर्थात् निष्प्रभ हो रही है। उसके प्राण मानो पवन के आधार पर टिके हुए हैं अर्थात् मानो उसमें प्राण न रहे हों, केवल साँस चल रही है। उसकी चन्दनी वस्त्र की चोली तड़क-तड़क कर फट गई है, उसका हृदय रह-रह कर धड़क उठता है और मुख से बात नहीं निकलती। जो कमल की कली के समान रस से परिपूर्ण थी वह मर्दित होकर चूर-चूर हो गई है। तुम जाकर स्वयं देख लो कि वह कैसी कुम्हला गई है। सखियों द्वारा व्याज-स्तुति से इस प्रकार पद्मावती के सफल सुहाग की बातें सुन रानी चम्पावती हँसने लगी। वह सभी पद्मिनी नारियों को साथ लेकर वहाँ आई जहाँ सुन्दरी पद्मावती थी। वहाँ आकर उसने पद्मावती के सम्पूर्ण रूप को देखा, जो स्वर्ण-वर्ण की रेखा के समान प्रदीप्त हो रहा था।

उसने देखा कि पद्मावती के सारे अंग कुसुम्भ (केसर) के मर्दित पुष्प के समान विवर्ण हो रहे थे। उसका यह रूप देख रानी चम्पावती ने उसकी बलैयाँ लीं और उसकी माँग और केशों को चूम लिया।

टिप्पणी—(१) दोहे की प्रथम पंक्ति में 'कुसुम फूल' शब्द आए हैं। दोनों का ही अर्थ 'पुष्प' होता है। परन्तु यहाँ 'कुसुम' शब्द से 'कुसुम्भ' अर्थात् केसर अर्थ करना अधिक संगत प्रतीत होता है।

पाठ-भेद—१. करी करा रस पूरी=कली कला और रस से पूर्ण थी।

(२) डा० गुप्त ने सातवीं पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—उन सबने यहाँ आकर पद्मावती के रूप (रौप्य—चाँदी) को देखा; वह रूप (रौप्य –चाँदी) कसे जाने पर सोने के वर्ण की पीली रेखा छोड़ रहा था। (वह सुरूप अब पीला पड़ गया था।)

(३५०)

सब रनिवास बैठ चहुँ पासा। ससि-मंडल जनु बैठ अकासा॥
बोलीं सबै 'बारि कुँभिलानी। करहु सँभार, देहु खँड़वानी॥
कँवल-कली कोमल रंग-भीनी। अति सुकुमारि, लंक कै छीनी॥
चाँद जैस धनि हुत परगासा[1]। सहस करा होइ सूर बिगासा[2]॥
तेहिके झार गहन अस गही। भइ निरंग, मुख जोति न रही॥
दरब वारि किछु पुन्नि करेहू[3]। औ तेहि लेइ सन्यासिहि देहू॥
भरि कै थार नखत गजमोती। बारा कीन्ह चंद कै जोती॥
कीन्ह अरगजा मरदन, औ सखि कीन्ह नहानु।
पुनि भइ चौदसि चाँद सो, रूप गएउ छपि भानु॥४३॥

व्याख्या—पद्मावती की ऐसी विवर्ण दशा देख सारा रनिवास आकर उसके चारों ओर बैठ गया। वे सारी नारियाँ वहाँ बैठी ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो चंद्रमा का पूर्ण मंडल आकाश में बैठा हुआ हो। वे सब कहने लगीं कि बाला पद्मावती कुम्हला गई है। इसकी देख-भाल करो और खाँड़ का शरबत पिलाओ। यह कमल की कली के समान सौन्दर्य, सुगन्धित और रस से परिपूर्ण थी। यह अत्यन्त सुकुमार थी, इसकी कटि क्षीण, अर्थात् निर्बल थी। यह सुन्दरी चन्द्रमा के समान अपना उज्ज्वल, शीतल प्रकाश विकीर्ण किया करती थी, अर्थात् इसके सौन्दर्य को देख सब को शान्ति और सुख प्राप्त होता था परन्तु सूर्य (रत्नसेन) अपनी सहस्र कलाओं के साथ अर्थात् सम्पूर्ण तेज के साथ प्रकाशित हो इसके पास आया। उसी की ज्वाला के कारण इसे ग्रहण सा लग गया। यह विवर्ण हो गई और मुख की ज्योति जाती रही। अब इसके ऊपर कुछ धन-धान्य न्यौछावर कर दान-पुण्य करो और उसे संन्यासियों को बुलाकर दे दो। यह सुन रानी चम्पावती ने नक्षत्रों के समान कान्तिमान गजमुक्ताओं से एक थाल भरा और उसे चन्द्रमा की ज्योति स्वरूप अर्थात् चन्द्रिका के समान सुन्दर पद्मावती के चारों ओर घुमाकर न्यौछावर कर दिया।

सखियों ने पद्मावती के शरीर पर अरगजा नामक सुगन्धित पदार्थ की मालिश की और फिर स्नान कराया। ऐसा करने से उसका जो रूप सूर्य के कारण छिप गया था अर्थात्, मलिन हो उठा था, वह पुनः चतुर्दशी के चन्द्रमा के समान निर्मल कान्तिमान और सुन्दर हो उठा।

पाठ-भेद—१. बैठि तरासी=त्रस्त बैठी रही होगी। २. गरासा=ग्रस लिया।
३. दरब उबारहु अरघ करेहू=द्रव्य उतारो, अर्घ्य करो।

(३५१)

पुनि बहु[1] चीर आन सब छोरी। सारी कंचुकि लहर-पटोरी॥
फुँदिया और कसनिया राती। छायल बँद[2] लाए गुजराती॥
चिकवा चीर मघौना लोने। मोति लाग औ छापे सोने॥
सुरँग चीर भल सिंघलदीपी। कीन्ह जो छापा, धनि वह छीपी॥
पेमचा डोरिया औ चौधारी[3]। साम, सेत, पीयर, हरियारी॥
सात रंग औ चित्र चितेरे। भरि कै दीठि जाँहि नहीं हेरे॥
चँदनौता औ खरदुक भारी। बाँसपूर झिलमिल कै सारी॥
पुनि अभरन बहु काढ़ा, अनबन भाँति जराव।
हेरि फेरि निति पहिरै, जब जैसे मन भाव॥४४॥

व्याख्या—इस पद में जायसी ने अपने स्वभावानुसार विभिन्न प्रकार के अनेक वस्त्रों का वर्णन किया है जो उनके समय में प्रचलित रहे होंगे। ये सारे वस्त्र पद्मावती के लिए लाए गए थे। कवि उन्हीं का वर्णन करता हुआ कहता है—

फिर सखियों ने विविध प्रकार के अनेक वस्त्र लाकर उसके सामने खोले। साड़ी और चोली रेशमी लहरिया कपड़े की बनी थीं। लहँगे की नीबी और कसनी लाल रंग की थीं। छायल नामक कुरती तथा बन्द गुजरात के बने हुए थे। चिकवा नामक वस्त्र की बनी ओढ़नी (चीर) मेघवर्ण की तथा सुन्दर थी। उसमें मोती टँके हुए थे और सोने के पानी की छापें बनी हुई थीं। सिंहलद्वीप के अनेक प्रकार के सुन्दर और रंग-बिरंगे कपड़े थे। जिसने इन कपड़ों को छापा था वह छीपी धन्य है। पेमचा, डोरिया और चारखाने के कपड़े श्याम, श्वेत, पीले और हरे रंगों के थे। ये सारे कपड़े सतरंगे थे, जिन पर अनेक प्रकार के चित्र बनाए गए थे। ये इतने सुन्दर और चमकीले थे कि इन्हें आँख भरकर नहीं देखा जा सकता था, अर्थात् इन्हें देखकर आँखें चकाचौंध हो उठती थीं। चंदनौटा और क्षीरोदक नामक कपड़ों के बने भारी लहँगे थे। बाँसपूर और झिलमिल नामक महीन कपड़ों की बनी साड़ियाँ थीं।

इन वस्त्रों के उपरान्त अनेक प्रकार के आभूषण पिटारियों में से निकाले गए, जिनमें भाँति-भाँति का जड़ाव का काम हो रहा था। पद्मावती का जैसा मन करता था, वह उसी प्रकार उन्हें बदल-बदल कर नित्य पहनती थी।

पाठ-भेद—१. पटवन्ह=रेशमी वस्त्र बनाने वाले कारीगर। २. पंडु। ३. वीदरी =विदर्भ की बनी।

२८

रत्नसेन-साथी-खंड

(३५२)

रत्नसेन गए अपनी सभा। बैठे पाट जहाँ अठ खँभा॥
आइ मिले चितउर के साथी। सबै बिहँसि कै दीन्ही हाथी॥
राजा कर भल मानहु भाई। जेइ हम कहँ यह भूमि देखाई॥
हम कहँ आनत जौ न नरेसू। तौ हम कहाँ, कहाँ यह देसू॥
धनि राजा तुम्ह राज बिसेखा। जेहि के राज सबै किछु देखा॥
भोग-बिलास सबै किछु पावा। कहाँ जीभ जेहि अस्तुति आवा ?॥
अब तुम आइ अँतरट साजा। दरसन कहँ न तपावहु राजा॥
नैन सेराने, भूखि गइ, देखे दरस तुम्हार।
नव अवतार आजु भा, जीवन सफल हमार[1] ॥१॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन राजा गंधर्वसेन के राजमहल से निकल कर अपनी सभा में पहुँचा और सिंहासन पर बैठ गया जिसमें आठ खम्भे लगे हुए थे। उसके साथ आए चित्तौड़ के सभी साथी वहाँ आकर उससे मिले और हँसकर उसके साथ हाथ मिलाया अर्थात् नमस्कार किया। साथी आपस में कहने लगे कि हे भाई ! अपने राजा की कल्याण कामना करो जिसने हम सब को यह देश लाकर दिखाया। यदि यह राजा न होता तो हम इस देश में कैसे आ सकते थे। कहाँ के हम रहने वाले और कहाँ इतनी दूर स्थित यह देश ! हे राजा ! तुम धन्य हो ! तुम्हारा राज्य विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ है, जिसमें रहते हुए हमने सब कुछ देख लिया। हमने सम्पूर्ण प्रकार के भोग-विलासों का उपभोग किया। हमारे पास ऐसी वाणी कहाँ है जिसके द्वारा हम तुम्हारी स्तुति कर सकें। अब तुम यहाँ आकर हमारी आँखों से ओझल हो गए, अर्थात् राजमहल में जाकर बैठ गए। हमें अब अपने दर्शनों के लिए तरसाओ मत।

तुम्हारे दर्शन कर हमारे नेत्र शीतल हो गए और भूख जाती रही, अर्थात् हम

पाठ-भेद—१. नैन सिराने भूख गइ, देखि तोर मुख आजु।
नौ औतार भए सब काहूँ औ नौ भा सब साजु॥

सब प्रकार से सन्तुष्ट हो गए। आज हमारा नया जन्म हुआ है और जीवन सफल हो गया है।

टिप्पणी – 'दीन्ही हाथी'—का अर्थ शुक्लजी ने 'हाथ मिलाया' लिखा है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या उस युग में हाथ मिलाने की प्रथा थी ? हमारा अनुमान है कि हाथ मिलाने की प्रथा यूरोपवासियों के साथ ही भारत में आई थी। उससे पूर्व इस प्रथा का उल्लेख सम्भवतः नहीं मिलता। इसलिए यहाँ 'हाथ उठाकर नमस्कार या प्रणाम किया' अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। डा० गुप्त ने 'दिए हाथी' पाठ मान कर अर्थ किया है—सबने हँसते हुए उसे हाथी (अंजली) दी। उन्होंने 'हाथी' का अर्थ 'हस्त-पुटी' माना है, जिससे हाथ मिलाना ही ध्वनित होता है।

(३५३)

हसि कै राज रजायसु दीन्हा। मैं दरसन कारन एत कीन्हाँ॥
अपने जोग लागि अस खेला। गुरु भएउ आपु, कीन्ह तुम्ह चेला॥
अहक मोरि पुरुषारथ देखेहु। गुरु चीन्हि कै जोग बिसेखेहु॥
जौ तुम्ह तप साधा मोहिं लागी। अब जिनि हिये होहु बैरागी॥
जो जेहि लागि सहै तप जोगू। सो तेहि के सँग मानै भोगू॥
सोरह सरस पदिमिन माँगी। सबै दीन्हि, नहिं काहुहि खाँगी॥
सब कर मंदिर सोने साजा। सब अपने अपने घर राजा॥
हस्ति घोर औ कापर, सबहिं दीन्ह नव साज।
भए गृही औ लखपती, घर घर मानहु राज॥२॥

व्याख्या—अपने साथियों की बातें सुनकर राजा रत्नसेन ने हँसकर राजाज्ञा दी —'मैंने पद्मावती के दर्शन प्राप्त करने के लिए ही इतना सब किया था। अपनी योग-साधना के निमित्त अर्थात् पद्मावती के साथ अपने योग (मिलन) के लिए ही मैंने इस प्रकार का खेल खेला था, अर्थात् इतनी दूर चलकर यहाँ तक आया था। मैं स्वयं गुरु बना था और तुम सबको चेला बनाया था। मेरी यह लालसा थी कि तुम लोग पुरुषार्थ को देखकर उसका महत्त्व पहचानो। अपने गुरु को पहचान कर यह विचार करो कि पुरुषार्थ द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। यदि तुम सबने मेरी ही खातिर तप साधा था तो अब तुम लोग वैरागी मत बनो। जो जिसके लिए तपस्या और योग-साधना के कष्टों को सहन करता है, वह उसी के साथ भोग-विलास करता है। मैंने राजा गंधर्वसेन से तुम सबके लिए सोलह हजार पद्मिनी नारियाँ माँग ली हैं। उसने पूरी दे दी हैं, इसलिए किसी के लिए भी कम नहीं पड़ेगी। तुम सबके महल सोने से सजे हुए हैं और तुम सब अपने-अपने घर के राजा अर्थात् स्वामी हो।

राजा गंधर्वसेन ने हाथी, घोड़े और कपड़े आदि सभी कुछ नए साज-बाज के साथ दिए हैं। अब तुम सब गृहस्थ और लखपती बन गए हो, इसलिए अपने-अपने घर में राज्य का सुख भोगो, अर्थात् राजा के समान आनन्द से रहो।

२९

षट्-ऋतु-वर्णन-खंड

(३५४)

पदमावति सब सखी बोलाई। चीर पटोर हार पहिराई।।
सीस सबन्ह के सेंदुर पूरा। और राते सब अंग सेंदुरा।।
चँदन अगर चित्र सब[1] भरीं। नए चार जानहु अवतरीं।।
जनहु कँवल सँग फूली कूईं। जनहुँ चाँद सँग तरईं ऊईं।।
धनि-पदमावति, धनि तोर नाहू। जेहि अभरन पहिरा[2] सब काहू।।
बारह अभरन, सोरह सिंगारा। तोहि सौंह नहिं ससि उजियारा[3]।।
ससि सकलंक रहै नहिं पूजा। तू निकलंक, न सरि कोइ दूजा।।
काहू बीन गहा कर, काहु नाद मृदंग।
सबन्ह अनन्द मनावा, रहसि कूदि एक संग।।१।।

व्याख्या--पद्मावती ने अपनी सखियों को बुलाया और उन्हें रेशमी वस्त्र तथा हार पहनाये। सब की माँगों में सिन्दूर भरा और उनके सारे अंगों को भी सिन्दूर लगाकर लाल बना दिया। उनके अंगों पर चन्दन और अगर द्वारा नाना प्रकार के चित्र बनाये। इस प्रकार सज्जित होकर वे सब ऐसी प्रतीत होने लगीं मानो उनका नए ढंग से पुनर्जन्म सा हुआ हो, अर्थात् वे नवीन रूप में अवतरित हुई हों। पद्मावती के साथ वे इस प्रकार शोभा दे रही थीं, मानो कमल के साथ कुमुदिनियाँ फूली हुई हों, या चन्द्रमा के साथ तारकावलियाँ उदित हुई हों। सखियाँ पद्मावती से कहने लगीं कि हे पद्मावती! तुम धन्य हो, तुम्हारे स्वामी धन्य हैं जिनके कारण हम सब को आभूषण पहनने को प्राप्त हुए। बारह प्रकार के आभूषणों तथा सोलह शृंगार से सज्जित तुम्हारे इस रूप के सम्मुख चन्द्रमा की ज्योति भी नहीं ठहर पाती, अर्थात् चन्द्रमा का सौन्दर्य भी फीका पड़ जाता है। चन्द्रमा में एक तो कलंक है और दूसरी बात यह कि वह सदैव पूर्ण नहीं रहता, घटता-बढ़ता रहता है। परन्तु तुम निष्कलंक

पाठ-भेद—१. चतुरसम = समान मात्रा में चन्दन, केसर, अगरु और कस्तूरी का मिश्रण।
२. पहिरत = पहिनते ही।
३. तोहि सोह यह ससि संसारा = हे शशि! ये तुझे ही संसार में शोभा देते हैं।

हो, अर्थात् तुम्हारे सौन्दर्य में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है। इसलिए कोई भी सौन्दर्य में तुम्हारी समानता नहीं कर सकता।

सखियों में से किसी ने हाथ में वीणा ली तथा किसी ने मृदंग बजाया। इस प्रकार वे सब नृत्य-वाद्य के साथ आनन्द मनाने लगीं।

टिप्पणी—अलंकार—उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक।

(३५५)

पदमावति कहा सुनहु, सहेली। हौं सो कँवल, तुम कुमुदिनि-बेली॥
कलस मानि हौं तेहि दिन आई। पूजा चलहु चढ़ावहि जाई॥
मँझ पदमावति कर जो बेवानू। जनु परभात परै लखि भानू॥
आस-पास बाजत चौंडोला। दुंदुभि, झाँझ, तूर, डफ, ढोला॥
एक सङ्ग सब सोंधे-भरी। देव-दुवार उतरि भइ खरी॥
अपने हाथ देव नहलावा। कलस सहस इक घिरित भरावा॥
पोता मँडप अगर औ चँदन। देव भरा अरगज औ बंदन॥
कै प्रनाम आगे भई, विनय कीन्ह बहु भाँति।
रानी कहा चलहु घर, सखी ? होति है राति॥२॥

व्याख्या—सखियों को सम्बोधन कर पद्मावती कहने लगी कि हे सखियो ! मैं कमल के समान तथा तुम सब कुमुदिनियों की पंक्ति के समान हो। मैं उस दिन जब मन्दिर गई थी तो देवता पर कलश चढ़ाने की मानता मान आई थी। इसलिए चलो, चलकर हम लोग वहाँ अपनी संकल्प की हुई पूजा को चढ़ा आवें। (इतना कहकर सब वहाँ से चल पड़ीं)। सारी सखियों के मध्य पद्मावती का विमान, अर्थात् पालकी प्रभात-कालीन सूर्य के समान दिखाई पड़ रही थी। सखियों की पालकियों के आस-पास दुंदुभि, झाँझ, तुरही, डफ और ढोल बज रहे थे। विभिन्न प्रकार की सुगन्धियों से सुगन्धित सारी सखियाँ एक साथ चलकर मन्दिर के द्वार पर पहुँचीं और उतर कर खड़ी हो गईं। मन्दिर के भीतर प्रवेश कर उन्होंने अपने हाथ से देवता की मूर्ति को स्नान कराया और एक हजार एक कलशों में घी भर कर मूर्ति के ऊपर चढ़ाया। सारे मंडप को अगर और चन्दन से पोता और महादेव की मूर्ति पर अरगजा और चन्दन लगाया।

इसके उपरान्त वे सब देवता को प्रणाम कर उसके आगे खड़ी हो अनेक प्रकार से उसकी स्तुति करने लगीं। (पूजा के समाप्त हो जाने पर) पद्मावती ने सखियों से कहा कि हे सखियो ! अब घर लौट चलो, क्योंकि रात घिरती आ रही है।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—उत्प्रेक्षा।

(२) इस पद को डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने प्रक्षिप्त माना है।

(३५६)

भइ निसि, धनि जस ससि परगसी । राजै देखि भूमि फिर बसी ।।
भइ कटकई[1] सरद-ससि आवा । फेरि गगन रवि चाहै छावा ।।
सुनि धनि भौंह-धनुक फिरि फेरा । काम कटाछन्ह कोरहि[2] हेरा ।।
जानहु नाहिं पैज, प्रिय ! खाँचौ । पिता सपथ हौं आजु न बाँचौं ।।
काल्हि न होइ, रही महि रामा । आजु करहु रावन संग्रामा ।।
सेन सिंगार महूँ है सजा । गज-गति चाल, अंचल गति धजा ।।
नैन समुद औ खड़ग नासिका । सरवरि जूझ को मो सहुँ टिका ? ।।
हौं रानी पदमावति, मैं जीता रस भोग ।
तू सरवरि करु तासौं, जो जोगी तोहि जोग ।।३।।

व्याख्या—रात्रि हुई और सुन्दरी पद्मावती उस चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो उठी जो राजा रत्नसेन को देख पृथ्वी पर पुनः निवास करने के लिए उतर आया हो । भाव यह है कि रत्नसेन को आया हुआ देख पद्मावती पूर्ण चन्द्र के समान खिल उठी । शृंगार से सुसज्जित पद्मावती ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो शरद का पूर्ण-चन्द्र अपनी समस्त सेना को सजा युद्ध के लिए सन्नद्ध हो आकाश में चढ़ आया हो, क्योंकि सूर्य (रत्नसेन) आकाश पर छा जाना चाहता था, अधिकार कर लेना चाहता था । रत्नसेन का आगमन सुन कर सुन्दरी पद्मावती ने अपनी भौंह रूपी धनुष को चारों ओर घुमाया और कामोद्दीपक कटाक्षों रूपी बाण को उसकी ओर चलाते हुए तिरछी दृष्टि से ताका । फिर पद्मावती राजा रत्नसेन से कहने लगी कि हे प्रिय ! तुम नहीं जानते, आज मैं अपने पिता की शपथ लेकर यह प्रतिज्ञा करती हूँ कि आज तुम बच नहीं सकोगे । आज, कल का सा संग्राम नहीं होगा, जब कि रमणी अर्थात् मैं धरती पर पड़ी रही थी (और तुम मनमानी करते रहे थे) । आज तुम रमणशील रावण के समान मेरे साथ संग्राम करो । भाव यह है कि पद्मावती रत्नसेन को चुनौती दे रही है कि यदि साहस हो तो आज मेरे साथ कल की सी मनमानी करके देख लो । आज मैंने भी अपनी शृंगार रूपी सैन्य सजायी है; अर्थात् पूर्ण शृंगार किया है । मेरी चाल हाथियों की सेना है तथा मेरे अंचल का फहराना ही जैसे मेरी ध्वजा का फहराना है । समुद्र की हिलोर मेरे नेत्र में है । नासिका ही तलवार है । मेरे सम्मुख युद्ध कर कौन मेरे सामने टिक सकता है ।

मैं रानी पद्मावती हूँ । मैंने रस और भोग को जीत लिया है, अर्थात् मैं इन दोनों में पारंगत हूँ । तुम जाकर उसकी बराबरी करो जो तुम्हारे योग्य योगी हो अर्थात् जो तुम्हारे समान ही योगी हो ।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—रूपक ।

(२) पहली रात को पति के साथ प्रथम समागम करने के उपरान्त पद्मावती

पाठ-भेद—१. कातिकी = कार्तिकी पूर्णिमा । २. टँकोर = टंकार करके ।

प्रगल्भ नायिका बन गई है। अब वह संकोच को त्याग पति को पुनः रति-संग्राम करने के लिए ललकार रही है। वह प्रौढ़ा नायिका की भाँति धृष्ट बन रति के लिए रत्नसेन का आह्वान कर रही है।

(३५७)

हौं अस जोगी जान सब कोऊ। बीर सिंगार जिते मैं दोऊ।।
उहाँ सामुहें रिपु दल माहाँ। इहाँ त काम-कटक तुम्ह पाहाँ।।
उहाँ त हय चढ़ि कै दल मंडौं[1]। इहाँ त अधर अमिय-रस खंडौं।।
उहाँ त खड़ग नरिंदहि मारौं। इहाँ त बिरह तुम्हार संघारौं।।
उहाँ त गज पेलौं होइ केहरि। इहवाँ काम कामिनी-हिय हरि[2]।।
उहाँ त लूटौं कटक खँधारू। इहाँ त जीतौं तोर सिंगारू।।
उहाँ त कुंभस्थल गज नावौं। इहां त कुच-कलसहि कर लावौं।।
परै बीच धरहरिया, प्रेम-राज को टेक?।
मानहिं भोग छवौ ऋतु, मिलि दूवौ होइ एक।।४।।

व्याख्या—पद्मावती की उपर्युक्त बातों को सुन राजा रत्नसेन ने उससे कहा—

सब जानते हैं कि मैं ऐसा योगी हूँ जिसने वीर और श्रृंगार—दोनों रसों को जीत लिया है; अर्थात् मैं दोनों में दक्ष हूँ। वहाँ अर्थात् वीरता के रणक्षेत्र में मैं शत्रु-दल में सदा सामने रहता था, अर्थात् सबके आगे रहकर शत्रु से युद्ध करता था और यहाँ अर्थात् श्रृंगार के रणक्षेत्र में तुम्हारे पास जो कामदेव की सेना है उसके सामने मौजूद हूँ। (यहाँ कामदेव की सेना से अभिप्राय पद्मावती के श्रृंगार, हाव-भाव आदि से है।) वहाँ मैं घोड़े पर सवार हो शत्रुओं का विनाश करता था और यहाँ अमृत-रस का पान करने के लिए तुम्हारे अधरों का खंडन करता हूँ। वहाँ मैं अपने खड्ग द्वारा राजाओं का वध करता था और यहाँ तुम्हारे विरह का संहार कर रहा हूँ, अर्थात् रति-क्रीड़ा द्वारा तुम्हारे विरह को दूर भगाता हूँ। वहाँ मै सिंह बनकर हाथियों को पीछे ठेल देता था और यहाँ कामिनी अर्थात् तुम्हारे हृदय में छिपे कामदेव के ताप को दूर कर उसे दूर भगा देता हूँ। वहाँ मैं सेना और छावनी को लूटता था और यहाँ तुम्हारे श्रृंगार पर विजय प्राप्त कर उसे लूट लेता हूँ। वहाँ मैं हाथियों के कुम्भ-स्थलों (मस्तकों) को नीचे झुका देता था और यहाँ तुम्हारे कलश के समान सुडौल कुचों को अपने हाथ में पकड़ लेता हूँ।

पाठ-भेद—१. कोपि बैरिदर मंडौ=क्रुद्ध होकर शत्रुदल का मर्दन करता हूँ।
२. इहाँ त गज गामिनि कर हे हरि=यहाँ तू गजगामिनी मुझसे बचने के लिए 'हे हरि, हे हरि' कहती है।

२८

कवि कहता है कि इस प्रकार राजा रत्नसेन प्रेम की टेक लेकर बीच-बिचाव करने वाले धरहरिया की भाँति वीर और शृंगार रस के बीच पड़ा हुआ था। पद्मावती और रत्नसेन—दोनों मिलकर एकाकार हो छहों ऋतुओं में भोग-विलास करते थे।

टिप्पणी—अलंकार—सांगरूपक।

(३५८)

प्रथम बसंत नवल ऋतु आई। सुऋतु चैत बैसाख सोहाई॥
चन्दन चीर पहिरि धनि अङ्गा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा॥
कुसुम हार और परिमल बासू। मलयागिरि छिरका कबिलासू॥
सौंर सुपेती फूलन डासी। धनि औ कंत मिले सुखबासी॥
पिउ सँजोग धनि जोबन बारी। भौंर पुहुप सँग करहिं धमारी॥
होइ फाग भलि चांचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जस होरी॥
धनि ससि सियरि, तपै पिय सूरू। नखत सिंगार होहिं सब चूरू॥
जिन्ह घर कंता ऋतु भली, आव बसंत जो नित्त।
सुख भरि आवहिं[1] देवहरै, दुःख न जानै कित्त॥५॥

शब्दार्थ—सौंर=चादर या रजाई। सुपेती=श्वेत। सौंर सुपेती=ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र अथवा बिस्तर। धमारी=ऊधम, धमा-चौकड़ी। चाँचरि=चर्चरी राग, होली का एक गीत। सियरि=शीतल। देवहरै=देव मंदिर में।

व्याख्या—जायसी षट्ऋतु-वर्णन प्रारम्भ कर सर्वप्रथम वसन्त का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सबसे पहले वसन्त की नवल ऋतु का आगमन हुआ। इस सुन्दर ऋतु में चैत (चैत्र) और वैशाख महीनों का सुहावना समय रहता है। इस ऋतु में सुन्दरी पद्मावती ने अपने शरीर पर चन्दन के रंग के वस्त्र (चँदनौटा) धारण कर प्रफुल्लित हो अपनी माँग में सिन्दूर भरा। गले में फूलों के हार पहने और परिमल की सुगन्धि लगाई। फिर कैलास (स्वर्ग) में अर्थात् धवल गृह के ऊपर सातवें खंड में बने अपने शयन-कक्ष में मलयागिरि चंदन का छिड़काव किया। फिर शय्या पर फूलों का बिस्तर बिछाया। इस प्रकार सुसज्जित उस शयन-कक्ष (सुखवासी) में सुन्दरी पद्मावती और राजा रत्नसेन अर्थात् दोनों पति-पत्नी एक-दूसरे से मिले। इधर उस बाला (पद्मावती) की यौवन रूपी वाटिका में प्रिय का संयोग हुआ और दोनों वहाँ इस प्रकार धमा-चौकड़ी मचाने लगे (रति-क्रीड़ा करने लगे) जिस प्रकार भौंरे फूलों के साथ ऊधम मचाते हैं। इस जोड़ी ने मिलकर खूब फाग खेला और चाँचरी गीत गाए और इस प्रकार दोनों ने अपने-अपने विरह को होली के समान जलाकर भस्म कर डाला अर्थात् पूर्ण सुख प्राप्त

पाठ-भेद—१. बहरावहिं=व्यतीत करते हैं, बिताते हैं।

किया। सुन्दरी पद्मावती चन्द्रमा के समान शीतल थी और रत्नसेन सूर्य के समान तप्त हो रहा था। इन दोनों के इस रति-संग्राम में नक्षत्र रूपी सारा शृंगार मर्दित होकर चूर-चूर हो रहा था।

जिस घर में पत्नी के समीप उसका स्वामी रहता है उस घर में नित्य सुहावनी वसन्त ऋतु रहती है। इस ऋतु में पति-पत्नी सुख से परिपूर्ण हो देव-मन्दिरों में जाते हैं और उनका दुख न जाने कहाँ विलीन हो जाता है, अर्थात् वे कभी दुख का अनुभव नहीं करते।

टिप्पणी—वसन्त ऋतु में फाग खेला जाता है और चाँचरी नामक गीत और स्वाँग गाए और खेले जाते हैं। इसके उपरान्त होलिका-दहन का उत्सव होता है और मन्दिरों में जाकर पूजन किया जाता है। इस पद में जायसी ने एक प्रकार से वसन्त ऋतु में किए जाने वाले सभी उत्सवों और कर्मों का वर्णन कर दिया है।

(३५६)

ऋतु ग्रीषम कै तपनि न तहाँ। जेठ असाढ़ कन्त घर जहाँ॥
पहिरि सुरंग चीर धनि झीना। परिमल मेद रहा तन भीना॥
पदमावति तन सिअर सुवासा। नैहर राज, कन्त-घर पासा॥
औ बड़[1] जूड़ तहाँ सोवनारा। अगर पोति, सुख नेत ओहारा॥
सेज बिछावन सौंर सुपेती। भोग बिलास करहिं सुख सेंती॥
अधर तमोर कपुर भिमसेना। चंदन चरचि लाव तन बेना॥
भा आनंद सिंघल सब कहूँ। भागवंत कहँ सुख ऋतु छहूँ॥
दारिउँ दाख लेहिं रस[2], आम सदाफर डार।
हरियर तन सुअटा कर, जो अस चाखनहार॥६॥

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि ग्रीष्म ऋतु के दोनों महीनों—जेठ और आसाढ़ में यदि पति घर होता है तो वहाँ ग्रीष्म की तपन नहीं सताती। सुन्दरी पद्मावती ग्रीष्म ऋतु में सुन्दर रंग वाले महीन वस्त्र धारण करती थी। उसके शरीर से मेद की सुगन्धि आती रहती थी और वह शीतल और सुवासित रहता था। उसे अपने मायके (पिता के राज्य) में पति का सान्निध्य प्राप्त हुआ था। भाव यह है कि वह मायके में रहते हुए भी उन आनन्दों का भोग कर रही थी जो केवल पति-गृह में ही उपलब्ध होते हैं। उसका शयनागार बड़ा शीतल रहता था। उसमें अगर की पुताई की गई थी और सुखदायक परदे पड़े हुए थे। शय्या पर बिछे बिस्तर पर सफेद चादर थी। ऐसी उस शय्या पर शयन कर वे दोनों सुख के साथ भोग-विलास करते थे। पद्मावती के अधरों पर भीमसेनी कपूर मिला हुआ पान शोभित था। वह अपने शरीर पर चन्दन

पाठ-भेद—१. ओबरि=ओबरी, कोठरी। २. बेरसहिं=बिलसते, शोभित।

का लेप कर नित्य खस का इत्र लगाती थी। सिंहल में सर्वत्र आनन्द हो रहा था। भाग्यशालियों को वर्ष की छहों ऋतुएँ सुख देने वाली होती हैं।

इस ऋतु में अनार और अंगूरों का रस पक रहा था, डालों में आम और सीताफल लग रहे थे। जो तोता इन फलों का रस चखता है, उसका शरीर हरा हो जाता है। भाव यह है कि पद्मावती का यौवन इस समय पूर्ण रूप से पक कर रस-प्लावित हो रहा था। जो उसके इस यौवन-रस का पान करने वाला रत्नसेन था, उसका शरीर सदैव हरा, अर्थात् प्रफुल्लित रहता था।

(३६०)

रितु पावस बरसै[1], पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सोहावा॥
पदमावति चाहति ऋतु पाई। गगन सोहावन, भूमि सोहाई[2]॥
कोकिल बैन, पाँति बग छूटी। धनि निसरीं जनु बीरबहूटी॥
चमक बीजु, बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रँग-राती पीतम सँग जागी। गरजे गगन चौंकि गर लागी॥
सीतल बूँद, ऊँच चौपारा। हरियर सब देखाइ संसारा॥
हरियर भूमि, कुसुँभी चौला। औ धनि पिउ सँग रचा हिंडोला॥
पवन झकोरे होइ हरष, लागे सीतल बास।
धनि जानै यह पवन है, पवन सो अपने पास[3]॥७॥

व्याख्या—वर्षा ऋतु आने पर यदि कामिनी के पास उसका पति हो तो उसे सावन और भादों के महीने अधिक सुहावने लगते हैं। वर्षा ऋतु के आने पर पद्मावती ने अपनी मनचाही ऋतु पाई, अर्थात् पद्मावती इसी ऋतु के आने की प्रतीक्षा कर रही थी (क्योंकि पावस ऋतु सर्वाधिक कामोद्दीपक मानी गई है)। इस ऋतु में आकाश का रूप सुहावना लगने लगा। पृथ्वी (हरियाली से ढक जाने के कारण) सुन्दर दिखाई देने लगी। कोयल कूक उठी। बगुलों की पंक्तियाँ उड़ने लगीं। सुन्दरी स्त्रियाँ अपने-अपने घरों से ऐसे बाहर निकल पड़ीं, मानो बीरबहूटियाँ चली जा रही हों। आकाश में बिजली चमकने लगी। पानी की बरसती हुई बूँदें बिजली के कौंधे की चमक में ऐसी प्रतीत हो रही थीं, मानो सोने की बूँदें बरस रही हों। मेंढ़कों और मोरों के शब्द अधिक सुन्दर प्रतीत होने लगे। प्रेम में अनुरक्त पद्मावती प्रियतम के साथ रात-भर जागती रही। जब आकाश में बादल गरजते थे तो वह चौंक कर रत्नसेन के गले से चिपट जाती थी। उसकी ऊँची चौपाल पर शीतल जल की बूँदें पड़ रही थीं। सारा संसार हरियाली से ढका दिखाई पड़ता था। पृथ्वी हरे रंग की

पाठ-भेद—१. बेरसै=विलास। २. डा० गुप्त के पाठ में यह अर्द्धाली नहीं मिलती। इसके स्थान पर छठवीं पंक्ति इस प्रकार मिलती है—'मलय समीर बास सुखबासी। बेइलि फूल सेज सुख गासी।' ३. आस।

हो रही थी। पद्मावती ने कुसुम्भी रंग के वस्त्र धारण किए और प्रियतम के साथ झूला झूलने की तैयारी करने लगी।

झूला झूलते समय जब पद्मावती के शरीर में शीतल और सुगन्धित पवन लगने से हर्ष उत्पन्न होता था तो वह समझती थी कि यह हर्ष इस शीतल और सुगन्धित पवन के शरीर में लगने से उत्पन्न हो रहा था। परन्तु वास्तव में हर्ष के उत्पन्न होने का कारण यह था कि उसका पति उसके समीप था।

(३६१)

आइ सरद ऋतु अधिक पियारी। आसिन कातिक ऋतु उजियारी॥
पदमावति भइ पूनिउँ-कला। चौदसि चाँद उई सिंघला॥
सोरह कला सिंगार बनावा। नखत-भरा सूरुज ससि पावा॥
भा निरमल सब धरनि अकासू। सेज सँवारि कीन्ह फुल-बासू॥
सेत बिछावन और उजियारी। हँसि हँसि मिलहिं पुरुष औ नारी॥
सोन-फूल भइ पुहुमी फूली। पिय धनि सौं, धनि पिय सौं भूली॥
चख अंजन देइ खँजन देखावा। होइ सारस जोरी रस पावा॥
एहि ऋतु कन्ता पास जेहि, सुख तेहि के हिय माहँ।
धनि हँसि लागै पिउ गरै, धनि-गर पिउ कै बाहँ॥८॥

व्याख्या—ग्रीष्म के उपरान्त आने वाली शरद ऋतु का वर्णन करते हुए जायसी कहते हैं—

शरद की अत्यन्त प्यारी ऋतु आई। आश्विन (क्वार) और कार्तिक (कातिक) के महीनों में आने वाली यह ऋतु उज्ज्वल होती है, अर्थात् इसमें वर्षा ऋतु के बादल, जलवर्षा आदि गायब हो जाने के कारण आकाश और पृथ्वी निर्मल हो जाते हैं। पद्मावती इस ऋतु में पूर्णिमा के चन्द्र की सम्पूर्ण कलाओं के समान चतुर्दशी के चन्द्रमा के रूप में सिंहलद्वीप में उदय हुई, अर्थात् पद्मावती का सम्पूर्ण सौंदर्य प्रस्फुटित हो उठा। उसने सोलह कलाओं के साथ अपना श्रृंगार किया और रत्नसेन के पास आई। सूर्य ने अर्थात् रत्नसेन ने नक्षत्रों से शोभित चन्द्रमा को अर्थात् आभूषणों से सज्जित पद्मावती को प्राप्त किया। सारा आकाश और पृथ्वी निर्मल हो उठे। पद्मावती ने अपनी शय्या सजा उसे फूलों से सुवासित किया। उस शय्या पर सफेद बिछौना बिछा था और चतुर्दिक चाँदनी छिटक रही थी। ऐसे उस सुखद वातावरण में पुरुष और नारी अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती हँस-हँस कर आपस में मिलते थे, अर्थात् रति-क्रीड़ा करते थे। सारी पृथ्वी में सोने के-से रंग के पीले फूल खिल रहे थे। प्रिय प्रियतमा से और प्रियतमा प्रिय से संयुक्त होकर अपनी सुध-बुध भूल रहे थे, अर्थात् प्रेम में पूर्ण तन्मय हो रहे थे। पद्मावती ने आँखों में काजल लगा रखा था। उसके कारण उसकी आँखें खंजन पक्षी के समान सुन्दर और चंचल दिखाई पड़ रही थीं। पद्मावती और रत्नसेन ने सारस की जोड़ी के समान रस को प्राप्त किया, अर्थात् केलि-क्रीड़ा की।

इस ऋतु में जिस नारी के पास उसका कन्त रहता है उसके हृदय में सुख रहता है अर्थात् वह पूर्ण सुखी रहती है। पद्मावती हँसकर रत्नसेन के कंठ से चिपट जाती थी और रत्नसेन की भुजायें पद्मावती की गर्दन को आबद्ध किए रहती थीं।

(३६२)

ऋतु हेमंत सँग पिएउ पियाला[1]। अगहन पूस सीत सुख-काला।।
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहुँन्ह अंग एकै मिलि लागा।।
मन सौं मन, तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय, बिच हार न रहा।।
जानहुँ चंदन लागेउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा।।
भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखे सब सिस्टि जुड़ानी।।
जूझ दुवौ जोवन सौं लागा। बिचहुँतसाउ सीउ लेइ भागा।।
दुइ घट मिलि एकै होइ जाहीं। ऐस मिलहिं तबहूँ न अघाहीं।।
हंसा केलि करहिं जिमि, खूँदहिं कुरलहिं दोउ।
सीउ पुकारि कै पार भा, जस चकई क बिछोउ।।६।।

शब्दार्थ—धनि······सोहाग=शीत दोनों के बीच सोहागे के समान है जो सोने के टुकड़े को मिलाकर एक कर देता है। बिच हुँत=बीच में से। कुरलहिं= क्रीड़ा करते हैं। पार भा=समाप्त हो गया।

व्याख्या—हेमन्त ऋतु में उन दोनों (पद्मावती और रत्नसेन) ने सुरा का प्याला पीया। अगहन और पूस के महीनों में जो शीत पड़ता है, उसके कारण यह समय सुखद होता है। पति और पत्नी के मध्य यह शीत सोहागे का काम करता है, अर्थात् जिस प्रकार सोहागा मिलाने से सोने के दो टुकड़े आपस में जुड़ कर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार हेमन्त ऋतु के शीत के कारण पति-पत्नी आपस में चिपट कर एक हो जाते हैं। उन दोनों के सारे अंग आपस में मिलकर एक हो जाते हैं। उनके मन और शरीर आपस में एक-दूसरे को प्रगाढ़ालिंगन में आबद्ध कर लेते हैं। उन दोनों के हृदय एक-दूसरे से इस प्रकार चिपट जाते हैं कि उनके बीच में रहने वाले हार को अपना स्थान छोड़कर भाग जाना पड़ता है। भाव यह है कि जब वे प्रगाढ़ आलिंगन में एक-दूसरे को कस लेते हैं तो हृदय पर पड़े हार को हटा देते हैं, जिससे वह उन दोनों के पूर्ण मिलन में बाधक न बन सके। उन दोनों को एक-दूसरे के शरीर का स्पर्श ऐसा शीतल और सुखद प्रतीत होता है जैसे चन्दन का लेप शीतल और सुखद होता है। आपस में एक-दूसरे से लिपट जाने के कारण उनके शरीर पर लगा चन्दन रहने नहीं पाता, अर्थात् रगड़ खाकर छूट जाता है। इस प्रकार राजा रत्नसेन और रानी पद्मावती सुखपूर्वक आपस में भोग-विलास करते हैं। उन्हें अपनी समझ के अनुसार सारी सृष्टि भी अपने ही समान सन्तुष्ट और सुखी प्रतीत होती है। वे दोनों यौवन के साथ

पाठ-भेद—१. पीउ न पाला=पति के साथ रहने से पाला असर नहीं करता।

युद्ध करने लगे, अर्थात् यौवन के उद्दाम में भर आपस में रतियुद्ध करने लगे। यह देख उनके बीच में रहने वाला शीत अपने प्राणों को ले भाग खड़ा हुआ, अर्थात् वे शीत का अनुभव नहीं करते। उन दोनों के शरीर आपस में मिलकर एकाकार हो जाते हैं परन्तु इस प्रकार मिलने पर भी उन्हें पूर्ण तृप्ति नहीं मिलती, अर्थात् वे सन्तुष्ट नहीं होते, अधिक भोग करने की उनकी लालसा बनी रहती है।

जिस प्रकार हंसों की जोड़ी क्रीड़ा करती है उसी प्रकार वे दोनों ऊधम मचाते हुए रति-क्रीड़ा करते हैं। जिस प्रकार चकवी चकवे से बिछुड़ कर करुण क्रन्दन करती है, उसी प्रकार शीत करुण क्रन्दन करता हुआ समाप्त हो गया, अर्थात् भाग खड़ा हुआ।

टिप्पणी—(१) 'सीउ पुकारि कै पार भा'—यहाँ कवि ने शीत की कल्पना नायिका की उपपति के रूप में की है जो पति-समागम से पूर्व नायिका के पास था; अर्थात् उस समय नायिका शीत से आक्रान्त हो रही थी। परन्तु पति के आते ही वह आर्त्त क्रन्दन करता हुआ भाग खड़ा हुआ। पति-समागम के समय नायिका को शीत नहीं सताता।

(२) डा० गुप्त ने इस पद की आरम्भिक पंक्ति इस प्रकार मानी है—'आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ। अगहन पूस जहाँ घर पीऊ।' अर्थात् वह इस वर्णन को शिशिर ऋतु का वर्णन मानते हैं। इसी प्रकार आगामी पद को उन्होंने हेमन्त ऋतु से सम्बन्धित माना है। यह गलत है। परन्तु डा० गुप्त का कहना है कि जायसी ने मास और ऋतु सम्बन्धी ग़लती को कई बार दुहराया है। सम्भवतः शुक्लजी ने इसे शुद्ध कर दिया हो।

(३६३)

आइ सिसिर ऋतु, तहाँ न सीऊ। जहाँ माघ फागुन घर पीऊ[1]।
सौंर सुपेती मंदिर राती[2]। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती॥
घर घर सिंघल होइ सुख भोजू। रह न कतहूँ दुख कर खोजू॥
जहँ धनि पुरुष सीउ नहि लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा॥
जाइ इन्द्र सौं कीन्ह पुकारा। हौं पदमावति देस निसारा॥
एहि ऋतु सदा संग महँ सोवा। अब दरसन तें मोर बिछोवा॥
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। रहा जो सीउ बीच सो मेटा॥
भएउ इंद्र कर आयसु, बड़ सताव[3] यह सोइ।
कबहुँ काहु के पार भइ[4], कबहुँ काहु के होइ॥१०॥

व्याख्या—शिशिर ऋतु का आगमन हुआ। इस ऋतु के माघ और फागुन

पाठ-भेद—१. माघ फागुन सुख सीउ सियाला। २. महँ दिन राती।
३. प्रस्थावा=प्रसंग, कहावत। ४. परिभौ=पराभव, पतन।

के महीनों में जिस घर में प्रियतम रहता है, वहाँ शीत प्रवेश नहीं कर पाता, अर्थात् इस ऋतु में पति के घर रहने से प्रियतमा को शीत नहीं सताता। प्रेम की अनुरक्तायें अपने शयन-कक्ष में सफेद चादर बिछाती हैं और अनेक प्रकार के मोटे वस्त्र धारण करती हैं। सिंहलद्वीप में घर-घर में सुख का उपभोग हो रहा है। वहाँ दुख का कहीं नाम-निशान तक नहीं मिलता, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण सुखी है। जहाँ स्त्री और पुरुष साथ-साथ रहते हैं, वहाँ जाड़ा नहीं लगता। वह वहाँ से उसी प्रकार भाग खड़ा होता है जिस प्रकार कौआ बाण को देखकर भाग खड़ा होता है। शीत रूपी कौए ने अपनी यह दशा देख इन्द्र के पास जाकर फरियाद की कि पद्मावती ने मुझे देश निकाला दे दिया है। मैं इस ऋतु में सदैव उसके साथ सोता था परन्तु अब तो मैं उसके दर्शनों तक के लिए तरस जाता हूँ। अब तो शशि अर्थात् पद्मावती हँसकर अर्थात् प्रसन्न होकर सूर्य अर्थात् रत्नसेन के साथ भेंट कर रही है। (शिशिर ऋतु में सूर्य और चन्द्र कभी-कभी आकाश में एक साथ दिखाई दे जाते हैं।) इन दोनों के बीच में जो शीत था वह नष्ट हो गया, अर्थात् मिलन के कारण दोनों को शीत नहीं सता पाता।

शीत रूपी कौए की यह फरियाद सुन इन्द्र ने आज्ञा दी कि यह तो वही है जो लोगों को बहुत सताया करता है। मैं क्या कर सकता हूँ, क्योंकि कभी किसी की विजय होती है और कभी किसी की। भाव यह है कि जब पद्मावती अकेली थी तब शीत उसे सताया करता था। परन्तु अब रत्नसेन का सहयोग पाकर वह प्रबल हो उठी है और उसने शीत को मार कर भगा दिया है।

३०

नागमती-वियोग-खंड

(३६४)

नागमती चितउर-पथ हेरा। पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा॥
नागर काहु नारि बस परा। तेइ मोर पिउ मोसौं हरा[1]॥
सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहिं जात, जात बरु जीऊ॥
भएउ नरायन बावन करा। राज करत राजा बलि छरा॥
करन पास[2] लीन्हेउ के छंदू। बिप्र रूप धरि झिलमिल इंदू[3]॥
मानत भोग गोपिचंद भोगी। लेइ अपसवा जलंधर जोगी॥
लेइगा कृस्नहि गरुड़[4] अलोपी। कठिन बिछोह, जियहिं किमि गोपी॥

सारस जोरी कौन हरि, मारि बियाधा लीन्ह ?[5]।
झुरि झुरि पँजर हौं भई, बिरह काल मोहि दीन्ह[6] ॥१॥

शब्दार्थ—फेरा=लौटना। नागर=पति। बावन करा=बावन का रूप, वामनावतार। छन्दू=धूर्त्तता, छल-छन्द। झिलमिल=कवच (सींकड़ों का)। अपसवा=चल दिया। अलोपी=गायब हो गया। गरुड़=अक्रूर, जो गरुड़ के अवतार माने जाते थे।

व्याख्या—इस पद से जायसी प्रसिद्ध नागमती-विरह का प्रारम्भ कर रहे हैं। राजा रत्नसेन जब से चित्तौड़ से गया है तब से नागमती को उसका कोई समाचार नहीं मिला है। इसलिए पति-वियुक्ता नागमती के मन में नाना प्रकार के विकल्प उठ रहे हैं। उसे आशंका है कि किसी नारी ने उसके पति को मोह लिया है। यहाँ जायसी नागमती के मन में उठ रही इन्हीं आशंकाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नागमती रात-दिन चित्तौड़ को आने वाले रास्ते की ओर टकटकी लगाए बैठी रहती है, क्योंकि उसका पति जब से गया था, तब से अभी तक लौटकर नहीं आया है।

पाठ-भेद १. तेइँ बिमोहि मोसौं चितु हरा। २. बान। ३. भारथ भएउ छल मिला इन्दू=अर्थात् कर्ण ने छल करके (परशुराम से) ब्रह्मास्त्र लिया था, परन्तु महाभारत के युद्ध में उसे इन्द्र जैसे छलिया का सामना करना पड़ा। ४. भा अकरूर=अक्रूर। ५. सारस जोरी किमि हरी मारि गएउ किन खग्गि। ६. बिरह कै लागी अग्गि।

वह मन में सोचती है— मेरा पति किसी नारी के प्रेम में फँस उसके बस में हो गया है। उसी नारी ने मेरे पति को मुझसे छीन लिया है। वह हीरामन तोता मेरे लिए काल बनकर आया और मेरे पति को यहाँ से ले गया। मेरा पति मुझसे दूर न जाता, भले ही मेरे प्राण चले जाते। जिस प्रकार विष्णु भगवान ने वामन का रूप धारण कर अर्थात् वामनावतार ले राज्य करते हुए राजा बलि को छल लिया था, उसी प्रकार यह तोता मुझसे मेरे पति को धोखा देकर छीन ले गया। जिस प्रकार इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश धारण कर राजा कर्ण के पास जा धोखा देकर उसने उसका अक्षय कवच दान में माँग लिया था उसी प्रकार यह तोता मुझसे मेरे पति को माँग ले गया। भोग-विलास में मग्न राजा गोपीचन्द को जिस प्रकार योगी जालन्धर नाथ फुसला कर अपने साथ ले चल दिया था उसी प्रकार यह तोता मेरे पति को फुसला कर ले गया। गरुड़ अर्थात् अक्रूर कृष्ण को लेकर गायब हो गया। गोपियाँ वियोग की कठिन पीड़ा से व्याकुल होने लगीं। वे अब अपने प्राण कैसे बचायें। इसी प्रकार तोता मेरे पति को लेकर गायब हो गया, मैं भयंकर विरह में तड़पने लगी, अब मेरे प्राण कैसे बचें।

मेरे इस सारस की सी जोड़ी को किसने अलग कर दिया? क्या किसी बहेलिए ने मेरी जोड़ी (पति) को मार डाला है? मैं पति के वियोग में सूख-सूख कर अस्थि-कंकाल मात्र रह गई हूँ। उस तोते ने मेरे पति को मुझसे छीनकर मुझे काल के समान यह भयंकर विरह दे दिया है।

टिप्पणी—जायसी ने इस पद में अनेक प्रसिद्ध अन्तःकथाओं का वर्णन किया है।

जायसी ने इन सारी कथाओं में छल की प्रमुखता दिखाते हुए यह कहा है कि जिस प्रकार राजा बलि, कर्ण, गोपीचन्द, गोपियाँ आदि छली व्यक्तियों द्वारा छले गये थे, उसी प्रकार हीरामन तोता नागमती को छल कर रतनसेन को अपने साथ ले गया। जायसी ने बड़े कौशल के साथ उपर्युक्त विभिन्न कथाओं को केवल चार अर्द्धालियों में ही समाविष्ट कर दिया है।

(३६५)

पिउ-बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा निति बौलै 'पिउ पीऊ'॥
अधिक काम दाधै सो रामा। हरि लेइ सुबा गएउ पिउ नामा[1]॥
बिरह बान तस, लाग, न डोली। रकत पसीज, भींजि गइ चोली॥
सूखा हिया, हार भा भारी[2]। हरे हरे प्रान तजहिं सब नारी॥
खन एक आव पेट महँ सासा। खनहिं जाइ जिउ, होइ निरासा॥
पवन डोलावहिं, सींचहिं चोला. पहर एक समुझहिं मुख-बोला॥

पाठ-भेद—१. हरि जिनु लै सो गएउ=प्राण हर कर ले गया।
२. सखि हिय हेरि हार मैन मारी।

प्रान पयान होत को राखा ? । को सुनाव पीतम कै भाखा[1] ।।
आहि जो मारै बिरह कै, आगि उठै तेहि लागि[2] ।
हंस जो रहा सरीर मह, पाँख जरा, गा भागि[3] ।।२।।

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि प्रियतम से वियोग होने पर उसका जी बावला सा हो उठा। वह नित्य पपीहे के समान 'पिउ-पिउ' रटने लगी। उस रमणी को काम अधिक दग्ध करने लगा। वह तोता उस स्त्री के पति के नाम को भी हर ले गया। भाव यह है कि नागमती हिन्दू नारी होने के कारण अपने पति का नाम तक नहीं ले सकती थी। उसे विरह का ऐसा भयंकर बाण लगा था कि वह उसकी चोट से हिल-डुल भी नहीं सकती थी। उसके शरीर से पसीने के साथ रक्त निकलता था जिससे उसकी चोली भीग जाती थी। उसका हृदय अर्थात् सीना सूख गया था और इतना निर्बल हो गया था कि उस पर पड़ा हुआ हार भी उसे भारी लगने लगा था। जो स्त्रियाँ ऐसे विरह की शिकार हो जाती हैं, उन सब के प्राण धीरे-धीरे करके निकलते हैं। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि नागमती के शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियाँ धीरे-धीरे अशक्त होती जा रही हैं और उसके प्राण तिल-तिल करके निकल रहे हैं। क्षण में वह साँस लेती थी और फिर दूसरे ही क्षण उस साँस को छोड़ देती थी, अर्थात् नागमती विरह के कारण लम्बी-लम्बी साँसें ले रही थी जो मरणासन्न अवस्था की सूचक होती है। उसकी यह स्थिति देख उसकी दासियाँ उसके जीवन की ओर से निराश हो उठती थीं। वे पंखा लेकर उसकी हवा करतीं, शरीर पर शीतल जल के छींटे मारतीं जिससे नागमती पहर भर के लिए होश में आ जाती और मुख से कहने लगती कि मेरे प्राण जाना चाहते हैं, अब कौन आकर इनकी रक्षा करेगा ? कौन मुझे अपने प्रियतम की मधुर वाणी सुनायेगा ?

जो विरह का मारा हुआ होता है उसके शरीर में आग-सी धधकने लगती है। विरह की उस अग्नि के कारण शरीर के भीतर रहने वाले हंस, अर्थात् जीव के पंख जल जाते हैं और वह भाग जाता है। भाव यह है कि नागमती विरह-दाह के कारण मरणासन्न हो रही है।

टिप्पणी—'पहर एक समुझहिं मुख बोला'—शुक्ल जी ने इस पंक्ति का यह अर्थ किया है कि नागमती के मुख से इतना अस्पष्ट बोल निकलता है कि उसका मतलब समझने में पहरों लग जाते हैं। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इससे अगली पंक्ति में ही नागमती स्पष्ट रूप से अपनी वेदना का उल्लेख करती है।

पाठ-भेद—१. को मिलाव चात्रिक—चातक की बोल 'पिउ' को।
२. तेहि हांक—आह। ३. तन थाक—शरीर थक गया।

(३६६)

पाट-महादेइ ! हिये न हारू। समुझि जीउ, चित चेतु सँभारू ॥
भौर कँवल सँग होइ मेरावा[१]। सँवरि नेह मालति पहँ आवा ॥
पपिहै स्वाती सौं जस प्रीती। टेकु पियास; बाँधु मन थीती ॥
धरतिहि जैस गगन सौं नेहा। पलटि आव बरषा ऋतु मेहा ॥
पुनि बसंत ऋतु आव नबेली। सो रस, सो मधुकर, सो बेली ॥
जिनि अस जीव करसि तू बारी। यह तरिवर पुनि उठिहि सँवारी ॥
दिन दस बिनु जल सूखि बिधंसा। पुनि सोइ सरवर, सोई हंसा ॥
मिलहिं जो बिछुरे साजन, अंकम भेंटि गहंत।
तपनि मृगसिरा जे सहैं, ते अद्रा पलुहंत ॥३॥

व्याख्या—नागमती की दासियाँ विरह-व्यथिता नागमती को सान्त्वना देती हुई कहती हैं कि हे पटरानी ! तुम अपने मन में निराश न हो। मन को समझाओ और अपनी चेतना को सम्हालो, अर्थात् अपने होश-हवास ठीक रखो। भ्रमर का कमल के साथ मिलन होता है। परन्तु वह मालती के स्नेह का स्मरण कर उसके पास लौट आता है। भाव यह है कि इसी प्रकार रत्नसेन तुम्हारे स्नेह के आकर्षण से खिंचा हुआ तुम्हारे पास लौट आयेगा। पपीहा जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र के जल से प्रेम करता है और उसकी प्रतीक्षा करता हुआ अपनी प्यास को रोके रहता है, उसी तरह तुम भी पति के प्रति अपने प्रेम में एकनिष्ठ बनी रह कर उसकी प्रतीक्षा करो। अपने मन में धैर्य धारण करो, अर्थात् मन को विचलित मत होने दो। पृथ्वी जिस प्रकार गगन से प्रेम करती है तो गगन वर्षा ऋतु में मेघों के रूप में लौट कर धरती से जा मिलता है और उसे जल (रस) से आप्लावित कर देता है, उसी प्रकार तुम्हारा प्रियतम लौटकर तुम्हें रस से आप्लावित कर देगा। तुम्हारे जीवन में पुनः नवल वसन्त ऋतु का सा सुखदायक समय आयेगा, फिर वही रस का पान किया जायेगा, वही भ्रमर होगा, अर्थात् वही तुम्हारा पति होगा, वही लता होगी, अर्थात् वही तुम होगी। भाव यह है कि समय आने पर तुम्हारा पति लौट आयेगा और तुम पुनः जीवन का रस भोगोगी। इसलिए हे सुन्दरी ! तुम अपने मन को इतना हताश मत करो। तुम्हारा यह शरीर रूपी तरुवर पुनः पल्लवित हो उठेगा। दस दिन अर्थात् कुछ दिन वर्षा न होने से सरोवर का जल सूख जाता है और उसमें क्रीड़ा करने वाले हंस उड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं। परन्तु वर्षा ऋतु आने पर वही सरोवर पुनः जल से भर जाता है और वही हंस पुनः वहाँ आ क्रीड़ा करने लगते हैं। भाव यह है कि दुख के दिन अधिक लम्बे नहीं होते, उनके बीत जाने पर पुनः सुख के दिन आते हैं और जीवन में

पाठ-भेद—१. होइ न परावा=पराया नहीं हो जाता।

आनन्द-मंगल छा जाता है। इसी प्रकार बिछुड़े हुए प्रियजन भी आपस में पुनः मिल जाते हैं।

जो प्रियतम बिछुड़ जाते हैं वे पुनः आपस में मिलते हैं और मिलने पर एक-दूसरे को अंक में भर-भर कर खूब स्नेह के साथ भेंटते हैं। जो मृगशिरा नक्षत्र के ताप को सहता है, वह आर्द्रा नक्षत्र के आने पर पुनः आनन्दित हो उठता है। भाव यह है कि दुख के बाद सुख उसी प्रकार आता है, जिस प्रकार मृगशिरा नक्षत्र में पृथ्वी खूब ताप सहने के उपरान्त आर्द्रा नक्षत्र के साथ वर्षा होते ही तृप्त हो जाती है। उसकी सारी तपन जाती रहती है। नागमती के विरह के दिन भी इसी प्रकार बीत जायेंगे और रत्नसेन लौटकर उसे रस से आप्लावित कर देगा।

टिप्पणी—(१) अलंकार—द्रष्टान्त।

(२) वर्षा के दस नक्षत्र माने गए हैं जो इस प्रकार हैं—आर्द्रा (आषाढ़ कृष्ण), पुनर्वसु (आषाढ़ शुक्ल), पुष्य (श्रावण कृष्ण), श्लेषा (श्रावण शुक्ल), मघा (भाद्रपद कृष्ण), पूर्वा फाल्गुनी (भाद्रपद शुक्ल), उत्तरा फाल्गुनी (आश्विन कृष्ण), हस्त (आश्विन शुक्ल), चित्रा (आश्विन शुक्ल का अन्त या कार्तिक कृष्ण), स्वाति (कार्तिक शुक्ल)। इनके आने पर वर्षा होती है। प्रत्येक नक्षत्र १५ दिन तपता है। आर्द्रा नक्षत्र से उत्तरी भारत में वर्षा प्रारम्भ होती है, परन्तु आर्द्रा से १५ दिन पहले तक मृगशिरा नक्षत्र ज्येष्ठ शुक्ल में खूब तपता है। मृगशिरा को मृगडाह भी कहते हैं। इसके बाद ही आर्द्रा आता है।

(३६७)

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुन्द दल बाजा॥
धूम, साम, धौरे घन धाए। सेत धजा बग-पाँति देखाए॥
खड़ग-बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुंद-बान बरसहिं घन घोरा॥
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत! उबारु मदन हौं घेरी॥
दादुर, मोर, कोकिला, पीऊ। गिरे बीजु[1], घट रहै न जीऊ॥
पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा॥
अद्रा लाग, लागि भुइँ लेई[2]। मोहिं बिनु पिउ को आदर देई ?॥
जिन्ह घर कंता से सुखी, तिन्ह गारौ औ गर्ब।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब॥४॥

व्याख्या—इस पद से जायसी अपने प्रसिद्ध 'बारहमासा' का प्रारम्भ कर रहे हैं। कवियों ने बारहमासा का प्रारम्भ प्रायः आषाढ़ मास से ही किया है। जायसी उसी परम्परानुसार आषाढ़ मास से बारहमासा का प्रारम्भ करते हैं। इस मास में

पाठ-भेद—१. करहिं बेझ=भेद रहे हैं। २. बीज भुइँ लेई=भूमि बीज ग्रहण करती है।

आकाश में मेघ छा गए हैं, जिन्हें देख-देख विरहदग्धा नागमती का विरह और अधिक तीव्र होता जा रहा है और वह व्याकुल होकर कहती है—

आषाढ़ का महीना आ गया है। आकाश में मेघ गरज रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो विरह ने मेरे ऊपर आक्रमण करने के लिए दुःखों की सेना इकट्ठी कर ली है और युद्ध के नगाड़े बजा रहा है। आकाश में धूमिल, काले और सफेद रंग के बादल इधर-उधर दौड़ रहे हैं। उनके बीच उड़ती हुई बगुलों की कतारें ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे श्वेत पताका फहरा रही हो। चारों ओर बिजली इस प्रकार चमक रही है मानो योद्धागण तलवार घुमा रहे हों। बूँदों की ऐसी घनघोर वर्षा हो रही है मानो योद्धा बाणवर्षा कर रहे हों। घटा उमड़ कर चारों ओर छा गई है। हे स्वामी ! आकर मेरी रक्षा करो। काम ने मुझे चारों तरफ से घेर लिया है। चारों ओर मेंढ़क, मोर, कोयल और पपीहा शोर मचा रहे हैं—जिसे सुन मेरे हृदय पर बिजली सी गिरने लगती है और प्राण व्याकुल हो शरीर त्याग भाग जाना चाहते हैं। भाव यह है कि इन सब की बोली मेरे विरह को अधिक उद्दीप्त कर देती है जिससे मुझे प्राणान्तक कष्ट होता है। पुष्य नक्षत्र सिर के ऊपर आ गया है। मैं बिना स्वामी के घर में अकेली हूँ। अब मेरे घर पर छप्पर कौन डालेगा अर्थात् पुष्य नक्षत्र के आने पर घनघोर वर्षा होगी तो उससे मेरी रक्षा कौन करेगा ? आर्द्रा नक्षत्र लग गया है। पृथ्वी के खेतों में लावा लग गया है, अर्थात् खेत पानी से भर गए हैं। ऐसे समय में प्रियतम के बिना कौन मुझे आदर देगा; अर्थात् वर्षा की इस कामोद्दीपक ऋतु में पति के बिना और कौन मेरी चाहना करेगा ?

ऐसे समय जिन नारियों के घर में उनके पति रहते हैं, वे ही सुखी हैं। वे ही गौरव और गर्व का अनुभव करती हैं। परन्तु मेरे स्वामी तो बाहर परदेश में हैं, इसलिए मैं तो अपने सारे सुख को भूल बैठी हूँ।

टिप्पणी—विरह की अवस्था का लोकगीतों तथा समृद्ध काव्य-परम्पराओं में खूब वर्णन हुआ है। कविगण वर्ष के एक-एक महीने में विरहिणी की व्याकुल दशा का वर्णन करते हैं। इसे ही 'बारहमासा' कहा जाता है। षट् ऋतुओं में से वर्षा ऋतु सर्वाधिक कामोद्दीपक मानी गई है, इसलिए बारहमासा का प्रारम्भ कविगण वर्षा ऋतु के प्रथम मास आषाढ़ से ही करते हैं। जायसी ने इस पद में विप्रलम्भ-शृंगार के भाव-विभावों का परम्परा-भुक्त परन्तु रमणीय चित्रण किया है। उन्हें ऋतु-सम्बन्धी नक्षत्रों का भी विशद ज्ञान है। इस पद में आए 'पुष्य' और 'अद्रा' शब्द इसके प्रमाण हैं।

(३६८)

सावन बरस मेह अति पानी[1]। भरनि परी, हौं बिरह झुरानी ॥
लाग पुनरबसु पीउ न देखा। भइ बाउरि, कहँ कंत सरेखा ॥

पाठ-भेद—१. अतिबानी=अतिवर्णी, अति अर्थात् मूसलाधार वर्षा करने वाले।

रकत कै आँसु परहिं भुइँ टूटी। रेंगि चलीं जस बीरबहूटी ॥
सखिन रचा पिउ संग हिंडोला। हरियरि भूमि, कुसुंभी चोला ॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलाइ देइ झकझोरा ॥
बाट असूझ अथाह गँभीरी। जिउ बाउर, भा फिरै भँभीरी ॥
जग जल बूढ़ जहाँ लगि ताकी। मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥
परबत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बनढाँख।
किमि कै भेंटों कंत तुम्ह ? ना मोहि पाँव न पाँख ॥५॥

व्याख्या—सावन में घनघोर जलवर्षा हो रही है। मूसलाधार वृष्टि के कारण खेत पानी से भर गए हैं, परन्तु मैं विरह-ताप के कारण सूखी जा रही हूँ। पुनर्वसु नक्षत्र लगा है, परन्तु मैंने अपने स्वामी के दर्शन नहीं कर पाए। मैं व्यथा के कारण बावली बन गई हूँ। मेरा चतुर कन्त कहाँ है ? इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि पुनर्वसु नक्षत्र उदय हो गया है परन्तु मेरे स्वामी ने उसे नहीं देख पाया है। मैं व्यथा से पागल हो उठी हूँ। यदि स्वामी ने उस नक्षत्र को देख लिया होता तो वे उसका संकेत समझ, अर्थात् मेरी व्यथा का अनुमान कर तुरन्त घर लौट आते, क्योंकि वे चतुर हैं, संकेत समझते हैं।

मेरे नेत्रों से रक्त के आँसू टपक-टपक कर पृथ्वी पर गिर रहे हैं, जो ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वीर-बहूटियाँ जमीन पर रेंग रही हों। मेरी सखियों ने अपने-अपने पतियों के साथ हिंडोले डाले हैं। पृथ्वी पर चारों ओर हरियाली छा रही है। सखियों ने कुसुम्भी रंग के वस्त्र धारण कर रखे हैं। उन्हें झूलते हुए देख मेरा हृदय झूले के समान दोलायमान हो उठता है। विरह मेरे हृदय को झकझोर कर इधर-उधर झुला-सा रहा है। मार्ग दिखाई नहीं देता, चारों ओर अथाह गहरा जल भरा हुआ है। मेरा मन पागल बन भँभीरी के समान इधर-उधर भटकता फिरता है। जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, सारा संसार जल में डूबा हुआ दिखाई पड़ता है। मेरी नाव बिना मल्लाह के होने के कारण थक गई है, अर्थात् मुझे यह नहीं सूझता कि मेरी नैया कैसे पार लगेगी।

हे प्रियतम ! तुम तक पहुँचाने वाले मार्ग के बीच अनेक दुर्गम पर्वत, अगम्य सागर, बीहड़ और सघन वन हैं। इन्हें पार कर मैं तुमसे किस तरह मिलूँ, क्योंकि मेरे न तो पैर ही हैं और न पंख ही, जिनसे चल कर या उड़कर मैं तुम्हारे पास तक पहुँच सकूँ। भाव यह है कि नागमती विरह के कारण इतनी अशक्त हो गई है कि उससे चला तक नहीं जाता।

टिप्पणी—(१) इस पद में जायसी ने पुष्य नक्षत्र के स्थान पर पुनर्वसु नक्षत्र का उल्लेख दिया है जो गलत है, क्योंकि पुनर्वसु नक्षत्र आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष में उदय होता है न कि सावन मास में, सावन के प्रारम्भ में अर्थात् कृष्ण पक्ष में पुष्य-नक्षत्र उदय होता है।

(२) 'भरनि परी हों बिरह झुरानी'—में साधर्म्य और वैधर्म्य का सुन्दर चित्रण हुआ है।

(३) 'रकत के आँसु' से लेकर अन्तिम अर्द्धाली तक प्रस्तुत-अप्रस्तुत का सुन्दर सामंजस्य तथा सौन्दर्य दर्शनीय है।

(३६६)

भा[1] भादों दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी॥
मँदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिर[2] डसा॥
रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी॥
चमक बीजु, घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
धनि सूखै भरे भादौ माहाँ। अबहुँ न आएन्हि सीचेन्हि नाहाँ॥
पुरबा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी॥
थल जल भरे अपूर सब, धरनि गगन मिलि एक।
धनि जोबन अवगाह महँ, दे बूढ़त, पिउ ! टेक॥६॥

व्याख्या—भादों का मास काटना मेरे लिए अत्यन्त कठिन हो उठा है। मैं इसकी अन्धकारपूर्ण रातों को स्वामी के बिना कैसे काटूँगी ? मेरा घर सूना है। प्रियतम कहीं अन्यत्र जाकर बस गया है। शय्या मुझे नागिन के समान बार-बार डसती है, अर्थात् प्रियतम से रहित एकाकी शय्या मुझे सर्प दंश की सी भयानक वेदना पहुँचाती है, मैं उस पर पड़ी छटपटाती रहती हूँ। मैं शय्या की एक तरफ की पाटी पकड़े उस पर अकेली पड़ी रहती हूँ। प्रियतम की प्रतीक्षा में मैं अपने नेत्रों को पसारे रहती हूँ और वेदना के मारे मेरा हृदय विदीर्ण होने लगता है। बिजली चमक कर और बादल गरज-गरज कर मुझे डराते रहते हैं। विरह काल का रूप धारण कर मेरे प्राणों को ग्रस लेता है। मघा नक्षत्र के लग जाने से बादल बार-बार प्रबल वेग से जल-वर्षा करते हैं और मेरे दोनों नेत्रों से पति-विरह के कारण आँसू ऐसे झरते हैं जैसे नाली में से वर्षा का जल धार बाँध कर झरता है। सुन्दरी अर्थात् मैं जल से भरे हुए इस भादों के महीने में विरह के ताप से सूखती चली जा रही हूँ परन्तु स्वामी अब भी आकर मेरे इस जलते शरीर को अपने प्रेम रस की वर्षा कर नहीं सींचते। पूर्वा फाल्गुनी का नक्षत्र लग गया है अर्थात् भादों का कृष्ण पक्ष समाप्त हो शुक्ल पक्ष आ गया है। भाव यह है कि भादों का आधा महीना बीत गया है। सारी पृथ्वी जल से भर गई है। आक और जवासे के पौधे जिस प्रकार वर्षा ऋतु में सूख जाते हैं, उसी प्रकार मैं भी इस ऋतु में सूख गई हूँ।

सारे स्थलों में लबालब पानी भरा हुआ है। धरती और आकाश मिलकर

पाठ-भेद—१. भर=जल से भरा हुआ। २. धै धै=पकड़-पकड़ कर।

एक हो गए हैं, अर्थात् क्षितिज तक सर्वत्र जल ही जल भरा हुआ है, जिसके कारण धरती और आकाश आपस में मिले हुए से दिखाई पड़ते हैं। हे प्रियतम! मैं यौवन के अथाह जल में डूबती जा रही हूँ। आकर मुझे सहारा दो। भाव यह है कि इस समय मेरा यौवन अत्यन्त प्रबल हो मुझे मारे डाल रहा है। आकर मेरी रक्षा करो।

टिप्पणी—(१) 'घनि सूखै भरे भादौं माहाँ'—में वैधर्म्य की छटा दर्शनीय है।

(२) 'पुरवा'……'तस झूरी' में प्रकृति और विरहिणी नागमती की दशा में अद्भुत चमत्कारपूर्ण सामंजस्य है। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में आक और जवासे के पौधे जल की बहुलता रहते हुए भी सूख जाते हैं, उसी प्रकार नागमती इस ऋतु में पति-विरह के कारण सूख रही है।

(३७०)

लाग कुवार, नीर जग घटा। अबहूँ आउ, कंत[1]! तन लटा॥
तोहि देखे, पिउ! पलुहै कया। उतरा चीतु, बहुरि करु मया॥
चित्रा मित्र मीन कर भावा। पपिहा[2] पीउ पुकारत पावा॥
उआ अगस्त, हस्ति घन गाजा। तुरय पलानि चढ़े रन राजा॥
स्वाति-बूँद चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे॥
सरवर सँवरि हंस चलि आए। सारस कुरलहिं, खँजन देखाए॥
भा परगास[3], काँस बन फूले। कंत न फिरे, बिदेसहि भूले॥
बिरह-हस्ति तन सालै, घाय करै चित्त चूर[4]।
बेगि आइ, पिउ! बाजहु, गाजहु होइ सदूर॥७॥

व्याख्या—क्वार का महीना लग गया है। संसार में जल घटने लगा है। भाव यह है कि अब तो जल घट जाने से आने-जाने के मार्ग खुल गए होंगे जो वर्षा-काल में बन्द हो गए थे। इसलिए हे स्वामी! अब लौट आओ। मेरा शरीर (विरह के कारण) क्षीण होता चला जा रहा है। हे प्रियतम! तुम्हें देख मेरी यह काया लह-लहा उठेगी। मैं तुम्हारे चित्त से उतर गई थी। अब पुनः मेरे ऊपर दया करो। (इसका एक अर्थ डा० अग्रवाल ने इस प्रकार किया है—'अपना उतरा हुआ चित्त मेरी ओर करके या उत्तरा से चित्रा के भीतर फिर आने की दया करो'। (डा० मुंशी-राम शर्मा ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—उत्तरा और चित्रा नक्षत्र भी आ गए हैं परन्तु मेरा चित्त उतरा है, एक बार फिर दया की दृष्टि करो')। चित्रा नक्षत्र का मित्र चन्द्रमा मीन राशि में आ गया है, पपीहा ने 'पीउ पीउ' की रट लगाते हुए अपने प्रियतम को पा लिया है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—मछली का मित्र चित्रा नक्षत्र (यह क्वार के अन्त या कार्तिक के प्रारम्भ में उदय होता है) आ

पाठ-भेद—१. पिउ परभुमि=परदेश पर अनुरक्त।
२. कोकिल। ३. विगास=प्रकाश। ४. खाइ करै तन चूर।

गया है, अर्थात् चित्रा नक्षत्र में जलाशयों का जल स्वच्छ हो गया है और मछली को वर्षा के गँदले जल से मुक्ति मिल गई है। (इसीलिए चित्रा को मछली का मित्र कहा गया है।) स्वाति नक्षत्र के आ जाने से पपीहा को स्वाति का जल प्राप्त हो गया है। (स्वाति नक्षत्र कार्तिक के शुक्ल पक्ष में आता है) भाव यह है कि वर्षा ऋतु समाप्त हो शरद ऋतु आ गई है और मछली और पपीहे का अपने-अपने प्रियतम से मिलन हो गया है, अर्थात् यह प्रियतम से मिलन का समय है।

अगस्त्य नक्षत्र उदय हुआ है। हस्ति नक्षत्र (क्वार का शुक्ल पक्ष) के लग जाने से आकाश में क्वार के बादल गरजने लगे हैं। वर्षा काल समाप्त हुआ देख राजागणों ने अपने घोड़े कसवा कर युद्ध की तैयारियाँ कर दी हैं। स्वाति नक्षत्र के लग जाने से चातक के मुख में स्वाति-जल की बूँदें पड़ गई हैं और समुद्र की सीपियों में भी स्वाति जल की बूँदें पड़ने से मोती भर उठे हैं, अर्थात् प्रत्येक की मनोकामना पूर्ण हो रही है, विरहियों का अपने मित्रों के साथ मिलन हो रहा है। अपने सरोवरों का स्मरण कर हंस उड़ कर वहाँ पुनः लौट आए हैं। सारस क्रीड़ाएँ कर रहे हैं और खंजन पक्षी दिखलाई पड़ने लगे हैं। चारों ओर वनों में काँस के सफेद फूल खिल रहे हैं, जिनसे उज्ज्वल प्रकाश-सा छा रहा है। परन्तु मेरे स्वामी लौट कर नहीं आए। वे विदेश में ही मुझे भूल कर रम रहे हैं।

विरह रूपी हाथी मेरे शरीर को दुख दे रहा है, मेरे हृदय को घायल कर चूर-चूर किए दे रहा है। हे प्रियतम ! तुम शीघ्र आकर इससे युद्ध करो और सिंह बनकर गर्जना करो।

टिप्पणी—(१) अलंकार—श्लेष और रूपक।

(२) 'हस्त घन गाजा'—इस पंक्ति का अर्थ कुछ टीकाकारों ने यह किया है कि हाथी बादल के समान गरजने लगे हैं। परन्तु यहाँ 'हस्ति' से हाथी का अभिप्राय न होकर हस्ति नक्षत्र में आकाश में घूमने वाले सफेद रंग के छोटे-छोटे बादलों से है जो मन्द-मधुर ध्वनि में गरजते ही हैं, बरसते नहीं। क्वार के इन्हीं बादलों को लक्ष्य कर सेनापति ने लिखा है—'गग गग गाजत गगन घन क्वार के।' इसे ग्रामीण भाषा में 'हथिया' नक्षत्र भी कहते हैं।

(३) 'चित्रा मित्र मीन कर आवा'—क्वार के महीने में तीन नक्षत्र होते हैं—उत्तरा, हस्ति और चित्रा। चित्रा का मित्र चन्द्रमा माना जाता है। वह मीन राशि में क्वार की पूर्णिमा से एक दिन पहले आ जाता है।

(४) अगस्त्य तारा हस्ति नक्षत्र में उदय होता है। इसका उदय होना वर्षा-ऋतु की समाप्ति का सूचक माना जाता है।

(३७१)

कातिक सरद-चंद उजियारी। जग सीतल, हौं बिरहै जारी।।
चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ जरै सब धरति अकासा।।

तन मन सेज करै अगिदाहू । सब कहँ चंद, भएउ मोहि राहू ।।
चहूँ खंड लागै अँधियारा । जौ घर नाहीं कंत पियारा ।।
अबहूँ, निठुर ! आउ एहि बारा । परब देवारी होइ संसारा ।।
सखि झूमक गावैं अँग मोरी । हौं झुरावँ, बिछुरी मोरि[1] जोरी ।।
जेहि घर पिउ सो मनोरथ[2] पूजा । मो कह बिरह, सवति दूख दूजा ।।
सखि मानें तिउहार सब, गाइ, देवारी खेलि ।
हौं का गावौं कंत बिनु, रही छार सिर मेलि ।।८।।

व्याख्या—विरह-दग्धा नागमती कह रही है कि—कार्तिक का महीना आ गया है । चारों ओर शरद की चाँदनी छा रही है । सारा संसार शीतल, अर्थात् आनन्दित हो रहा है परन्तु मैं विरह की अग्नि में जल रही हूँ । चन्द्रमा अपनी चौदह अर्थात् सम्पूर्ण कलाओं के साथ प्रकाशित हो रहा है । परन्तु मुझे ऐसा लग रहा है जैसे सारी धरती और आकाश जल रहे हैं । शय्या मेरे तन और मन—दोनों का अग्निदाह सा करती है, अर्थात् शय्या पर जाते ही मेरे तन और मन धू-धू कर जल उठते हैं । यह चन्द्रमा सब के लिए तो शीतलता प्रदान करने वाला चन्द्रमा है, परन्तु मेरे लिए यह राहु के समान दुखदायी हो रहा है । (विरहावस्था में चन्द्रमा कामो-द्दीपक होने के कारण दुखदायी कहा गया है ।) यद्यपि चारों ओर चाँदनी छिटकी हुई है परन्तु यदि प्रिय स्वामी घर पर न हों तो विरहिणी को सारा संसार अन्धकारपूर्ण दिखाई पड़ता है । हे निष्ठुर ! अब भी तुम इस समय आ जाओ । सारा संसार दिवाली का त्यौहार मना रहा है । सखियाँ अपने अंगों को मरोड़-मरोड़ कर अर्थात् नृत्य करती हुई झूमक गीत गा रही हैं । परन्तु मैं सूखती चली जा रही हूँ, क्योंकि मेरी जोड़ी बिछुड़ गयी है, मेरा प्रियतम मुझ से बिछुड़ गया है । भाव यह है कि सारा संसार दिवाली की खुशियाँ मना रहा है और मैं विरह में तड़प रही हूँ । जिस घर में प्रियतम होता है उस घर की रानी की सारी मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं । परन्तु मेरे लिए तो विरह और सौत—इन दोनों का दुगुना दुःख है, अर्थात् एक तो मैं विरह-दुख से व्याकुल हो रही हूँ और दूसरे सौतिया डाह के सन्ताप से व्यथित हो रही हूँ । इस प्रकार मेरा दुख दुगुना हो उठा है ।

मेरी सारी सखियाँ गा-बजाकर त्यौहार मना रही हैं, दिवाली के खेल अर्थात् जुआ खेल रही हैं । परन्तु मैं स्वामी के बिना क्या गीत गाऊँ ? मैं तो दुखी होकर सिर में धूल डाल रही हूँ ।

टिप्पणी—अलंकार—"चौदह करा······अकासा'—में वैधर्म्य है । 'सब कहें चन्द, भएउ मोहि राहू'—में उद्दीपन का भाव है ।

पाठ-भेद—१. जेहि=जिसकी । २. मनोरा=वर्षा की समाप्ति पर स्त्रियों द्वारा मनाया जाने वाला एक उत्सव ।

(३७२)

अगहन दिवस घटा, निसि बाढ़ी । दूभर रैनि, जाइ किमि गाढ़ी ।।
अब यहि बिरह दिवस भा राती । जरौं बिरह जस दीपक-बाती ।।
काँपै हिया जनावै सीऊ । तौं पै जाइ होइ सँग पीऊ ।।
घर घर चीर रचे सब काहू । मोर रूप-रँग लेइगा नाहू ।।
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई । अबहुँ फिरै, फिरै रँग सोई ।
बज्र-अगिनि बिरहिन हिय जारा[1] । सुलुगि-सुलुगि दगधै होइ छारा ।।
पह दुख-दगध न जानै कंतू । जोबन जनम करै भसमंतू ।।
पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम्ह लाग ।।६।।

व्याख्या—कार्तिक समाप्त हो अगहन आ गया है। अगहन के दिन छोटे और रात बड़ी हो जाती है। विरहिणी नागमती अगहन के प्रभाव का वर्णन करती हुई कहती है—

अगहन मास में दिन घटकर छोटा हो गया है और रात बड़ी हो गई है। मेरे लिए इन बढ़ी हुई रातों का काटना दुष्कर हो उठा है। यह गहन रात्रि किस प्रकार कटेगी ? अब तो मेरे लिए दिन भी रात के समान कठिन हो गए हैं। मैं विरह में दिन-रात जलती रहती हूँ, जिस प्रकार दीपक की बत्ती निरन्तर जलती रहती है। इस मास में जब शीत अपना प्रभाव जताता है; अर्थात् जब शीत सताने लगता है तो हृदय काँप उठता है। यह शीत तभी दूर हो सकता है जब स्वामी साथ हों। घर-घर में स्त्रियाँ वस्त्र पहन कर सज रही हैं; अर्थात् शृंगार कर रही हैं परन्तु मेरा रूप और रंग तो स्वामी अपने साथ ही लेकर चले गए; अर्थात् मैं स्वामी के बिना रूप-रंग-हीन हो उठी हूँ। स्वामी जो बिछुड़ कर एक बार गए तो लौटकर फिर नहीं आए। यदि वह अब भी लौट आएँ तो मेरा रूप-रंग भी लौट आएगा। विरहिणी का हृदय विरह की वज्राग्नि में दग्ध हो रहा है। इसमें सुलग-सुलग कर अर्थात् धीरे-धीरे जल-जल कर मेरा हृदय राख होता जा रहा है। मेरे स्वामी विरह के दाह के इस दुख को नहीं जानते। यह यौवन और जीवन—दोनों को जलाकर भस्म कर डालता है।

हे भौंरा ! हे काग ! प्रियतम के पास जाकर मेरा यह सन्देश कहना कि वह बाला तुम्हारे विरह में जलकर मर गई। उसके शरीर के जलने से जो धुँआ निकला उसी के लग जाने के कारण हमारे शरीर काले हो गए हैं।

टिप्पणी—(१) अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा। दोहे में काव्यलिंग अलंकार है।

(२) 'सँदेसड़ा'—शब्द में 'ड़ा' प्रत्यय करुणा का प्रतीक है। 'सँदेसड़ा' शब्द ने इस दोहे में एक अद्भुत प्रभाव और संवेदन उत्पन्न कर दिया है।

पाठ-भेद—१. सियरि अगिनि बिरहैं हिय जारा।

(३७३)

पूस जाड़ थर-थर तन काँपा। सुरुज जाइ[1] लंका-दिसि चाँपा[2]॥
बिरह बाढ़, दारुन भा सीऊ। कँपि-कँपि मरौ, लेइ हरि जीऊ॥
कंत कहाँ, लागौ ओहि हियरे। पंथ अपार, सूझ नहिं नियरे॥
सौर सपेती आवै जूड़ी। जानहु सेज हिवंचल बूड़ी॥
चकई निसि बिछुरै, दिन मिला। हौं दिन राति बिरह कोकिला॥
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी। कैसे जियै बिछोही पँखी॥
बिरह सचान भएउ तन जाड़ा[3]। जियत खाइ औ मुए न छाँड़ा॥
रकत ढुरा माँसू गरा, हाड़ भएउ सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख॥१०॥

व्याख्या—पूस के महीने में जाड़ा अधिक पड़ने लगता है और सूर्य दक्षिणायन हो जाता है। नागमती को यह शीत अधिक लगता है। वह अपनी इसी शीत-जनित वेदना का वर्णन करती हुई कहती है—

पूस में शीत के कारण शरीर थर-थर काँपता है। इस शीत से भयभीत हो सूर्य भी लंका की दिशा में अर्थात् दक्षिण दिशा में जा दबा है, दक्षिणायन हो गया है। विरह के कारण मुझे यह शीत और भी अधिक सताता है। मेरे लिए यह दारुण बन गया है। मैं इसके कारण काँप-काँप कर मर रही हूँ। यह मेरे प्राण लिए डाल रहा है। मेरे स्वामी न जाने कहाँ हैं। पास होते तो मैं उनके हृदय से चिपट कर इस शीत से मुक्ति पा जाती। स्वामी तक पहुँचने का मार्ग अपार है। मुझे पास की वस्तु तक नहीं दिखाई पड़ती, फिर मैं ऐसे अगम्य मार्ग को पार कर स्वामी के पास तक पहुँचने में कैसे समर्थ हो सकूँगी। शय्या पर बिछी सफ़ेद चादर पर पैर रखते ही मुझे जूड़ी सी चढ़ आती है। ऐसा लगता है मानो यह शय्या बर्फ में डूबी हुई हो। भाव यह है कि शय्या बर्फ के समान ठंडी लगती है।

चकवी रात को अपने प्रियतम से बिछुड़ जाती है परन्तु दिन निकलने पर उससे पुनः जा मिलती है। परन्तु मैं तो दिन-रात विरह में जल-जल कर कोयला के समान काली हो गई हूँ। रात होने पर मैं अकेली रह जाती हूँ। कोई सखी भी मेरे पास नहीं रहती। मैं कैसे जीऊँ? मैं उस चिड़िया के समान व्याकुल होती रहती हूँ जो रात्रि में अपने जोड़े से बिछुड़ गई हो। यह विरह मुझे शीत काल में इस प्रकार सता रहा है जिस प्रकार बाज चिड़िया को कष्ट देता है। जिस प्रकार बाज चिड़िया को जीवित ही पकड़, उसे नोंच-नोंच कर मार डालता है और जब वह मर जाती है तो भी उसे नहीं छोड़ता, खा जाता है, उसी प्रकार यह विरह जीवित अवस्था में भी

पाठ-भेद १. जड़ाइ=शीत के कारण। २. तापा=ताप रहा है। ३. भवैं तन चाड़ा =चक्कर लगाता शरीर को खा रहा है। चाड़ा=खाना।

मुझे सता रहा है और मर जाने पर भी मेरा पीछा नहीं छोड़ेगा; अर्थात् मेरे शरीर को जलाकर राख कर डालेगा।

मेरे शरीर का सारा रक्त आंसुओं के रूप में वह गया है, माँस गल-गल कर गिर पड़ा है और हड्डियाँ शंख के समान सफेद हो गई हैं; अर्थात् मेरे शरीर में रक्त और माँस तनिक भी नहीं रहा है। वह बाला (नागमती) उसी प्रकार तुम्हारा नाम रटते-रटते मर गई जिस प्रकार सारस की जोड़ी बिछुड़ जाने पर सारसी अपने सारस के लिए चीखती हुई मर जाती है। अतः उसका प्रिय आकर उसके पंख समेट ले। भाव यह है कि नागमती के मरने पर यदि प्रियतम आए तो उसके शव को समेट ले।

(३७४)

लागेउ माघ, परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़काला॥
पहल पहल तन रूई झाँपै। हहरि-हहरि अधिको हिय काँपै॥
आइ सूर होइ तपु, रे नाहाँ। तोहि बिनु जाड़ न छूटै माहा॥
एहि माह उपजै रसमूलू। तू सो भौंर, मोर जोबन फूलू॥
नैन चुवहिं जस महवट नीरू। तोहि बिनु अंग लाग सर-चीरू[1]॥
टप-टप बूँद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला॥
केहि क सिंगार, को पहिरु पटोरा। गीउ न हार रही होइ डोरा॥
तुम बिनु काँपै धनि हिया, तन तिनउर भा डोल[2]।
तेहि पर बिरह जराइ कै, चहै उड़ावा झोल॥११॥

शब्दार्थ—पहल पहल=जितना ही अधिक, या पहलू-पहलू, अङ्ग-अङ्ग। माहा=माघ मास। माह=महीना। रसमूलू=रस का मूल अर्थात् काम। महवट =महावट, जाड़ों में होने वाली वर्षा। सर चीरू=वस्त्र बाण के समान लगते हैं। झोला=बौछार। तिनउर=तिनकों का समूह। झोल=राख, भस्म।

व्याख्या—पूस बीत कर माघ का महीना लग गया है। इसमें कड़ाके की सर्दी पड़ती है और कभी-कभी पाला पड़ जाता है। यह महीना नागमती को और भी अधिक दुःखदायी हो उठा है। वह कहती है—

माघ मास लग गया है। अब पाला पड़ने लगा है। जाड़े की इस ऋतु में विरह मेरे लिए काल के समान भयंकर हो उठा है। जितना ही अधिक मैं अपने अंगों को रुई के वस्त्रों से ढाँकती हूँ, मेरा हृदय रोमांचित हो-हो कर उतना ही और अधिक काँप उठता है। इसलिए हे स्वामी ! तुम मेरे पास आकर सूर्य के समान तपो, अर्थात्

पाठ-भेद—१. तेहि जल आगि लाग सर चीरू=उस जल से मेरे चीर सदृश शर (सरकंडों) में आग लग जाती है।
२. तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई=हे कन्त ! तुम्हारे बिना यह स्त्री इतनी हल्की हो गई है।

मेरे शरीर को आलिंगन में भर गर्मी पहुँचाओ। माघ मास में तुम्हारे बिना मेरा जाड़ा नहीं जा सकता। इसी मास में रस का मूल अर्थात् काम उत्पन्न होता है। (माघ मास में उस रस का आरम्भ होता है जो वसन्त में वनस्पतियों में खिल उठता है। इसीलिए माघ शुक्ल पंचमी वसन्त का जन्म दिन माना जाता है।) इस मास में मेरा यौवन फूलने वाला है, अर्थात् विकसित होने वाला है। तुम भ्रमर के समान आकर उसका भोग करो।

मेरे नेत्रों से रात-दिन आँसुओं की झड़ी सी लगी रहती है, जिस प्रकार शीत-ऋतु में वर्षा होती है। तुम्हारे बिना इस वर्षा से गीले हो गए वस्त्र मेरे अंगों में बाण के समान दुखदायी लगते हैं। मेरे नेत्रों से आँसू ओलों के समान टप-टप टपक रहे हैं। विरह पवन बन कर मेरे शरीर को झकझोर कर सुन्न कर देता है। अब किसका शृंगार करना और कैसा रेशमी वस्त्र पहनना ! अर्थात् अब मुझ में इतनी शक्ति और उमंग ही नहीं रह गई कि मैं शृंगार आदि कर सकूँ। मेरी गर्दन सूख कर डोरे के समान पतली हो गई है, इसी कारण मैं हार नहीं पहनती, क्योंकि गर्दन हार के भार को सह नहीं सकेगी।

हे स्वामी ! तुम्हारे बिना बाला का अर्थात् मेरा हृदय काँपता रहता है और शरीर तिनकों के समूह के समान इधर-उधर डोलता रहता है। उस पर भी विरह मुझे जला कर राख बना उड़ा देना चाहता है; अर्थात् मुझे पूरी तरह से नष्ट कर देने पर तुला हुआ है।

(३७५)

फागुन पवन झकोरा बहा। चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा ॥
तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर बिरह देइ झकझोरा[1] ॥
तरिवर झरहिं झरहिं बन ढाखा। भइ ओनंत[2] फूलि फरि साखा ॥
करहिं बनसपति हिये हुलासू। मो कहँ भा जग दून उदासू ॥
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी ॥
जौ पै पीउ जरत अस पावा[3]। जरत-मरत मोहि रोष न आवा ॥
राति-दिवस बस यह जिउ मोरे। लगौं निहोर कंत अब तोरे[4] ॥
यह तन जारौं छार कं, कहौं कि 'पवन ! उड़ाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव ॥१२॥

व्याख्या—माघ समाप्त होकर फागुन का महीना आ गया है। इसमें तेज ठंडी हवा के झोंके चलने लगे हैं, जिससे नागमती और भी अधिक व्यथित हो उठी है। वह उसी व्यथा का वर्णन करती हुई कह रही है—फागुन के महीने में फगुनौटा

पाठ-भेद—१. बिरह न रहै पवन होइ झोरा। २. अनपत्त=पतझड़। ३. भावा=अच्छा लगता है। ४. लागौं कंत छार जेउँ तोरे।

हवा के तेज झोंके चलने लगे हैं जिससे ठंड चौगुनी वढ़ गई है और सही नहीं जाती। मेरा शरीर पत्ते के समान पीला पड़ गया है। इतने पर भी विरह उसे निरन्तर झकझोरता रहता है। भाव यह कि जिस प्रकार फागुन में हवा वृक्षों के पीले पत्तों को झकझोर कर नीचे गिरा देती है, उसी प्रकार यह विरह नागमती के शरीर को झकझोर कर कहीं समाप्त न कर डाले। वृक्षों तथा पलाश वन में खड़े पलाश के पेड़ों के पत्ते झड़-झड़ कर गिर रहे हैं और उनकी शाखाओं पर फूल और फल लद गए हैं जिनके भार से वे झुक गई हैं। सम्पूर्ण वनस्पतियों में उल्लास भर गया है और उनके उल्लास के प्रतीक नव-पल्लव निकल आए हैं। परन्तु मेरे लिए तो यह संसार और भी अधिक उदास अर्थात् नीरस हो उठा है। सब लोग फाग और चर्चरी नृत्य-गान द्वारा आनन्द मना रहे हैं परन्तु यह आनन्दोत्सव देखकर मेरे हृदय में विरहाग्नि इस प्रकार धू-धू कर प्रज्वलित हो उठती है, मानो मेरे शरीर के भीतर होली जल रही हो। यदि ऐसे समय स्वामी आ जाते और मुझे इस प्रकार दग्ध होता हुआ देख लेते तो मुझे इस तरह जलने-मरने पर भी उन पर क्रोध न आता। भाव यह है कि स्वामी यह तो जान लेते कि मैं उनके विरह में कितनी यातना और वेदना सह रही हूँ, मुझे इसी से संतोष हो जाता और मैं उन्हें क्षमा कर देती। रात-दिन मेरे हृदय में वस केवल यही एक अभिलाषा रहती है कि मैं अब केवल स्वामी की ही अनुनय-विनय करती हुई उन्हीं की सेवा में रत बनी रहूँ।

मेरी यह अभिलाषा है कि मैं अपने इस शरीर को जला कर भस्म कर दूँ और फिर पवन से प्रार्थना करूँ कि हे पवन ! मेरी इस भस्म को चारों ओर उड़ा कर बिखरा दे। सम्भव है, मेरी यह भस्म उड़कर उस मार्ग पर जा गिरे, जिस पर मेरे स्वामी अपने चरण रखें। भाव यह है कि यदि मेरी राख पर भी स्वामी के चरण पड़ जायेंगे तो मेरा जीवन सफल हो जायेगा।

(३७६)

चैत बसंता होइ धमारी। मोहिं लेखे संसार उजारी।।
पंचम बिरह पंचसर मारै। रकत सोइ सगरौं बन ढारै।।
बूड़ि उठें सब तरिवर-पाता। भीजि मजीठ, टेसू बन राता।।
बौरे आम फरैं अब लागै। अबहुँ आउ घर, कंत सभागे !।।
सहस भाव फूलीं बनसपती। मधुकर घूमहिं सँवरि मालती।।
मोकहँ फूल भए सब काँटे। दिस्टि परत जस लागहिं चाँटे।।
फिर जोबन भए नारँग साखा। सुआ-बिरह अब जाइ न राखा।।
घिरिनि परेवा होई, पिउ ! आउ बेगि, परु टूटि।
नारि पराए हाथ है, तोहि बिनु पार न छूटि।।१३।।

व्याख्या—चैत का महीना आ गया है। चारों ओर वसन्त की धमाचौकड़ी

मची हुई है अर्थात् सब लोग आनन्दोत्सव मना रहे हैं परन्तु मुझे तो यह सारा संसार उजाड़-सा दिखाई देता है। कोयल पंचम स्वर में विरह के कारण कूकती हुई मेरे हृदय में कामदेव के पंच बाण मारती है; अर्थात् कूक को सुन कर मेरे हृदय में कामोद्दीपन हो रहा है। कोयल प्रिय के विरह से व्यथित हो सारे वन में रोती घूम रही है और रक्त के आँसू टपकाती है। (कोयल की आँखें लाल होती हैं।) उसके उन रक्त के आँसुओं में सारे वृक्षों के पत्ते डूब उठे हैं। (यहाँ नव पल्लवों की लालिमा की ओर कवि संकेत कर रहा है।) उसी रक्त में मजीठ और टेसू के फूल भीग कर लाल हो उठे हैं। जिन आमों पर बौर लगा था, उनमें अब फल लग आए हैं। इसीलिए हे सौभाग्यशाली स्वामी ! तुम अब भी घर लौट आओ। भाव यह है कि मैं तुम्हारे विरह में कोयल के समान वन-वन बिलखती फिर रही हूँ। आम के वृक्ष फलवान बन गए हैं परन्तु मैं अकेली हूँ, मेरी मनोकामना फलवती नहीं हो रही। इसलिए तुम लौट आओ।

सारी वनस्पतियाँ सहस्रों प्रकार से, अर्थात् सैकड़ों तरह से फूलों के रूप में फूल उठी हैं। भ्रमर मालती का स्मरण कर चारों ओर उसे खोजते घूम रहे हैं। परन्तु ये सारे फूल मेरे लिए काँटे बन गए हैं। इन पर जब मेरी दृष्टि पड़ती है तो मेरे शरीर में चींटियाँ-सी रेंगने लगती हैं। इस नारंगी वृक्ष की शाखा में यौवन भर गया है; अर्थात् उसमें फल लग गए हैं परन्तु विरह रूपी तोते से इनकी रक्षा करना कठिन हो रहा है। भाव यह है कि यौवन के प्रभाव के कारण मेरे शरीर रूपी शाखा पर स्तन रूपी सुन्दर नारंगी के फल पक गये हैं परन्तु विरह रूपी तोते से उनकी रक्षा करना मेरे लिए दुष्कर हो रहा है; अर्थात् विरह मेरे इन स्तनों को काट-काट कर सुखाये डाल रहा है। (कामोद्दीपन के समय कामिनी के स्तन अधिक उभर आते हैं।)

इसलिए हे स्वामी ! तुम गिरहबाज कबूतर के समान एक दम झपट्टा मार नीचे उतरने वाले बाज बन इस विरह रूपी तोते पर शीघ्र आकर टूट पड़ो। तुम्हारी यह स्त्री पराये हाथ अर्थात् विरह के चंगुल में फँसी हुई है। यह तुम्हारे बिना उसके चंगुल से नहीं छूट पायेगी।

टिप्पणी—(१) 'घिरिन परेवा'—का अर्थ लगभग सभी ने 'गिरहबाज कबूतर' किया है। परतु यह गलत मालूम पड़ता है। यहाँ स्थिति यह है कि विरह रूपी तोता नागमती के स्तन रूपी नारंगियों को नष्ट किए डाल रहा है। तोते का शत्रु बाज होता है न कि कबूतर। बाज भी जब अपने शिकार पर टूटता है तो गिरहबाज कबूतर के ही समान अपने पंखों को बन्द कर तीर की तरह नीचे आता है। इसलिए यहाँ 'घिरिन परेवा' से अर्थ 'गिरजबाज पक्षी' ही मानना चाहिए और प्रसंग को देखते हुए 'बाज' ही अधिक संगत अर्थ प्रतीत होता है। वैसे इसका अर्थ यह भी किया गया है कि हे प्रिय ! जैसे गिरहबाज कबूतर ऊपर से टूट कर अपनी कबूतरी के पास आ जाता है उसी प्रकार तुम भी मेरे पास आ जाओ।

(२) 'रकत रोइ सगरौं बन ढारै'—का अर्थ कुछ लोगों ने नागमती-पक्ष में किया है अर्थात् नागमती वन-वन भटकती हुई रक्त के आँसू गिराती जाती है। परन्तु

यह उक्ति नागमती की है अतः 'ढारै' क्रिया न होकर 'ढारौं' होनी चाहिए थी। इससे स्पष्ट है कि नागमती किसी अन्य का वर्णन कर रही है जो वैसे तो अनुपयुक्त है परन्तु 'पंचम' शब्द से संगति मिलाने पर 'कोयल' का ही अर्थ निकलता है। जायसी की कल्पना यह है कि कोयल भी नागमती के समान विरहिणी है। रोते-रोते उसकी आँखें रक्तवर्ण हो उठी हैं। वह वन के वृक्षों पर बैठ विलाप करती हुई रक्त के आँसू टपकाती रहती है। उसी से चारों ओर लालिमा छा गई है।

(३७७)

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोआ चीर चँदन भा आगी॥
सूरुज जरत हिवंचल ताका। बिरह-बजागि सौंह रथ हाँका॥
जरत बजागिन करु, पिउ ! छाहाँ। आइ बुझाउ, अँगारन्ह माहाँ॥
तोहि दरसन होइ सीतल नारी। आइ आगि तें करु फुलवारी॥
लागिउँ जरैं, जरैं जस भारू। फिर फिर भूँजेसि, तजेउँ न बारू॥
सरबर-हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई॥
बिहरत हिया करहु, पिउ ! टेका। दीठि-दवँगरा मेरवहु एका॥
कवँल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ[1]।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौं पिउ सींचै आइ॥१४॥

शब्दार्थ—हिवंचल ताका=हिमालय की ओर दृष्टि की अर्थात् उत्तरायण हो गया। बिहराई=विदीर्ण हो गया है। टेका=सहारा, आश्रय। दवँगरा=दौंगरा, वर्षा की पहली झड़ी। मेरवहु एका=मिलाकर एक कर दो।

व्याख्या—बैसाख में गर्मी पड़नी शुरू हो जाती है। यह गर्मी विरहिणियों को बहुत दुखदायी होती है। नागमती इसी गर्मी से व्याकुल हो अपनी व्यथा का वर्णन करती हुई कह रही है—

बैसाख का महीना आ गया है। अत्यन्त गर्मी पड़ने लगी है। गर्मी इतनी अधिक हो गई है कि चोवा, रेशमी वस्त्र और चन्दन जैसे शीतल पदार्थ भी शरीर में अग्नि का सा दाह उत्पन्न करते हैं। इस गर्मी से जलते हुए सूर्य ने इससे त्राण पाने के लिए हिमालय की ओर उत्तर दिशा में अपनी दृष्टि घुमाई अर्थात् उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा, उत्तरायण हो गया। परन्तु हुआ यह है कि उसने अपना रथ भूल से मेरे हृदय में जलती विरह की वज्राग्नि के सम्मुख हाँक दिया। फलस्वरूप वह उस अग्नि के कारण और भी अधिक जलने लगा। हे स्वामी ! मैं उसी वज्राग्नि में जल रही हूँ (जिसके कारण सूर्य भी अधिक उत्तप्त हो उठा है)। तुम आकर मेरे ऊपर अपनी शीतल छाया करो ! मैं इस प्रकार तड़प रही हूँ मानो मुझे जलते अंगारों में

पाठ-भेद—१. छारहि मिलै सुखाइ=सूख कर धूल में मिला जा रहा है।

डाल दिया गया हो। तुम आकर इन अंगारों को बुझा दो; अर्थात् अपने संयोग द्वारा मेरे हृदय में जलती इस विरहाग्नि को शान्त कर दो।

तुम्हारे दर्शन पाकर यह नारी अर्थात् मैं शीतल हो जाऊँगी। तुम आकर विरहाग्नि में जलती हुई मेरी इस शरीर रूपी वाटिका पर अपने स्नेह की वर्षा कर इसकी इस अग्नि से रक्षा करो और इसे पुनः पुष्पों से भर दो। भाव यह है कि तुम्हारा स्नेहस्पर्श पाते ही मेरा यह दग्ध होता हुआ विनष्टप्रायः शरीर पुनः आनन्दित हो रूप और सौन्दर्य से भर उठेगा। मैं इस विरहाग्नि में इस प्रकार जल रही हूँ जैसे भाड़ जलता है। यह अग्नि मेरे प्राणों को बार-बार भून रही है परन्तु फिर भी मेरे प्राण इस शरीर को छोड़ बाहर नहीं जा पाते अर्थात् मुझे मौत नहीं आती। भाव यह है कि जिस प्रकार भाड़ में पड़े हुए अनाज के दाने बार-बार भुनते रहते हैं और उस तप्त बालू को छोड़कर बाहर नहीं आ पाते, उसी प्रकार मेरे प्राण तुम्हारे विरह में निरन्तर दग्ध होते रहते हैं, परन्तु बाहर निकल नहीं पाते।

मेरे हृदय रूपी सरोवर का जल अर्थात् रस की भावना नित्य घटती चली जा रही है अर्थात् मेरा हृदय सूखता चला जा रहा है। यह सूख कर टुकड़े-टुकड़े हो विदीर्ण हो गया है। हे स्वामी ! मेरा हृदय फटा जा रहा है। आकर मुझे सहारा दो। जिस प्रकार गर्मी से धरती सूख कर फट जाती है, उसमें दरारें पड़ जाती हैं, उसी प्रकार मेरा हृदय विदीर्ण हो गया है। जिस प्रकार वर्षा की प्रथम झड़ी (दौंगरा) पड़ने से धरती में पड़ी दरारें मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार तुम मेरे इस विदीर्ण हृदय को अपनी दृष्टि की स्नेह-वर्षा द्वारा सान्त्वना प्रदान करो; अर्थात् मेरे पास आकर मुझे बचा लो।

मेरे इस शरीर रूपी मानसरोवर में जो हृदय रूपी कमल विकसित हुआ था, वह तुम्हारे स्नेह रूपी जल के अभाव के कारण सूख गया। हे प्रिय ! यदि तुम आकर उसे अपने स्नेह-जल से सींचोगे तो उसमें फिर नए पल्लव अंकुरित हो उठेंगे; अर्थात् वह फिर हरा-भरा हो उठेगा। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि मेरे हृदय-रूपी मानसरोवर में जो आनन्द रूपी कमल विकसित हुआ था, वह तुम्हारे स्नेह-जल के अभाव में सूख गया है अर्थात् मेरा सारा आनन्द नष्ट हो गया है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'सरवर-हिया····जाई'—में रूपक अलंकार।

सम्पूर्ण पद में अन्योक्ति अलंकार भी माना जा सकता है।

(२) 'टूक-टूक'—में पुनरुक्तिप्रकाश है।

(३) 'सरवर हिया····मेरवहु एका'—में प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण द्रष्टव्य है।

(४) इस सम्पूर्ण पद में विरह-वेदना की उत्कृष्ट व्यंजना हुई है।

(५) प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सुन्दर सामंजस्य भी दर्शनीय है।

(३७८)

जेठ जरै जग, चलै लुवारा। उठहिं बवंडर परहिं अँगारा[1] ॥
बिरह गाजि हनुवँत होइ जागा। लङ्का-दाह करै तनु लागा ॥
चारिहु पवन झकोरै लागी। लङ्का दाहि पलङ्का लागी।
दहि भइ साम नदी कालिंदी। बिरह क आगि कठिन अति मंदी ॥
उठै आगि और आवै आँधी। नैन न सूझ, मरौ दुख-बाँधी ॥
अधजर भइउ, माँसु तनु सूखा। लागेउ बिरह काल[2] होइ भूखा ॥
माँसु खाइ सब हाड़न्ह लागै। अबहुँ आउ; आवत सुनि भागै ॥
गिरि, समुद ससि, मेघ, रबि, सहि न सकहिं वह आगि।
मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिउ लागि ॥१५॥

व्याख्या—जेठ के महीने में सारा संसार गर्मी से जल रहा है। लू चलने लगी है, बवण्डर उठ रहे हैं और धरती पर अंगारों की सी वर्षा हो रही है। मेरे शरीर में स्थित विरह हनुमान के समान जागकर गरजने लगा है और मेरे शरीर को लंका के समान जलाए डाल रहा है। हवा के झोंके चारों दिशाओं से आ-आ कर मेरी इस विरहाग्नि को और भी अधिक प्रचण्ड बना रहे हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार हवा के झोंकों से अग्नि और अधिक तीव्र हो उठती है, उसी प्रकार गर्म वायु लगने से मेरा विरह और अधिक उद्दीप्त हो उठता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो हनुमान द्वारा लंका में लगाई गई अग्नि लंका को जलाने के पश्चात् अब आकर मेरे पलंग में लग गई है; अर्थात् शय्या मुझे अग्नि के समान दाहक प्रतीत होने लगी है। मैं इस विरह में जल कर उसी प्रकार काली पड़ गई हूँ, जिस प्रकार यमुना कृष्ण के विरह में दग्ध हो काली पड़ गई थी। (यमुना का जल श्याम वर्ण का है। जायसी की कल्पना है कि यमुना कृष्ण के विरह में काली पड़ गई है। विरह की अग्नि मंदी आँच की तरह बड़ी दुःसह होती है, क्योंकि यह शरीर को तिल-तिल कर धीरे-धीरे जलाती रहती है।)

मेरे हृदय में विरह की अग्नि धधक रही है। आँधी के झोंके उसे और भी अधिक उद्दीप्त कर रहे हैं। मुझे आँखों से कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। मैं दुख के बन्धन में बँधी हुई मरी जा रही हूँ। मैं इस अग्नि में जल कर अधजली हो गई हूँ। मेरे शरीर का मांस सूख गया है। विरह मेरे शरीर में भूखे काल के समान मुझे खाने को चिपट गया है। वह मेरे मांस को खाकर अब हड्डियों को खाने में लग गया है। हे स्वामी! तुम अब भी आ जाओ। तुम्हारा आगमन सुन वह मुझे छोड़कर भाग खड़ा होगा।

मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं—पर्वत, समुद्र, चन्द्रमा, मेघ, सूर्य आदि

पाठ-भेद—१. धिकै पहारा=पहाड़ गर्म हो रहे हैं। धिकै=गर्म होना। २. काग।

कोई भी इस आग को नहीं सह सकता। वह सती नारी धन्य है जो अपने प्रिय के लिए इस प्रकार इस विरह की अग्नि में रात-दिन जलती रहती है।

(३७६)

तपै लागि अब जेठ-असाढ़ी। मोहिं पिउ बिन छाजनि भइ गाढ़ी॥
तन तिनउर भा, झूरौं खरी। भइ बरखा, दुख आगरि जरी[1]॥
बंध नाहिं औ कंध न कोई। बात न आव कहौं का रोई?॥
साँठि नाहिं, जग बात को पूछा?। बिनु जिउ फिरै मूँज-तनु छूँछा॥
भई दुहेली[2] टेक बिहूनी। थाँभ नाहिं उठि सकै न थूनी॥
बरसै मेह चुवहिं नैनाहा। छपर-छपर होइ रहि बिनु नाहा॥
कोरौं कहाँ ठाट नव साजा? तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा॥
अबहूँ मया-दिस्टि करि, नाह[3] निठुर! घर आउ।
मँदिर उजार होत है, नव कै आइ बसाउ॥१६॥

व्याख्या—अब जेठ-आषाढ़ की भयङ्कर गर्मी पड़ने लगी है। स्वामी के बिना मुझे इस छप्पर के नीचे रहना बड़ा दुखदायी हो रहा है, या स्वामी के बिना इस गर्मी से मेरे शरीर में ऐसी जलन होती है मानो मुझे छाजन का भयंकर रोग हो गया हो। भाव यह है कि छप्पर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है, जो न तेज धूप को रोक पाता है और न भावी वर्षा को ही रोक पायेगा। स्वामी के न रहने के कारण नागमती को नए छप्पर का छाना कठिन हो रहा है। ('छाजन' का एक अर्थ काया अर्थात् शरीर भी माना जा सकता है।) नागमती कहती है कि मेरा शरीर तिनकों के ढेर के समान सूखा और पतला हो उठा है। मैं खड़ी-खड़ी सूखती चली जा रही हूँ। वर्षा होने लगी है, इसके कारण मेरा दुख और भी अधिक बढ़ गया है। न तो मेरा कोई भाई-बन्धु ही है और न कोई और सहायक ही। मैं अपना दुःख रोकर किससे और कैसे कहूँ, क्योंकि मुझ से तो बात कहना भी नहीं आता। जब अपने पास गाँठ की पूँजी नहीं रहती तो संसार में कोई बात नहीं पूछता। प्राणों के बिना मेरा यह शरीर मूँज के बिना बँधे हुए गट्ठे के समान शिथिल और छूँछा हो रहा है। भाव यह है कि मेरे पास पति रूपी पूँजी नहीं रही है, पति मुझे छोड़कर चला गया है; इसलिए मुझ पति-परित्यक्ता की कोई बात भी नहीं पूछता। मेरा स्वामी ही मेरा प्राण था, उसके बिना मेरा यह शरीर शिथिल, निष्प्राण और निरुत्साहित हो रहा है।

जिस प्रकार छप्पर के नीचे लकड़ी के खम्भे की टेक न लगाने पर छप्पर झुक जाता है, उसी प्रकार मैं अवलम्ब-हीन होने के कारण बहुत ही दुखी हो रही हूँ। मेरे

पाठ-भेद—१. भै बिरहा आगरि सिर परी=यह छाजन रूपी काया विरह से बढ़ावा पाकर मेरे सिर पर आ पड़ी है। २. ररि दूबरि भई=रटती-रटती दुबली हो गई हूँ। ३. छान्हिन तजि=बन्धनों को त्याग।

पास कोई भी सहारा नहीं रहा है, मैं कैसे अपने इस शरीर को सम्हाल कर रखूँ ? जिस प्रकार बिना खम्भे और थूनी के छप्पर को टिकाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार मैं पति रूपी सहारे के बिना असहाय हो उठी हूँ। मेह बरस रहा है, मेरे नेत्र स्वामी के विरह में निरन्तर आँसुओं की वर्षा करते रहते हैं। बिना स्वामी के मैं इन दोनों प्रकार की जलवर्षा में भीग कर सराबोर हो उठी हूँ। नया छप्पर छाने के लिए मैं लकड़ी या बाँस कहाँ ढूँढ़ती फिरूँ ? हे स्वामी ! तुम्हारे बिना मेरे इस छप्पर को कोई भी नहीं छा सकेगा।

हे निष्ठुर स्वामी ! अब भी तुम मेरे ऊपर दया-दृष्टि कर घर लौट आओ। मेरा घर उजड़ रहा है। तुम आकर इसे नए सिरे से फिर बसाओ।

टिप्पणी—इस पद में छप्पर सम्बन्धी कई शब्द; जैसे—छाजन, बन्ध, कन्ध, साँठि, टेक, मूँज, कौरौं, थँभ, थूनी आदि आए हैं, इसलिए मुद्रालंकार माना जा सकता है।

(३८०)

रोइ गँवाए बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा।।
तिल तिल बरिख बरिख परि[1] जाई। पहर पहर जुग जुग न सेराई।।
सो नहिं आवै रूप मुरारी। जासौं पाव सोहाग सुनारी।।
साँझ भए झुरि झुरि पथ हेरा। कौन सो घरी करै पिउ फेरा ?।।
दहि कोइला भइ कंत सनेहा। तोला माँसु रही नहिं देहा।।
रकत न रहा, विरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्ह ढरा।।
पाय लागि जोरै धनि हाथा। जारा नेह[2], जुड़ावहु, नाथा।।
बरस दिवस धनि रोइ कै, हारि परी चित झंखि।
मानुष घर घर बूझि कै, बूझै निसरी पंखि।।१७।।

शब्दार्थ—बरिख=वर्ष। परि जाई=पड़ जाता। फेरा=लौटकर आयेगा। तोला=तोले भर। गरा=गल गया। रती रती होइ=रत्ती-रत्ती होकर अर्थात् थोड़ा थोड़ा। ढरा=बह गया। जारा नेह=स्नेह में जलाया। जुड़ावहु=शीतल करो।

व्याख्या—रत्नसेन को चित्तौड़ से गए एक वर्ष बीत गया। नागमती ने स्वकीया नायिका के समान उसके विरह में तड़प-तड़प कर वर्ष के बारह महीने काट दिए। इस पद में जायसी नागमती द्वारा एक वर्ष में सहे गए दुखों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

इस प्रकार नागमती ने प्रिय-विरह में वर्ष के बारह मास रो-रो कर काटे। उसकी एक-एक साँस में हजार-हजार दुखों की व्यथा भरी रहती थी। उसका एक तिल भर समय अर्थात् एक-एक क्षण एक-एक वर्ष के समान लम्बा और दुखदायी

पाठ-भेद—१. बरु=अपेक्षाकृत अधिक। २. चूरा नेह=थोड़ा हुआ स्नेह।

बीतता था। एक-एक प्रहर का समय एक-एक युग के समान काटे से भी नहीं कटता था। परन्तु कृष्ण के समान स्वरूपवान उसका पति लौट कर नहीं आता था जिसे पाकर वह नारी सौभाग्यवती वन जाती। संध्या होने पर वह पति के विरह में सूखती हुई उसका रास्ता देखती रहती थी कि न जाने किस घड़ी पति लौटकर घर आ जाय। वह अपने स्वामी के स्नेह में उसके विरह के कारण जल कर कोयले के समान काली पड़ गई थी; अर्थात् उसके शरीर की कान्ति और रूप जाता रहा था। उसके शरीर में तोले भर भी माँस नहीं बचा था। रक्त की एक बूँद तक नहीं रही थी, विरह में उसका सारा शरीर गल-गल कर समाप्त हो गया था। शसके शरीर का सारा रक्त नेत्रों से गिरे आँसुओं के रूप में रत्ती-रत्ती करके अर्थात् धीरे-धीरे बह गया था। वह कहती है कि हे स्वामी! मैं तुम्हारे चरण पकड़ कर और हाथ जोड़ कर प्रार्थना करती हूँ कि तुमने मुझे अपने स्नेह में तो खूब जलाया, अब आकर मेरे इस जलते शरीर को शीतलता प्रदान करो।

इस प्रकार एक वर्ष के पूरे दिनों तक सुन्दरी नागमती रो-रो कर अन्त में हार गई और अपने मन में झींखने लगी। उसने प्रत्येक घर में जा-जा कर वहाँ के मनुष्यों से अपने स्वामी का पता पूछा और जब उसे सफलता नहीं मिली तो वह पंक्षियों से पूछने के लिए घर से बाहर निकल पड़ी।

टिप्पणी—(१) 'सो नहिं आवै रूप मुरारी। जासौं पाव सोहाग सुनारी।'— इस पंक्ति में श्लेष है। इसका भावार्थ यह है कि जब तक सुनारिन सोने और चाँदी के मिश्रण में सुहागा नहीं मिलाती तब तक उसमें चमक नहीं आ पाती। भाव यह है कि जब तक पति-रूपी सोने में स्त्री-रूपी चाँदी का मिलन सुहागे द्वारा शोधा नहीं जायेगा, अर्थात् जब तक पति पत्नी के पास आकर उसे सौभाग्यवती नहीं बनायेगा, तब तक विरह-दग्धा पत्नी के शरीर में चमक (कान्ति) नहीं आ पायेगी; अर्थात् रत्नसेन के आने पर ही नागमती का सूखा हुआ शरीर पुनः कान्तिमान बन सकेगा।

(२) सोनहि, रूप, सुहाग, सुनारी—शब्दों में श्लेष होने के कारण इसमें श्लेष अलंकार है।

(३८१)

भई पुछार, लीन्ह बनवासू। बैरिनि सवति दीन्ह चिलवाँसू॥
होइ खर बान बिरह तनु लागा[1]। जौं पिउ आवै उड़हि तौ कागा[2]॥
हारिल भई पंथ मैं सेवा। अब तहँ पठवौ कौन परेवा?॥
धौरी पंडुक कहु पिउ नाऊँ। जौं चित रोख न दूसर ठाऊँ॥
जाहि बया होइ पिय कँठ लवा। करं मेराब सोइ गौरवा॥

पाठ-भेद—१. कै खर बान कसै प्रिय लागा=हे प्रिय, तू मेरे वर्ण को खरा कर कसने लगा है। २. डा० गुप्त ने 'कागा' का अर्थ किया है—क्या गया, क्या हुआ।

कोइल भई पुकारति रही। महरि पुकारै 'लेइ लेइ दही'॥
पेड़ तिलोरी ओ जल हंसा। हिरदय पैठि बिरह कटनंसा॥
जेहि पंखी के निअर होइ[1], कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिबर होइ निपात॥१८॥

शब्दार्थ—पुछार=मयूर, मोर, पूछने वाली। सवति=सौत, सपत्नी। चिलवाँसू=चिड़िया फँसाने का फन्दा, चिल्ला। हारिल=थकी हुई, एक पक्षी। धौरी=सफेद, एक पक्षी। पंडुक=पीली, पन्डुकी नामक पक्षी जिसे पिड़कुलिया भी कहते हैं। चित रोख=हृदय में रोष, एक पक्षी। जाहि बया=सन्देश लेकर जा और आ, बया पक्षी। कँठ लवा=गले में लगाने वाला, लवा की जाति का एक पक्षी। गौरवा=गौरवान्वित, भाग्यशाली, गौरैया पक्षी। कोइल=कोकिल, कोयला। महरि=स्त्री, ग्वालिन पक्षी। दही=दधि, जल रही हूँ। तिलोरी=तेलिया या मैना पक्षी। कटनंसा=काटता और नष्ट करता है, कटनास या नीलकंठ पक्षी।

व्याख्या—नागमती पक्षियों से अपने स्वामी का पता पूछने के लिए वन में पहुँचती है। वहाँ उसे विभिन्न प्रकार के पक्षी मिलते हैं। जायसी को श्लेष और मुद्रा अलंकार विशेष प्रिय हैं। इसलिए जहाँ उन्हें अवसर मिलता है, वे इन दोनों अलंकारों का चमत्कार दिखाने लगते हैं। प्रस्तुत पद में उन्होंने अनेक पक्षियों के नाम दिए हैं जो श्लेषात्मक हैं। पक्षियों के नामों को यथावत स्वीकार कर अर्थ करने से वन के विभिन्न पक्षियों का परिचय प्राप्त होता है और उनका श्लेष परक अर्थ लेने से नागमती की दशा का वर्णन होता है। पहले हम नागमती-पक्ष का अर्थ देने का प्रयत्न करेंगे।

पहला अर्थ (नागमती-पक्ष में)

नागमती पति की खोज करने के लिए मोरनी के समान वन में जा पहुँची और वहीं विभिन्न पक्षियों से पति का पता पूछने का प्रयत्न करती हुई भटकने लगी। (यहाँ 'पुछार' शब्द का 'पूछने वाली' अर्थ लेने से यह भाव स्पष्ट होता है कि नागमती ने अपने पति का पता पूछने वाली बनकर वनवास लिया।) परन्तु वहाँ उसकी वैरिन सौत ने पक्षियों को फँसाने वाला फंदा लगा रखा है, इसलिए कोई पक्षी उसके पास तक नहीं पहुँच पाता। यह देख नागमती को अपने प्रिय की याद सताने लगती है और विरह उसके हृदय में तीखे बाण के समान वेदना उत्पन्न करने लगता है। वह एक वृक्ष पर कौए को बैठा देख उससे कहती है कि—हे कौए! यदि मेरे स्वामी आ रहे हों तो तू उड़ जा। (कौए से इस प्रकार कहने से यदि कौआ उड़ जाता है तो यह शुभ शकुन माना जाता है जो प्रिय के आगमन का सूचक होता है।) मैं मार्ग पर भटकती हुई बहुत थक गई हूँ। अब मैं किस पक्षी को अपने पति के

पाठ-भेद—१. अढ़वौं कहि=सन्देश ले जाने के लिए कहती हूँ।

पास भेजूँ, (क्योंकि सौत के फन्दे के भय से कोई भी पक्षी मेरे पास तक नहीं आता)। मैं प्रियतम का नाम रटते-रटते सफेद और पीली पड़ गई हूँ। यदि पति के हृदय में मेरे प्रति क्रोध की भावना है; अर्थात् वह मुझसे रुष्ट हो गए हैं तो मेरे लिए इस संसार में अब कोई स्थान नहीं रहा जहाँ मैं रह सकूँ; अर्थात् मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। तू जाकर पति से मेरा सन्देश कहकर लौट आ और इस प्रकार मुझे अपने पति के कंठ से लगने का सौभाग्य प्रदान कर। वही पक्षी गौरवशाली होगा जो पति के साथ मेरा मिलाप करा देगा। मैं पति का नाम पुकारते-पुकारते कोयला बन गई हूँ या मैं पति का नाम रटते-रटते उसके विरह में जलकर कोयला हो गई हूँ। तू जा कर स्वामी से कहना कि तुम्हारी स्त्री बराबर 'बचाओ, बचाओ, मुझे जलाए डाल रहा है' पुकारती रहती है। जब मैं वृक्ष पर तिलोरी को तथा जल में हंसों को क्रीड़ा करते हुए देखती हूँ तो मुझे अपने पति की स्मृति सताने लगती है और विरह मेरे हृदय में घुस मुझे काटने और नष्ट करने लगता है।

मैं जिस पक्षी के पास जाकर उससे अपनी विरह-वेदना की बात कहती हूँ, वहीं पक्षी मेरी विरहाग्नि की ज्वाला से जल कर भस्म हो जाता है और उस वृक्ष के सारे पत्ते जल जाने के कारण वह वृक्ष पत्रहीन हो जाता है।

दूसरा अर्थ (पक्षी-पक्ष में)

नागमती ने मोरनी बनकर वनवास लिया। परन्तु बैरिन सोत ने उसे फँसाने के लिए वहाँ भी फन्दा लगा रखा है। विरह तीक्ष्ण बाणों के समान उसके हृदय को व्यथित करता है। वह कौए को देखकर कहती है कि हे कौए ! यदि स्वामी आ रहे हों तो तू तो उड़ जा। हारिल पक्षी मार्ग में ही टिक कर बैठ गया है। अब मैं किस पक्षी को स्वामी के पास भेजूँ। हे धौरी ! हे पंडुक ! तुम प्रिय के नाम का उच्चारण करो। जो जोड़े से रहता है, वह गौरैया पक्षी होता है। हे बया ! तू जा। मैं प्यारे कंठलवा को लेती हूँ। कोयल बनकर मैं पुकारती रही। महरि (ग्वालिन) 'लो दही ! लो दही !' पुकार रही है। पेड़ पर तिलोरी तथा जल में हंस क्रीड़ा कर रहे हैं। विरह रूपी नीलकंठ हृदय में घुसकर काट रहा है।

टिप्पणी—(१) पक्षी-पक्ष में अर्थ करके हमने देखा कि इस पद का कोई संगत अर्थ नहीं निकलता। जायसी को शब्द-क्रीड़ा प्रिय है। इसलिए वे श्लेषात्मक शब्दों का प्रयोग कर चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु इनके श्लेषात्मक पदों में श्लेष का वह सौन्दर्य नहीं आ पाता जो रीतिकालीन सेनापति आदि कवियों के काव्य में मिलता है।

(२) अनेक पक्षियों के नाम आने के कारण इस पद में मुद्रालंकार माना जायेगा।

(३) दोहे में ऊहा का प्रयोग हुआ है जो मसनवी शैली के प्रेम-काव्यों की अपनी एक निराली विशेषता रही है ।

(४) पक्षी-पक्ष में दोहे का अर्थ यही होगा जो नागमती-पक्ष में है ।

(३८२)

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई । रकत-आँसु घुँघुची बन बोई ।।
भइ करमुखी नैन तन राती । को सिराव ? बिरहा-दुख ताती ।।
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी । तहँ-तहँ होइ घुँघचि कै रासी ।।
बूँद बूँद महँ जानहुँ जीऊ । गुँजा गूँजि करै 'पिउ पीऊ' ।।
तेहि दुख भए[1] परास निपाते । लोहू बूड़ि उठे होइ राते[2] ।।
राते बिंब भीजि[3] तेहि लोहू । परवर पाक, फाट हिय गोहूँ ? ।।
देखौं जहाँ होइ सोइ राता । जहाँ सो रतन कहै को बाता ? ।।
नहिं पावस ओहि देसरा, नहि हेवंत बसंत ।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत ।।१९।।

व्याख्या—नागमती कहती है कि मैं कोयल के समान कूक-कूक कर बहुत रोई । मेरी आँखों से रक्त के आँसू वन में चारों ओर गिरते रहे जो ऐसे लगते हैं, मानो किसी ने वन में घुँघची बो दी हों । रोते-रोते मेरा मुख काला, और नेत्र तथा शरीर लाल पड़ गए हैं । (यहाँ कवि की कल्पना यह है कि रोते-रोते नागमती का सारा शरीर विरह की अग्नि में धधक कर लाल हो गया था, केवल उसका मुख चिल्लाते-चिल्लाते शिथिल होकर बुझ गया था, इसीलिए काला पड़ गया । नेत्र आँसुओं के कारण तथा शेष सारा शरीर विरहाग्नि के कारण अभी तक दहक रहा था, इसलिए लाल था ।) ऐसे इस शरीर को कौन ठण्डा करे, शीतलता प्रदान करे ? क्योंकि यह विरह के दुख के कारण तप्त हो रहा है । वह वनवासिनी अर्थात् मैं वन में जहाँ-जहाँ खड़ी होती हूँ वहीं-वहीं मेरे रक्त के आँसू टपकने के कारण घुँघुचियों का ढेर-सा लग जाता है । ऐसा प्रतीत होता है, मानो मेरे आँसुओं की एक-एक बूँद में प्राण हैं और घुँघुची जैसे प्रत्येक आँसू में से 'पीउ-पीउ' की सी ध्वनि उठ रही है । मेरे इसी दुख को देख पलाश के वृक्ष पत्रहीन हो गए हैं और मेरे आँसुओं के उस रक्त में डूब कर लाल हो उठे हैं अर्थात् टेसू के लाल फूलों के रूप में फूल उठे हैं । बिम्बा-फल मेरे उसी रक्त में भीग कर लाल हो गये हैं, परवल पककर पीला हो गया है और गेहूँ का हृदय फट गया है । मैं जिधर देखती हूँ उधर ही सब कुछ लाल हो जाता है; अर्थात मेरे दुख को देख प्रत्येक व्यथित हो उठता है । फिर जहाँ मेरा वह (रत्न-सेन) है वहाँ तक मेरा सन्देश कौन ले जाय ?

पाठ-भेद—१. डहे=दग्ध होकर । २. परभाते=चमकीले । ३. भए ।

उस देश में न तो पावस ऋतु होती है और न हेमन्त और वसन्त ऋतु ही कभी आती हैं। और न उस देश में कोयल और पपीहा ही रहते हैं जिनकी वाणी को सुन मेरे स्वामी घर लौट आएँ। भाव यह है कि उस देश में कामोद्दीपन करने वाली वर्षा, हेमन्त और वसन्त आदि ऋतुएँ नहीं होतीं और न विरह को उद्दीप्त करने वाली कोयल और पपीहे की वाणी सुनाई देती है, जिसे सुन मेरे पति को मेरी याद सताए और वे घर लौट आएँ।

टिप्पणी—इस पद में कवि ने नागमती के विरह-व्यथित हृदय की अत्यन्त मार्मिक और करुण व्यञ्जना की है। जायसी साधारण शब्दावली द्वारा हृदय के मार्मिक और गहनतम भावों को उत्कृष्टता के साथ व्यक्त करने की कला में पूर्ण समर्थ और सिद्ध कवि प्रतीत होते हैं। प्रेम की ऐसी मार्मिक व्यञ्जना सूर और मीरा के पदों की याद दिलाती है।

३१

नागमती-सन्देश-खंड

(३८३)

फिरि फिरि रोव, कोइ नहीं डोला । आधी राति बिहंगम बोला ॥
"तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी । केहि दुख रैनि न लावसि आँखी" ॥
नागमती कारन कै रोई । का सोवै जो कंत-बिछोई ॥
मनचित हुँते न उतरै मोरे[1] । नैन क जल चुकि[2] रहा न मोरे ॥
कोइ न जाइ ओहि[3] सिंघलदीपा । जेहि सेवाति कहँ नैना सीपा ॥
जोगी होइ निसरा सो नाहू । तब हुँत कहा सँदेस न काहू ॥
निति पूछौं सब जोगी जंगम । कोइ न कहै निज बात, बिहंगम! ॥
चारिउ चक्र उजार भए, कोइ न संदेसा टेक[4] ।
कहौं बिरह दुख आपन, बैठि सुनहु दँड एक ॥१॥

शब्दार्थ—डोला=हिला, विचलित हुआ । कारन कै=वेदना से व्याकुल होकर । का सोवै=क्या सोये या कैसे सोये । जंगम=लिंगायत शैव साधु । निज बात =आने की ठिकाने की बात या मनचीती बात । चारिउ चक्र=चारों दिशायें ।

व्याख्या—नागमती वन में चारों ओर रोती हुई इस आशा में भटकती रही कि कोई पक्षी उसके सन्देश को लेकर उसके पति के पास तक पहुँचा दे, परन्तु उसे कोई भी ऐसा पक्षी नहीं मिला । रोते-रोते उसे आधी रात हो गई । जायसी कहते हैं—

नागमती घूम-घूम कर इधर-उधर रोती फिरती रही परन्तु उसके करुण क्रन्दन को सुन कोई भी विचलित नहीं हुआ । इस प्रकार उसे विलाप करते हुए जब आधी रात बीत गई तो एक पक्षी उससे कहने लगा—'तू घूम-घूम कर सारे पक्षियों को क्यों जलाती फिर रही है ? तुझे ऐसा कौन-सा दुख है जिसके कारण तू क्षण भर को भी आँख नहीं झपकती अर्थात् सोती ?' उस पक्षी के इन सहानुभूति भरे शब्दों को सुन नागमती वेदना से व्याकुल हो और अधिक रोने लगी और उस पक्षी से बोली कि—

पाठ-भेद—१. बिसरै भोरैं=भूल कर भी विस्मृत नहीं होता । २. चखु=चक्षु ।
३. कहिसि जात हौं=प्रियतम ने कहा था कि मैं सिंहलद्वीप जाता हूँ ।
४. सकसि संदेसा टेकु=तुझसे हो सके तो मेरा सन्देश सम्हाल ।

'वह नारी कैसे सो सकती है जो अपने पति से बिछुड़ गई हो ? वह मेरा स्वामी मेरे मन और चित्त से क्षण भर को भी नहीं उतरता। रोते-रोते मेरे नेत्रों का जल समाप्त नहीं होता। कोई भी उस सिंहलद्वीप को नहीं जाता, जहाँ मेरे स्वामी गये हैं। वह मेरे नेत्र रूपी सीपी के लिए स्वाति नक्षत्र के जल के समान प्रिय हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार सीपी स्वाति-जल के लिए निरन्तर मुख खोले रहती है, उसी प्रकार मैं अपने स्वामी की प्रतीक्षा में रात-दिन टकटकी लगाए रहती हूँ। मेरे वह स्वामी योगी बनकर घर से निकले थे। जब से वह गए हैं, तब से किसी ने भी उनका कोई सन्देश नहीं सुनाया। मैं नित्य सारे जोगी और जंगमों (लिंगायत शैव साधु) से उनके विषय में पूछती हूँ (क्योंकि ये देश-विदेश में भ्रमण करते रहते हैं), परन्तु हे पक्षी! कोई भी मुझसे मेरी मनचाही बात नहीं कहता; अर्थात् मेरे स्वामी का कोई सन्देश नहीं सुनाता।

मेरे लिए चारों दिशायें जैसे उजाड़ हो गई हैं। कोई भी ऐसा नहीं मिलता जो मेरे सन्देश को ले जाने का भार अपने ऊपर ले। तुम तनिक घड़ी भर बैठ मेरी बात सुन लो। मैं तुम्हें अपनी दुख-गाथा सुनाऊँगी।

टिप्पणी—'जोगी जंगम'—'जंगम' का अर्थ—विचरण करने वाला भी होता है। इन दोनों शब्दों का एक दूसरा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—

जोगी=समाधिस्थ। जंगम=जड़वत; अर्थात् जड़-चेतना, चर-अचर।

(३८४)

तासौं दुख कहिए, हो बीरा। जेहि सुन कै लागै पर-पीरा॥
को होइ भिउँ अँगवै पर-दाहा[1]। को सिंघल पहुँचावै चाहा ?॥
जहँवाँ कंत गए होइ जोगी। हौं किंगरी भइ झूरि बियोगी॥
वै सिंगी पूरी, गुरु भेंटा। हौं भइ भसम, न आइ समेटा॥
कथा जो कहै आइ ओहि केरी[2]। पाँवरि होउँ, जनम भरि चेरी॥
ओहि के गुन सँवरत भइ माला। अबहुँ न बहुरा उड़िगा छाला॥
बिरह गुरू, खप्पर कै होया। पवन अधार रहै सो जीया॥
हाड़ भए सब किंगरी[3], नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तैं धुनि उठैं, कहौं बिथा केहि[4] भाँति ?॥२॥

व्याख्या—नागमती पक्षी से अपनी दुःख-गाथा कहने लगी—

हे बीरन! अपना दुख उसी से कहना चाहिए जो दूसरे की पीड़ा को सुनकर स्वयं भी उस पीड़ा से व्यथित हो उठे। परन्तु ऐसा कौन है जो भीम के समान दूसरे के दाह (पीड़ा) को अपने शरीर पर झेलने को प्रस्तुत हो जाय। ऐसा कौन है जो मेरे

पाठ-भेद—१. दंगवै=एक राजा का नाम। परिगाहा=स्वीकार करेगा, शरण देगा। २. पिउ केरी=प्रियतम की। ३. झुरि=सूख कर। ४. एहि।

सन्देश को सिंहल तक ले जाय। वह सिंहलद्वीप जहाँ मेरे स्वामी योगी बनकर चले गए हैं और मैं उनके वियोग में सूख कर सारंगी के समान कृशकाय हो गई हूँ। उन्होंने तो सिंगी बजा अपने गुरु (पद्मावती) से जा भेंट कर ली, परन्तु मैं यहाँ उनके वियोग में जल-जल कर राख हो गई परन्तु वे लौटकर मेरी इस राख को भी समेटने नहीं आए। (मृत्यु के उपरान्त अग्निदाह के दूसरे या तीसरे दिन दाग देने वाला श्मशान में जाकर चिता की राख को समेट जल में प्रवाहित कर देता है। इसे फूल बीनना कहा जाता है। यहाँ जायसी इसी की ओर संकेत कर रहे हैं।) जो कोई मेरे पास आकर मुझे उनकी कथा सुनायेगा, मैं उसके पैरों की जूती बन जाऊँगी और जीवन-भर दासी बन उसकी सेवा करती रहूँगी। मैं अपने स्वामी के गुणों का स्मरण कर-कर माला के समान क्षीणकाय हो गई हूँ परन्तु मेरे स्वामी, जो मृगछाला पर बैठकर उड़ गए थे, अभी तक लौट कर नहीं आए। (विश्वास प्रचलित था कि सिद्ध योगी मृग-छाला पर बैठ मनचाहे स्थानों में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण किया करते थे।) मेरा गुरु विरह है और मैंने अपने हृदय को खप्पर बना लिया है। मैं पवन के आधार पर अर्थात् केवल पवन का भक्षण करके ही अपने प्राणों को बचाये हुए हूँ। भाव यह है कि जिस प्रकार योगी प्राणायाम साध कर जीवित रहते हैं, उसी प्रकार नागमती गहरी साँसों के आधार पर ही जीवित रह रही है, उसका खाना-पीना छूट गया है।

मेरी सारी हड्डियाँ सूखकर सारंगी (किंगरी) बन गई हैं, नसें उस सारंगी की ताँत बन गई हैं और मेरे रोम-रोम से उसी प्रकार प्रियतम के नाम की ध्वनि निकलती रहती है जिस प्रकार सारंगी में से आवाज निकलती है। मैं अपनी व्यथा तुम्हें कैसे सुनाऊँ?

टिप्पणी—(१) इस पद में 'बीरा' शब्द आत्मीयता, करुणा और मार्मिकता की अद्‌भुत सृष्टि कर एक पति-परित्यक्ता भारतीय नारी की सम्पूर्ण वेदना को साकार कर रहा है। 'पाँवरि होउँ, जनम भरि चेरी', 'हौं भइ भसम, न आइ समेटा' तथा 'ओहि के गुन सँवरत भइ माला'—जैसी मार्मिक पंक्तियाँ एक विरह-व्यथिता नारी के हृदय की सम्पूर्ण विवशता और असहायता का साकार सा सजीव चित्र अंकित कर पाठकों के हृदय को संवेदनशील बनाने में पूर्ण समर्थ हैं। जायसी विरह-व्यथा के अंकन में अद्वितीय हैं। उनके संयोग-वर्णनों की तुलना में उनके विरह-वर्णन श्रेष्ठ और कला-त्मक बन पड़े हैं, क्योंकि सूफी-साधना का यह पक्ष ही अधिक प्रबल रहा है।

(२) द्वितीय पंक्ति में 'भीउँ' शब्द भीमसेन का अर्थ देता है। डा० अग्रवाल ने इसे गुजरात के चालुक्य राजा भीम द्वितीय माना है। परन्तु यह गलत प्रतीत होता है। पराये दुख को भीम के समान अपने ऊपर झेलने के सम्बन्ध में 'महाभारत' में एक कथा आती है, जो इस प्रकार है—

"एक गाँव के पास एक राक्षस रहता था जिसके भोजन के लिए गाँव का एक व्यक्ति रोज उसके पास भेजा जाता था। एक दिन एक ब्राह्मणी के पुत्र की बारी आई। उस गाँव में उस दिन पांडव माता कुन्ती के साथ ठहरे हुए थे। ब्राह्मणी के

करुण विलाप से द्रवित हो कुन्ती ने भीम को उसके पुत्र के स्थान पर राक्षस के पास जाने को प्रेरित किया। भीम ने जाकर उस राक्षस को मार डाला।"

यहाँ जायसी इसी कथा की ओर संकेत कर रहे हैं।

परन्तु 'पदमावत' की कुछ प्रतियों में 'भीउँ अँगवै' के स्थान पर 'भीउँ दँगवै' पाठ मिला है। डा० मनमोहन गौतम ने 'दँगवै का अर्थ 'डंगवै' मानकर तत्सम्बन्धी महाभारत की एक कथा का उल्लेख किया है। अवध में 'डंगव' राजा की कथा बहुत प्रसिद्ध है। अवधी में 'डंगवपर्व' नामक एक काव्य भी लिखा गया है। यह कथा इस प्रकार है—

"एक बार दुर्वासा ऋषि इन्द्र की सभा में पहुँचे, जहाँ मेनका का नृत्य हो रहा था। ऋषि ने नृत्य में रुचि न ली; यह देख मेनका ने उन्हें पशु कह दिया। इस पर क्रुद्ध हो ऋषि ने मेनका को शाप दिया कि तू दिन में पशु का रूप धारण करेगी और रात में अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाया करेगी। इस प्रकार तू पृथ्वी पर भटकती फिरेगी। मेनका के अनुनय-विनय करने पर ऋषि ने अपने शाप में संशोधन करते हुए कहा कि जब साढ़े तीन वज्रों का संगम होगा तब तेरा शाप दूर हो जायेगा। शाप के प्रभाव से मेनका अश्विनी (घोड़ी) बन राजा डंगव के पास रहने लगी। वह दिन में घोड़ी बनी रहती थी और रात में पुनः अप्सरा बन जाती थी। एक बार कृष्ण ने राजा डंगव से उस घोड़ी को माँगा। राजा ने इन्कार कर दिया। इस पर कृष्ण ने उस पर चढ़ाई कर दी। डंगव भीमसेन के पास सहायता माँगने पहुँचा। भीमसेन ने उसकी सहायता करना स्वीकार कर लिया। एक ओर पांडव तथा कौरव हुए और दूसरी ओर कृष्ण तथा अन्य देवतागण। भयंकर संग्राम होने लगा। जब कृष्ण हारने लगे तो उन्होंने अपना सुदर्शन चक्र तथा शिव ने अपना विशाल त्रिशूल भीमसेन पर चलाया। कृष्ण ने सुदर्शन को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए उस पर हनुमान को बैठा दिया। हनुमान का शरीर वज्र का था। इस प्रकार वहाँ तीन वज्र इकट्ठे हो गए—सुदर्शन चक्र, हनुमान का शरीर और शंकर का त्रिशूल। भीमसेन ने इन तीनों वज्रों को अपने अर्द्धाङ्ग (वज्र के वक्षस्थल) पर रोका। भीमसेन का वक्ष आधा वज्र हुआ, अतः यहाँ साढ़े तीन वज्रों का संगम हो गया। मेनका शाप से मुक्त हो गई।"

यदि हम 'अँगवै'—के स्थान पर 'दंगवै' शब्द को स्वीकार कर लें तो हमें उपर्युक्त कथा को ही इससे सम्बन्धित मानना पड़ेगा।

(३८५)

पदमावति सौं कहेहु, बिहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम॥
तू घर घरनि भई पिउ-भरता। मोहि तन दीन्हेसि जप औ बरता॥
रावट कनक सो तोकहँ भएऊ। रावट लंक मोहिं कै गएऊ॥
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कहँ हिये दुंद दुख पीरा॥
हमहुँ बिहायी संग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानु पर-जीऊ॥
अबहुँ मया करु, करु जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देइ मेरा॥

मोहिं भोग सौं काज न बारी । सौंह दीठि कै चाहनहारी ।।
सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ ।।३।।

शब्दार्थ—घर घरनि=अपने ही घर में अर्थात् मायके में घरवाली बन गई । पिउ-हरता=प्रिय का हरण करने वाली । रावट=महल । पाइ=समान ।

व्याख्या—नागमती उस विहंगम द्वारा पद्मावती से सन्देश कहला रही है—

हे विहंगम ! पद्मावती से जाकर यह कहना कि तूने मेरे स्वामी को लुभा लिया है और उसके साथ संयोग का सुख-आनन्द भोग रही है । मेरे पति का हरण करने वाली हे पद्मावती ! तू तो अपने ही घर में घरवाली बनकर बैठ गई है, अर्थात् तुझे अपने मायके में ही गृहिणी का पद प्राप्त हो गया है (जो लोकदृष्टि से अनुचित है) । और तूने मुझे जप और उपवास करना दे रखा है; अर्थात् तू मेरे स्वामी के साथ भोग-विलास का आनन्द उठा रही है और इधर मैं स्वामी के नाम की माला जपती हुई भूखी-प्यासी तड़पती रहती हूँ । सुखदायक सोने के महल तो तेरे हिस्से में आ गए हैं अर्थात् तू स्वर्ण-भवन में रहती हुई आनन्द मना रही है और स्वामी मेरे इन महलों को जलती लंका के समान दाहक बनाकर चले गए हैं; अर्थात् ये महल मुझे रात-दिन जलाते रहते हैं । तुझे तो समस्त शारीरिक सुख और चैन मिल रहे हैं और मेरे हृदय में द्विविधा, सन्देह आदि अनेक प्रकार के दुख भरे रहते हैं । मेरा भी उसी स्वामी के साथ विवाह हुआ था । इसलिए तुझे दूसरे के प्राणों को भी अपने ही प्राणों के समान समझना चाहिए । भाव यह है कि दूसरे के दुख को भी अपने ही दुख के समान समझना चाहिए । तू अब भी मुझ पर दया कर मेरे प्राण (स्वामी) को मेरे पास लौटा दे और मेरे स्वामी को मुझे देकर मेरे प्राणों की रक्षा कर ले । हे सुन्दरी ! मुझे भोग-विलास की कोई आकांक्षा नहीं है । मैं तो केवल यह चाहती हूँ कि मेरा स्वामी सदैव मेरी दृष्टि के सामने बना रहे ।

तू मेरी सौत है, मेरी बैरिन न बन; क्योंकि मेरा स्वामी तेरे वश में है । यदि तू एक बार मेरे स्वामी को लाकर मुझसे मिला देगी तो जहाँ तेरे चरण पड़ेंगे वहाँ मेरा मस्तक रहेगा; अर्थात् मैं जीवन-पर्यन्त तेरी दासी बनकर रहूँगी ।

टिप्पणी—डा० गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं । परन्तु कथा-विकास की दृष्टि से यह पद नितान्त संगत प्रतीत होता है । इसलिए इसे प्रक्षिप्त नहीं मानना चाहिए ।

(३८६)

रतनसेन कै माइ सुरसती । गोपीचंद जसि मैनावती ।।
आँधरि बूढ़ि होइ दुख रोवा । जीवन[1] रतन कहाँ दहुँ खोवा ।।
जीवन अहा लीन्ह सो काढ़ी । भइ बिनु टेक, करै को ठाढ़ी ? ।।

पाठ-भेद—१. जोबन=यौवन ।

बिनु जीवन भइ आस पराई। कहाँ सो पूत खंभ होइ आई॥
नैन दीठ नहिं दिया बराहीं[1]। घर अँधियार पूत जौ नाहीं॥
को रे चलै सरवन के ठाऊँ। टेक देह औ टेकै पाऊँ॥
तुम सरवन होइ काँवरि सजा। डार लाइ अब काहे तजा?॥
"सरवन! सरवन!" ररि मुई, माता काँवरि लागि।
तुम्ह बिनु पानि न पावै, दसरथ लावै आगि॥४॥

व्याख्या—नागमती अपनी दुख-गाथा का वर्णन करने के उपरान्त उस पक्षी से रत्नसेन की बूढ़ी माँ की दुख-कथा भी इस आशा से कहती है कि शायद वह अपनी माँ की इस दुरवस्था को सुनकर ही वापस आ जाय। नागमती कहती है—

राजा रत्नसेन की माता सरस्वती अपने पुत्र के वियोग में उसी प्रकार व्याकुल हो रही है जिस प्रकार गोपीचन्द की माता मैनावती गोपीचन्द के वियोग में व्याकुल हुई थी। माता सरस्वती पुत्र-वियोग में रोते-रोते अन्धी और बूढ़ी हो गई है। न जाने उसका जीवन अर्थात् प्राणों के समान प्रिय पुत्र रत्नसेन कहाँ खो गया है। जो पुत्र उसे प्राणों के समान प्रिय था, अर्थात् जो उसका जीवन था, उसे किसी ने निकाल लिया है। भाव यह है कि प्राण-प्रिय पुत्र को खोकर माता इस प्रकार निष्प्राण हो उठी है जैसे किसी ने उसके प्राण निकाल लिए हों। पुत्र को खोकर वह असहाय हो उठी है, अब कौन उसे सहारा देकर खड़ा करे? वह अपने प्राण-प्रिय पुत्र के चले जाने से पराश्रित हो उठी है। उसका वह पुत्र कहाँ है जो खम्भे के समान आकर उसको सहारा दे। यदि नेत्रों में दृष्टि नहीं रहती तो दीपक जलाना व्यर्थ है, और यदि घर में पुत्र नहीं होता तो वह घर अन्धकारपूर्ण रहता है। भाव यह है कि अन्धे के लिए जिस प्रकार दीपक का प्रकाश व्यर्थ है, उसी प्रकार माता के लिए पुत्र-हीन गृह सदैव अन्धकारपूर्ण बना रहता है। जिस प्रकार श्रवणकुमार अपने माता-पिता को कन्धे पर लाद कर चलता था और उन्हें सहारा दे उनके पैरों को जमीन पर टिका नीचे उतारा करता था, उसी प्रकार अब कौन माता सरस्वती के पुत्र का स्थान ग्रहण करेगा और उसे सहारा देगा। माता सरस्वती कहती है कि—हे पुत्र! तुमने श्रवण कुमार बनकर काँवरि को सजाया था अर्थात् इस वृद्धावस्था में मेरी सेवा करने की प्रतिज्ञा की थी। अब उस काँवरि को वृक्ष की डाल में लटका कर मुझे छोड़कर क्यों चले गए? भाव यह है कि तुम पहले श्रवण कुमार के समान मातृ-भक्त थे, अब उसे क्यों भूल गए।

इस प्रकार सरस्वती 'श्रवण, श्रवण' रटती हुई काँवरि के लिए विलाप करती अर्थात् पुत्र को सहारा देने के लिए पुकारती मर गई। तुम्हारे बिना वह पानी नहीं पा सकती, अर्थात् तुम्हारे बिना श्राद्ध के दिनों में उसे कौन पानी देगा, दशरथ तो आग देने वाला है।

पाठ-भेद—१. नैनन्ह दिस्टि त दिया बराहीं=नेत्रों में दृष्टि होती है तो दीपक का जलना सार्थक होता है।

टिप्पणी—(१) श्रवण कुमार के सम्बन्ध में यह कथा भी प्रचलित है कि श्रवण कुमार के माता-पिता राजा दशरथ के बहन और बहनोई थे। इसी कारण दशरथ ने अपने बहन-बहनोई और भागिनेय (भांजे) का दाह-संस्कार किया था। यह विश्वास प्रचलित है कि माता-पिता के मरने पर यदि उनका पुत्र पास न हो तो कोई निकट सम्बन्धी दाह-संस्कार कर देता है। परन्तु मृतक आत्मा को मुक्ति तभी मिलती है जब पुत्र श्राद्ध के दिनों में उन्हें जल देता है। इसी कारण दोहे की अन्तिम पंक्ति में कहा गया है कि—'तुम्ह बिनु पानि न पावै, दशरथ लावै आगि।'

(२) इस पद में डा० गुप्त ने 'जीवन' शब्द के स्थान पर 'जोबन' पाठ माना है, जो अर्थ-निर्वाह और अर्थ-सौन्दर्य की दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता।

(३८७)

लेइ सो सँदेश बिहंगम चला। उठी आगि सगरौं[1] सिंघला॥
बिरह-बजागि बीच को ठेघा ?। धूम सो उठा साम भए मेघा॥
भरिगा गगन लूक अस छूटे। होइ सब नखत आइ भुइँ टूटे॥
जहँ जहँ भूमि जरी भा रेहू। बिरह के दाध भई जनु खेहू॥
राहु केतु, जरि लंका जारी। चिनगी उड़ी चाँद महँ परी।
जाइ बिहंगम समुद डफारा। जरे मच्छ पानी भा खारा॥
दाधे बन बीहड़, जल सीपा। जाइ निअर भा सिंघलदीपा॥
समुद तीर एक तरिवर, जाइ बैठ तेहि रूख।
जौ लगि कहा सँदेस नहिं, नहिं पियास, नहिं भूख॥५॥

शब्दार्थ—ठेका=रोकना, टिकना, ठहरना। लूक=लपटें, अग्नि के शोले। दाध=दाह। खेहू=राख। डफारा=चिल्लाया।

व्याख्या—इस पद में जायसी विरह-दग्धा नागमती के सन्देश को ले जाने वाले उस पक्षी की यात्रा तथा विरह-दग्ध उस सन्देश की भयंकर ज्वाला का वर्णन करते हुए कहते हैं—

वह पक्षी नागमती के उस सन्देश को लेकर वहाँ से उड़ चला। उसके प्रस्थान करते ही सम्पूर्ण सिंहलद्वीप में आग-सी लग गई। विरह की वज्राग्नि के समान भयङ्कर इस आग के सामने कौन ठहर सकता था। उस अग्नि से जो धुआँ उठा उससे सारे मेघ काले हो गए। उससे ऐसे अग्नि के शोले (लूक) छूटे कि सारा आकाश

पाठ-भेद—१. मनसा=मन में सिंहलद्वीप जाने का संकल्प करते ही। यह पाठ और अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। वह पक्षी उस विरहाग्नि से उत्पीड़ित हो सिंहल की ओर उड़ता है और उसके साथ ही वह विरहाग्नि मार्ग में सबको जलाती जाती है।

उनसे भर गया। वे अग्नि के शोले ही नक्षत्र बन अब तक पृथ्वी पर टूट-टूट कर गिरते रहते हैं। उस अग्नि में जिस-जिस स्थान की भूमि जली वहाँ रेत बन गया, मानो उस विरहाग्नि के दाह के कारण ही वह धरती जल कर राख या धूल बन गई। उसी की अग्नि में राहु-केतु जल कर काले पड़ गए। और जब लङ्का उसी अग्नि में जल कर भस्म हुई थी तो उसकी एक चिनगारी उड़कर चन्द्रमा पर पड़ी (जिसका दाग आज तक चन्द्रमा में पड़ा हुआ है)। उस विरहाग्नि भरे सन्देश की तपन से व्याकुल हो वह पक्षी जब समुद्र के ऊपर पहुँचा तो पीड़ा से व्याकुल हो जोर से चिल्लाने लगा। इसके कारण समुद्र में रहने वाली सारी मछलियाँ और जीव-जन्तु जलकर काले पड़ गए और उसका पानी खारा हो गया। मार्ग में पड़ने वाले सारे वन तथा जल के भीतर रहने वाली सीपियाँ उस अग्नि से जल गईं। इस प्रकार मार्ग में पड़ने वाली सम्पूर्ण वस्तुओं और जीव-जन्तुओं को उस विरहाग्नि से जलाता हुआ वह सन्देशवाहक पक्षी सिंहलद्वीप के पास जा पहुँचा।

वहाँ समुद्र के तट पर एक वृक्ष था। वह पक्षी उस वृक्ष पर जाकर बैठ गया। जब तक उसने वह सन्देश नहीं कह दिया, तब तक उसे भूख और प्यास कुछ भी नहीं लगी। भाव यह है कि उस विरहाग्नि से जलते सन्देश के दाह के कारण उसकी भूख-प्यास मारी गई और जब उसने वह सन्देश कह दिया, तभी उसे शान्ति मिल सकी।

टिप्पणी—(१) यहाँ जायसी ने विरहाग्नि से ही लङ्का का जलना दिखाया है। इसका भाव यह है कि सीता-हरण के कारण राम के हृदय में जो विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठी थी, उसी के परिणामस्वरूप लंका-दाह हुआ था।

(२) दोहे की प्रथम पंक्ति में जायसी ने वृक्ष के लिए पहले 'तरिवर' (तरुवर) तथा फिर 'रूख' शब्दों का प्रयोग किया है जो साभिप्राय है; अर्थात् उस पक्षी के बैठने से पहले तक वह वृक्ष 'तरुवर' अर्थात् फूला-फला, हरा-भरा था परन्तु उस पक्षी के उसके पास पहुँचते ही उस ज्वाला से जल कर 'रूख' अर्थात् पत्र-पुष्प विहीन हो सूखा ठूँस सा रह गया।

(३) इस पद में जायसी ने मसनवी शैली की अतिशयोक्तिपूर्ण ऊहात्मक शैली का प्रयोग किया है।

(३८८)

रतनसेन बन करत अहेरा। कीन्ह ओही तरिवर-तर फेरा॥
सीतल बिरिछ समुद के तीरा। अति उतंग ओ छाँह गँभीरा॥
तुरय बाँधि कै बैठु अकेला। साथी और करहिं सब खेला॥
देखत फिरै सो तरिवर-साखा। लाग सुनै पंखिन्ह कै भाखा॥
पंखिन महँ सो बिहंगम अहा। नागमती जासौं दुख कहा॥
पूछहिं सबै बिहंगम नामा। अहो मीत ! काहे तुम सामा ?॥

कहेसि "मीत ! मासक दुइ भए । जंबूदीप तहाँ हम गए ॥
नगर एक हम देखा, गढ़ चितउर ओहि नावँ ।
सो दुख कहौं कहाँ लगि, हम दाढ़े तेहि ठावँ ॥६॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन वन में शिकार करता हुआ उसी वृक्ष के नीचे आ निकला । समुद्र-तट पर स्थित वह वृक्ष अत्यन्त शीतलता प्रदान करने वाला था । वह अत्यन्त ऊँचा और सघन छाया वाला था । रत्नसेन उसी से घोड़े को बाँध अकेला उसी के नीचे बैठ गया । उसके अन्य साथी शिकार खेलते रहे । रत्नसेन ऊपर निगाह कर वृक्ष की शाखाओं का निरीक्षण करने और पक्षियों की बोलियाँ सुनने लगा । उस वृक्ष पर बैठे पक्षियों में वह पक्षी भी था जिससे नागमती ने अपनी दुख-गाथा कही थी । सारे पक्षी उससे उसका नाम पूछते हुए प्रश्न करने लगे कि हे मित्र ! तुम काले कैसे पड़ गए ? उनके प्रश्न को सुन उस पक्षी ने उत्तर देते हुए कहा—हे मित्रो ! लगभग दो मास होने आए, जब मैं भारतवर्ष गया था । वहाँ मैंने एक नगर देखा जिसका नाम चित्तौड़ गढ़ था । मैं उसी स्थान पर जल गया । और मैं किस प्रकार जला था, उस दुख-गाथा को तुम्हें कहाँ तक सुनाऊँ ।

टिप्पणी—इस पद में जायसी की शैली पूर्णतः वर्णनात्मक, संक्षिप्त, सरल और भावों के घटाटोप से मुक्त हो उठी है । जायसी की इस सहज-सरल शैली के दर्शन कम ही स्थलों पर होते हैं । यहाँ जायसी को न चमत्कार प्रदर्शन का मोह सता रहा है और न भावों की आकुल व्यंजना करने की आकांक्षा ।

(३८९)

जोगी होइ निसरा सो राजा । सून नगर जानहु धुँध बाजा ॥
नागमती है ताकरि रानी । जरी बिरह, भइ कोइल-बानी ॥
अब लगि जरि भइ होइहि छारा । कही न जाइ बिरह कै झारा ॥
हिया फाट वह जबहीं कूकी । परैं आँसु सब होइ होइ लूकी ॥
चहूँ खंड छिटकी वह आगी । धरती जरति गगन कहँ लागी ॥
बिरह-दवा को जरत बुझावा ? । जेहि लागै सो सौहैं धावा[1] ॥
हौं पुनि तहाँ सो दाढ़ें लागा । तन भा साम, जीउ लेइ भागा ॥
"का तुम हँसहु गरब कै, करहु समुद महँ केलि ।
मति ओहि बिरहा बस परै, दहै अगिनि जो[2] मेलि" ॥७॥

व्याख्या—वह पक्षी अपनी कथा को आगे बढ़ाते हुए कहने लगा—

उस चित्तौड़गढ़ का राजा योगी बनकर वहाँ से निकल पड़ा जिसके कारण सारा नगर सूना हो गया, नगर में चारों ओर अन्धकार छा गया । उसकी नागमती

पाठ-भेद—१. चहै लागि जरि हियरें धावा = जो विरहाग्नि दौड़ कर उसके हृदय में भी लगना चाहती थी । २. जल ।

नाम की रानी है। वह उसके विरह में जल कर कोयल के समान काली हो गई है। अब तक तो वह जल कर राख हो गई होगी। मैं उसकी उस विरहाग्नि के ताप का वर्णन करने में असमर्थ हूँ। जब वह विलाप करने लगी तो मेरा हृदय विदीर्ण हो गया। उसके आँसू लूक बन-बन कर धरती पर गिरने लगे। उनसे निकली हुई अग्नि चारों ओर फैल गई। सारी धरती उस अग्नि में जलने लगी और वह ऊपर उठ आकाश में जा लगी। भला, जलती हुई विरह की दावाग्नि को कौन बुझा सकता है? वह जिसके लग जाती है वह सीधे उसी की ओर मुँह करके दौड़ने लगता है, अर्थात् स्वयं उसमें जलने के लिए उसी की ओर दौड़ पड़ता है। मैं भी उसी स्थान पर उस अग्नि में जलने लगा जिसके कारण मेरा शरीर काला हो गया और मैं अपने प्राण लेकर वहाँ से भाग खड़ा हुआ।

तुम यहाँ गर्व करके क्या हँस रहे हो और समुद्र में क्रीड़ा करते रहते हो। कहीं ऐसा न हो कि तुम भी उस विरह के चक्कर में फँस जाओ। यदि ऐसा हो गया तो वह तुम्हें अग्नि में डाल कर खूब जलायेगा।

(३९०)

सुनि चितउर-राजा मन गुना। बिधि-सँदेस मैं कासौं सुना॥
को तरिवरि पर पंखी-भेसा। नागमती कर कहै सँदेसा?॥
"को तु मीत मन-चित्त-बसेरू। देव कि दानव पवन पखेरू॥
ब्रह्म बिस्नु बाचा है तोही। सो निज बात कहै तू मोही॥
कहाँ सो नागमती तैं देखी। कहेसि बिरह जस मनहिं बिसेखी॥
हौं सोई राजा भा जोगी। जेहि कारन वह ऐसि बियोगी॥
जस तूँ पंखि महूँ दिन भरौं। चाहौं कबहि जाइ उड़ि परौं"॥
पंखि! आँखि तेहि मारग, लागी सदा रहाहिं।
कोइ न सँदेसी आवहिं, तेहि क सँदेश कहाहिं॥८॥

व्याख्या— वृक्ष पर बैठे उस पक्षी की बातें सुन चित्तौड़गढ़ का राजा रत्नसेन मन में सोचने लगा कि मैंने यह आकाशवाणी किसके मुख से सुनी। इस वृक्ष पर पक्षी के वेश में कौन बैठा है जो नागमती के सन्देश को कह रहा है। मन में यह सोच रत्नसेन ने उस पक्षी को सम्बोधन कर कहा, मेरे मन और चित्त में निवास करने वाले हे मित्र! तू कौन है? तू देवता है या दानव, पवन है या पक्षी? तुझे ब्रह्मा और विष्णु की शपथ है। तू मुझे अपने मन की सच्ची बात बता दे। तूने उस नागमती को कहाँ देखा था जिसके विरह का तू इस प्रकार मन लगाकर वर्णन कर रहा है। मैं वही राजा हूँ जो योगी बन गया था और जिसके कारण वह ऐसी वियोगिनी बनी हुई है। हे पक्षी! तेरे ही समान मैं भी अपने दिन काट रहा हूँ और चाहता हूँ कि किसी समय उड़ कर उसके पास जा पहुँचूँ।

"हे पक्षी ! मेरी आँखें हमेशा उसी मार्ग पर लगी रहती हैं परन्तु उधर से कोई भी सन्देश-वाहक ऐसा नहीं आता जो मुझे उसका सन्देश सुनाये।"

(३६१)

"पूछसि कहा सँदेस-बियोगू। जोगी भए न जानसि भोगू॥
दहिने संख न सिंगी पूरै। बाएँ पूरि राति[1] दिन झूरै॥
तेलि बैल जस बावँ फिराई। परा भँवर महँ सो न तिराई॥
तुरय, नाव, दहिने रथ हाँका। बाएँ फिरै कोहाँर क चाका॥
तोहिं अस नाहीं पंखि भुलाना। उड़े सो आव[2] जगत महँ जाना॥
एक दीप का आएउँ तोरे। सब संसार पाँय-तर मोरे॥
दहिने फिरै सो अस उजियारा। जस जग चाँद सुरुज मनियारा"[3]॥
मुहमद बाईं दिसि तजी, एक स्रवन, एक आँखि।
जब तें दाहिन होइ मिला, बोलु पपीहा पाँखि॥६॥

शब्दार्थ—दहिने संख=दक्षिणावर्त्त शंख नहीं फूँकता, दाहिने हाथ से। पूरि=बजा कर। बावँ=बाएँ। तिराई=पानी के ऊपर आता है, तैरता है। मनियारा=चमकीले।

व्याख्या—राजा रत्नसेन की बातों को सुन उस पक्षी ने कहा कि—हे राजा ! तू उस वियोगिनी के सन्देश की बात क्या पूछता है। तू तो योगी बन गया है, इसलिए अब भोग-विलास की बातों को नहीं जानता। तू दक्षिणावर्त्त हो शंख नहीं फूँकता अर्थात् तू भोगियों के समान मन्दिर में जा देवता के दक्षिणावर्त्त हो शंख नहीं फूँकता बल्कि योगी बना सिंगी बजाता रहता है। भाव यह है कि तू भोगी न होकर योगी बन गया है। तू सिंगी को बाएँ हाथ में पकड़ उसे बजाता रहता है और रात-दिन खड़ा तपस्या करता हुआ सूखता रहता है। भाव यह है कि योगी बनने पर भी तूने प्रेम-साधना के दाहिने या अनुकूल मार्ग को ग्रहण न कर कृच्छ्र योग-साधना के वाम-मार्ग को अपनाया है, इसलिए तू प्रेम के महत्त्व को क्या समझ सकता है। (वाम-मार्गी सदा ही दुख उठाते रहते हैं और आगे नहीं बढ़ पाते।) तू तेली के बैल के समान बाएँ घूमता है, अर्थात् वाम-मार्ग की साधना करता है। जो वाम-मार्ग के इस भँवर में एक बार पड़ जाता है वह कभी जल के ऊपर नहीं आ पाता, अर्थात् उसका जीवन नष्ट हो जाता है। घोड़ा, नाव और रथ सदैव दाहिने चलाए जाते हैं। (और आगे बढ़ जाते हैं) परन्तु कुम्हार का चाक सदैव बाएँ घूमता है, इसी कारण आगे न बढ़ एक ही स्थान पर चक्कर खाता रहता है। परन्तु हम पक्षी तेरे समान ऐसी भूल नहीं करते। हम तो संसार में आते ही यह जान जाते हैं कि हमें उड़ना है। मैं क्यों अकेले तेरे इसी एक द्वीप में आया हूँ। सारा संसार मेरे पैरों के नीचे रहता है;

पाठ-भेद—१. बादि=व्यर्थ ही। २. आदि=मूल तत्त्व, ब्रह्म। ३. औ तारा।

अर्थात् मैं कहीं भी उड़ कर जा सकता हूँ। (तेरे समान बाहर जाने की इच्छा रखते हुए भी इसी स्थान पर बँध कर नहीं पड़ा रहता।) जो दाहिने चलता है, उसी का जीवन उज्ज्वल होता है। जैसे कि इस संसार में चाँद और सूर्य सदैव प्रकाशवान बने रहते हैं, उसी प्रकार दाहिने चलने वाले का जीवन भी सदैव प्रकाशवान, अर्थात् आनन्द से भरा रहता है।

मलिक मुहम्मद जायसी ने भी वाम-मार्ग की इस बुराई को समझ अपने बाएँ अंगों का प्रयोग करना छोड़ दिया, अर्थात् बाईं आँख से देखना और बाएँ कान से सुनना त्याग दिया। वह जब से दाहिने मार्ग का अनुसरण कर अपने प्रियतम से मिला, तभी से वह पपीहा पक्षी के समान सदैव 'पिउ पिउ' रटने लगा, अर्थात् ईश्वर के नाम का जाप करने लगा।

टिप्पणी—(१) इस पद में आए 'दाहिने' और 'बाएँ' शब्द दक्षिण मार्गी साधना और वाम-मार्गी साधना के लिए प्रयुक्त हुए हैं। सिद्ध और नाथ, निर्गुण मार्गी शैव तथा शाक्त—वाम-मार्गी माने जाते थे और प्रेम-साधना दक्षिण मार्ग या अनुकूल मार्ग माना जाता था। यहाँ जायसी वाम-मार्गी साधनाओं का निराकरण करते हुए प्रेम-मार्ग की उत्कृष्टता की स्थापना कर रहे हैं।

(२) दोहे की प्रथम पंक्ति में जायसी ने यह कहा है कि उन्होंने वाम-मार्ग को छोड़ दक्षिण-मार्ग का अनुसरण किया। और साथ ही बड़ी चतुराई के साथ यह भी कह गए हैं कि उनकी बाईं आँख और बाँया कान खराब थे। यह प्रसिद्ध है कि जायसी की बाईं आँख के फूट जाने के कारण काने थे और बाएँ कान से उन्हें सुनायी नहीं देता था। सम्भवतः चेचक के प्रकोप के कारण ही उनके ये दोनों अंग मारे गए थे।

(३९२)

हौं धुव अचल सौं दाहिनि लावा। फिर सुमेरु चितउर-गढ़ आवा॥
देखेउँ तोरे मँदिर घमोई। मातु तोरि आँधरि भइ रोई॥
जस सरवन बिनु अंधी अंधा। तस ररि मुई, तोहि चित बंधा॥
कहेसि मरौं, को काँवरि लेई?। पूत नाहिं पानी को देई?॥
गई पियास लागि तेहि साथा। पानि दीन्ह दशरथ के हाथा॥
पानि न पिये, आगि पै चाहा। तोहि अस सुत जनमे अस लाहा॥
होइ भागीरथ करु तहँ फेरा। जाहि सबार, मरन कै बेरा॥
तू सपूत माता कर[1], अस परदेस न लेहि।
अब ताईं मुइ होइहि, मुए जाइ गति देहि॥१०॥

पाठ-भेद—१. सपूत मनि ताकर=उसका सुपुत्र मणि है।

शब्दार्थ—दाहिनि लावा=प्रदक्षिणा की। घमोई=सत्यानाशी का पौधा। ररि=रो-रो कर। सबार=शीघ्र। होइहि=हो गई होगी। गति=सद्गति।

व्याख्या—नागमती का सन्देशवाहक पक्षी राजा रत्नसेन से उसके वियोग में तड़पती उसकी माता सरस्वती की दीन दशा का वर्णन करते हुए आगे कहने लगा—

मैं ध्रुव के समान अचल पर्वत की प्रदक्षिणा कर सुमेरु के समान उत्तुङ्ग चित्तौड़ गढ़ पर पहुँचा। (चित्तौड़गढ़ पर्वत के ऊपर बसा है।) वहाँ मैंने तेरे राजमहल में सत्यानाशी की कटीली झाड़ियाँ उगी हुई देखीं। भाव यह है कि राजमहल सूना और खंडहर हो रहा था और उसमें झाड़ियाँ उग आई थीं। तेरी माता रो-रो कर अन्धी हो गई थी। जिस प्रकार श्रवण कुमार के बिना उसके अन्धे माता-पिता रो-रो कर मर गए थे, वैसे ही तेरी माता तेरी याद करती हुई मरणासन्न हो रही है। उसने कहा था कि मैं मर रही हूँ, मेरी काँवरि को कौन उठायेगा, अर्थात् कौन मुझे सहायता देगा? मेरा पुत्र यहाँ नहीं है, कौन मुझे पानी देगा? श्रवण कुमार की माता की प्यास अपने पुत्र के साथ ही चली गई थी और दशरथ द्वारा लाया गया पानी उसने लौटा कर दशरथ के ही हाथ में दे दिया था। वह दशरथ के बार-बार आग्रह करने पर भी पानी नहीं पीती थी और चिता में जल कर मर जाना चाहती थी। इसी प्रकार तेरी माता भी किसी के हाथ से पानी नहीं पीती। वह केवल यह चाहती है कि तेरे हाथ से उसे आग मिले; अर्थात् तू उसकी चिता में आग लगा उसका दाह-संस्कार कर दे। तेरे जैसे पुत्र को जन्म देने से उसे यह लाभ मिला है कि वह अन्त समय तेरे हाथ की लकड़ी तक के लिए तरस रही है। इसलिए तू भगीरथ के समान वहाँ पहुँच। तू शीघ्र ही जा, क्योंकि तेरी माता का अन्त समय निकट है।

तू अपनी माता का सुपुत्र है, इसलिए इस तरह परदेश में मत पड़ा रह। अब तक तो उसकी मृत्यु हो गई होगी। तू उसके मरने के उपरान्त तो वहाँ पहुँच कर उसको सद्गति दे, अर्थात् विधि-पूर्वक उसका क्रिया-कर्म सम्पन्न कर।

टिप्पणी—'हौं धुव अचल सौं दाहिनि लावा'—इस पंक्ति का विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। डा० अग्रवाल ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है: 'मैंने अचल ध्रुव को दाहिने हाथ रखते हुए सुमेर का चक्कर किया और फिर चित्तौड़ गढ़ आया।' डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने लिखा है—'मैंने अचल ध्रुव की प्रदक्षिणा की, फिर सुमेरु के तुल्य चित्तौड़ गढ़ पहुँचा।' शुक्ल जी ने 'दाहिनि लावा' शब्दों का अर्थ 'प्रदक्षिणा की' लिखा है। परन्तु इन अर्थों से इस पंक्ति का भाव स्पष्ट नहीं होता। 'अचल' पर्वत को भी कहते हैं। जिस प्रकार ध्रुव तारा अचल रहता है उसी प्रकार पर्वत भी अचल रहते हैं। चित्तौड़ का गढ़ पर्वत के ऊपर बना हुआ है। पर्वत पर चढ़कर वहाँ तक पहुँचना पड़ता है। इसलिए हमने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'ध्रुव के समान अचल पर्वत की प्रदक्षिणा कर सुमेरु के समान उत्तुङ्ग चित्तौड़

गढ़ पर पहुँचा।' यदि 'दाहिनि' शब्द से 'दाहिने' का ही अर्थ लेना है तो इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि—'मैं ध्रुव के समान उस अचल पर्वत पर दाहिनी ओर से चढ़कर सुमेरु के समान ऊँचे चित्तौड़ गढ़ पर पहुँचा।'

(३६३)

नागमती दुख बिरह अपारा। धरती सरग जरै तेहि झारा॥
नगर कोटि घर बाहर सूना। नौजि होइ घर पुरुष बिहूना॥
तू काँवरू परा बस टोना। भूला जोग, जरा तोहि लोना॥
वह तोहि कारन मरि भइ छारा। रही नाग होइ पवन अधारा॥
कहुँ बोलहि 'मो कहँ लेइ खाहू'[1]। माँसु न काया रुचै जो काहू॥
बिरह मयूर, नाग वह नारी। तू मजार करु बेगि गोहारी॥
माँसु गिरा, पाँजर होइ परी। जोगी ! अबहुँ पहुँच लेइ जरी॥
देखि बिरह-दुख ताकर, मैं सो तजा बनवास।
आएउँ भागि समुद्रतट, तबहुँ न छाँड़ै पास॥११॥

शब्दार्थ—नौजि=ईश्वर न करे, न (बोलचाल की अवधी में 'न' के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है)। लोना=लोना नामक जादूनगरी या लावण्य, सौंदर्य।

व्याख्या—रत्नसेन की माता की व्यथा का वर्णन करने के उपरान्त वह सन्देश-वाहक पक्षी नागमती के विरह-दुख का वर्णन करता हुआ कहता है—

नागमती का विरह-जन्य दुख अपार है। इसकी विरहाग्नि की ज्वाला से धरती और आसमान जल रहे हैं; अर्थात् उस ज्वाला में सारा संसार दग्ध हो रहा है। सारा नगर, किला, घर और बाहर सभी सूना हो गया है। ईश्वर न करे कोई घर इस प्रकार पुरुष से विहीन हो जाय। तू तो इस कामरूप जैसे देश में जादू के वश हुआ यहाँ पड़ा है। तू अपनी योग-साधना को भूल गया है। किसी लोना जैसी जादू-गरनी ने तुझे छल कर अपने वश में कर लिया है। उधर वह नागमती तेरे कारण विरह में जल-जल कर भस्म हो मरणासन्न हो रही है। जिस प्रकार नाग केवल वायु-भक्षण कर जीवित रहता है उसी प्रकार नागमती केवल पवन के आधार पर जी रही है; अर्थात् उसका खाना-पीना छूट गया है और वह तेरे वियोग में गहरी निःश्वासें भरती हुई जी रही है। कभी वह कह उठती है—'लो मुझे खा लो'। उसके शरीर में तनिक भी मांस नहीं रहा है जिससे वह किसी को भी पसन्द नहीं आती। भाव यह है कि वह सूख कर पिंजर हो गई है। उसे कोई खाए तो क्या खाए। विरह मयूर बन उस सर्प के समान पतली नारी को खाए डाल रहा है। तू बिल्ली बनकर शीघ्र उसके पास

पाठ-भेद—१. कह चील्हन्ह पिय पहँ लै खाहू=चीलों से कहती है कि मुझे प्रियतम के पास ले जाकर खाओ।

जा, उसकी सहायता कर। (मयूर बिल्ली को देख भाग जाता है।) उसके शरीर का मांस गल-गल कर गिर गया है। अब वह पिंजर के समान रह गई है। हे योगी ! तू अब भी जड़ी-बूटी लेकर उसके पास पहुँच जा (वह ठीक हो जायगी।)

उसके ऐसे विरह-दुख को देख मैंने उस वन में वास करना छोड़ दिया और यहाँ समुद्र-तट पर भाग आया परन्तु उसके विरह की वह ज्वाला अब भी मेरा पीछा नहीं छोड़ रही है।

टिप्पणी—'लोना'—कामरूप की एक प्रसिद्ध जादूगरनी थी जो जाति की चमारिन मानी गई है। जायसी ने आगे भी कई स्थानों पर लोना चमारिन का उल्लेख किया है, जैसे—

'एहि कर गुरू चमारिनि लोना। सिखा काँवरू पाढ़न टोना॥'

—(राघवचेतन-देश-निकाला-खंड, पद सं० ३)

तथा—

'जस काँवरू चमारी लौना। को न छरा पाढ़ित और टोना॥'

—(देवपाल-दूती-खंड, पद सं० २)

(३६४)

अस परजरा बिरह कर गठा[1]। मेघ मास भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केत गा दाधा। सूरुज जरा चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहि लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावँहि ठाऊँ। दहिक[2] पलास जरै तेहि दाऊँ॥
बिरह-साँस तस निकसै झारा। दहि दहि[3] परबत होहि अँगारा॥
भँवर पतङ्ग जरैं औ नागा। कोइल, भुजइल, डोमा कागा॥
बन-पंखी सब जिउ लेइ उड़े। जल महँ मच्छ दुखी होइ बूड़े॥
महूँ जरत तहँ निकसा, समुद बुझाएउँ आइ।
समुद, पानि जरि खार भा, धुँआ रहा जग छाइ॥१२॥

व्याख्या—इस पद में वह सन्देश-वाहक पक्षी नागमती की विरहाग्नि की भयंकरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करता हुआ आगे कहता है—

नागमती का सारा शरीर उस विरहाग्नि में लकड़ी के ढेर के समान प्रज्वलित हो उठा। जलने से उसके शरीर से जो धुआँ उठा उसके लगने से सारे मेघ काले हो गए। उसकी ज्वाला में राहु और केतु—दोनों जलकर काले पड़ गए। उसी ज्वाला में जलकर सूर्य तपने लगा और चन्द्रमा भी आधा जल गया। (यहाँ चन्द्रमा में दिखाई पड़ने वाले काले धब्बे की ओर संकेत है।) और सारे नक्षत्र तथा तारागण उसी ज्वाला में जलने के कारण चमकते रहते हैं। वही लूक बन-बन कर इस पृथ्वी पर टूटते रहते

पाठ-भेद—१. कठा=कष्ट। २. ढंक=ढाक। ३. धिकि धिकि=गर्म हो होकर।

हैं। इनके गिरने से धरती स्थान-स्थान पर जलती रहती है। इन लूकों से लगी दावाग्नि में जलकर पलाश (टेसू) सदैव अङ्गारे के समान दहकता रहता है। उसकी विरह से तप्त साँसों से ऐसी भयंकर ज्वाला निकलती रहती है कि उसमें जल-जल कर पर्वत अंगारों के समान जलते रहते हैं। इसी ज्वाला में भ्रमर, पतिंगे, सर्प, कोयला, भुजइल और पहाड़ी कौए आदि सभी जल कर काले हो गए हैं। इस ज्वाला से भयभीत हो उस वन में रहने वाले सारे पक्षी अपने प्राण लेकर भाग खड़े हुए हैं और समुद्र के सारे जल-जन्तु दुखी हो पानी के भीतर डूब गए हैं।

उन्हीं के समान मैं भी उस ज्वाला से जलता हुआ वहाँ से भाग निकला और यहाँ समुद्र में आकर मैंने अपनी आग को बुझाया। जब मैंने अपने शरीर में लगी अग्नि को समुद्र में बुझाया तो इसका पानी जल कर खारा हो गया और उसका धुआँ सारे संसार पर छा गया।

टिप्पणी—(१) अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा।

(२) इस पद में नागमती को विरहाग्नि की ज्वाला से सारे संसार का जलना बड़े क्रमबद्ध रूप से दिखाया गया है। सबसे पहले मेघ जले, फिर सूर्य-चन्द्र, राहु-केतु, नक्षत्र और तारे जले। जलते हुए तारों के टूट-टूट कर नीचे गिरने से पृथ्वी जली, फिर पृथ्वी पर खड़े जंगल जले और उस दावाग्नि से पलाश दहकने लगे। वही आग जब पर्वतों को जलाने लगी तो उनमें रहने वाले सारे पशु-पक्षी जलने लगे और अन्त में समुद्र भी जल कर खारा हो गया। इस प्रकार जायसी ने गिनी-चुनी पंक्तियों द्वारा सारे विश्व के जलने का एक सजीव-सा चित्र अंकित कर दिया है। वृहद् को संक्षेप में समेट लेना—जायसी की शैली की विशेषता है। यह शैली महाकाव्य की वर्णनात्मकता को त्याग मुक्तक के समान संक्षिप्त, भावपूर्ण और संकेतात्मक हो उठती है।

(३९५)

राजै कहा, "रे सरग-सँदेसी। उतरि आउ, मोहि मिलु रे बिदेसी[1] ।।
पाय टेकि तोहि लाऔं हियरे। प्रेम-संदेस कहहु होइ नियरे" ।।
कहा बिहंगम जो बनवासी। "कित गिरही तैं होइ उदासी ? ।।
जेहि तरिवर-तप तुम्ह अस कोऊ। कोकिल काग बराबर दोऊ ।।
धरती मँह विष-चारा परा। हारिल जानि भूमि परिहरा ।।
फिरौं वियोगी डारहि डारा। करौं चलै कहँ पंख सँवारा ।।
जियै क घरी घटति निति जाहीं। साँझहि जीउ रहै, दिन नाहीं[2] ।।
जौ लहि फिरौं मुकत होइ, परौं न पींजर माँह।
जाउँ बेगि थल आपने, है जेहि बीच निबाह[3]" ।।१३।।

पाठ-भेद – १. सहदेसी=एक ही देश का निवासी।
२. साँसहिं जिउ है देवसन्ह नाहीं=जीवन दिनों में नहीं, साँसों में ही है।
३. बिझ बनाह=विन्ध्यवन।

व्याख्या—उस संदेश-वाहक पक्षी की बातों को सुन राजा रत्नसेन उससे कहने लगा कि—हे स्वर्ग से अर्थात् ऊपर बैठकर संदेश कहने वाले देवदूत ! हे परदेशी ! तू नीचे उतर आ और मुझसे मिल। मैं तेरे पैर छूकर तुझे हृदय से लगाऊँगा। तू मेरे पास आकर नागमती का प्रेम-सन्देश कह ! उस वन में वास करने वाले पक्षी ने उत्तर दिया कि– तुम गृहस्थी से वैरागी क्यों और कैसे वन गये। जिस वृक्ष के नीचे तुम जैसा अर्थात् तुम्हारे जैसा विश्वासघाती और शिकारी व्यक्ति हो उसके लिए कोयल और कौए में कोई अन्तर नहीं रहता, अर्थात् उसमें भले और बुरे की पहचान करने की विवेक-बुद्धि नहीं होती। भाव यह है कि तुम नागमती के साथ विश्वासघात कर चुके हो तो मैं तुम्हारा विश्वास कर कैसे नीचे उतर आऊँ। तुम शिकारी ठहरे ! कहीं मुझे मार कर खा जाओ या पकड़ कर पिंजरे में बन्द कर दो। तुम्हारा क्या भरोसा ?

हारिल पक्षी यह जानता है कि बहेलिए धरती पर विष मिला हुआ चारा डाल पक्षियों को पकड़ लेते हैं, इसीलिए वह धरती पर बैठना छोड़ गया है। इसी कारण मैं भी धरती के लिए वियोगी बना हुआ हूँ, अर्थात् धरती पर उतरने की इच्छा तो करता हूँ परन्तु विश्वासघाती मनुष्यों के भय के कारण नीचे नहीं उतरता और डाल-ही-डाल घूमता रहता हूँ और सदैव उड़ जाने के लिए अपने पंखों को सन्नद्ध किए रहता हूँ, अर्थात् संकट का आभास होते ही उड़ जाता हूँ। इस जीवन के क्षण प्रतिक्षण कम होते जा रहे हैं। इस जीवन का क्या भरोसा कि सन्ध्या समय तक तो है और दिन निकलने पर भी बना रहेगा या नहीं ?

इसीलिए जब तक मैं मुक्त अर्थात् स्वच्छन्द हूँ, तब तक तो (जान-बूझकर) पिंजड़े के भीतर नहीं पड़ूँगा। मैं यहाँ से लौटकर शीघ्र ही अपने देश चला जाऊँगा जहाँ पर रहकर ही मैं अपना निर्वाह कर सकता हूँ। वह पक्षी यहाँ संकेत द्वारा यह कह रहा है कि मनुष्य का निर्वाह उसकी अपनी जन्म-भूमि में ही होता है, विदेश में नहीं। इसलिए राजा रत्नसेन को यह विदेश का वास त्याग अपने देश को लौट जाना चाहिए।

(३९६)

कहि संदेस बिहंगम चला। आगि लागि सगरौं सिंघला॥
घरी एक राजा गोहरावा। भा अलोप, पुनि दिस्टि न आवा॥
पंखी नावँ न देखा पाँखा। राजा रोइ फिरा कै साँखा॥
जस हेरत वह पंखि हेराना। दिन एक हमहूँ करब पयाना॥
जौ लगि प्रान पिंड एक ठाऊँ। एक बार चितउर गढ़ जाऊँ॥
आवा भँवर मंदिर जहँ केवा। जीउ साथ लेइ गएउ परेवा॥
तन सिंघल, मन चितउर बसा। जिउ बिसँभर नागिनि जिमि डसा॥

जेति नारि हँसि पूछहिं, अमिय-बचन जिउ-तंत।
रस उतरा, विष चढ़ि रहा, ना ओहि तंत न मंत[1] ।।१४।।

व्याख्या—वह पक्षी राजा रत्नसेन से नागमती का सन्देश कहकर चल दिया। उसके विरह-सन्देश से मानो सारे सिंहलद्वीप में आग-सी लग गई, अर्थात् सारा सिंहल उस सन्देश के कारण व्याकुल हो उठा, क्योंकि अब रत्नसेन के वहाँ से चले जाने की आशंका होने लगी। राजा ने घड़ी भर तक चिल्ला-चिल्ला कर उस पक्षी को पुकारा परन्तु वह अलोप हो गया और फिर दिखाई नहीं पड़ा। राजा को उस पक्षी का नाम-निशान तक नहीं दिखाई पड़ा और न उसका पंख ही। राजा मन में अनेक प्रकार की चिन्तायें करता हुआ लौट पड़ा। उसने सोचा कि जिस प्रकार वह पक्षी देखते-देखते ही अलोप हो गया, उसी प्रकार एक दिन हमें भी यहाँ से प्रस्थान करना पड़ेगा, अर्थात् मरना पड़ेगा। इसलिए जब तक यह प्राण और शरीर एक स्थान पर हैं, अर्थात् जब तक मैं जीवित हूँ तब तक एक बार चित्तौड़ गढ़ अवश्य हो आऊँ। राजा यह सोचता हुआ राजमहल में पद्मावती के पास उसी प्रकार लौट आया, जिस प्रकार भ्रमर कमल के आकर्षण से खिचा हुआ उसके पास आ जाता है। वह पक्षी राजा के प्राणों को अपने साथ ही ले गया था। राजा का शरीर तो सिंहल में था परन्तु उसका मन चित्तौड़ गढ़ में बसा हुआ था, अर्थात् वह वहीं के विषय में सोच रहा था। सोचते-सोचते वह व्याकुल हो तड़पने लगा, मानो उसे सर्पिणी ने डस लिया हो।

राजमहल में जितनी नारियाँ थीं वे सब हँस-हँस कर अमृत के समान मीठी वाणी में उससे उसके मन की बात पूछने लगीं, अर्थात् यह पूछने लगीं कि तुम्हें क्या हो गया है। परन्तु इस समय राजा की दशा ऐसी थी कि उस पर छाया पद्मावती के प्रेम का नशा उतर चुका था और नागमती के विरह-सन्देश का विष चढ़ रहा था। यह विष ऐसा था जिसका तंत्र और मंत्र की सहायता से कोई उपचार नहीं किया जा सकता था, अर्थात् राजा अब किसी भी दशा में वहाँ नहीं रह सकता था।

(३९७)

बरिस एक तेहि सिंघल भएऊ। भोग बिलास करत दिन गयऊ[2] ।।
भा उदास जौ सुना सँदेसू। सँवरि चला मन चितउर देसू ।।
कँवल उदास जो देखा भँवरा। थिर न रहै अब मालति सँवरा ।।
जोगी, भँवरा, पवन परावा। कित सो रहै जो चित्त उठावा ? ।।
जो पै काढ़ि देइ जिउ कोई। जोगी भँवर न आपन होई ।।
तजा कँवल मालति हिय घाली। अब कित थिर आछै अलि, आली ।।

पाठ-भेद—१. चित न मित=न उसे कोई चिन्ता थी और न कोई उसका मित्र था।
२. भोग बेरास कीन्ह जस चाहे=मनमाना भोग-विलास किया।

गंध्रवसेन आव सुनि बारा । कस जिउ भएउ उदास तुम्हारा ?॥
मैं तुम्हही जिउ लावा, दीन्ह नैन महँ बास ।
जौ तुम होहु उदास तौ, यह काकर कबिलास ? ॥१५॥

व्याख्या—सिंहलद्वीप में रहते हुए राजा रत्नसेन को एक वर्ष का समय व्यतीत हो चुका था । उसके दिन भोग-विलास करने में ही निकल गए थे । उसने जब नागमती का वह संदेश सुना तो उदास हो उठा । और उसका मन वहाँ से उचट कर चित्तौड़ देश का स्मरण कर वहाँ चला गया, अर्थात् अब उसे अपने देश की याद सताने लगी । योगी, भ्रमर और पवन—ये तीनों सदैव पराए होते हैं, कभी अपने नहीं होते । ये तीनों सदैव विचरण करते रहते हैं, कभी एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहते । भ्रमर को मालती की याद सता रही थी, इसलिए अब वह स्थिर होकर नहीं रह सकता था । भाव यह है कि रत्नसेन को अब नागमती की याद सता रही थी, अतः अब वह सिंहलद्वीप में नहीं रह सकता था । योगी और भ्रमर को कोई भले ही अपने प्राण निकाल कर दे दे, परन्तु ये दोनों कभी अपने नहीं हो सकते । (रत्नसेन योगी था । यहाँ उसकी भ्रमणशील प्रवृत्ति पर आक्षेप है ।) भ्रमर ने अब कमल को त्याग मालती को अपने हृदय में लाकर स्थान दिया था । भाव यह है कि अब रत्नसेन को मालती रूपी नागमती की याद सता रही थी, इसलिए वह कमल-रूपी पद्मावती के पास कैसे रह सकता था । पद्मावती रत्नसेन की यह दशा देख अपनी सखियों से कहने लगी कि हे सखी ! रत्नसेन ने अब मुझे अपने हृदय से उतार नागमती को उस स्थान पर बैठा दिया है, इसलिए अब वह यहाँ स्थिर होकर कैसे रह सकता है, अर्थात् अवश्य चला जायेगा । जब राजा गंधर्वसेन ने रत्नसेन की ऐसी दशा की बात सुनी तो वह राजमहल के द्वार पर आकर उससे पूछने लगा कि तुम्हारा चित्त कैसे उदास हो गया ।

मैंने तो तुम्हीं में अपना मन लगा रखा था और तुम्हें अपने नेत्रों की पुतली बना कर यहाँ रखा था । यदि तुम ही उदास होगे तो फिर यह कैलास (सिंहल द्वीप) किसका होकर रहेगा ? अर्थात् मेरी सारी आशायें तो तुम्हीं में केन्द्रित थीं । तुम्हारे बिना इस स्वर्ग के समान देश का मेरे लिए कोई मूल्य नहीं रह जायेगा ।

३२

रत्नसेन-बिदाई-खंड

(३९८)

रतनसेन बिनवा कर जोरी। अस्तुति जोग जीभ नहिं मोरी ॥
सहस जीभ जो होहिं गोसाईं। कहि न जाइ अस्तुति जहँ ताईं ॥
काँच रहा तुम कंचन कीन्हा। तब भी रतन जोति तुम दीन्हा ॥
गंगा जो निरमल-नीर कुलीना। नार मिले जल होइ मलीना[1] ॥
पानि समुद मिला होइ सोती। पाप हरा, निरमल भा मोती ॥
तस हौं अहा मलीनी कला। मिला आइ तुम्ह, भा निरमला ॥
तुम्ह मन आवा सिंघलपुरी। तुम्ह तें चढ़ा राज औ कुरी ॥
सात समुद तुम्ह राजा, सरि न पाव कोइ खाट।
सबै आइ सिर नावहिं, जहँ तुम साजा पाट ॥१॥

व्याख्या—जब राजा गंधर्वसेन ने राजा रत्नसेन से उसकी उदासी का कारण पूछा तो रत्नसेन हाथ जोड़ उससे प्रार्थना करने लगा कि मेरी जिह्वा अर्थात् वाणी इस योग्य नहीं कि आपकी स्तुति कर सके। हे स्वामी ! यदि मेरे सहस्र जिह्वा हों, तो भी, जहाँ तक आपके गुणों का विस्तार है, उसका वर्णन नहीं कर सकेंगी। मैं तो काँच था, आपने ही मुझे स्वर्ण के समान मूल्यवान बनाया है। पहले मैं नाम का ही रत्न था, आपने ही मुझे सचमुच का रत्न बना कर मुझ में ज्योति अर्थात् गुण उत्पन्न किए। भाव यह है कि जिस प्रकार ज्योतिहीन रत्न काँच के समान निर्मूल्य पदार्थ रहता है और जब उसमें ज्योति उत्पन्न होती है तभी वह रत्न बनता है, उसी प्रकार आपने मुझ काँच जैसे साधारण व्यक्ति को कंचन अर्थात् पद्मावती के साथ मिला कर, मुझे गौरव प्रदान किया और रत्न के समान अमूल्य बना दिया। गंगा जो निर्मल जल वाली है और उत्तम कुल अर्थात् पर्वतराज हिमालय में उत्पन्न हुई है, जब उसमें नाला आकर मिल जाता है तो उसका जल गँदला हो जाता है। इसी प्रकार मैंने आपकी गंगा के समान पवित्र और उच्च कुलोद्भव पद्मावती के साथ संयोग कर आपके कुल को कलंकित कर दिया है। भाव यह है कि मैं आपसे सम्बन्ध करने योग्य नहीं था। परन्तु जैसे स्रोता या झरने का जल बह कर समुद्र में मिल निर्मल हो जाता

पाठ-भेद—१. होइ न मलीना=मैला नहीं होता।

है, उसकी मलिनता जाती रहती है और वह मोती के समान निर्मल और स्वच्छ हो उठता है, उसी प्रकार मैं, जो मलिन रूप था, आपसे सम्बन्ध जोड़ पापहीन और मोती के समान निर्मल तथा उज्ज्वल हो उठा। मैं इस सिंहलगढ़ में आकर आपके मन को भा गया अर्थात् अच्छा लगा। आपके ही कारण मैं राज-सिंहासन पर बैठा अर्थात् राजा बना और मेरा कुल कुलीन हो गया; अर्थात् आपकी कृपा से ही मुझे राज्य और कुलीनता की प्राप्ति हुई, (वर्ना मैं तो एक भीख माँगने वाला योगी मात्र था)।

आप सात समुद्रों पर शासन करने वाले राजा हैं। आपकी बराबरी करने में कोई भी आपके सम्मुख नहीं ठहर सकता। जहाँ आपका राज-सिंहासन शोभित होता है, वहाँ सब आकर अपना मस्तक झुकाते हैं।

टिप्पणी—(१) इस पद में राजा रत्नसेन की विनय—शब्द और अर्थ—दोनों की दृष्टि से पूर्ण उदात्त और राजोचित है।

(२) डा० अग्रवाल ने 'सोती' को शुक्ति अर्थात् सीपी माना है। इसके अनुसार पाँचवीं पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—जब वही मलिन जल समुद्र के जल में मिलकर सीपी के भीतर प्रवेश करता है तो उसका सारा पाप, अर्थात् मलिनता दूर हो जाती है और वह निर्मल मोती का रूप धारण कर लेता है।

(३९९)

अब बिनती एक करौं, गोसाईं। तौ लगि कया जीउ जब ताईं॥
आवा आजु हमार परेवा। पाती आनि दीन्ह मोहिं देवा!॥
राज-काज औ भुइँ उपराहीं। सत्रु भाइ सम कोई नाहीं॥
आपन आपन करहिं सो लीका। एकहि मारि एक चह टीका॥
भए अमावस नखतन्ह राजू। हम्ह कै चंद चलावहु आजू॥
राज हमार जहाँ चलि आवा। लिखि पठइनि अब होइ परावा॥
उहाँ नियर दिल्ली सुलतानू। होइ जो भोर उठै जिमि भानू॥
रहहु अमर महि गगन लगि, तुम महि ले हम्ह आउ[1]।
सीस हमार तहाँ निति, जहाँ तुम्हारा पाउ॥२॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन गंधर्वसेन के आगे कहने लगा कि हे स्वामी! अब मैं आपसे एक प्रार्थना करता हूँ। जब तक इस शरीर में प्राण रहते हैं, तभी तक इसे शरीर माना जाता है या इसका अस्तित्व रहता है; अर्थात् यदि किसी वस्तु का आधार टूट जाय तो फिर उस वस्तु का कोई भी मूल्य नहीं रह जाता। आज मेरा पक्षी आया था। हे देव! उसने लाकर मुझे एक पत्र दिया था। राज-कार्य और धरती के मामलों में अपने भाई से अधिक भयानक शत्रु अन्य कोई भी नहीं होता। वे सब अपनी-अपनी

पाठ-भेद—१. तुम्ह चिरँजिवहु जौं लहि महि गँगन औ जौं लहि हम आउ = जब तक धरती और आकाश रहें और जब तक मेरी आयु रहे, तुम चिरजीवित रहो।

मनमानी करते हैं अर्थात् अपना-अपना सिक्का जमाते हैं। एक भाई दूसरे भाई को मार राजगद्दी पर बैठना चाहता है। अमावस्या को चन्द्रमा के न रहने से आकाश में नक्षत्रों का राज्य हो जाता है। भाव यह है कि मेरे यहाँ चले आने से मेरे भाई-बन्धु मेरे राज्य पर उसी प्रकार अधिकार कर बैठे हैं जिस प्रकार अमावस्या को चन्द्रमा के न रहने से नक्षत्र सारे आकाश पर अधिकार कर लेते हैं। इसलिए आप मुझे चन्द्रमा बनाकर आज ही वहाँ भेज दीजिए; अर्थात् मैं चन्द्रमा के समान वहाँ पहुँच उन नक्षत्र रूपी भाई बन्धुओं के प्रताप रूपी प्रकाश को क्षीण कर दूँगा, उन्हें पराजित कर दूँगा। वहाँ से चिट्ठी में यह लिखकर आया है कि वहाँ जहाँ तक हमारा राज्य था, अब वह सारा दूसरों के हाथ में चला गया है। वहाँ पास ही दिल्ली का सुलतान रहता है। यदि प्रभात हो गया तो वह सूर्य के समान प्रबल बनकर चढ़ आएगा। अर्थात् यदि कहीं वह सूर्य रूपी सुल्तान उठ गया तो प्रभात हो जायेगा और फिर मुझ चन्द्रमा का वहाँ जाना असम्भव हो जायेगा। (सूर्योदय होने पर चन्दमा निष्प्रभ हो जाता है।)

आप इस पृथ्वी पर मेरी भी आयु लेकर अर्थात् दीर्घजीवी बनकर पृथ्वी से लेकर आकाश तक अमर बन कर राज्य करते रहें। जहाँ आपके चरण पड़ेंगे, वहाँ नित्य हमारा मस्तक रहेगा; अर्थात् मैं सदैव आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहूँगा।

टिप्पणी—'उहाँ····जिमि भानू'—पंक्ति का आशय यह है कि रत्नसेन चन्द्रमा के समान है। उसके चित्तौड़गढ़ में न रहने से वहाँ अमावस्या का अन्धकार (निराशा) छा रहा है। दिल्ली का सुल्तान सूर्य के समान है। वह यदि सुन लेगा कि रत्नसेन चित्तौड़ में नहीं है तो वह तुरन्त चित्तौड़ पर चढ़ाई कर देगा; उसी प्रकार जिस तरह चन्द्रोदय न होने पर प्रभात होते ही सूर्य आकाश में उदय हो चारों ओर अपना आतंक फैला देता है। जायसी ने आगे भी दिल्ली के बादशाह को सूर्य और चित्तौड़ के राजा को चन्द्र कहा है।

(४००)

राजसभा पुनि उठी सवारी। 'अनु' बिनती राखिय पति भारी ॥
भाइन्ह माहँ होइ जिनि फूटी। घर के भेद लंक अस टूटी ॥
बिरवा लाइ न सूखै दीजै। पावै पानि दिस्टि सो कीजै ॥
आनि रखा तुम दीपक लेसी। पै न रहै पाहुन परदेसी ॥
जाकर राज जहाँ चलि आवा। उहै देस पै ताकहं भावा ॥
हम तुम नैन घालि कै राखे। ऐसि भाख एहि जीभ न भाखे ॥
दिवस देहु सह कुसल सिखावहि। दीरघ आउ होइ, पुनि आवहि ॥
सबहि विचार परा अस, भा गवने कर साज।
सिद्धि गनेस मनावहिं, बिधि पुरवहु सब काज ॥३॥

शब्दार्थ—पति भारी=भारी लज्जा। फूटी=फूट, कलह। लेसी=प्रज्वलित करके। दिवस देहु=दिन नियत करो अर्थात् मुहूर्त्त निकलवाओ। बिचार परा अस=ऐसा विचार हुआ। गवने=गौने का या प्रस्थान का। पुरवहु=पूर्ण करो।

व्याख्या—रत्नसेन की प्रार्थना को सुन उसकी सारी राजसभा अर्थात् उसके सारे साथी उठ खड़े हुए और राजा गंधर्वसेन से प्रार्थना करने लगे कि हाँ, महाराज! यही बात है। आप हमारी इस भारी लज्जा की रक्षा कीजिए; अर्थात् हमें जाने की आज्ञा प्रदान कर हमें अपने सम्मान को बचाने का अवसर प्रदान कीजिए। भाइयों में आपस की फूट नहीं पड़नी चाहिए। घर के भाई के भेदी बन जाने से लंका जैसा गढ़ भी टूट गया था। पौधे को लगाकर उसे सूखने नहीं देना चाहिए। सदैव अपनी दृष्टि इतनी चौकन्नी रखनी चाहिए, जिससे सदैव उसे जल मिलता रहे। आपने हमें यहाँ लाकर पद्मावती जैसा दीपक प्रज्वलित करके सुखपूर्वक रखा था, परन्तु विदेशी अतिथि किसी भी आकर्षण में पड़ हमेशा अपने आतिथेय के यहाँ नहीं रह सकता। जिसका जिस स्थान पर राज्य होता है, उसे वही देश अच्छा लगता है। आपने हमें अपने नेत्रों की पुतली बनाकर रखा था, इसलिए हमें अपनी इस जिह्वा से ऐसी बात अर्थात् यहाँ से जाने की बात नहीं कहनी चाहिए। आप कोई शुभ मुहूर्त्त निश्चित कर दीजिए, जिससे हम कुशलतापूर्वक यहाँ से चले जायँ। यदि हमारी आयु दीर्घ रही; अर्थात् यदि हम जीवित रहे तो पुनः यहाँ आयेंगे।

सभी का ऐसा ही अर्थात् जाने का विचार था। इसलिए प्रस्थान करने की या पद्मावती के गौने की बिदा की तैयारियाँ होने लगीं। सब गणेश से सिद्धि की प्रार्थना करने लगे कि विधाता हमारे सम्पूर्ण कार्यों को पूरा करे।

(४०१)

बिनय करै पदमावति बारी। 'हौं पिउ! जैसी कुंद नेवारी[1]॥
मोहि असि कहाँ सो मालति बेली। कदम सेवती चंप चमेली॥
हौं सिंगारहार जस तागा। पुहुप-कली अस हिरदय लागा॥
हौं सो बसंत करौं निति पूजा। कुसुम गुलाल सुदरसन कूजा॥
बकुचन बिनवौं रोस न मोही[2]। सुनु, बकाउ तजि चाह न जूही॥
नागेसर जो है मन तोरे। पूजि न सकै बोल सरि मोरे॥
होइ सदबरग लीन्ह मैं सपना। आगे करु जो, कंत! तोहि करना"॥
केत बारि समुझावै, भँवर न काँटे बेध।
कहै मरौं पै चितउर, जज्ञ करौं असुमेध॥४॥

शब्दार्थ—बारी=बाला, सुन्दरी, वाटिका। कुन्द नेवारी=कुन्द और नेवारी

पाठ-भेद—१. हौं प्रिय कँवल सो कुन्द निवारी=हे प्रिय, मैं कमलिनी हूँ, [मुझे स्वीकार कर उस कुन्द (कृश) का निवारण करो।] २. अबसि बिमोही।

पुष्प के समान । कदम सेवती=चरण-सेवा करती हैं, कदम्ब और सफेद गुलाब । हौं सिगारहार····तागा=हार के बीच पड़े हुए डोरे के समान तुम हो । पुहुप कली···· जागा=पुष्प को कली के हृदय के भीतर इस प्रकार समाये हुए हो । बकुचन= श्रद्धांजलि, जुड़े हुए हाथ, गुच्छा । नागेसर=नागमती, नागकेसर का पुष्प । सरना= शरण । करना=जो करना हो । केत बारि=केतकी-रूप वाला, कितना ही वह स्त्री ।

व्याख्या—पद्मावती को राजा रत्नसेन के प्रस्थान करने की तैयारियों का पता लगते ही वह रत्नसेन से प्रार्थना करने लगती है कि मुझे छोड़कर नागमती के पास मत जाओ । वह अनेक पुष्पों का नाम ले-ले कर श्लेष द्वारा रत्नसेन से अपनी और नागमती की तुलना करती है । जायसी इसी का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

सुन्दरी पद्मावती रत्नसेन से विनय करने लगी कि हे प्रियतम ! मैं कुन्द और नेवारी पुष्पों के समान सुन्दर, सुगन्धित और कोमल हूँ । वह मालती लता अर्थात् नागमती मेरे समान कहाँ हो सकती है ? मेरे यहाँ चम्पा और चमेली के पुष्पों जैसी दासियाँ नित्य तुम्हारे चरणों की सेवा में रत रहती हैं । या मालती, कदम्ब, सेवती (शतपत्रिका), चम्पा और चमेली के पुष्प मेरी समानता कहाँ कर सकते हैं । तुम उस धागे के समान बन जाओ जिसमें मुझ रूपी हर्रासगार के फूल गूँथ कर हार बनाया जाता है; अर्थात् जिस प्रकार धागे में हर्रासगार के फूल गूँथ कर हार बनाया जाता है उसी प्रकार तुम मेरे हृदय को वेध कर उसमें समाए हुए हो । अथवा, तुमने हार और श्रृंगार से सुशोभित मुझ जैसी सुन्दरी को त्याग (तागा) दिया है । जिस प्रकार धागा पुष्प की कलियों के हृदय को बेध कर उनमें प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार तुम मेरे हृदय को बेध कर उसमें समाए हुए हो । अथवा, यदि तुम मुझे त्याग कर न जाओ तो मैं पुष्प-कलिका के समान सदैव तुम्हारे हृदय से चिपकी रहूँगी ।

मैं नित्य वसन्त की पूजा करती हूँ और गुलाला, सुदर्शन और कूजा के फूल चढ़ाती हूँ । मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि मुझ पर क्रोध मत करो या मुझे तुम्हारे ऊपर क्रोध नहीं है । मेरी बात सुनो । बकावली को त्याग जूही के पुष्प की चाहना मत करो । तुम्हारे हृदय में जो नागकेसर (नागमती) समाई हुई है, वह मेरी बराबरी नहीं कर सकती, क्योंकि मेरी तुलना में वह बोल झाड़ी (एक कँटीली रेगिस्तानी झाड़ी) के समान काँटों से भरी, कुरूप और नीरस है । अथवा, नागेश्वरी—नाग की स्त्री, सर्पिणी—के समान वह नागमती मेरी समानता नहीं कर सकती । मैंने सदवर्ग (हजारा गेंदा) के समान पूर्ण रूप से विकसित हो तुम्हारा आश्रय लिया था । हे स्वामी ! अब आगे जो तुम्हें करना हो वह करो ।

केतकी रूपी वह बाला (पद्मावती) रत्नसेन रूपी भौंरे को बार-बार समझाती अर्थात् अपने प्रति आकर्षित करती है, परन्तु वह भौंरा उसके काँटों में जाकर नहीं बिंधता । अथवा, केतकी रूपी वह बाला भौंरे को कितना ही समझाती है कि हे भ्रमर ! तू काँटों में न बिंध । परन्तु रत्नसेन रूपी भ्रमर यही कहता है कि मैं तो चित्तौड़ में

जाकर ही मरूँगा और वहीं अश्वमेध यज्ञ करूँगा, अथवा रत्नसेन कहता है कि जो मेरे चित्त और उर (हृदय) में समाई है अर्थात् नागमती, मैं तो उसी के पास जाकर मरूँगा।

टिप्पणी—अलंकार—इसमें अनेक फूलों के नाम आए हैं, इसलिए मुद्रालंकार माना जायेगा।

(४०२)

गवन-चार पदमावति सुना। उठा धसकि जिउ औ सिर धुना॥
गहबर नैन आए भरि आँसू। छाँड़ब यह सिंघल कबिलासू॥
छाँड़िउँ नैहर, चलिउँ बिछोई। एहि रे दिवस कहँ हौं तब रोई॥
छाँड़िउँ आपन सखी सहेली। दूरि गवन, तजि चलिउँ अकेली॥
जहाँ न रहन भएउ बिनु चालू। होतहि कस न तहाँ भा कालू॥
नैहर आइ काह सुख देखा? । जनू होइगा सपने कर लेखा॥
राखत बारि सो पिता निछोहा। कित बियाहि अस दीन्ह बिछोहा? ॥
हिये आइ दुख बाजा, जिउ जानहु गा छेंकि।
मन तेवान कै रोवै, हर मंदिर कर टेकि॥५॥

व्याख्या—जब पद्मावती ने गौने की बिदा की तैयारियाँ होने का समाचार सुना तो उसका हृदय दहल उठा और वह सिर धुन-धुन कर रोने लगी। व्याकुलता के कारण उसके नेत्रों में आँसू भर आए। वह सोचने लगी कि अब स्वर्ग के समान यह सिंहल छोड़ना पड़ेगा। मैं पीहर (मायका) को छोड़कर, सबसे बिछुड़ कर चली जाऊँगी। मैं उस दिन (शिव-मंडप में पूजा करते समय) इसी दिन का स्मरण कर रोई थी। भाव यह है कि जब पद्मावती महादेव के मंडप में पूजा करने गई थी और उसकी सारी सखियाँ आनन्द-क्रीड़ा में मग्न हो रही थीं, उस समय पद्मावती इसी दिवस का अर्थात् पति-गृह जाने के दिवस का स्मरण कर रोई थी कि एक दिन मुझे यह सब कुछ छोड़कर यहाँ से पति के साथ चला जाना पड़ेगा। मुझे अपनी सारी सखी-सहेलियाँ छोड़नी पड़ेंगी और दूर चला जाना पड़ेगा। मैं इन सब को छोड़कर अकेली ही चली जाऊँगी। जहाँ बिना चले हुए रहना ही नहीं हो सकता अर्थात् पीहर में जन्म लेकर जब एक दिन यहाँ से चला ही जाना पड़ता है तो जन्म होते ही मुझे मौत क्यों नहीं आई थी, जिससे मुझे यह परिजनों से बिछोह की वेदना न सहनी पड़ती। नैहर (पीहर) में आकर मैंने कौन-सा सुख देखा। यहाँ का रहना स्वप्न के समान सारहीन हो गया। वह पिता बड़ा निष्ठुर होता है जो बाल्यावस्था में अपनी पुत्री को अपने पास रख उसका पालन-पोषण करता है। उसने मुझे न जाने क्यों और कहाँ विवाह कर ऐसी बिछोह की वेदना दी। भाव यह है कि पिता यदि मेरा विवाह न करता तो मुझे बिछोह की यह वेदना न सहनी पड़ती।

पद्मावती के हृदय में दुख ने प्रवेश कर मानो उसके प्राणों को चारों ओर से

घेर लिया; अर्थात् पद्मावती के प्राण इस दुख के कारण व्याकुल हो उठे। वह प्रत्येक घर पर हाथ टेक-टेक कर मन में चिन्ता करती हुई रोने लगी।

(४०३)

पुनि पदमावति सखी बोलाई। सुनि कै गवन मिलै सब आईं ॥
मिलहु, सखी ! हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं ॥
सात समुद्र पार वह देसा। कित रे मिलन कित आव सँदेसा ॥
अगम पंथ परदेस सिधारी। न जनौं कुसल कि बिथा हमारी ॥
पितैं न छोह कीन्ह हिय माहाँ। तहँ को हमहिं राख गहि बाहाँ ? ॥
हम तुम मिलि एकै संग खेला। अंत बिछोह आनि गिउ मेला ॥
तुम अस हित संघती पियारी। जियत जोउ नहिं करौं निनारी ॥
कंत चलाई का करौं, आयसु जाइ न मेटि।
पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं, लेहु सहेली भेंटि ॥६॥

व्याख्या—इसके उपरान्त पद्मावती ने अपनी सखियों को बुलाया। यह सुन कर कि पद्मावती का गौना हो रहा है, सारी सखियाँ उससे मिलने के लिए आईं। पद्मावती उनसे कहने लगी कि हे सखियो ! मुझसे मिल-भेंट लो, क्योंकि मैं वहाँ जा रही हूँ जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता। वह देश सात समुद्र पार है। वहाँ पहुँच जाने पर फिर कैसा मिलन और कैसा सन्देश भेजना ! मैं उस परदेश में जा रही हूँ जहाँ का मार्ग अगम्य है। मालूम नहीं, वहाँ पहुँच कर मुझे सुख मिलेगा या दुख। पिता ने अपने हृदय में तनिक सी भी दया नहीं दिखाई; अर्थात् निष्ठुर होकर मुझे विदा कर रहे हैं। जब पिता ही ऐसे निष्ठुर बन गए तो वहाँ संकट पड़ने पर कौन मेरी बाँह पकड़ मुझे सान्त्वना देगा; अर्थात् जब जन्म देने वाले पिता ही ऐसे कठोर हो गए तो फिर वहाँ परदेश में कौन मेरी धीर धरेगा ? हम-तुम सभी मिलकर साथ-साथ खेला करती थीं। परन्तु अन्त में वियोग का यह दुख इस प्रकार मेरे गले पड़ गया; अर्थात् अब मुझे तुम सबसे बिछुड़ना पड़ रहा है। तुम्हारे समान शुभचिन्तक और प्यारी सखियों को मैं प्राण रहते अपने से अलग नहीं करूँगी; अर्थात् तुम्हें कभी नहीं भूल सकूँगी।

परन्तु क्या करूँ ! स्वामी की कही हुई आज्ञा को टाला नहीं जा सकता, अर्थात् स्वामी ने चलने की आज्ञा दी है। इसलिए हे सखियो ! आज मुझ से मिल-भेंट लो। फिर न जाने हम लोग एक-दूसरे से कभी मिल-भेंट सकेंगी या नहीं, इसे कौन जाने।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने पति-गृह को प्रस्थान करने के लिए उद्यत नारी के हृदय की बड़ी मार्मिक और करुण व्यंजना की है। ऐसे मनोवैज्ञानिक चित्रण बड़े हृदय-द्रावक होते हैं। गमनोद्यत वधू फिर अपने परिजनों आदि से कभी मिल सकेगी या नहीं, यह विचार उसके हृदय को विदीर्ण किए डाल रहा है।

इस मिलन-विच्छेद में रहस्यवाद का भी हलका-सा पुट आ गया है। आत्मा अज्ञात लोक के लिए प्रयाण कर रही है। वह उस अज्ञात की कल्पना कर शंकित हो उठी है।

(४०४)

धनि रोवत रोवहिं सब सखी। हम तुम्ह देखि आपु कहँ झँखी ॥
तुम्ह ऐसी जो रहै न पाई। पुनि हम काह जो आहिं पराई ॥
आदि अंत जो पिता हमारा। ओहु न यह दिन हिये बिचारा ॥
छोह न कीन्ह निछोही ओहू। का हम्ह दोष लाग एक गोहूँ[1] ॥
मकु गोहूँ कर हिया चिराना। पै सो पिता न हिये छोहाना ॥
औ हम देखा सखी सरेखा। एहि नैहर पाहुन के लेखा ॥
तब तेइ नैहर नाहीं चाहा। जौ ससुरारि होई अति लाहा ॥
चालन कहँ हम अवतरीं, चलन सिखा नहिं आय।
अब सो चलन चलावै, को राखै गहि पाय ? ॥७॥

शब्दार्थ—आहिं पराई=पराधीन हैं। गोहूँ=गेहूँ (मुसलमानों के अनुसार जिस पौधे के फल को खुदा के मना करने पर भी हौवा ने आदम को खिला दिया था, वह गेहूँ था। इसी निषिद्ध फल के कारण खुदा ने हौवा को शाप दिया और उसे तथा आदम—दोनों को बहिश्त से निकाल दिया)। छोहाना=दया की।

व्याख्या—वह सुन्दरी पद्मावती रो रही थी और उसके साथ उसकी सारी सखियाँ भी रो रही थीं। सखियाँ यह कहते हुए रोने लगीं कि हम तुम्हारी दशा को देख स्वयं अपने लिए झींकने लगी हैं। तुम जैसी भी, जो राजकन्या और अनिंद्य सुन्दरी है, अपने पीहर में न रह सकी तो हमारी क्या चलाई, जो पराये वश में हैं अर्थात् पराधीन हैं। हमारे उस पिता (परमात्मा) ने भी जो हमारा आदि और अन्त अर्थात् सर्वस्व है, इस दिन का अपने हृदय में विचार नहीं किया था कि हमें एक दिन ऐसी भयंकर वेदना को सहना पड़ेगा। वह भी निष्ठुर है, उसे भी हम पर दया नहीं आई कि एक गेहूँ के दाने को खाने का दोष लगाकर हमें बहिश्त (स्वर्ग) से निकाल बाहर किया, अर्थात् उस परमपिता परमेश्वर ने भी हम नारियों को एक जरा से दोष के कारण अपने घर (स्वर्ग) से निकाल दिया था। हमारी उस दीन दशा को देख कर ही शायद गेहूँ का हृदय वेदना के कारण फट गया था, परन्तु यह देखकर भी उस परम-पिता के हृदय में हमारे लिए दया नहीं उत्पन्न हुई थी। और हमने अपनी तुम जैसी चतुर सखी को भी इस नैहर में पाहुना बनते हुए देख लिया, अर्थात् तुम जैसी चतुर सखी भी अपने नैहर को छोड़कर पतिगृह जाने को बाध्य हो गईं, जैसे अतिथि कुछ

पाठ-भेद—१. गा हम बेंचि लागि एक गोहूँ=उसने हमें गेहूँ के एक दाने के लिए बेच दिया।

दिन अतिथि-सत्कार का आनन्द भोग कर चल देता है। ऐसी नारी तभी अपने नैहर को नहीं चाहती, जब उसे ससुराल में अधिक लाभ होने की आशा होती है, अर्थात् जब ससुराल में उसे अधिक सुख प्राप्त करने की आशा होती है।

हम लोग अर्थात् नारियाँ तो चलने के लिए ही इस संसार में जन्म लेती हैं। परन्तु हमने इस संसार में जन्म लेकर भी यहाँ के चलन (लोक-व्यवहार) को नहीं सीखा अर्थात् कभी यह नहीं सोचा कि लोक की रीति ही यही है कि कन्या को एक-न-एक दिन अपने नैहर को त्याग ससुराल जाना पड़ेगा। अब वही लोक-व्यवहार पूरा किया जा रहा है अर्थात् तुम्हें ससुराल भेजा जा रहा है। अब कौन उस पिता के पैर पकड़ कर अर्थात् उससे प्रार्थना कर तुम्हें यहाँ रख सकेगा।

टिप्पणी—इस पद में उस आध्यात्मिक रूपक की भी ध्वनि मिलती है जिसके अनुसार कबीर ने नैहर को संसार और ससुराल को भगवत-स्थान, स्वर्ग या परलोक माना है। आत्माएँ अर्थात् ज्ञानी आत्माएँ परलोक में अधिक लाभ पाने की आशा से अर्थात् परमात्मा से मिलन होने की आशा से इस नैहर रूपी संसार को त्याग देती हैं।

(४०५)

तुम बारी, पिउ दुहुँ जग राजा[१]। गरब किरोध ओहि पै छाजा ॥
सब फर फूल ओहि के साखा। चहै सो तूरं, चाहै राखा ॥
आयसु लिहे रहिहू निति हाथा। सेवा करिहु लाइ भुइँ माथा ॥
बर पीपर सिर ऊभ जो कीन्हा। पाकरि तिन्हहि छीन भर दीन्हा ॥
बौंरि जो पौढ़ि सीस भुइँ लावा। बड़ फल सुफल ओहि जग पावा ॥
आम जो फरि कै नवै तराहीं। फल अमृत भा सब उपराहीं ॥
सोइ पियारी पियहि पिरीती। रहै जो आयसु सेवा जीती ॥
पत्रा काढ़ि गवन दिन देखहि, कौन दिवस दहुँ चाल।
दिसासूल चक जोगिनी, सौंह न चलिए, काल ॥८॥

व्याख्या—सखियों की दुख-भरी बातें सुन पद्मावती उन्हें समझाती हुई कहने लगी—

हे सखियो ! तुम अभी बालिका अर्थात् छोटी हो। पति, पत्नी के दोनों लोकों अर्थात् दीन और दुनिया का स्वामी होता है। गर्व और क्रोध करना उसे ही शोभा देता है; अर्थात् तुम्हारा अपने पिता पर क्रोध करना तुम्हें शोभा नहीं देता। (नारी की असहायता का रूप द्रष्टव्य है।) सारे फूल-फल उसी शाखा पर लगते हैं; अर्थात् सारे सुखों का दाता वही होता है। भाव यह है कि पत्नी तो उस पतिरूपी वृक्ष की शाखाओं पर लगने वाले फल-फूलों के समान है। वह जिसे चाहे तोड़ डाले और चाहे

पाठ-भेद—१. चहुँ चक राजा=चारों चक्रों का चक्रवर्ती राजा।

उसकी रक्षा करे; अर्थात् पत्नी का सुख-दुख पूर्ण रूप से पति की इच्छा पर ही निर्भर रहता है। जिससे हमें तो रात-दिन उसकी आज्ञा का पालन करते रहना चाहिए और पृथ्वी पर माथा टेक उसकी सेवा में लगा रहना चाहिए। बरगद और पीपल के वृक्षों ने अपना सिर ऊपर उठाया था; अर्थात् बहुत लम्बे हो गए थे तो विधाता ने उन्हें पकड़ कर छोटा-सा फल दे दिया। भाव यह है कि मनुष्य को गर्व नहीं करना चाहिए। बरगद और पीपल ने गर्व से सिर ऊपर उठाया था तो विधाता ने उन्हें नन्हे-नन्हे फल प्रदान कर उनके महत्त्व को क्षीण कर दिया (इन वृक्षों के फल बहुत छोटे-छोटे होते हैं)। इसीलिए पत्नी को भी पति के सम्मुख गर्व नहीं करना चाहिए।

लता धरती पर माथा टेक कर धरती पर ही लेटी रहती है, अर्थात् गर्व नहीं करती तो विधाता ने इस संसार में उसकी इस विनम्रता का फल उसे बड़े-बड़े फल प्रदान कर दिया। (तरबूज, खरबूजा, लौकी, कद्दू आदि की बेलें जमीन पर पड़ी रहती हैं और उनमें बड़े-बड़े फल लगते हैं।) आम जब फलता है तो फलों के भार से नीचे की ओर झुक जाता है; अर्थात् फलवान होने पर भी उसे अपने पर गर्व नहीं होता। उसकी इसी विनम्रता के कारण उसका फल सारे फलों से श्रेष्ठ और अमृत के समान मीठा होता है। (आम को फलों का राजा माना जाता है।) इसी प्रकार वही स्त्री अपने पति की प्यारी होती है, जो अपनी सेवा द्वारा पति को सदैव अपने वश में किए रहती है या सेवा करने में सबसे जीती हुई अर्थात् बढ़ कर रहती है।

ज्योतिषी पचाङ्ग निकाल कर प्रस्थान का दिन देखने लगे कि किस दिन प्रस्थान करना शुभ रहेगा। उन्होंने शकुन विचार कर कहा कि जिस दिन दिशाशूल, योगिनी चक्र और काल सम्मुख हो उस दिन प्रस्थान नहीं करना चाहिए।

टिप्पणी—डा० अग्रवाल ने ज्योतिष के आधार पर दोहे की अंतिम पंक्ति में आए दिशाशूल, योगिनी-चक्र और काल शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है—

'ज्योतिष में दिशाशूल, चन्द्रवासचक्र, जोगिनी, काल और राहु (यदि जोगिनी के साथ हो) इनका यात्रा के सम्बन्ध में क्रमशः विचार किया जाता है और प्रचलित पचाङ्गों में इनका निदर्शन रहता है। काल के विषय में कहा है—सम्मुखे नेष्ठम्, अर्थात् जिस दिशा में जिस दिन काल रहे, उस दिन उस ओर यात्रा वर्जित है। काल-ज्ञान इस प्रकार है—

रविवार को उत्तर, सोम को वायव्य, मंगल को पश्चिम, बुध को नैर्ऋत्य, बृहस्पति को दक्षिण, शुक्र को आग्नेय, शनि को पूर्व में काल रहता है। उस दिन उस दिशा में जाना इष्ट नहीं। काल-ज्ञान में ईशाण कोण रिक्त माना जाता है।

(४०६)

अदित सूक पच्छिउँ दिसि राहू। बीफै दखिन लंक-दिसि दाहू॥
सोम सनीचर पुरुब न चालू। मंगल बुद्ध उतर दिस कालू॥
अवसि चला चाहै जौ कोई। ओषद कहौं, रोग नहिं होई॥

मंगल चलत मेल मुख धनिया। चलत सोम देखै दरपनिया॥
सूकहि चलत मेल मुख राई। बीफै चलै दखिन गुड़ खाई॥
अदित तँबोल मुख मेलि मंडै। बायबिरंग सनीचर खंडै॥
बुद्धहि दही चलहु करि भोजन। ओषद इहै, और नहिं खोजन॥
अब सुनु चक्र जोगिनी, ते पुनि थिर न रहाहिं।
तीसौं दिवस चंद्रमा, आठौ दिसा फिराहिं॥९॥

शब्दार्थ—अदित=आदित्य, अर्थात् रविवार। सूक=शुक्रवार। राहु=दिशाशूल (ज्योतिष-शास्त्र में राहु तमोग्रह, अशुभ या अन्धकार के लिए प्रयुक्त होता है)। बीफै=बृहस्पतिवार। दाहू=अग्निदाह, कष्ट। सोम=सोमवार। मेल=डाल लो। मंडै=रचाए। बायबिरंग=बाय बिडंग, काली मिर्च के रंग का एक दाना जो दस्तावर होता है। खंडै=चबाए। खोजन=खोज करने की आवश्यकता। फिराहिं =घूमती है।

व्याख्या—पिछले पद में जायसी ने दिशाशूल, योगिनी-चक्र और काल-विचार का उल्लेख किया था। इस पद में वह दिशाशूल का विवरण देते हुए कहते हैं—

रविवार और शुक्रकार को पश्चिम दिशा में राहु अर्थात् दिशाशूल रहता है। बृहस्पतिवार को दक्षिण दिशा में लंका की ओर अग्निदाह रहता है अर्थात् कष्ट की सम्भावना है। सोमवार और शनिवार को पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान नहीं करना चाहिए। मंगलवार और बुधवार को उत्तर दिशा में यात्रा करने से मृत्यु की सम्भावना रहती है। परन्तु फिर भी यदि कोई अवश्य जाना ही चाहे तो मैं उसका निदान (उपाय) बताता हूँ जिसके करने पर कोई रोग अर्थात् संकट नहीं होगा। मंगल को चलते समय मुख में धनिया डाल लेना चाहिए और सोमवार को प्रस्थान करते समय दर्पण में अपना मुख देख कर चले। शुक्रवार को चलने से पहले मुख में राई डाल ले और बृहस्पति को दक्षिण दिशा में यात्रा करने से पूर्व गुड़ खाले, तब चले। रविवार को पान खाकर मुँह रचा ले और शनिवार को मुँह में बायबिडंग डाल कर चबाएँ। बुधवार को दही के साथ भोजन करके चले। इन सम्पूर्ण दिशाशूलों के अनिष्टकारी प्रभावों को दूर करने की यही एकमात्र औषधियाँ हैं, और कुछ खोजने की आवश्यकता नहीं है।

अब योगिनी-चक्र के विषय में सुनो। ये स्थिर नहीं रहतीं। महीने के तीसों दिन योगिनी और चन्द्रमा आठों दिशाओं में घूमते रहते हैं।

टिप्पणी—(१) जायसी ने इस पद में दिशाशूलों और उनके दोष के परिहार के उपाय बताये हैं। परन्तु ज्योतिष-ग्रन्थ 'शीघ्रबोध' के अनुसार—रविवार को घी, सोमवार को दूध, मंगल को गुड़, बुध को तेल, बृहस्पति को दही, शुक्र को जौ और शनिवार को उड़द खाकर यात्रा करने से दिशाशूल का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

(२) प्राचीन ज्योतिष में योगिनी-चक्र या योगिनी-विचार का उल्लेख नहीं मिलता। इसका आरम्भ मध्यकालीन तंत्र-मंत्र और योग-साधना-परायण सम्प्रदायों से माना जाता है।

(४०७)

बारह ओनइस चारि सताइस। जोगिनि पच्छिउँ दिसा गनाइस ॥
नौ सोरह चौबिस औ एका। दक्खिन पुरुब कोन[1] तेह टेका ॥
तीन इगारह छबिस अठारहु। जोगिन दक्खिन दिसा बिचारहु ॥
दुइ पचीस सत्रह औ दसा। दक्खिन पछिउँ कोन बिच बसा ॥
तेइस तीस आठ पंद्रहा। जोगिनि उतर होहि पुरुब सामुहा ॥
चौदह बाइस ओनतिस साता। जोगिन उत्तर दिस कहँ जाता ॥
बीस अठाइस तेरह पाँचा। उत्तर पछिउँ कोन तेइ बाँचा ॥
एकइस औ छ जोगिन, उतर पुरुब के कोन।
यह गनि चक्र जोगिन, बाँचु जौ चह सिध होन ॥१०॥

व्याख्या—इस पद में जायसी योगिनी-चक्र अर्थात् योगिनी-विचार का वर्णन करते हुए कहते हैं—

महीने की तिथियों में से १२, १६, ४ और २७, इन तिथियों में योगिनी दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य) कोण में रहती है, अतः पश्चिम दिशा की ओर यात्रा करना वर्जित है। ६, १६, २४ और १, इन तिथियों में योगिनी पूर्व-दक्षिण के कोने में रहती है, अतः इस दिशा में नहीं जाना चाहिए। ३, ११, २६ और १८, इन तिथियों में योगिनी दक्षिण-पूर्व (आग्नेय) काण में रहती है, अतः दक्षिण दिशा में योगिनी का विचार (यात्रा वर्जित) है। २, २५, १७, और १०, इन तिथियों में योगिनी उत्तर में रहती है, अतः दक्षिण पश्चिम के कोने में यात्री मार्ग में बस सकता है, अर्थात् यात्रा की जा सकती है, क्योंकि योगिनी यात्री के दाहिने हाथ होने से शुभ है। २३, ३०, ८ और १५, इन तिथियों में योगिनी उत्तर-पूर्व (ईशान) कोण में रहती है, अतः यदि पूर्व दिशा की ओर यात्रा की जाय तो योगिनी-दोष लगेगा; अर्थात् अनिष्ट की सम्भावना रहेगी। १४, २२, २६ और ७, इन तिथियों में योगिनी उत्तर-पश्चिम (वायव्य) कोण मे रहेगी, अतः उत्तर दिशा की यात्रा में योगिनी दोष लगेगा। २०, २८, १३ और ५, इन तिथियों में योगिनी दक्षिण दिशा में रहेगी, अतः उत्तर-पश्चिम के कोने की यात्रा से बचना चाहिए।

२१ तथा ६, इन तिथियों में योगिनी पश्चिम दिशा में रहती है, अतः उत्तर-पूर्व (ईशान) कोण से यात्रा करने से बचना चाहिए। यदि यात्रा में सिद्धि की अभिलाषा हो तो इस प्रकार गणना कर योगिनी-चक्र को बचाना चाहिए, अर्थात् इन तिथियों में यात्रा नहीं करना चाहिए।

पाठ-भेद— १. गौनै कै=यात्रा करने पर।

टिप्पणी—ज्योतिष के अनुसार योगिनी सामने और बाएँ अशुभ, पीठ पीछे और दाहिने शुभ मानी गई है। डा० अग्रवाल ने योगिनी-चक्र का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

तिथि	दिशा	योगिनी का नाम
प्रतिपदा	पूर्व	ब्राह्मी
द्वितीया	उत्तर	माहेश्वरी
तृतीया	अग्निकोण (पूर्व-दक्षिण)	कौमारी
चतुर्थी	नैॠत्य कोण (दक्षिण-पश्चिम)	वैष्णवी
पंचमी	दक्षिण	वाराही
षष्ठी	पश्चिम	इन्द्राणी
सप्तमी	वायव्य कोण (उत्तर-पश्चिम)	चामुण्डा
अष्टमी	ईशान कोण (उत्तर-पूर्व)	महालक्ष्मी

नवमी से पुनः वही चक्र घूमता है अर्थात् नवमी को योगिनी पूर्व में, दशमी को उत्तर में—इत्यादि ये आठों योगिनियाँ एक ही मूल शक्ति के आठ रूप हैं।

(४०८)

परिवा, नवमी पुरुब न भाए। दूइज दसमी उतर अदाए॥
तीज एकादसि अगनिउ मारै। चौथि, दुवादसि नैऋत वारै॥
पाँचइँ तेरसि दखिन रमेसरी। छठि चौदसि पच्छिउँ परमेसरी॥
सतमी पूनिउँ बायब आछी। अठइँ अमावस ईसन लाछी॥
तिथि नछत्र पुनि बार कहीजै। सुदिन साथ प्रस्थान धरीजै॥
सगुन दुघरिया लगन साधना। भद्रा औ दिकसूल बाँचना॥
चक्र जोगिनी गनै जो जानै। पर बर जीति लच्छि घर आनै॥
सुख समाधि आनंद घर, कीन्ह पयाना पीउ।
थरथराइ तन काँपै, धरकि धरकि उठि जीउ॥११॥

शब्दार्थ—अदाए=वाम, बुरा। बायब=वायव्य कोण (उत्तर-पश्चिम)। अगनिउ=आग्नेय कोण (पूर्व-दक्षिण)। ईसन=ईशान कोण (उत्तर-पूर्व)। लाछी=महालक्ष्मी नामक योगिनी। धरीजै=धर देना चाहिए। सगुन दुघरिया=दुघड़िया मुहूर्त्त जो होरा के अनुसार निकाला जाता है और जिसमें दिन का विचार नहीं किया जाता, रात-दिन को दो-दो घड़ियों में विभक्त करके राशि के अनुसार शुभाशुभ का विचार किया जाता है—(शुक्लजी)। दिक्सूल=दिशाशूल। पर बर=अत्यन्त पराक्रमी शत्रु।

व्याख्या—प्रतिपदा और नवमी को पूर्व दिशा की ओर जाना अच्छा नहीं है। द्वितीया और दशमी को उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करना अशुभ है। तृतीया और एकादशी को आग्नेय कोण (पूर्व-दक्षिण) की ओर जाने से प्राणों का भय रहता है।

चतुर्थी और द्वादशी को नैॠत्य कोण (दक्षिण-पश्चिम) की ओर जाने से बचना चाहिए। पंचमी और त्रयोदशी को दक्षिण दिशा में रमेसरी योगिनी का वास रहता है। षष्ठी और चतुर्दशी को पश्चिम दिशा में परमेश्वरी का निवास माना जाता है। सप्तमी और पूर्णिमा को वायव्य कोण (उत्तर-पश्चिम) को जाना उत्तम होता है। अष्टमी और अमावस्या को ईशान कोण (उत्तर-पूर्व) में महालक्ष्मी नामक योगिनी का वास रहता है। इस प्रकार तिथि, नक्षत्र एवं शुभ दिवस को शोध कर 'प्रस्थान' कर देना चाहिए। दुघड़िया मुहूर्त्त को भली प्रकार विचार कर शुभ लग्न निकाल लेनी चाहिए। भद्रा, नक्षत्र और दिशाशूल में कभी यात्रा नहीं करनी चाहिए या उनका भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए। जो योगिनी-चक्र की भली-भाँति गणना करना जानता है वह अपने अत्यन्त पराक्रमी शत्रु को भी पराजित कर लक्ष्मी को अपने घर ले आता है।

आनन्द के धाम प्रियतम रत्नसेन ने सुख में तन्मय हो आज प्रस्थान किया है। पद्मावती कह रही है कि यह जान कर मेरा शरीर काँप रहा है और हृदय रह-रह कर धड़क उड़ता है।

(४०९)

मेष, सिंह, धन पुरुब बसै। बिरिख, मकर, कन्या जम-दिसै॥
मिथुन तुला और कुंभ पछाहाँ। करक, मीन, बिरछिक उतराहाँ॥
गवन करै कहँ उगरै कोई। सनमुख सोम लाभ बहु होई॥
दहिन चन्द्रमा मुख सरबदा। बाएँ चंद त दुख आपदा॥
अदित होइ उत्तर कहँ कालू। सोम काल बायब नहिं चालू॥
भौम काल पच्छिउँ बुध निॠता। गुरु दक्खिन और सुक अगनइता॥
पूरब काल सनीचर बसै। पीठि काल देइ चलै न हँसै॥
धन नक्षत्र औ चंद्रमा, औ तारा बल सोइ।
समय एक दिन गवनै, लक्ष्मी केतिक होइ॥१२॥

व्याख्या—इस पद में जायसी राशि के चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार यात्रा के शुभाशुभ फल पर विचार करते हुए कहते हैं—

मेष, सिंह और धन राशियों का चन्द्रमा पूर्व दिशा में रहता है। वृष, मकर और कन्या राशि का चन्द्रमा यमराज की दिशा (दक्षिण) में रहता है। मिथुन, तुला और कुम्भ राशि का चन्द्रमा पश्चिम दिशा में स्थित रहता है और कर्क मीन तथा वृश्चिक राशि का चन्द्रमा उत्तर दिशा में। यात्रा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने घर से तभी बाहर निकले—जब उस दिशा का चन्द्रमा उसके सम्मुख हो; क्योंकि चन्द्रमा के सम्मुख होने से अनेक प्रकार का लाभ होता है। यदि चन्द्रमा दाहिनी ओर हो तो यात्री को सदैव सुख की प्राप्ति होगी और यदि बाएँ हो तो दुख और विपत्ति की सम्भावना रहेगी। रविवार को उत्तर की ओर यात्रा करने से मृत्यु

का भय रहता है और सोमवार को वायव्य दिशा (उत्तर-पश्चिम) में प्रस्थान नहीं करना चाहिए। मंगलवार को पश्चिम दिशा में, बुधवार को नैर्ऋत्य कोण (दक्षिण-पश्चिम), वृहस्पतिवार को दक्षिण दिशा में तथा शुक्रवार को आग्नेय (पूर्व-दक्षिण) कोण में, और शनिवार को पूर्व दिशा में प्रस्थान नहीं करना चाहिए। शनिवार को पूर्व दिशा में शनिश्चर का वास रहता है। यदि काल यात्री के सम्मुख न रहकर उसके पीठ पीछे पड़े तो यात्री हँसी-खुशी के साथ अपनी यात्रा समाप्त कर लेता है।

जो धन राशि, नक्षत्र, चन्द्रमा और तारागणों की शक्ति को भली प्रकार विचार कर शुभ दिवस में प्रस्थान करता है, उसे अपार सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

(४१०)

पहिले चाँद पुरुब दिसि तारा। दूजे बसै इसान विचारा॥
तीजे उतर औ चौथे बायब। पँचएँ पच्छिउँ दिसा गनाइब॥
छठएँ नैऋत, दक्खिन सतएँ। बसै जाइ अगनिउँ सो अठएँ॥
नवए चंद्र सो पृथिवी बासा। दसएँ चंद जो रहै अकासा॥
ग्यरहें चंद पुरुब फिरि जाई। बहु कलेस सौं दिवस बिहाई॥
असुनि, भरनि, रेवती भली। मृगसिर, मूल, पुनरबसु बली॥
पुष्य, ज्येष्ठा, हस्त, अनुराधा। जो सुख चाहै पूजै साधा॥
तिथि, नक्षत्र और बार एक, अस्ट सात खँड भाग।
आदि अंत बुध सो एहि, दुख सुख अंकम लाग॥१३॥

व्याख्या—पहले दिन चन्द्रमा और तारे पूर्व दिशा में, दूसरे दिन ईशान (उत्तर-पूर्व) कोण में, तीसरे दिन उत्तर में तथा चौथे दिन वायव्य (उत्तर-पश्चिम) कोण में, पाँचवे दिन पश्चिम दिशा में गणनानुसार स्थित रहता है। छठे दिन नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम) कोण में, सातवें दिन दक्षिण दिशा में, और आठवें दिन आग्नेय कोण (पूर्व-दक्षिण) में जा बसता है। नवें दिन चन्द्रमा पृथ्वी पर निवास करता है और दसवें दिन आकाश में स्थित रहता है। ग्यारहवें दिन चन्द्रमा पुनः पूर्व दिशा में आ जाता है और यह दिन बड़े क्लेश में व्यतीत होता है। नक्षत्रों में अश्विनी, भरणी और रेवती अच्छे माने जाते हैं। मृगशिरा, मूल तथा पुनर्वसु नक्षत्र बलवान होते हैं। पुष्य, ज्येष्ठा, हस्त तथा अनुराधा नक्षत्र के समय मनुष्य जिस सुख की कामना करता है, उसकी वह कामना अवश्य पूरी होती है।

तिथि, नक्षत्र और दिन को एक करके, अर्थात् जोड़कर उनके योग को सात और आठ से विभाजित करना चाहिए। इस प्रकार विभाजित करने से यदि आदि और अन्त में शून्य आए तो दुख और यदि कुछ अंक आएँ तो सुख होता है। (तिथि की गणना प्रतिपदा से, नक्षत्र की अश्विनी से और दिन की रविवार से करनी

चाहिए। इन तीनों के योग में आठ का भाग देने से शून्य बचे तो शारीरिक पीड़ा और तीन का भाग देने से शून्य बचे तो मृत्यु होती है। यदि कुछ अंक बचें तो यात्री को सुख और विजय की प्राप्ति होती है।) इस सम्बन्ध में डा० मुंशीराम शर्मा ने निम्नलिखित दोहा दिया है, जो 'बृहज्ज्योतिःसार सर्वाङ्ग विचार' नामक ज्योतिष-ग्रन्थ पर आधारित है—

'तिथि, नक्षत्र और बार एक, आठ सात त्रय भाग।
आदि अन्त मध्य शून्यहि, दुख सुख अंकम लाग॥'

(४११)

परिवा, छट्ठि, एकादसि नंदा। दुइज, सत्तमी, द्वादसि मंदा॥
तीज, अस्टमी, तेरसि जया। चौथि चतुरदसि नवमी खया॥
पूरन पूनिउँ, दसमी, पाँचै। सुक्रँ नंदै, बुध भए नाचै॥
अदित सौं हस्त नखत सिधि लहिए। बीफै पुष्य स्रवन ससि कहिए॥
भरनि रेवती बुध अनुराधा। भए अमावस रोहिनि साधा॥
राहु चंद्र भू संपति आए। चंद गहन तब लाग सजाए॥
सनि रिकता कुज अज्ञा लीजै। सिद्धि-जोग गुरु परिवा कीजै॥
छठे नछत्र होइ रवि, ओहि अमावस होइ।
बीचहि परिवा जौ मिलै, गुरुज-गहन तब होइ॥१४॥

शब्दार्थ—नन्दा=शुभ, आनन्ददायिनी। मंदा=अशुभ। जया=विजय देने वाली। खया=क्षय अर्थात् नाश करने वाली। नाचै=नाचता फिरता है, कष्ट पाता है। अदित=आदित्य, रविवार। बीफै=बृहस्पति। सनि रिकता=शनि रिक्ताः, शनिवार, रिक्ता तिथि या खाली दिन। कुज=मंगल।

व्याख्या—प्रतिपदा, षष्ठी और एकादशी शुभ तिथि हैं। द्वितीया, सप्तमी और त्रयोदशी तिथि विजय देने वाली हैं। चतुर्थी, चतुर्दशी और नवमी नाश करने वाली हैं। पूर्णिमा, दशमी और पंचमी पूर्ण तिथियाँ हैं अर्थात् मंगल करने वाली हैं। शुक्र के होने पर आनन्द प्राप्त होता है और बुध के आने पर कष्ट प्राप्त होता है। रविवार के साथ हस्त नक्षत्र सिद्धि देने वाला है। बृहस्पतिवार को पुष्य या श्रवण नक्षत्र के साथ चन्द्रमा शोभा देता है। भरणी, रेवती और अनुराधा नक्षत्र बुधवार को हों और उस दिन अमावस्या हो तथा यदि अमावस्या को रोहिणी नक्षत्र पड़े तो सिद्धि होती है। यदि चन्द्रमा और राहु साथ हों तो पृथ्वी और सम्पत्ति की प्राप्ति होती है और उस समय चन्द्रग्रहण होने लगता है। शनिवार रिक्ता तिथि में मंगल मानना चाहिए और प्रतिपदा को यदि बृहस्पतिवार पड़े तो सिद्धि-योग समझना चाहिए।

छठे नक्षत्र में जब सूर्य आए और अमावस्या हो तथा अमावस्या के बीच में ही प्रतिपदा आ जाये तो सूर्य-ग्रहण होता है।

टिप्पणी—डा० गुप्त ने पद संख्या ४०८ से लेकर ४११ तक चार पद प्रक्षिप्त माने हैं। इन पदों में ज्योतिष-शास्त्र का निहायत ही नीरस और अप्रासंगिक वर्णन हुआ है। इसलिए सम्भव है, किसी ज्योतिष-प्रेमी ने इन पदों को बाद में जोड़ दिया हो।

(४१२)

'चलहु चलहु' भा पिउ कर चालू। घरी न देख लेत जिउ कालू॥
समदि लोग धनि चढ़ी बिवाना। जेहि दिन डरी सो आइ तुलाना॥
रोवहिं मातु पिता औ भाई। कोउ न टेक जौ कंत चलाई॥
रोवहिं सब नैहर सिंघला। लेइ बजाइ कै राजा चला॥
तजा राज रावन, का केहू ?। छाँड़ी लंक बिभीषन लेहू॥
भरीं सखी सब भेंटत फेरा। अंत कंत सौं भएउ गुरेरा॥
कोउ काहू कर नाहिं निआना। मया मोह बाँधा अरुझाना॥
कंचन-कया सो रानी, रहा न तोला माँसु।
कंत कसौटी घालि कै, चूरा गढ़ै कि हाँसु॥१५॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन सिंहलगढ़ से प्रस्थान कर रहा है। जायसी इसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

चारों ओर शोर मच उठा कि 'चलो, चलो', क्योंकि पद्मावती का प्रियतम प्रस्थान कर रहा है; अर्थात् रत्नसेन चलने को उद्यत खड़ा है। काल प्राण लेते समय घड़ी नहीं देखता, अर्थात् शुभ या अशुभ घड़ी का विचार नहीं करता। इसी प्रकार राजा रत्नसेन भी चलते समय शुभ घड़ी का विचार न कर तुरन्त प्रस्थान कर देना चाहता है। पद्मावती अपने सारे परिजनों से मिल-भेंट कर पालकी पर सवार हो गई। वह जिस दिन के लिए डरती रहती थी, अन्त में वही दिन आ पहुँचा। (पद्मावती इस दिवस का उल्लेख पहले भी कई बार कर चुकी है।) उसके माता-पिता और भाई रो रहे हैं परन्तु जब पति चलने की आज्ञा देता है तो फिर पत्नी को कोई भी पकड़ कर नहीं रख पाता। पद्मावती के नैहर सिंहलगढ़ के सारे लोग रो रहे हैं परन्तु राजा रत्नसेन बड़ी धूमधाम के साथ उसे अपने साथ लेकर चला जा रहा है। रावण को भी अपना राज्य छोड़ी हुई लंका को विभीषण भले ही ले ले, इसकी उसे क्या चिन्ता ! भाव यह है कि पद्मावती सिंहल को छोड़कर जा रही है। उसके पीछे अब यहाँ कुछ भी हो, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह अपनी सारी सखियों को अपने अंक में भर-भर कर उनसे भेंट करने लगी और फिर उन्हें लौटा दिया। सबके चले जाने पर अन्त में उसका अपने पति के साथ साक्षात्कार हुआ। अन्त में कोई किसी का भी नहीं होता। सब माया-मोह के बन्धन में उलझे रहते हैं। भाव यह है कि पद्मावती के पीहर वाले भी अन्त में पद्मावती से बिछुड़ गए।

रानी पद्मावती की काया कंचन की है। उसमें मांस तो तोला भर भी नहीं है। अब तो यह राजा पर निर्भर करता है कि वह उसके शरीर को अपने प्रेम की कसौटी पर कस कर उसके शरीर द्वारा पैरों का चूड़ा बनाये या गले की हँसली बनाये। भाव यह है कि अब यह रत्नसेन पर निर्भर है कि वह पद्मावती को अपने चरणों में स्थान दे—उसके साथ दासी का सा व्यवहार करे या उसे अपनी प्रियतमा का पद दे, हँसली के समान उसे कंठ से लगाये।

टिप्पणी—अलंकार—श्लेष।

(४१३)

जब पहुँचाइ फिरा सब कोऊ। चला साथ गुन अवगुन दोऊ॥
औ सँग चला गवन सब साजा। उहै देइ अस पारे राजा॥
डोली सहस चलीं सँग चेरी। सबै पदमिनी सिंघल केरी॥
भले पटोर जराव सँवारे। लाख चारि एक भरे पेटारे॥
रतन पदारथ मानिक मोती। काढ़ि भँडार दीन्ह रथ जोती॥
परखि सो रतन पारखिन्ह कहा। एक एक दीप एक एक लहा[1]॥
सहसन पाँति तुरय कै चली। औ सौ पाँति हस्ति सिंघली॥
लिखनी लागि जौ लेखै, कहे न पारै जोरि।
अरब, खरब दस, नील, संख, औ अरबुद[2] पदम करोरि॥१६॥

व्याख्या—जब सिंहलगढ़ के सब लोग पद्मावती और रत्नसेन को पहुँचा कर वापस आए तो पद्मावती के साथ उसके गुण-अवगुण—दो ही वस्तुएँ चलीं; अर्थात् संसार में व्यक्ति के सच्चे साथी उसके गुण-अवगुण ही होते हैं, अन्य कोई भी साथ नहीं देता। उसके साथ गौने में राजा गंधर्वसेन द्वारा दिया गया सारा सामान चला, जिसे उस जैसा राजा ही देने में समर्थ हो सकता था। साथ में दासियों की एक सहस्र डोलियाँ चलीं, जिनमें सिंहल की पद्मिनी स्त्रियाँ बैठी हुई थीं। सुन्दर रेशमी वस्त्र तथा जड़ाऊ आभूषणों से भरे चार लाख पिटारे साथ में थे। राजा गंधर्वसेन ने अपने खजाने में से असंख्य रत्न, हीरे, माणिक्य, मोती आदि निकाल कर उन्हें रथों में भर, रथ जोत कर साथ में कर दिए थे। रत्नों के पारखियों अर्थात् जौहरियों ने उन रत्नों की परीक्षा कर यह घोषणा की कि इनमें से एक-एक रत्न एक-एक द्वीप या देश के समान लाभदायक या मूल्यवान है। राजा रत्नसेन के साथ घोड़ों की सहस्रों पंक्तियाँ तथा सिंहली हाथियों की एक सौ पंक्तियाँ चलीं।

पाठ-भेद—१. नग सिस्टिहि बर लहा=एक एक नग से भले ही सारी सृष्टि मोल ली जा सकती है। २. खंड।

यदि लेखनी राजा गंधर्वसेन द्वारा दिए गए सारे सामान की गणना कर उन्हें जोड़ उनकी संख्या बताने का प्रयत्न करे तो वह असमर्थ रहेगी। भाव यह है कि यह सारा सामान इतना अधिक था कि उसका वर्णन करना असम्भव है। अरब, दस खरब, नील, संख, अर्बुद, पद्म और करोड़ों की संख्यायें भी उसकी गणना नहीं कर सकतीं।

(४१४)

देखि दरब राजा गरबाना। दिस्टि माहँ कोई और न आना ।।
जौ मैं होउँ समुद के पारा। को है मोंहि सरिस संसारा ।।
दरब ते गरब, लोभ विष-मूरी। दत्त न रहै, सत्त होइ दूरी ।।
दत्त सत्त हैं दूनौं भाई। दत्त न रहै, सत्त पै जाई ।।
जहाँ लोभ तहँ पाप सँघाती। सँचि कै मरै आनि कै थाती ।।
सिद्ध जो दरब आगि कै थापा। कोई जार जारि कोइ तापा ।।
काहू चाँद, काहु भा राहू। काहू अमृत, विष भा काहू ।।
तस भुलान मन राजा, लोभ पाप अँधकूप।
आइ समुद्र ठाढ़ भा, कै दानी कर रूप ।।१७।।

व्याख्या—उस धन-दौलत को देख राजा रत्नसेन गर्व से भर उठा। अपनी दृष्टि में उसे अपने समान धनवान अन्य कोई भी नहीं दिखाई दिया। या उसे कोई दूसरा अपनी दृष्टि में अपने समान नहीं जँचा। उसने सोचा कि यदि मैं समुद्र को पार कर अपने देश में पहुँच जाऊँगा तो फिर सारे संसार में मेरे समान धनवान अन्य कोई भी नहीं होगा। धन से गर्व उत्पन्न होता है। धन से लोभ भी उत्पन्न होता है जो विष की जड़ अर्थात् सारी बुराइयों की जड़ होता है। मन में लोभ समा जाने से फिर मनुष्य दान नहीं देता और ऐसी स्थिति में सत्य भी उससे दूर हो जाता है। दान और सत्य—दोनों भाई-भाई हैं। जब दान नहीं रहता तो सत्य भी चला जाता है। भाव यह है कि जब तक व्यक्ति दानशील बना रहता है, तब तक सत्यनिष्ठ भी रहता है। परन्तु लोभ में पड़ वह जब दान देना बन्द कर देता है तो सत्य भी उसका साथ छोड़ जाता है। जहाँ लोभ होता है—वहाँ पाप उसका साथी बन जाता है; अर्थात् लोभी मनुष्य पापी होता है। ऐसा मनुष्य धन का संचय कर, दूसरों की धरोहर के रूप में उसे अपने पास रख, अन्त में मर जाता है।

सिद्ध अर्थात् सच्चा पुरुष वही है जो धन को अग्नि के समान घातक मान अपने को उससे दूर रखता है। कोई इस धन के कारण जल जाता है, अर्थात् अपनी आत्मा को जला-जला कर उसका संचय करता है, परन्तु कोई उस धन को जला-जला कर उससे तापता है अर्थात् खूब धन खर्च कर उसका भोग करता है। भाव यह है कि

मनुष्य स्वयं तो अपनी आत्मा को मार कर धन का संचय करता है और उसके पुत्रादि उसकी मृत्यु के उपरान्त बेदर्दी के साथ उसे खर्च करके आनन्द करते हैं। यह धन किसी के लिए चन्द्रमा के समान शीतलता प्रदान करने वाला तथा किसी के लिए राहु के समान दुःख देने वाला बन जाता है। किसी के लिए अमृत के समान गुणकारी तथा किसी के लिए विष के समान प्राणघातक होता है।

राजा रत्नसेन का मन लोभ और पाप के अन्धे कुएँ में गिर सत्य का मार्ग भूल गया। उसी समय समुद्र दानी का रूप धारण कर उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ। (यहाँ यदि 'दानी' शब्द का अर्थ 'दान लेने वाला याचक' माना जाय, तो समुद्र को याचक मानना पड़ेगा। परन्तु समुद्र दानी के रूप में प्रसिद्ध है, क्योंकि वह रत्नागार होने के कारण समस्त संसार को खूब रत्नों का दान देता है। इसलिए यहाँ 'दान देने वाला दानी' अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होता है, न कि डा० अग्रवाल द्वारा स्वीकृत 'दान लेने वाला याचक' अर्थ।)

देशयात्रा-खंड

(४१५)

बोहित भरे, चला लेइ रानी। दान माँगि सत देखै दानी॥
लोभ न कीजै, दीजै दानू। दान पुन्नि तें होइ कल्यानू॥
दरब-दान देवै बिधि कहा। दान मोख होइ, दुख न रहा॥
दान आहि सब दरब क जूरू[1]। दान लाभ होइ बाँचै मूरू॥
दान करै रच्छा मँझ नीरा। दान खेइ कै लावै तीरा॥
दान करन दै दुइ जग तरा। रावन सँचा अगिनि महँ जरा॥
दान मेरु बढ़ि लागि अकासा[2]। सैंति कुबेर मुए तेहि पासा[3]॥
चालिस अंस दरब जहँ, एक अंस तहँ मोर।
नाहिं त जरै कि बूढ़ै, कि निसि मूसहिं चोर॥१॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन रानी पद्मावती और सामान से भरे जहाजों को लेकर वहाँ से चला। उस समय समुद्र जैसा दानी राजा रत्नसेन के सत की परीक्षा लेने के लिए उससे दान माँगने लगा। वह राजा से कहने लगा कि हे राजा! लोभ मत करो, मुझे दान दो। दान और पुण्य करने से कल्याण होता है। विधाता ने भी धन-दान देने का आदेश दिया है। दान देने से मोक्ष प्राप्त होता है और दुख का लेश भी नहीं रहता। दान सारे धन का योग होता है अर्थात् सारे धन का दान कर देने से पुण्य लाभ होता है। दान देने से लाभ होता है और मूलधन बचा रह जाता है। भाव यह है कि दान देने से मनुष्य का मूलधन सत्य उसके पास सुरक्षित रहता है अर्थात् दान देने से सत्य की रक्षा होती है। दान देने से समुद्र के बीच में पड़े व्यक्ति की रक्षा होती है और दान ही उसे खेकर किनारे पर पहुँचा देता है। दान करने के कारण ही राजा कर्ण दोनों लोकों से तर गया था अर्थात् उसे मोक्ष प्राप्त हुआ था। परन्तु रावण धन का संचय करने के कारण अग्नि में जल मरा था। सुमेरु पर्वत नित्य अपने स्वर्ण का दान करने के कारण ही बढ़ कर आकाश से जा लगा है। परन्तु कुबेर ने धन का संचय किया था; इसी कारण वह उसके पाश में बँध कर मर गया।

पाठ-भेद—१. चूरू=चूरा। २. अँकारा=आकार। ३. बूड़ तेहि भाराँ=उस भार से डूब गया।

जहाँ चालीस भाग धन होता है, उसमें से एक भाग मेरा अर्थात् याचक का होता है; अर्थात् धन का चालीसवाँ भाग अवश्य दान करना चाहिए। ऐसा न करने से या तो वह धन जल जाता है, या जल में डूब जाता है अथवा रात को चोर उसे चुरा ले जाते हैं।

टिप्पणी—इस्लाम के अनुसार धन का ४०वाँ भाग दान में अवश्य देना चाहिए।

(४१६)

सुनि सो दान राजै रिस मानी। केइ बौराएसि बौरे दानी॥
सोई पुरुष दरब जेइ सैंती। दरबहिं तें सुनु बातैं एती॥
दरब तें गरब करै जे चाहा। दरब तें धरती सरग बेसाहा॥
दरब तें हाथ आव कबिलासू। दरब तें अछरी छाँड़ न पासू॥
दरब तें निरगुन होइ गुनवंता। दरब तें कुबुज होइ रुपवंता॥
दरब रहै भुइँ दिपै लिलारा। अस मन दरब देइ को पारा ?॥
दरब तें धरम करम औ राजा। दरब तें सुद्ध बुद्धि, बल गाजा॥
कहा समुद्र रे लोभी ! बैरी दरब, न झाँपु।
भएउ न काहू आपन, मूँद पेटारी साँपु॥२॥

व्याख्या—दान सम्बन्धी ऐसी बातें सुन राजा रत्नसेन क्रोध से भर उठा और उस भिक्षुक वेशधारी समुद्र से कहने लगा कि रे पागल भिखारी ! किसने तुझे बावला कर दिया है। पुरुष तो वही होता है, जिसने धन को संचित कर अपने पास रखा है। सुन, धन से ही कितनी बातें होती हैं—धन पास रहने पर मनुष्य चाहे जैसा गर्व कर सकता है। धन से पृथ्वी और स्वर्ग तक को खरीदा जा सकता है। धन से स्वर्ग भी प्राप्त किया जा सकता है, और धन पास रहने से अप्सरा जैसी सुन्दरियाँ कभी उस व्यक्ति का साथ नहीं छोड़तीं। धन पास रहने से गुणहीन व्यक्ति भी गुणवान माना जाता है और कुबड़ा रूपवान बन जाता है। धन धरती में गड़ा रहता है परन्तु जिस व्यक्ति का वह धन होता है उसका ललाट उस धन के स्वामित्व के गर्व के कारण चमकता रहता है। ऐसा मन में विचार कर, कौन व्यक्ति है जो धन को दूसरे को दे सके। धन से धर्म, कर्म और राज्य की प्राप्ति होती है और मनुष्य की बुद्धि निर्मल बन जाती है, और वह बलवान बन हुंकार भरने लगता है।

राजा रत्नसेन की ये बातें सुनकर समुद्र उससे कहने लगा कि रे लोभी ! धन शत्रु होता है, उसे छिपा कर मत रख। यह किसी का भी सगा नहीं होता। यह पिटारी के भीतर बन्द साँप के समान विश्वासघाती और घातक होता है। जिस प्रकार साँप दूध पिलाने वाले सँपेरे को मौका मिलते ही डस लेता है, उसी प्रकार धन भी अपने स्वामी का सत्यानाश कर डालता है। (लक्ष्मी को चंचला इसी कारण कहा गया है कि वह अधिक समय तक किसी के भी पास नहीं रहती।)

टिप्पणी—(१) 'दरब रहैं भुइँ दिपै लिलारा'—में असंगति अलंकार है।

(२) धन की यह महिमा भर्तृहरि के इस श्लोक में भी मिल जाती है—

'यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पंडितः स श्रुतवान गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणा कांचनमाश्रयन्ति ॥'

(३) धन की इस महिमा के विरोध में हजरत ईसा मसीह की यह उक्ति द्रष्टव्य है—'धनवान पुरुष कभी स्वर्ग में नहीं जा सकता—चाहे ऊँट सुई के छिद्र में से भले ही निकल जाय।'

(४१७)

आधे समुद ते आए नाहीं। उठी बाउ आँधी उतराहीं[1] ॥
लहरैं उठीं समुद उलथाना। भूला पंथ, सरग नियराना ॥
अदिन आइ जौ पहुँचै काऊ। पाहन उड़ै बहै सो बाऊ ॥
बोहित चले जो चितउर ताके। भए कुपंथ, लंक-दिसि हाँके[2] ॥
जो लेइ भार निबाह न पारा। सोका गरब करै कंधारा? ॥
दरब-भार संग काहु न उठा। जेइ सँसा ताही सौं रुठा ॥
गहे पखान पंखि नहिं उड़ै। 'मोर-मोर' जो करै सो बुड़ै ॥
दरब जो जानहि आपना, भूलहिं गरब मनाहिं ॥
जौ रे उठाइ न लेइ सके, बोरि चले जल माहिं ॥३॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन का जहाजी बेड़ा अभी आधे समुद्र तक नहीं पहुँच पाया था कि हवा चलने लगी और उत्तर की दिशा से आँधी उठ खड़ी हुई। समुद्र में लहरें उठने लगीं, जिससे उथल-पुथल मच गई। राजा मार्ग भूल गया और उसे स्वर्ग अर्थात् मृत्यु पास दिखाई देने लगी। जब किसी के बुरे दिन आ जाते हैं तो ऐसी तेज हवा चलने लगती है जो पत्थरों तक को उड़ा ले जाती है; अर्थात् दुर्दिन आने पर अनहोनी घटनायें घटने लगती हैं। जो जहाज चित्तौड़ का रास्ता पकड़े चले जा रहे थे, वे अपने रास्ते से भटक गए और उस आँधी में पड़ दक्षिण दिशा में लंका की ओर बहने लगे। वह कर्णधार या मल्लाह अपनी शक्ति पर क्या गर्व कर सकता है जो बोझ को लेकर उसे किनारे तक न पहुँचा सके; अर्थात् रत्नसेन इस धन का उचित पात्र नहीं था, क्योंकि वह इसके भार को सम्हाल न सका। धन का बोझा अपने सिर पर लेकर कोई भी आज तक नहीं उठ सका, अर्थात् उन्नति न कर सका। जिसने भी इस धन को संचित कर अपने पास रखा, यह उसी से रूठकर उसके पास से चला गया।

पाठ-भेद—१. उपराहीं=अधिक।
२. बोहित बहे लंक दिसि ताके। मारग छाँड़ि कुमारग हाँके।

यदि पक्षी पत्थर को अपने पंजों में पकड़ कर उड़ना चाहे तो नहीं उड़ सकता। जो सदैव यह कहते रहते हैं कि यह धन मेरा है, वे अवश्य ही डूब जाते हैं, अर्थात् धन पर गर्व करने वाले नष्ट हो जाते हैं।

जो व्यक्ति धन को अपना समझ कर मन में गर्व करते हैं, वे इस गर्व के कारण सदैव भूले से रहते हैं। यदि कोई धन के उस बोझे को उठाकर आगे न बढ़ सके तो उसके लिए उचित यही है कि वह उस धन को जल में डुबाकर आगे बढ़ जाय, (वर्ना वह स्वयं उसके साथ जल में डूब जायेगा।)

(४१८)

केवट एक बिभीषन केरा। आब मच्छ कर करत अहेरा॥
लंका कर राकस अति कारा। आवै चला होइ अँधियारा॥
पाँच मूँड़, दस बाँहीं ताही। दहि भा साँव लंक जब दाही॥
धुआँ उठै मुख साँस सँघाता। निकसै आगि कहै जौ बाता॥
फेंकरे मूड़ चँवर जनु लाए। निकसि दाँत मुँह-बाहर आए॥
देह रीछ कै रीछ डेराई। देखत दिस्टि धाइ जनु खाई॥
राते नैन नियर जौ आवा। देखि भयावन सब डर खावा॥
धरती पायँ सरग सिर, जनहुँ सहस्राबाहु।
चाँद सूर और नखत महँ, अस देखा जस राहु॥४॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन के जहाजों का बेड़ा आँधी में पड़ लंका की ओर बढ़ता चला जा रहा था कि लंका के राजा विभीषण का एक मल्लाह मछली का शिकार करता हुआ उस बेड़े की तरफ आ पहुँचा। वह लंका का राक्षस बहुत काला था। जैसे-जैसे वह पास आता जा रहा था, वैसे-वैसे अन्धकार छाता जा रहा था। उसके पाँच सिर और दस भुजायें थीं। जब हनुमान ने लंका दहन किया था तब वह उसी आग में जलकर काला हो गया था। उसके मुख से साँस के साथ धुआँ उठता था और जब बात करता था तो आग की लपटें निकलती थीं। उसके नंगे सिर पर चँवर से लम्बे, कड़े और उलझे हुए बाल खड़े थे और दाँत मुख से बाहर निकल आए थे। उसका शरीर रीछ के समान बालों से भरा था और इतना भयंकर दिखाई पड़ता था कि रीछ भी उसे देख डर जाय। वह जिसकी ओर भी देखता था, उसे ऐसा लगता था मानो वह अभी उस पर झपट पड़ेगा और खा जायेगा। वह लाल-लाल नेत्र किए जैसे ही उन लोगों के पास आया तो उसके भयावने रूप को देख सब लोग भयभीत हो उठे।

उसके पैर धरती पर तथा सिर आकाश में था। वह ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो सहस्रबाहु (सहस्रार्जुन) खड़ा हो। वह चन्द्रमा (पद्मावती), सूर्य (रत्नसेन) और नक्षत्रों (सखियों) के उस समूह में राहु के समान दिखाई पड़ रहा था।

(४१९)

बोहित बहे, न मानहिं खेवा। राजहिं देखि हँसा मन देवा ॥
बहुतै दिनहि बार भइ दूजी। अजगर केरि आइ भुख पूजी ॥
यह पदमिनी विभीषन पावा। जानहु आजु अजोध्या छावा ॥
जानहु रावन पाई सीता। लंका बसी राम कहं जीता[1] ॥
मच्छ देखि जैसे बग आवा। टोइ टोइ भुइँ पावँ उठावा ॥
आइ नियर होइ कीन्ह जोहारू। पूछा खेम कुसल बेवहारू ॥
जो बिस्वासघात कर देवा। बड़ बिसवास करै कै सेवा ॥
कहाँ, मीत ! तुम भूलेहु, औ जाहुए केहि घाट ?।
हौं तुम्हार अस सेवक, लाइ देउँ तोहि बाट ॥५॥

व्याख्या—आँधी के झोंकों में पड़े राजा रत्नसेन के जहाज बहे चले जा रहे थे। मल्लाह प्रयत्न करने पर भी उन्हें काबू में नहीं कर पा रहे थे। राजा रत्नसेन को देख वह राक्षस मन में हँसा और मन-ही-मन कहने लगा कि बहुत दिनों बाद आज दूसरी बार ऐसा अवसर आया है कि अजगर की भूख अपने आप ही शान्त हो जायेगी; अर्थात् बहुत दिनों बाद आज मैं इन लोगों को खाकर अपनी भूख शान्त करूँगा। यह पद्मिनी (पद्मावती) यदि विभीषण को मिल जाय तो ऐसा जान पड़ेगा, मानो उसके यहाँ अयोध्या सुशोभित हो उठी हो, अर्थात् अयोध्या की सीता सी सुन्दरी लंका में आ गई हो। मानो रावण ने पुनः सीता को प्राप्त कर लिया हो और उसने राम को जीत पुनः लंका को बसा दिया हो। भाव यह है कि लंका में पुनः आनन्द छा जायेगा। मछलियों को देख जिस प्रकार बगुला धरती पर सम्हल-सम्हल कर कदम उठाता उनके पास आ पहुंचता है, इसी प्रकार वह राक्षस धीरे-धीरे राजा के पास आ पहुँचा और उसे प्रणाम कर उससे कुशल-क्षेम और कार्य के विषय में प्रश्न करने लगा। वह जो विश्वासघाती राक्षस था, इस प्रकार सेवा-भाव प्रकट कर राजा पर अपना गहरा विश्वास जमाना चाहता था।

वह राक्षस राजा रत्नसेन से कहने लगा कि हे मित्र ! तुम मार्ग भूल गए हो। तुम किस घाट अर्थात् देश की ओर जा रहे हो ? मैं तुम्हारे सेवक के समान हूँ। तुम्हें तुम्हारे ठीक रास्ते पर लगा दूँगा; अर्थात् तुम्हें तुम्हारे देश का मार्ग बता दूँगा।

(४२०)

गाढ़ परे जिउ बाउर होई। जो भलि बात कहै भल सोई ॥
राजै राकस नियर बोलावा। आगे कीन्ह, पंथ जनु पावा ॥

पाठ-भेद—१. रमाएन बीता=रामायन अर्थात् राम का आक्रमण समाप्त हो चुका है।

करि बिस्वास राकसहि बोला। बोहित फेरु, जाइ नहिं डोला[1] ॥
तू खेवक खेवकन्ह उपराहीं। बोहित तीर लाउ गहि बाहीं ॥
तोहि तें तीर घाट जौं पावौं। नौगिरिही तोड़ेर पहिरावौं ॥
कुंडल स्रवन देउँ पहिराई। महरा कै सौंपौं महराई ॥
तस मैं तोरि पुरावों आसा। रकसाई कै रहै न बासा ॥
राजै बीरा दीन्हा, नहिं जाना बिसवास।
बग अपने भख कारन, होइ मच्छ कर दास ॥६॥

शब्दार्थ—नौगिरिही तोड़ेर=नवग्रह के लिए शुभ नौ रत्नों से युक्त तोड़ा; अर्थात् कई लड़ों का हार। महरा=मल्लाहों का सरदार। महराई=प्रधान पद। रकसाई=राक्षसपन।

व्याख्या—संकट पड़ने पर मनुष्य का मन व्याकुल हो पागल बन जाता है। उस स्थिति में जो उससे उसकी भलाई की बात कहता है, वही उसे अच्छा अर्थात् अपना शुभचिन्तक प्रतीत होने लगता है। राजा रत्नसेन ने उस राक्षस को अपने निकट बुलाया और उसे अपने जहाज के आगे-आगे चलने के लिए कहा। राजा को ऐसा सन्तोष हुआ मानो उसे अपना खोया हुआ मार्ग मिल गया हो। भाव यह है कि राजा को पूर्ण विश्वास हो गया कि वह राक्षस उसे ठीक मार्ग पर ले जायेगा। उस राक्षस का विश्वास कर राजा ने उससे कहा कि जहाजों को लौटा लो, अब आगे नहीं बढ़ा जा सकता। तू मल्लाहों में सबसे श्रेष्ठ मल्लाह है; अर्थात् मैंने तुझे सारे मल्लाहों के ऊपर नियुक्त किया है। हाथ से पकड़ कर इन जहाजों को किनारे पर लगा दे। यदि मैं तेरी सहायता से अपने घाट पर पहुँच जाऊँगा तो तुझे नवग्रह के लिए शुभ नौ रत्नों से युक्त नौलड़ा हार पहनाऊँगा। और कानों में कुण्डल पहना कर तुझे मल्लाहों का सरदार बना जहाजों का प्रधान-अधिकारी बना दूँगा। मैं तेरी सम्पूर्ण आशाओं को इस प्रकार पूरी कर दूँगा कि तुझ में राक्षसपन की गन्ध तक नहीं रहेगी; अर्थात् तू राक्षस से मानव बन जायेगा।

राजा ने उस राक्षस को बीड़ा दिया; अर्थात् उसके हाथ में अपने जहाजों की बागडोर सौंप दी। वह उस राक्षस के विश्वासघाती रूप को नहीं भाँप सका। बगुला अपना भोजन प्राप्त करने के लिए मछलियों का दास बन जाता है, अर्थात् मछलियों को धोखा देने के लिए सन्तों का सा रूप धारण कर लेता है।

(४२१)

राकस कहा गोसाईं बिनाती। भल सेवक राकस कै जाती ॥
जहिया लंक दही श्रीरामा। सेव न छाँड़ा दहि भा सामा ॥

पाठ-भेद— १. वह पसाउ राकस कहँ बोला। बेगि टेकु पुहुमी सब डोला ॥=राजा ने बड़े कृपाभाव के साथ उस राक्षस से कहा—सहारा दे, सारी धरती हिल रही है।

अबहूँ सेव करौं सँग लागे। मनुष भुलाइ होउँ तेहि आगे ॥
सेतुबंध जहँ राघव बाँधा। तहँवाँ चढ़ौं भार लेइ काँधा ॥
पै अब तुरत दान किछु पावौं। तुरत खेइ ओहि बाँध चढ़ावौं ॥
तुरत जो दान पानि हँस दीजै। थोरै दान बहुत पुनि लीजै ॥
सेव कराइ जौ दीजै दानू। दान नाहिं, सेवा कर मानू ॥
दिया बुझा, सत ना रहा, हुत निरमल जेहि रूप ॥
आँधी बोहित उड़ाइ कै, लाइ कीन्ह अँधकूप ॥७॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन की बात को सुन उस राक्षस ने राजा से कहा कि—हे स्वामी ! मेरी एक प्रार्थना है। राक्षस की जाति अच्छी सेवक होती है। जब श्रीराम ने लंका को जलाया था उस समय भी मैंने अपने सेवा-स्थान को नहीं छोड़ा था और मैं उस अग्नि में झुलस कर काला हो गया था। अब भी जब सभी मनुष्य मार्ग भूल जाते हैं तो मैं उनके आगे चलकर उनके साथ रहता हुआ उनकी सेवा करता रहता हूँ। राम ने जहाँ सेतुबन्ध बाँधा था, मैं तुम्हारे इस सम्पूर्ण भार को अपने कन्धे पर लाद तुम्हें उस स्थान तक पहुँचा दूँगा। परन्तु अब मुझे तुरन्त ही थोड़ा सा दान मिल जाना चाहिए। दान मिलते ही मैं तुरन्त तुम्हारे जहाजों को खेकर उस सेतुबन्ध पर पहुँचा दूँगा। यदि आप हँसकर अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक अपने हाथ से मुझे दान दे दें तो थोड़े-से ही दान से आप को अमित पुण्य की प्राप्ति होगी। और यदि आप सेवा कराने के पश्चात् दान देंगे तो वह दान न होकर उस सेवा का मूल्य होगा।

दान की यह बात सुनते ही राजा का वह निर्मल रूप दीपक के समान बुझ गया अर्थात् राजा का मुँह मलिन पड़ गया और उसका सत जाता रहा। प्रचण्ड आँधी ने जहाजों को उड़ा कर अन्ध कूप में डाल दिया; अर्थात् आँधी के कारण चारों ओर घटाटोप अंधकार छा गया।

(४२२)

जहाँ समुद मँझधार मँडारू[1]। फिरै पानि पातार-दुआरू ॥
फिरि फिरि पानि ठाँव ओहि मरै। फेरि न निकसै जो तहँ परै ॥
ओही ठाँव महिरावन-पुरी। परे हलका तर जम-कातर छुरी[2] ॥
ओही ठाँव महिरावन मारा। परे हाड़ जनु खरे पहारा ॥
परी रीढ़ जो तेहि कै पीठी। सेतुबन्ध अस आवै दीठी ॥
राकस आइ तहाँ के जुरे[3]। बोहित भँवर-चक्र महँ परे ॥

पाठ-भेद—१. भँडारू=भंडार। २. जुरी=आ जुटी थी। ३. छरै=छल करता है।

फिरै लगै बोहित तस आई। जस कोहाँर धरि चाक फिराई॥
राजै कहा, रे राकस! जानि बूझि बौरासि।
सेतुबन्ध यह देखैं; कस न तहाँ लेइ जासि? ॥८॥

व्याख्या—समुद्र के बीचों-बीच जहाँ गहरा दह था, पानी में भँकर पड़ने के कारण ऐसा लग रहा था मानो वहाँ पाताल का द्वार हो। पानी चक्कर खा-खा कर वार-वार उसी स्थान में समाता जाता था। जो उस भँवर में पड़ जाता था, वह फिर बाहर नहीं निकल पाता था। उसी स्थान पर अहिरावण नामक राक्षस का नगर था। ऐसा प्रतीत होता था मानो उन लहरों के नीचे जमकात तलवारें (यम की कटारें) घूम रही थीं; अर्थात् वे लहरें तलवार के समान तीक्ष्ण और घातक थीं। उसी स्थान पर अहिरावण का वध किया गया था। वहाँ उसकी हड्डियों का पहाड़ के समान ऊँचा ढेर लगा था। वहाँ उसकी पीठ की रीढ़ की जो हड्डी पड़ी हुई थी, वह सेतुबन्ध के समान लग रही थी। (उन जहाजों को आया देख) वहाँ के सारे राक्षस आकर उसी स्थान पर एकत्र हो गए जहाँ सारे जहाज उस भँवर के चक्र में पड़े चक्कर खा रहे थे। वहाँ आकर वे जहाज उसी प्रकार घूमने लगे, मानो कुम्हार ने उन्हें अपने चाक पर रख चाक को घुमा दिया हो।

यह देख राजा ने उस राक्षस से कहा कि रे राक्षस! तू जान-बूझकर बावला क्यों बनता है। सतुबन्ध तो यह दिखाई पड़ रहा है। क्यों तू हमें वहाँ नहीं ले जा रहा?

(४२३)

'सेतुबन्ध' सुनि राकस हँसा। जानहु सरग टूटि भुइँ खसा॥
को बाउर? बाउर तुम देखा। जो बाउर, भख लागि सरेखा॥
पाँखी जो बाउर घर माटी। जीभ बढ़ाइ भखै सब चाँटी॥
बाउर तुम जो भखै कहँ आने। तबहिं न समुझे, पंथ भुलाने॥
महिरावन कँ रीढ़ जो परी। कहहु सो सेतुबन्ध, बुधि छरी॥
यह तो आहि महिरावन-पुरी। जहवाँ सरग नियर, घर दूरी॥
अब पछिताहु दरब जस जोरा। करहु सरग चढ़ि हाथ मरोरा॥
जो रे जियत महिरावन, लेत जगत कर भार।
सौ मरि हाड़ न लेइगा, अस होइ परा पहार ॥९॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन के मुख से 'सेतुबन्ध' शब्द सुन कर वह राक्षस इतनी जोर से अट्टहास कर उठा, मानो आकाश टूट कर धरती पर गिर पड़ा हो। उसने राजा से कहा कि बावला कौन है? मुझे तो तुम बावले दिखाई पड़ते हो। जो बावला होता है वह भी अपने भोजन की तलाश करते समय चतुर बन जाता है। मिट्टी के

घर में रहने वाले पतिंगे को लोग बावला समझते हैं कि वह पंख रहते हुए भी मिट्टी के घर बना कर रहता है । परन्तु वही पतिंगा अपनी जीभ बढ़ा सारी चीटियों को खा जाता है । बावले तो तुम हो, जो मेरा भक्ष्य बनने के लिए यहाँ लाए गए हो । तुम इस बात को तब भी नहीं समझे थे, जब रास्ता भूल गए थे । यह जो अहिरावण की रीढ़ की हड्डी पड़ी हुई है उसे तुम सेतुबन्ध कह रहे हो । तुम्हारी बुद्धि ऐसी मारी गई है ! यह तो अहिरावण की पुरी है जहाँ मृत्यु नजदीक और घर दूर रहता है; अर्थात् यहाँ आने पर मनुष्य मार डाले जाते हैं । तुमने जिस प्रकार इस धन को जोड़-जोड़ कर इकट्ठा किया था, अब उसके लिए पछताओ । अब स्वर्ग में पहुँच कर इसके लिए हाथ मल-मल कर पछताना ।

वह अहिरावण, जो जीवित रहते समय सारे संसार को अपने सिर पर उठाये फिरता था, मर जाने के बाद अपने साथ अपनी हड्डियों तक को नहीं ले जा सका और अब पहाड़ के समान पड़ा हुआ है ।

(४२४)

बोहित भवँहि, भँवै सब पानी । नाचहिं राकस आस तुलानी ॥
बूड़हिं हस्ती घोर, मानवा । चहुँदिशि आइ जुरे मँस-खवा ॥
ततखन राजपंखि एक आना । सिखर टूट जस डसन डोलावा ॥
परा दिस्टि वह राकस खोटा । ताकेसि जैस हस्ति बड़ मोटा ॥
आइ ओहीं राकस पर टूटा । गहि लेइ उड़ा, भँवर जल छूटा ॥
बोहित टूक टूक सब भए । एहु न जाना कहँ चलि गए ॥
भए राजा रानी दुइ पाटा । दूनौं बहे, चले दुइ बाटा ॥
काया जीउ मिलाइ कै,[1] मारि किए दुइ खंड ।
तन रोवै धरती परा, जीउ चला बरम्हंड[2] ॥१०॥

व्याख्या—उस भँवर में पड़कर सारे जहाज चक्कर खा रहे थे और सारा जल चक्कर खा रहा था, यह देख राक्षस प्रसन्न होकर नाच रहे थे (कि अब हमें खाने को खूब मांस मिलेगा) और जहाजों में बैठे मनुष्यों को अपने प्राणों की आशा जाती रही थी । जल में हाथी, घोड़े और मनुष्य डूब रहे थे और उनके चारों ओर मांस-भक्षी राक्षस आकर इकट्ठे हो गये थे । उसी समय वहाँ एक पक्षिराज (गरुड़) आया

पाठ-भेद—१. कीन्हेसि अनन्द उछाहुँ=आनन्द और उत्साह दिया था । २ लवटि बिछोउ दीन्ह तस कोउ न जानै काहुँ=वहीं उलट-पलट कर उन्हें ऐसा बिछोह भी दिया कि कोई किसी को न जान सका (कि वह कहाँ गया) ।

जिसके पंखों के चलने से पर्वतों के शिखर टूट-टूट कर गिर रहे थे। पक्षिराज की दृष्टि में वह विश्वासघाती राक्षस पड़ गया। उसने उस राक्षस की ओर इस तरह ताका जैसे वह कोई विशालकाय मोटा हाथी हो। वह उस राक्षस पर टूट पड़ा और उसे पकड़ कर उड़ा ले गया। फिर जाकर उसने उसे उस भँवर में छोड़ दिया। भँवर में उस राक्षस के गिरने से सारे जहाज टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गए और उस भँवर में ऐसे समा गए कि यह पता नहीं चला कि कहाँ चले गए। राजा रत्नसेन और रानी पद्मावती दोनों एक-एक लकड़ी के तख्ते से चिपट गए और अलग-अलग मार्गों पर बहने लगे।

विधाता शरीर और प्राण को पहले आपस में मिलाता है और फिर मार कर उनके दो टुकड़े कर देता है; अर्थात् शरीर और प्राण को अलग-अलग कर देता है। शरीर तो धरती पर पड़ा रोता रहता है और प्राण ब्रह्मांड को चले जाते हैं।

३४

लक्ष्मी-समुद्र-खंड

(४२५)

मुरछि परी पदमावति रानी । कहाँ जीउ, कहँ पीउ, न जानी ॥
जानहु चित्र-मूर्ति गहि लाई । पाटा परी बही तस जाई ॥
जनम न सहा पवन सुकुवाँरा । तेइ सो परी दुख-समुद अपारा ॥
लछिमी नावँ[1] समुद कै बेटी । तेइ कहँ लच्छि होइ जहुँ भेंटी ॥
खेलत अही सहेलिन्ह सेंती । पाठा जाइ लाग तेहि रेती ॥
कहेहि सहेली "देखहु पाटा । मूरति एक लागि बहि घाटा ॥
जौं देखा, तीवई[2] है साँसा । फूल मुवा, पै मुई न बासा ॥
रंग जो राती प्रेम के, जानसु बीरबहूटि ॥
आइ बही दधि-समद्र महँ, पै रंग गएउ न छूटि ॥१॥

व्याख्या—समुद्र में जहाजों के नष्ट हो जाने से पद्मावती और रत्नसेन भिन्न-भिन्न दशाओं में बहते चले गए। यहाँ जायसी तख्ते पर बहती जाती पद्मावती का वर्णन करते हुए कहते हैं—

रानी पद्मावती लकड़ी के तख्ते पर मूर्च्छित पड़ी थी। उसे इस बात का ज्ञान नहीं था कि कहाँ उसके प्राण हैं और कहाँ पति रत्नसेन है। वह उस तख्ते पर पड़ी ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो चित्र में बनी किसी मूर्ति को लाकर वहाँ रख दिया गया हो। वह इस प्रकार तख्ते पर पड़ी बहती चली जा रही थी। वह इतनी सुकुमारी थी कि उसने जीवन में वायु के हल्के से झोंके को भी सहन नहीं किया था। ऐसी वह पद्मावती दुख के अपार समुद्र में पड़ी हुई थी। समुद्र की लक्ष्मी नामक या लक्ष्मी के समान एक बेटी थी। (लक्ष्मी समुद्र-मंथन के समय समुद्र में से निकली थी, इसलिए उसे समुद्र की पुत्री माना जाता है।) जिससे इस लक्ष्मी की भेंट हो जाती थी वह धन-धान्य से पूर्ण बन जाता था। वह अपनी सखियों के साथ समुद्र-तट पर खेल रही थी। वह जिस स्थान पर खेल रही थी, वहीं पद्मावती का तख्ता किनारे पर रेती में जाकर लग गया। यह देख लक्ष्मी की सहेलियों ने कहा कि उस तख्ते को देखो। उस पर एक मूर्ति बहती हुई इस तट पर आ लगी है। जब सखियों ने जाकर देखा

पाठ-भेद—१. मान=समान। २. तिरिया=स्त्री।

तो पाया कि उस स्त्री (पद्मावती) की साँस चल रही थी। फूल तो मर गया था अर्थात् मुरझा गया था परन्तु उसकी सुगन्धि नहीं गई थी। भाव यह है कि पद्मावती मरी नहीं थी।

जो पद्मावती बीरबहूटी के समान सम्पूर्ण प्रेम के रंग में रँगी हुई थी, वह यद्यपि बहती हुई दधि के समुद्र में आ पड़ी थी, परन्तु फिर भी उसका रंग नहीं छूटा था। भाव यह है कि मूर्च्छित पद्मावती का सौन्दर्य तनिक भी कम नहीं हुआ था।

(४२६)

लछिमी लखन बतीसौ लखी। कहेसि "न मरै, सँभारहु, सखी !॥
कागर पतरा[1] ऐस सरीरा। पवन उड़ाइ परा मँझ नीरा॥
लहरि झकोर उदधि-जल भीजा। तबहूँ रूप-रंग नहीं छीजा"॥
आपु सीस लेइ बैठी कोरे। पवन डोलावै सखि चहुँ ओरे॥
बहुरि[2] जो समुझि परा तन जीऊ। माँगेसि पानि बोलि कै पीऊ॥
पानि पियाइ सखी मुख धोई। पदमिनि जनहुँ कवँल सँग कोई॥
तब लछिमी दुख पूछा ओही[3]। "तिरिया समुझि बात कहु मोही॥
देखि रूप तोर आगर, लागि रहा चित मोर।
केहि नगरी कै नागरी, काह नावँ धनि तोर ?" ॥२॥

व्याख्या – लक्ष्मी ने पद्मावती के बत्तीसों लक्षणों को देख अपनी सखियों से कहा—हे सखियो ! इसकी देखभाल करो, जिससे इसकी मृत्यु न होने पाए। इसका शरीर कागज के समान पतला है। पवन ने इसे उड़ाकर समुद्र के बीच में डाल दिया है। लहरों की झकोरों से यह समुद्र के जल में भीग गई है परन्तु इतने पर भी इसका रूप-रंग तनिक भी मलिन नहीं हुआ है। इतना कहकर लक्ष्मी पद्मावती के सिर को अपनी गोद में रख बैठ गई और सखियाँ चारों ओर से हवा करने लगीं। इसके उपरान्त जब पद्मावती के शरीर में प्राण लौट आए और उसे थोड़ा सा होश आया तो उसने अपने प्रियतम रत्नसेन का नाम लेकर पीने को पानी माँगा। सखियों ने उसे पानी पिलाकर उसका मुख धो दिया। उस समय पद्मावती उन सब से घिरी हुई ऐसी शोभित हो रही थी जैसे कुमुदिनियों के साथ कमल शोभायमान हो रहा हो। तब लक्ष्मी ने उससे पूछा कि हे स्त्री ! तुझे क्या दुःख है ? अपनी चेतना को सम्हाल कर मुझसे अपनी बात कह।

तेरे अनुपम रूप को देख मेरा चित्त अनुरक्त हो उठा है। हे सुन्दरी ! तू किस नगर की रहने वाली है और तेरा क्या नाम है ?

पाठ-भेद—१. कागर पुतरी=कागज की बनी पुतली। २. पहरक=एक प्रहर में।
३. मरीही=मरणासन्न।

(४२७)

नैन पसार देख धन चेती। देखै काह, समुद कै रेती ॥
आपन कोइ न देखेसि तहाँ। पुछेसि, तुम हौ को ? हौं कहाँ ? ॥
कहाँ सो सखी कँवल सँग कोई। सो नाहीं मोहिं कहाँ बिछोई ॥
कहाँ जगत महँ पीउ पियारा। जो सुमेरु, बिधि गरुअ सँवारा ॥
ताकर गरुई प्रीति अपारा। चढ़ी हिये जनु चढ़ा पहारा ॥
रहौं जो गरुइ प्रीति सौं झाँपी। कैसे जिऔं भार-दुख चाँपी ? ॥
कँवल-करी जिमि चूरी नाहाँ। दीन्ह बहाइ उदधि जल माहाँ ॥
आवा पवन बिछोह कर, पाट परी बेकरार।
तरिवर तजा जौ चूरि कै, लागौं केहि के डार ? ॥३॥

व्याख्या—लक्ष्मी की बातें सुनकर पद्मावती को होश आया और उसने आँखें खोलकर चारों ओर देखा। वह क्या देखती है कि चारों ओर समुद्र की रेती ही रेती है। उसे वहाँ अपना परिचित कोई भी नहीं दिखाई दिया। तब उसने लक्ष्मी से पूछा कि तुम कौन हो और मैं कहाँ हूँ ? मेरी वे सखियाँ कहाँ हैं, जो मेरे साथ रात-दिन उसी प्रकार रहती थीं जिस प्रकार कमल के साथ कुमुदिनियाँ रहती हैं। जगत में सबसे अधिक प्रिय मेरे स्वामी कहाँ हैं, जिन्हें विधाता ने सुमेरु पर्वत के समान गौरवशाली बनाया है। उनका प्रेम अत्यन्त अगाध है जो मेरे हृदय पर पर्वत के समान चढ़ा रहता है। मैं तो स्वामी के उस अगाध प्रेम के ही भार से आच्छादित रहती थी, फिर ऊपर से इस दुख के भार ने मुझे दबा लिया है। इन दोनों भारों को मैं किस प्रकार सह सकूँगी और कैसे जीवित रह सकूँगी। स्वामी ने तो मुझे कमल की कली के समान मसल कर समुद्र के जल में बहा दिया।

बिछोह करवाने वाली हवा आई और मैं बेहोश होकर तख्ते पर गिर पड़ी। जब पत्ते को वृक्ष ही अपनी डाली सें अलग कर दे तो फिर वह किसका आश्रय ले; अर्थात् जब मुझे मेरे आधार-वृक्ष स्वामी ने ही अपने डाल रूपी आश्रय से दूर कर दिया तो अब मैं किस डाल में जाकर लगूँ; अर्थात् किसका आश्रय लूँ ?

(४२८)

कहेन्हि "न जानहिं हम तोर पीऊ। हम तोहिं पाव रहा नहिं जीऊ ॥
पाट परी आई तुम बही। ऐसा न जानहिं दुहुँ कहँ अही" ॥
एब सुधि पदमावति मन भई। सँवरि[1] बिछोह मुरुछि मरि गई ॥
नैनो‍ रकत-सुराई ढरै। जनहुँ रकत सर काटे परै[2] ॥

पाठ-भेद—१. र=सूर्य (रत्नसेन)। २. बिनु सिर रकत सुराही ढारी। जनहुँ बकत सिर [illegible] पवारी ॥=वह ऐसी लग रही थी मानो बिना सिर (गर्दन) की रक्त सुराही ढरका दी गई हो अथवा कोई बत्तख हो जिसका सिर अलग [illegible]रसे फेंक दिया गया हो।

खन चेतै खन होइ बेकरारा। भा चंदत बंदन सब छारा॥
बाउरि होइ परी पुनि पाटा। देहु बहाइ कंत जेहि घाटा॥
को मोहि आगि देइ रचि होरी। जियत न बिछुरै सारस-जोरी॥
जेहि सिर परा बिछोहा, देहु ओहि सिर[1] आगि।
लोग कहैं यह सर चढ़ी, हौं सो जरौं पिउ लागि॥४॥

व्याख्या—पद्मावती की दुख-भरी बातों को सुनकर लक्ष्मी ने कहा कि हम तुम्हारे स्वामी को नहीं जानतीं। हमने तो तुम्हें ऐसी दशा में पाया था, जब तुम में प्राण नहीं थे; अर्थात् तुम संज्ञाहीन हो रही थीं। तुम लकड़ी के तख्ते पर पड़ी बहती हुई यहाँ आई थीं। हमें तो यह भी नहीं मालूम कि इससे पहले तुम कहाँ थीं। लक्ष्मी की यह बात सुन पद्मावती को मन में स्मरण हो आया और वह प्रियतम के साथ अपने बिछोह होने की बात याद कर मूर्च्छित हो मृतक के समान हो गई। उसके नेत्रों से रक्त के आँसू इस प्रकार बहने लगे, मानो रक्त से भरी सुराही में से रक्त बह रहा हो अथवा सिर काट लेने पर धड़ में से रक्त की फुहारें छूट रही हों। वह क्षण में होश में आ जाती थी और फिर दूसरे ही क्षण बेहोश हो जाती थी। उसका चन्दन और बन्दन (आभूषण) आदि नष्ट-भ्रष्ट हो गए। वह पागल-सी हो पुनः उसी तख्ते पर जा लेटी और कहने लगी कि मुझे उसी घाट की ओर बहा दो जहाँ मेरे स्वामी हैं। किसने मेरे शरीर में विरह की अग्नि प्रज्वलित कर होली-सी जला रखी है। सारस की जोड़ी जिस प्रकार जीवित रहते हुए कभी नहीं अलग होती, उसी प्रकार मैं भी प्राण रहते अपने स्वामी से कभी अलग नहीं हो सकूँगी।

जिसके सिर के ऊपर बिछोह घहरा रहा हो, उस सिर को आग लगा दो; अर्थात् मुझे जला दो। मुझे जलते देख लोग तो यह कहेंगे कि मैं चिता पर चढ़ रही हूँ परन्तु मैं अपने प्रियतम के लिए जलूँगी।

(४२६)

काया-उदधि चितव पिउ पाहाँ। देखौं रतन सो हिरदय माहाँ॥
जनहुँ आहि दरपन मोर हीया। तेहि महँ दरस देखावै पीया॥
नैन नियर पहुँचत सुठि दूरी। अब तेहि लागि मरौं मैं झूरी॥
पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई?॥
साँस पास निति आवै जाई। सो न सँदेस कहै मोहिं आई॥
नैन कौड़िया होइ मँडराही। थिरकि मार पै आवै नाहीं॥
मन भँवरा भा कँवल-बसेरी। होइ मरजिया न आनै हेरी॥
साथी आथि निआथि जो, सकै साथ न निरबाहि।
जौं जिउ जारे पिउ मिलै, भेंटु रे जिउ! जरि जाहि॥५॥

पाठ-भेद—१. सर=चिता।

शब्दार्थ—थिरकि मार=थिरकता या चारों ओर नाचता है। आथि-निआथि =धन और दरिद्रता।

व्याख्या—पद्मावती प्रलाप करती हुई कहने लगी कि—मैं अपने इस शरीर रूपी समुद्र में जब अपने पति की खोज करती हूँ तो उसे अपने हृदय में उसी प्रकार स्थित देखती हूँ, जिस प्रकार समुद्र की तह में रत्न रहते हैं, अर्थात् मेरा पति निरन्तर मेरे हृदय की गहराइयों में छिपा रहता है। मानो मेरा हृदय दर्पण है। मेरा प्रियतम मुझे अपने दर्शन उसी में दिखाता है। नेत्रों से तो यह निकट प्रतीत होता है, किन्तु उस तक पहुँचना बड़ा कठिन है। अब मैं उसके लिए सूख-सूख कर मर जाऊँगी। प्रियतम मेरे हृदय में है परन्तु उससे भेंट नहीं हो पाती। कौन उसे मुझसे मिलाए, मैं किससे रोकर प्रार्थना करूँ? साँस नित्य उस स्वामी के पास होकर आती-जाती है (साँस हृदय से आती-जाती रहती है और स्वामी वहीं स्थित है) परन्तु वह भी मुझसे प्रियतम का कोई भी सन्देश नहीं कहती। मेरे नेत्र कौड़िल्ला पक्षी के समान मेरे हृदय रूपी समुद्र के ऊपर बराबर मँडराते रहते हैं परन्तु वे इधर-उधर नाच कर ही लौट आते हैं; अर्थात् झपट्टा मारकर प्रियतम को मेरे हृदय रूपी समुद्र में से बाहर नहीं निकाल लाते। मेरा मन रूपी भँवरा उसी कमल रूपी हृदय में बसेरा करता है, परन्तु गोताखोर के समान गोता मार प्रियतम को खोज कर ऊपर नहीं लाता।

सच्चा साथी वही है जो ऐश्वर्य और विपत्ति अर्थात् धनी और निर्धनी—दोनों दशाओं के साथ निभा सके। यदि प्राणों को जलाने से ही प्रियतम मिल जायँ तो रे मेरे प्राण! तू जलकर ही उनसे जा भेंट।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—रूपक, समासोक्ति।

(२) इस पद में रहस्यवादी व्यंजना भी है। परमात्मा आत्मा के रूप में सदैव हृदय में स्थित रहता है। इस प्रकार वह इतने निकट रहते हुए भी दूर ही रहता है। नेत्र उसे खोजते फिरते हैं, मन उसी में रमा रहता है, परन्तु फिर भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। सूफी प्रेम-साधना के अनुसार यह 'इश्क मजाजी' से 'इश्क हक़ीकी' की ओर बढ़ना है।

(४३०)

सती होइ कहँ सीस उघारा। घन महँ बीजु घाव जिमि मारा॥
सेंदुर, जरै आगि जनु लाई। सिर कै आगि सँभारि न जाई॥
छूटि माँग अस मोति-पिरोई। बारहिं बार जरै जौं रोई॥
टूटहिं मोति बिछोह जो भरै। सावन-बूँद गिरहिं जनु झरै॥
भहर भहर कै जोबन बरा। जानहुँ कनक अगिनि महँ परा॥
अगिनि भँवा, पै देइ न कोई। पाहुन पवन पानि सब कोई॥
खीन लंक टूटी दुखभरी। बिनु रावन केहि बर होइ खरी॥

रोवत पंखि बिमोहे, जस कोकिला-अरंभ ।
जाकरि कनक-लता सो, बिछुरा पीतम खंभ ।।६।।

व्याख्या—पति-वियोग में प्रलाप करने के उपरान्त पद्मावती सती हो जाने के लिए उद्यत हो रही है । जायसी इसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

पद्मावती ने सती होने के लिए अपने सिर को खोला । उसके काले बालों के बीच सिन्दूर से भरी माँग ऐसी प्रतीत हुई, मानो बिजली ने बादल के बीच चोट मार कर घाव कर दिया हो । उसकी माँग का सिन्दूर ऐसा लग रहा था, मानो आग जल रही हो । सिर में लगी हुई आग सम्हाली नहीं जा रही थी, अर्थात् पति-वियोग की पीड़ा के कारण पद्मावती के सिर में आग-सी लग रही थी । उसकी मोतियों से भरी हुई माँग छूट गई अर्थात् माँग भरी हुई मोतियों की लड़ी टूट गई और मोती इस प्रकार नीचे टपक-टपक कर गिरने लगे मानो उस ज्वाला में जलने की पीड़ा से व्याकुल हो उसका एक-एक बाल रो रहा हो और उनके आँसू नीचे टपक रहे हों । पद्मावती से वियुक्त होने की पीड़ा से व्याकुल हो वे मोती इस प्रकार नीचे टपक रहे थे मानो सावन के महीने में वर्षा की बूँदें झर रही हों । उसका जगमगाता हुआ यौवन उस अग्नि में धू-धू कर जलने लगा, मानो सोना अग्नि में पड़ा हुआ जल रहा हो । पद्मावती सती होने के लिए अग्नि माँगती है परन्तु कोई भी उसे आग नहीं देता । लक्ष्मी तथा उसकी सखियाँ उसे अतिथि समझ उसकी हवा करतीं और जल पिलाती हैं । पद्मावती की क्षीण कटि दुख के भार से टूट गई है । (भार से कमर टूट जाना मुहावरा है ।) बिना रमणशील पति के वह किसका सहारा ले खड़ी हो; अर्थात् उसके साथ रमण करने वाला उसका पति ही उसे सहारा देकर खड़ा करने में समर्थ हो सकता था । इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार रावण के बिना लंका नष्ट हो गई थी, वही दशा पद्मावती की रत्नसेन के बिना हो रही थी ।

उसके रुदन को सुनकर पक्षी तक मोहित हो गए, मानो कोयल कूक रही हो; अर्थात् उसका रुदन भी कोयल की कूक के समान मन को मोह लेने वाला था । वह जिसकी स्वर्णलता थी, वह प्रियतम रूपी स्तम्भ उससे अलग हो गया था; अर्थात् पद्मावती की स्वर्णलता जैसी देह को सहारा देने वाला पति रत्नसेन उससे बिछुड़ गया था, इसलिए वह लता के समान पृथ्वी पर पड़ी छटपटा रही थी ।

टिप्पणी—अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा और रूपक । 'कनक लता' और 'पीतम खम्भ' में रूपक अलंकार है । प्रथम पंक्ति में मौलिक कल्पना का चमत्कार द्रष्टव्य है ।

(४३१)

लछिमी लागि बुझावै जीऊ । "न मरु बहिन ! मिलहि तोर पीऊ ।।
पीउ पानि, होउ पवन-अधारी । जसि हौं तहूँ समुद्र कै बारी ।।
मैं तोहि लागि लेउँ खटवाटू । खोजब पिता जहाँ लगि घाट ·

हौं जेहि मिलौ ताहि बड़ भागू। राजपाट औ देउँ सोहागू" ।।
कहि बुझाइ लेइ मँदिर सिधारी। भइ जेवनार[1] न जेंवै बारी[2] ।।
जेहि रे कंत कर होइ बिछोवा। कहँ तेहि भूख, कहाँ सुख-सोवा ? ।।
कहाँ सुमेरु, कहाँ वह सेसा। को अस तेहि सौ कहै सँदेसा ?[3] ।।
लछिमी जाई समुद पहँ, रोइ बात यह चालि।
कहा समुद "वह घट मोरे, आनि मिलावौं कालि" ।।७।।

व्याख्या—पद्मावती को सती होकर जल मरने के लिए सन्नद्ध देख लक्ष्मी उसे समझा-बुझा कर उसके प्राणों को सान्त्वना देने का प्रयत्न करती हुई उससे कहने लगी कि हे बहिन ! तू मर मत। तुझे तेरा प्रियतम मिल जायेगा। तू पानी पी कर मन को शान्त कर और हवा का आधार ग्रहण कर, अर्थात् चैन की साँस ले। मेरी तरह तू भी समुद्र की बेटी है; अर्थात् मेरी तरह तू भी अपने को समुद्र का बेटी समझ। मैं तेरी खातिर खटपाटी लेकर पड़ जाऊँगी; अर्थात् रूठ कर पिता को तेरे पति की खोज करने के लिए बाध्य कर दूँगी। पिता सारे घाटों पर उनकी खोज करेंगे। मैं जिसे मिल जाती हूँ, वह बड़ा सौभाग्यशाली बन जाता है। मैं उसे राज-पाट और सौभाग्य आदि सब कुछ देती हूँ। इस प्रकार पद्मावती को समझा-बुझा कर लक्ष्मी उसे अपने साथ ले अपने महल को चली गई। वहाँ पर पद्मावती के आगमन की प्रसन्नता में ज्यौनार हुई, परन्तु पद्मावती ने भोजन नहीं किया। जिसका अपने स्वामी से बिछोह हो जाता है उसे फिर भूख-प्यास कहाँ लगती है और वह कैसे सुख से सो सकता है ? इस समय पद्मावती और रत्नसेन के मध्य आकाश-पाताल का-सा अन्तर था, अर्थात् दोनों एक-दूसरे से बहुत दूर थे। ऐसा कौन है जो रत्नसेन के पास जाकर उससे पद्मावती का सन्देश कहे।

इसके उपरान्त लक्ष्मी अपने पिता 'समुद्र' के पास गई और रो कर उससे पद्मावती की बात कही। उसे सुनकर समुद्र बोला—'वह तो मेरे ही भीतर है, मैं कल लाकर उसे पद्मावती से मिला दूँगा', अर्थात् रत्नसेन समुद्र में ही है।

(४३२)

राजा जाइ तहाँ बहि लागा। जहाँ न कोइ संदेसी कागा ।।
तहाँ एक परबत अस डूँगा। जहँवाँ सब कपूर औ मूँगा ।।
तेहि चढ़ि हेर कोइ नहिं साथा। दरब सैंति किछु लाग न हाथा ।।
अहा जो रावन लंक बसेरा। गा हेराइ, कोइ मिला न हेरा ।।
ढाढ़ मारि कै राजा रोवा। केइ चितउरगढ़-राज बिछोवा ? ।।

पाठ-भेद—१. सुसार=स्वादिष्ट रसोई। २. नारी। ३. जिउ हमार पिउ लेबे अहा। दरसन देउ लेउ जब चहा=मेरा जीव प्रिय-दर्शन को अड़ा हुआ है। उसे दर्शन कराकर जब चाहो ले लो।

कहाँ मोर सब दरब भंडारा। कहाँ मोर सब कटक खँधारा ?॥
कहाँ तुरंगम बाँका बली। कहाँ मोर हस्ती सिंघली ?॥
कहँ रानी पदमावति, जीउ बसै जेहि पाहँ।
'मोर मोर' कै खोएउँ, भूलि गरब अवगाह ॥८॥

व्याख्या—इधर राजा रत्नसेन बहता हुआ वहाँ जा लगा, जहाँ उसका सन्देश ले जाने के लिए एक कौआ तक नहीं दिखाई पड़ता था। वहाँ पर्वत के समान एक टीला था जिसमें सब कुछ कपूर और मूँगा ही था; अर्थात् वह टीला कपूर और मूँगों का बना हुआ था। रत्नसेन ने उस टीले के ऊपर चढ़कर चारों तरफ देखा परन्तु उसे अपना एक भी साथी नजर नहीं आया। धन को सेंत कर रखने पर अन्त में उसके हाथ कुछ भी नहीं आया; अर्थात् सारा धन नष्ट हो गया। रावण, जो लंका जैसी समृद्ध नगरी का रहने वाला था, अन्त में वह भी इस संसार से गायब हो गया। अन्त समय प्रयत्न करने पर भी उसे अपना कोई साथ देने वाला नजर नहीं आया। भाव यह है कि रावण जैसा बलशाली राजा भी अन्त में अपने साथ कुछ भी नहीं ले जा सका और उसे अकेले ही जाना पड़ा। यह सोच राजा रत्नसेन धाड़ मार कर रोने लगा कि किसने मुझसे चित्तौड़ का राज्य छीन लिया, अर्थात् किसने मुझे चित्तौड़ के मार्ग से दूर यहाँ ला पटका ? मेरा सारा धन और खजाना कहाँ चला गया, मेरी सारी सेना और डेरे-तम्बू कहाँ गए ? मेरे बाँके और बलवान घोड़े तथा सिंहली हाथी कहाँ विलीन हो गए।

मेरी वह पद्मावती रानी कहाँ है जिसमें सदैव मेरे प्राण बसते थे ? मैंने गर्व में डूब कर—'मेरा-मेरा' करके सब कुछ खो दिया।

टिप्पणी—(१) अलंकार—स्मृति अलंकार।

(२) 'अहा जो······न हेरा'—पंक्ति का एक अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि जो रावण का निवास-स्थान, अर्थात् लंका थी, वह भी गायब हो गई थी और खोजने पर भी कहीं दिखाई नहीं पड़ रही थी। किम्वदन्ती है कि रावण की सोने की लंका रावण की मृत्यु के उपरान्त समुद्र में समा गई थी।

(४३३)

भँवर केतकी गुरु जो मिलावै। माँगै राज बेगि सौ पावै[१]॥
पदमिनि-चाह जहाँ सुनि पावौं। परौं आगि औ पानि धँसावौं॥
खोजौं परबत मेरु पहारा। चढ़ौं सरग औ परौं पतारा॥
कहाँ सो गुरु पावौं उपदेसी। अगम पंथ जो कहै गवेसी[२]॥

पाठ-भेद—१. चंपा भँवरा कर जो मेरावा। माँगै राजा बेगि न पावा=चम्पक और भ्रमर का जो मिलाप होता है, राजा रत्नसेन उसी प्रकार पद्मावती से मिलना चाहता था परन्तु शीघ्र ऐसा होने वाला नहीं था।

२. सँदेसी=सन्देश देने वाला।

परेउँ समुद्र माहँ अवगाहा। जहाँ न बार पार, नहिं थाहा ॥
सीता-हरन राम संग्रामा। हनुवँत मिला त पाई रामा ॥
मोहिं न कोइ, बिनवौं केहि रोई। को बर बाँधि गवेसी होई ? ॥
भँवर जो पावा कँवल कहँ, मन चीता बहु केलि।
आइ परा कोइ हस्ती, चूर कीन्ह सो बेलि ॥६॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन पद्मावती के वियोग में विलाप करता हुआ कहता है कि जो गुरु मुझ भ्रमर को मेरी केतकी पद्मावती से मिला दे, वह मुझसे यदि मेरा राज्य भी माँगें तो वह उसे तुरन्त मिल जायेगा। मैं पद्मावती की खबर जहाँ भी सुन पाऊँगा तो उसके पास पहुँचने के लिए आग में कूद पड़ने को तैयार हो जाऊँगा और जल में घुस पड़ने में भी संकोच नहीं करूँगा। मैं पर्वत और पहाड़ों में उसकी खोज करूँगा और उसे प्राप्त करने के लिए आकाश पर चढ़ जाऊँगा, और पाताल में भी घुस जाऊँगा। मैं ऐसे गुरु को कहाँ पाऊँ जो मुझे पद्मावती को प्राप्त करने का तरीका बताये और यह कहे कि वह उस दुर्गम पंथ को जानता है जहाँ पद्मावती है। (गवेसी = गवेषणा करने वाला, जानने वाला)। मैं अथाह सागर में पड़ा हुआ हूँ— जहाँ न मुझे उसका कूल-किनारा मिलता है और न थाह। सीता-हरण होने पर तो राम ने युद्ध किया था और उन्हें सीता तभी प्राप्त हुई थी, जब उनकी हनुमान से भेंट हुई थी; अर्थात् हनुमान जैसा सहायक मिलने पर ही राम सीता को पुनः प्राप्त करने में समर्थ हो सके थे। परन्तु मेरे पास तो कोई भी सहायक नहीं है, फिर मैं रोकर किससे प्रार्थना करूँ और ऐसा कौन है जो प्रतिज्ञा करके पद्मावती की खोज करने को तैयार हो जाय।

भ्रमर ने कमल को प्राप्त किया था और उसके साथ मनमानी क्रीड़ा कर रहा था परन्तु उसी समय वहाँ कोई हाथी आ निकला जिसने कमल की बेल को चूर-चूर कर डाला; अर्थात् राजा रत्नसेन पद्मावती को प्राप्त कर उसके साथ मनमाना भोग-विलास कर रहा था कि इतने में दुर्भाग्य ने आकर उसके सम्पूर्ण सुख-संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर पद्मावती से उसका वियोग करवा दिया।

टिप्पणी—(१) अलंकार—रूपक।
(२) दोहे में 'नियतिवाद' का प्रभाव है।

(४३४)

काहि पुकारौं, का पहँ जाउँ। गाढ़े मीत होइ एहि ठाऊँ ॥
को यह समुद मथै बल गाढ़ै। की मथि रतन पदारथ काढ़ै ? ॥
कहाँ सो बरह्मा, बिसुन महेसू। कहाँ सुमेरु, कहाँ वह सेसू ? ॥
को अस साज देइ मोहिं आनी। बासुकि दाम, सुमेर मथानी ॥
को दधि-समुद मथै जस मथा ? करनी सार न कहिए कथा ॥

जौ लहि मथै न कोइ देइ जीऊ। सूधी अँगुरि न निकसै घीऊ ॥
लेइ नग मोर समुद भा बटा। गाढ़ परै तौ लेइ परगटा ॥
लीलि रहा अब ढील होइ, पेट पदारथ मेलि।
को उजियारा करै जग, झाँपा चंद उघेलि ? ॥१०॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन विलाप करता हुआ कहता है—मैं किसे पुकारूँ और किसके पास सहायता के लिए जाऊँ ? ऐसा कौन है जो इस संकट के समय ऐसे स्थान पर मेरा मित्र बनेगा ? ऐसा कौन है जो अपने भारी बल द्वारा इस समुद्र को मथ डाले और मथकर इसमें से रत्न और हीरे अर्थात् मेरी पद्मावती को बाहर निकाल कर लाए। (जायसी ने पद्मावती के लिए प्रायः 'रतन पदारथ' शब्दों का प्रयोग किया है)। वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहाँ हैं, वह सुमेरु पर्वत और शेषनाग कहाँ है ? ऐसा कौन है जो मुझे ऐसा सामान लाकर दे, जिसमें शेषनाग रूपी रस्सी और सुमेरु रूपी मथानी हो ? ऐसा कौन है जो इस दधि-समुद्र को उसी प्रकार मथ डाले, जैसे यह प्राचीन काल में मथा गया था। केवल बात करने से क्या होता है, मुख्य वस्तु तो करनी होती है; अर्थात् व्यर्थ की बातों में कुछ नहीं रखा है। कोई ऐसा करके दिखा दे, तभी बात बन सकती है। जब तक कोई अपने प्राणों पर खेल इस समुद्र को नहीं मथेगा, तब तक यह आसानी से मेरी पद्मावती को मुझे नहीं लौटायेगा, क्योंकि सीधी उंगली से घी कभी बर्तन में से नहीं निकाला जा सकता। यह समुद्र तो मेरे हीरे (पद्मावती) को लेकर चलता बना। अब तो यह उसे लेकर तभी प्रगट होगा जब इस पर कोई गहरा संकट पड़ेगा; अर्थात् जब कोई इस समुद्र को दबायेगा, तभी यह मजबूर होकर मेरी पद्मावती को मुझे वापस देगा, अन्यथा नहीं देगा।

यह मेरे रत्न (पद्मावती) को निगल कर अब चुपचाप हो बैठ गया है; अर्थात् अब शान्त हो गया है। ऐसा कौन है जो छिपे हुए चन्द्रमा को पुनः मुक्त कर संसार में प्रकाश फैला दे; अर्थात् ऐसा कौन है जो मेरी पद्मावती को मुझे दिलवा कर पुनः मेरे जीवन में सुख-शान्ति ला दे।

टिप्पणी—अलंकार—रूपक और द्रष्टान्त।

(४३५)

ए गोसाइँ ! तू सिरजन हारा। तुइँ सिरजा यह समुद अपारा ॥
तुइँ अस गगन अंतरिख थाँभा। जहाँ न टेक, न थूनि, न खाँभा ॥
तुइँ जल ऊपर धरती राखी। जगत भार लेइ भार न थाकी ॥
चाँद सुरुज औ नखतन्ह-पाँती। तोरे डर धावहिं दिन-राती ॥
पानी, पवन, आगि औ माटी। सब के पीठ तोरि है साँटी ॥
सो मूरुख औ बाउर अन्धा। तोहि छाँड़ि चित औरहि बंधा ॥
घट-घट जगत तोरि है दीठी। हौं अंधा जेहि सूझ न पीठी ॥

पवन होइ भा पानी, पानि होइ भा आगि।
आगि होइ भा माटी, गोरखधंधै लागि ॥११॥

व्याख्या—रत्नसेन चारों ओर से निराश हो अन्त में भगवान की स्तुति करने लगा कि हे स्वामी ! तू ही सब का सिरजनहार है। तूने ही इस अपार समुद्र की रचना की है। तूने आकाश को अन्तरिक्ष में इस प्रकार थाम रखा है कि उसके नीचे न कोई टेक है, न थूनी है और न कोई खम्भा ही है; अर्थात् तूने आसमान को निराधार ऊपर थाम रखा है। तू ही धरती को जल के ऊपर टेके हुए है। तूने सारे संसार का भार अपने ऊपर ले रखा है। परन्तु फिर भी नहीं थकता। चन्द्र, सूर्य और तारागणों की पंक्तियाँ तेरे भय के कारण रात-दिन दौड़ती रहती हैं। जल, पवन, अग्नि और मिट्टी—इन सब पर तेरा सदैव शासन रहता है। वह मूर्ख, पागल और अन्धा है जो तुझे छोड़ किसी अन्य में मन लगाता है या आराधना करता है। जगत में घट-घट में अर्थात् प्रत्येक स्थान पर तेरी दृष्टि रहती है, परन्तु ऐसा अन्धा तो मैं ही हूँ जिसे अपनी पीठ तक नहीं दिखाई देती। (मनुष्य को अपनी पीठ नहीं दिखाई देती, क्योंकि वह पीछे की ओर होती है।)

ईश्वर ने पहले पवन की रचना की, फिर पवन से पानी बनाया और फिर पानी से अग्नि बनाई। अग्नि से मिट्टी बनी और इस प्रकार ईश्वर ने इन सबके सहयोग से इस गोरखधन्धे (संसार) की रचना की। या इन्हीं का गोरखधन्धा संसार में लगा हुआ है।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने उपनिषदों की भाषा में ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हुए अन्त में वायु, जल, अग्नि और मिट्टी—इन चारों तत्त्वों के गोरखधन्धे से इस सृष्टि के निर्माण होने की बात कही है जो इस्लामी मत के अनुरूप है। प्राचीन तथा मध्यकाल में भी अनेक दार्शनिकों की यही मान्यता थी। महाभारत में ऐसे मत को लोकायत-दर्शन का अङ्ग कहा गया है।

(४३६)

तुइँ जिउ तन मेरवसि देई आऊ। तुही बिछोवसि, करसि मेराऊ ॥
चौदह भुवन सो तोरे हाथा। जहँ लगि बिछुर आव एक साथा ॥
सब कर मरम भेद तोहि पाहाँ। रोवँ जमावसि टूटै जाहाँ ॥
जानसि सबै अवस्था मोरी। जस बिछुरी सारस कै जोरी ॥
एक मुए ररि मुवै जो दूजी। रहा न जाइ, आउ अब पूजी ॥
झूरत तपत बहुत दुख भरऊँ। कलपौं माथ बेगि निस्तरऊँ ॥
मरौं सो लेइ पदमावति नाऊँ। तुइ करतार करेसि एक ठाऊँ ॥
दुख सौं पीतम भेंटि कै, सुख सौं सोव न कोइ।
एहि ठाँव मन डरपै, मिलि न बिछोहा होइ ॥१२॥

व्याख्या—रत्नसेन ईश्वर की स्तुति करता हुआ कह रहा है कि तू ही शरीर और प्राण को एक-दूसरे से मिला कर आयु देता है। तू ही पुनः उनका बिछोह करा देता है और फिर उन्हें मिला देता है। ये चौदह भुवन तेरे ही हाथों में हैं, अर्थात् तू ही इनका शासन-कर्त्ता है। यहाँ पर शरीर और प्राण एक साथ आते हैं और फिर बिछुड़ जाते हैं; अर्थात् प्राणी जब उत्पन्न होता है तो उसका शरीर और प्राण साथ-साथ आते हैं परन्तु अन्त में (मृत्यु होने पर) वे एक-दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। सब का रहस्य तेरे पास है; अर्थात् तू सबका रहस्य जानता है। यदि किसी का एक रोम भी टूट जाता है तो तू उसी स्थान पर दूसरा रोम जमा देता है। भाव यह है कि तेरे शासन में किसी भी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होने पाती। तू मेरी सारी दशा को जानता है कि मैं कैसे संकट में पड़ा हूँ। मेरी दशा इस समय ऐसी हो रही है—जैसे सारस की जोड़ी बिछुड़ जाने पर सारस की होती है। (सारस की जोड़ी बिछुड़ने पर उनमें से एक विलाप करता हुआ मर जाता है और फिर दूसरा भी जीवित नहीं रहता)। अब मेरी अवस्था पूरी हो चुकी है, अर्थात् मेरा मृत्यु-काल निकट आ पहुँचा है, अब मैं जीवित नहीं रह सकता। मैं पद्मावती के वियोग में सूखते और तपते हुए बड़ा दुख पा रहा हूँ। अब तो यही मन करता है कि अपना सिर काट लूँ जिससे इस पीड़ा से शीघ्र मुक्ति मिल जाय। मैं उसी पद्मावती का नाम लेता हुआ मरूँगा। तू करतार है! मृत्यु के उपरान्त हम दोनों को एक स्थान पर मिला देना।

अनेक दुख उठाने के उपरान्त प्रियतम से भेंट हो जाने के बाद भी इस संसार में कोई सुख से नहीं सो पाता। इसी स्थान पर आकर मन डरने लगता है कि प्रियतम से मिलन होने के पश्चात् कहीं फिर बिछोह न हो जाय।

टिप्पणी—इस पद में रत्नसेन की मार्मिक व्यथा का बड़ा कारुणिक चित्र अंकित हुआ है। वह पद्मावती के वियोग की पीड़ा को सहने में असमर्थ हो मर जाना चाहता है। दोहे में करुणा का यह भाव और भी अधिक गहन और हृदय-द्रावक हो उठा है। भावी संकट की आशंका मन को कभी चैन नहीं लेने देती।

(४३७)

कहि कै उठा समुद पहँ आवा। काढ़ि कटार गीउ महँ लावा॥
कहा समुद, पाप अब घटा। बाह्मन रूप आइ परगटा॥
तिलक दुवादस मस्तक कीन्हे। हाथ कनक-बैसाखी लीन्हे॥
मुदा स्रवन, जनेऊ काँधे। कनक-पत्र धोती तर बाँधे॥
पाँवरि कनक जराऊँ पाऊँ। दीन्हि असीस आइ तेहि ठाऊँ॥
कहु रे कुँवर! मोसौं सत बाता। काहे लागि करसि अपघाता॥
परिहँस मरसि कि कौनिउँ लाजा। आपन जीउ देसि केहि काजा॥
जिनि कटार गर लावसि, समुझि देखु मन आप।
सकति जीउ जौं काढ़ै, महा दोष औ पाप॥१३॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन ईश्वर की स्तुति करने के उपरान्त पद्मावती के वियोग में आत्मघात करने की इच्छा से समुद्र के पास आया और कटार निकाल कर अपनी गर्दन पर रखी। यह देख समुद्र ने मन में सोचा कि इस राजा का पाप अब समाप्त हो गया; अर्थात् इसका प्रायश्चित्त पूरा हो चुका। (रत्नसेन धन के मद में अन्धा हो गया था और उसने ब्राह्मण को दान देने से इन्कार कर दिया था, यही उसका पाप था जो धन के नष्ट हो जाने से तथा राजा द्वारा ईश्वर की स्तुति करने से जाता रहा था।) इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि समुद्र ने सोचा कि अब यहाँ पाप की घटना घटित होने वाली है; क्योंकि राजा का अपघात करना भयंकर पाप माना जाता है। अस्तु, यह सोच कर समुद्र ने ब्राह्मण का रूप धारण किया और राजा के सामने आ खड़ा हुआ। उसके मस्तक पर बारहवानी सोने के समान चमकीला तिलक लगा हुआ था और हाथ में सोने का डंडा था। वह कानों में मुद्रा तथा कन्धे पर जनेऊ धारण किए था। अधोभाग में कनक-पत्र नामक वस्त्र की धोती बाँधे था। पैरों में रत्न-जटित सोने की खड़ाऊँ थीं। ऐसे उस ब्राह्मण वेशधारी समुद्र ने उस स्थान पर आकर राजा को आशीर्वाद दिया और कहा कि हे राजकुमार! तुम मुझसे सत्य बात कहो। तुम किस लिए आत्मघात कर रहे हो—किसी ईर्ष्या-वश या किसी लज्जा के कारण? तुम अपने प्राणों का अन्त किस कारण से कर रहे हो?

तुम अपनी गर्दन में कटार मत मारो। अपने मन में सोच-विचार कर देख लो कि जो बलपूर्वक अपने प्राणों को निकाल कर आत्मघात करता है, उसे महापाप और दोष लगता है।

टिप्पणी—जायसी ने इस पद द्वारा 'आत्महत्या महापाप है'—इस शास्त्रवाक्य को बड़े प्रभावशाली ढंग से व्यंजित किया है।

(४३८)

को तुम्ह उतर देइ, हो पाँड़े। सौ बोलै जाकर जिउ भाँड़े॥
जंबूदीप केर हौं राजा। सो मैं कीन्ह जो करत न छाजा॥
सिंघलदीप राजघर-बारी। सो मैं जाइ बियाही नारी॥
बहु बोहित दायज उन दीन्हा। नग अमोल निरमर भरि लीन्हा॥
रतन पदारथ मानक मोती। हुती न काहु के संपति ओती॥
बहुल घोड़, हस्ती सिंघली। और सँग कुँवरि लाख दुइ चलीं[1]॥
ते गोहने सिंघल पदमिनी। एक सो ऐक चाहि रुपमनी॥

पाठ-भेद—१. कुँवर लाख दुइ बली=दो लाख बलशाली राजकुमार दिए। यह पाठ असंगत है।

पदमावती जग रूपमति, कहँ लगि कहौं दुहेल ।
तेहि समुद महँ खोएउँ, हौं का जिऔं अकेल ? ।।१४।।

व्याख्या ब्राह्मण वेशधारी समुद्र की बातों को सुन राजा रत्नसेन उससे कहने लगा कि हे पंडित ! तुम्हारी बात का उत्तर कौन दे ? उत्तर वही दे सकता है, जिस के प्राण उसके शरीर में हों । (भाव यह है कि रत्नसेन के प्राण तो पद्मावती के पास हैं, फिर वह उत्तर कैसे दे सकता है ।) मैं भारतवर्ष का राजा हूँ । परन्तु मैंने ऐसा कार्य किया जिसे करना मुझे शोभा नहीं देता था; अर्थात् जो उचित नहीं था । सिहलद्वीप के राजा की एक राजकुमारी थी । मैंने सिंहलद्वीप जाकर उसके साथ विवाह किया । सिंहल नरेश ने मुझे अनेक जहाज भर कर दहेज दिया । मैंने दहेज में प्राप्त अमूल्य और निर्मल रत्नों को उन जहाजों में भर लिया । उन्होंने मुझे इतने रत्न, हीरे, माणिक्य और मोती दिए कि उतनी सम्पत्ति संसार में किसी के पास नहीं होगी । उन्होंने अनेक घोड़े और सिंहली हाथी दिए और साथ में दो लाख राजकुमारियाँ भी चलीं । वे सब राजकुमारियाँ सिंहलद्वीप की पद्मिनी नारियाँ थीं, जिनमें एक-से-एक बढ़कर रूपवती थी ।

पद्मावती संसार में सर्वश्रेष्ठ रूपवती थी ।। हे पण्डित ! मैं तुमसे अपना दुःख कहाँ तक कहूँ ! मैंने अपनी ऐसी पद्मावती को समुद्र में खो दिया है । अब मैं अकेला क्या जीवित रहूँ ? अर्थात् पद्मावती के वियोग के कारण ही मैं आत्महत्या कर रहा हूँ ।

(४३९)

हँसा, समुद, होइ उठा अँजोरा । जग बूड़ा सब कहि कहि 'मोरा'
तोर होइ तोहि परे न बेरा । बूझि बिचारि तहूँ केहि केरा ।।
हाथ मरोरि धुनै सिर झाँखी । पै तोहि हिये न उघरै आँखी ।।
बहुतै आइ रोइ सिर मारा । हाथ न रहा झूठ संसारा ।।
जो पै जगत होति फुर माया । सैंतत सिद्धि न पावत, राया ।।
सिद्धैं दरब न सैंता गाड़ा । देखा भार चूमि कै छाँड़ा ।।
पानी कै पानी महँ गई । तू जो जिया कुसल सब भई ।।
जाकर दीन्ह कया जिउ, लेइ चाह जब भाव ।
धन लछिमी सब ताकर, लेइ त का पछिताव ।।१५।।

व्याख्या—राजा रत्नसेन की आत्मघात-सम्बन्धी बातें सुनकर समुद्र हँसने लगा और उसके हँसने से चारों ओर प्रकाश फैल गया । उसने राजा रत्नसेन से कहा कि सारा संसार 'मेरा, मेरा' कहते नष्ट हो गया । यदि वह द्रव्य तेरा होता तो तेरा जहाजी-बेड़ा तुझ से अलग न हो जाता । और तू स्वयं विचार कर सोच कि तू किसका है । तू अपना सब कुछ खोकर हाथ मलता और सिर धुनता हुआ विलाप कर रहा है परन्तु इतने पर भी तेरे ज्ञान-चक्षु नहीं खुलते अर्थात् तुझे इस बात का ज्ञान नहीं

होता कि इस संसार में कोई किसी का नहीं है। बहुतों ने इस संसार में आकर रो-रोकर सिर पटके परन्तु अन्त में उनके हाथ कुछ भी नहीं लगा क्योंकि यह संसार झूठा है, असत्य है। यदि यह संसार माया के समान झूठा या असत्य न होकर सत्य होता तो हे राजा! तू द्रव्य का संचय करते हुए सिद्धि को नहीं प्राप्त कर पाता। भाव यह है कि तुझे सिद्धि तभी प्राप्त हुई जब तू अपने राज-पाट, धन-दौलत, परिजनों आदि का मोह त्याग कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए घर से निकल पड़ा था। सिद्ध पुरुष धन का संचय कर उसे कभी धरती में गाड़ कर नहीं रखते। वे तो उसे भार-स्वरूप समझ केवल चूम कर छोड़ देते हैं। तेरी सम्पत्ति पानी की थी, अतः पानी में ही समा गई। यही कुशल हुई कि तू स्वयं जीता बच गया। भाव यह है कि सम्पत्ति जल के समान स्थिर होकर एक स्थान पर नहीं रहती, इसीलिए तेरी सारी सम्पत्ति समुद्र में डूब गई।

जिस ईश्वर ने यह शरीर और प्राण दिए हैं, उन्हें वह जब इच्छा होती है, तभी वापस ले लेता है। यह धन और लक्ष्मी—सब कुछ ईश्वर की है। यदि उसने इसे तुझे देकर फिर वापस ले लिया तो इसमें तेरे पछताने का क्या कारण है ? अर्थात् जिस ईश्वर ने तुझे वह सब दिया था, उसी ने वापस ले लिया, फिर तू पछताता क्यों है ?

(४४०)

अनु, पाँड़े! पुरुषहि का हानी[1]। जौ पावौं पदमावति रानी।।
तपि कै पावा, मिलि कै फूला। पुनि तेहि खोइ सोइ पथ भूला।।
पुरुष न आपनि नारि सराहा। मुए गए सँवरै पै चाहा।।
कहँ अस नारि जगत उपराहीं ?। कहँ अस जीवन कै सुख-छाहीं ?।।
कहँ अस रहस भोग अब करना। ऐसे जिए चाहि भल मरना।।
जहँ अस परा[2] समुद नग दीया। तहँ किमि जिया चहै मरजीया ?।।
जस यह समुद दीन्ह दुख मोकाँ। देइ हत्या झगरौं सिवलोका।।
का मैं ओहि क नसावा, का सँवरा सो दावँ ?।
जाइ सरग पर होइहि, ऐहि कर मोर नियाव।।१६।।

व्याख्या—फिर राजा रत्नसेन ब्राह्मण रूपी समुद्र से कहने लगा कि हे पंडित ! यदि मुझे मेरी रानी पद्मावती मिल जाय तो इसमें ईश्वर की क्या हानि होगी। मैंने तपस्या करने के उपरान्त उसे प्राप्त किया था और उससे मिलकर मैं आनन्दित हुआ था। परन्तु उसे पुनः खोकर मैं अपना मार्ग भूल गया हूँ; अर्थात् इधर-इधर भटकता फिर रहा हूँ। पुरुष कभी भी अपनी स्त्री (पत्नी) की सराहना नहीं करता परन्तु उसके

पाठ-भेद—१. फुर कहिअ कहानी=यह कहानी तब कहो। २. बरै=जलते हैं।

मर जाने पर उसकी बहुत याद करता है या करना चाहता है। इस संसार में ऐसी दूसरी स्त्री कौन है, जो पद्मावती से बढ़कर हो ? और जीवन को ऐसी सुखद और शीतल छाया अन्यत्र कहाँ प्राप्त हो सकती है। अब मैं वैसी आनन्द-क्रीड़ा कैसे कर सकूँगा। ऐसे जीवन से तो मर जाना अच्छा है। जहाँ समुद्र में रत्न के समान प्रकाशवान ऐसा दीपक (पद्मावती) गिर पड़ा हो, वहाँ पर गोताखोर कैसे जीवित रहना चाहेगा; अर्थात् जब गोताखोर यह जानता है कि समुद्र के तल में ऐसा अमूल्य रत्न पड़ा हुआ है तो वह उसे प्राप्त न कर सकने की ग्लानि के कारण मर जाना अधिक पसन्द करेगा। इस समुद्र ने जिस प्रकार मुझे दुख दिया है, उसी प्रकार मैं आत्म-हत्या कर उसका पाप इस समुद्र के सिर पर चढ़ा स्वर्ग में ईश्वर के सम्मुख न्याय के लिए इससे झगड़ूँगा अर्थात् ईश्वर से शिकायत करूँगा कि इसने मुझे बहुत दुख दिया था, इसलिए मेरा न्याय कीजिए।

मैं ईश्वर से कहूँगा कि मैंने इसका कौन-सा अनिष्ट किया था, जिसका स्मरण कर इसने इस प्रकार मुझसे अपना बदला लिया है। अब तो स्वर्ग में जाकर ही इसका और मेरा न्याय होगा।

(४४१)

जौ तु मुवा, कित रोवसि खरा। ना मुइ मरै, न रोवै मरा॥
जो मरि भा औ छाँड़ेसि काया। बहुरि न करै मरन कै दाँया॥
जो मरि भएउ न बूड़ै नीरा। बहा जाइ लागै पै तीरा॥
तुही एक मैं बाउर भेंटा। जैस राम, दसरथ कर बेटा॥
ओहू नारि कर परा बिछोवा। एहि समुद महँ फिरि-फिरि रोवा॥
उदधि आइ तेइ बंधन कीन्हा। हति दसमाथ अमरपद दीन्हा[1]॥
तोहि बल नाहि-मूँदु अब आँखी। लावौं तीर, टेकु बैसाखी॥
बाउर अंध प्रेम कर, सुनत लुबुधि भा बाट।
निमिष एक महँ लेइगा, पदमावति जेहि घाट॥१७॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन के प्रलाप को सुन ब्राह्मण वेशधारी समुद्र ने उससे कहा कि—यदि तू मर गया था तो फिर यहाँ खड़ा हुआ क्यों रो रहा है। न तो मरा हुआ पुनः मरता है और न रोता ही है; अर्थात् जब तू मर ही चुका है तो फिर आत्महत्या क्यों कर रहा है और क्यों खड़ा रो रहा है। जो मर चुका है और जिसने अपने शरीर को छोड़ दिया है, वह फिर दुबारा मरने का प्रयत्न नहीं करता। भाव

पाठ-भेद—१. पुनि जौं राम खोइ भा मरा। तब एक अंत भएउ मिलि तरा=परन्तु जब अपना रामत्व खोकर वह मृत हो गया तब वह एकान्त हो गया और उससे मिल कर तर गया। (यहाँ मृत से भाव अपना व्यक्तित्व मिटा चेतना-शून्य हो जाने से है।)

यह है कि यदि जीवात्मा मर कर पुनः मरने का आयोजन न करे अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाय तो उसका मरना ठीक भी है। परन्तु यदि वह पुनः जीवन धारण करने के लिए ही मरता है तो उसका मरना व्यर्थ है। सच्चा साधक संसार की दृष्टि में अपने को मृत बना लेता है और मृत्यु से निडर हो जाने के कारण सच्चे अर्थ में जीवित हो जाता है। (जायसी को यह कल्पना बहुत प्रिय है। पीछे भी वे कई स्थलों पर ऐसे ही भाव व्यक्त कर चुके हैं।) जो मर जाता है, वह जल में नहीं डूबता और बह कर किनारे पर जा लगता है। (यह वैज्ञानिक सत्य है कि मुरदा जल में नहीं डूबता और जल के ऊपर ही उतराता रहता है। लहरें उसे किनारे पर लगा देती हैं।) भाव यह है कि जो सचमुच मर कर जीवन्मुक्त हो जाता है, वह पुनः संसार के मायाजाल में नहीं फँसता और अपने लक्ष्य (ईश्वर) को प्राप्त कर अमर हो जाता है। अतः रत्नसेन का यह दम्भ करना व्यर्थ है कि उसने तपस्या कर पद्मावती को प्राप्त किया था।

समुद्र आगे कहता है कि मुझे तू ही एक ऐसा पागल मिला है जैसा कि राजा दशरथ का बेटा राम था। राम को भी अपनी पत्नी का वियोग सहना पड़ा था और वह भी इसी समुद्र में रोता हुआ भटकता फिरा था। परन्तु उसने आकर इस समुद्र को बाँध दिया था; अर्थात् इस पर सेतु बाँधा था और रावण का वध कर उसे स्वर्ग भेज, अपनी पत्नी को प्राप्त किया था। परन्तु तुझ में राम की-सी शक्ति नहीं है, अर्थात् तू शक्ति द्वारा समुद्र को बाँधकर अपनी पद्मावती को प्राप्त करने में असमर्थ है। इसलिए अब तू अपनी आँख बन्द कर ले। मैं अपनी बैशाखी का सहारा देकर तुझे तट पर पहुँचा दूँगा।

वह प्रेम में अन्धा बना हुआ बावला रत्नसेन समुद्र की यह बात सुन मुग्ध हो समुद्र द्वारा बताए मार्ग पर चल पड़ा। समुद्र ने उसे क्षण मात्र में ही उस तट पर पहुँचा दिया जहाँ पद्मावती थी।

(४४२)

पदमावति कहँ दुख तस बीता। जस असोक-बीरो तर सीता॥
कनक-लता दुइ नारंग फरी। तेहि के भार उठि होइ न खरी॥
तेहि पर अलक भुअंगिनि डसा। सिर पर चढ़ै हिए परगसा॥
रही मृनाल टेकि दुख-दाधी। आधी कँवल भई, ससि आधी॥
नलिन-खंड दुइ तस करिहाऊ। रोमावली बिछूक कहाऊँ[1]॥
रही टूटि जिमि कंचन-तागू। को पिउ मेरवै, देइ सोहागू॥
पान न खाइ करै उपवासू। फूल सूख, तन रहीं न बासू॥
गगन धरति जल बुड़ि गए[2], बूड़त होइ निसाँस।
पिउ पिउ चातक ज्यों ररै, मर सेवाति पियास॥१८॥

पाठ-भेद—१. बिछोउ कर भाऊ=उसकी रोमावली भी (उन दोनों खण्डों के) बिछोह का भाव लिए हुए थी। २. जल पूरि चख=उसके चक्षु जल गिराते-गिराते आकाश और पृथ्वी को भर चुके थे।

व्याख्या—जायसी पद्मावती के विरह का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पति-विरह में पद्मावती का दुख इस प्रकार बीत रहा था, जैसे अशोक वृक्ष के नीचे सीता ने अपने दुख के दिवस व्यतीत किए थे। पद्मावती इस दुख के कारण इतनी दुर्बल हो गयी थी कि उससे उठकर खड़ा भी नहीं हुआ जाता था। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था जैसे स्वर्ण-लतिका में दो नारंगी के फल लगे हों और वह उनके भार के कारण पृथ्वी पर लेट गई हो। भाव यह है कि पद्मावती अपने पुष्ट स्तनों के भार के कारण धरती से उठकर खड़ी होने में अशक्त हो रही थी। उस पर मानो उसे उसकी अलक रूपी सर्पिणी ने डस लिया हो जो उसके सिर पर चढ़कर हृदय पर प्रकट हो रही थी; अर्थात् पद्मावती के केश खुलकर उसके हृदय पर पड़े रहते थे। उस दुख से दग्ध हो रही बाला ने शीतलता प्राप्त करने के लिए मृणाल (कमल की डंडी) का सहारा ले रखा था। इस प्रकार वह आधी कमल और आधी चन्द्रमा के समान प्रतीत हो रही थी। भाव यह है कि उसका आधा भाग विरहिणियों को दग्ध करने वाले दाहक चन्द्रमा से और आधा जल में रहने वाले शीतल मृणाल से बना था। (जायसी ने पद्मावती के लिए कमल और शशी—दोनों उपमानों का प्रयोग किया है।) उसे देखकर ऐसा ज्ञात होता था, मानो वह आधे भाग में कमल और आधे में शशी थी।

उसका कटि-प्रदेश कमल-नाल के दो खण्डों के समान था तथा रोमावली उस पर ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो कमल-नाल पर बिच्छू बैठा हो और उसके दंश के प्रभाव से वह स्थान काला पड़ गया हो। विरह के कारण उसकी कटि क्षीण होकर इस प्रकार टूट-सी रही थी जैसे सोने के धागे के दो टुकड़े हो गए हों। ऐसा कौन है जो प्रियतम से उसका मिलन कराए और उसे सौभाग्य प्रदान करे। (श्लेष से इसका दूसरा अर्थ यह होगा कि ऐसा कौन है जो सुहागा मिलाकर स्वर्ण के धागे के इन दोनों खंडों को मिलाकर एक कर सके। सुहागा मिलाने से सोने के टुकड़े आपस में मिलकर एक हो जाते हैं।) भाव यह है कि जब पति पद्मावती के कटि-प्रदेश में रमण करेगा तभी उसे सौभाग्य और शान्ति प्राप्त होगी। वह विरह-दुख के कारण पान तक नहीं खाती, अर्थात् निराहार करती हुई उपवास करती है। उसका फूल के समान कोमल शरीर विरह-ताप के कारण मुरझा कर सूख गया है और उसमें तनिक भी सुगन्धि अर्थात् सौन्दर्य नहीं रहा है।

जिस प्रकार जब सारी धरती और आकाश जल में डूब जाता है और जब चातक उस जल में डूबने लगता है तो वह इस भय के कारण साँस लेना बन्द कर देता है कि कहीं साँस के साथ उसके पेट में यह साधारण जल न चला जाय। वह तो उस स्थिति में भी 'पीऊ-पीऊ' रटता हुआ स्वाति-जल की प्यास में ही मर जाता है। इसी प्रकार पद्मावती सम्पूर्ण सुख-साधनों के रहते हुए भी न कुछ खाती है और न पीती है तथा बराबर अपने प्रियतम का नाम रटती रहती है।

टिप्पणी—अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(४४३)

लछिमी चंचल नारि परेवा। जेहि सत होइ छरै कै सेवा ।।
रतनसेन आवै जेहि घाटा। अगमन होइ बैठी तेहि बाटा ।।
औ भइ पदमावति कै रूपा। कीन्हेसि छाँह जरै जहँ धूपा ।।
देखि सो कँवल भँवर होइ धावा। साँस लीन्ह, वह बास न पावा ।।
निरखत आइ लच्छमी दीठी। रतनसेन तब दीन्ही पीठी।
जो भलि होति लच्छमी नारी। तजि महेस कत होत भिखारी ? ।।
पुनि धनि फिरि आगे होइ रोई। पुरुष पीठ कस दीन्ह निछोई ? ।।
हौं रानी पदमावति, रतनसेन तू पीउ।
आनि समुद महँ छाँड़ेहु, अब रोवौं देइ जीउ ।।१६।।

व्याख्या—लक्ष्मी कबूतरी की तरह चंचल होती है। वह जिसे भी अपने सत्य पर आरूढ़ देखती है उसी की पहले सेवा करती है और फिर उसे छल लेती है अर्थात् उसे धोखा दे छोड़ कर चली जाती है। (यहाँ कवि लक्ष्मी अर्थात् धन-दौलत की अस्थिरता के प्रति संकेत कर रहा है।) राजा रत्नसेन समुद्र के घाट पर आकर लगा था, लक्ष्मी उस घाट वाले मार्ग पर जाकर पहले से ही बैठ गई थी। उसने वहाँ पहुँच कर पद्मावती का रूप धारण कर लिया और समुद्र तट पर, जहाँ सदैव धूप जलाती रहती थी, छाया कर दी। जब रत्नसेन ने उसे देखा तो वह उसकी ओर उसी प्रकार दौड़ पड़ा जिस प्रकार भौंरा कमल की ओर झपटता है। पद्मावती का रूप धारण किए लक्ष्मी के पास पहुँचकर जब रत्नसेन ने साँस ली तो उसने उसमें से कमल की वह गन्ध आती हुई नहीं पाई जो पद्मिनी नारियों के शरीर से आती है। पास आकर जब उसने ध्यान से देखा तो उसे लक्ष्मी दिखाई पड़ी। यह देख रत्नसेन उसकी ओर पीठ करके खड़ा हो गया। यदि लक्ष्मी अच्छी स्त्री होती तो महादेव उसे त्याग कर भिखारी क्यों बन जाते। इसके उपरान्त वह सुन्दरी लक्ष्मी पुनः रत्नसेन के सामने जाकर खड़ी हो गई और रोकर उससे कहने लगी कि हे निष्ठुर पुरुष ! तू मेरी ओर पीठ फेर कर क्यों खड़ा हो गया है; अर्थात् मेरी उपेक्षा क्यों कर रहा है ?

मैं रानी पद्मावती हूँ और तू मेरा पति रत्नसेन है। तूने मुझे समुद्र में लाकर छोड़ दिया था। मैं अब रो-रो कर अपने प्राण दे दूँगी।

टिप्पणी—'जौ भलि······होत भिखारी'—पंक्ति में कवि उस प्रसिद्ध कथा की ओर संकेत करता प्रतीत होता है जिसके अनुसार महेश-पत्नी सती ने सीता का वेश धारण कर सीता-विरह में व्याकुल राम को छलना चाहा था। महेश ने इसके उपरांत ही उसे सीता-माता मानकर त्याग दिया था और भिखारी का वेश धारण कर लिया था। यहाँ कवि लक्ष्मी को सती मान रहा है जो ग़लत है।

(४४४)

मैं हौं सोइ भँवर औ भोजू। लेत फिरौं मालति कर खोजू ॥
मालति नारी, भँवरा पीऊ। लहि वह बास रहै थिर जीऊ ॥
का तुइँ नारि बैठि अस रोई। फूल सोइ पै वास न सोई ॥
भँवर जो सब फूलन कर फेरा। बास न लेइ मालतिहि हेरा ॥
जहाँ पाव मालति कर बासू। बारै जीउ तहाँ होइ दासू ॥
कित वह बास पवन पहुँचावै। नव तन होइ, पेट जिउ आवै ॥
हौं ओहि बास जीउ बलि देऊँ। और फूल कै बास न लेऊँ ॥
भँवर मालतिहि पै चहै, काँट न आवै दीठि।
सौंहैं भाल खाइ पै, फिरि कै देइ न पीठि ॥२०॥

व्याख्या—पद्मावती का रूप धारण किए लक्ष्मी की बातों को सुन राजा रत्नसेन ने उत्तर दिया—

मैं ऐसा भ्रमर और भोग का पारखी हूँ जो चारों ओर पद्मावती रूपी मालती की खोज में व्याकुल हुआ घूम रहा हूँ। स्त्री मालती और पति भौंरा होता है; अर्थात् जिस प्रकार भौंरा केवल मालती की सुगन्धि लेता है और उसी गन्ध का पान करने से उसके मन को शान्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार पति भी अपनी पत्नी को पाकर ही सन्तोष का अनुभव करता है। हे नारी ! तू इस प्रकार बैठकर क्यो रो रही है। तेरा रूप तो पद्मावती जैसा ही है, परन्तु तुझमें पद्मावती के शरीर से आने वाली वह सुगन्धि नहीं है अर्थात् तू नकली फूल के समान व्यर्थ है, जिसमें असली सुगन्धि नहीं होती। भौंरा सारे फूलों पर मँडराता फिरता है, परन्तु किसी भी फूल की गंध का पान नहीं करता। वह तो मालती की खोज में चारों तरफ हर फूल को देखता हुआ भटकता रहता है। और जिस स्थान पर उसे मालती-पुष्प की सुगन्धि मिल जाती है, वह वहीं उसका दास बनकर रम जाता है और उस पर अपने प्राणों को न्यौछावर कर देता है। पवन मेरी मालती के समान पद्मावती की सुगन्धि मुझ तक कब और कैसे पहुँचायेगा। उसे प्राप्त करते ही मेरा शरीर नया अर्थात् तरोताजा हो उठेगा और मेरे प्राण लौट आयेंगे अर्थात् मुझे नव-जीवन प्राप्त होगा। मैं तो उसी सुगन्धि पर अपने प्राणों को न्यौछावर करता हूँ तथा अन्य किसी भी फूल की गन्ध नहीं लेता; अर्थात् मैं अपनी पद्मावती को ही चाहता हूँ, अन्य किसी भी नारी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता।

भौंरा तो केवल मालती को ही चाहता है। उसे मालती-लता में लगे काँटे दिखाई नहीं देते। वह सम्मुख होकर मालती के उन काँटों को अपने हृदय पर भाले के समान झेलता है; अर्थात् उन काँटों से छिद जाता है परन्तु फिर भी घूम कर पीठ नहीं दिखाता अर्थात् हार नहीं मानता। इसी प्रकार मुझे पद्मावती को प्राप्त करने में चाहे कितने ही संकट क्यों न झेलने पड़ें, मैं हार नहीं मानूँगा।

(४४५)

तब हँसि कह राजा ओहि ठाऊँ । जहाँ सो मालति लेइ चलु, जाऊँ ॥
लेइ सो आइ पदमावति पासा । पानि पियावा मरत पियासा[1] ॥
पानी पिया कँवल जस तपा । निकसा सुरुज समुद महँ छपा ॥
मैं पावा पिउ समुद के घाटा । राजकुँवर मनि दिपै ललाटा ॥
दसन दिपै जस हीरा जोती । नैन-कचोर भरे जनु मोती ॥
भुजा लंक उर केहरि जीता । मूरत कान्ह देखि गोपीता ॥
जस राजा नल दमनहि पूछा । तस बिनु प्रान पिंड है छूँछा ॥
जस तू पदिक पदारथ, तैस रतन तोहि जोग ।
मिला भँवर मालति कहँ, करहु दोउ मिल भोग ॥२१॥

शब्दार्थ—कचोर=कटोरे । गोपीता=गोपियाँ । दमनहि=दमयन्ती को । पदिक=गले का एक आभूषण जो रत्न-जटित होता है ।

व्याख्या—तब राजा की बात सुन लक्ष्मी ने उससे हँस कर कहा कि मैं तुझे उस स्थान पर ले जाऊँगी जहाँ तेरी मालती अर्थात् पद्मावती है, चल, मेरे साथ चल । यह कहकर लक्ष्मी उसे पद्मावती के पास ले आई। रत्नसेन और पद्मावती दोनों के प्राण एक-दूसरे को देख इस तरह सन्तुष्ट हो उठे जैसे प्यास से मरते हुए को पानी पिला दिया गया हो । पद्मावती रत्नसेन को देख उसी प्रकार प्रसन्न हो उठी जैसे तपते हुए कमल को पानी मिल गया हो और समुद्र में छिपा हुआ सूर्य पुनः उदय हो उठा हो । लक्ष्मी पद्मावती से कहने लगी कि मैंने तेरे प्रियतम को समुद्र के घाट पर पाया है । इस राजकुमार का ललाट मणि के समान दमक रहा है । इसके दाँत हीरों के समान चमक रहे हैं, और नेत्रों रूपी कटोरों में मानो आँसू रूपी मोती भरे हुए हैं । इसने अपनी भुजाओं, कटि और वक्षस्थल से सिंह को भी जीत लिया है अर्थात् इसके ये अंग सिंह के इन अंगों से भी श्रेष्ठ हैं । तू ऐसे अपने उस प्रियतम को देख उसी प्रकार प्रसन्न हो उठ, जिस प्रकार गोपिकाएँ कृष्ण को देख खिल उठती थीं । जिस प्रकार राजा नल दमयन्ती की तलाश करता हुआ अन्त में उससे जा मिला था और पहले उसके वियोग में प्राणहीन-सा होकर भटकता फिरा था, उसी प्रकार तू भी रत्नसेन के बिना इस प्रकार प्राणहीन हो रही थी जैसे प्राण से रहित होने पर यह शरीर छूछा अर्थात् व्यर्थ रहता है ।

लक्ष्मी उन दोनों को आशीष देती हुई कहती है कि जिस प्रकार की तू (पद्मावती) श्रेष्ठ पदिक है उसी प्रकार तुझ में जड़े जाने योग्य यह रत्न (रत्नसेन)

पाठ-भेद- १. डा० गुप्त ने प्रथम दो अर्द्धालियों का पाठ इस प्रकार माना है—
तब हँसि बोली राजा आऊ । देखेउँ पुरुख तोर मनि भाऊ ॥
निस्त्रै भँवर मालतिहि आशा । लै गै पदुमावति के पासा ॥

तुझ को मिल गया है। मानो भ्रमर अपनी मालती से जा मिला हो, उसी प्रकार तुम दोनों मिलकर खूब भोग-विलास करो।

(४४६)

पदिक पदारथ खीन जो होती। सुनतहि रतन चढ़ी मुख जोती ।।
जानहुँ सूर कीन्ह परगासू। दिन बहुरा, भा कँवल-बिगासू ।।
कँवल जो बिहँसि सूर-मुख दरसा। सुरुज कँवल दिस्टि सौं परसा ।।
लोचन-कँवल सिरी-मुख सूरू। भएउ अनंद दुहूँ रस-मूरू ।।
मालति देख भँवर गा भूली। भँवर देखि मालति मन फूली ।।
देखा दरस, भए एक पासा। वह ओहि के, वह ओहि के आसा ।।
कंचन दाहि दीन्हि जनु जीऊ। ऊवा सूर, छूटिगा सीऊ ।।
पाँय परी धनि पीउ के, नैनन्ह सौं रज मेंट।
अचरज भएउ सबन्ह कहँ, भइ ससि कँवलहि भेंटि ।।२२।।

व्याख्या—जायसी रत्नसेन-पद्मावती की भेंट का वर्णन करते हुए कहते हैं—जो पदिक आभूषण के समान श्रेष्ठ पद्मावती रत्नसेन रूपी रत्न के न रहने के कारण क्षीण-ज्योति अर्थात् मलिन हो रही थी, रत्नसेन का आगमन सुनते ही उसका मुख ज्योति से अर्थात् प्रसन्नता से चमकने लगा। मानो सूर्य ने अपना प्रकाश विकीर्ण किया हो, (रात्रि समाप्त होकर) पुनः दिवस हो गया हो और उसे देख कमल खिल उठा हो। कमल अर्थात् पद्मावती ने हँस कर सूर्य अथवा रत्नसेन के मुख के दर्शन किए तो सूर्य ने भी अपनी दृष्टि से कमल (पद्मावती) के मुख का स्पर्श किया; अर्थात् दोनों ने प्रेम से विह्वल हो आपस में एक-दूसरे की ओर देखा। पद्मावती के कमल-नेत्रों ने रत्नसेन (सूर्य) के श्री से मण्डित तेजस्वी मुख को देखा और दोनों प्रसन्न होकर रस अर्थात् प्रेम के कारण द्रवित हो उठे, प्रेम से आप्लावित हो उठे। भ्रमर मालती को देखकर विभोर हो उठा और मालती भ्रमर को देख मन में खिल उठी, अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती एक-दूसरे को देख आनन्द से विभोर हो गए। दोनों ने एक-दूसरे के दर्शन पाये और फिर एक पाश में अर्थात् आलिंगन में आबद्ध हो गए। पद्मावती रत्नसेन की तथा रत्नसेन पद्मावती की आशा अर्थात् अभिलषित वस्तु थी; अर्थात् दोनों ही एक-दूसरे की आशा से जीवित थे। पद्मावती इस प्रकार चंचल और प्रसन्न हो उठी, मानो स्वर्ण को अग्नि में तपा कर उसमें प्राण डाल दिये हों। भाव यह है कि पद्मावती की स्वर्ण के समान देह-यष्टि रत्नसेन के वियोग में तपने के उपरान्त उसके पुनः दर्शन कर सजीव और कान्तिमान हो उठी। सूर्य उदय हुआ और शीत दूर भाग गया; अर्थात् सूर्य रूपी रत्नसेन के दर्शन कर पद्मावती का विरह ताप नष्ट हो गया।

वह सुन्दरी पद्मावती अपने प्रियतम के चरणों पर गिर पड़ी और अपने नेत्रों

की पलकों से उसके चरणों में लगी धूल को साफ करने लगी। (इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है, कि पद्मावती अपने नेत्रों के जल से रत्नसेन के चरणों की धूल को धोकर साफ करने लगी।) यह दृश्य देखकर सब को आश्चर्य हुआ कि चन्द्रमा कमल से भेंट कर रहा है। भाव यह है कि पद्मावती का मुख चन्द्रमा के समान तथा रत्नसेन के चरण कमल के समान हैं। चन्द्रमा और कमल की भेंट असम्भव है। परन्तु इस असम्भव को सम्भव होता हुआ देख सब को आश्चर्य हो रहा है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—दोहे में रूपक अलंकार है।

(२) दोहे में चन्द्र और कमल की भेंट होना दिखाकर विरोधाभास की सृष्टि की गई है। इसमें अद्भुत रस का सौन्दर्य व्यंजित है।

(३) सम्पूर्ण पद में संयोग दशा का मनोरम चित्रण हुआ है, जिसे जायसी ने सूर्य-कमल, भ्रमर-मालती के उपमानों द्वारा पुष्ट किया है।

(४) 'कंचन दाहि·······कीऊ'—पंक्ति का यह अर्थ भी किया जा सकता है कि कचन को तपाकर उसे जीवन-दान दिया गया हो; अर्थात् पद्मावती रूपी कंचन को शुद्ध करने के लिए अग्नि में तपाया गया। उसके लिए पति का मिलन गर्म सोने को जल में बुझा कर ठंडा करने के समान था।

(४४७)

जिनि काहू कह होइ बिछोऊ। जस वै मिले मिलै सब कोऊ॥
पदमावति जौ पावा पीऊ। जनु मरजियहि परा तन जीऊ॥
कै नेवछावरि तन मन वारी। पायन्ह परी घालि गिउ नारी॥
नव अवतार दीन्ह बिधि आजू। रही छार भइ मानुष-साजू॥
राजा रोव घालि गिउ पागा। पदमावति के पायन्ह लागा॥
तन जिउ महँ बिधि दीन्ह बिछोऊ। अस न करै तौ चीन्ह न कोऊ॥
सोई मारि छार कै मेटा। सोइ जियाइ करावै भेंटा॥
मुहमद मीत जौ मन बसै, विधि मिलाव ओहि आनि।
संपति बिपति पुरुष कहँ, काह लाभ, का हानि॥२३॥

व्याख्या—इस पद में जायसी इस सत्य को व्यञ्जित कर रहे हैं कि सुख-दुख मनुष्य पर ही पड़ते हैं, इसलिए मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिए—

भगवान करे कभी किसी का किसी से विछोह न हो। जिस प्रकार पद्मावती और रत्नसेन एक-दूसरे से मिले वैसे ही सारे बिछुड़े हुए प्राणी आपस में एक-दूसरे से मिल जायँ। पद्मावती का जब अपने प्रियतम से मिलन हुआ तो उसे वैसी ही प्रसन्नता हुई जैसे गोताखोर को समुद्र में गोता लगाकर पुनः ऊपर आने पर और अपने प्राणों को सुरक्षित पाकर होती है। (गोताखोर को मरजीवा इसी कारण कहा जाता है कि जब वह समुद्र में गोता लगाता है तो स्वयं को मरा हुआ समझ लेता है; अर्थात् उसे

पुनः ऊपर जीवित लौट आने की आशा नहीं रह जाती । इसी कारण जब वह जीवित ऊपर आ जाता है तो उसे नव-जीवन प्राप्त करने की सी प्रसन्नता होती है ।) रत्नसेन को पाकर वह सुन्दरी अपने तन-मन को उस पर न्यौछावर कर उसके चरणों में गिर गरदन नीची कर पड़ी रही । आज विधाता ने उसे नया जीवन दिया था। वह तो रत्नसेन के वियोग में दग्ध होकर भस्म हो गई थी परन्तु आज उसने पुनः मानव-रूप प्राप्त किया था अर्थात् जी उठी थी । पद्मावती को इस प्रकार अपने चरणों में पड़ा देख राजा रत्नसेन अपनी गरदन में अपनी पाग डाल कर रोने लगा और पद्मावती के चरणों पर गिर पड़ा। विधाता ने शरीर और प्राणी में बिछोह करवा दिया था । यदि वह ऐसा न करता तो उसे कोई भी न पहचानता; अर्थात् यदि विधाता मनुष्य को कष्ट न देता तो उसे कोई भी नहीं मानता। भाव यह है कि मनुष्य दुख में ही ईश्वर का स्मरण करता है और दुखी होने पर ही उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है । सुख में कोई भी ईश्वर का नाम नहीं लेता । (रत्नसेन ने समुद्र में भटक जाने के समय चारों ओर से निराश होकर अन्त में ईश्वर का ही स्मरण कर उससे प्रार्थना की थी ।) वही विधाता पहले तो मनुष्य को वियोग में भस्म कर उसे धूल बना नष्ट कर देता है, और फिर पुनः प्रिय से भेंट करवा कर उसे जीवनदान दे देता है।

कवि मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि मनुष्य के मन में जो प्रिय बसा रहता है, ईश्वर अन्त में उसे लाकर उससे मिलन करवा देता है। सम्पत्ति और विपत्ति अर्थात् सुख और दुख मनुष्य पर ही पड़ते हैं। इसलिए इसमें क्या लाभ और क्या हानि ! अर्थात् मनुष्य को सुख में फूलना और दुख में घबड़ाना नहीं चाहिए ।

टिप्पणी—पाँचवीं पंक्ति में राजा द्वारा अपनी गरदन में पाग डालने का उल्लेख हुआ है । अपनी गरदन में अपनी पाग डालकर किसी के सम्मुख जाना निरीहता और दीनता का सूचक होता है । पराजित शत्रु ही इस प्रकार विजयी के सम्मुख आत्म-समर्पण करता है। यहाँ राजा रत्नसेन की दीनता दिखाना ही अभिप्रेत है ।

(४४८)

लछमी सौं पदमावति कहा । तुम्ह प्रसाद पायउँ जो चहा ॥
जौ सब खोइ जाहि हम दोऊ । जो देखै भल कहै न कोऊ ॥
जे सब कुँवर आए हम साथी । औ जत हस्ति, घोड़ औ आथी ॥
जो पावैं, सुख जीवन भोगू । नाहिं त मरन, भरन दुख रोगू ॥
तब लक्षमी गई पिता के ठाऊँ । जो एहि कर सब बूड़ सो पाऊँ ॥
तब सो जरी अमृत लेइ आवा । जो मरे हुत तिन्ह छिरिकि जियावा ॥
एक एक कै दीन्ह सो आनी । भा संतोष मन राजा रानी ॥

आइ मिले सब साथी, हिलि मिलि करहिं अनंद।
भई प्राप्त सुख-संपति, गएउ छूटि दुख-दुंद ।।२४।।

व्याख्या—राजा रत्नसेन और पद्मावती की परस्पर भेंट हो जाने के उपरान्त पद्मावती लक्ष्मी से कहने लगी कि तुम्हारी कृपा से मैंने जो चाहा था उसे प्राप्त किया अर्थात् तुम्हारी अनुकम्पा से मैं अपने प्रियतम को पा गई। परन्तु यदि सब कुछ खो कर हम दोनों चित्तौड़ पहुँचेंगे तो कोई भी इस बात को अच्छा नहीं कहेगा। हमारे साथ जितने भी राजकुमार आए थे और जितने भी हाथी, घोड़े और जितनी सम्पत्ति थी, यदि वह सब हमें पुनः प्राप्त हो जाय तो हम जीवन का सुख भोग सकेंगे, नहीं तो हमारा मरण ही समझो। हमें बड़े दुःख और रोग भोगने पड़ेंगे। पद्मावती की यह बात सुन लक्ष्मी पुनः अपने पिता (समुद्र) के स्थान पर गई और उससे कहने लगी कि पद्मावती की जितनी सम्पदा नष्ट हो गई है, वह उसे पुनः मिल जाय। यह सुनकर समुद्र अमृत-जड़ी ले आया और उसे मृतकों के ऊपर छिड़क उन्हें फिर से जीवित कर दिया। समुद्र ने क्रमशः एक-एक कर सारी नष्ट हुई वस्तुओं तथा मरे हुए प्राणियों को ला उपस्थित कर दिया। यह देख राजा रत्नसेन और रानी पद्मावती के मन को बड़ा सन्तोष प्राप्त हुआ।

सब साथी आकर मिल गए और आपस में मिल-भेंटकर आनन्द मनाने लगे। उन्हें सुख-सम्पदा प्राप्त हो गई और उनके दुख-द्वन्द्व नष्ट हो गये।

टिप्पणी—डा० गुप्त तथा डा० अग्रवाल इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं।

(४४६)

और दीन्ह बहु रतन पखाना। सोन रूप तौ मनहिं न आना।।
जे बहु मोल पदारथ नाऊँ। का तिन्ह बरनि कहौं तुम्ह ठाऊँ।।
तिन्ह कर रूप भाव को कहै। एक एक नग चुनि-चुनि कै गहै।।
हीर-फार बहु-मोल जो अहे। तेहि सब नग चुनि चुनि कै गहे।।
जौ एक रतन भँजावै कोई। करै सोइ जो मन महँ होई।।
दरब-गरब मन गएउ भुलाई। हम सम लच्छ मनहिं नहिं आई।।
लघु दीरघ जो दरब बखाना। जो जेहि चहिय सोइ तेइ माना।।
बड़ औ छोट दोउ सम, स्वामी-काज जो सोइ।
जो चाहिय जेहि काज कहँ, ओहि काज सो होइ ।।२५।।

व्याख्या—समुद्र ने राजा रत्नसेन को उसके सारे साथी, पशु तथा सम्पत्ति लौटाने के उपरान्त उसे अपने पास से अनेक प्रकार के असंख्य रत्न और बहुमूल्य पत्थर दिए और सोना-चाँदी तो इतना दिया कि वह राजा रत्नसेन को उन रत्नों की तुलना में कुछ जँचा ही नहीं। जितने प्रकार के विभिन्न नामों वाले बहुमूल्य पदार्थ समुद्र ने रत्नसेन को दिए मैं तुम्हारे सम्मुख उनका क्या वर्णन करूँ? उनके रूप और

मूल्य का कौन वर्णन कर सकता है। समुद्र ने एक-एक नग चुन-चुन कर अर्थात् अपने खजाने में से छाँट-छाँट कर दिया था। बहुमूल्य हीरे के जितने भी टुकड़े थे उन सब को चुन-चुन कर दे दिया। यदि कोई उन रत्नों में से एक भी रत्न बेच ले तो वह मनचाहा काम कर सकता है; अर्थात् उसे बेचने से प्राप्त हुई धन-राशि द्वारा मन-मानी चीज खरीद सकता है। उस सारी सम्पत्ति को देख राजा रत्नसेन का धन का गर्व नष्ट हो गया। उसने सोचा कि मेरे जैसे लाखों धनवान व्यक्ति भी इस सम्पत्ति की तुलना में कुछ भी नहीं ठहरते। धन के विषय में यह कहा जाता है कि धन छोटा और बड़ा—दो प्रकार का होता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि जो जिसे चाहिए वही उसके लिए सबसे बड़ा धन होता है। भाव यह है कि समुद्र तो रत्नागार है। उसके लिए धन का कोई मूल्य नहीं है।

इस संसार में छोटे और बड़े – दोनों समान होते हैं, क्योंकि स्वामी के कार्य के लिए दोनों की ही समान आवश्यकता होती है। जिस वस्तु की जिस कार्य के लिए आवश्यकता होती है उसी के द्वारा यह कार्य पूरा होता है; अर्थात् उपयोग के अनुसार ही वस्तु और व्यक्ति की महत्ता का सही अनुमान लगाया जाता है।

टिप्पणी—डा० गुप्त इस पद को भी प्रक्षिप्त मानते हैं।

(४५०)

दिन[1] दस रहे तहाँ पहुनाई। पुनि भए बिदा समुद सौं जाई॥
लछमी पदमावति सौं भेंटी[2]। औ तेहि कहा 'मोरि तू बेटी'॥
दीन्ह समुद[3] पान कर बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा॥
औ पाँच नग दीन्ह बिसेखे। सरवन, सुना, नैन नहिं देखे॥
एक तौ अमृत, दूसर हंसू। औ तीसर पंखी[4] कर बंसू॥
चौथ दीन्ह सावक-सादूरू। पाँचवँ परस, जो कंचन-मूरू॥
तरुन तुरंगम आनि चढ़ाए। जल-मानुष अगुवा सँग लाए॥
भेंट-घाँट कै समदि तब, फिरे नाइ कै माथ।
जल-मानुष तबहीं फिरे, जब आए जगनाथ॥२६॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन और रानी पद्मावती समुद्र के यहाँ दस दिन तक मेहमानी खाते रहे और फिर उन्होंने समुद्र के पास जाकर चलने की आज्ञा माँगी। लक्ष्मी ने पद्मावती से भेंट की और उससे कहा कि तू मेरी बेटी है। समुद्र ने पद्मावती को पान का बीड़ा दिया और अनेक प्रकार के रत्न, माणिक्य, हीरे आदि उसमें भर कर दिए और पाँच विशेष प्रकार के रत्न दिए जिनके विषय में कानों से तो सुना

पाठ-भेद—१. ओहि दिन=उस दिन। २. जो साखा उपनी सो मेटी=जो स्नेह की शाखा उत्पन्न हुई थी, वह तुम्हारे जाने से मिट, नष्ट हो रही है। ३. समदन=मिलना। ४. सोनहा=एक पक्षी विशेष।

गया था परन्तु जिन्हें आँखों से कभी किसी ने नहीं देखा था। इन पाँच विशिष्ट रत्नों में एक अमृत, दूसरा हंस और तीसरा पक्षियों का एक विशेष प्रकार का कुल अर्थात् एक विशेष जाति के पक्षियों का झुंड था। चौथा एक सिंह का बच्चा और पाँचवाँ पारस पत्थर था जो सोना उत्पन्न करने वाला था। ये सम्पूर्ण वस्तुएँ देकर समुद्र ने जवान घोड़े मँगवा कर राजा और रानी को उन पर सवार कराया और उन्हें रास्ता बताने के लिए उनके साथ जल-मानुष कर दिए।

इतना करके समुद्र तट पर उनसे मिल-भेंट कर फिर शीश झुका उन्हें प्रणाम कर लौट गया। परन्तु वे जल-मानुष तभी लौटे जब उन्होंने रत्नसेन आदि को जगन्नाथपुरी तक पहुँचा दिया।

(४५१)

जगन्नाथ कहँ देखा आई। भोजन रींधा भात[1] बिकाई॥
राजै पदमावति सौं कहा। साँठि नाठि, किछु गाँठि न रहा॥
साँठि होइ जेहि तेहि सब बोला। निसँठ जो पुरुष पात जिमि डोला॥
साँठिहि रंक चलै झौराई। निसँठ राव सब कह बौराई॥
साँठिहि आव[2] गरब तन फूला। निसँठहि बोल[3], बुद्धि बल भूला॥
साँठिहि जाग नींद निसि जाई। निसँठहि काह होइ औंघाई॥
साँठिहि दिस्टि, जोति होइ नैना। निसँठ होइ, मुख आव न बैना॥
साँठिहि रहै साधि तन, निसँठहि आगरि भूख।
बिनु गथ बिरिछ निपात जिमि[4], ठाढ़ ठाढ़ पै सूख॥२७॥

व्याख्या—जगन्नाथपुरी पहुँच कर राजा रत्नसेन ने देखा कि वहाँ पर भोजन के लिए पकाया हुआ भात बिक रहा है। यह देख राजा रत्नसेन ने पद्मावती से कहा कि हमारी तो सारी पूँजी नष्ट हो चुकी है, अब तो गाँठ में कुछ भी नहीं रहा। भाव यह है कि वहाँ तो भोजन तक बिक रहा है। मेरे पास कुछ भी नहीं है जिसे देकर इस भोजन को खरीद सकूँ। अपने निर्धन होने की ग्लानि में भर रत्नसेन धनी और निर्धनी की तुलना करता हुआ पद्मावती से आगे कहने लगा कि जिसके पास पूँजी होती है उससे सब लोग बात करते हैं, परन्तु निर्धन व्यक्ति पेड़ से गिरे हुए पत्ते के समान इधर-उधर भटकता फिरता है। उससे कोई बात तक नहीं करता। गाँठ में पूँजी हो जाने पर निर्धन भी झूम-झूम कर चलने लगता है और यदि राजा निर्धन हो जाता है तो सब उसे देखकर कहने लगते हैं कि यह पागल हो गया है। पूँजी पास आते ही शरीर गर्व से फूल जाता है; अर्थात् मनुष्य अकड़ कर चलने लगता है, परन्तु निर्धन

पाठ-भेद—१. हाट=बाज़ार। २. ओद=तरी, आर्द्रता। ३. बोद=बोदापन, हीनता। ४. पुरुख पतंग ज्यौं=पुरुष उस पतंग (एक प्रकार का घने पत्तों वाला वृक्ष) वृक्ष के समान होता है।

व्यक्ति अपनी बुद्धि और बल को भी भूल जाता है और एक शब्द तक नहीं बोल पाता। पूँजी पास होने पर आदमी जागता रहता है, उसकी रात की नींद तक जाती रहती है; अर्थात् धनवान व्यक्ति रात में भी इस भय के कारण नहीं सो पाता कि कहीं चोर उसकी पूँजी चुरा न ले जायँ। परन्तु निर्धन का कोई क्या ले जाएगा, इसलिए वह सदैव ऊँघता रहता है। पूँजी पास होने से धनी की दृष्टि सदैव चौकन्नी रहती है, अथवा धनी की ओर सब की दृष्टि लगी रहती है और उसके नेत्रों में चमक आ जाती है। परन्तु निर्धन व्यक्ति के मुख से बोल तक नहीं निकलता; अर्थात् वह किसी से भी खुलकर बात नहीं कर पाता।

पूँजी गाँठ में रहने पर धनी मनुष्य अपने शरीर को संयत करके रहता है; अर्थात् खाने-पीने में संयम से काम लेता है परन्तु निर्धन व्यक्ति को बहुत भूख लगती है। बिना पूँजी के मनुष्य पत्रहीन वृक्ष के समान खड़ा-खड़ा सूखता रहता है।

टिप्पणी—इस पद में राजा रत्नसेन अपने निर्धन होने की बात कहता है; परन्तु इससे पहले पदों (पद संख्या ४४८, ४४९) में समुद्र द्वारा उसकी सारी सम्पत्ति लौटा देने तथा स्वयं भी अथाह सम्पत्ति देने का उल्लेख हुआ है, इन दोनों बातों में परस्पर किसी भी प्रकार की संगति नहीं बैठ पाती। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसी असंगति को लक्ष्य कर पदसंख्या ४४८ तथा ४४९ को प्रक्षिप्त मानकर अपने संग्रह में स्थान नहीं दिया है। उन्होंने पदसंख्या ४५० को अपने संग्रह में स्थान दिया है जिसमें समुद्र रत्नसेन को पाँच नगों के साथ अन्य अनेक रत्न देता है।

(४५२)

पदमावति बोली सुनु राजा। जीउ गए धन कौने काजा?
अहा दरब तब कीन्ह न गाँठी। पुनि कित मिलै लच्छि जौ नाठी॥
मुकती साँठि गाँठि[1] जो करै। साँकरे परे सोइ उपकरै॥
जेहि तन पंख, जाइ जहँ ताका। पैग पहार होइ जौ थाका॥
लछमी दीन्ह रहा मोहि बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा॥
काढ़ि एक नग बेगि भँजावा। बहुरी लच्छि, फेरि दिन पावा॥
दरब भरोस करै जिनि कोई। साँभर[2] सोइ गाँठि जो होई॥
जोरि कटक पुनि राजा, घर कहँ कीन्ह पयान।
दिवसहि भान अलोप भा, बासुकि इंद्र सकान॥२८॥

व्याख्या—जब राजा रत्नसेन धन पास में न होने के कारण व्याकुल हो उठा तो पद्मावती ने उससे कहा कि हे राजन्! सुनो! यदि जीव ही चला गया तो धन किस काम का। जब धन था तब तुमने उसे सम्हाल कर नहीं रखा था। जब लक्ष्मी

पाठ-भेद—१. मुकुतें साँवर=मुक्त रहने पर यदि सम्बल गाँठ में कर लिया जाय।
२. दरब=द्रव्य, धन।

(धन-सम्पदा) एक बार नष्ट हो जाती है तो फिर कैसे मिल सकती है। जब अपने पास वहुत-सा धन होता है और उसमें से कोई उस धन को बचा कर संचित कर लेता है तो संकट पड़ने पर वही संचित धन काम आता है। जिसके पंख होते हैं, उसका जिधर मन चाहता है वह उधर ही उड़ कर चल देता है, परन्तु थके हुए व्यक्ति के लिए एक कदम चलना भी पहाड़ के समान भारी हो जाता है। लक्ष्मी ने मुझे एक बीड़ा दिया था जिसमें अनेक रत्न, मणि-माणिक्य और हीरे भरे हुए थे। यह सुनकर राजा ने उसमें से एक रत्न निकाल कर शीघ्र भुना लिया और फलस्वरूप उसके पास लक्ष्मी लौट आई अर्थात् वह धनवान बन गया और उसके दिन लौट आए अर्थात् वह पहले के ही समान सम्पन्न बन गया। धन का भरोसा किसी को नहीं करना चाहिए। असली सम्बल वही है जो अपनी गाँठ में हो।

उस रत्न को भुनाने से प्राप्त हुई रकम से राजा रत्नसेन ने सेना इकट्ठी कर चित्तौड़ के लिए प्रस्थान किया। वह सेना इतनी विशाल थी कि उसके चलने से उठी हुई धूल से सूर्य दिन में ही लुप्त हो गया जिसके कारण पाताल में शेषनाग एवं स्वर्ग में इन्द्र मन में शंकित हो उठे।

टिप्पणी—हम पद संख्या ४५१ के नीचे दी गई टिप्पणी में इस बात का संकेत दे आए हैं कि पद संख्या ४४८ और ४४९ एक प्रकार से प्रक्षिप्त पद हैं। इस पद में उक्त दोनों पदों तथा पद संख्या ४५० के भी प्रक्षिप्त होने के प्रमाण मिल जाते हैं। पद संख्या ४५० में उल्लेख आया है कि समुद्र ने पान का बीड़ा दिया था—'दीन्ह समुद्र पान कर बीरा'—परन्तु प्रस्तुत पद में पद्मावती कहती है कि—'लछमी दीन्ह रहा मोहि बीरा'—अर्थात् लक्ष्मी ने मुझे बीड़ा दिया था। इसके अतिरिक्त इस पद में समुद्र द्वारा लौटाए गए राजा के सारे साथियों, सेना, धन-सम्पदा आदि की ओर कोई भी संकेत नहीं मिलता।

डा० अग्रवाल ने पद संख्या ४५० का जो पाठान्तर दिया है उसके अनुसार लक्ष्मी ही पद्मावती को पान का बीड़ा देती है, न कि समुद्र—

'लखमिनि पदुमावति सौं भेंटी। जो साखा उपनी सो मेंटी॥
समदन दीन्ह पान कर बीरा। भरि कै रतन पदारथ हीरा॥

इन पंक्तियों की प्रस्तुत पद की पंचम पंक्ति से पूर्ण संगति मिल जाती है। इसलिए हमें पद संख्या ४४८, ४४९ तथा ४५० को प्रक्षिप्त मान लेना चाहिए।

३५

चित्तौर-आगमन-खंड

(४५३)

चितउर आइ नियर भा राजा । बहुरा जीति, इन्द्र अस गाजा ।।
बाजन बाजहिं होइ अँदोरा । आवहिं बहल हस्ति औ घोरा ।।
पदमावति चंडोल बईठी । पुनि गई उलटि सरग सौं दीठी ।।
यह मन ऐंठा रहै न सूझा । बिपति न संवरै सँपति-अरूझा ।।
सहस बरिस दुख सहै जो कोई । खरी एक सुख बिसरै सोई ।।
जोगी इहै जानि मन मारा । तौहुँ न यह मन मरै अपारा ।।
रहा न बाँधा, बाँधा जेही । तेलिया मारि डार पुनि तेही ।।
मुहमद यह मन अमर है, केहुँ न मारा जाइ ।
ज्ञान मिलै जौ एहि घटै, घटतै घटत बिलाइ[1] ।।१।।

व्याख्या—कवि कहता है कि अन्त में राजा रत्नसेन चित्तौड़ के निकट आ पहुँचा । वह विजयी होकर लौटा था, इसलिए इन्द्र के समान गर्जना कर रहा था; अर्थात् वह अपने विद्रोही बने भाई-बन्धुओं को पराजित करता हुआ चित्तौड़ तक आ पहुँचा था, इसलिए विजय-मद में भर गर्जना कर रहा था । बाजे बज रहे थे और चारों ओर कोलाहल मच रहा था । रथ, हाथी और घोड़े आ रहे थे । पद्मावती पालकी में बैठी थी । स्वयं को इस स्थिति में पाकर राजा रत्नसेन की दृष्टि ईश्वर से फिर गई अर्थात् वह अहंकार में भर ईश्वर को भूल गया । राजा की इस दशा पर टिप्पणी करता हुआ कवि कहता है कि यह मन सदैव ऐंठा अर्थात् अकड़ में भरा रहता है, इसे अपना अच्छा-बुरा नहीं सूझता । यह सम्पत्ति में ही सदैव उलझा रहता है और सम्पत्ति प्राप्त करते ही अपने विपत्ति के दिनों का स्मरण तक नहीं करता; अर्थात् यह भूल जाता है कि उस पर कभी विपत्ति भी पड़ी थी । यदि कोई व्यक्ति एक हजार साल तक दुख सहता रहे और फिर उसे घड़ी भर के लिए सुख प्राप्त हो जाय तो वह अपने उन दुख के दिनों को भूल जाता है । योगी मन की इस गति को जानते हैं,

---

पाठ-भेद—१. ग्यान सिला सौं जौं घँसै घँसतहि घँसत बिलाइ=यदि ज्ञान रूपी शिला से इसे घिसा जाय तो यह घिसते-घिसते विलीन हो जाता है ।

इसलिए इसे सदैव मारने अर्थात् वश में करने का प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु यह मन इतना शक्तिशाली होता है कि लाख प्रयत्न करने पर भी मरता नहीं, अर्थात् वश में नहीं होता। जिसने भी इसे बाँधने का प्रयत्न किया, यह उसके बाँधने से भी कभी नहीं बँधा, वश में नहीं हुआ। इस मन को सींगिया विष में डाल कर मार डालना चाहिए अर्थात् यह मन तो तेलिया उपवास अर्थात् तीन दिन के उपवास द्वारा ही मरता अर्थात् वश में किया जा सकता है। इसका दूसरा अर्थ शुक्ल जी के अनुसार इस प्रकार किया जा सकता है कि—चाहे इस मन को तेलिया विष से ही क्यों न मारे, यह किसी भी हालत में नहीं मरता।

जायसी कहते हैं कि यह मन अमर है। इसे किसी भी प्रकार नहीं मारा जा सकता। यदि ज्ञान प्राप्त हो जाय तो यह घटने लगता है और घटते-घटते अन्त में पूर्णतः नष्ट हो जाता है। भाव यह है कि ज्ञान ही इस मन को धीरे-धीरे वश में करता हुआ अन्त में इसे पूरी तरह से काबू में कर लेता है; अर्थात् ज्ञान द्वारा ही मन को वश में किया जा सकता है।

टिप्पणी—तेलिया—एक प्रकार का कन्द है जो पारा बाँधने के काम आता है। यह एक प्रकार का भयंकर विष होता है। डा० गुप्त ने तेलिया का अर्थ करते हुए लिखा है—जैसे तेलिये में मृत (पारे) को भी यदि डाल दिया जाय। (योंहीं पड़ा रहने दिया जाय) तो वह पुनः उसी प्रकार का अर्थात् पूर्ववत हो जाता है। परन्तु इससे अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता।)

(४५४)

नागमती कहँ अगम जनावा। गई तपनि बरषा जनु आवा॥
रही जो मुइ नागिनि जसि तुचा। जिउ पाएँ तन कैं भइ सुचा॥
सब दुख जस केंचुरि गा छूटी। होइ निसरी जनु बीरबहूटी॥
जसि भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई। परहिं बूँद औ सोंधि बसाई॥
ओहि भाँति पलुही सुख-बारी। उठा करिल नइ कोंप सँवारी॥
हुलसि गंग जिमि बाढ़िहि लेई। जोबन लाग हिलोरें देई॥
काम-धनुक सर लेइ भइ ठाढ़ी। भागेउ बिरह रही जो डाढ़ी॥
पूछहिं सखी सहेलरी, हिरदय देखि अनंद।
आजु बदन तोर निरमल, अहै उवा जस चंद॥२॥

व्याख्या—नागमती को जब राजा रत्नसेन के आगमन की सूचना किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा मिली तो उसके विरह की जलन इस प्रकार शान्त हो गई, जैसे वर्षा होने से ग्रीष्म की तपन शान्त हो जाती है। इस समय तक जो नागिन की केंचुली के समान निर्जीव सी पड़ी रहती थी, इस सूचना को पाकर मानो उसके प्राण लौट आए और वह सजीव हो उठी। जिस प्रकार नागिन अपनी केंचुली को त्याग कर पुनः चंचल

और सुन्दर हो उठती है, उसी प्रकार नागमती अपने सारे दुःखों से मुक्ति पाकर सुन्दर और सजीव हो उठी और वीरबहूटी के समान सज-धज कर बाहर निकली। जिस प्रकार ग्रीष्म में तप कर धरती आषाढ़ में वर्षा होते ही पल्लवित, अर्थात् हरी-भरी हो उठती है, चारों ओर बूँदें पड़ने लगती हैं और धरती में से सोंधी-सोंधी गन्ध उठने लगती है, उसी प्रकार नागमती की सुख की वाटिका पल्लवित हो उठी, उसमें नए कल्ले और कोंपलें फूटीं और वह सुन्दर वन गई। अर्थात् नागमती के अङ्ग-प्रत्यङ्ग उमंग से भर खिल उठे। वर्षा ऋतु में गंगा जिस प्रकार उल्लसित हो उमड़ कर लहराने लगती है, उसी प्रकार नागमती का यौवन उमंग से भर कर लहराने लगा। वह कामदेव के धनुष पर वाण चढ़ा कर अर्थात् अपनी भृकुटियों रूपी धनुष पर कटाक्ष रूपी वाण सन्धान कर खड़ी हो गई। उसे इस रूप में देखकर वह विरह, जो उसे अब तक जलाता रहता था, भयभीत हो भाग खड़ा हुआ।

नागमती के हृदय को आनन्द से ओतप्रोत देख उसकी सखी-सहेलियाँ उससे पूछने लगीं कि आज तुम्हारा मुखारविन्द निर्मल होकर इस प्रकार चमक रहा है मानो चन्द्रमा उदय हुआ हो—इसका क्या कारण है ?

(४५५)

अब लगि रहा पवन, सखि ताता। आजु लाग मोहिं सीअर गाता॥
महि हुलसै जस पावस-छाहाँ। तस उपना हुलास मन माहाँ॥
दसवँ दावँ कै गा जो दसहरा। पलटा सोइ नाव लेइ महरा॥
अब जोबन गंगा होइ बाढ़ा। औटन कठिन मारि सब काढ़ा॥
हरियर सब देखौं संसारा। नए चार जनु भा अवतारा॥
भागेउ बिरह करत जो दाहू। भा मुख चंद, छूटि गा राहू॥
पलुहे नैन, बाँह हुलसाही[1]। कोउ हितु आवै जाहि मिलाहीं॥
कहतहि बात सखिन्ह सौं, ततखन आवा भाँट।
राजा आइ निअर भा, मँदिर बिछावहु पाट॥३॥

व्याख्या—सखियों के कौतूहल भरे प्रश्न को सुनकर नागमती उनसे कहने लगी कि हे सखियो! अब तक पवन मुझे गरम लगता था, परन्तु आज यह मेरे शरीर को ठंडक पहुँचा रहा है। जैसे पृथ्वी वर्षा ऋतु के मेघों की छाया के नीचे उल्लसित हो उठती है अर्थात् हरी-भरी हो जाती है, उसी प्रकार आज मेरे हृदय में उल्लास भर उठा है। जो मेरा पति दशहरे के दिन मुझे अपने विरह में मरणासन्न करके चला गया था, मेरा वही पति-रूपी मल्लाह आज अपनी नाव लेकर लौट आया है। अब मेरा यौवन उमड़ती हुई गंगा के समान हिलोरें ले रहा है और उसने विरह की कठिन

पाठ-भेद—१. लहकहिं नैन बाँह हिय खिला=मेरे नेत्र और मेरी भुजाएँ लहक रही हैं, फड़क रही हैं और हृदय खिल रहा है।

तपन को मार कर भगा दिया है। अब मुझे सारा संसार हरा-भरा दिखाई दे रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे मेरा नए सिरे से फिर जन्म हुआ हो। वह विरह जो मुझे जलाता रहता था, भाग खड़ा हुआ है। इसी कारण मेरा मुख आज चन्द्रमा के समान चमक रहा है। अब वह दु:ख रूपी राहु के चंगुल से मुक्ति पा गया है। मेरे नेत्र पल्लवित हो उठे हैं, अर्थात् चमक रहे हैं और भुजायें किसी से मिलने के लिए हुलस रही हैं। आज मेरा कोई प्रिय आ रहा है जिससे मिलने के लिए मेरी भुजायें व्याकुल हो रही है।

नागमती अपनी सखियों से यह बात कह ही रही थी कि उसी समय वहाँ एक भाट आ पहुँचा और उसने यह सूचना दी कि—राजा रत्नसेन चित्तौड़ के पास आ पहुँचा है, इसलिए राजमहल में सिंहासन लगा दो।

टिप्पणी—सुखद भविष्य का पूर्वाभास मिलते ही मन प्रसन्नता से भर खिल उठता है। जायसी ने यहाँ इसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रभाव दिखाया है।

(४५६)

सुनि तेहि खन राजा कर नाऊँ। भा हुलास सब ठाँवहि ठाऊँ॥
पलटा जनु बरषा-ऋतु राजा[1]। जस असाढ़ आवै दर साजा॥
देखि सो छत्र भई जग छाहाँ। हस्ति-मेघ ओनए जग माहाँ॥
सेन पूरि आई घन घोरा। रहस-चाव बरसैं चहुँ ओरा॥
धरति सरग अब होइ मेरावा। भरीं सरित औ ताल तलावा॥
उठी लहकि महि सुनतहि नामा[2]। ठावहि ठाँव दूब अस जामा॥
दादुर मोर कोकिला बोले। हुत जो अलोप जीभ सब खोले॥
होइ असवार जो प्रथमै, मिलै चले सब भाइ।
नदी आठरह गंडा, मिलीं समुद कहँ जाइ॥४॥

व्याख्या—उस क्षण राजा रत्नसेन का नाम सुनते ही चारों ओर उल्लास छा गया। राजा सेना सहित इस प्रकार लौटकर चित्तौड़ आया, जैसे वर्षा ऋतु आषाढ़ मास में मेघों का दल सजाकर आती है। उसके आते ही ग्रीष्म की तपन जाती रहती है और चारों ओर हरियाली छा जाती है। इसी प्रकार राजा के आते ही चारों ओर उल्लास छा गया। राजा के छत्र को देखकर संसार में छाया सी छा गई अर्थात् अब राजा की छत्र छाया मिल जाने से सब के दुख दूर हो गए। राजा के हाथी ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो संसार मे बादल उमड़ कर छा गए हों। सारी सेना घनघोर मेघों के समान गर्जना करती हुई छा गई और चारों ओर आनन्द-उत्सव की वर्षा सी होने

पाठ-भेद—१. कै पुरखारथ=पुरुषार्थ करके। २. लहकि उठा सब भुमिया नाया=भूम्य (भूमि से सम्बन्धित) नाम का समस्त (वनस्पति समुदाय) अब लहक उठा था।

लगी। जिस प्रकार वर्षा काल में आकाश और पृथ्वी का मिलन होता है, नदियाँ, ताल और तलैयाँ जल से आपूरित हो उठती हैं, उसी प्रकार अब रत्नसेन और नागमती का मिलन होगा और नागमती की सखियाँ रूपी नदियाँ आदि प्रसन्नता से भर उठेंगी। जिस प्रकार वर्षा का नाम सुनते ही धरती लहलहा उठती है, और स्थान-स्थान पर घास उग आती है, उसी प्रकार रत्नसेन का नाम सुनते ही नागमती लहलहा उठी और उसे रोमांच हो आया। (यहाँ दूब से रोमांच होने पर खड़े रोमों की उपमा बड़ी मनोरम और सार्थक है।) जिस प्रकार मेंढक, कोयल और मोर, जो ग्रीष्म में कहीं छिपे हुए पड़े थे और जिनकी बोली तक नहीं सुनाई देती थी, वर्षा का आगमन होते ही बोलने लगते हैं, उसी प्रकार रत्नसेन के आगमन की सूचना मिलते ही नागमती की सखियाँ प्रसन्न हो गाने-बजाने और चहकने लगीं।

राजा रत्नसेन के सारे भाई-बन्धु घोड़ों पर सवार हो उससे मिलने के लिए सबसे पहले चल दिए। भाई-बन्धुओं तथा नगर के लोगों की भीड़ राजा से मिलने के लिए इस प्रकार उमड़ कर चली जा रही थी, मानो ७२ नदियाँ समुद्र में मिलने के लिए उमड़ती हुई चली जा रही हों।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—सांगरूपक। रत्नसेन के आगमन की उपमा आषाढ़ मास की वर्षा से दी गई है।

(२) 'नदी अठारह गंडा'—शुक्लजी के अनुसार अवध में जनसाधारण में यह विश्वास प्रचलित है कि समुद्र में ७२ नदियाँ मिलती हैं। सम्भव है कि मध्यकालीन भारत में प्रमुख नदियों की संख्या ७२ मानी जाती रही हो। एक गंडा चार का होता है। गिनने की यह प्रथा गाँवों में आज भी प्रचलित है।

(४५७)

बाजत गाजत राजा आवा। नगर चहूँ दिसि बाज बधावा॥
बिहँसि आइ माता सौं मिला। राम जाइ भेंटी कौसिला॥
साजे मंदिर बंदनवारा। होइ लाग बहु मंगलचारा॥
पदमावति कर आव बेवानू। नागमती जिउ महँ भा आनू[1]॥
जनहुँ छाँह महँ धूप देखाई। तैसइ झार लागि जौ आई॥
सही न जाइ सवति कै झारा। दुसरे मंदिर दीन्ह उतारा॥
भई उहाँ चहुँ खंड बखानी। रतनसेन पदमावति आनी॥
पुहुप गंध संसार महँ, रूप बखानि न जाइ।
हेम सेतु जनु उघरि गा, जगत पात फहराइ[2]॥५॥

पाठ-भेद—१. नागमती धिकि उठा सो भानू=नागमती को ऐसा प्रतीत हुआ मानो सूर्य छिप उठा हो। २. हेम सेत औ गौर गाजना जगत बात फिरि आइ=यह वार्ता हेमकूट, श्वेत पर्वत, गोर और ग़ज़नी तक संसार भर में फिर आई।

व्याख्या—राजा रत्नसेन बड़े गाजे-बाजे के साथ नगर में आ पहुँचा। नगर में चारों ओर बधाई के मंगल वाद्य बजने लगे। राजा हँसता हुआ आकर अपनी माता से मिला, मानो राम वन से लौटकर माता कौसल्या से भेंट कर रहे हों। राजमहल में वन्दनवार सजाये गए और अनेक प्रकार के मंगल-कार्य होने लगे। इसी समय पद्मावती की पालकी आई। उसे देखकर नागमती के हृदय में कुछ और ही प्रकार का भाव उदय हुआ। पद्मावती का आगमन उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे शीतल छाया में बैठे हुए व्यक्ति को धूप की तीखी किरणें दग्ध कर गई हों। नागमती के हृदय में पद्मावती के आगमन ने इसी प्रकार की ईर्ष्या की जलन उत्पन्न कर दी। उससे सौत की ज्वाला सही नहीं गई, इसलिए उसने पद्मावती की पालकी को अपने महल में न उतरवा कर दूसरे महल में उतरवाया। वहाँ चारों ओर यही चर्चा होने लगी कि रत्नसेन पद्मावती को ले आया है।

पद्मावती का रूप ऐसा अवर्णनीय था कि उसके रूप की किरणें सारे संसार में पुष्प गन्ध के समान व्याप्त हो रही थीं; अर्थात् जिस प्रकार पुष्प की गन्ध स्वतः ही सारे संसार में व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार पद्मावती के रूप की चर्चा अपने आप चारों ओर होने लगी। सारे संसार में उसके रूप की पताका इस प्रकार फहराने लगी मानो चारों ओर सफेद बर्फ छा रही हो।

(४५८)

बैठ सिंघासन, लोग जोहारा। निधनी निरगुन दरब बोहारा॥
अगनित दान निछावरि कीन्हा। मँगतन्ह दान बहुत कै दीन्हा॥
लेइ के हस्ति महाउत मिले। तुलसी लेइ उपरोहित चले॥
बेटा, भाइ, कुँवर जत आवहिं। हँसि हँसि राजा कंठ लगावहिं॥
नेगी गए, मिले अरकाना। पँवरिहिं नाजै घहरि निसाना॥
मिले कुँवर, कापर पहिराए। देइ दरब तिन्ह घरहिं पठाए॥
सब कै दसा फिरी पुनि दुनी। दान-डाँग सबही जग सुनी॥

बाजैं पाँच सबद निति, सिद्धि बखानहिं भाँट।
छतिस कूरि. षट दरसन, आइ जुरे ओहि पाट॥६॥

शब्दार्थ—बोहारा=बुहारा, झाड़ू से समेटा अर्थात् असंख्य धन प्राप्त किया, या व्यवहार। दान-डाँग=दान का डंका। पाँच सबद=पंच शब्द, पाँच बाजे—तंत्री, ताल, झाँझ, नगाड़ा और तुरही। छतिस-कूरि=छत्तीसों कुलों के क्षत्रिय।

व्याख्या—राजा रत्नसेन राज-सिंहासन पर बैठा। लोग आ-आ कर उसके सम्मुख प्रणाम करने लगे। निर्धन और गुणहीन लोगों अर्थात् कंगालों ने दान में अकूत धन प्राप्त किया। राजा पर न्यौछावर कर अगणित दान दिये गए और भिखारियों

को बहुत-सा धन दान में मिला। महावत अपने हाथियों पर सवार हो राजा से मिलने आए और पुरोहित तुलसी-दल से उसे आशीष देने आए। राजा के बेटा भाई और अन्य जितने भी राजकुमार आते थे, राजा उन्हें हँसकर अपने कंठ से लगा लेता था। नेगी अर्थात् नेग प्राप्त करने वाले जब अपने नेग लेकर चले गए, तब सरदार-सामन्त गण राजा से भेंट करने आए। ड्यौढ़ियों पर गम्भीर नगाड़े बजने लगे। राजकुमार आकर राजा से मिले। राजा ने उन्हें वस्त्र पहनाए और धन देकर घर भेज दिया। इस संसार में फिर सबकी दशा फिर गई, अर्थात् सब फिर खुशहाल हो उठे। राजा के दान का डंका सारे जग में बजने लगा।

राज-दरबार में नित्य पाँच प्रकार के बाजे (तंत्री, ताल, झाँझ, नगाड़े, तुरही) बजते रहते थे और भाट लोग राजा की प्रशंसा के गीत गाया करते थे। उस राज-दरबार में छत्तीस कुलों के क्षत्रिय तथा षट् दर्शनों के ज्ञाता विद्वान् आकर जमा हो गए; अर्थात् राजसभा वीर योद्धाओं और विद्वानों से भर उठी।

(४५६)

सब दिन राजा दान दिआवा[1]। भइ निसि, नागमती पहँ आवा॥
नागमती मुख फेरि बईठी। सौंह न करै पुरुष सौं दीठी॥
ग्रीषम जरत छाँड़ि जो आई। सो मुख कौन देखावै आई?[2]॥
जबहिं जरै परबत बन लागे। उठी झार, पंखी उड़ि भागे॥
जब साखा देखैं औ छाहाँ। को नहिं रहसि पसारैं बाहाँ॥
को नहिं हरषि बैठ तेहि डारा। को नहिं करै केलि कुरिहारा?॥
तू जोगी होइगा बैरागी। हौं जरि छार भएउँ तोहि लागी॥
काह हँसौं तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह।
तुम्ह मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरिसै मेह॥७॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन दिन भर दान दिलवाता रहा और जब रात्रि हुई तो उठकर नागमती के पास पहुँचा। नागमती उसकी ओर से मुँह फेरकर बैठ गई। वह अपने पुरुष (पति) से आँख नहीं मिलाती थी। भाव यह है कि नागमती मान करके मुख मोड़कर बैठ गई। वह रत्नसेन से कहने लगी जो पुरुष पत्नी को विरह की ग्रीष्म के समान प्रचंड अग्नि में जलता हुआ छोड़कर चला जाय, वह लौटकर उसे अपना मुख कैसे दिखा सकता है। मेरे विरह-ताल के कारण जब वन-पर्वत जलने लगे और उनसे अग्नि की लपटें उठने लगीं तो वहाँ निवास करने वाले पक्षी उड़कर वहाँ

पाठ-भेद—१. बाजा दान दवाँवाँ=दान का दमामा (नगाड़ा) बजता रहा।
२. पावस आव कवन मुख लाई=वह वर्षा ऋतु में कौन सा मुँह लेकर उसके पास आता है। (यह पाठान्तर अधिक सुन्दर है।)

से भाग गए। गरमी से व्याकुल प्राणी जब कहीं वृक्ष की शाखायें और छाया देख लेता है तो ऐसा कौन है जो प्रसन्नता के साथ उसकी ओर अपना हाथ नहीं बढ़ाता; अर्थात् उस छाया की शीतलता में जाकर विश्राम नहीं करता। कौन-सा ऐसा पक्षी है जो प्रसन्न होकर उस शाखा पर नहीं जा बैठेगा और वहाँ बैठकर आनन्द से कलरव नहीं करने लगेगा। भाव यह है कि दुःख से दग्ध व्यक्ति को यदि मनचाही वस्तु मिल जाय तो वह उसे अवश्य ले लेगा परन्तु विरह-ताप से दग्ध नागमती पति-संयोग के समय भी उस अवसर से लाभ नहीं उठा रही थी। वह रत्नसेन से कहने लगी कि तुम तो योगी हो, वैराग्य धारण कर यहाँ से चले गए और मैं तुम्हारे विरह में जल कर भस्म हो गई।

तुम मुझसे क्या हास-परिहास कर रहे हो, क्योंकि तुम तो किसी अन्य से प्रेम करते हो। तुम्हारे मुख पर तो बिजली के समान प्रसन्नता चमक रही है और मेरे मुख पर मेह बरस रहा है; अर्थात् तुम हँस रहे हो और मैं रो रही हूँ। तुम्हारे लिए यह हँसी है और मेरे लिए रुदन है।

टिप्पणी—जायसी ने इस पद में नागमती का मानवती नायिका के साथ ही साथ कलहान्तरिता नायिका के रूप में चित्रण किया है जो सौतिया-डाह के कारण पति की अवमानना कर उसे खरी-खोटी सुनाती है।

(४६०)

नागमती तू पहिलि बियाही। कठिन प्रीति दाहै जस दाही[1] ॥
बहुतै दिनन आव जो पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ ॥
पाहन लोह पोढ़ जग दोऊ। तेउ सिलहिं जौ होइ बिछोऊ ॥
भलेहि सेत गंगाजल दीठा। जमुन जो साम, नीर अति मीठा ॥
काह भएउ तन दिन दस दहा। जौ बरषा सिर ऊपर अहा ॥
कोइ केहु पास आस कै हेरा। धनि ओहि दरस-निरास न फेरा ॥
कंठ लाइ कै नारि मनाई। जरी जो बेलि सींचि पलुहाई ॥
फरे सहस साखा होइ, दारिउँ दाख, जँभीर।
सबै पंखि मिलि आइ जोहारे, लौटि उहै भइ भोर ॥८॥

व्याख्या—नागमती ने जब राजा रत्नसेन के महल में आने पर उससे मान किया और खरी-खोटी सुनाई तो राजा उससे कहने लगा—

हे नागमती ! मैंने तेरे साथ सबसे पहले विवाह किया था। तू मेरे विरह में

पाठ-भेद—१. कान्ह पिरीति डही जसि राही=जिस प्रकार कृष्ण के विरह में राधा दग्ध हुई थी। (यहाँ डा० गुप्त ने 'राही' का अर्थ 'राधा' कैसे माना है, यह स्पष्ट नहीं होता। खींचतान कर ही यह पाठ और उसका यह अर्थ माना जा सकता है।

उसी प्रकार दग्ध हुई, जिस प्रकार कि गम्भीर प्रेम होने पर दग्ध होना पड़ता है; अर्थात् तू मुझसे गहरा प्रेम करती है और प्रेम का मार्ग कठिन होता है, इसलिए ही तुझे मेरे विरह में दग्ध होना पड़ा। यदि पति बहुत दिनों के बाद लौटकर घर आए और यदि पत्नी उससे न मिले तो उस पत्नी का हृदय पत्थर के समान कठोर होता है। संसार में पत्थर और लोहा—दोनों ही बड़े कठोर अर्थात् कड़े पदार्थ माने जाते हैं। इन दोनों में भी यदि बिछोह हो जाता है तो आगे चलकर ये भी कभी-न-कभी आपस में फिर मिल जाते हैं। (खान में लोहा और पत्थर दोनों मिले रहते हैं।) गंगा का जल भले ही श्वेत दिखाई पड़ता है परन्तु यमुना का जल जो देखने में काला होता है, अत्यन्त मीठा होता है; अर्थात् किसी के बाह्य रूप-रंग को देखकर ही उसके गुण-अवगुण के विषय में अपनी धारणा नहीं बना लेनी चाहिए। (यहाँ गंगाजल गौर वर्णा पद्मावती का और यमुनाजल श्यामवर्ण नागमती का प्रतीक माना जा सकता है।) यदि वर्षा सिर के ऊपर ही हो अर्थात् यदि शीघ्र ही वर्षा आने वाली हो तो उस वर्षा की प्रतीक्षा में यदि दस दिन तक ग्रीष्म का ताप भी झेलना पड़े तो कोई बुराई की बात नहीं; अर्थात् मेरे विरह के उपरान्त जब तुम्हें पुनः मेरा संयोग प्राप्त हो गया है तो तुम्हें अपने उस दुःख को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। कोई व्यक्ति किसी के पास आकर किसी आशा से ही उसकी ओर देखता है और उसके दर्शन पाकर धन्य हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को निराश करके नहीं लौटा देना चाहिए अर्थात् मैं तुम्हारे दर्शनों की अभिलाषा लेकर आया हूँ, परन्तु तुम मेरी ओर पीठ करके बैठ गईं हो और मुझे अपने सुन्दर मुख का दर्शन नहीं करने देतीं। तुम्हारी यह बात उचित नहीं है।

इसके उपरान्त रत्नसेन ने नागमती को अपने कंठ से लगाकर मना लिया। जो लता जल गई थी, वह पुनः पल्लवित हो उठी; अर्थात् विरह-दग्धा नागमती पुनः आनन्द से भर उठी।

दाड़िम, द्राक्षा और जँभीरी के वृक्ष, सहस्र शाखाओं वाले होकर पुनः फल उठे। सारे पक्षी वहाँ लौट आए और उन्होंने उन वृक्षों को प्रणाम किया। वहाँ पक्षियों की फिर पहले की-सी ही भीड़ लग गई। भाव यह है कि नागमती के अंग-प्रत्यंग प्रसन्नता से उमग उठे और चारों ओर आनन्द होने लगा; अर्थात् नागमती में फिर यौवन-श्री और रस आ गया और राजा के अङ्ग-अङ्ग उससे मिले।

टिप्पणी—(१) दाड़िम, द्राक्षा और जँभीरी—ये क्रमशः दाँत, अधर और उरोज के उपमेय हैं।

(२) 'पाहन लोह पोढ़ जग दोऊ'—से भाव यह है कि पत्थर और लोहा एक साथ खान में रहते हैं। खान खोदने पर इन्हें अलग-अलग कर दिया जाता है परन्तु आगे चलकर भवन आदि के निर्माण के समय ये पत्थर और लोहे पुनः मिल जाते हैं। मध्यकाल में पत्थरों की सिल्लियों को परस्पर जोड़ने के लिए लोहे की गुल्लियाँ या आँकड़ेदार पाव काम में लाए जाते थे। यहाँ उसी की ओर संकेत है।

(३) 'दिन दस दहा'—मृगशिरा नक्षत्र के दस दिन 'मृगदाह' कहलाते थे। इन दिनों धरती खूब तपती है और फिर तुरन्त ही वर्षा आ जाती है।

(४६१)

जो भा मेर भएउ रँग राता। नागमती हँसि पूछी बाता॥
कहहु, कंत! ओहि देस लोभाने। कस धनि मिली, भोग कस माने॥
जौ पदमावति सुठि होइ लोनी। मोरे रूप की सरवरि होनी?॥
जहाँ राधिका गोपिन्ह[1] माहाँ। चंद्रावलि सरि पूज न छाहाँ॥
भँवर-पुरुष अस रहै न राखा। तजै दाख, महुआ-रस चाखा॥
तजि नागेसर फूल सोहावा। कवँल बिसैंधहि सौं मन लावा॥
जौ अन्हवाइ भरै अरगजा। तौंहुँ बिसायँध वह नहिं तजा[2]॥
काह कहौं हौं तोसौं, किछु न हिये तोहि भाव।
इहाँ बात मुख मोसौं, उहाँ जीउ ओहि ठाँव॥६॥

व्याख्या—जब नागमती और रत्नसेन का मेल हो गया और दोनों पर प्रेम का रंग चढ़ गया तो नागमती ने हँस कर रत्नसेन से पूछा कि हे स्वामी! यह बताओ जिस देश पर मुग्ध होकर तुम यहाँ से चले गए थे, वहाँ तुम्हें कैसी सुन्दरियाँ मिलीं और तुमने उनके साथ कैसे भोग-विलास किए। यदि पद्मावती सचमुच ही बहुत सुन्दर है तो भी क्या वह मेरे रूप की बराबरी कर सकती है; अर्थात् मेरे समान सुन्दर हो सकती है? गोपिकाओं के झुण्ड में जहाँ राधा बैठी हो वहाँ चन्द्रावली सौन्दर्य में उसकी छाया तक नहीं छू सकती, अर्थात् उसकी तुलना में तनिक भी नहीं ठहर सकती। पुरुष भ्रमर के समान होता है जिसे एक स्थान पर बाँधकर नहीं रखा जा सकता। जिस प्रकार भ्रमर अंगूर को त्याग महुए के रस का पान करता है, उसी प्रकार पुरुष अपनी अनिंद्य सुन्दरी पत्नी को त्याग महुए का-सा मद उत्पन्न करने वाली साधारण स्त्री के पास रस-भोग करने के लिए जाता है (जैसा कि तुमने किया था)। भ्रमर नागकेसर के सुन्दर पुष्प को त्याग, मछली की-सी गन्ध वाले कमल से जाकर प्रेम करता है; अर्थात् तुमने नागकेसर-पुष्प के समान मुझ सुन्दरी को त्याग, उस कमल (पद्मावती) से प्रेम किया जिसके शरीर में से मछली की-सी गन्ध आती है। कमल को यदि खूब स्नान करवा कर उसमें अरगजा जैसा सुगन्धित पदार्थ भर दिया जाय तो भी वह अपनी मछली की-सी गन्ध को नहीं त्यागता, अर्थात् उसमें से सदैव वही दुर्गन्ध आती रहती है।

मैं तुमसे अधिक क्या कहूँ? तुम्हारे मन में तो मेरे प्रति कोई प्रेम है ही

पाठ-भेद—१. अछरिन्ह=अप्सराओं। २. तबहुँ गयंद धूरि नहिं तजा=तो भी गजेन्द्र धूल डालना नहीं छोड़ सकता।

नहीं। यहाँ तुम मुख से मुझसे बातें कर रहे हो, परन्तु तुम्हारे प्राण उसी पद्मावती में पड़े हुए हैं।

टिप्पणी—(१) 'बिसायँध' शब्द के दो अर्थ हैं—स्तुतिपरक और निन्दापरक। स्तुतिपरक अर्थ है—बिस या कमल की गन्ध वाला तथा निन्दापरक अर्थ—मछली की चरबी जैसी गन्ध वाला। यहाँ नागमती कमल की सुन्दर गन्ध को ईर्ष्या के कारण सड़ी मछली की गन्ध कहती है परन्तु कवि शब्द-क्रीड़ा द्वारा बिस गन्ध (कमल की गन्ध) को उत्तम मान रहा है।

(२) इस पद में नागमती के माध्यम से सौतिया-डाह में जलती हुई नारी की ईर्ष्या, कुत्सा और उपालम्भ का बड़ा मनोवैज्ञानिक और मनोहारी चित्रण हुआ है।

(४६२)

कहि दुख कथा जौ रैनि बिहानी। भएउ भोर जहँ पदमिनि रानी॥
भानु देख ससि-बदन मलीना। कँवल नैन राते, तनु खीना॥
रैन नखत गनि कीन्ह बिहानू। बिकल भई देखा जब भानू[1]॥
सूर हँसं, असि रोइ डफारा। टूट आँसु जनु नखतन्ह मारा॥
रहै न राखी होइ निसाँसी। तहँवा जाहु जहाँ निसि बासी॥
हौं के नेह कुआँ महँ मेली। सींचै लागि झुरानी बेली॥
नैन रहे होइ रहँट क घरी। भरी ते ढारी, छूँछी भरी॥
सुभर सरोवर हंस चल, घटतहि गए बिछोइ॥
कँवल न प्रीतम परिहरै, सूखि पंक बरु होइ॥१०॥

व्याख्या—नागमती ने इस प्रकार अपनी दुःख गाथा कहते हुए सारी रात बिता दी। जब सूर्योदय हुआ तो रत्नसेन नागमती के पास से उठकर वहाँ गया जहाँ रानी पद्मावती थी। सूर्य अर्थात् रत्नसेन ने देखा कि चन्द्रमा (पद्मावती) का मुख मलिन हो रहा है, उसके कमल-नेत्र लाल हैं तथा शरीर क्षीण हो गया है; अर्थात् पति की प्रतीक्षा में रात-भर जागने के कारण पद्मावती का मुख मलिन, नेत्र लाल और शरीर क्षीण हो रहा है। पद्मावती ने तारे गिनते हुए रात काटी थी। जब उसने प्रभात होने पर सूर्य (रत्नसेन) को देखा तो व्याकुल हो उठी। यह देख सूर्य (रत्नसेन) हँसने लगा और चन्द्रमा (पद्मावती) धाड़ मार कर रोने लगा। उसके नेत्रों से आँसू इस प्रकार नीचे गिरने लगे, मानो नक्षत्रों की माला टूट गई हो और उसमे से नक्षत्र नीचे टपक रहे हों। रत्नसेन उसे मानने का प्रयत्न करने लगा, परन्तु वह नहीं मानती थी और गहरी साँसें भर रही थी। पद्मावती रत्नसेन से कहने लगी कि तुम वहीं

पाठ-भेद—१. विमल भई जस देखे भानू=वह भानु अर्थात् रत्नसेन को देख निर्मल हो गई। (यह पाठ और अर्थ निहायत असंगत है, जैसाकि इससे आगे की पंक्तियों द्वारा स्पष्ट हो जाता है।)

जाओ जहाँ रात के समय रहे थे। मैंने तुमसे प्रेम किया परन्तु तुमने मुझे कुएँ में धकेल दिया और उस सूखी हुई लता अथवा विरह-दग्धा नागमती को जाकर सींचने लगे, उससे प्रेम करने लगे। पद्मावती के नेत्र रहट की घरिया के समान हो रहे थे। जिस प्रकार रहट की घरिया में ऊपर लगे घड़े ऊपर आने पर खाली हो जाते हैं और नीचे वाले खाली घड़े भर जाते हैं, उसी प्रकार पद्मावती के नेत्रों में भरे आँसू छलक कर गिर जाते थे और हृदय में उच्छ्वास उठने के कारण उनमें पुनः आँसू भर जाते थे। भाव यह है कि पद्मावती बराबर रोए जा रही थी।

सरोवर को भरा हुआ देख हंस उसमें आ क्रीड़ा करने लगते हैं, परन्तु जब उसका जल घटने लगता है तो उसे त्याग अन्यत्र चले जाते हैं। परन्तु कमल उस सरोवर के प्रति अपने प्रेम को नहीं त्यागता। भले ही सरोवर का सारा जल सूख जाय और उसमें केवल कीचड़ ही शेष रह जाय, कमल तब भी वहीं रहता है। भाव यह है कि पद्मावती कह रही है कि जब मेरा यौवन सरोवर के समान भरा-पूरा था, उस समय तो तुमने मेरे साथ केलि-क्रीड़ा की थी परन्तु जब मेरा यौवन ढलने लगा तो तुम मुझे त्याग कर नागमती के पास चले गए। परन्तु मैं तो तुमसे उसी प्रकार प्रेम करती हूँ जिस प्रकार कमल सरोवर से करता है; अर्थात् मैं तुम्हें कभी नहीं छोड़ सकूँगी।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'टूट···मारा'—रूपक अलंकार। 'नैन····भरी'—उपमा अलंकार।

(२) नैन रहे·······छूँछी भरी'—में नेत्रों से निरन्तर झरते हुए अश्रुओं का अत्यन्त सुन्दर शब्द-चित्र अंकित हुआ है।

(३) इस पद से यह ध्वनि निकलती है कि नागमती के समान पद्मावती के हृदय में भी सौतिया डाह था। इस दृष्टि से ये दोनों नारियाँ समान हैं। साथ ही इस पद द्वारा उस पति की दारुण दशा का अच्छा परिचय मिल जाता है, जिसके एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं और वह सभी को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है।

(४६३)

पदमावति तुइँ जीउ पराना। जिउ तें जगत पियार न आना॥
तुइ जिमि कँवल बसी हिय माहाँ। हौं होइ अलि बेधा तोहि पाहाँ॥
मालति कली भँवर जौ पावा। सो तजि आन फूल कित भावा?॥
मैं हौं सिंघल कै पदमिनी। सरि न पूज जंबू-नागिनी॥
हौं सुगंध निरमल उजियारी। वह विष-भरी डेरावनि कारी॥
मोरी बास भँवर सँग लागहिं। ओहि देखत मानुष डरि भागहिं॥
हौं पुरुषन्ह क चितवन दीठी। जेहिके जिउ अस अहौं पईठी॥

ऊँचे ठाँव जो बैठे, करै न नीचहि संग।
जहँ सो नागिनि हिरकै, करिया[1] करै सो अंग ॥११॥

व्याख्या—सौतिया-डाह के कारण पद्मावती को अत्यन्त व्याकुल हो फूट-फूट कर रोता देख, रत्नसेन उसे सान्त्वना देने का प्रयत्न करते हुए कहने लगा—

हे पद्मावती ! तुम तो मेरे लिए जीवन और प्राण के समान प्रिय हो। इस संसार में प्राणों से अधिक प्रिय अन्य कोई भी नहीं होता। तुम कमल के समान मेरे हृदय में बसी हो। मैं भ्रमर बनकर तुम्हारे पास बिंधा हुआ हूँ; अर्थात् जिस प्रकार भ्रमर कमल में बन्द हो जाता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे प्रेम-पाश में आबद्ध हूँ। यह सुन पद्मावती कहने लगी कि जब भ्रमर मालती की कली को प्राप्त कर लेता है तो उसे त्याग फिर दूसरे फूलों के पास क्यों जाता है; अर्थात् जब तुमने मालती की कली के समान मुझे प्राप्त कर लिया था तो तुम नागमती के पास क्यों गए थे। मैं सिंहल-द्वीप की पद्मिनी हूँ। जम्बू द्वीप की वह नागिन (नागमती) मेरी बराबरी नहीं कर सकती। मैं कमल की सुगन्धि से पूर्ण, निर्मल और उज्ज्वल हूँ—अर्थात् मैं कान्तिमयी, सौन्दर्य-शालिनी और सुगन्धि से युक्त हूँ, परन्तु वह नागमती तो विष से भरी भयावनी और काली नागिन के समान है। मेरी सुगन्धि से आकृष्ट हो भ्रमर मेरे साथ लग जाते हैं (पद्मावती कमल-गन्धा थी,) और उसे देख मनुष्य भयभीत हो भाग खड़े होते हैं। मैं जिसके हृदय में इस प्रकार बसी रहती हूँ जैसे कि तुम्हारे हृदय में बसी हुई हूँ, मैं उस पुरुष की अर्थात् तुम्हारी दृष्टि को पहचानती हूँ, अर्थात् मैं पुरुष की चितवन से ही यह पहचान लेती हूँ कि वह मुझसे कितना प्रेम करता है। भाव यह है कि मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे प्रेम न कर, नागमती से प्रेम करते हो।

जो व्यक्ति ऊँचे अर्थात् अच्छे स्थान पर बैठता है अर्थात् अच्छे पुरुषों के साथ रहता है, वह नीच व्यक्तियों के साथ कभी नहीं बैठता। शरीर के जिस स्थान पर नागिन चिपट जाती है, वह अंग काला पड़ जाता है। भाव यह है कि नागमती नागिन के समान है। उसका संग करने से तुम्हारा अनिष्ट होगा।

टिप्पणी—कुछ आलोचकों ने पद्मावती को ईश्वर का रूप माना है और इसी आधार पर 'पद्मावत' को अन्योक्ति कहा है। परन्तु पद्मावती का इस पद में वर्णित रूप उसे एक साधारण नारी के स्तर पर ला बैठाता है जो सौतिया-डाह के कारण अपनी सौत (नागमती) को नागिन कहती है। पद्मावती का यह जघन्य रूप देखकर भी यदि उसे ईश्वर का रूप माना जाय तो आलोचकों की जैसी मर्जी। हम उनकी मर्जी में क्या दखल दे सकते हैं ?

(४६४)

पलुही नागमती कै बारी। सोने फूल फूलि फुलवारी ॥
जावत पंखि रहे सब दहे। सबै पंखि बोलत गहगहे ॥

पाठ-भेद—१. काह कहिअ = उस अंग के लिए क्या कहा जाय।

सारिउँ सुवा महरि कोकिला। रहसत आइ पपीहा मिला।।
हारिल सबद, महोख सोहावा। काग कुराहर करि सुख पावा।।
भोग बिलास कीन्ह कै फेरा। बिहँसहिं, रहसहिं, करहिं बसेरा।।
नाचहिं पंडुक मोर परेवा। बिफल न जाइ काहुकै सेवा।।
होइ उजियार सूर जस तपै[1]। खूसट मुख न देखावै छपै।।
संग सहेली नागमति, आपनि बारी माहँ।
फूल चुनहिं, फल तूरहिं,[2] रहसि कूदि सुख-छाँह।।१२।।

व्याख्या—रत्नसेन के आ जाने से नागमती की फुलवारी पल्लवित हो उठी। वह फुलवारी सोने के समान पीले फूलों के खिल जाने से भर उठी। उसमें रहने वाले जितने भी पक्षी थे, वे सब पहले नागमती के विरह-ताप की ज्वाला से दग्ध हो गए थे। परन्तु अब नागमती के संयोगवती बन जाने के कारण उसकी फुलवारी पुनः पल्लवित हो उठी थी। इसलिए वे सब पक्षी लौटकर वहाँ आ गए और कलरव करने लगे। मैना, तोता, ग्वालिन, कोयल आदि वहाँ चहचहा रहे थे, यह देख पपीहा भी प्रसन्न होता हुआ वहाँ आ पहुँचा। हारिल पक्षी बोलने लगे, महोख इधर-उधर क्रीड़ा करते हुए सुन्दर लगने लगे। कौए कोलाहल करते हुए सुख पाने लगे। अब उनके जीवन में भोग-विलास का आनन्द पुनः लौटकर आ गया था, इसलिए सारे पक्षी हँसते और आनन्द मनाते हुए उस वाटिका में बसेरा लेने लगे। पंडुकी, मोर और कबूतर नृत्य करने लगे। किसी का भी सेवा करना कभी निष्फल नहीं जाता। उस वाटिका में चारों ओर ऐसा प्रकाश छा गया, मानो वहाँ सूर्य तप रहा हो। यह देख कर खूसट (उल्लू) अपना मुँह नहीं दिखाते और कहीं जाकर छिप जाते हैं।

नागमती अपनी सहेलियों के साथ अपनी फुलवारी में फूल चुनती है, फल तोड़ती है और वृक्षों की सुखद छाया तले हँस-कूद आनन्द मनाती है।

पाठ-भेद—१. बैठि जस तपा=तपस्वी के समान बैठ जाते हैं। २. चूरहिं=तोड़ती है।

३६

नागमती-पद्मावती-विवाद-खंड

(४६५)

जाही जूही तेहि फुलवारी । देखि रहस रहि सकी न बारी ॥
दूतिन्ह बात न हिये समानी । पदमावति पहँ कहा सो आनी ॥
नागमती है आपनि बारी । भँवर मिला रस करै धमारी ॥
सखी साथ सब रहसहिं कूदहिं । औ सिंगार-हार सब गूँथहिं ॥
तुम जो बकावरि तुम्ह सौं भरना । बकुचन गहै चहै जो करना ॥
नागमती नागेसरि नारी । कँवल न आछै आपनि बारी ॥
जस सेवतीं गुलाल चमेली । तैसि एक जनु बहू अकेली ॥
अलि जो सुदरसन कूजा, कित सदबरगै जोग ?
मिला भँवर नागेसरिह, दीन्ह ओहि सुख-भोग ॥१॥

व्याख्या—नागमती सखियों सहित अपनी फुलवारी में क्रीड़ा कर रही थी। रत्नसेन भी वहीं जा पहुँचा और नागमती के साथ क्रीड़ा करने लगा। दूतियों ने यह बात जाकर पद्मावती से जड़ दी। जायसी इसी का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

नागमती की वाटिका में जाही, जुही आदि के पुष्प खिल रहे थे। वाटिका को इस प्रकार फूलों से भरा हुआ देख बाला नागमती अपने हर्ष को रोक न पाई। परन्तु दूतियों के हृदय में बात पच न सकी। उन्होंने जाकर पद्मावती से कहा कि नागमती अपनी वाटिका में है। भ्रमर अर्थात् रत्नसेन वहाँ जाकर उससे मिला है और वहाँ प्रेम की खूब धमा-चौकड़ी सी मची हुई है; अर्थात् नागमती और रत्नसेन आनन्द-क्रीड़ा कर रहे हैं। उनके साथ नागमती की सखियाँ भी नाच-कूद रही हैं, और आनन्द मना रही हैं तथा सिंगार-हार के फूलों के हार गूँथ रही हैं। तुम भी गुल-बकावली के फूल के समान हो, क्या तुमसे राजा का मन नहीं भरता जो वह करना पुष्प को अपने आलिंगन में आबद्ध करना चाहता है। नागमती नागकेसर के पुष्प के समान नारी है, वह अपनी वाटिका में कमल अर्थात् पद्मावती को नहीं रखती अर्थात् तुम्हें अपनी वाटिका में नहीं आने देती। सेवती, गुलाला और चमेली के पुष्पों से सेवित वही एक अकेली नारी है; अर्थात् इन पुष्पों के समान सुन्दरी सखियाँ उसी नागमती की सेवा में रत रहती हैं।

जो भ्रमर सुदर्शन पुष्प पर गुंजार करता है, वह गेंदे के पुष्प के योग्य कैसे रह जायेगा ? भ्रमर नागकेसर के पुष्प से मिला है और उसने उसे सुख-भोग प्रदान किया है; अर्थात् रत्नसेन नागमती से जा मिला है और उसके साथ केलि-क्रीड़ा कर उसे सुख प्रदान कर रहा है ।

टिप्पणी—अलंकार—इस पद में अनेक पुष्पों के नाम आए हैं, इसलिए 'मुद्रालंकार' मानना चाहिए ।

(४६६)

सुनि पदमावति रिस न सँभारी । सखिन्ह साथ आई फुलवारी ।।
दुवौ सवति मिलि पाट बईंठी । हिय विरोध, मुख बातें मीठी ।।
बारी दिस्टि सुरंग सो आई । पदमावति हँसि बात चलाई ।।
बारी सफल अहै तुम रानी । है लाई, पै लाइ न जानी ।।
नागेसर औ मालति जहाँ । सँगतराव[1] नहिं चाही तहाँ ।।
रहा जो मधुकर कँवल-पिरीता । लाइउ आनि करीलहि रीता ।।
जहँ अमिली पाकै हिय माहाँ । तहँ न भाव नौरंग कै छाहाँ ।।
फूल फूल जस फर जहाँ, देखहु हिये बिचारि ।
आँब लागि जेहि बारी, जाँबु काह तेहि बारि ?[2] ।।२।।

शब्दार्थ—सुरंग=सुन्दर, रंग-बिरंगे फूलों से भरी । सँगतराव=सँगतरा नीबू, संगत राव; अर्थात् राजा का साथ । अमिली=इमली, न मिली हुई, विरहिणी । नौरंगी=नारंगी, नए आमोद-प्रमोद, नवरंग ।

व्याख्या—जब पद्मावती ने दूतियों द्वारा यह समाचार सुना कि राजा नागमती के साथ उसकी वाटिका में प्रेम क्रीड़ा कर रहा है तो वह अपने क्रोध को न सम्भाल सकी और अपनी सखियों के साथ वहीं फुलवारी में जा पहुँची । वहाँ दोनों सौतें एक साथ मिलकर आसन पर बैठ गईं । उन दोनों के हृदयों में एक-दूसरे के प्रति शत्रुता का भाव था परन्तु वे मुख से मीठी बातें करने लगीं । जब पद्मावती ने नागमती की रंग-बिरंगे पुष्पों से भरी सुन्दर वाटिका को देखा तो उसने हँस कर वाटिका के सम्बन्ध में ही बातें छेड़ दीं और बोली कि हे रानी ! तुम्हारी वाटिका तो फलों से भरी-पूरी है । तुमने वाटिका लगाई तो है परन्तु तुमसे ढंग से लगाना नहीं आया । जिस वाटिका में नागकेसर और मालती जैसे सुन्दर और कोमल पुष्प लगे हों वहाँ संगतरा नीबू जैसे काँटेदार और खट्टे फल वाले वृक्ष नहीं लगाने चाहिए । भाव यह है कि जहाँ नागमती (नागकेसर) और पद्मावती (मालती) साथ-साथ बैठी बात कर रही

पाठ-भेद १. संखदराउ=शंखद्राव, अम्लवेतस । २. जाँबु लागि रहि आरि=वहीं उसकी आर (पास) में (तू) (नीरस) जामुन लगी हुई है ।

हों वहाँ राजा का साथ नहीं रहना चाहिए; अर्थात् राजा रत्नसेन को यहाँ से चला जाना चाहिए। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि राजा रत्नसेन नागमती और पद्मावती का एक साथ रहना पसन्द नहीं करता। जो भ्रमर कमल से प्रेम करता था उसे लाकर तुमने करील के पत्रहीन नीरस वृक्ष से अटका दिया है; अर्थात् पद्मावती कमल के समान सुन्दर, सुगन्धित और कोमल है तथा नागमती करील के समान शोभाहीन, काँटेवाली अर्थात् कर्कशा और नीरस है। जहाँ पर इमली के पक जाने की हृदय में चाहना भरी हो वहाँ नारंगी की छाया अच्छी नहीं लगती, अर्थात् पकी हुई इमली का प्रेमी नारंगी को पसन्द नहीं करता, क्योंकि पकी हुई इमली में खट्टे और मीठे दोनों प्रकार के स्वाद होते हैं परन्तु नारंगी खट्टी होती है, अथवा जहाँ हृदय में अमिली अर्थात् विद्वेष का भाव पक रहा हो, वहाँ नए आमोद-प्रमोद मनाना अच्छा नहीं लगता; अर्थात् विरहिणी नारी का हृदय पति-वियोग के कारण पके फोड़े के समान होता है। ऐसी दशा में उसे नए आमोद-प्रमोद मनाना अच्छा नहीं लगता। भाव यह है कि तुम यहाँ पति के साथ आनन्द मना रही हो और मैं विरहिणी बनी हुई हूँ, इसलिए यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता।

तुम अपने हृदय में विचार कर देखो कि जिस वाटिका में जैसे फूल फूल रहे हों वहाँ वैसे ही फल वाले वृक्ष लगाने चाहिए। जिस वाटिका में आम के वृक्ष लगे हों वहाँ जामुन के वृक्षों का क्या काम? अर्थात् जहाँ फलों में सर्वश्रेष्ठ आम लगे हों, वहाँ काली-कलूटी जामुन का क्या काम? भाव यह है कि जहाँ मुझ जैसी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हो, वहाँ तुम जैसी काली-कलूटी का क्या काम?

टिप्पणी—अलंकार—श्लेष।

(४६७)

अनु, तुम कही नीक यह सोभा। पै फल सोइ भँवर जेहि लोभा॥
साम जाँबु कस्तूरी चोवा। आँब ऊँच, हिरदय तेहि रोवाँ॥
तेहि गुन अस भई जाँबु पियारी। लाई आनि माँझ कै बारी॥
जल बाढ़े बहि इहाँ जो आई। है पाकी अमिली जेहि ठाई॥
तुँ कस पराई बारी दूखी। तजा पानि, धाई मुँह-सूखी॥
उठे आगि दुइ डार अभेरा। कौन साथ तहँ बैरी केरा॥
जो देखी नागेसर बारी। लगे मरै सब सुआ सारी॥
जो सरवर-जल बाढ़ै, रहै सो अपने ठाँव।
तजि कै सर जौ कुंडही, जाइ न पर अँबराव[1] ॥३॥

पाठ-भेद—१. तजि केसरि और कुंदहि जाँउन पर अँबराउँ=केसर और कुन्द जैसे फूलों को छोड़कर आम्राराम (आम का बाग) में हो न हो फलवती जामुन ही होती है।

व्याख्या—पद्मावती की व्यंग्य-भरी बातों को सुन नागमती उत्तर देती हुई कह रही है—

हे पद्मावती ! अनुकूल हो ! तुमने मेरी वाटिका की शोभा की जो प्रशंसा की वह ठीक है। परन्तु फल तो वही श्रेष्ठ होता है, भ्रमर जिस पर लुब्ध हो उसके पास जाता है। भाव यह है कि सुन्दरी स्त्री तो वही होती है जो अपने पति की प्यारी हो ('लोनी सोइ कंत जेहि चाहै'—नागमती-सुआ-संवाद खंड); अर्थात् तुम भले ही मुझसे अधिक सुन्दरी हो परन्तु पति तो मुझे ही प्यार करता है, इसलिए मैं तुम्हारी चिन्ता क्यों करूँ। जामुन काली होती है परन्तु उसमें कस्तूरी और चोवा की सी सुगन्धि रहती है, अथवा जामुन कस्तूरी और चोवा जैसे सुगन्धित पदार्थों के समान काली होती है और उन्हीं के समान सुगन्धित भी। आम ऊँचा होता है अर्थात् जामुन से श्रेष्ठ फल माना जाता है परन्तु उसके भीतर रेशे होते हैं जो खाते समय दाँतों में अटक कर खाने वाले को कष्ट देते हैं। जामुन में रेशे नहीं होते। जामुन के इसी गुण के कारण ही वह अधिक प्यारी बन गई है, और इसीलिए उसे वाटिका के बीच में स्थान दिया गया है; अर्थात् मैं अपने पति को रस-भोग करते समय किसी प्रकार का कष्ट नहीं देती, जामुन के समान तुरन्त घुल जाती हूँ, इसी कारण पति ने मुझे प्रमुख स्थान प्रदान किया है।

नागमती कहती है कि मैंने तो इमली को यहाँ नहीं लगाया था। वह तो जब पानी की बाढ़ आई थी, तब उसी के साथ बह कर यहाँ आ गई थी और अब पक कर खड़ी हुई है; अर्थात् मैंने तो तुम्हें यहाँ नहीं बुलाया था। जब तुम्हारे हृदय में प्रेम की बाढ़ उत्पन्न हुई थी अर्थात् तुम रत्नसेन के प्रेम में उन्मत्त हो गई थीं तब स्वयं ही राजा के साथ यहाँ आई थीं और अब पति से वियुक्त होकर हृदय में द्वेष की आग लगने से पक अर्थात् दग्ध हो रही हो। तुम पराई वाटिका को देखकर मन में क्यों दुखी होती हो ? जब जल कमल का साथ छोड़ देता है तो कमल मुरझा जाता है; अर्थात् राजा ने तुम्हारा साथ छोड़ दिया है, इसीलिए विरह के कारण तुम्हारा मुख सूख रहा है और तुम दौड़ी-दौड़ी मेरे पास आई हो, अथवा पति से वियुक्त हो तुम अपनी लज्जा को त्याग सूखा मुँह लिए मेरे पास दौड़ी आई हो।

जब वृक्ष की दो शाखाएँ आपस में रगड़ उठती हैं तो अग्नि उत्पन्न हो जाती हैं; अर्थात् यदि दो सौतों में कलह होती है तो पति उस कलह से दुःखी हो बरबाद हो जाता है, जिस प्रकार दो शाखाओं की रगड़ से उत्पन्न अग्नि वृक्ष को जला देती है। इसलिए तुम्हें मेरे साथ कलह नहीं करनी चाहिए। बेर के वृक्ष और केले के वृक्ष का साथ अच्छा नहीं होता, क्योंकि हवा चलने पर बेर के काँटे केले के पत्तों को फाड़ डालते हैं; अर्थात् यदि तुम मेरे साथ कलह करोगी तो तुम्हारा विनाश निश्चित है।

जब तोता और मैना नागकेसर की वाटिका को फूलता हुआ देखते हैं तो उस पर मुग्ध हो उस पर अपने प्राण न्यौछावर करने लगते हैं; अर्थात् तुमने मेरी फुलवारी

को फूलता-फलता हुआ देखा तो तुम भी उस पर मुग्ध हो उठीं और उसमें रहने के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर करने को प्रस्तुत हो गईं। भाव यह है कि तुम मेरे सुख-सौभाग्य को देखकर स्वयं भी उसे प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठीं। इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया गया है कि जिसने नागकेसर की वाटिका को देखा, वही स्पर्धा से मरने लगा कि यहाँ अनेक तोते और मैनायें भरी हुई हैं।

नागमती आगे कहती है कि जो कमल सरोवर के जल में बढ़ता है, वह अपने स्थान पर ही रहता है। वह सरोवर और कुंड को त्याग पराई अमराई अर्थात् पराई वाटिका में कभी नहीं जाता, अर्थात् तुम अपने निवास-स्थान सिंहल को छोड़ या अपने महल को छोड़ मेरी इस वाटिका में क्यों आई हो ? जिस प्रकार कमल सरोवर को त्याग वाटिका में जा पहुँचे तो सूख जायेगा, उसी प्रकार तुम मेरी इस वाटिका में आकर मुझसे कलह कर सफल नहीं हो सकतीं, क्योंकि तुम्हारा स्थान यहाँ न होकर तुम्हारे अपने महल में ही है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—श्लेष और वक्रोक्ति।

(२) इस पद में व्यंग्य और वक्रोक्ति का सौंदर्य दर्शनीय है।

(४६८)

तुइँ अँबराव लीन्ह का जूरी[1]। काहे भई नीम विष-मूरी॥
भई बैरि कित कुटिल कटैली। तेंदू टेंटी[2] चाहि कसैली[3]॥
दारिउँ[4] दाख न तोरि फुलवारी। देखि मरहि का सूआ सारी ?॥
औ न सदाफर तुरँज जँभीरा। लाये कटहर बड़हर खीरा॥
कँवल के हिरदय भीतर केसर। तेहि न सरि पुजै नागेसर॥
जहँ कटहर ऊमर को पूछै ?[5]। बर पीपर[6] का बोलहिं छूँछै॥
जो फल देखा सोई फीका। गरब न करहिं जानि मन नीका॥
रहु आपनि तू बारी, मो सौं जूझु, न बाजु।
मालति उपम न पूजै, वन कर खूझा खाजु॥४॥

व्याख्या—नागमती की व्यंग्य भरी और कटुतापूर्ण बातों को सुन पद्मावती कहने लगी कि—तूने अपनी इस वाटिका में इकट्ठा ही क्या किया है (जो तुझे इस पर इतना गर्व है) ? तूने इसमें विष की मूल अर्थात् जहर के समान कड़ुवा नीम क्यों लगाया है और उसके साथ टेढ़े-मेढ़े और कँटीले बेर के वृक्ष तथा कसैले तेंदू और टेंटी (करील का फल) की झाड़ियाँ क्यों लगाई हैं ? कारण यह प्रतीत होता है कि तू इन्हें ही पसन्द करती है ? भाव यह है कि तू स्वयं स्वभाव से कड़वी, कुटिल, झगड़ालू

पाठ-भेद—१. चूरी=तोड़ा। २. कैथ। ३. बिगसैली=विकासशील, बढ़ने वाली। ४. नारँग=नारंगी। ५. जहँ केसरि नहिं उँबरै पूँछै=जहाँ केसर नहीं है वहाँ उदुम्बर की ही पूछ होती है। ६. पाकरि।

और कसैली है; इसीलिए तूने अपने स्वभाव जैसे इन फलों वाले वृक्षों को लगाया है। तेरी वाटिका में अनार और अँगूर जैसे फल देने वाले वृक्ष और लताएँ नहीं है। फिर बता कि तोता और मैना क्या देखकर तेरी वाटिका पर मरेंगे ? (पिछले पद में नागमती ने कहा था कि—"जो देखी नागसेर बारी। लगे मरै सब सूआ सारी।" यहाँ पद्मावती इसी का उत्तर दे रही है।) तेरी वाटिका में सदाफल, तुरंज और जँभीरी जैसे सुस्वाद, सुन्दर और मनोरम फल नहीं लगते बल्कि कटहल, बड़हल और खीरा जैसे बड़े, भद्दे और जहरीले मुख वाले फल लगते हैं। (खीरा का सिर काट उसका जहर निकाल कर तब उसे खाया जाता है। कटहल के ऊपर काँटे होते हैं। इसी कारण पद्मावती उन्हें बुरा कह रही है।) तूने जो यह कहा था कि कमल अपने स्थान को छोड़ अन्यत्र नहीं जाता, उसका उत्तर यह है कि कमल अर्थात् मैं अपने गुणों के कारण ही यहाँ आयी हूँ, क्योंकि कमल के हृदय में अर्थात् कोश में केसर भरी रहती है अर्थात् मेरा हृदय केसर के समान प्रेम-रस से लाल, सुगन्धित और मधुर भावनाओं से ओत-प्रोत है। नागकेसर का फूल ऐसे कमल की क्या समानता कर सकेगा; अर्थात् तू मेरी क्या बराबरी कर सकेगी ? जहाँ कटहल होता है वहाँ गूलर को कौन पूछता है और कटहल के सामने बड़ और पीपल क्या बोल सकते हैं, जो फलों की दृष्टि से छूँछे होते हैं अर्थात् जिनके फलों का कोई महत्त्व ही नहीं होता। मैंने तेरी वाटिका में जिस फल को भी देखा, वही फीका लगा। अतः तू अपने मन में यह समझ कर कि मेरी वाटिका बहुत अच्छी है, गर्व न कर।

पद्मावती फिर खीझ कर आगे कहती है कि तू अपनी वाटिका में रह। तू मुझसे क्यों झगड़ती है ? मुझसे मत लड़, क्योंकि वन के नीरस फल मालती की कभी भी बराबरी नहीं कर सकते। भाव यह है कि तू भले ही अपने रूप पर गर्व कर अपनी दुनिया में मग्न रह, परन्तु तू कभी भी मेरी बराबरी नहीं कर सकती।

(४६९)

जो कटहर बड़हर झड़बेरो[1]। तोहि असि नाहीं, कोकाबेरी ! ।।
साम जाँबु मोर तुरँज जंभीरा। करुई नीम तौ छाँह गँभीरा ।।
नरियर दाख ओहि कहँ राखौं। गलगल जाउँ सवति नहि भाखौं ।।
तोरे कहे होइ मोर काहा ?। फरे बिरिछ[2] कोइ ढेल न बाहा ।।
नवैं सदाफर सदा जो फरई। दारिउँ देखि फाटि हिय मरई ।।
जयफर लौंग सोपारि छोहारा। मिरिच होइ जो सहै न झारा ।।
हौं सो पान रँग पूज न कोई। बिरह जो जरै चून जरि होई ।।

पाठ-भेद—१. तौ बड़ेरी=यह मेरा बड़प्पन है। २. फर बिनु=फल न लगे हों तो।

लार्जाहि बूड़ि मरसि नहिं, ऊभि उठावसि बाँह[1] ।
हौं रानी, पिय राजा; तो कहँ जोगी नाह ॥५॥

व्याख्या—पद्मावती की कटु बातों को सुनकर नागमती उत्तर देती हुई कहती है—यदि मेरी वाटिका में कटहल, बड़हल और झरबेरी जैसे फल वाले वृक्ष लगे हैं तो यह तो बड़प्पन की बात है, क्योंकि मेरी यह वाटिका तेरे समान नहीं है जो केवल कमलिनी के ही समान है, जिसमें केवल छोटे-छोटे फूल ही लगते हैं और फल एक भी नहीं लगता। इसलिए ये फल तुझसे अधिक उपयोगी है, क्योंकि तू तो केवल देखने भर की वस्तु है, जब कि ये फल खाने के काम आते हैं। यदि मेरी वाटिका में कड़वा नीम लगा है तो उसकी उपयोगिता यह है कि यह घनी छाया प्रदान करता है। मैंने अपनी वाटिका में नारियल और अंगूर केवल अपने स्वामी को दिखाने के लिए ही सुरक्षित रखे हैं। मैं भले ही गल-गल कर मर जाऊँ परन्तु अपनी सौत को उनका पता कभी नहीं बताऊँगी। भाव यह है मैं अपने उरोजों (नारियल) और अँगूरों (अधरों) को केवल अपने स्वामी के लिए ही सुरक्षित रखती हूँ। फिर तेरे इस प्रकार बकने से मेरा क्या बन-बिगड़ सकता है। फलवान वृक्ष पर कोई भी भला आदमी ढेले नहीं फेंकता; अर्थात् तू दुष्ट है, इसी कारण मुझे फलवान अर्थात् अपने प्रियतम की प्रिया देख द्वेष के कारण मेरे ऊपर वाक्-प्रहार कर रही है। सदैव फलने वाला सदाफल वृक्ष जब फलता है तो फल-भार के कारण झुक जाता है और जब अनार का वृक्ष उसे सदैव फलते हुए देखता है तो द्वेष के कारण उसका हृदय फट जाता है। (अनार पकने पर फट जाता है।) भाव यह है कि मैं तो सदैव ही पति की प्रिया रही हूँ, इसी कारण मैं तेरे साथ विनम्रता के साथ पेश आ रही हूँ। परन्तु मेरे इस सुख को देख तेरा हृदय अनार के समान फट रहा है, विदीर्ण हो रहा है। जायफल, सुपाड़ी, लौंग, छुहारा, मिर्च आदि वृक्षों के लगाने से क्या लाभ ! क्योंकि जायफल कसैला, लौंग कड़वी, सुपाड़ी कठोर, छुहारा सूखा हुआ होता है और मिर्च तो इतनी चरपरी (कड़वी) होती है कि उसकी चरपराहट को सहन नहीं किया जा सकता। फिर मैं ऐसे वृक्षों को अपनी वाटिका में क्यों लगाऊँ ! मैं तो उस पान के समान हूँ जिसके रंग की कोई भी समानता नहीं कर सकता; अर्थात् जिस प्रकार पान खाने से मुँह लाल हो जाता है उसी प्रकार मेरे प्रेम में रँग कर मेरा प्रियतम पूर्ण रूपेण प्रेम के रंग में सराबोर हो गया है। जो व्यक्ति विरह में जलता है—वह उसी प्रकार चूना बन जाता है, जिस प्रकार कंकड़ जल कर चूना हो जाता है; अर्थात् तू पति-विरह में जल-कर चूना हो रही है।

तू लज्जा से डूब नहीं मरती। क्यों द्वेप में भर अपनी भुजाएँ उठा-उठा कर मुझसे लड़ रही है। मैं रानी हूँ और राजा रत्नसेन मेरा स्वामी है। तेरे लिए तो

पाठ-भेद—१. माँथ=मस्तक ।

योगी ही स्वामी बनने के योग्य है; अर्थात् तू किसी योगी की पत्नी बन। तू राजा की पत्नी बनने के योग्य नहीं है।

(४७०)

हौं पदमिनि मानसर केवा। भँवर मराल करहिं मोरि सेवा॥
पूजा-जोग दई हम्ह गढ़ी। और महेस के माथे चढ़ी॥
जानै जगत कँवल कै करो। तोहि अस नहिं नागिनि बिषभरी॥
तुइँ सब लिए जगत के नागा। कोइल भेस न छाँड़ेसि कागा॥
तू भुजइल, हौं हंसनि भोरी। मोहि तोहि मोति पोति कै जोरी॥
कंचन-करी रतन नग बाना। जहाँ पदारथ सोह न आना॥
तू तौ राहु, हौं ससि उजियारी। दिनहि न पूजै निसि अँधियारी॥
ठाढ़ि होसि जेहि ठाईं, मसि लागै तेहि ठाव।
तेहि डर राँध न बैठौं, मकु साँवरि होइ जाव॥६॥

व्याख्या—नागमती की बातों को सुनकर पद्मावती उत्तर देती हुई कहने लगी—मैं मानसरोवर में खिलने वाली कमलिनी हूँ। भ्रमर और हंस मेरी सेवा करते है। हमें विधाता ने पूजा के योग्य अर्थात् देवता पर चढ़ाने योग्य बनाया है, अतः हमें महादेव के ऊपर चढ़ाया जाता है। सारा संसार कमल की कली के महत्त्व को जानता हैं। मैं तेरे समान विष-भरी नागिन नहीं हूँ। तू संसार के सारे नागों (सर्पों) से सम्बन्ध रखती है। भाव यह है कि तू नागिन है, इसलिए सर्पों के समान कुटिल पुरुषों से तेरा सम्बन्ध है, अर्थात् तू भी कुटिल है। तू ऊपर से कोयल का वेश धारण किए रहती है परन्तु फिर भी कौओं का साथ नहीं छोड़ती। (कोयल को 'परभृत' कहा जाता है, क्योंकि कौए उसके बच्चों का पालन-पोषण करते हैं।) भाव यह है कि तू मुख से तो कोयल के समान मीठी वाणी बोलने वाली है, परन्तु कौओं के अवगुणों को नहीं छोड़ पाई है अर्थात् चोरी और नीचता करना तूने नहीं छोड़ा है। तू भुजंगा पक्षी के समान काली है और मैं हंसिनी के समान गोरी और भोली हूँ। मेरा और तेरा साथ वैसा ही है, जैसा कि मोती और काँच की गुड़िया का होता है; अर्थात् मैं मोती के समान मूल्यवान और तू काँच के समान दो कौड़ी की है। रत्न स्वर्ण-कलिका के साथ ही शोभा देता है। जहाँ हीरा होता है, वहाँ अन्य कोई भी रत्न शोभा नहीं देता। भाव यह है कि मैं स्वर्ण-कलिका के समान हूँ और रत्नसेन उसमें जटित नग के समान। अर्थात् रत्नसेन मेरे साथ ही शोभा देता है, न कि तेरे साथ। मैं हीरे के समान हूँ और तू साधारण रत्न है। इसलिए तू मेरी बराबरी नहीं कर सकती। तू राहु के समान काली और अशुभ है और मैं चन्द्रमा के समान प्रकाशवान और शान्ति प्रदान करने वाली हूँ। रात्रि का अन्धकार दिन के प्रकाश की समानता नहीं कर सकता; अर्थात् मैं दिन के प्रकाश की समानता नहीं कर सकती; अर्थात् मैं दिन के प्रकाश के समान गोरी हूँ और तू रात्रि के अन्धकार के समान काली।

तू जिस स्थान पर खड़ी होती है वहीं तेरे शरीर की कालौंच लग जाती है। मैं इसी डर के मारे तेरे पास नहीं बैठती कि कहीं काली न हो जाऊँ।

(४७१)

कँवल सो कौन सोपारी रोठा। जेहि के हिए सहस दस कोठा॥
रहै न झाँपै आप न गटा। सो कित[1] उघेलि चहै पगरटा॥
कँवल-पत्र तर दारिउँ, चोली। देखे सूर देसि है खोली॥
ऊपर राता, भीतर पियरा। जारौं ओहि हरदि अस हियरा॥
इहाँ भँवर मुख बातन्ह लावसि। उहाँ सुरुज कहँ हँसि बहरावसि॥
सब निसि तपि तपि मरसि पियासी। भोर भए पावसि पिय बासी॥
सेजवाँ रोइ रोइ निसि[2] भरसी। तू मोसौं का सरवरि करसी ?॥
सुरुज-किरिन बहरावै,[3] सरवर लहरि न पूज।
भँवर हिया तोर पावै, धूप देह तोरि भूँज[4] ॥७॥

व्याख्या—पिछले पद में पद्मावती ने स्वयं को कमल कहकर गर्व प्रदर्शित किया था। इस पद के नागमती कमल की बुराइयाँ दिखाती हुई उसी बात का उत्तर दे रही है—

नागमती कहती है कि यदि तू कमल है तो इसमें कौन बड़ी बात हुई, क्योंकि कमल का गट्टा सुपाड़ी के समान कड़ा होता है जिसके भीतर हजारों छेद अर्थात् बीज-कोश होते हैं। तू अपने ऐसे कमलगट्टे को छिपा कर नहीं रखती। तू उसे उघाड़ कर सबको क्यों दिखाना चाहती है; अर्थात् तू निर्लज्ज के समान अपने कमलगट्टे जैसे कड़े और बदसूरत स्तनों को उघाड़ कर क्यों दिखाना चाहती है। तू अपने कमल-पत्र के समान चोली के नीचे अनार को छिपाए हुए है, अर्थात् तेरे स्तन अनार के समान कड़े हैं परन्तु तू चोली के नीचे उन्हें छिपाकर सबको धोखा देना चाहती है। जब सूर्य तेरी ओर देखता है तो तू निर्लज्ज बन अपने उन स्तनों को उसके सामने खोल देती है। तेरे स्तन ऊपर लाल और भीतर से पीले हैं। मैंने तेरे ऐसे स्तनों वाले हृदय को जला-जला कर हल्दी के समान पीला बना दिया है; अर्थात् तू द्वेष में जल-जल कर पीली पड़ गई है। तू इतनी मक्कार है कि एक तरफ तो भ्रमर से बात करती हुई उसे फुसलाती रहती है और दूसरी ओर सूर्य की ओर देखकर हँसती हुई उसे बहलाती है। (कमल एक साथ ही भ्रमर और सूर्य—दोनों के प्रति अनुरक्त बना रहता है। सूर्य को देख खिल जाता है और खिलने पर भ्रमर उसके रस का पान करता है। यहाँ भाव

पाठ-भेद—१. सकति=भरसक। २. जल=आँसू। ३. तोहि रावै=तेरे साथ रमण करती हैं। ४. करम बिहून ए दूनौ कोउ रे धोबि कोउ भूँज=ये दोनों ही कर्म विहीन हैं, कोई धोबी है जो लहरों से तेरी गन्दगी धोता है; तो कोई भूँज है, जो भड़भूँजे के समान सारे पदार्थों को जलाता है।

पद्मावती के प्रेम की अस्थिरता और मक्कारी से है।) तू कमल के समान सारी रात अपने प्रियतम सूर्य के दर्शन की प्यास में तड़प-तड़प कर मरती रहती है और सुबह होने पर बासी सूर्य को प्राप्त करती है; अर्थात् रत्नसेन रात-भर मेरे पास रहता है और तू रात में उसके वियोग में तड़पती रहती है। मेरे साथ रात-भर भोग-विलास करने के उपरान्त वह सुबह होने पर तेरे पास जाता है। इस प्रकार तू भोगे हुए पति को प्राप्त करती है; अर्थात् बासी जूठन खाती है। तू रात को रो-रो कर अपनी शय्या को आँसुओं से तर करती रहती है। ऐसी तू मेरी बराबरी क्या कर सकेगी ?

तू समझती है कि सूर्य तुझसे प्रेम करता है परन्तु वास्तविकता यह है कि वह अपनी किरणों के स्पर्श द्वारा केवल तेरा मन बहलाता रहता है और इसी से तू इतनी गर्व में भर जाती है कि सरोवर की लहरों में नहीं समाती, अर्थात् ऊपर उठ जाती है। (कमल का फूल जल की सतह से ऊपर उठा रहता है।) भ्रमर तेरे हृदय को बेध डालता है और सूर्य तेरे शरीर को अपनी तप्त किरणों से भून देता है। भाव यह है कि तू जो इस भ्रम में है कि भ्रमर और सूर्य तेरे प्रेमी हैं, यह तेरा भ्रम ही है; अर्थात् इस भ्रम में मत रह कि (रत्नसेन) तुझसे प्रेम करता है। वह तो केवल तेरा मन बहलाता रहता है। सच्चा प्रेम तो वह मुझसे ही करता है।

(४७२)

मैं हौं कँवल सुरुज कँ जोरी। जो पिय आपन तौ का चोरी ?॥
हौं ओहि आपन दरपन लेखौं। करौं सिंगार, भोर मुख देखौं॥
मोर बिगास ओहिक परगासू। तू जरि मरसि निहारि अकासू॥
हौं ओहि सौं, वह मोसौं राता। तिमिर बिलाइ होत परभाता॥
कँवल के हिरदय महँ जो गटा। हरि हर हार कीन्ह, का घटा ?
जाकर दिवस तेहि पहँ आवा[1]। कारि रैंनि कित देखैं पावा ?॥
तू ऊमर जेहि भीतर माखी। चाहहिं[2] उड़ैं मरन के पाँखी॥
धूप न देखहि, बिषभरी ![3] अमृत सो सर पाव।
जेहि नागिन डस सौं मरै, लहरि सूरुज कै आव॥८॥

व्याख्या—नागमती द्वारा कमल की बुराई की जाने पर पद्मावती उसे उत्तर देती हुई कहती है—

मेरी और रत्नसेन की जोड़ी तो कमल और सूर्य की जोड़ी के समान है; अर्थात् जिस प्रकार कमल सूर्य को देख खिल उठता है, उसी प्रकार मैं प्रातःकाल अपने

पाठ-भेद—१. ताहि पैं भावा=दिन जिसका होता है, उसे हो न हो वही अच्छा लगता है, २. चाँटिहिं=चींटियों के। ३. धोबिनि धोबैं बिख हरैं=मुझे धोबिन धोती है तो वह (मल के रूप में लगे हुए मेरे) विष को हरती है।

पति के दर्शन कर प्रसन्न हो उठती हूँ। यदि स्वामी अपना है तो उसके सम्मुख अपने अंगों को उघाड़ कर दिखाने में क्या चोरी अर्थात् क्या लज्जा की बात है। (नागमती ने पिछले पद में यह कहा था कि—'देखे सूर देसि है खोली।' पद्मावती यहाँ उसी बात का उत्तर दे रही है।) मै उसे अपने दर्पण के समान ही समझती हूँ; अर्थात् मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि जिस प्रकार मेरा दर्पण निर्मल और स्वच्छ रहता है उसी प्रकार मेरा पति भी मेरे पास आते समय पूर्ण शुद्ध रहता है। (नागमती ने यह कहा था कि—'भोर भए पावसि पिय बासी।' यहाँ पद्मावती उसी का उत्तर देती हुई कहती है कि वह बासी नहीं होता बल्कि दर्पण के समान निर्मल और स्वच्छ रहता है।) मैं जिस प्रकार प्रातः काल अपने दर्पण में अपना मुख देखती हुई अपना शृंगार करती हूँ उसी प्रकार प्रातःकाल जब पति मेरे पास आता है तो मैं उसका मुख देख-देख कर उसी के सामने अपना शृंगार करती हूँ, इसमें निर्लज्जता की क्या बात है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही कमल खिल उठता है, उसी प्रकार मैं प्रातःकाल अपने स्वामी को प्रसन्न देख आनन्द से खिल उठती हूँ। और तू आकाश की ओर (चन्द्रमा की प्रतीक्षा में) देखती हुई कुढ़-कुढ़ कर मरती रहती है, क्योंकि पति तेरे पास रात्रि होने पर ही जाता है। मैं उससे और वह मुझसे प्रेम करता है। जिस प्रकार प्रभात होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मेरे पास आते ही पति पर से तेरा सारा प्रभाव जाता रहता है! कमल के हृदय में जो कमलगट्टा होता है उसके कारण उसकी कोई भी हानि नहीं होती, क्योंकि कमल उस कमलगट्टे के रहते हुए भी विष्णु और शिव के गले का हार बन जाता है। इसी प्रकार यदि मेरे स्तन कड़े हैं तो क्या हुआ? मैं जब अपने पति के हृदय से लग जाती हूँ तो मेरे ये स्तन उसके हृदय में हार के समान शोभा देते हैं। मैं दिन के समान उज्ज्वल अर्थात् गोरी हूँ, इसलिए प्रियतम मेरे पास दिन के समय ही आता है। दिन के प्रकाश में काली रात उसे कैसे देख पायेगी; अर्थात् तू रात के समान काली है, इसलिए दिन के उज्ज्वल प्रकाश में पति का सान्निध्य कैसे प्राप्त कर सकेगी। (यहाँ दिवस शुभ तथा रात्रि अशुभ का प्रतीक है।) तू तो गूलर के फल के समान है जो ऊपर से तो सुन्दर दिखाई पड़ता है परन्तु जिसके भीतर कीड़े भरे रहते हैं; अर्थात् तू हृदय से कीड़े के समान घिनौनी है, बुरी भावनायें रखने वाली है। जिस प्रकार जब कीड़ों के मृत्यु के समय के पंख निकल आते हैं तो वे उड़ने लगते हैं, उसी प्रकार तेरी मौत आ गई प्रतीत होती है जिससे तू इतनी बढ़-बढ़ कर बातें कर रही है।

हे विष भरी सर्पिणी! तू धूप को नहीं देखती; अर्थात् दिन के उज्ज्वल प्रकाश को तू सहन नहीं कर पाती। परन्तु मैं तो सरोवर में खिलने वाली कमलिनी हूँ जिसमें अमृत भरा रहता है। नागिन जिसे डस लेती है, वह सूर्य किरण की लहराती लहरों के समान विष के प्रभाव से लहराता हुआ मर जाता है; अर्थात् तेरा प्रेम विष के समान प्राण-घातक और मेरा अमृत के समान प्राणदायक है।

(४७३)

फूल न कवँल भानु बिनु ऊए। पानी मैल होइ जरि छूए ॥
फिरहिं भँवर तोरे नयनाहाँ। नीर बिसाइँध होइ तोहि पाहाँ ॥
मच्छ कच्छ दादुर कर बासा। बग अस पंखि बसहिं तोहि पासा ॥
जे-जे पंखि पास तोहि गए। पानी महँ सो बिसाइंध भए ॥
जौ उजियार चाँद होइ ऊआ। बदन कलङ्क डोम लेइ छूआ ॥
मोहि तोहि निसि दिन कर बीचू। राहु के हाथ चाँद कै मीचू ॥
सहस बार जो धोवै कोई। तौहु बिसाइँध जाइ न धोई ॥
कहा कहौं ओहि पिय कहँ, मोहि सिर धरेसि अँगारि।
तेहि के खेल भरोसे, तुइ जीती, मैं हारि ॥६॥

व्याख्या—पद्मावती की गर्वभरी व्यंग्योक्तियों को सुन नागमती कहने लगी कि—कमल बिना सूर्य के उदय हुए नहीं खिल पाता; अर्थात् तू सदा राजा की पर-मुखापेक्षी रहती है। राजा चाहता है, तभी तू खिल पाती है, अन्यथा मुरझाई सी पड़ी रहती है। कमल का दूसरा दुर्गुण यह है कि जो जल उसकी जड़ का स्पर्श कर लेता है वह गन्दा हो जाता है। (कमल की जड़ में कीचड़ भरी रहती है।) तुझ कमल की नेत्रांकित पंखुड़ियों के आस-पास भौंरे मँडराया करते हैं। अथवा तेरे नेत्रों में कितने ही भ्रमर अर्थात् प्रेमी फिरते रहते हैं, तू बहुतों से एक साथ प्रेम करती है। तेरे पास जो जल होता है वह दुर्गन्धियुक्त हो जाता है। (कमल स्थिर जल में खिलता है और सरोवर आदि का स्थिर जल सड़कर दुर्गन्धित हो जाता है।) तेरे आस-पास मछली, कछुए, मेंढ़क और बगुले जैसे धूर्त पशु-पक्षी रहते हैं। (ये सब जीव-जन्तु सरोवर में तथा उनके किनारों पर रहते हैं।) जो-जो पक्षी तेरे पास अर्थात् सरोवर के जल के पास गए, वे जल में घुसते ही दुर्गन्धि से भर उठे। (जल में रहने वाले जीवों तथा उनका शिकार करने वाले पक्षियों के शरीर में से एक विशेष प्रकार की दुर्गन्धि निकलती रहती है।) रात्रि में जो चन्द्रमा उदय होकर अपना प्रकाश फैलाता है तो डोम उसे छू लेते हैं, जिससे उसे कलंक लग जाता है। (प्रवाद है कि चन्द्रमा डोमों का ऋणी है, वे जब उसे घेरते हैं तब ग्रहण लगता है। इसी कारण ग्रहण लगने पर डोमों को दान दिया जाता है, जिससे वे चन्द्रमा को मुक्त कर दें।) भाव यह है कि तेरा मुख चन्द्रमा के समान होते हुए भी कलङ्क-युक्त है, जैसा कि चन्द्रमा होता है और जिसे डोम छूते हैं।

मुझ में और तुझ में रात और दिन जैसा अन्तर है। राहु के हाथ चन्द्रमा की मृत्यु निश्चित है; अर्थात् मेरे हाथों तेरी मृत्यु निश्चित है। कमल की गन्ध को यदि कोई हजार बार भी धोए तो भी उसकी दुर्गन्धि दूर नहीं हो सकती; अर्थात् तू प्रयत्न करे परन्तु तेरे शरीर की दुर्गन्ध (दुर्गुण) दूर नहीं हो सकती।

मैं अपने उस पति के लिए क्या कहूँ, जिसने मेरे सिर पर लाकर अंगार धर

दिया है; अर्थात् तुझ जैसी सौत को मेरे सिर पर लाकर थोप दिया है। तू उसी पति के भरोसे अर्थात् उसी के बल पर प्रेम के इस खेल में जीत गई और मैं हार गई; अर्थात् पति ने ही तुझे अधिक महत्त्व दे रखा है।

टिप्पणी—अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(४७४)

तोर अकेल का जीतऊँ हारू। मैं जीतिउँ जग कर सिंगारू॥
बदन जितिउँ सो ससि उजियारी। बेनी जितिउँ भुअङ्गिनि कारी॥
नैनन्ह जितिउँ मिरिग के नैना। कंठ जितिउँ कोकिल के बैना॥
भौह जितिउँ अरजुन धनुधारी। गीत जितिउँ तमचूर पुछारी॥
नासिक जितिउँ पुहुप-तिल, सूआ। सूक जितिउँ बेसरि होइ ऊआ॥
दामिन जितिउँ दसन दमकाहीं। अधर रङ्ग जीतिउँ बिबाहीं[1]॥
केहरि जितिउँ लङ्क मैं लीन्ही। जितिउँ मराल, चाल वै दीन्ही॥
पुहुप-बास मलयगिरि, निरमल[2] अङ्ग बसाइ।
तू नागिन आशा-लुबुध, डससि काहु कहँ जाइ॥१०॥

व्याख्या—नागमती की पराजय-जनित क्षोभ भरी बातों को सुन रूप-गर्विता पद्मावती अपने विभिन्न अंगों के सौन्दर्य की प्रशंसा करती हुई उससे कहने लगी—

मैंने अकेले तेरे ही हार अर्थात् स्वामी को क्या जीता है! मैंने तो सारे संसार के श्रृंगार पर विजय प्राप्त की है; अर्थात् सर्वश्रेष्ठ श्रृंगार से सज्जित सुन्दरी भी मेरे रूप की समानता नहीं कर सकती। मैंने अपने मुख की शोभा से चन्द्रमा की उज्ज्वल चन्द्रिका को भी जीत लिया है तथा अपनी वेणी द्वारा काली सर्पिणी के सौन्दर्य को भी मात दे रखी है। मैंने अपने नेत्रों के सौन्दर्य द्वारा मृग के नेत्रों को और सुरीले कंठ द्वारा कोयल की वाणी को भी विजित कर रखा है। मेरी भौंहों ने अपनी चंचलता द्वारा धनुर्धर अर्जुन के गांडीव धनुष की चंचलता को पछाड़ दिया है और मेरी सुन्दर ग्रीवा की तुलना में ताम्रचूड़ (मुर्गा) और मयूर की ग्रीवाएँ फीकी पड़ जाती हैं। मेरी नासिका के सौन्दर्य ने तिल के पुष्प तथा तोते को जीत लिया है। मैंने शुक्र नक्षत्र को पराजित कर अपने बन्धन में बाँध लिया है जिससे वह मेरी नथ के मोती के रूप में उदय होता है। अपने दाँतों की चमक द्वारा मैंने दामिनी (बिजली) को और अपने अधरों की लालिमा द्वारा बिम्बाफल को जीत लिया है। मैंने सिंह पर विजय प्राप्त कर उसकी कटि छीन स्वयं धारण कर ली है, और जब मैंने हंसों पर विजय प्राप्त की तो वे मुझे अपनी चाल दे गए।

मेरे निर्मल अंगों में पुष्प-गन्ध और मलय सुगन्धि पराजित होकर आ बसी

पाठ-भेद—१. रबि जीतेउँ सबाहीं=अधरों की अरुणिमा द्वारा प्रातःकालीन सूर्य की लाली को जीता है। २. परिमल=सुगन्धि।

है। तू नागिन है, इसीलिए इस सुगन्धि के लालच में मेरे पास आना चाहती है। परन्तु तू कहीं अन्यत्र जाकर किसी और को डस। मुझे मत डस। (सर्प मलय-बास के लिए चन्दन के वृक्षों पर लिपटे रहते हैं, ऐसी कवि-प्रसिद्धि है।)

टिप्पणी—अलंकार - रूपक और उत्प्रेक्षा।

(४७५)

का तोहिं गरब सिंगार पराए। अबहिं लैहिं लूट सब ठाए॥
हौं साँवरि सलोन मोर नैना। सेत चीर, मुख चातक-बैना॥
नासिक खरग, फूल धुव तारा। भौंहैं धनुक गगन गा हारा॥
हीरा दसन सेत औ सामा। छपै बीजु जौ बिहँसै बामा॥
बिद्रुम अधर रङ्ग रस-राते। जूड़ अमिय अस, रबि नहिं ताते॥
चाल गयंद गरब अति भरी। बसा लङ्क, नागेसर-करी॥
साँवरि जहाँ लोनि सुठि नीकी। का सरवरि तू करसि जो फीकी॥
पुहुप-बास औ पवन अधारी, कवँल मोर तरहेल।
चहौं केस धरि नावौं, तोर मरन मोर खेल॥११॥

शब्दार्थ—जूड अमिय······ताते=उन अधरों में बाल सूर्य की सी लालिमा है परन्तु वे गरम न होकर शीतल हैं। गरब=गम्भीर, मस्त। तरहेल=अधीन, नीचे पड़ा हुआ।

व्याख्या—पद्मावती की रूप-गर्वोक्ति को सुन, नागमती कवियों द्वारा वर्णित नारी के अंगों के अन्य उपमानों की अपने अंगों से तुलना करती हुई कह रही है—

तू अपने शृंगार पर क्या गर्व करती है, क्योंकि तेरे ये सुन्दर अंग तेरे अपने न होकर अन्य पशु-पक्षियों से लिए हुए हैं। वे अभी अपने-अपने अंगों की सुन्दरता को तुझसे छीन लेंगे, फिर तू किस पर गर्व करेगी? (पद्मावती ने पिछले पद में कहा था कि मैंने ये अंग अन्य पशु-पक्षियों को जीत कर उनसे छीन लिए हैं। नागमती यहाँ उसी की ओर संकेत कर रही है।) मैं साँवली हूँ, मेरे नेत्र सलौने हैं, वस्त्र श्वेत हैं और मुख में चातक के समान अहर्निशि 'पिउ-पिउ' का ही नाम रहता है। मेरी नासिका खड्ग के समान तीक्ष्ण और शीशफूल ध्रुव नक्षत्र के समान अटल है। मेरी भौंहों की सुन्दरता और वक्रता के सम्मुख गगन-वासी इन्द्र-धनुष भी हार मान जाता है, इसीलिए कुछ देर दिखाई पड़ पुनः छिप जाता है। मेरी दन्त-पंक्ति हीरे के समान उज्ज्वल कान्ति वाली है और उनके बीच में मिस्सी से रंजित कालिमा शोभित हो रही है। जब मैं हँसती हूँ तो मेरे हास्य को देख बिजली लज्जित हो बादलों में छिप जाती है। मेरे अधर प्रेम के रंग में रँगे होने के कारण विद्रुम के समान लाल हैं। इन अधरों में बाल सूर्य की सी लालिमा तो है परन्तु सूर्य की सी उष्णता न होकर अमृत की सी शीतलता भरी हुई है; अर्थात् मेरे अधर लाल होते हुए भी उष्ण न होकर

अमृत के समान शीतल हैं। मेरी चाल हाथी की चाल के समान अत्यन्त मन्थर और मदमाती है। मेरी कटि बर्र की कटि के समान क्षीण है। मैं नागकेसर की कली के समान कोमल, सुन्दर और सुगन्धित हूँ। जो नारी साँवली होती हुई भी लावण्यवती और गुणवती होती है, जैसी कि मैं हूँ, उसकी समानता तुझ जैसी फीकी नारी क्या कर सकती है ? तू केवल गोरी ही है। यही तेरा प्रधान गुण है। परन्तु गोरी नारी-साँवली-सलोनी नारी की समानता नहीं कर सकती।

मैं पुष्प-गन्ध और पवन के आधार पर जीवित रहती हूँ; अर्थात् अत्यन्त स्वल्पाहारिणी हूँ और कमल मेरे चरणों के नीचे दबा पड़ा रहता है; अर्थात् मेरे चरण कमल के समान सुन्दर है। मैं यदि चाहूँ तो अभी तेरे बाल पकड़ कर तुझे अपने चरणों में झुका दूँ; क्योंकि तू कमल है और कमल मेरे चरणों के नीचे तलवों के रूप में पड़े रहते हैं अर्थात् तू मेरी दासी है। यदि मैं ऐसा कर बैठूँगी तो मेरे लिए तो यह एक खेल होगा, परन्तु तेरे लिए मरण के समान होगा।

टिप्पणी—काम-शास्त्र के विद्वानों का यह मत है कि प्रेम तथा रति के क्षेत्र में गोरी स्त्रियों की तुलना में साँवली स्त्रियाँ अधिक अनुरक्त और चंचल होती हैं। गोरी स्त्रियाँ स्वभाव से ठण्डी होती हैं। नागमती इसी कारण गोरी पद्मावती को फीकी कह रही है।

(४७६)

पदमावति सुनि उतर न सही। नागमती नागिन जिमि गही।।
वह ओहि कहँ, वह ओहि कहँ गहा। काह कहौं[1] तस जाइ न कहा।।
दुवौ नवल भरि जोबन गाजैं। अछरी जनहुँ अखारे बाजैं।।
भा बाहुँन बाहुँन सौं जोरा। हिय सौं हिय, कोइ बाग न मोरा।।
कुच सों कुच, भइ सौंहै अनी। नवहिं न नाए, टूटहिं तनी।।
कुंभस्थल जिमि गज मैमंता। दूवौ आइ भिरे चौदंता।।
देवलोक देखत हुत ठाढ़े। लगे बान हिय, जाहिं न काढ़े।।
जनहुँ दीन्ह ठगलाडू, देखि आइ तस मीचु।
रहा न कोइ धरहरिया, करै दुहुँन्ह महँ बीचु।।१२।।

व्याख्या—रूपगर्विता नागमती की अपने रूप सम्बन्धी ऐसी गर्वोक्ति को सुन पद्मावती की क्या स्थिति हुई, जायसी उसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नागमती के ऐसे उत्तर को पद्मावती सहन न कर सकी और उसने झपट कर नागमती को ऐसे पकड़ लिया जैसे सँपेरा सर्पिणी को पकड़ लेता है। पद्मावती ने नागमती को और नागमती ने पद्मावती को पकड़ लिया। उस समय वे दोनों ऐसी शोभा दे रही थीं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। दोनों सुन्दरियाँ नव यौवन

पाठ-भेद—१. गहा गहनि=धर-पकड़।

के उत्साह में भर गरज रहीं थीं और ऐसी प्रतीत हो रहीं थीं, मानो दो अप्सरायें अखाड़े में युद्ध कर रही हों। दोनों की भुजायें आपस में लिपट कर जुड़ सी गईं। उनके वक्षस्थल एक-दूसरे से भिड़ गए। वे दोनों इस प्रकार युद्ध करने में तन्मय हो रही थीं कि उनमें से कोई भी पीछे नहीं हटती थी। उनके स्तनों की नोकें एक-दूसरे के सम्मुख आ भिड़ गईं। उनकी चोलियों के बन्द टूट गए परन्तु उनके स्तन झुकने का नाम नहीं लेते थे। जिस प्रकार मदमत्त हाथी अपने कुम्भस्थल अर्थात् मस्तकों को एक-दूसरे से भिड़ा कर लड़ते हैं, उसी प्रकार ये दोनों सुन्दरियाँ मस्त हाथियों के समान आपस में भिड़ रहीं थीं। (दो हाथियों के दो-दो दाँत मिलकर चार हो जाते हैं, यहाँ दोनों की दो-दो भुजायें चार दाँतों के समान हैं। इसी कारण कवि ने 'चौदन्ता' शब्द का प्रयोग किया है।) इन दोनों के इस युद्ध को देवतागण आकाश में खड़े देख रहे थे। पारस्परिक युद्धरत इन दोनों सुन्दरियों को देख, देवताओं के हृदय में जो काम-बाण आघात कर रहे थे, वे इतने गहरे घुस गए थे कि निकालने से भी नहीं निकल पा रहे थे; अर्थात् देवतागण इन्हें देख कामोद्वेलित हो उठे थे और किसी भी प्रकार अपनी काम-वासना को नहीं दबा पा रहे थे।

वे दोनों इस प्रकार उन्मत्त हो युद्ध कर रही थीं, मानो मृत्यु ने उन्हें ठगों के जहरीले लड्डू खिला दिए हों और पास खड़ी उनकी मृत्यु होने की प्रतीक्षा कर रही हो। भाव यह है कि जिस प्रकार ठग मुसाफिरों को विषैले लड्डू खिला कर फिर पास खड़े हो उनकी मृत्यु होने की प्रतीक्षा करते रहते हैं, उसी प्रकार मृत्यु उन दोनों की मृत्यु की प्रतीक्षा करती खड़ी थी; अर्थात् दोनों एक-दूसरे के प्राण लेने का प्रयत्न कर रही थीं। वहाँ कोई भी ऐसा मध्यस्थ नहीं था जो उन दोनों के बीच में पड़कर उन्हें अलग कर देता।

टिप्पणी—(१) आचार्य शुक्ल ने 'चौदन्ता' का अर्थ स्याम देश का एक हाथी या उद्दण्ड पशु माना है। परन्तु इसका हमारे द्वारा किया गया अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ चार भुजायें—चार दाँतों के समान प्रतीत होती हैं।

(२) 'अछरी जनहुँ अखारे बाजैं'—पंक्ति, नृत्य में दो नर्तकियों के स्पर्धाजनित सम्मिलित नृत्य की ओर संकेत कर रही है जिसमें दोनों नर्तकियाँ नृत्यकला में एक-दूसरी को पराजित करने के लिए विभिन्न नृत्य-कौशलों का प्रदर्शन करती हैं।

(४७७)

पवन स्रवन राजा के लागा। कहेसि लड़हिं पदमिनि औ नागा॥
दूनौ सवति साम औ गोरी। मरहिं तौ कहँ पावसि असि जोरी॥
चलि राजा आवा तेहि बारी। जरत बुझाई दूनौ नारी॥
एक बार जेइ पिय मन बूझा। सो दुसरे सौं काहे क जूझा?॥
अस गियान मन आव न कोई। कबहूँ राति, कबहुँ दिन होई॥
धूप छाँह दोउ पिय के रंगा। दूनौ मिली रहहु एक संगा॥

जूझ छाँड़ि अब बूझहु दोऊ। सेवा करहु सेव-फल होऊ ॥
गंग जमुन तुम नारि दोउ, लिखा मुहमद जोग।
सेव करहु मिलि दूनो, तौ मानहु सुख भोग ॥१३॥

व्याख्या—नागमती और पद्मावती के युद्ध की खबर पवन ने जाकर राजा रत्नसेन को सुनाई कि पद्मावती और नागमती आपस में लड़ रही हैं। यह सूचना मिलने पर राजा ने मन में सोचा कि यह साँवली और गोरी (नागमती और पद्मावती) दोनों सौतें हैं। यदि ये दोनों मर गईं तो फिर मुझे साँवली और गोरी पत्नियों की ऐसी सुन्दर जोड़ी कहाँ मिल सकेगी। यह सोच राजा उठकर नागमती की उस वाटिका में जा पहुँचा और उसने समझा-बुझा कर क्रोधाग्नि में जलती उन दोनों नारियों को शान्त कर दिया। फिर उसने उन दोनों से कहा कि जिसने एक बार अपने पति के मन को अर्थात् पति के स्वभाव को समझ लिया है वे फिर एक-दूसरे से क्यों लड़ेंगी; अर्थात् तुम दोनों ही अभी तक मेरे स्वभाव को नहीं समझ पाई हो, इसीलिए आपस में लड़ रही हो। परन्तु किसी के भी मन में ऐसा ज्ञान नहीं उत्पन्न होता; अर्थात् कोई भी वास्तविकता को नहीं जान पाता। कभी रात होती है और कभी दिन होता है; अर्थात् मैं एक के पास रात में रहता हूँ और दूसरी के पास दिन में। मैं दोनों को ही समान रूप से प्रेम करता हूँ। धूप और छाया—दोनों ही प्रियतम के प्रेम के ही दो रूप हैं। इसलिए जिस प्रकार धूप और छाया पास-पास मिलकर रहती हैं, उसी प्रकार तुम दोनों भी आपस में मिलकर एक साथ रहो। लड़ना छोड़ समझ से काम लो; अर्थात् यह जान लो कि मैं तुम दोनों से ही प्रेम करता हूँ। अतः तुम दोनों आपस में लड़ना छोड़ कर मेरी सेवा करो और अपनी-अपनी सेवा का फल प्राप्त करो।

तुम दोनों स्त्रियाँ गंगा और यमुना के समान हो। ईश्वर ने तुम दोनों को पास-पास रहने का संयोग प्रदान कर रखा है। यदि तुम दोनों मिलकर मेरी सेवा करोगी तो दोनों को ही सुख-भोग की प्राप्ति होगी। भाव यह है कि जिस प्रकार गंगा और यमुना त्रिवेणी पर आपस में मिलकर अन्त में एक साथ अपने पति समुद्र में जा मिलती हैं, उसी प्रकार तुम दोनों मिलकर मेरी सेवा करो।

टिप्पणी—(१) इस पद की चतुर्थ पंक्ति से लेकर अन्तिम पंक्ति तक का आध्यात्मिक अर्थ भी किया जा सकता है। साँवरी-गोरी या यमुना-गंगा से इड़ा और सुषुम्ना नाड़ियों की ओर संकेत है। दोनों के गुण भिन्न होते हुए भी योगमार्ग की साधना में दोनों ही आवश्यक हैं। रत्नसेन आत्मा है, जो इन दोनों नाड़ियों को जाग्रत कर अन्त में दोनों को आपस में मिला देता है। सच्चे ज्ञान की स्थिति में आत्मा कभी रात (इड़ा) और कभी दिन (सुषुम्ना) में रत रहता है। आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति—इन दोनों के पारस्परिक मिलन द्वारा ही सम्भव होती है।

(२) **अलंकार**—समासोक्ति माना जा सकता है।

(४७८)

अस कहि दूनौ नारि मनाई। बिहँसि दोउ तब कंठ लगाई ।।
लेइ दोउ संग मँदिर महँ आए। सोन-पलँग जहँ रहे बिछाए ।।
सीझी पाँच अमृत-जेवनारा। औ भोजन छप्पन परकारा ।।
हुलसीं सरस खजहजा खाई। भोग करत बिहँसी रहसाई ।।
सोन-मँदिर नगमति कहँ दीन्हा। रूप-मँदिर पदमावति लीन्हा ।।
मँदिर रतन रतन के खँभा। बैठा राज जौहारै सभा ।।
सभा सो सबै सुभर मन कहा। सोई अस जो गुरु भल कहा ।।
बहु सुगंध, बहु भोग सुख, कुरलहिं केलि कराहिं।
दुहुँ सौं केलि नित मानै, रहस अनँद दिन जाहिं ।।१४।।

व्याख्या—राजा रत्नसेन ने इस प्रकार समझा-बुझा कर पद्मावती और नागमती को मना लिया। तब दोनों हँस कर रत्नसेन के गले से लग गईं। फिर राजा दोनों को अपने साथ लेकर महल में आया जहाँ सोने के पलंग बिछे हुए थे। वहाँ पाँचों प्रकार की अमृत के समान मधुर ज्यौनार सजाई गई जिसमें छप्पन प्रकार के भोजन थे। उस सुन्दर भोजन को प्राप्त कर दोनों मन में उल्लसित हो उठीं और भोजन करती हुईं आनन्द से भर हँसने लगीं। राजा ने नागमती को सोने का महल तथा पद्मावती को चाँदी का महल रहने के लिए दिया। राजा रत्नसेन के महल में रत्न-जटित खम्भे लगे हुए थे। राजा अपने महल में जा बैठा और सारी सभा उसे प्रणाम करने लगी। समस्त सभासदों ने मन में कहा कि इस राजा की कृपा से ही, जो हमारा गुरु है, यह राज-सभा इतनी सुन्दर और भरी रहती है। जिसे गुरु ने अच्छा मान लिया, वही कल्याणप्रद होता है।

राजा रत्नसेन अनेक प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं तथा सुख-साधनों के साथ आनन्द में भर केलि-क्रीड़ायें करने लगा। वह प्रतिदिन दोनों ही रानियों के साथ केलि-क्रीड़ा करता था। और इस प्रकार उन सबके दिन आनन्द और क्रीड़ा के साथ बीत रहे थे।

टिप्पणी—डा० गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं। इसके साथ 'पद्मावत' की कथा का पूर्वार्ध समाप्त हो जाता है। आगामी खंड से उत्तरार्ध की कथा प्रारम्भ होती है।

रत्नसेन-संतति-खंड

(४७६)

जाएउ नागमती नागसेनहि। ऊँच भाग, ऊँचै दिन रैनहि॥
कवँलसेन पदमावति जाएउ। जानहुँ चंद धरति महँ आएउ॥
पंडित बहु बुधिवंत बोलाए। रासि बरग औ गरह गनाए॥
कहेन्हि बड़े दोउ राजा होहीं। ऐसे पूत होहिं सब तोहीं॥
नवौ खंड के राजन्ह जाहीं। औ किछु दुंद होइ दल माहीं॥
खोलि भँडारहि दान देवावा। दुखी सुखी करि मान बढ़ावा॥
जाचक लोग, गुनीजन आए। औ अनंद के बाज बधाए॥
बहु किछु पावा जोतिसिन्ह, औ देइ चले असीस।
पुत्र, कलत्र, कुटुंब सब, जीयहिं कोटि बरीस॥१॥

व्याख्या--रानी नागमती ने नागसेन नामक एक पुत्र को जन्म दिया। यह पुत्र बड़ा भाग्यशाली था और दिन-रात बढ़ता चला गया। रानी पद्मावती ने कमलसेन नामक पुत्र को जन्म दिया। वह इतना सुन्दर था, मानो चन्द्रमा उतर कर पृथ्वी पर आ गया हो। राजा रत्नसेन ने अनेक पंडित और विद्वान् बुलाए और उनके द्वारा इन दोनों पुत्रों की जन्म-राशि, वर्ग और ग्रहों के सम्बन्ध में गणना कराई। ज्योतिषियों ने कहा कि ये दोनों पुत्र बड़े प्रतापशाली राजा होंगे। हे राजन्! तुम्हारे सारे पुत्र भी इन्हीं के समान प्रतापशाली होंगे। यह नव-खंड अर्थात् सम्पूर्ण संसार के राजाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध यात्रा करेंगे और उनकी सेनाओं के साथ इनका थोड़ा सा युद्ध होगा; अर्थात् ये सहज ही सम्पूर्ण राजाओं पर विजय प्राप्त कर लेंगे। ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सुनकर राजा रत्नसेन ने अपने खजाने का मुँह खोल दिया और खूब दान दिया। राजा ने धन के अभाव से दुखी लोगों को खूब धन दान में देकर उन्हें सुखी बनाया और उनका सम्मान बढ़ाया। राजा के द्वार पर अनेक भिखारी और गुणीजन आए और आनन्द के बाजे बजने लगे।

ज्योतिषियों ने राजा से दक्षिणा के रूप में बहुत द्रव्य प्राप्त किया और यह आशीष देकर चले गए कि हे राजन्! तुम्हारे पुत्र, पत्नियाँ और कुटुम्बी जन करोड़ों वर्ष तक जीवित रहें।

टिप्पणी—(१) डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस छन्द को प्रक्षिप्त मान इसे अपने संग्रह में स्थान नहीं दिया है। डा० गुप्त ने निम्नलिखित कारणों से इसे प्रक्षिप्त माना है—

(i) नागसेन और कमलसेन का इस पद के अतिरिक्त आगे कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

(ii) 'तोही', 'जाही', 'दुखी' और 'मान बढ़ावा'—शब्दों का कोई संगत अर्थ नहीं बैठता।

उपर्युक्त तर्कों में से प्रथम तर्क कुछ वजनदार मालूम होता है, क्योंकि इसके उपरान्त 'पदमावत' में इन दोनों पुत्रों का फिर कहीं भी उल्लेख नहीं आया है, परन्तु शब्दों-सम्बन्धी तर्क का उत्तर हमारे द्वारा ऊपर की गई व्याख्या द्वारा मिल जाता है। इन शब्दों का प्रयोग चिन्त्य नहीं माना जा सकता, जैसा कि डा० गुप्त ने माना है।

३८

राघव चेतन-देसनिकाला-खंड

(४८०)

राघव चेतन चेतन महा। आऊ सरि[1] राजा पहँ रहा॥
चित चेता[2] जानै बहु भेऊ। कबि बियास पंडित सहदेऊ॥
बरनी आइ राज कै कथा। पिंगल महँ सब सिंघल मथा॥
जो कवि सुनै सीस सो धुना। सरवन नाद बेद सो सुना॥
दिस्टि सो धरम-पंथ जेहि सूझा। ज्ञान सो जो परमारथ बूझा॥
जोगि, जो रहै समाधि समाना। भोगि सो, गुनी केर गुन जाना[3]॥
बीर जो रिस मारै, मन गहा। सोइ सिंगार[4] कंत जो चहा॥
वेद-भेद जस बररुचि, चित चेता तस चेत।
राजा भोज चतुरदस, भा[5] चेतन सौं हेत॥१॥

व्याख्या—राघव चेतन नामक एक विद्वान् था जो जन्म से ही राजा रत्नसेन के राज-दरवार में रहता था। वह विचारों से बहुत ज्ञानवान और अनेक रहस्यों का ज्ञाता था। वह महर्षि व्यास के समान कवि और सहदेव के समान पंडित था। उसने आकर राजा रत्नसेन की सिंहल द्वीप सम्बन्धी सम्पूर्ण कथा को पूरी खोज-बीन करके छन्दोबद्ध कर दिया। उसकी बनाई उस कविता को जो भी कवि सुनता था, वही उस पर मुग्ध हो अपना सिर धुनने लगता था; अर्थात् आनन्द के मारे पागल सा हो उठता था। उसकी कविता इतनी सुन्दर और मधुर थी कि उसे सुनते समय ऐसा प्रतीत होता था मानो श्रोता कानों द्वारा वेद-ध्वनि का रसास्वादन कर रहे हों। दृष्टि वही सार्थक है, जिससे धर्म का सच्चा मार्ग दृष्टिगोचर हो। ज्ञान वही सच्चा है, जिसके द्वारा परमार्थ अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति हो। योगी वही सच्चा है जो सदैव समाधिस्थ बना रहे। और भोगी वही है जो गुणियों के गुणों का पारखी हो। वीर वही सच्चा है जो अपने क्रोध पर काबू रखे और अपने मन को अपने वश में कर ले। शृंगार वही सफल है, जिसे स्वामी चाहे।

पाठ-भेद—१. ओरगि=सेवा में। २. चिंता=चिन्तन। ३. भोग सोग नीके रँग जाना=भोग वह है जो शोक को भली-भाँति जानता हो। ४. सिंगार पाँच=शृंगार वह है जिसे पंच (समाज) भला कहे। ५. चतुरदस विद्या=चौदह विद्या।

उस राघव चेतन को वेदों के मर्म का वैसा ही ज्ञान था, जैसा कि वररुचि को था; अर्थात् राघव चेतन वररुचि के समान वेदों का ज्ञाता था। इधर राजा रत्नसेन भी राजा भोज के समान चौदह विद्याओं का पंडित था। इस प्रकार इन दो विद्वानों में परस्पर मित्रता हो गई।

टिप्पणी—(१) जायसी के पहले से ही राघव चेतन एक कुटिल ब्राह्मण का प्रतीक सा बन चुका था। जिस प्रकार आजकल किसी कूटनीतिज्ञ की चाणक्य से उपमा दी जाती है, उसी प्रकार उस युग में किसी कुटिल ब्राह्मण की उपमा राघव चेतन से दी जाने लगी थी। प्रसिद्ध है कि राघो और चेतन नामक दो ब्राह्मणों का अलाउद्दीन खिलजी पर गहरा प्रभाव था। इन्होंने अलाउद्दीन को दिगम्बर जैनियों के विरुद्ध भड़काया था। श्री अगरचन्द नाहटा ने अलाउद्दीन के दरबार में रहने वाले एक मंत्र-तंत्र के ज्ञाता राघव चेतन ब्राह्मण का उल्लेख किया है, जिसने सम्राट को जैनाचार्य श्री जिनप्रभु सूरि के विरुद्ध भड़का दिया था। इस प्रकार राघव चेतन उस युग में एक षड्यन्त्रकारी ब्राह्मण का प्रतीक सा बन चुका था।

(२) 'समाधि सयाना' से भाव निर्विकल्प समाधि से है।

(३) वररुचि—मध्यकाल में विद्या और बुद्धि का प्रतीक माना जाता था।

(४) चौदह विद्याएँ निम्नलिखित मानी गई हैं—

चार वेद, छह वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र।

(४८१)

होइ अचेत घरी जो आई। चेतन कै सब चेत भुलाई ॥
भा दिन एक अमावस सोई। राजै कहा 'दुइज कब होई ?' ॥
राघव के मुख निकसा 'आजू'। पंडितन्ह कहा 'कालिह, महराजू' ॥
राजै दुवौ दिशा फिरि देखा। इन महँ को बाउर, को सरेखा ॥
भुजा टेकि[1] पंडित तब बोला। 'छाँड़हि देस[2] बचन जौ डोला' ॥
राघव करै जाखिनी-पूजा। चहै सो भाव[3] देखावै दूजा ॥
तेहि ऊपर राघव बर खाँचा। 'दुइज आजु तौ पंडित साँचा'[4] ॥
राघव पूजि जाखिनी, दुइज देखाएसि साँझ।
बेद-पंथ[5] जे नहिं चलहिं, ते भूलहिं बन माँझ ॥२॥

व्याख्या—जब संयोग आ जुटता है अर्थात् बुरी घड़ी आ जाती है तो बुद्धिमान भी अपनी बुद्धि खो बैठता है। ऐसा ही राघव चेतन के साथ हुआ। कुघड़ी आने से वह अपनी सारी बुद्धि खो बैठा। एक दिन अमावस्या थी। राजा रत्नसेन अपनी राज-सभा में बैठा था। उसने पूछा कि द्वितीया (दौज) कब है ? राघव चेतन के मुख से

पाठ-भेद—१. पँज टेकि=प्रतिज्ञा करके। २. झूठा वेद। ३. रूप। ४. झूठ होइ सो द्रेस न रहा। ५. पंथ गरंथ=धर्मग्रन्थ।

अकस्मात् निकल पड़ा कि आज है। परन्तु अन्य पंडितों ने कहा कि महाराज, कल है। यह परस्पर विरोधी मन्तव्य सुन राजा ने दोनों पंडितों की ओर घूमकर देखा और मन में विचार करने लगा कि इनमें से कौन पागल है और कौन बुद्धिमान ? यह देख एक पंडित जोर देकर कहने लगा कि यदि हमारा वचन मिथ्या सिद्ध हो तो हम देश छोड़कर चले जायेंगे; अर्थात् महाराज हमें देश-निकाले का दंड दे दें। राघव चेतन यक्षिणी की पूजा करता था और वह यक्षिणी उसकी आज्ञा का पालन कर जैसा वह चाहता था, वैसा ही विपरीत कार्य कर दिखाती थी। राघव चेतन ने उसी यक्षिणी के बल पर जोर देकर कहा कि—यदि द्वितीया आज हो तो मैं सच्चा पंडित हूँ।

यह कहकर राघव चेतन ने यक्षिणी की पूजा की और सन्ध्या-समय द्वितीया का चन्द्रमा आकाश में दिखाकर सिद्ध कर दिया कि आज ही द्वितीया है। कवि कहता है कि जो लोग वेद-मार्ग का अनुसरण नहीं करते, वे वन में मार्ग भूल भटकते फिरते हैं; अर्थात् राघव चेतन ने यह वेद-विरुद्ध कार्य किया, इसी कारण उसे आगे चलकर भटकते फिरना पड़ा।

टिप्पणी—(१) 'भा दिन एक अमावस सोई'—यह पंक्ति भ्रम उत्पन्न करने वाली है। यदि अमावस्या थी तो दूसरे दिन द्वितीया न होकर प्रतिपदा होनी चाहिए थी। फिर पंडितों का यह कहना गलत था कि द्वितीया कल है। यदि इस पंक्ति का यह अर्थ माना जाय कि 'अमावस्या के एक दिन पश्चात्'— तो इस अर्थ की पूर्ण संगति बैठ जाती है। परन्तु इस पंक्ति के सभी व्याख्याकारों ने उस दिन को अमावस्या ही माना है। केवल डा० मुंशीराम शर्मा ने 'प्रतिपदा' लिखा है, परन्तु उन्होंने भी यह नहीं बताया कि 'प्रतिपदा' अर्थ कैसे हुआ। अतः इस पंक्ति का यह अर्थ ही मानना चाहिए कि— 'अमावस्या के एक दिन पश्चात्।'

(२) शुक्लजी ने दोहे की अन्तिम पंक्ति के दो पाठान्तर दिए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(i) "पँडितहि पंडित न देखै, भएउ बैर तिन्ह माँझ।"
(ii) "पंडित न होइ, काँवरू-चेला।"

(४८२)

पँडितन्ह कहा परा नहीं धोखा। कौन अगस्त समुद्र जेइ सोखा॥
सो दिन गएउ साँझ भइ दूजी। देखी दुइज घरी वह पूजी॥
पँडितन्ह राजहि दीन्ह असीसा। अब कस यह कंचन और सीसा॥
जौ यह दुइज कालिह कै होती। आजु तेज देखत[1] ससि-जोती॥
राघव दिस्टिबंध कल्हि खेला। सभा माँझ चेटक अस मेला॥
एहिकर गुरू चमारिनि लोना। सिखा काँवरू पाढ़न टोना॥

पाठ-भेद—१. तीजि देखि अति=तृतीया को तृतीया जैसी ज्योति दिखाई पड़ती।

दुइज अमावस कहँ जो देखावै। एक दिन राहु चाँद कहँ लावै ॥
राज-बार अस गुनी न चाहिय, जेहि टोना कै खोज।
एहि चेटक औ विद्या, छला जो राजा भोज[1] ॥३॥

व्याख्या—जब राघव चेतन ने अमावस्या के दिन ही द्वितीया का चन्द्रमा दिखा दिया तो राज-सभा के सारे पंडित विस्मय से भर उठे—

उन पंडितों ने आपस में कहा कि हमने ऐसा धोखा तो आज तक कभी नहीं खाया था; अर्थात् हमारा शास्त्र-ज्ञान कभी मिथ्या नहीं निकला। यह अगस्त्य मुनि के समान चमत्कारी पुरुष कौन है, जिसने अमावस्या के दूसरे दिन ही द्वितीया सिद्ध कर अगस्त्य मुनि द्वारा समुद्र सोख लेने जैसा चमत्कार कर दिखाया। वह दिन बीत गया और दूसरी संध्या आई तब ठीक समय पर आकाश में द्वितीया का चन्द्रमा दिखाई दिया। यह देख पंडितों ने राजा रत्नसेन के पास जा उसे आशीर्वाद दिया और कहा कि अब आप कसौटी पर कसकर देखिए कि कौन स्वर्ण के समान है और कौन सीसा है अर्थात् कौन सत्यवादी है और कौन झूठा है। यदि यह द्वितीया कल ही होती तो आज चन्द्रमा की ज्योति कुछ अधिक होती। कल राघव चेतन ने नजरबन्दी का खेल खेला था; अर्थात् अपने चमत्कार द्वारा सबकी आँखों को धोखा दिया था। उसने सभा के मध्य ऐसा जादू किया था कि सबको कल द्वितीया ही दिखाई पड़ी थी। इसकी गुरु लोना नामक चमारिन है। इसने कामरूप देश में जादू-टोना करने की विद्या सीखी है। जो अमावस्या को द्वितीया बनाकर दिखा सकता है वह एक दिन चन्द्रमा को ग्रसने के लिए राहु को भी ले आ सकता है; अर्थात् असमय में ही चन्द्र-ग्रहण करवा कर अशुभ की सृष्टि कर सकता है। (यहाँ कवि प्रच्छन्न रूप से अलाउद्दीन द्वारा पद्मावती के निमित्त चित्तौड़ पर आक्रमण किए जाने की भविष्यवाणी कर रहा है, क्योंकि पद्मावती चन्द्रमा है।)

राज-दरबार में ऐसा गुणी व्यक्ति नहीं रहना चाहिए जो जादू-टोना करना जानता हो। राजा भोज इसी जादू और टोने द्वारा छला गया था।

टिप्पणी—राजा भोज के छले जाने के सम्बन्ध में यह कथा प्रसिद्ध है कि एक बार किसी ऐन्द्रजालिक (जादूगर) ने दरबार में आकर राजा भोज से कहा कि—'महाराज! मैं देवताओं की ओर से असुरों से युद्ध करने जा रहा हूँ। आप तब तक मेरी स्त्री को अपने पास रख उसकी रक्षा करने की कृपा करें।' भोज ने स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद आकाश से उस ऐन्द्रजालिक का शरीर टुकड़े-टुकड़े हो नीचे आ गिरा। उसकी पत्नी उन टुकड़ों को समेट उनके साथ सती हो गई। कुछ समय उपरान्त उस ऐन्द्रजालिक ने राजा भोज के पास आकर अपनी पत्नी माँगी। राजा भोज ने उसे सब हाल बता दिया। इस पर ऐन्द्रजालिक ने राजा की नीयत पर संदेह

पाठ-भेद—१. एहि छन्द ठगविद्या डहँका राजा भोज=इसी प्रकार छद्म और ठगविद्या से राजा भोज डहका (छला) करता था।

करते हुए कहा कि वह आपके रनिवास में है। यह कह उसने अपनी स्त्री का नाम ले उसे पुकारा। वह स्त्री तुरन्त राजा के अन्तःपुर के बाहर निकल उसके पास आ खड़ी हुई। राजा भोज यह देख बड़े चमत्कृत हुए।

(४८३)

राघव-बैन जो कंचन-रेखा। कसे बानि पीतर अस देखा।।
अज्ञा भई, रिसान नरेसू। मारहु नाहिं, निसारहु देसू।।
झूठ बोलि थिर रहै न राँचा। पंडित सोइ वेद-मत साँचा[1] ।।
वेद-बचन मुख साँच जो कहा। सो जुग-जुग अहथिर होइ रहा[2] ।।
खोट रतन सोई फटकरै। केहि घर रतन जो दारिद हरै।।
चहै लच्छि बाउर कवि सोई। जहँ सुरसती, लच्छि कित होई ?।।
कविता-सँग दारिद मतिभंगी। काँटे-कूट पुहुप कै संगी।।
कवि तौ चेला, विधि गुरु, सीप सेवाती-बुंद।
तेहि मानुष कै आस का, जो मरजिया समुंद ? ।।४।।

व्याख्या—जब पंडितों ने राजा के सम्मुख यह सिद्ध कर दिया कि राघव चेतन झूठा और ऐन्द्रजालिक है तो राजा ने देखा कि राघव चेतन के जिन शब्दों को वह स्वर्ण रेखा के समान सत्य समझता था, वे परीक्षा करने पर अर्थात् कसौटी पर कसने पर पीतल अर्थात् झूठे प्रमाणित हुए। यह देख राजा क्रुद्ध हो उठा और उसने आज्ञा दी कि इस राघव चेतन का वध तो मत करना परन्तु इसे हमारे देश से बाहर निकाल दो। झूठ बोलकर कोई व्यक्ति कहीं भी तनिक सी देर के लिए भी स्थिर होकर नहीं रह सकता। पंडित वही है, जो वेद-वाक्य को सच्चा मानता है अर्थात् वेद-वाक्यों के अनुसार आचरण करता है। जो व्यक्ति अपने मुख से वेद-वाक्य के अनुसार सत्य वचन बोलता है, वह युग-युग तक स्थिर बना रहता है; अर्थात् युग-युग तक उसके कहे वचनों का सम्मान होता रहता है। पारखी खोटे रत्न को देख तुरन्त उसे झटक कर दूर फेंक देता है। ऐसा रत्न किसके घर में है जो उसके सारे दारिद्र्य को हर ले; अर्थात् ऐसा विद्वान् कहाँ है जो अपने ज्ञान द्वारा सारे भ्रमान्धकार को नष्ट कर दे। जो कवि लक्ष्मी की चाहना करता है वह पागल होता है, क्योंकि जहाँ सरस्वती का वास होता है, वहाँ लक्ष्मी कहाँ रह सकती है ? भाव यह है कि कवि सरस्वती का उपासक होता है इसी कारण लक्ष्मी उसके पास कभी नहीं रह पाती। परन्तु होता यह है कि जहाँ कविता रहती है वहाँ कवि की मति को भ्रष्ट करने वाला दारिद्र्य भी सदैव उसके साथ लगा रहता है। जिस प्रकार पुष्प के साथ कुटिल काँटे लगे रहते हैं, उसी प्रकार कविता-कामिनी के उपासक कवि के साथ भी सदैव दारिद्र्य लगा

पाठ-भेद—१. तब चेतन चित चिंता गाजा। पंडित सो जो वेद मति साजा।।
२. कवि सो पेम तंत कवि राजा। झूँठ साँच जेहि कहत न साजा।।

रहता है। भाव यह है कि दरिद्रता के कारण कभी-कभी कवि की मति भ्रष्ट हो जाती है।

कवि चेला होता है और विधाता उसका गुरु। विधाता रूपी गुरु कवि रूपी शिष्य को उसी प्रकार भाव-रूपी ज्ञान प्रदान करता है जिस प्रकार स्वाति जल की बूँद सीप को मोती प्रदान करती है। ऐसे कवि को किसी मनुष्य से क्या आशा करनी चाहिए, क्योंकि कवि तो स्वयं मरजीवा (गोताखोर) के समान होता है जो समुद्र में अर्थात् अपने हृदय रूपी समुद्र में प्रवेश कर भाव रूपी रत्न खोज लाता है।

टिप्पणी—(१) इस पद में कवि ने इस सत्य का उद्‌घाटन किया है कि कवि सदैव दरिद्र ही रहता है।

(२) **अलंकार**—पूर्णोपमा, सांगरूपक।

(३) डा० गुप्त के अनुसार तृतीय पंक्ति से राघव चेतन ये सारी बातें कहता है, न कि कवि या राजा रत्नसेन।

(४८४)

एहि रे बात पदमावति सुनी। देस निसारा[१] राघव गुनी॥
ज्ञान-दिस्टि धनि अगम बिचारा। भल न कीन्ह असगुनी निसारा॥
जेइ जाखिनी पूजि ससि काढ़ा। सूर के ठावँ करै पुनि ठाढ़ा॥
कवि कै जीभ खड़ग हरद्वानी। एकदिसिआगिदूसर दिसि, पानी॥
जिनि अजुगति काढ़ै मुख भोरे। जस बहुते, अपजस होइ थोरे॥
रानी राघव बेगि हँकारा। सूर-गहन भा लेहु उतारा॥
बाम्हन जहाँ दच्छिना पावा। सरग जाइ जौ होइ बोलावा॥
आवा राघव चेतन, धौराहर के पास।
ऐस न जाना ते हियै, बिजुरी बसै अकास॥५॥

शब्दार्थ—अगम=भविष्य। हरद्वानी=हरद्वान या हैरात की तलवार। अजुगति=अनहोनी बात, अयुक्त बात। उतारा=न्यौछावर किया हुआ दान।

व्याख्या—राजा रत्नसेन द्वारा राघव चेतन को देश-निकाला दिया जाना और फलस्वरूप राघव चेतन का चित्तौड़ छोड़कर चल देने का समाचार पद्मावती ने भी सुना कि राघव चेतन जैसे गुणी पुरुष को राजा ने देश-निकाला दे दिया है। सुन्दरी पद्मावती ने अपनी ज्ञान-दृष्टि द्वारा इसके परिणाम अर्थात् भविष्य का बिचार किया और मन में सोचा कि ऐसे गुणी व्यक्ति को निकाल कर राजा ने अच्छा नहीं किया। जिस व्यक्ति ने यक्षिणी की पूजा कर चन्द्रमा को उदय कर दिया था, वह अवसर मिलने पर किसी दिन सूर्य अर्थात् राजा रत्नसेन के स्थान पर भी किसी अन्य को खड़ा कर सकता है अर्थात् किसी प्रतिद्वन्द्वी को लाकर राजा से भिड़वा सकता है।

पाठ-भेद—१. चला बिसुरि कै=खिन्न होकर, रूठ कर।

कवि की जिह्वा हरद्वान या हैरात की बनी तलवार के समान होती है जिसमें एक ओर जला देने वाली अग्नि के समान विनाशकारी प्रभाव तथा दूसरी ओर पानी के समान शीतलता प्रदान करने की शक्ति होती है। भाव यह है कि कवि की वाणी विनाश और कल्याण—दोनों ही करने में समर्थ होती है। कहीं वह अपने मुख से अनायास ही किसी के सम्मुख कोई अयुक्त बात न कह बैठे। यश तो बहुत प्रयत्न करने पर प्राप्त होता है, परन्तु अपयश थोड़ी बात से ही हो जाता है। मन में यह सोच कर पद्मावती ने तुरन्त राघव चेतन को अपने पास यह कहलवा कर बुलवाया कि सूर्य को ग्रहण लग गया है, तुम तुरन्त आकर दान-दक्षिणा ग्रहण करो। (यहाँ पद्मावती भावी अनिष्ट की कल्पना कर यह संकेत दे रही है कि क्रोध के कारण रत्नसेन की बुद्धि को ग्रहण सा लग गया है अर्थात् उसकी बुद्धि मलिन हो उठी है। इसलिए वह राघव चेतन को कुछ धन देकर सन्तुष्ट करना चाह रही है।) ब्राह्मण को यदि दक्षिणा मिलने की आशा हो तो बुलाए जाने पर वह स्वर्ग जाने में भी नहीं हिचकता।

पद्मावती के सन्देश को सुन राघव चेतन तुरन्त पद्मावती के धवलगृह (महल) के पास आ पहुँचा। परन्तु उसे हृदय में यह ज्ञान न था कि आकाश में बिजली रहती है अर्थात् महल में, पद्मावती जैसी सुन्दरी रहती है, जिसके रूप की ज्योति आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देती है।

(४८५)

पदमावति जो झरोखे आई। निहकलंक ससि दीन्ह दिखाई।।
ततखन राघव दीन्ह असीसा। भएउ चकोर चंदमुख दीसा।।
पहिरे ससि नखतन्ह कै मारा। धरती सरग भएउ उजियारा।।
औ पहिरे कर कंकन-जोरी। नग लागे जहि महँ नौ कौरी[1] ।।
कंकन एक कर काढ़ि पवारा। काढ़त हार टूट गिय मारा।।
जानहुँ चाँद टूट लेइ तारा। छुटी अकास काल कै धारा।।
जानहुँ टूटि बीज भुइँ परी। उठा चौंधि राघव चित हरी।।
परा आइ भुइँ कंकन, जगत भएउ उजियार।
राघव बिजुरी मारा, बिसँभर किछु न सँभार।।६।।

व्याख्या—राघव चेतन के महल के नीचे आ जाने का समाचार सुन पद्मावती जब झरोखे पर आकर खड़ी हो गई तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो निष्कलंक चन्द्रमा के दर्शन हुए हों। उसके दर्शन कर राघव चेतन ने तुरन्त उसे आशीर्वाद दिया और उसके मुख की ओर इस प्रकार टकटकी लगाए देखता रह गया जैसे चकोर चन्द्रमा की ओर एकटक देखता रह जाता है। शशि रूपी पद्मावती नक्षत्रों के समान उज्ज्वल

पाठ-भेद— १. लहै सो एक एक नग नव कोरी=जिसका एक-एक नग नवकोटि (नौ करोड़) द्रव्य प्राप्त करने वाला था।

मोतियों की माला पहने हुए थी जिसके प्रकाश से धरती से लेकर आकाश तक सारा प्रदेश उज्ज्वल प्रकाश से भर उठा। वह भुजाओं में कंकणों की एक जोड़ी पहने हुए थी जिनमें नौ कौड़ी (१८०) रत्न जड़े हुए थे। पद्मावती ने अपना एक कंकण निकाल कर नीचे खड़े राघव चेतन की ओर फेंक दिया। इसके उपरान्त जब वह गले में से अपना हार निकालने लगी तो ऐसा करते समय उसके गले में पड़ी मोतियों की माला टूट गई। वह कंकण और टूटी हुई माला में से गिरते हुए मोती ऐसे प्रतीत हुए मानो चन्द्रमा नक्षत्रों के साथ पृथ्वी पर उतरता चला आ रहा हो। (यहाँ कंकण चन्द्रमा के समान तथा मोती नक्षत्रों के समान हैं।) अथवा आकाश से मृत्यु की धारा नीचे पृथ्वी की ओर प्रवाहित हो उठी हो। भाव यह है कि वह कंकण और मोती ही मानो राघव चेतन के लिए काल बन गए हों। (यह जन-विश्वास प्रचलित है कि जब कोई तारा अपने पीछे तीव्र प्रकाश की रेखा छोड़ता हुआ टूटता है तो किसी पुण्यात्मा की मृत्यु होती है। यहाँ कंकण टूटता हुआ नक्षत्र और उसके पीछे गिरते मोती प्रकाश की धारा के समान है।) राघव चेतन ने उन्हें नीचे आते देख समझा कि मानो आकाश से बिजली टूट कर पृथ्वी पर आ गिरी हो। उसे देख राघव चेतन की आँखों में चकाचौंध छा गया और उसकी संज्ञा लुप्त हो गई।

ऐसा वह कंकण पृथ्वी पर आकर गिरा और उसके प्रकाश से सारे जगत में उजियारा छा गया। राघव चेतन इस प्रकार अपना होश-हवास खो, अचेत हो पृथ्वी पर गिर पड़ा, मानो उस पर बिजली गिर पड़ी हो।

टिप्पणी—(१) **अलंकार**—'निहकलंक·· दिखाई'—व्यतिरेक। 'जनहुँ········ मुख दीसा'—उत्प्रेक्षा। 'पहिरे ससि····मारा'—रूपकातिशयोक्ति। 'जानहुँ चाँद··· तारा'—उत्प्रेक्षा।

(२) 'नग लागे जेहि महँ नौ कोरी'—पंक्ति में 'नौ कोरी' शब्द गणना के अनुसार १८० की संख्या देते हैं। परन्तु इस अर्थ में कोई सौन्दर्य नहीं है। 'कोरी' का अर्थ 'कोरना' भी होता है। नग के चिरे हुए टुकड़ों को घिस कर गोल करना या पहल घाट निकालना 'कोरना' कहलाता है। इस प्रकार इस पंक्ति का यह अर्थ निकलता है कि उस कंकण में नौ रत्न कोर कर लगाए गए थे। ऐसा कंकण नौ-नगा कंकण कहलाता था।

(४८६)

पदमावति हँसि दीन्ह झरोखा। जौ यह गुनी मरै, मोहिं दोखा॥
सबै सहेली देखैं धाईं। 'चेतन चेतु' जगावहिं आईं॥
चेतन परा, न आवै चेतू। सबै कहा 'एहि लाग परेतू'॥
कोई कहै, आहि सनिपातू। कोई कहै, कि मिरगी बातू॥
कोइ कह, लाग पवन कर झोला। कैसेहु समुझि न चेतन बोला॥

पुनि उठाइ बैठाएन्हि छाँहा। पूछहिं, कौन पीर हिय माहाँ ? ॥
दहुँ काहू के दरसन हरा। की ठग धूत भूत तोहि छरा ॥
की तोहि दीन्ह काहु किछु, की रे डसा तोहि साँप ?।
कहु सचेत होइ चेतन, देह तोरि कस काँप ॥७॥

व्याख्या—जब राघव चेतन झरोखे में खड़ी पद्मावती के दर्शन कर बेहोश हो गया तो पद्मावती ने झरोखे की खिड़की बन्द कर दी और मन में सोचने लगी कि यदि यह गुणी व्यक्ति मर गया तो इसकी मृत्यु का दोष मुझे लगेगा। यह देख उसकी सारी सहेलियाँ राघव चेतन को देखने दौड़ी-दौड़ी उसके पास पहुँचीं और जाकर यह कह-कह कर उसे जगाने लगीं कि हे राघव चेतन ! होश में आ। परन्तु राघव चेतन धरती पर बेहोश पड़ा था, उसे होश नहीं आ रहा था। यह देख सारी सखियाँ आपस में कहने लगीं कि इसे कोई भूत-प्रेत लग गया है। कोई कहने लगी कि इसे सन्निपात हो गया है, किसी ने कहा कि इसे मिरगी या बात का दौरा पड़ा है और किसी ने कहा कि यह हवा का थपेड़ा खा गया है। परन्तु राघव चेतन को किसी की भी बात समझ में नहीं आ रही थी और न वह मुँह से कुछ बोलता ही था। इसके उपरान्त सखियों ने उसे उठाकर छाया में बैठा दिया और उससे पूछने लगीं—तुम्हारे हृदय में क्या दुःख है ? क्या तुम किसी के दर्शन कर इस प्रकार व्याकुल हो रहे हो या किसी ठग, धूर्त या भूत-प्रेत ने तुम्हें छल लिया है ?

या किसी ने तुम्हें कुछ दे दिया है, या सर्प ने डस लिया है। हे राघव चेतन ! होश में आओ, और यह बताओ कि तुम्हारा शरीर इस प्रकार क्यों काँप रहा है ?

(४८७)

भएउ चेत चेतन चित चेता। नैन झरोखे लीउ सँकेता[1] ॥
पुनि जो बोला मति बुधि खोवा। नैन झरोखा लाए रोवा ॥
बाउर बहिर सीस पै धुना। आपनि कहै, पराइ न सुना ॥
जानहु लाई काहु ठगौरी। खन पुकार, खन बातैं बौरी ॥
हौं रे ठगा एहि चितउर माहाँ। कासौं कहौं, जाऊँ केहि पाहाँ ॥
यह राजा सठ बड़ हत्यारा। जेइ राखा अस ठग बटपारा ॥
ना कोइ बरज, न लाग गोहारी। अस एहि नगर होइ बटपारी ॥
दिस्टि दीन्ह ठगलाडू, अलक-फाँस परे गीउ।
जहाँ भिखारि न बाँचे, तहाँ बाँच को जीउ ? ॥८॥

व्याख्या—पद्मावती की सखियों द्वारा होश में लाये जाने पर राघव चेतन की

पाठ-भेद—१. बकति न आव टकटका लागा=मुख से कोई बात नहीं निकल रही थी और आखें टकटकी लगाए देख रही थीं।

चेतना लौटी और उसका चित्त सावधान हुआ। उसके नेत्र झरोखे पर जा लगे और प्राण संकट में पड़ गए। इसके उपरान्त वह जो कुछ बोला वह केवल प्रलाप था, क्योंकि उसकी बुद्धि और मति भ्रष्ट हो चुकी थी। वह झरोखे की तरफ टकटकी लगाए रोता रहा। वह पागल के समान अपनी बात तो कहता जाता था परन्तु बहरे के समान दूसरों की बात नहीं सुन रहा था और अपना सिर धुनता था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो किसी ने उसे ठग लिया था; अर्थात् किसी के द्वारा ठगे जाने के कारण उसकी सारी सुध-बुध नष्ट हो गई थी। कभी वह पुकार उठता था और फिर क्षण-भर में ही पागलों की-सी बातें करने लगता था कि मुझे इस चित्तौड़ में ठग लिया गया है। मैं अपना दुख किससे कहूँ और किसके पास जाऊँ ? राजा बड़ा दुष्ट और हत्यारा है जिसने अपने यहाँ ऐसा ठग और लुटेरा रख छोड़ा है। न तो उस ठग को कोई रोकता ही है, और न चिल्लाने पर कोई सहायता करने आता है। इस नगर में इस प्रकार राहगीरों को लूट लिया जाता है। (यहाँ राघव चेतन का ठग से अभिप्राय पद्मावती से है जो अपने सौन्दर्य द्वारा उसे मोहित कर उसके हृदय को लूट ले गई है।)

उस ठग अर्थात् पद्मावती ने मुझे अपनी दृष्टि द्वारा ठगलड्डू (विषैले लड्डू) खिला दिए हैं; अर्थात् पद्मावती ने उसकी ओर एक बार देखकर ही उसकी नस-नस में जहरीला उन्माद उत्पन्न कर दिया है। उसकी अलकों की फाँसी मेरे गले में पड़ गई है; अर्थात् मैं उसकी सुन्दर अलकों से विमोहित हो मारा जा रहा हूँ। जहाँ भिखारी तक नहीं बचते, वहाँ अन्य कोई प्राणी कैसे बच सकता है; अर्थात् जहाँ पद्मावती अपने रूप द्वारा भिखारियों तक को व्याकुल बना देती है वहाँ अन्य लोग उसके प्रभाव से कैसे बच सकते हैं ?

टिप्पणी—दोहे में रूपक अलंकार है।

(४८८)

कित धौराहार आइ झरोखे ? लेइ गइ जोउ दछिछना-धोखे ॥
सरग ऊइ[1] ससि करै अँजोरी। तेहि ते अधिक देहुँ केहि जोरी ? ॥
तहाँ ससिहि[2] जौ होति वह जोती। दिन होइ राति, रैनि कस होती ॥
तेइ हँकारि मोहिं कंकन दीन्हा। दिस्ट जो परी जीउ हरि लीन्हा ॥
नैन-भिखारि ढीठ सतछँडा। लागै तहाँ बान होइ गड़ा[3] ॥
नैनहिं नैन जो बेधि समाने। सीस धुनै निसरहिं नहिं ताने ॥
नवहिं न नाए निलज भिखारी। तबहिं न लागि रही मुख कारी ॥
कित करमुहें नैन भए, जीउ हरा जेहि बाट।
सरवर नीर-निछोह जिमि, दरकि दरिक हिय फाट ॥९॥

पाठ-भेद—१. सूर=सूर्य। २. ससि सूरहिं। ३. बान विखु=विष बुझे बाण।

व्याख्या—राघव चेतन आगे कहने लगा कि वह (पद्मावती) कहाँ से अपने महल के झरोखे में आ मुझे दक्षिणा देने का धोखा दे, मेरे प्राणों को लेकर चली गई। चन्द्रमा आकाश में उदय होकर अपनी चन्द्रिका का प्रकाश विकीर्ण करता है। मैं उस पद्मावती के रूप की उपमा उस चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर और किस वस्तु से दूँ? अर्थात् पद्मावती का रूप चन्द्रमा के रूप से भी अधिक सुन्दर है। मुझे कोई भी ऐसी वस्तु नहीं मिलती, जिससे मैं पद्मावती के रूप की उपमा दे सकूँ। यदि आकार में स्थित उस चन्द्रमा में पद्मावती के रूप की-सी ज्योति होती तो रात्रि के समय भी दिवस का-सा प्रकाश संसार में छाया रहता। फिर रात्रि कैसे हो पाती? ऐसी इस पद्मावती ने मुझे बुलाकर अपना कंगन दिया और उस पर मेरी दृष्टि पड़ी तो उसने मेरे प्राण ही हर लिए; अर्थात् उसके दर्शन कर मैं उसके वश में हो गया। मेरे नेत्र भिखारी के समान धृष्ट और बेईमान बन गए हैं। ये जहाँ गड़ जाते हैं, अर्थात् ये जिस पर मुग्ध हो जाते हैं, वहाँ बाण के समान गड़ कर रह जाते हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार भिखारी भीख पाकर भी और अधिक पाने की आशा में ढीठ बन उसी द्वार पर अड़ जाते हैं और बेईमान बन जाते हैं, उसी प्रकार मेरे ये नेत्र भी एक बार पद्मावती के दर्शन करके भी ढीठ और बेईमान बन पुनः उसके दर्शन प्राप्त करने के लालच से उसी की प्रतीक्षा में लगे हुए हैं। उसके नेत्र मेरे नेत्रों को वेध कर मेरे हृदय में बाण के समान समा गए हैं। मैं पीड़ा से व्याकुल हो अपना सिर धुन रहा हूँ परन्तु ये खींचने से भी निकलने का नाम नहीं लेते; अर्थात् मेरे नेत्र किसी भी प्रकार उस झरोखे से हटने का नाम नहीं लेते, जिस पर पद्मावती खड़ी हुई थी। ये नेत्र निर्लज्ज भिखारी के समान ऐसे बेहया हो गए हैं कि झुकाने से भी नीचे नहीं झुकते; अर्थात् मैं प्रयत्न करने पर भी इन्हें इस झरोखे पर से नहीं हटा पा रहा हूँ। इनकी इस निर्लज्जता के कारण ही तो इनके मुख पर कालिख लगी हुई है। (कालिख से अभिप्राय नेत्रों की काली पुतलियों से है।)

मेरे ये काले मुँह वाले नेत्र ऐसे हुए ही क्यों? उस रास्ते पर गए ही क्यों, जिस पर चलने से मेरे प्राण हर लिए गए। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि ये करमुँहे नेत्र हुए ही क्यों, क्योंकि इन्हीं के द्वारा मेरे प्राण हर लिए गए हैं। जिस प्रकार सरोवर जब जल से वियुक्त हो जाता है; अर्थात् जब सरोवर का जल सूख जाता है तो उस जल के वियोग की पीड़ा के कारण सरोवर का हृदय दरक कर उसमें दरारें पड़ जाती हैं, अर्थात् हृदय फट जाता है, इसी प्रकार पद्मावती के वियोग के कारण मेरा हृदय फटा जा रहा है।

टिप्पणी—अलंकार—'लागि रही मुख कारी'—उत्प्रेक्षा। 'सरवर····फाट'—उपमा।

(४८९)

सखिन्ह कहा चेतसि बिसँभारा। हिये चेतु जेहि जासि न मारा॥
जौं कोइ पावै आपन माँगा। ना कोइ मरै, न काहू खाँगा॥

वह पदमावति आहि अनूपा। बरनि न जाइ काहु के रूपा॥
जो देखा सो गुपुत चलि गएउ। परगट कहाँ, जीउ बिन भएउ॥
तुम्ह अस बहुत बिमोहित भए। धुनि धुनि सीस जीउ देइ गए॥
बहुतन्ह दीन्ह नाइ कै गीवा। उतर देइ नहिं, मारै जीवा॥
तुइँ पै मरहि होइ जरि भूई। अबहूँ उघेलु कान कै रूई॥
कोइ माँगे नहिं पावै, कोइ माँगे बिनु पाव।
तू चेतन औरहि समुझावै, तोकहँ को समुझाव ? ॥१०॥

व्याख्या—राघव चेतन की प्रलाप भरी बातों को सुन पद्मावती की सखियों ने उससे कहा कि—ओ वेसुध ! होश में आ। अपने हृदय को सम्हाल। कहीं ऐसा न हो कि अपने इस हृदय के कारण तू मारा जाय। भाव यह है कि यदि राजा को तेरी इस हरकत का पता चल गया तो कहीं ऐसा न हो कि वह तुझे इस अपराध के कारण मरवा डाले। यदि कोई व्यक्ति अपनी मुँह माँगी वस्तु प्राप्त कर ले तो इस संसार में फिर न तो कोई मरे ही और न उसे किसी भी प्रकार का अभाव ही सताए। भाव यह है कि इस संसार में मनवांछित वस्तु किसी को सदैव प्राप्त नहीं होती। इसलिए पद्मावती को तू प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। वह पद्मावती अनिंद्य सुन्दरी है। उसके सौन्दर्य का वर्णन किसी भी उपमा द्वारा नहीं किया जा सकता; अर्थात् उसका सौन्दर्य अनुपमेय है। जिन्होंने भी उसे देखा, वे उसके दर्शन कर चुपचाप यहाँ से चलते बने। ऐसे व्यक्ति फिर यहाँ नहीं दिखाई पड़ते, क्योंकि यदि वे प्रगट होकर पद्मावती के प्रति अपनी आसक्ति को स्पष्ट कर दें तो फिर उनके प्राणों की खैर नहीं। तुरन्त उनका वध कर दिया जायेगा। तेरे जैसे अनेक पद्मावती के रूप पर मोहित हो चुके हैं और अपना सिर धुन-धुन कर अपने प्राण गँवा बैठे हैं। अनेक व्यक्तियों ने उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर अपनी गर्दन उसके सम्मुख झुकाकर समर्पित की है परन्तु वह किसी को भी कोई उत्तर नहीं देती और उनका वध करवा देती है। तू भी उसके रूप की अग्नि में पड़ सरकण्डे के धुएँ की भाँति जलकर नष्ट हो जायगा। इसलिए अपने कानों की रुई निकाल कर अर्थात् कान खोलकर हमारी बात सुन और मान जा !

कोई माँगने पर भी किसी वस्तु को नहीं प्राप्त कर पाता और किसी को बिना माँगे ही वह वस्तु मिल जाती है। तू तो बुद्धिमान है, अपने ज्ञान द्वारा दूसरों को समझाता रहता है, इसलिए तुझ जैसे बुद्धिमान को अब कोई क्या समझाये।

टिप्पणी—इस पद को कतिपय पंक्तियों में रहस्य-भावना की ध्वनि है। चतुर्थ पंक्ति का रहस्यपरक भाव यह है कि जिस जीव ने ईश्वर को पहचान लिया है उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है। सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है। फिर उसके पास अपना करके प्रकट करने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता। छठी पंक्ति का यह भाव है कि साधना के मार्ग में कितनों ने अपने प्राण दे दिए, किन्तु उस प्रेमी अर्थात् ईश्वर से उन्हें किसी भी प्रकार का उत्तर नहीं प्राप्त हुआ। दोहे की प्रथम पंक्ति में आत्मा

के स्वयंवर की ओर संकेत है। आत्मा जिसको स्वयं वरती है, वही उसे पाता है। वह अपने लिए सुन्दर वर अर्थात् ईश्वर को चुन लेती है।

(४९०)

भएउ चेत चित चेतन चेता। बहुरि न आइ सहौं दुख एता ।।
रोवत आइ परे हम जहाँ। रोवत चले, कौन सुख तहाँ ? ।।
जहाँ रहे संसौ जिउ केरा। कौन रहनि ? चलि चलै सबेरा ।।
अब यह भीख तहाँ होइ माँगौं। देइ एत जेहि जनम न खाँगौं ।।
अस कंकन जौ पावों दूजा। दारिद हरै, आस मन पूजा ।।
दिल्ली नगर आदि तुरकानू। जहाँ अलाउदीन सुलतानू ।।
सोन ढरै जेहि के टकसारा। बारह बानी चलै दिनारा ।।
कवँल बखानौं जाइ तहँ, जहँ अलि अलाउदीन।
सुनि के चढ़ै भानु होइ, रतन जौ होइ मलीन[1] ।।११।।

व्याख्या—पद्मावती की सखियों की भर्त्सना और धमकी भरी बातों को सुन राघव चेतन पुरी तरह से होश में आ गया। उसने अपने मन में विचार किया कि मैं यहाँ फिर आकर इतना दुख नहीं सहूँगा। जहाँ हम रोते हुए ही आते हैं और जहाँ से हमें रोते हुए ही जाना पड़ता है, वहाँ सुख कैसा ? अर्थात् मैं यहाँ चित्तौड़ में अर्थ के अभाव के कारण रोता हुआ आया था और अब मुझे यहाँ से अर्थाभाव और पद्मावती के वियोग के कारण रोते हुए ही जाना पड़ रहा है तो फिर मैं यहाँ सुख प्राप्त होने की क्या आशा करूँ ? जहाँ रहने पर हमेशा प्राण संकट में पड़े रहें, वहाँ कैसा रहना ? इसलिए यहाँ से शीघ्र ही चल देना चाहिए। (सखियों की बातें सुनकर राघव चेतन को अपने प्राणों का भय हो उठा था कि यदि वह यहाँ रहेगा तो राजा कभी न कभी उसे मरवा डालेगा।) अब मैं यह भिक्षा वहाँ जाकर मागूँगा जहाँ मुझे कोई इतना धन दे दे कि फिर जीवन-पर्यन्त मुझे किसी भी बात की कमी न रहे। यदि मुझे ऐसा ही एक दूसरा कंगन मिल जाय तो मेरी सारी दरिद्रता जाती रहे और मेरी सारी अभिलाषायें पूरी हो जायें। दिल्ली नगर तुर्कों का प्रधान नगर अर्थात् राजधानी है, जहाँ सुल्तान अलाउद्दीन शासन करता है। उसकी टकसाल में सोने को ढालकर उससे पूर्ण शुद्ध सोने की दीनारें ढाली जाती हैं।

ऐसा भ्रमर के समान जहाँ अलाउद्दीन है, मैं उसके पास जाकर कमल अर्थात् पद्मावती के सौन्दर्य की प्रशंसा करूँगा। भाव यह है कि मैं अलाउद्दीन से पद्मावती का वर्णन कर उसे उसके प्रति उसी प्रकार अनुरक्त कर दूँगा जिस प्रकार भ्रमर कमल के प्रति अनुरक्त होता है। उसे सुनकर वह सूर्य के समान अर्थात् प्रबल सेना सहित रत्नसेन के ऊपर आक्रमण कर देगा, जिससे रत्न की कान्ति धूमिल हो उठेगी; अर्थात् रत्नसेन पराजित हो जायेगा।

टिप्पणी—अलंकार—रूपक।

पाठ-भेद—१. रतन होइ जल मीन=जिससे यह रत्नसेन जल की मछली हो जाय अर्थात् उसके जाल में फँस जाय।

३९

राघव चेतन-दिल्ली-गमन-खंड

(४९१)

राघव चेतन कीन्ह पयाना। दिल्ली नगर जाइ नियराना॥
आइ साह के बार पहूँचा। देखा राज जगत पर ऊँचा॥
छत्तिस लाख तुरुक[1] असवारा। तीस[2] सहस हस्ती दरबारा॥
जहँ लगि तपै जगत पर भानू। तहँ लगि राज करै सुलतानू॥
चहूँ खंड के राजा आवहिं। ठाढ़ झुराहिं[3], जोहार न पावहिं॥
मन तेवान कै राघव झूरा। नाहिं उबार, जीउ-डर[4] पूरा॥
जहँ झुराहिं दीन्हे सिर छाता। तहँ हमार को चालै बाता?॥
वार पार[5] नहिं सूझै, लाखन उमर अमीर।
अब खुर-खेह जाहुँ मिलि, आइ परेउँ एहि भीर॥१॥

व्याख्या—चित्तौड़ से देश-निकाला पाकर राघव चेतन चित्तौड़ को छोड़कर चल दिया और दिल्ली नगर के पास जा पहुँचा। नगर में प्रवेश कर वह शाही महल के दरवाजे पर पहुँचा और देखा कि वह राज्य संसार में सबसे श्रेष्ठ और प्रतापशाली है। राजदरबार में ३६ लाख तुर्की घुड़सवार और ३० हजार हाथी थे। संसार में जहाँ तक सूर्य तपता है, वहाँ तक सुल्तान का राज्य है। उसके दरबार में चारों खंडों के राजा आते हैं और खड़े-खड़े सूखते रहते हैं। भीड़ के कारण उन्हें यह अवसर तक नहीं मिलता कि जाकर बादशाह को प्रणाम कर सकें। यह भीड़-भाड़ देख राघव-चेतन मन में चिन्तित हो संताप करने लगा कि यहाँ अपनी गुजर या पैठ नहीं हो सकती। यह सोचकर उसके हृदय में भय समा गया। उसने सोचा कि जहाँ राज्य-छत्र धारण करने वाले राजा तक खड़े प्रतीक्षा करते रहते हैं, वहाँ हमारी बात कौन पूछेगा?

वहाँ इतनी भारी भीड़ थी कि उसका आदि अन्त ही नहीं दिखाई पड़ता था। लाखों अमीर-उमराव वहाँ खड़े बादशाह की कृपा-दृष्टि प्राप्त करने की प्रतीक्षा में

पाठ-भेद—१. ओरगहिं=सेवक अर्थात् सैनिक। २. बीस। ३. होइ अस मर्द=ऐसे बलशाली मर्द होकर भी। ४. कादर=कातर। ५. अरध ऊरध=नीचे-ऊपर।

भीड़ लगाए खड़े थे । यह देख राघव चेतन ने सोचा कि मैं इतनी बड़ी भीड़ में आ फँसा हूँ कि घोड़ों के सुमों द्वारा उठी हुई धूल में ही समा जाऊँगा; अर्थात् दब जाऊँगा ।

टिप्पणी—अलंकार—'जहँ झुराहिं दीन्हे सिर छाता'—में विरोधाभास है ।

(४९२)

बादशाह सब जाना बूझा । सरग पतार हिये महँ सूझा ।।
जौं राजा अस सजग न होई । काकर राज, कहाँ, कर कोई ।।
जगत-भार उन्ह एक सँभारा । तौ थिर रहै सकल संसारा ।।
औ अस ओहिक सिंघासन ऊँचा । सब काहू पर दिस्टि पहूँचा ।।
सब दिन राजकाज सुख भोगी । रैनि फिरै घर घर होइ जोगी ।।
राव रंक जावत सब जाती । सब कै चाह लेइ दिन राती ।।
पंथी परदेसी जत आवहिं । सब कै चाह दूत पहुँचावहिं ।।
एहू बात तहँ पहुँची, सदा छत्र सुख-छाहँ !
बाम्हन एक बार है, कँकन जराऊ बाहँ ।।२।।

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन सब कुछ जानता और समझता था । स्वर्ग से लेकर पाताल तक सारे स्थानों की उसे पूरी खबर रहती थी । यदि राजा इतना सजग और सतर्क न रहे तो फिर उसका राज्य कैसे और कहाँ स्थिर रह सकता है ? उस एक ने अर्थात् एक ईश्वर ने सारे संसार का भार अपने ऊपर सम्हाल रखा है । इसी कारण संसार स्थिर रहता है अर्थात् संसार में सारे कार्य नियमानुसार संचालित होते रहते हैं । इसी प्रकार अलाउद्दीन अकेला ही सारे संसार का शासन-सूत्र सम्हाले हुए था और उसकी इसी कार्य-दक्षता के कारण उसका राज्य सारे संसार में स्थिर (अटल) बना हुआ था । उसका सिंहासन इतना ऊँचा था कि उस पर बैठकर उसकी दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचती रहती थी; अर्थात् वह प्रत्येक व्यक्ति पर स्वयं दृष्टि रखता था । वह सारा दिन राज-कार्य करने में तथा सुख भोगने में व्यतीत करता था और फिर रात्रि होने पर योगी का वेश धारण कर घर-घर की खबर लेता फिरता था कि उसकी प्रजा कैसे रह रही है । उसके राज्य में सम्पूर्ण जातियों के जितने भी धनी और निर्धन व्यक्ति रहते थे, वह रात-दिन उन सबकी खबर रखता था । नगर में जितने भी पर-देशी आते थे, बादशाह के दूत उन सबकी सूचना बादशाह तक पहुँचा देते थे ।

यह बात भी अर्थात् राघव चेतन के नगर में आने की बात भी बादशाह के कानों तक पहुँच गई । दूतों ने बादशाह के पास जाकर निवेदन किया कि—'छत्र की सुख छाया सदा आपके ऊपर बनी रहे । एक ब्राह्मण राजद्वार पर खड़ा है । उसकी भुजा में एक जड़ाऊ कंगन पड़ा है ।'

(४९३)

मया साह मन सुनत भिखारी । परदेसी को ? पूछु हँकारी ।।
हम्ह पुनि जाना है परदेसा । कौन पंथ, गवनब केहि भेसा ? ।।
दिल्ली राज चिंत मन गाढ़ी । यह जग जैस दूध कै साढ़ी ।।
सैंति बिलोव कीन्ह बहु फेरा । मथि कै लीन्ह घीउ महि केरा ।।
एहि दहि लेइ[1] का रहै ढिलाईं । साढ़ी काढ़ु दही जब ताईं[2] ।।
एहि दहि लेइ[3] कित होइ होइ गए । कै कै गरब खेह मिलि गए ।।
रावन लंक जारि सब तापा । रहा न जोबन, आव बुढ़ापा[4] ।।
भीख भिखारी दीजिए, का बाम्हन का भाँट ।
अज्ञा भई हुँकारहु, धरती धरै लिलाट ।।३।।

व्याख्या—भिखारी का नाम सुनते ही बादशाह के मन में दया उत्पन्न हुई । उसने आज्ञा दी कि उस परदेसी को बुलाकर पूछो कि वह कौन है ? फिर कभी-न-कभी हमें भी तो परदेश जाना है । वहाँ जाने का कौन-सा मार्ग है, और कौन-सा वेश धारण कर वहाँ जाना चाहिए । (यहाँ 'परदेशी' शब्द सुनते ही बादशाह के मन में कुछ सूफियाना विचार आने लगते हैं ।) बादशाह ने मन में कहा कि मुझे रात-दिन इस दिल्ली-राज्य की गहरी चिन्ता सताती रहती है । यह संसार दूध की मलाई के समान है जिसे संचित करके बिलोया है, और बार-बार खूब मथा है । इसको मथ करके घी निकाला है और शेष बची छाछ को रखकर क्या करना है । भाव यह है कि मैंने सारे संसार के बार-बार चक्कर लगाकर इस दिल्ली को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान पा, इसे अपनी राजधानी बनाया है । इसके सामने शेष सारा संसार छाछ के समान व्यर्थ है । यह दिल्ली घी के समान संसार का सारतत्त्व है । ऐसी इस दिल्ली को लेकर क्या ढिलाई बरती जा सकती है; अर्थात् क्या असावधान रहा जा सकता है । (यदि दही ढीला रह जाता है, अच्छी तरह से नहीं जमता तो उसमें से घी नहीं निकलता ।) जब तक यह दिल्ली अपने हाथ में है तभी तक इसकी मलाई उतार लो अर्थात् खूब सुख-भोग मना लो । (क्योंकि इस दिल्ली का कोई भरोसा नहीं कि कब हाथ से निकल जाय ।) इस दिल्ली को अपना कर न जाने कितने व्यक्ति कहाँ-कहाँ चले गए और इसको प्राप्त कर गर्व में भर अन्त में धूल में मिल गए । भाव यह है कि इस दिल्ली में कितने ही राजवंश आए और उन्होंने गर्वोन्मत्त हो इस पर शासन किया, परन्तु अन्त में सब

पाठ-भेद—१. ढीली=दिल्ली । २. साढ़ी गाढ़ि ढीलि जब ताईं=जब तक उसमें ढीलापन रहता है, तभी तक साढ़ी (मलाई) गाढ़ी रहती है । यहाँ ढीलेपन से अर्थ चिकनेपन से है । ३. ढीली । ४. औ तरुनाया=और तारुण्य ।

नष्ट होकर विलीन हो गए। रावण ने अपनी लंका को जलाकर खूब तापा अर्थात् खूब सुख-भोग माना, परन्तु अन्त में उसका यौवन समाप्त हो गया और उसे बुढ़ापे ने आकर दबा लिया।

भिखारी को भीख देनी चाहिए, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या भाट। यह सोच कर बादशाह ने आज्ञा दी कि उस भिखारी को तुरन्त बुलाओ। वह आकर धरती पर मस्तक रख हमें प्रणाम करे।

टिप्पणी—इस पद का अध्यात्म-परक संकेत इस प्रकार है—

परदेश ईश्वर का लोक है। वहाँ किस मार्ग से और किस वेश में जाया जाता है, इसे कोई भी नहीं जानता। दिल्ली संसार के सुख-भोग का प्रतीक है। यह दिल्ली किसी की भी सगी नहीं रही है; अर्थात् इस संसार के सुख-भोगादि सब नाशवान हैं, किसी का भी साथ नहीं देते। इसलिए इस संसार को मथकर अर्थात् साधना द्वारा ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यहाँ गर्व करके कोई भी नहीं बच पाता। अन्त में सब को नष्ट हो जाना पड़ता है, इसलिए व्यक्ति को सदैव सन्नद्ध रहते हुए कर्म-मार्ग में प्रवृत्त रहना चाहिए।

(४९४)

राघव चेतन हुत जो निरासा। ततखन बेगि बोलावा पासा।।
सीस नाइ कै दीन्ह असीसा। चमकत नग कंकन कर दीसा।।
अज्ञा भइ पुनि राघव पाहाँ। तू मंगन, कंकन का बाहाँ ?।।
राघव फेरि सीस भुइँ धरा। जुग जुग राज भानु कै करा।।
पदमिनी सिंघलदीप क रानी। रतनसेन चितउरगढ़ आनी।।
कवँल न सरि पूजैं तेहि बासा। रूप न पूजै, चंद अकासा।।
जहाँ कँवल ससि सूरि न पूजा। केहि सरि देउँ, और को दूजा ?।।
सोइ रानी संसार-मनि, दछिना कंकन दीन्ह।
अछरी-रूप देखाइ कै, जीउ झरोखे लीन्ह[१] ।।४।।

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन के दरबार की भारी भीड़ को देख राघव चेतन यह सोचकर मन में निराश हो उठा था कि जब यहाँ बड़े-बड़े राजा खड़े प्रतीक्षा करते रहते हैं और फिर भी उन्हें बादशाह के पास तक पहुँचने का अवसर नहीं मिलता तो फिर यहाँ मेरी बात कौन पूछेगा। परन्तु जब बादशाह ने उसे तुरन्त अपने सामने बुलवाया तो निराश राघव चेतन प्रसन्न हो तुरन्त उसके सम्मुख जा पहुँचा। उसने

पाठ-भेद—१. करि गहने जिउ लीन्ह=मेरे जीव को अपने पास गहने (बन्धक) के रूप में रख लिया है।

बादशाह के सम्मुख शीश झुका उसे आशीर्वाद दिया। उस समय बादशाह की, राघव चेतन की भुजा में पड़े कंगन के चमकते नगों पर दृष्टि पड़ी। यह देख बादशाह ने आज्ञा दी कि इस भिखारी से यह पूछा जाय कि तू तो भिखारी है, फिर तेरी भुजा में ऐसा कंगन कहाँ से आया। यह सुन राघव चेतन ने पुनः पृथ्वी पर अपना मस्तक टिकाया और बादशाह को आशीर्वाद दिया कि हे बादशाह ! तुम्हारा राज्य सूर्य की किरणों के समान युग-युग तक अमर रहे। पद्मिनी सिंहल द्वीप की रानी थी। उसे चित्तौड़-नरेश रत्नसेन चित्तौड़ ले आया है। वह इतनी सुन्दर है कि कमल की सुगन्धि उसके शरीर से उठने वाली सुगन्धि की समानता नहीं कर सकती। रूप में आकाश-स्थित चन्द्रमा भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। जहाँ कमल, चन्द्रमा और सूर्य भी उसकी सुगन्धि, रूप और तेज में समानता नहीं कर पाते वहाँ मैं उसकी उपमा और किससे दूँ ? कौन दूसरा उसकी बराबरी कर सकेगा ?

ऐसी रूप-सौन्दर्य में संसार की मणि के समान सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी रानी पद्मावती ने मुझे यह कंगन दक्षिणा में दिया है। उसने उस समय अपने झरोखे में खड़ी होकर मुझे अपना अप्सरा के समान सुन्दर रूप दिखाकर मेरे प्राणों को हर लिया है।

टिप्पणी—अलंकार—असम, सम्बन्धातिशयोक्ति, रूपक तथा उपमा।

(४९५)

सुनि कै उतर साहि मन हँसा। जानहु बीजु चमकि परगसा ॥
काँच-जोग जेहि कंचन पावा। मंगन ताहि सुमेरु चढ़ावा ॥
नावँ भिखारि जीभ मुख बाँची। अबहुँ सँभारि बात कहु साँची ॥
कहँ अस नारि जगत उपराहीं। जेहि के सरि सूरुज ससि नाहीं ? ॥
जो पदमिनि सो मंदिर मोरे। सातौं दीप जहाँ कर जोरे ॥
सात दीप महँ चुनि चुनि आनी। सो मोरे सोरह सै रानी ॥
जौ उन्ह कै देखसि एक दासी। देखि लोन होई लोन बिलासी ॥
चहूँ खंड हौं चक्कवै, जस रबि तपै अकास।
जौ पदमिनि तौ मोरे, अछरी तौ कबिलास ॥५॥

व्याख्या—कंगन-सम्बन्धी राघव चेतन के दिए गए उत्तर को सुन बादशाह अलाउद्दीन अपने मन में हँस पड़ा। उस अवसर पर उसका हास्य ऐसा प्रतीत हुआ, मानो बिजली के चमक उठने से चारों ओर प्रकाश भर उठा हो। बादशाह ने कहा कि जो भिखारी काँच पाने योग्य अर्थात् थोड़ी सी भिक्षा पाने के योग्य हो, और कहीं उसे भिक्षा में सोना मिल जाय तो वह अपने दाता को सुमेरु पर्वत के समान ऊँचा चढ़ा देता है; अर्थात् उसकी अत्यधिक प्रशंसा करने लगता है। तुम्हारा नाम भिखारी है। इसलिए ऐसी बात कहने पर भी तुम्हारे मुख में जीभ सही-सलामत बची हुई है; अर्थात् भिखारी होने के कारण हमने तुम्हारी जीभ नहीं खिंचवाई। इसलिए तुम अब

भी होश में आकर सत्य बात कहो। भला ऐसी नारी कहाँ है जो संसार से भी बढ़ कर हो; अर्थात् जो संसार के समस्त सौन्दर्य से भी श्रेष्ठ हो ? जिसकी बराबरी सूर्य और चन्द्रमा भी न कर सकें ? संसार में जितनी पद्मिनी स्त्रियाँ हैं, वे तो सब मेरे महल में हैं, जिनके सामने सातों द्वीपों का सौन्दर्य हाथ जोड़े खड़ा रहता है, अर्थात् जिनकी सेवा में सातों द्वीपों की सुन्दरियाँ दासी के रूप में हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। मैं उन्हें सातों द्वीपों में से चुन-चुन कर अपने यहाँ लाया हूँ। मेरे यहाँ ऐसी सोलह सौ रानियाँ हैं। यदि तुम मेरी उन रानियों की एक दासी को भी देख लो तो उसका लावण्य देख तुम नमक की तरह गल जाओगे, विलीन हो जाओगे, अर्थात् स्वयं को भूल जाओगे।

मै चारों दिशाओं का उसी प्रकार चक्रवर्ती सम्राट हूँ जिस प्रकार सूर्य आकाश में तपता हुआ सारे विश्व को अपने तेज से आतंकित करता रहता है। यदि संसार में कोई पद्मिनी है तो वह मेरे महल में है, और यदि अप्सरा है तो स्वर्ग में है; अर्थात् तुम्हारा यह कहना झूठ है कि वह पद्मिनी और अप्सरा के समान सुन्दर है, क्योंकि संसार की सारी पद्मिनियाँ मेरे महल में हैं और अप्सराएँ स्वर्ग में हैं।

टिप्पणी—अलंकार—'जानहु······परगसा'—उत्प्रेक्षा, 'लोन'—यमक, 'जस ···अकास'—उपमा।

(४९६)

तुम बड़ राज छत्रपति भारी। अनु बाम्हन मैं अहौं भिखारी॥
चारिउ खंड भीख कहँ बाजा। उदय अस्त तुम्ह ऐस न राजा॥
धरमराज ओ सत कलि माहाँ। झूठ जो कहे जीभ केहि पाहाँ ?॥
किछु जो चारि सब किछु उपराहीं। ते एहि जंबू दीपहि नाहीं॥
पदमिनि, अमृत, हंस, सदूरू। सिंघलदीप मिलहिं पं मूरू[1]॥
सातौ दीप देखि हौं आवा। तब राघव चेतन कहवावा॥
अज्ञा होइ, न राखौं धोखा। कहौं सबै नारिन्ह गुन-दोषा॥
इहाँ हस्तिनी संखिनी[2], औ चित्रिनि बहु बास[3]।
कहाँ पदमिनि पदुम सरि, भँवर फिरे जेहि पास ?॥६॥

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन की गर्वोक्ति को सुनकर राघव चेतन उसकी प्रशंसा करता हुआ कहने लगा—'हे बादशाह ! तुम बड़े प्रतापशाली छत्रपति हो और मै तो एक भिखारी और ब्राह्मण हूँ, अर्थात् मैं तुम्हारी बात का क्या उत्तर दे सकता

पाठ-भेद—१. सो भलेहि अँकूरू=वे भले ही सिंघलद्वीप में अंकुरित (उत्पन्न) होते हैं।
२. सिंघिनी=सिंहिनी। ३. बनवास।

हूँ। मैं तो चारों दिशाओं में भीख माँगता फिरता हूँ। मैंने तुम्हारे जैसा प्रतापशाली राजा उदयाचल से अस्ताचल तक कोई भी दूसरा नहीं देखा। तुम साक्षात् धर्मराज हो और कलियुग में सत्य के अवतार के रूप में अवतरित हुए हो। अतः ऐसी किसकी जिह्वा में सामर्थ्य है जो तुम्हारे सामने झूठ बोल सके। परन्तु वे चार वस्तुएँ जो सभी वस्तुओं से बढ़कर हैं, इस भारतवर्ष में नहीं मिलतीं। वे चार वस्तुएँ हैं— पद्मिनी स्त्रियाँ, अमृत, हंस, और शार्दूल। चारों सिंहलद्वीप में अपने मूल रूप में मिलती हैं। मैं सातों द्वीपों का पर्यटन कर चुका हूँ, तभी तो मुझे राघव चेतन कहा जाता है। यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं तुमको किसी धोखे में रखे बिना सारी नारियों के गुण और दोष बताऊँ।

यहाँ अर्थात् भारतवर्ष में हस्तिनी, संखिनी और चित्रिणी नारियाँ बहुत रहती हैं। परन्तु कमल के समान पद्मिनी स्त्रियाँ यहाँ कहाँ हैं, जिनके चारों ओर भ्रमर चक्कर काटते रहते हैं; अर्थात् यहाँ ऐसी स्त्रियाँ कहाँ हैं, जिनके शरीर से कमल की गन्ध आती है और उसी गन्ध से आकर्षित हो भ्रमर जिनके चारों ओर चक्कर काटा करते हैं।

स्त्री-भेद-वर्णन-खंड

(४९७)

पहिले कहौं हस्तिनी नारी। हस्ती कै परकीरति सारी॥
सिर औ पायँ सुभर गिउ छोटी। उर कै खीनि, लङ्क कै मोटी॥
कुंभस्थल कुच, मद उर माहीं[1]। पवन गयंद, ढाल जनु बाहीं॥
दिस्टि न आवै आपन पीऊ। पुरुष पराए ऊपर जीऊ॥
भोजन बहुत, बहुत रति चाऊ। अछवाई नहिं, थोर बनाऊ[2]॥
मद जस मंद बसाइ पसेऊ। औ बिसवासि छरै सब केऊ[3]॥
डर औ लाज न एकौ हिये। रहै जो राखे आँकुस दिये॥
गज-गति चलै चहुँ दिसि, चितवै लाए चोख[4]।
कही हस्तिनी नारि यह, सब हस्तिन्ह गुन दोख॥१॥

व्याख्या—राघव चेतन नायिका-भेद के अनुसार स्त्रियों के चारों रूपों—पद्मिनी, हस्तिनी, संखिनी और चित्रिणी—का वर्णन कर रहा है। वह हस्तिनी से स्त्री-भेद का वर्णन प्रारम्भ करता है कि—

सबसे पहले मैं हस्तिनी नारी का वर्णन करता हूँ। इस वर्ग की नारी की सारी प्रकृति हाथी की प्रकृति के समान होती है। इसका वक्षस्थल पतला और कटि मोटी होती है। इसके स्तन हाथी के कुम्भस्थल के समान विशाल और चपटे होते हैं तथा इसके हृदय में सदैव एक नशा सा छाया रहता है। इसकी चाल हाथी के समान मन्द होती है। चलते समय इसकी भुजाएँ इस प्रकार हिलती जाती हैं- मानो यह चमर ढुलाती हुई चल रही हो। इसे अपना पति कभी नजर नहीं आता; अर्थात् यह अपने पति की ओर नजर उठा कर भी नहीं देखती और हमेशा पराये पुरुष पर प्राण देती

पाठ-भेद—१. कुम्भस्थल गज मैमंत आही=उसके कुम्भस्थल (कुच) मदमत्त गज के कुम्भस्थल जैसे होते हैं। २. अछवाई सों थोर सुभाऊ=शरीरकी सफाई के प्रति उदासीन रहती है। ३. औ बिसवास धरें जस दोऊ=और वह मन में मारने की इच्छा रखने के कारण देव (दानव) जैसी होती है ४. हेरीत लाइ जगत कहँ चोख=जो जगत भर को चोखा मान कर चारों ओर देखती हुई गजगति से चलती है।

रहती है। यह बहुत अधिक भोजन करती है और भोग-विलास करने की बहुत शौकीन होती है। यह साफ-सुथरी नहीं रहती है और बनाव-शृंगार भी बहुत कम करती है। इसके पसीने में से हाथी के मस्तिष्क में से निकलने वाले मद की-सी मन्द दुर्गन्धि आती है। यह पहले विश्वास दिलाकर फिर सब के साथ छल करती है। इसके हृदय में भय और लज्जा में से एक भी भावना नहीं रहती; अर्थात् यह निर्लज और निडर होती है। यह उसी के वश में रहती है जो अंकुश अर्थात् कठिन अनुशासन द्वारा इसे अपने काबू में रखे, जिस प्रकार हाथी को अंकुश द्वारा काबू में रखा जाता है।

यह चारों दिशाओं में गज की सी मन्द चाल से चलती है और चारों ओर इस प्रकार चंचलता के साथ देखती जाती है, मानो सब को चूस कर पी जायेगी। इस प्रकार मैंने हस्तिनी नारी का यह वर्णन किया, जिसमें हाथी के सारे गुण-दोष होते हैं।

(४९८)

दूसरि कहौं संखिनी[1] नारी। करै बहुत बल अलप-अहारी॥
उर अति सुभर, खीन अति लंका। गरब भरी, मन करै न सङ्का॥
बहुत रोष, चाहै पिउ हना। आगे घाल न काहू गना॥
अपनै अलङ्कार ओहि भावा। देखि न सकै सिङ्गार परावा॥
सिंघ क चाल चलै डग ढीली। रोवाँ बहुत जाँघ औ फीली[2]॥
मोटि, माँसु रुचि भोजन तासू। औ मुख आव बिसायँध बासू॥
दिस्टि तिरहुँडी, हेर न आगे। जनु मथवाह रहै सिर लागे॥
सेज मिलत स्वामी कहँ, लावै उर नखबान।
जेहि गुन सबै सिंघ के, सौ संखिनि, सुलतान॥२॥

शब्दार्थ—संखनि=नारी के चार भेदों में से एक। आगे घला=अपने आगे। फीली=पिंडुली। तिरहुँडी=नीची। मथवाह=मथोरा, वह झालरदार पट्टी जो धूप की चमक रोकने के लिए घोड़े के माथे पर बाँध दी जाती है जिससे वह इधर-उधर न देख सीधा सामने देखे।

व्याख्या—राघव चेतन कहने लगा कि हे सुल्तान! मैं अब दूसरी नारी 'संखिनी' का वर्णन करता हूँ। इस वर्ग की स्त्रियाँ भोजन तो कम करती हैं, परन्तु बल बहुत दिखाती हैं। इनका वक्षस्थल भरा हुआ और कटि बहुत पतली होती है। ये हमेशा गर्व में भरी रहती हैं और मन में किसी भी प्रकार की शंका अर्थात् भय नहीं मानतीं। ये अत्यन्त क्रोधी स्वभाव की होती हैं और अपने पति का मारना-पीटना चाहती रहती हैं। अथवा वे अपने पति को मार डालना चाहती हैं। ये अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझतीं। इन्हें अपने ही अलंकार और शृंगार अच्छे लगते हैं। ये दूसरे के

पाठ-भेद—१. सिंघिनी। २. होहि दुहुँ फीली=दोनों पिंढ़लियों पर।

श्रृंगार को नहीं देख सकतीं; अर्थात् दूसरों के श्रृंगार को देख कुढ़ जाती हैं। ये सिंह के समान शिथिल पग रखती हुईं सिंह की सी चाल चलती हैं। इनकी जाँघों और पिंडलियों पर बहुत रोम होते हैं। ये शरीर से मोटी होती हैं तथा इन्हें मांस का भोजन करना बहुत अच्छा लगता है और इनके मुख में से मछली की सी दुर्गन्धि आती रहती है। ये नीची नजर करके चलती हैं, चलते समय आगे नहीं देखतीं— मानो इनके सिर पर मथोरी बाँध दी गई हो।

ये रात्रि के समय शय्या पर जब अपने पति के साथ शयन करती हैं तो तुरन्त पति की छाती को अपने बाणों के समान तेज नाखूनों से घायल कर डालती हैं। हे सुल्तान ! जिस नारी में सिंह के से ये सारे गुण होते हैं, वह 'संखिनी' कहलाती है।

(४९९)

तीसरि कहौ चित्रिनी नारी। महा चतुर रस-प्रेम पियारी ।।
रूप सुरूप, सिंगार सवाई। अछरा जैसि रहे अछवाई ।।
रोष न जानै, हँसता-मुखी। जेहि असि नारी कंत सो सुखी ।।
अपने पिउ कै जानै पूजा। एक पुरुष तजि आन न दूजा ।।
चंदबदनि, रँग कुमुदिनि गोरी। चाल सोहाइ हंस कै जोरी ।।
खीर खाँड़ रुचि, अलप अहारू। पान-फून तेहि अधिक पियारू ।।
पदमिनि चाहि घाटि दुइ करा। और सबै गुन ओहि निमरा ।।
चित्रिनि जैस कुमुद-रँग, सोइ वासना अंग[1] ।
पदमिनि सब चंदन असि, भँवर फिरहिं तेहि संग ।।३।।

व्याख्या—संखिनी नारियों का वर्णन करने के उपरान्त राघव चेतन चित्रिणी नारियों का वर्णन करता हुआ कहता है—

अब मैं तीसरे वर्ग की चित्रिणी स्त्रियों का वर्णन करता हूँ। ये नारियाँ अत्यन्त चतुर और प्रेम-रस से युक्त होने के कारण अपने पतियों को बहुत प्रिय होती हैं। इनका रूप अत्यन्त सुन्दर और श्रृंगार दूसरों की अपेक्षा अधिक आकर्षक होता है। ये सदैव अप्सराओं के समान साफ-सुथरी रहती हैं। ये क्रोध करना नहीं जानतीं और इनके मुख पर सदैव हँसी खेलती रहती है; अर्थात् ये सदैव मुस्कराती रहती हैं। वह पति बड़ा सुखी रहता है जिसे ऐसी नारी मिलती है। ये सदैव अपने पति की पूजा अर्थात् सेवा करना जानती हैं; अर्थात् पतिव्रता होती हैं। ये एक पुरुष अर्थात् अपने पति के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष को कभी मन में भी नहीं लातीं। इनका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर होता है और रंग कुमुदिनी के समान गोरा। इनकी चाल इतनी सुन्दर होती है मानो हंसों की जोड़ी चली जा रही हो। इन्हें खीर और खाँड़ का भोजन अच्छा लगता है और इनका आहार बहुत कम होता है। इन्हें पान-फूल

पाठ-भेद—१. आव न वासना अंग=उसके अंगों से कोई सुगन्धि नहीं आती।

अधिक प्रिय होते हैं। ये रूप में पद्मिनी नारियों से केवल दो कला अर्थात् बहुत ही कम मात्रा में घटकर होती हैं। इनमें अन्य सारे गुण पद्मिनी के से ही निर्मल होते हैं।

ऐसी इन चित्रिणी नारियों का रंग कुमुद अर्थात् कमल के समान होता है और इनके अंगों में कमल की-सी ही सुगन्धि होती है। परन्तु पद्मिनी स्त्रियाँ चन्दन के समान तीव्र कमल-गन्धा होती हैं, इसी कारण भ्रमर उनके संग लगे फिरते हैं। भाव यह है कि चित्रिणी नारियों के शरीर में से कमल की सुगन्धि आती तो है, परन्तु वह सुगन्धि इतनी तीव्र नहीं होती जितनी कि पद्मिनी नारियों में होती है।

टिप्पणी—डा० अग्रवाल ने दोहे की प्रथम पंक्ति का पाठान्तर इस प्रकार माना है—

'चित्रिनि जैस कमोद रंग आव न वासना अंग।

अर्थात् चित्रिणी नारी रंग में कुमुदिनी जैसी होती है, पर उसके अंगों से कुमुद की गन्ध नहीं आती। यह पाठ अधिक शुद्ध और संगत प्रतीत होता है, क्योंकि चित्रिणी नारी के शरीर में से कुमुद-गन्ध आने का उल्लेख अन्यत्र कहीं भी नही मिलता।

चित्रिणी नारी नृत्य, गीत, चित्रकला, शिल्प और विद्या-विषयक आलापों में कुशल मानी जाती है।

(५००)

चौथी कहौं पदमिनि नारी। पदुम-गंध ससि दैउ सँवारी॥
पदमिनि जाति, पदुम-रँग ओही। पदुम-बास, मधुकर सँग होही॥
ना सुठि लाँबी, ना सुठि छोटी। ना सुठि पातरि, ना सुठि मोटी॥
सोरह करा रंग ओहि बानी। सो, सुलतान! पदमिनि जानी॥
दीरघ चारि, चारि लघु सोई। सुभर चारि, चहुँ खीनौ होई॥
औ ससि-बदन देखि सब मोहा। बाल मराल चलत गति सोहा॥
खीर अहार न कर सुकुवाँरी। पान फूल के रहै अधारी॥
सोरह करा सँपूरन, ओ सोरहौ सिंगार।
अब ओहि भाँति कहत हौं, जस बरनै संसार॥४॥

व्याख्या—इसके उपरान्त राघव चेतन पद्मिनी नारियों का वर्णन करता हुआ कहने लगा कि—हे सुल्तान! अब मैं चौथे वर्ग की पद्मिनी नारियों का वर्णन करता हूँ। ईश्वर ने इन नारियों को कमल की सुगन्धि से युक्त तथा चन्द्रमा के समान सुन्दर बनाया है। इनकी जाति पद्मिनी होती है, और इनका रंग कमल के रंग के समान हल्का गुलाबी होता है। इनके शरीर से कमल की सुगन्धि आती रहती है, जिसके कारण भ्रमर इनके साथ लगे रहते हैं। ये न अधिक लम्बी, न अधिक छोठी, न अधिक पतली और न अधिक मोटी होती हैं—अर्थात् ये मध्यम कद और सुडौल शरीर वाली

होती हैं। इनका रंग सोलह कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा के समान शुभ्र, उज्ज्वल और आकर्षक होता है। हे सुल्तान ! जिस स्त्री में ये गुण हों उसे 'पद्मिनी' कहा जाता है। इसके शरीर के चार अंग अर्थात् केश, उंगली, नेत्र और ग्रीवा लम्बे होते हैं। और चार अंग अर्थात् दांत, कुच, ललाट और नाभि छोटे होते हैं। इसके चार अंग अर्थात् कपोल, नितम्ब, बाहु और जंघा खूब भरे हुए पुष्ट होते हैं; तथा अन्य चार अंग अर्थात् नासिका, कटि, पेट और अधर क्षीण (पतले) होते हैं। इसके चन्द्र-मुख को देख सब मोहित हो जाते हैं। हंस के बच्चों की-सी इसकी मन्द-मंथर चाल बहुत ही सुन्दर लगती है। यह इतनी सुकुमारी होती है कि खीर आदि का भी आहार नहीं करती और केवल पान-फूल खाकर ही जीवित रहती है।

ऐसी ये पद्मिनी नारियाँ चन्द्रमा की सोलह कलाओं के समान सुन्दर और सोलह शृंगारों से सज्जित रहती हैं। अब मैं इनका उसी भाँति वर्णन करता हूँ जिस प्रकार संसार के अन्य लोगों ने उनका वर्णन किया है।

टिप्पणी—पद्मिनी नारी का सर्वप्रधान लक्षण यह माना जाता है कि वह पद्म-गन्धा होती है। संस्कृत में इसे पद्म-गन्धा, फुल्लराजीव-गन्धा, मृदंगी विकचारविन्द सुरभिः फुल्लाम्भोज सुगन्धि, काम सलिला आदि कहा गया है। इसकी चाल हंस के समान सुन्दर होती है।

(५०१)

प्रथम केस दीरघ मन मोहै। औ दीरघ अँगुरी कर सोहै॥
दीरघ नैन तीख तहँ देखा। दीरघ गीउ, कंठ तिनि रेखा॥
पुनि लघु दसन होहिं जनु हीरा। औ लघु कुच उत्तंग जंभीरा॥
लघु लिलाट दूइज परगासू। औ नाभी लघु, चन्दन बासू॥
नासिक खीन खरग कै धारा। खीन लंक जनु केहरि हारा॥
खीन पेट जानहुँ नहिं आँता। खीन अधर विद्रुम-रँग-राता॥
सुभर कपोल, देख मुख सोभा। सुभर नितंब देखि मन लोभा॥
सुभर कलाई मति बनी, सुभर जंघ गज चालि।
सोरह सिंगार बरनि कै, करहिं देवता लालि॥५॥

व्याख्या—पिछले पद में जायसी ने पद्मिनी नारी का वर्णन करते हुए उसके सोलह अंगों का केवल संकेत दिया था। इस पद में राघव चेतन उन अंगों की व्याख्या करता हुआ कहता है—

सर्वप्रथम पद्मिनी नारी के केश लम्बे होते हैं, जो दर्शकों के मन को मोह लेते हैं। उनके हाथों में लम्बी उंगलियाँ शोभायमान रहती हैं। नेत्र बड़े और लम्बे होते हैं जिनके द्वारा वे तिरछी दृष्टि से देखती हैं। उनकी ग्रीवा लम्बी होती है तथा कंठ में तीन रेखाएँ पड़ी होती हैं (पद्मिनी नारी के उपर्युक्त चारों अंग दीर्घ होते है। इसके उपरान्त राघव चेतन उसके चार लघु अंगों का वर्णन करता है।) फिर उसके दाँत

छोटे छोटे और इतने चमकीले होते हैं मानो हीरे के बने हों। और जँभीरी नीबू के से उन्नत उसके छोटे कुच होते हैं। उसका ललाट द्वितीया के चन्द्र के समान वक्राकार, प्रकाशवान और लघु होता है। उसकी नाभि भी लघु होती है; जिसमें से चन्दन की सुगन्धि आती रहती है। (इसके उपरान्त वह पद्मिनी के चार क्षीण अंगों का परिचय देता है।) उसकी नासिका खड्ग की धार के समान पतली होती है और कटि इतनी क्षीण होती है कि सिंह की कटि भी क्षीणता में उससे हार मान जाती है। उसका पेट इतना क्षीण होता है—मानो उसके भीतर आँतें तक न हों, तथा उसके अधर बहुत पतले और बिम्बाफल के समान लाल रंग वाले होते हैं। (राघव चेतन इसके उपरांत पद्मिनी के चार भरे हुए अंगों का वर्णन करता है।) उसके कपोल खूब भरे हुए होते हैं और उसके मुख की शोभा देखते ही बनती है। उसके नितम्ब इतने भरे हुए, अर्थात् सुडौल होते हैं कि उन्हें देखकर मन उन्हें प्राप्त करने के लिए ललचा उठता है।

उसकी भरी हुई कलाई बड़ी सुन्दर होती है और भरी हुई जाँघों से जब वह चलती है तो गजगामिनी-सी प्रतीत होती है। इस प्रकार उसके सोलह शृंगार का वर्णन करने पर देवतागण भी ऐसी पद्मिनी नारी को प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठते हैं अथवा उसकी चाटुकारी करते हैं।

टिप्पणी—इस पद में कवि नायिका के सोलह अंगों को ही सोलह शृंगार कह रहा है।

४१

पद्मावती-रूपचर्चा-खंड

(५०२)

वह पदमिनि चितउर जो आनी । काया कुंदन द्वादस बानी ॥
कुंदन कनक ताहि नहिं बासा । वह सुगंध जस कँवल बिगासा ॥
कुंदन कनक कठोर सो अंगा । वह कोमल, रँग पुहुप सुरंगा ॥
ओहि छुइ पवन बिरिछ जेहि लागा । सोइ मलयागिरि भएउ सुभागा ॥
काह न मूठि-भरी ओहि देही[1] ? । असि मूरति केइ दैउ उरेही ? ॥
सबै चितेर चित्र कै हारे । ओहिक रूप कोइ लिखै न पारे ॥
कया कपूर, हाड़ सब मोती । तिन्हतें अधिक दीन्ह बिधि जोती ॥
सुरुज-किरिन जसि निरमल, तेहितें अधिक सरीर ।
सौंह दिस्टि नहिं जाइ करि, नैंनन्ह आवै नीर ॥१॥

व्याख्या—राघव चेतन अलाउद्दीन से पद्मावती के रूप का वर्णन करता हुआ कह रहा है --

यह पद्मिनी जो चित्तौड़गढ़ में लाई गई है, उसका शरीर द्वादशवर्णी (बारह-बानी) सोने के समान कान्तिमान है । कुन्दन (सोने) में अर्थात् विशुद्ध खालिस सोने में किसी भी प्रकार की गन्ध नहीं होती, परन्तु पद्मावती के शरीर में से विकसित कमल की सी सुगन्धि आती है । कुन्दन के अंग कठोर होते हैं; अर्थात् कुन्दन द्वारा बनाई गई प्रतिमा के अंग कठोर होते हैं परन्तु पद्मावती के अंग कोमल और रंग पुष्पों के समान सुन्दर और मोहक है । उसके शरीर का स्पर्श कर पवन जब किसी वृक्ष से जा लगता है तो वह वृक्ष भी मलयगिरि का सौभाग्यशाली वृक्ष बन जाता है । भाव यह है जिस प्रकार मलयगिरि पर लगे चन्दन के वृक्षों को स्पर्श कर बहता हुआ पवन वहाँ खड़े अन्य वृक्षों को भी उसी चन्दन की सुगन्धि वाला बना देता है, उसी प्रकार पद्मावती के शरीर की सुगन्धि पवन के साथ अन्य वृक्षों का स्पर्श करते ही उन्हें भी उसी सुगन्धि से भर देती है ।

पाठ-भेद—१. काह न मूँठि भरी ओहि खेही=तब (उसके शरीर का निर्माण के लिए) विधाता ने कौन सी मिट्टी मुट्ठी में ली ।

पद्मावती की ऐसी उस मुट्ठी भर अर्थात् संक्षिप्त सी काया में कौन सा गुण नहीं है ? न मालूम किस विधाता ने ऐसी मूर्त्ति का निर्माण किया है ! सारे चित्रकार उसका चित्र बना-बना कर हार गए अर्थात् कोई भी उसका चित्र बनाने में समर्थ न हो सका। पद्मावती का शरीर कपूर के समान श्वेत और सुगन्धित है और उसकी सारी हड्डियाँ मोती के समान कान्तिमान और निर्मल हैं। विधाता ने उसके शरीर को कपूर और मोती से भी अधिक ज्योति प्रदान कर रखी है।

सूर्य की किरणें जैसी निर्मल होती हैं, उनसे भी अधिक निर्मल, अर्थात् ज्योतिमान पद्मावती का शरीर है। उसके सम्मुख दृष्टि कर उसकी ओर नहीं देखा जा सकता। ऐसा करने का प्रयत्न करने से आँखों में पानी आ जाता है; अर्थात् उसके रूप की चकाचौंध से आँखें उसे देख नहीं पातीं और उस चकाचौंध के कारण उनमें पानी भर आता है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—'कुन्दन कनक···बासा'—व्यतिरेक, 'ओहि छुइ··· ···लगा', हेतूत्प्रेक्षा,—'सबै चितेरे···हारे'—काव्य-लिंग, 'कया कपूर····मोती'—उपमा, 'सुरुज ···सरीर'—उपमा।

(२) 'सबै चितेरे····न पारे'—पंक्ति से मिलता हुआ बिहारी का एक दोहा है—

'लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥'

(५०३)

ससि-मुख जबहिं कहै किछु बाता। उठत ओठ सूरुज जस राता॥
दसन दसन सौं किरिन जो फूटहिं। सब जग जनहुँ फुलझरी छूटहिं॥
जानहुँ ससि महँ बीजु देखावा। चौंधि परै किछु कहै न आवा॥
कौंधत अह जस भादौं-रैनी। साम रैनि जनु चलै उड़ैनी॥
जनु बसंत ऋतु कोकिल बोली। सुरस सुनाइ मारि सर डोली॥
ओहि सिर सेस नाग जौ हरा। जाइ सरन बेनी होइ परा॥
जनु अमृत होइ बचन बिगासा। कँवल जो बास बास धनि पासा॥
सबै मनहि हरि जाइ मरि, जो देखै तस चार।
पहिले सो दुख बरनि कै, बरनौ ओहिक सिंगार॥२॥

व्याख्या—राघव चेतन कहता है कि पद्मावती जब अपने चन्द्र मुख से कोई बात कहती है तो उस समय उसके ओष्ठ उदय होते हुए बाल-रवि के समान लाल रंग के दिखाई पड़ते हैं। (यहाँ चन्द्रमा में बाल-रवि का उदय होना एक अद्भुत चमत्कार की सृष्टि कर रहा है।) उसके एक-एक दशन (दाँत) से प्रकाश की जो किरणें फूटती हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है मानो सारे संसार में फुलझड़ियाँ सी छूट रही हों, अथवा मानो चन्द्रमा में बिजली चमकती हुई दिखाई दे गई हो, जिसकी चकाचौंध के कारण

उसका रूप ऐसा हो उठता है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । अथवा उसे देख कर देखने वाले के मुख से एक भी शब्द नहीं निकल पाता । उसके दाँतों की वह ज्योति ऐसी लगती है मानो भादों की अन्धकारपूर्ण रात्रि में बिजली कौंध रही हो या काली रात्रि में जुगनुओं की पंक्तियाँ चमकती हुई उड़ रही हों । उसकी वाणी ऐसी रसीली होती है, मानो वसन्त ऋतु में कोयल मदमत्त हो कूक रही हो । वह अपनी सरस, सुरीली वाणी को सुना कर सुनने वालों को इस प्रकार व्याकुल कर देती है, मानो उसने उनके हृदय में बाण मार दिए हों और वे उनकी पीड़ा से व्याकुल हो छटपटा रहे हों । उसके सिर के केश ऐसे लगते हैं मानो उसने शेषनाग को पराजित कर दिया हो और वह उसकी शरण में आ वेणी का रूप धारण कर वहीं पड़ा रह गया हो । जब उसके मुख से शब्द निकलते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो अमृत की वर्षा हो रही हो । कमल में जो सुगन्धि होती है वह उस सुन्दरी के शरीर की ही सुगन्धि है; अर्थात् कमल ने अपनी सुगन्धि पद्मावती के शरीर से ही प्राप्त की है ।

पद्मावती के इस प्रकार के रंग-ढंग को जो कोई देखता है वह उसके मन को हर लेती है और वह पीड़ा से मृतक के समान हो उठता है; अर्थात् उसके रूप को देख मूर्च्छित हो जाता है । (जिस प्रकार कि राघव चेतन स्वयं हो गया था ।) इसलिए मैं पहले उस दुःख का वर्णन करता हूँ जो उसके दर्शन करने पर उत्पन्न होता है । इसके पश्चात् मैं उसके श्रृंगार का वर्णन करूँगा ।

(५०४)

कित हौं रहा काल कर काढ़ा । जाइ धौरहर तर भा ठाढ़ा ।।
कित वह आइ झरौखे झाँकी । नैन कुरंगिनि, चितवनि बाँकी ।।
बिहँसी ससि तरईं जनु परी । की सो रैनि छुटीं फुलझरी ।।
चमक बीजु जस भादौं रैनी । लगत दिस्टि भरि रही उड़ँनी ।।
काम-कटाछ दिस्टि विष बसा । नागिन-अलक पलक महँ डसा ।।
भौंह धनुष, पल काजर बूड़ी[1] । वह भइ धानुक हौं भा ऊड़ी[2] ।।
मारि चली, मारत हू हँसा । पाछे नाग रहा, हौं डँसा ।।
काल घालि पाछे रखा, गरुड़ न मंतर कोइ ।
मोरे पेट वह पैठा[3], कासौं पुकारौं रोइ ? ।।३।।

शब्दार्थ—परी = बिखर गए । उड़ँनी = जुगनूँ । ऊड़ी = पनडुब्बी चिड़िया । काल घालि पाछे रखा = काल को पीछे छिपा रखा ।

पाठ-भेद १. तिल काजर ठोड़ी = उसकी ठोढ़ी पर काजल का तिल था । २. हौं हियँ ओड़ी = मैंने हृदय पर उसकी चोट को लिया । ३. जहाँ मँजूर पीढ़ि ओइ दीन्हे = जहाँ मयूर (ग्रीवा) ने भी उसको पीठ दे रखी थी, उसका मुँह फेर रखा था ।

व्याख्या—राघव चेतन पद्मावती के अपरूप सौन्दर्य के घातक प्रभाव का वर्णन करता हुआ कहता है—

मैं अपनी मृत्यु से खिंचा हुआ क्यों उसके धवलगृह (महल) के नीचे जा खड़ा हुआ; अर्थात् मेरी मृत्यु क्यों मुझे खींचकर वहाँ ले गई ? और हिरणी के से नयनों तथा बाँकी चितवन वाली वह सुन्दरी क्यों झरोखे पर आकर झाँकने लगी ? जब वह हँसी तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो चन्द्रमा के भीतर तारे चमक रहे हों। (यहाँ पद्मावती का मुख चन्द्रमा और दाँत तारों के समान हैं।) या मानो रात्रि के अन्धकार में फुलझड़ियाँ छूट रही हों, अथवा भादों की अँधेरी रात में बिजली चमक उठी हो या सारा संसार, जहाँ तक दृष्टि जाती थी वहाँ तक जुगुनुओं से भर उठा हो। (यहाँ पद्मावती के मुख के भीतर छाया हुआ अन्धकार रात्रि के समान तथा उसमें दाँतों की चमक फुलझड़ियाँ, बिजली और जुगुनुओं के समान हैं।) काम-भावना से भरे उसके कटाक्षों में विष के समान व्याकुल कर देने वाली प्राणघातक शक्ति थी। नागिन के समान उसकी अलकों ने मुझे पलक झपकते ही डस लिया। उसकी भृकुटियाँ धनुष के समान वक्राकार थीं और पलकें काजल में डूबी हुई थीं; अर्थात् उसने काजल लगा रखा था। उस समय वह धनुष चलाने वाली बनी हुई थी और मैं पनडुब्बी चिड़िया के समान था, जिसे वह अपने भौंहों रूपी धनुष से बाण मार रही थी। वह मुझे उन कटाक्ष रूपी बाणों से घायल कर चल दी और इतनी निर्दयी थी कि मुझे तड़पता हुआ देखकर भी हँसने लगी। उसके पीछे नाग था जिस पर दृष्टि पड़ते ही उसने मुझे डस लिया; अर्थात् जब वह मुड़ कर जाने लगी तो मेरी दृष्टि उसकी पीठ पर लहराती वेणी पर पड़ी जिसे देखकर मैं सर्प-दंश से पीड़ित व्यक्ति के समान छटपटाने लगा।

उसने काल जैसे घातक वेणी रूपी नाग को अपने पीछे अर्थात् पीठ की ओर छिपा रखा था जिसने मुझे डस लिया। मेरे पास उस नाग का भक्षण करने वाला न तो गरुड़ ही था और न मैं उसके विष को उतारने वाला कोई मन्त्र ही जानता था। वह काला नाग मेरे पेट अर्थात् हृदय में समा गया। मैं अपने दुःख को किससे रो कर कहूँ और किसे सहायता के लिए पुकारूँ ? भाव यह है कि पद्मावती की वेणी के सौन्दर्य को देख राघव चेतन व्याकुल हो उठा।

टिप्पणी—**अलंकार**—उपमा और रूपक।

(५०५)

बेनी छोरि झार जौ केसा। रैनि होइ, जग दीपक लेसा॥
सिर हुँत बिसहर[1] परे भुइँ बारा। सगरौं देस भएउ अँधियारा॥
सकपकाहिं बिष-भरे पसारे। लहरि-भरे लहकहिं अति कारे॥
जानहुँ लोटहिं चढ़े भुअंगा। बेधे बास मलयगिरि-अंगा॥

पाठ-भेद—१. सोहरि=खुले हुए।

लुरहिं मुरहिं जनु मानहिं केली । नाग चढ़े मालति कै बेली ।।
लहरैं देइ जनहुँ कालिन्दी । फिरि-फिरि भँवर होइ चित-बंदी ।।
चँमर ढुरत आछै चहुँ पासा । भँवर न उड़हिं जो लुबुधे बासा ।।
होइ अँधियार बीजु घन, लौकै जबहि चीर गहि झाँप ।
केस-नाग कित देख मैं, सँवरि-सँवरि जिय काँप ।।४।।

व्याख्या—राघव चेतन पद्मावती के केशों के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कह रहा है—

जब वह अपनी वेणी को खोल अपने केशों को छिटका कर साफ करती है तो सारे संसार में अन्धकार छा जाता है और लोग रात्रि हुई समझ दीपक जलाने लगते हैं। उसके केश नीचे लटकते ऐसे प्रतीत होते हैं मानो काले विषधर (सर्प) आकाश से पृथ्वी पर लटक रहे हों और सारे देशों में अन्धकार छा गया हो। पवन से हिलते हुए उसके केश ऐसे चंचल हो उठते हैं—मानो विषैले नाग फैले हुए हिल-डोल रहे हों। वे केश लहरियादार और अत्यन्त काले रंग के हैं, मानो काले नाग लहरा रहे हों। पद्मावती के शरीर पर लहराते हुए वे केश ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो मलय-पर्वत पर चन्दन की सुगन्धि के लालच वश काले नाग जा चढ़े हों और पड़े लोट रहे हों। (यहाँ पद्मावती का शरीर मलयगिरि के समान सुगन्धि वाला है।) उसके शरीर पर लहराते वे केश ऐसे लगते हैं मानो मालती-लता पर चढ़े हुए नाग वहाँ लौटते और बल खाते हुए आनन्द से क्रीड़ा कर रहे हों। अथवा लहराते हुए वे केश ऐमे प्रतीत होते हैं मानो यमुना में लहरें उठ रही हों और उन लहरों के बार-बार चक्कर खाने से वहाँ भँवर पड़ रहे हों जिनमें देखने वालों के चित्त फँस कर बन्दी बन गए हों और वहाँ से निकल न पा रहे हों। अथवा वे लहराते केश ऐसे प्रतीत होते हैं मानो पद्मावती के शरीर के चारों ओर चमर डुलाए जा रहे हों। अथवा पद्मावती की गन्ध से लुब्ध हो भ्रमरों की भीड़ उसके चारों ओर आ जुटी हो और उड़ न रही हो।

जब पद्मावती अपने केशों को अपनी ओढ़नी से ढक लेती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो अन्धकार में बिजली चमक रही हो। (यहाँ केश अन्धकार के समान और उसकी रत्नजटित ओढ़नी बिजली की चमक के समान है।) राघव-चेतन उन केशों का स्मरण कर कहता है कि मैंने नागों के समान उन केशों को क्यों जाकर देखा ? उनका स्मरण कर-कर ही मेरा हृदय काँप उठता है।

टिप्पणी—अलंकार—'रैनि····लेसा'—रूपकातिशयोक्ति और भ्रान्तिभान। 'जानहुँ···भुअंगा'—उत्प्रेक्षा।

(५०६)

माँग जो मानिक सेंदुर-रेखा। जनु बसंत राता जग देखा ।।
कै पत्रावलि पाटी पारी। औ रचि चित्र विचित्र सँवारी ।।
भए उरेह पुहुप सब नामा। जनु बग बिखरि रहे घन सामा ।।

जमुना माँझ सुरसती मंगा। दुहुँ दिसि रही तरंगिन गंगा।।
सेंदुर-रेख सो ऊपर राती। बीरबहूटिन्ह कै जसि पाँती।।
बलि देवता भए देखि सेंदूरू। पूजै माँग भोर उठि सूरू।।
भोर साँझ रबि होइ जो राता। ओहि रेखा राता होइ गाता।।
बेनी कारी पुहप लेइ, निकसी जमुना आइ।
पूज इंद्र आनन्द सौं, सेंदुर सीस चढ़ाइ।।५।।

व्याख्या—पद्मावती की माँग में जो सिन्दूर की रेखा तथा लाल मणियाँ लगी हुई हैं, उनसे युक्त वह माँग ऐसी प्रतीत होती है, मानो वसन्त ऋतु में सारा संसार लालिमा से भर उठा हो। उसने पत्र-भंग पद्धति से अपने बालों को सजाकर माँग के दोनों ओर बाल जमाए हैं और उनमें विचित्र प्रकार के चित्र बनाकर उन्हें सजाया है। बालों में लगे वे श्वेत पुष्प ऐसे लगते हैं मानो काले बादलों में बगुले बिखर कर उड़ रहे हों। श्वेत पुष्पों से सुशोभित वह सिन्दूर-भरी लाल माँग ऐसी शोभा देती है मानो केश रूपी यमुना (काले वर्ण वाली) के मध्य माँग रूपी सरस्वती (लाल वर्ण वाली) शोभा दे रही हो और उसके (सरस्वती के) दोनों कूलों पर पुष्प रूपी गंगा (श्वेत वर्ण वाली) लहरा रही हो। (यहाँ यमुना केश, सरस्वती लाल माँग और श्वेत पुष्पों की दोनों पंक्तियाँ गंगा की लहरों के समान हैं।) उस माँग के ऊपर सिन्दूर की रेखा ऐसी शोभा देती है मानो बीरबहूटियों की पंक्ति हो। पद्मावती की माँग में भरे उस सिन्दूर की शोभा को देख देवता भी उस पर न्यौछावर हो उठते हैं। सूर्य नित्य प्रातःकाल उदय होकर उसकी पूजा करता है; अर्थात् उसकी पूजा करने के कारण ही सूर्य लाल रंग का हो जाता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है कि सूर्य अर्थात् रत्नसेन नित्य प्रातः उठकर उसकी पूजा करता है; अर्थात् उस माँग के सौन्दर्य को देख प्रेमाधिक्य के कारण उसका मुख लाल हो जाता है। प्रातः और सायंकाल सूर्य जो लाल हो जाता है, उसका कारण यह है कि सूर्य का शरीर उसी माँग की सिन्दूर की भरी लाल रेखा के कारण लाल हो जाता है।

श्वेत पुष्पों से युक्त उसकी काली वेणी ऐसी लगती है मानो कालिय नाग की नागिनी कमल पुष्प लिए यमुना से बाहर निकली हो और उसने अपनी माँग में सिन्दूर भर उन पुष्पों द्वारा आनन्द से इन्द्र अथवा राजा की पूजा की हो। पद्मावती पक्ष में इसका अभिप्राय यह है कि पद्मावती ने अपनी माँग में सिन्दूर भर आनन्दित मन के साथ अपने राजा रत्नसेन की उन पुष्पों द्वारा पूजा की हो।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(२) दोहे में कवि कालीदह सम्बन्धी एक पौराणिक आख्यान की ओर संकेत कर रहा है। वह आख्यान इस प्रकार है—कंस ने नन्द गोप को आज्ञा दी कि वह कालीदह में उत्पन्न होने वाले श्वेत कमल पुष्पों को लाकर उसे दे। कृष्ण काली नाग और उसकी नागिनियों के सिर पर उन पुष्पों को लदवा कर यमुना से बाहर लाए।

कवि की कल्पना है कि काली नाग की पत्नी (नागिन) ने कमल पुष्प देकर अपनी माँग के सिन्दूर अर्थात् सौभाग्य की रक्षा के निमित्त कृष्ण या इन्द्र की पूजा की। सूर ने सूर-सागर में इस कथा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। यहाँ वेणी नागिन है जो पुष्पों द्वारा राजा रत्नसेन की पूजा कर अपने अखंड सौभाग्य की कामना करती है।

(५०७)

दुइज लिलाट अधिक मनियारा[1]। संकर देखि माथ तहँ धारा॥
यह निति दुइज जगत सब दीसा। जगत् जोहारै देइ असीसा॥
ससि जो होइ नहिं सरवरि छाजै। होइ सो अमावस छपि मन लाजै॥
तिलक सँवारि जो चुन्नी रची। दुइज माँझ जनहुँ कचपची॥
ससि पर करवत सारा राहू। नखतन्ह भरा दीन्ह बड़ दाहू॥
पारस-जोति लिलाटहि ओती। दिस्टि जो करै होइ तेहि जोती॥
सिरी जो रतन माँग बैठारा। जानहु गगन टूट निसि तारा॥
ससि औ सूर जो निरमल, तेहि लिलाट के ओप।
निसि दिन दौरि न पूजहिं, पुन पुन होहिं अलोप[2] ॥६॥

व्याख्या—पद्मावती का ललाट द्वितीया के चन्द्रमा से अधिक कान्तिमान है। उसके ललाट के सौन्दर्य को देख द्वितीया के चन्द्र को अपने मस्तक पर धारण करने वाले शंकर ने लज्जित हो उसके सम्मुख अपना मस्तक टिका दिया; अर्थात् पराजय स्वीकार कर ली। द्वितीया का चन्द्र तो केवल एक बार ही दिखाई पड़ता है परन्तु इस द्वितीया के चन्द्र के समान ललाट के दर्शन तो संसार नित्य-प्रति करता है और उसे प्रणाम कर आशीष देता है। चन्द्रमा इस ललाट की समता न करने के दुःख के कारण अपने मन में लज्जित हो अमावस्या को अपना मुँह छिपा लेता है। पद्मावती ने अपने ललाट पर तिलक लगा—जो चमकी या सितारे उसके नीचे सजा रखे हैं, वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो द्वितीया के चन्द्रमा के भीतर कृत्तिका (कचपचिया) नक्षत्र शोभा दे रहा हो। ऐसे इस ललाट के ऊपर लाल सिन्दूर से भरी माँग ऐसी लगती है मानो राहु ने चन्द्रमा के मस्तक पर आरा चलाया हो और रक्त के कारण माँग भीग कर लाल हो उठी हो। चन्द्रमा यद्यपि नक्षत्रों से भरा हुआ है परन्तु फिर भी राहु उसे बहुत दुःख दे रहा है। भाव यह है कि ललाट पर लगे सितारे रूपी सहायक भी राहु के अत्याचार से चन्द्रमा की रक्षा नहीं कर पा रहे हैं।

उसके ललाट में पारस-ज्योति के समान इतनी ज्योति है कि जो कोई भी उसकी ओर दृष्टि करता है, वह स्वयं उस ज्योति से भर उठता है, अर्थात् आनन्द से

पाठ-भेद—१. मनि करा=मणि की कला। २. निसि दिन चलहिं न सरवरि पावहिं तपि तपि होहि अलोप=वे रात-दिन चलते हैं किन्तु बराबरी नहीं कर पाते, इसलिए तप्त हो-होकर वे लुप्त होते रहते हैं।

खिल उठता है। भाव यह है कि जिस प्रकार पारस मणि अपने संसर्ग में आने वाले लोहे को स्वर्ण बना देती है, उसी प्रकार पद्मावती के ललाट के दर्शन कर लोहे के समान कठोर हृदय वाले व्यक्ति भी उसके सौन्दर्य से प्रभावित हो उठते हैं और आनन्द से उनके मुख चमकने लगते हैं। उसकी माँग में रत्न-जटित श्री नामक जो आभूषण लगाया गया है, वह ऐसा प्रतीत होता है मानो रात्रि के समय आकाश से तारा टूट कर नीचे गिर रहा हो।

चन्द्रमा और सूर्य, जो इतने प्रकाश वाले हैं, उनका वह प्रकाश इस ललाट से ही लिया गया है। परन्तु वे दोनों इस ललाट के प्रकाश की समता करने के लिए रात दिन दौड़ते रहते है, फिर भी उसकी समता नहीं कर पाते और बार-बार छिप जाते हैं।

टिप्पणी—अलंकार—'दुइज ललाट····मनियारा'—व्यतिरेक, 'सजि जौ···· छाजै'—हेतूत्प्रेक्षा, 'तिलक···रची'—वस्तूत्प्रेक्षा, 'निस···अलोप'—हेतूत्प्रेक्षा।

(५०८)

भौहैं साम धनुक जनु चढ़ा। बेझ करै मानुस कहँ गढ़ा॥
चंद क मूठि धनुक वह ताना। काजर पनच, बरुनि बिष-बाना॥
जा सहुँ हेर जाइ सो मारा। गिरिवर टरहिं भौंह जो टारा॥
सेतुबंध जेइ धनुष बिड़ारा। उहौ धनुष भौंहन्ह सौं हारा॥
हारा धनुष जो बेधा राहू। और धनुष कोइ गनै न काहू॥
कित सो धनुष मैं भौंहन्ह देखा। लाग बान तिन्ह आउ न लेखा॥
तिन्ह बानन्ह झाँझर भा हीया। जो अस मारा कैसे जीया?॥
सूत सूत तन बेधा, रोवँ रोवँ सब देह।
नस नस महँ ते सालहिं, हाड़ हाड़ भए बेह॥७॥

व्याख्या—उसकी वक्राकार काली भौंहें ऐसी हैं मानो चढ़ा हुआ ऐसा काला धनुष हो जिसका निर्माण मनुष्यों को बेधने के लिए ही किया गया हो। मानो मुख रूपी चन्द्रमा की मुट्ठी ने पकड़ कर उस धनुष को तान रखा हो। आँखों में लगा काजल उस धनुष की प्रत्यंचा (डोरी) और बरौनियाँ विष मे बुझे बाण हैं। इस प्रकार जब वह भौंह रूपी धनुष पर बरौनियाँ रूपी विषबाण चढ़ा कर जिसकी ओर भी देख लेती है वह उन बाणों से बिद्ध हो मर जाता है। जब वह ऐसी अपनी भौंहों को चलाती है तो पहाड़ भी विचलित हो उठते हैं; अर्थात् उसके भ्रू भंग द्वारा मनुष्य की तो चलाई क्या, पर्वत तक डगमगा जाते हैं। राम का वह धनुष भी जिसके उठाते ही सेतुबन्ध पर समुद्र विचलित हो उठा था, इन भौंहों के सम्मुख हार मान जाता है। (उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला—तुलसी) भाव यह है कि राम के जिस धनुष को देख

समुद्र भी व्याकुल हो उठा था और उसने राम को सेतुबन्ध के निर्माण में सहायता दी थी अर्थात् स्वयं अपने ऊपर पुल बनवा कर अपने स्वरूप को विकृत करवा लिया था, वह धनुष भी इन भौंहों के सम्मुख लज्जित हो उठता है। इन भौंहों के सम्मुख अर्जुन का वह गांडीव धनुष भी हार मान गया था जिसने द्रौपदी-स्वयंवर के समय मत्स्य-वेध किया था। अतः जब ऐसे प्रचंड धनुष भी पद्मावती की भौंहों की समानता नहीं कर सके तो अन्य साधारण धनुषों की तो गिनती ही क्या करूँ? मैंने अपने किस दुर्भाग्य के कारण उसकी ऐसी धनुष के समान उन भौंहों को जाकर क्यों देखा? क्योंकि उस धनुष द्वारा छोड़े गए बरौनियों रूपी विष-बाणों के अपने हृदय में छिदते ही मैंने समझ लिया कि मेरी आयु समाप्त हो गई। उन बाणों से मेरा हृदय जर्जर हो गया है। उन बाणों द्वारा जो इस प्रकार आहत हो चुका हो, वह कैसे जीवित रह सकता है?

उन बाणों ने मेरे शरीर के एक-एक सूत को वेध डाला और प्रत्येक रोम की जड़ में समा गए। उनके कारण मेरी नस-नस में भयंकर पीड़ा होती है और मेरी प्रत्येक हड्डी उनसे बिंध गई है।

(५०९)

नैन चित्र एहि रूप चितेरा। कँवल-पत्र पर मधुकर फेरा॥
समुद-तरंग उठहिं जनु राते। डोलहिं औ घूमहिं रस-माते॥
सरद-चंद महँ खंजन जोरी। फिरि फिरि लरैं बहोरि बहोरी॥
चपल बिलोल डोल उन्ह लागे। थिर न रहै चंचल बैरागे॥
निरखि अघाहिं न हत्या हुँते। फिरि फिरि स्रवनन्ह लागहिं मते॥
अंग सेत, मुख साम सो ओही। तिरछे चलहिं सूध नहिं होही॥
सुर, नर, गंध्रब लालि कराहीं। उलथे चलहिं सरग कहँ जाहीं॥
अस वै नयन चक्र दुइ, भँवर समुद उलथाहिं।
जनु जिउ घालि हिंडोलहिं, लेइ आवहिं, लेइ जाहिं॥८॥

व्याख्या—उस विधाता रूपी चतुर चित्रकार ने पद्मावती के नेत्रों का रूप इस प्रकार चित्रित किया है मानो कमल-पत्र पर भ्रमर मँडरा रहे हों। उन नेत्रों के लाल डोरे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो समुद्र में अनुराग की लाल लहरें उठ रही हों। वे नेत्र ऐसे चंचल हैं कि प्रेम-रस से मदोन्मत्त हो इधर-उधर झूमते हुए फिरते रहते हैं। उन चंचल नेत्रों को देख ऐसा प्रतीत होता है मानो शरद् पूर्णिमा के चन्द्र में खंजनों की एक जोड़ी बार-बार घूम-घूम, लोट-लोट कर लड़ रही हो। (यहाँ पद्मावती का मुख शरद् चन्द्र और दोनों नेत्र खंजन की जोड़ी है, जो बहुत चंचल होते हैं।) ऐसे वे नेत्र अत्यन्त चंचल हैं मानो सदैव झूले पर बैठे झूलते रहते हैं। वे अस्थिर रहने वाले वैरागी के समान कभी एक ही स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहते। वे नेत्र किसी की

ओर देख कर ही केवल तृप्त नहीं हो जाते, बल्कि वे तो जिसकी तरफ देखते हैं, उसकी हत्या कर बार-बार उसी की ओर देखते रहते हैं। बार-बार कानों के पास जा-जा कर उनसे परामर्श करते से प्रतीत होते हैं। (यहाँ नेत्रों को आकर्ण विचुम्बित कहा गया है।) उनका शरीर श्वेत और मुख श्याम वर्ण का है; अर्थात् आँखों के डेले सफेद और पुतलियाँ काली हैं। वे सदैव तिरछे चलते हैं, कभी सीधे नहीं देखते। भाव यह है कि पद्मावती सदैव तिरछी नजर से देखती है, कभी क्षण भर के लिए भी सीधी दृष्टि से, अर्थात् सरल भाव के साथ नहीं देखती। उसके ऐसे सुन्दर नेत्र देवता, मानव और गन्धर्वों के हृदय में ऐसे नेत्रों की स्वामिनी पद्मावती को प्राप्त करने की लालसा उत्पन्न कर देते हैं। इसी कारण ये सभी उसे प्राप्त करने के लिए ऊर्ध्व दृष्टि करके स्वर्ग की ओर जाते हैं; अर्थात् उसको प्राप्त करने के लिए तपस्या करते हुए स्वर्गवासी हो जाते हैं। भाव यह है कि उसे प्राप्त नहीं कर पाते।

इस प्रकार पद्मावती के वे दोनों नेत्र—दो चक्रों के समान, संसार रूपी समुद्र में सदैव उथल-पुथल मचाये रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे नेत्र मनुष्य के प्राणों को झूले पर चढ़ाकर उसे आगे-पीछे झुलाते रहते हैं। भाव यह है कि मनुष्यों के प्राण इन नेत्रों के संकेतों पर ही आते-जाते अर्थात् मरते-जीते रहते हैं। जब उन प्राणों को आशा मिल जाती है तो वे जीवित हो उठते हैं और जब निराश हो उठते हैं तो मानो मर जाते हैं।

टिप्पणी –'फिर-फिर स्रवनन्ह लागहि माते'—का भाव यह है कि नेत्रों का कार्य केवल देखना है, परन्तु वे शिकार को केवल देखकर ही सन्तुष्ट नहीं होते। जिसे देखते हैं, उसकी हत्या भी कर डालते हैं। किन्तु ऐसा करने से पूर्व वे बार-बार कानों के पास जाकर उस व्यक्ति के विषय में परामर्श करते हैं कि कानों ने उस व्यक्ति के विषय में क्या सुना है।

(५१०)

नासिक-खड़ग हरा धनि कीरू। जोग सिंगार जिता औ बीरू॥
ससि-मुँह सौहँ खड़ग देइ रामा। रावन सौं चाहै संग्रामा॥
दुहुँ समुद्र महँ जनु बिच नीरू[1]। सेतु बंध बाँधा रघुबीरू[2]॥
तिल के पुहुप अस नासिक तासू। औ सुगंध दीन्ही बिधि बासू॥
हीर-फूल पहिरे उजियारा। जनहुँ सरद ससि सोहिल तारा॥
सोहिल चाहि फूल वह ऊँचा। धावहिं नखत, न जाइ पहूँचा॥
न जनौं कैस फूल वह गढ़ा। बिगसि, फूल सब चाहहिं चढ़ा॥
अस वह फूल सुबासित, भएउ नासिका-बंध[3]।
जेत फूल ओहि हिरकहिं, तिन्ह कहँ होइ सुगंध॥९॥

पाठ-भेद—१. दुहूँ समुन्द्र रचा जहँ बीरू=जहाँ दोनों (सेनाओं के रूप में) बीर रस का समुद्र रच रखा था। २. नल नीरू=नल और नील। ३. नासिक सनमंध=नासिका के सम्बन्ध से।

व्याख्या—पद्मावती की नासिका खड्ग के समान पतली और लम्बी है। उस सुन्दरी ने तोते को हरा कर उससे उसकी शुक-नासिका छीन ली है। और ऐसी इस खड्ग रूपी नासिका द्वारा उसने योग, शृंगार और वीर—तीनों रसों को जीत लिया है; अर्थात् इस नासिका के सौन्दर्य को देख योगी उस पर मुग्ध हो अपनी योग-साधना भूल जाते हैं, शृंगार के सारे उपकरण उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर देते हैं और वीरों की तलवारें उस खड्ग जैसी नासिका को देख नीचे झुक जाती हैं। वह सुन्दरी रमणी अपने चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख के सम्मुख नासिका रूपी खड्ग लेकर अपने साथ रमण करने वाले पति के साथ युद्ध करना चाहती है। अथवा जैसे चन्द्र-मुखी सीता को प्राप्त करने के लिए राम ने रावण से खड्ग लेकर संग्राम किया, ऐसे ही उसके पति को उसके चन्द्रमुख तक पहुँचने के लिए नासिका रूपी खड्ग का सामना करना होता है। दोनों नेत्रों के मध्य वह नासिका ऐसी प्रतीत होती है, मानो दोनों नेत्रों रूपी समुद्रों के जल के मध्य रघुवीर (राम) ने सेतु बाँध दिया हो।

उसकी नासिका तिल के पुष्प के समान है, जिसे विधाता ने सुन्दर सुगन्धि भी दी है। भाव यह है कि तिल के पुष्प में सुगन्धि नहीं होती, परन्तु पद्मावती की नासिका से निकलने वाली श्वास-वायु सुगन्धित होती है। (पद्मिनी स्त्री की श्वास में सुगन्धि की कल्पना 'कवि-समय' है।) वह अपनी नासिका में उज्ज्वल कान्ति वाले हीरे का फूल (लौंग या नथ) पहने रहती है। वह उसके सुन्दर मुख पर ऐसी शोभा देती है मानो शरद पूर्णिमा के चन्द्र के पास सुहेल तारा शोभा पा रहा हो। (यहाँ पद्मावती का मुख शरद-चन्द्र और फूल का हीरा सुहेल तारा के समान है। सुहेल नामक नक्षत्र के उदय होने पर वर्षा ऋतु समाप्त हो जाती है।) वह फूल सुहेल तारे की अपेक्षा अधिक ऊँचा अर्थात् श्रेष्ठ है। नक्षत्र उस तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं परन्तु पहुँच नहीं पाते; अर्थात् उसकी बराबरी नहीं कर पाते। न जाने विधाता ने वह कैसा फूल बनाया है कि सारे फूल विकसित होकर उसी पर चढ़ना अर्थात् न्यौछावर हो जाना चाहते हैं।

पद्मावती की नासिका के सम्पर्क में रहने के कारण वह फूल इतना सुगन्धित हो उठा है कि जो फूल उसके पास अर्थात् उसके संसर्ग में आते हैं वे भी उसकी उस सुगन्धि से सुगन्धित हो जाते हैं।

टिप्पणी—**अलंकार**—उपमा, उत्प्रेक्षा।

(५११)

अधर सुरङ्ग, पान अस खीने। राते-रङ्ग, अमिय - रस - भीने ॥
आछहिं भिजे तँबोल सों राते। जनु गुलाल दीसहिं बिहँसाते ॥
मानिक अधर, दसन जनु हीरा। बैन रसाल, खाँड़ मुख बीरा[1] ॥
काढ़े अधर डाभ जिमि चीरा। रुहिर चुवै जौ खाँड़ै बीरा ॥

पाठ-भेद—१. खाँड़ मकु मेरा = मानो उनमें खाँड़ मिली हो।

ढारैं रसहि रसहि रस-गीली। रकत-भरी औ सुरँग रँगीली ।।
जनु परभात राति रवि-रेखा। बिगसे बदन कँवल जनु देखा ।।
अलक भुअंगिनि अधरहि राखा। गहै जो नागिनि सो रस चाखा ।।
अधर-अधर रस प्रेम कर, अलक भुअङ्गिनि बीच।
तब अमृत - रस पावै, जब नागिनि गहि खीच ।।१०।।

व्याख्या—पद्मावती के होंठ रँगीले और पान के पत्ते के समान पतले हैं। उनका रंग लाल है अथवा वे प्रेम-रस में रँगे होने के कारण लाल हैं तथा अमृत-रस से सुवासित अर्थात् मधुर हैं। वे पान के रस से भीगे होने के कारण लाल रहते हैं और पद्मावती जब हँसती है तो गुलाल की भाँति दिखाई पड़ते हैं। उसके अधर माणिक्य के समान लाल और दशन (दाँत) हीरे के समान चमकीले हैं। उसके वचन आम के समान रसीले और मीठे हैं मानो वह मुख में खाँड़-भरा बीड़ा चबा रही हो। (कवि की कल्पना है कि पद्मावती के वचन इतने मधुर और रसीले उस खाँड़ के बीड़े के कारण ही हैं। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि वह मुख में पान चबा रही है। परन्तु यह अर्थ चमत्कारपूर्ण नहीं है।) उसके अधर इतने पतले हैं मानो विधाता ने उसके मुख को कुश से चीर कर दो भागों में विभक्त कर दिया हो और वे दोनों भाग ही उसके दो अधर बन गए हों। (यहाँ भाव अधरों के अत्यधिक पतलेपन से है।) जब वह पान चबाती है तो पान का रस उसके अधरों पर ऐसा प्रतीत होता है मानो कुश द्वारा चीरे जाने के कारण उन अधरों में से रुधिर टपक रहा हो।

प्रेम-रस ढालने वाले रस से गीले उसके वे अधर रस का पान करते हैं, अर्थात् प्रेम में अनुरक्त होते हैं। उसके रक्त से भरे वे अधर सुन्दर और रँगीले प्रतीत होते हैं। उन्हें देखकर ऐसा भास होता है—मानो खिले हुए कमल-पुष्प पर प्रभातकालीन बाल-रवि की लाल किरणें शोभा दे रही हों। (यहाँ पद्मावती का मुख कमल के समान और उसके लाल और अत्यधिक पतले अधर बाल-रवि की अरुणिम किरण-रेखा के समान हैं।) पद्मावती की एक लट जूड़े से छिटक कर उसके अधरों के ऊपर लहरा रही है। इसे देख कवि कल्पना करता है कि उसकी अलक (लट) भुजंगिनी के समान उसके अधरों के ऊपर लटकती हुई उनकी रक्षा करती रहती है। ऐसे इन रस भरे अधरों के रस को वही चख सकता है जो पहले इस अलक रूपी भुजंगिनी को पकड़ कर अपने वश में कर ले; अर्थात् उस अलक को हटाने पर ही उन अधरों के रस का पान किया जा सकता है।

पद्मावती के ऐसे दोनों अधरों में प्रेम का रस भरा हुआ है तथा अलक रूपी भुजंगिनी उनके बीच में लहरा रही है। प्रियतम ऐसे इन अधरों में भरे अमृत रस का तभी पान कर सकता है, जब वह इस भुजंगिनी को पकड़ और खींचकर बीच में से हटा दे।

टिप्पणी—(१) अलंकार—उत्प्रेक्षा।

(२) इस पद में जायसी की अधर सम्बन्धी कई कल्पनाएँ बड़ी ही मनोरम हैं। जैसे 'काढ़े अधर····चीरा', 'जनु परभात····जनु देखा', 'अलक भुअंगिनि····रस चाखा' आदि। ऐसी मनोरम कल्पनाएँ हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ हैं। ऐसे अवसरों पर जायसी की काव्य-प्रतिभा अपने चरम शिखर का स्पर्श करने लगती है।

(५१२)

दसन साम पानन्ह रँग-पाके। बिगसे कँवल माँह अलि ताके ॥
ऐसि चमक[1] मुख भीतर होई। जनु दारिउँ औ साम मकोई ॥
चमकहि चौक बिहँस जौ नारी। बीजु चमक जस निसि अँधियारी ॥
सेत साम अस चमकत दीठी। नीलम[2] हीरक पाँति बईठी ॥
केइ सो गढ़े अस दसन अमोला। मारै बीजु बिहँसि जौ बोला ॥
रतन भीजि रस-रँग[3] भए सामा। ओही छाज पदारथ नामा ॥
कित वै दसन देख रँग-भीने। लेइ गइ जोति, नैन भय हीने[4] ॥
दसन-जोति होइ नैन-मग, हिरदय माँझ पईठ।
परगट जग अँधियार जनु, गुपुत ओहि मैं दीठि ॥११॥

व्याख्या—पद्मावती के दाँत काले और पान के रंग में पके हुए हैं। वे उसके मुख में ऐसे दिखाई पड़ते हैं मानो विकसित कमल में भौंरे बैठे हुए हों। पद्मावती के मुख के भीतर ऐसी चमक दिखाई पड़ती है मानो उसमें अनार के दाने और काली मकोय शोभा दे रही हो। (यहाँ पान की लाली से रँगे हल्के लाल रंग वाले दाँत अनार के दानों के समान तथा मिस्सी से काले पड़े हुए मसूढ़े मकोय के काले दानों के समान हैं।) जब वह नारी (पद्मावती) हँसती है तो उसके सामने के चार दाँत चमक उठते हैं और ऐसे प्रतीत होते हैं मानो अँधेरी रात में बिजली चमक रही हो। उसके वे सफेद दाँत और काले मसूढ़े चमकते हुए ऐसे दिखाई पड़ते हैं मानो नीलम और हीरों की पंक्तियाँ बैठी हुई हों। (नीलम का रंग गहरा नीला होता है।) उसके ऐसे अनमोल दाँतों को किसने गढ़ा है? जब वह हँस कर बोलती है तो देखने और सुनने वालों पर बिजली-सी गिर जाती है; अर्थात् वे उसके दाँतों के सौन्दर्य और मधुर वाणी को सुन वज्राहत के समान निर्जीव से हो उठते हैं। वे रत्नों के समान चमकीले दाँत पान के रस में भीग कर काले हो गए हैं। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि दाँत रत्नसेन के प्रेम में भीग कर मानो काले पड़ गए हैं। अब उन पर किसी दूसरे का रंग नहीं चढ़ सकता। एक तीसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि उसके रत्न के समान लाल मसूढ़े मिस्सी के रंग में भीग कर काले हो गए हैं, पर हीरे जसे दाँत

पाठ-भेद—१. चमतकार=चमक। २. स्याम हीर दुहुँ=मानो श्याम वर्ण के हीरों की दो पंक्तियाँ। ३. रंग मसि=स्याही के रंग में रंग कर। ४. खीने=क्षीण।

अपने नाम को सार्थक कर रहे हैं अर्थात् हीरे के समान श्वेत हैं। अथवा रत्नसेन ने नागमती के प्रेम में भीग कर अपना रंग बदल दिया है; पर पदार्थ (पद्मावती रूपी हीरा) नाम उस पद्मावती को ही शोभा देता है जो अपने रंग को अर्थात् प्रेम को नहीं बदलती अथवा पद्मावती नाम की सुन्दरी उस रत्नसेन को ही शोभा देती है, जिसके प्रेम-रस में भीग कर रत्नसेन पर प्रेम का गहरा रंग (नीला) चढ़ गया है। राघव चेतन कहता है कि मैंने किस कुघड़ी में उसके ऐसे रँगे हुए दाँतों के दर्शन किए जिससे मेरे नेत्रों की ज्योति जाती रही और वे ज्योतिहीन अर्थात् अन्धे हो गए।

पद्मावती के दाँतों की वह ज्योति मेरे नेत्रों के मार्ग द्वारा प्रवेश कर मेरे हृदय में जा बैठी। इस कारण मुझे बाहर का संसार अन्धकारमय दीखने लगा, पर हृदय के भीतर सदैव वही ज्योति दिखाई पड़ने लगी; अर्थात् मैं हृदय में सदैव उसी ज्योति का दर्शन करता रहता हूँ, यद्यपि प्रकट रूप में मुझे संसार निराशा के अन्धकार से भरा हुआ दिखाई पड़ता है; अर्थात् मुझे उसके प्राप्त होने की कोई आशा नहीं है।

टिप्पणी—अलंकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा।

(५१२)

रसना सुनहु जो कह रस-बाता। कोकिल-बैन सुनत मन राता।।
अमृत-कोंप जीभ जनु लाई। पान फूल असि बात सोहाई।।
चातक-बैन सुनत होइ साँती। सुनै सो परै प्रेम-मधु माती।।
बिरवा सूख पाव जस नीरू। सुनत बैन तस पलुह सरीरू।।
बोल सेवाति-बूँद जनु परहीं। स्रवन-सीप-मुख मोती भरहीं।।
धनि वै बैन जो प्रान-अधारू। भूखे स्रवनहिं देहिं अहारू।।
उन्ह बैनन्ह कै काहि न आसा। मोहहि मिरिग बीन-बिस्वासा[1]।।
कंठ सारदा मोहै, जीभ सुरसती काह ?
इन्द्र, चंद्र रवि देवता, सबै जगत मुख चाह।।१२।।

व्याख्या—हे सुल्तान ! अब तुम उसकी उस रसना (जिह्वा) का वर्णन सुनो, जो रस भरे वचन बोलती है। उसकी कोयल की सी मधुर वाणी सुनकर मन उसके प्रति अनुरक्त हो जाता है। उसकी वाणी इतनी मधुर होती है मानो उसकी जिह्वा पर अमृत की कोपलें लाकर लगा दी गई हों। उसकी बातें पान और फूल के समान कोमल, सरल और रसमयी होती हैं। उसके चातक जैसे मधुर वचनों को सुनकर हृदय को बड़ी शान्ति मिलती है। जो कोई उसके वचनों को सुनता है वह इस प्रकार मस्त हो उठता है मानो उसने प्रेम की मदिरा को पान कर लिया हो। उसके वचनों को सुन शरीर इस प्रकार पल्लवित अर्थात् हरा हो उठता है मानो सूखे हुए वृक्ष को जल

पाठ-भेद—१. बिहँसि भरि स्वाँसा=उनको सुनकर हँसकर और साँसें भर कर मृग भी मोहित हो जाते हैं।

मिल गया हो। उसके वचन रूपी स्वाति नक्षत्र की बूँदें सुनने वालों के कानों रूपी सीपियों में पड़ती हैं तो वे मोतियों से भर उठते हैं; अर्थात् जिस प्रकार सीपी स्वाति की बूँद धारण कर सार्थक और धन्य हो जाती है, उसी प्रकार पद्मावती के उन अनमोल वचनों को सुन मनुष्यों के कान सार्थक और धन्य हो उठते हैं। वह वचन धन्य हैं जो भूखे कानों को भोजन दे उनके प्राणों के आधार बन जाते हैं; अर्थात् उसके वचनों को सुनकर सुनने वाले सदैव उन वचनों को ही सुनते रहने की कामना करते रहते हैं। ऐसा कौन है जो उन वचनों को सुनने की आशा नहीं करता ! जब वह बोलती है तो मृग यह विश्वास कर कि वीणा बज रही है, उस पर मोहित हो जाते हैं।

उसका कंठ इतना सुरीला है कि संगीत की देवी शारदा भी उसे सुन मोहित हो उठती है। सरस्वती की जिह्वा उसकी तुलना में क्या है; अर्थात् वह ज्ञान की देवी सरस्वती से भी अधिक ज्ञान भरी बातें करती है। इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, देवतागण तथा सारा संसार उसके वचनों को सुनने की लालसा से उसके मुख की ओर टकटकी लगाए रहता है।

टिप्पणी—अलंकार—उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक और सम्बन्धातिशयोक्ति।

(५१४)

स्रवन सुनहु जो कुंदन-सीपी। पहिरे कुंडल सिंघलदीपी॥
चाँद सुरुज दुहुँ दिसि चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं॥
खिन खिन करहिं बीजु अस काँपा। अँबर-मेघ महँ रहहिं न झाँपा॥
सूक सनीचर दुहुँ दिसि मते। होहिं निनार न स्रवनन्ह-हुँते॥
काँपत रहहिं बोल जो बैना। स्रवनन्ह जौ लागहिं फिर नैना॥
जस जस बात सखिन्ह सौं सुना। दुहुँ दिसि करहिं सीस वै धुना॥
खूँट दुवौ अस दमकहिं खूँटी[1]। जनहु परै कचपचिया टूटी॥
बेद पुरान ग्रंथ जत, स्रवन सुनत सिखि लीन्ह।
नाद बिनोद राग रस-बंधक, स्रवन ओहि बिधि दीन्ह॥१३॥

व्याख्या—हे सुल्तान ! अब पद्मावती के कानों का वर्णन सुनो, जो सोने के सीप के समान सुन्दर हैं और जिनमें उसने सिंहलद्वीप के बने कुंडल पहन रखे हैं। दोनों कानों में पड़े कुंडल ऐसे प्रतीत होते हैं मानो दोनों ओर चन्द्र और सूर्य चमक रहे हों। वे रत्न-रूपी नक्षत्रों से जटित होने के कारण इस प्रकार जगमगाते हैं कि उनकी ओर देखा नहीं जाता; अर्थात् उन पर नजर नहीं ठहर पाती। क्षण-क्षण में उनमें से प्रकाश की ऐसी तीव्र किरणें उठती हैं मानो बिजली चमक उठती हो। यद्यपि उन पर मेघ जैसा वस्त्र पड़ा रहता है; अर्थात् पद्मावती आँचल सिर पर रख उन कुंडलों को उसके नीचे छिपाए रखती है, परन्तु जिस प्रकार बिजली मेघों में से बार-

---

पाठ-भेद—१. धुव तरईं=खूँट मानो दो ध्रुव हैं और खूँटियाँ मानो तारिकाएँ हैं।

वार चमक उठती है, उसी प्रकार ये कुंडल भी उस वस्त्र के नीचे पूरी तरह से छिप नहीं पाते और रह-रह कर चमक उठते हैं। उन कुंडलों में जड़े हुए हीरे और नीलम ऐसे लगते हैं मानों शुक्र और शनिश्चर नामक दोनों नक्षत्र उन कानों से मंत्रणा कर रहे हों और उनसे अलग न होना चाहते हों। जब पद्मावती कोई बात कहती है तो उसके कारण ये दोनों कुंडल काँपते रहते हैं कि कहीं नेत्र फिर कानों के सम्पर्क में न आ जायँ। जब पद्मावती अपनी सखियों की बातें सुनती हुई दोनों तरफ मुख मोड़ती है तो ये दोनों कुंडल जोर-जोर से हिलने लगते हैं—मानो उन बातों को सुन-सुन किसी बात की आशंका से व्याकुल हो अपना शीश धुन रहे हों। उसके दोनों कानों की लरों (किनारों) पर लगे खूँटी नामक आभूषण इस प्रकार दमकते रहते हैं मानो कृत्तिका नक्षत्र टूट-टूट कर नीचे की ओर गिर रहा हो।

पद्मावती ने वेद, पुराण आदि जितने ग्रन्थ हैं, सब इन कानों द्वारा सुनकर सीख लिए हैं। विधाता ने उसे नाद; अर्थात् संगीत के आनन्द और रागों के रसों का अनुभव करने वाले ऐसे कान प्रदान किए हैं। भाव यह है कि पद्मावती पूर्ण शिक्षिता तथा संगीत-पारंगता है।

टिप्पणी—शुक्र का रंग हीरे के समान श्वेत और शनि का नीलम के समान हल्की-सी नीलिमा लिए रहता है। इसी कारण कुंडलों में जड़े हीरे और नीलम को कवि ने शुक्र और शनि कहा है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार यहाँ शुक्र, शनि और स्रवन (श्रवण) ये तीन शब्द विशेष अभिप्राय रखते हैं। ये तीनों नक्षत्र हैं। श्रवण नक्षत्र की राशि मकर है जिसका स्वामी शनि है। शनि का मित्र शुक्र है। इस प्रकार ये तीनों नक्षत्र एक स्थान पर एकत्र हो गए हैं। इन तीनों नक्षत्रों में विवाह वर्जित माना गया है। अतः जब तक इन तीनों का मेल रहेगा, तब तक सूर्य और चन्द्र; अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती का विवाह अर्थात् मेल नहीं हो सकेगा। परन्तु जब पद्मावती बोलती है तो उसके कान और कुंडल हिलने लगते हैं; अर्थात् इन तीनों नक्षत्रों को यह आशंका सताने लगती है कि कहीं पद्मावती के यौवन से मदमाते नेत्र कानों को जाकर हृदय की सूचना न दे दें कि वह यौवन से मदमत्त हो रही है। एक बार ऐसा होने पर पद्मावती ने सूर्य को अर्थात् रत्नसेन को जीत लिया था। इसलिए ये तीनों नक्षत्र आपस में यह मंत्रणा कर रहे हैं कि फिर ऐसा अवसर नहीं आने देना चाहिए; अर्थात् वे पद्मावती और अलाउद्दीन के भावी विग्रह को टालना चाहते हैं, क्योंकि ऐसा होने पर पद्मावती के सौभाग्य और रत्नसेन के राज्य की रक्षा होगी। जायसी यहाँ ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर यह रूपक बाँध एक प्रकार से भावी अनिष्ट का संकेत दे रहे हैं।

(५१५)

कँवल कपोल ओहि अस छाजै। और न काहु दैउ अस साजै॥
पुहुप-पंक रस-अमिय सँवारे। सुरँग गेंद नारँग रतनारे॥

पुनि कपोल बाएँ तिल परा । सो तिल बिरह-चिनगि कै करा ॥
जो तिल देख जाइ जरि सोई । बाएँ दिस्टि काहु जिन होई ॥
जानहुँ भँवर पदुम पर टूटा । जीउ दीन्ह औरं दिए न छूटा ॥
देखत तिल नैनन्ह गा गाड़ी । और न सूझै सो तिल छाँड़ी ॥
तेहि पर अलक मनि-जरी[1] डोला । छुवै सो नागिनि सुरँग कपोला ॥
रच्छा करै मयूर वह, नाँघि न हिय पर लोट[2] ।
गहिरे जग को छुइ सकै, दुइ पहार के ओट ॥१४॥

व्याख्या—उसके कमल के समान कोमल, स्निग्ध और सुन्दर कपोल ऐसे शोभा पाते हैं कि विधाता ने अन्य किसी को भी ऐसे सुन्दर कपोल सजा कर नहीं दिए हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो पुष्पों के पराग को अमृत के रस से सान कर उनकी रचना की गई हो। ये गेंद के समान सुन्दर और गोल तथा पकी हुई नारंगी के समान लालिमा-युक्त हैं। फिर बांये कपोल पर एक काला तिल है जो विरह की चिनगारी के समान प्रतीत होता है; अर्थात् उस तिल को देखकर हृदय में विरह की चिनगारी प्रज्वलित हो उठती है। जो कोई भी उस तिल की ओर देखता है, वही उसके विरह में जल कर खाक हो जाता है। इसलिए भगवान करे किसी की भी दृष्टि उसके उस बांये कपोल पर स्थित उस तिल पर न पड़े। उस कपोल पर वह तिल ऐसा प्रतीत होता है, मानो भ्रमर कमल पर टूट कर गिरा हो और वहाँ पहुँच कर उसने अपने प्राण दे दिए हों परन्तु फिर भी उसे छुटकारा न मिला हो; अर्थात् भौंरा प्राणहीन हो वहाँ पड़ा रह गया हो। उस तिल की ओर नजर पड़ते ही वह नेत्रों में गढ़ कर रह जाता है और फिर देखने वाले को इस संसार में उस तिल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सूझता। भाव यह है कि आँखों में जो चीज गड़ जाती है—भा जाती है, वे सदैव उसे ही देखती रहना चाहती हैं। उस तिल के ऊपर अलक रूपी मणि-धारिणी सर्पिणी लहराती रहती है। नागिन सी वह सुन्दर लट उस तिल का बार-बार स्पर्श करती रहती है।

परन्तु ग्रीवा (गर्दन) रूपी मयूर (मोर) बीच में आकर हृदय की रक्षा करता रहता है कि यह नागिन कहीं नाँघ कर हृदय पर न जा लोटे; अर्थात् उसके हृदय को न डस ले। इस संसार में ऐसा कौन है, जो उस हृदय का स्पर्श कर सके, जो कुच रूपी दो उन्नत पर्वतों की ओट में छिपा हुआ है।

टिप्पणी—अलंकार- रूपक।

(५१६)

गीउ मयूर केरि जस ठाढ़ी। कुंदै फेरि कुंदेरै काढ़ी ॥
धनि वह गीउ का बरनौं करा। बाँक तुरंग जानहुँ गहि परा ॥

पाठ-भेद—१. मंजरी=आम्र मजरी। २. हिरदैं ऊपर लोट।

घिरिनि परेवा गीउ उठावा। चहै बोल तमचूर सुनावा ॥
गीउ सुराही कै अस भई। अमिय पियाला कारन नई ॥
पुनि तेहि ठाँव परी तिनि रेखा। तेइ सोइ ठाँव होइ जो देखा ॥
सुरुज-करिनि हुँत गिउ निरमली। देखे बेगि जाति हिय चली[1] ॥
कंचन-तार सोइ गिउ भरा। साजि कँवल तेहि ऊपर धरा ॥
नागिनि चढ़ी कँवल पर, चढ़ि कै बैठ कमंठ।
कर पसार जो काल कहँ, सो लागै ओहि कंठ ॥१५॥

शब्दार्थ—कुंदै=खराद पर। कुंदेरै=खरादिए ने। गहि परा=बाँध दिया गया हो। तेइ सोइ····देखा=जो उसे देखता है, वह उसी स्थान पर स्तम्भित-सा खड़ा रह जाता है।

व्याख्या—राघव चेतन ने अलाउद्दीन से कहा कि—हे सुल्तान ! पद्मावती की ग्रीवा ऐसी है मानो मयूर अपनी ग्रीवा तान कर खड़ा हो, अथवा मानो खरादिए ने उस ग्रीवा को खराद पर चढ़ा सुडौल और चिकनी बनाकर गढ़ा हो। ऐसी वह ग्रीवा धन्य है। मैं उसका क्या वर्णन करूँ? वह ऐसी प्रतीत होती है मानो किसी बाँके अश्व की गर्दन को लगाम खींच तान कर रख छोड़ा हो। वह गिरहबाज कबूतर के समान अपनी ग्रीवा को ऊपर उठाती है। या ऐसा प्रतीत होता है मानो मुर्गा बाँग देने के लिए अपनी गर्दन ताने खड़ा हो। वह ग्रीवा सुराही की गर्दन के समान है जो अमृत का प्याला भरने के लिए नीचे झुक रही हो। फिर उस ग्रीवा में तीन रेखायें पड़ी हुई हैं। जो कोई उसकी ऐसी सुन्दर उस ग्रीवा को देखता है, वह वहीं ठगा-सा खड़ा रह जाता है। उसकी वह ग्रीवा सूर्य-किरणों से भी अधिक निर्मल, अर्थात् प्रकाशवान है। उसे देखते ही वह तुरन्त हृदय में प्रवेश कर जाती है; अर्थात् हृदय में बस जाती है। वह ग्रीवा ऐसी प्रतीत होती है, मानो वह सोने के तारों से भरी हुई हो; अर्थात् बहुत-से सोने के तारों को जोड़कर उसका निर्माण किया गया हो और उसके ऊपर एक कमल का पुष्प (मुख) सजा कर रख दिया गया हो।

और उस कमल पर नागिन (वेणी) चढ़ कर बैठ गई हो और वहाँ बैठ उसकी कछुए जैसी पीठ पर लोट रही हो। ऐसी उस ग्रीवा से वही लग सकता है; अर्थात् वही पद्मावती का कंठालिंगन कर सकता है, जो काल के सामने अपनी भुजाएँ फैला देता है; अर्थात् काल को भी चुनौती दे देता है।

टिप्पणी—अलंकार—रूपक।

पाठ-भेद—१. दीसै पीक जाति हिय चली=जब वह पान की पीक निगलती है तो वह उसके कंठ में से जाती हुई दीखती है।

(५१७)

कनक दंड भुज बनी कलाई। डाँड़ी-कँवल फेरि जनु लाई॥
चंदन खाँभहि[1] भुजा सँवारी। जानहुँ मेलि[2] कँवल-पौनारी॥
तेहि डाँड़ी संग कवँल-हथोरी। एक कँवल कै दूनौ जोरी॥
सहजहि जानहु मेहँदी रची। मुकुताहल लीन्हें जनु घुँघुची[3]॥
कर-पल्लव जो हथोरिन्ह साथा। वै सब रकत भरे तेहि[4] हाथा॥
देखत हिया काढ़ि जनु लेई। हिया काढ़ि कै जाइ न देई॥
कनक-अँगूठी औ नग जरी। वह हत्यारिनि नखतन्ह भरी॥
जैसी भुजा कलाई तेहि बिधि जाइ न भाखि।
कंकन हाथ होइ जहँ, तहँ दरपन का साखि? ॥१६॥

व्याख्या—पद्मावती की भुजाएँ और कलाइयाँ स्वर्णदंड की बनी हुई हैं, अथवा मानो कमल नाल को उलटा कर वहाँ लगा दिया गया हो। उसकी भुजाएँ ऐसी सुन्दर हैं मानो चन्दन के खम्भों से बनाई गई हों और उनमें कमल नाल लगा दी गई हो; अर्थात् उसकी भुजाओं में चन्दन के खम्भे तथा कमल नाल—दोनों का ही सम्मिलित सौन्दर्य है। और उस कमल नाल के साथ कमल के समान सुन्दर और लाल हथेलियाँ हैं जो ऐसी प्रतीत होती हैं मानो दोनों एक ही कमल की जोड़ी हो। उसकी हथेलियाँ स्वाभाविक रूप से ही इतनी लाल रहती हैं मानो उनमें मेंहदी रच रही हो या ऐसा प्रतीत होता है, मानो मोती ने अपने हाथ में, घुँघुचियाँ भर ली हों। भाव यह है कि पद्मावती की हथेलियों में मोती की श्वेत आभा और घुँघुची की लालिमा का मिश्रण है, अर्थात् हथेलियाँ कहीं श्वेत और कहीं लाल हैं।

उसकी हथेलियों के साथ जो कमल जैसी उंगलियाँ हैं वे सब रक्त से भरी हुई अर्थात् लाल हैं। (यहाँ कवि उंगलियों को रक्त रंजित कह कर उन्हें हत्यारिन बता रहा है, क्योंकि –) उनकी ओर देखते ही वे मानो देखने वाले का हृदय निकाल लेती हैं और उस हृदय को निकाल कर वापस नहीं जाने देतीं; अर्थात् उन उंगलियों के सौन्दर्य से मुग्ध हो दर्शक अपने हृदय खो बैठते हैं। उनमें रत्न-जटित सोने की अँगूठी है जो हत्यारिन होते हुए भी भाग्यशाली नक्षत्रों से युक्त है; अर्थात् वह अँगूठी अपने सौन्दर्य द्वारा देखने वालों का हृदय हर उनकी हत्या कर डालती है परन्तु फिर भी उन सौभाग्यशाली रत्नों के कारण इतनी प्रभावशाली है कि पद्मावती ऐसी उस हत्यारिन अँगूठी को अपनी उंगली से दूर नहीं करती।

उसकी भुजाएँ और कलाइयाँ जैसी हैं, उनका वर्णन उसके सौन्दर्य के अनुरूप करना असम्भव है। जहाँ हाथ में कंगन हो, वहाँ फिर दर्पण की साक्षी की क्या

पाठ-भेद—१. गाभ=केले के भीतर का कोमल चिकना भाग। २. सुमेल=सुडौल। ३. पची=पकी हुई। ४. दुहुँ=दोनों।

आवश्यकता रह जाती है; अर्थात् हाथ कंगन को आरसी क्या? भाव यह है कि पद्मावती की इन भुजाओं तथा कलाइयों की उपमा देने के लिए अन्य किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं रह जाती अथवा किसी से उनकी उपमा नहीं दी जा सकती।

टिप्पणी—अलंकार—'मुकुताहल····घुँघुची'—तद्गुण। 'कंगन····साखि'—लोकोक्ति।

(५१८)

हिया थार, कुच कनक-कचोरा। जानहुँ दुवौ सिरीफल जोरा॥
एक पाट वै दूनौ राजा। साम छत्र दूनहुँ सिर छाजा॥
जानहुँ दोउ लट्टू एक साथा। जग भा लट्टू, चढ़ै नहिं हाथा॥
पातर पेट आहि जनु पूरी। पान अधार, फूल अस फूरी॥
रोमावलि ऊपर लटु घूमा। जानहुँ दोउ साम औ रूमा॥
अलक भुअंगिनि तेहि पर लोटा। हिय-घर[1] एक खेल दुइ गोटा॥
बान[2] पगार उठे कुच दोऊ। नाँधि[3] सरन्ह उन्ह पाव न कोऊ॥
कँसहु नवहिं न नाए जोबन गरब उठान।
जो पहिले कर लावै, सो पाछै रति मान॥१७॥

शब्दार्थ—साम छत्र=काला छत्र, स्तनों की काली घुण्डियाँ। साम=शाम (सीरिया) जो अरब के उत्तर में है। रूमा=रोम, कुस्तुन्तुनिया। हिय-घर=हृदय रूपी खाना या कोठा। पगार=प्राकार या परकोटे पर। कर लावै=हाथ लगाना, कर या खिराज देकर अधीनता स्वीकार करना।

व्याख्या—पद्मावती का हृदय थाल के समान है जिस पर दोनों स्तन उठे हुए ऐसे प्रतीत होते हैं मानो थाल में दो सोने के कटोरे उलटे करके रख दिए गए हों। अथवा श्रीफलों का एक जोड़ा वहाँ रखा हुआ शोभा दे रहा हो। अथवा दो राजा (कुच) पद्मावती के हृदय रूपी सिंहासन पर एक साथ बैठे शोभायमान हों और उन दोनों के सिरों पर काले छत्र छा रहे हों। (यहाँ स्तनों की ऊपरी काली घुंडियाँ ही मानो स्तनों रूपी राजाओं के सिरों पर छत्र के समान शोभा दे रही हैं।) वे दोनों स्तन ऐसे प्रतीत होते हैं मानो दो लट्टू एक साथ वहाँ रख दिए गए हों जिन्हें देख सारा संसार उन पर मुग्ध हो उठा हो परन्तु वे किसी के भी हाथ न चढ़ते हों; अर्थात् कोई भी उन्हें न पा सकता हो। उसका पेट पूड़ी के समान पतला है। वह पान के आधार पर अर्थात् पान खा कर ही जीवित रहती है और सदैव फूल के समान प्रफुल्लित रहती है। उसके पेट पर छाई रोमावलि के ऊपर कुच रूपी दोनों लट्टू

पाठ-भेद—१. हेंगुरि=चौगान खेलने की लकड़ी। २. बाँह=भुजाएँ। ३. नाग=अलक रूपी नाग।

घूमते हुए ऐसे शोभा देते हैं—मानो शाम (सीरिया) और रूम (तुर्की)—दोनों देशों का जोड़ा या सीमाएँ मिल गई हों। उन कुचों पर लहराती हुई अलक रूपी नागिन ऐसी प्रतीत होती है—मानो उसने चौपड़ खेलते समय दोनों कुच रूपी गोटों को हृदय रूपी एक ही खाने में पास-पास एक साथ जोड़ा बनाकर रख दिया हो। उसके दोनों कुच इस प्रकार ऊपर की ओर उठे हुए हैं; मानो हृदय के परकोटे पर बाण लगा कर हृदय तक जाने के मार्ग को रोक दिया गया हो। कोई भी इन बाणों के परकोटे को लाँघ उस हृदय को नहीं प्राप्त कर सकता।

ये कुच अपने यौवन के गर्व से भर इस प्रकार ऊपर की ओर उठे हुए हैं कि किसी भी प्रकार झुकाने से नहीं झुकते। जो व्यक्ति पहले इन तक अपना हाथ पहुँचा ले; अर्थात् इनका स्पर्श कर सके, वही पद्मावती के साथ रति-सुख प्राप्त कर सकता है। अथवा जो पहले कर या खिराज देकर इनकी अधीनता स्वीकार कर ले, वही पद्मावती के साथ रति-क्रीड़ा का सुख भोग सकता है।

टिप्पणी—'जानहु दोउ साम और रूमा'—जैसी विशाल उत्प्रेक्षायें साहित्य में विरल ही हैं। अश्वघोष की ऐसी ही एक उत्प्रेक्षा मिलती है, जिसका भाव यह है कि—'सिद्धार्थ और नन्द के मध्य में शुद्धोदन ऐसे सुशोभित हुए, जैसे हिमवान पारियात्र पर्वतों के बीच में मध्य देश।'

(५१६)

भृंग-लंक जनु माँझ न लागा। दुइ खँड-नलिन माँझ जनु तागा॥
जब फिरि चली देखि मैं पाछे। अछरी इंद्रलोक जनु काछे॥
जबहिं[1] चली मन भा पछिताऊँ। अबहूँ दिस्टि लागि ओहि ठाऊँ॥
अछरी लाजि छपी गति ओहीं। भईं अलोप, न परगट होहीं॥
हंस लजाइ मानसर[2] खेले। हस्ती लाजि धूरि सिर मेले॥
जगत बहुत तिय देखी महूँ। उदय अस्त अस नारि न कहूँ॥
महिमंडल तौ ऐसि न कोई। ब्रह्ममंडल जौ होइ तो होई॥
बरनेउँ नारि, जहाँ लगि, दिस्टि झरोखे आइ।
और जो अही अदिस्ट धनि, सो किछु बरनि न जाइ॥१८॥

व्याख्या—पद्मावती की कटि भृङ्गी कीट के समान इतनी पतली थी मानो बीच में कहीं जुड़ी हुई ही न हो। अथवा मानो कमल नाल के दो टुकड़े आपस में केवल एक धागे से ही जुड़े रह गए हों। जब पद्मावती मुझे झरोखे में से देख मुड़कर वापस चली तो उसे देख ऐसा लगा मानो इन्द्रलोक की कोई अप्सरा सज्जित वेश में

पाठ-भेद—१. उजहिं=छोड़ कर। २. समुंद कहँ=समुद्र को।

पीठ मोड़कर चली जा रही हो। जब वह चली गई तो मैं मन-ही-मन पछताने लगा। अब भी मेरी दृष्टि उसके उसी रूप पर लगी रहती है; अर्थात् मैं मन-ही-मन उसकी उसी छवि का स्मरण करता रहता हूँ। जब वह चली तो उसकी चाल को देख अप्सराएँ लज्जित हो इन्द्रलोक में जा छिपीं। वे ऐसी अदृश्य हुईं कि फिर कभी प्रकट नहीं हुईं। उसकी चाल से लज्जित हो हंस मानसरोवर में जा क्रीड़ा करने लगे और हाथी लज्जा के मारे अपने मस्तक पर धूल डालने लगे। मैंने भी संसार में अनेक स्त्रियाँ देखी हैं परन्तु उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक मुझे पद्मावती जैसी नारी कहीं भी नहीं दिखाई दी। मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि इस पृथ्वी-मंडल पर तो ऐसी कोई दूसरी स्त्री है नहीं ब्रह्म-मंडल अर्थात् स्वर्ग में कोई हो तो भले ही हो।

मैंने उस नारी पद्मावती के उतने रूप का वर्णन कर दिया, जितनी वह मुझे झरोखे में दिखाई पड़ी थी। और उस सुन्दरी का जो भाग मेरी दृष्टि से ओझल था, उसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। भाव यह है कि राघव चेतन को झरोखे में खड़ी पद्मावती का सिर से लेकर कटि तक का भाग ही दिखाई पड़ता था, इसलिए उसने केवल उतने ही भाग का वर्णन किया है। इसलिए इस सम्पूर्ण वर्णन को नख-शिख-वर्णन नहीं कहा जा सकता। नख-शिख वर्णन में कवि ने पद्मावती के सम्पूर्ण शरीर का वर्णन किया है, इसलिए उस खंड का शीर्षक 'नख-शिख-वर्णन' रखा गया है, जबकि इस खंड का शीर्षक 'पद्मावती-रूप-चर्चा-खंड' है। कवि की यह सतर्कता श्लाघनीय है।

(५२०)

का धनि कहौं जैसि सुकुमारा। फूल के छुए होइ बेकरारा॥
पँखुरी काढ़हिं फूलन सेंती। सोई डासहिं सौंर सपेती॥
फूल समूचे रहै जौ पावा। ब्याकुल होइ नींद नहिं आवा॥
सहै न खीर, खाँड़ औ घीऊ। पान-अधार रहै तन जीऊ॥
नस पानन्ह कै काढ़हिं हेरी। अधर न गढ़ें फाँस ओहि केरी॥
मकरि क तार तेहि कर चीरू। सो पहिरे छिरि जाइ सरीरू॥
पालँग पावँ क आछै पाटा। नेत बिछाव चलै जौ बाटा॥
घालि नैन ओहि राखिय, पल नहिं कीजिय ओट।
पेम का लुबुधा पाव ओहि, काह सो बड़ का छोट॥१९॥

व्याख्या—इस पद में, राघव चेतन पद्मावती के स्वरूप का पूरा वर्णन करने के उपरान्त, उसकी सुकुमारता का वर्णन कर उस भावी विग्रह की भूमिका पूरी कर देता है जो कथा की आगामी घटनाओं को जन्म देती है। राघव चेतन आगे कहता है—

मैं उस सुन्दरी की सुकुमारता का क्या वर्णन करूँ कि वह कैसी सुकुमार है ! यदि एक फूल भी उसके शरीर से छू जाता है तो वह पीड़ा के मारे व्याकुल हो उठती

है। इसी कारण उसकी दासियाँ फूलों की एक-एक पँखुड़ी को चुन-चुन कर उसकी शय्या पर बिछे बिस्तर पर बिछाती हैं। यदि उसमें एक भी पूरा फूल रह जाता है तो वह रात भर व्याकुल रहती है, और उसे नींद नहीं आती। भोजन के मामले में वह इतनी सुकुमार है कि खीर, खाँड़ और घी के भोजन को सहन नहीं कर पाती। उसके शरीर में उसके प्राण केवल पान के आधार पर ही जीवित रहते हैं, अर्थात् वह केवल पान जैसी हलकी वस्तुएँ खाकर ही जीवित रहती है। जब दासियाँ उसके लिए पान बनाती हैं तो देख-देख कर पान की एक-एक नस को निकाल देती हैं, जिससे पान की नस की फाँस उसके अधरों में न गड़ जाय। उसके लिए वस्त्र मकड़ी के जाले के तारों से बनाया जाता है और जब वह उस वस्त्र को पहनती है तो उससे भी उसका शरीर छिल जाता है। उसके पैर सदैव या तो पलंग पर रहते हैं या सिंहासन पर। और यदि कभी उसे चलना होता है तो मार्ग पर बहुत महीन रेशम की चादर बिछा दी जाती है।

उसके एक बार दर्शन कर लेने से यह इच्छा होती है कि उसे सदैव अपने नेत्रों में बैठाकर रखें और एक पल के लिए भी अपनी आँख से ओझल न होने दें। कोई प्रेम का लोभी अर्थात् सच्चा प्रेमी ही उसे प्राप्त कर सकता है, फिर चाहे वह छोटा हो या बड़ा।

टिप्पणी—इस पद के अन्तिम अंश में राघव चेतन अलाउद्दीन के हृदय में लालसा की अग्नि उत्पन्न कर देता है।

(५२१)

जो राघव धनि बरनि सुनाई। सुना साह, गइ मुरछा आई॥
जनु मूरति वह परगट भई। दरस देखाइ माँहि-छप गई॥
जो जो मँदरि पदमिनि लेखी। सुना जो कँवल कुमुद अस देखी॥
होइ मालति धनि चित्त पईठी। और पुहुप कोउ आव न दीठी॥
मन होइ भँवर, भएउ बैरागा। कँवल छाँड़ि चित और न लागा॥
चाँद के रंग सुरुज जस राता। और नखत सो पूछ न बाता॥
तब कह अलाउदीं जग सूरू। लैउँ नारि चितउर कै चूरू॥
जौं वह पदमिनि मानसर, अलि न मलिन होइ जात[1]।
चितउर महँ जो पदमिनि, फेरि उहै कहु बात॥२०॥

व्याख्या—जब इस प्रकार राघव चेतन ने उस सुन्दरी पद्मावती के रूप का

पाठ-भेद—१. जौं वह मालति मानसर अलि न बेलंबैं जात=यदि वह मालती मान-सरोवर में भी हो तो भ्रमर उसके पास जाने में विलम्ब नहीं कर सकता।

वर्णन सुनाया तो उसे सुन बादशाह अलाउद्दीन मूर्च्छित हो गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो पद्मावती की मूर्त्ति उसके सम्मुख प्रकट हो, उसे दर्शन दे उसके हृदय के भीतर जा छिपी हो। बादशाह अपने महल में रहने वाली अपनी जिन-जिन बेगमों को पद्मिनी समझता था, इस पद्मावती का वर्णन सुन, वे सब उसे उसी प्रकार हीन प्रतीत होने लगीं जिस प्रकार कमल की तुलना में कुमुदिनियाँ हीन प्रतीत होती हैं। वह सुन्दरी पद्मावती मालती का पुष्प बन उसके चित्त में समा गई। अब अन्य कोई भी पुष्प उसे उसके सम्मुख अच्छा नहीं लगता था। उसका मन उस मालती रूप पद्मावती के लिए भ्रमर बन गया और अब संसार की समस्त वस्तुओं के प्रति उसके मन में वैराग्य की भावना उत्पन्न हो गई। उस कमल (पद्मावती) को छोड़ उसका चित्त अब किसी में भी नहीं लगता था। जिस प्रकार सूर्य चन्द्रमा के प्रेम में अनुरक्त हो अन्य किसी भी नक्षत्र की बात भी नहीं पूछता, उसी प्रकार अलाउद्दीन पद्मावती के प्रेम में अनुरक्त हो अब अपनी किसी भी बेगम को कोई महत्त्व नहीं देता था। तब जगत में सूर्य के समान तेजस्वी बादशाह अलाउद्दीन ने कहा कि चित्तौड़गढ़ को चूर-चूर कर उस नारी (पद्मावती) को प्राप्त करूँगा।

यदि वह पद्मिनी (कमल) मानसरोवर में भी हो तो भी भ्रमर मन में हतोत्साहित नहीं होता; अर्थात् वहाँ पहुँच कर उसका रस-पान करता है। भाव यह है कि वह पद्मिनी चाहे कहीं पर क्यों न हो, मैं उसे अवश्य प्राप्त करूँगा। इसलिए हे राघव-चेतन ! चित्तौड़गढ़ में जो पद्मिनी है, तू उसकी बात फिर सुना।

(५२२)

ए जगसूर ! कहौं तुम्ह पाहाँ। और पाँच नग चितउर माहाँ ।।
एक हंस है पंखि अमोला। मोती चुनै, पदारथ बोला ।।
दूसर नग जो अमृत-बसा। सो विष हरै नाग कर डसा ।।
तीसर पाहन परस पखाना। लोह छुए होइ कंचन-बाना ।।
चौथ अहै सादूर अहेरी। जो बन हस्ति धरै सब घेरी ।।
पाँचव नग सोनहा लागना। राजपंखि पेखा गरजना ।।
हरिन रोझ कोइ भागि न बाँचा। देखत उड़ै सचान होइ नाचा ।।
नग अमोल अस पाँचौ, भेंट समुद ओहि दीन्ह।
इसकंदर जो न पावा, सो सायर धँसि लीन्ह ।।२१।।

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन की आज्ञा को सुन राघव चेतन कहने लगा—

हे जगत के सूर्य ! मैं तुमसे कहता हूँ कि चित्तौड़ में (पद्मावती के अतिरिक्त) पाँच नग और भी हैं। इनमें से एक अनमोल पक्षी हंस है जो मोती चुगता है और

रत्न के समान उत्तम वाणी बोलता है। दूसरा रत्न अमृत से बसा हुआ है जो सर्पदंश के विष को उतार देता है। तीसरा रत्न संसार-प्रसिद्ध पारस पत्थर है जिसका स्पर्श कर लोहा स्वर्ण के समान कान्तिमान बन जाता है। चौथा रत्न एक शिकारी शार्दूल है जो वन में रहने वाले सारे हाथियों को घेरकर पकड़ लेता है। पाँचवाँ रत्न शिकार करने वाला सोनहा नामक एक राजपक्षी है जिसे गर्जन करते हुए देखा गया है। हरिण, रोज आदि कोई भी जंगली जानवर भागकर उससे नहीं बच पाता। वह उन्हें देखते ही बाज के समान उनके ऊपर मँडराने लगता है।

ऐसे इन पाँचों अमूल्य रत्नों को समुद्र ने रत्नसेन को भेंट में दिया था। महान् प्रतापशाली सिकन्दर भी जिन रत्नों को नहीं प्राप्त कर सका था, ऐसे इन पाँच रत्नों को रत्नसेन ने समुद्र में घुसकर प्राप्त किया था।

टिप्पणी—शुक्लजी ने 'रोझ' का अर्थ नीलगाय माना है, जो गलत है। इसका अर्थ 'रोज' है। रोज और नीलगाय—दोनों एक ही नस्ल के पशु होते हैं। इनमें अन्तर इतना होता है कि नीलगाय के सींग होते हैं और रोज के सींग नहीं होते। रोज कद में नीलगाय से कुछ बड़ा होता है। ये दोनों ही पशु खेती-बाड़ी को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं।

(५२३)

पान दीन्ह राघव पहिरावा। दस गज हस्ति घोड़ सौ पावा॥
औ दूसर कंकन के जोरी। रतन लाग ओहि बत्तिस कोरी॥
लाख दिनार देवाई जेंवा। दारिद हरा समुद कै सेवा॥
हौं जेहि दिवस पदमिनी पावौं। तोहि राघव! चितउर बैठावौं॥
पहिले करि पाँचौ नग मूठी। सो नग लेउँ जो कनक-अँगूठी॥
सरजा बीर पुरुष बरियारू। ताजन नाग, सिंघ असवारू॥
दीन्ह पत्र लिखि, बेगि चलावा। चितउर-गढ़ राजा पहँ आवा॥
राजै पत्रि बँचावा, लिखि जो करा अनेग[1]।
सिंघल कै जो पदमिनी, पठै देहु तेहि बेग॥२२॥

व्याख्या—राघव चेतन ने जब अलाउद्दीन को पद्मावती और चित्तौड़ के पाँचों रत्नों की कथा सुनाई तो बादशाह अलाउद्दीन ने राघव चेतन को पान का बीड़ा दिया और पोशाक पहनाई। साथ ही उसे दस हाथी और सौ घोड़े भी दिए। इसके अतिरिक्त उसे उस कंगन की जोड़ी वाला दूसरा कंगन भी दिया जिसमें बत्तीस कोड़ी (६४०) रत्न जड़े हुए थे। फिर उसे भोजन करवाया और एक लाख दीनारें दक्षिणा में दीं।

पाठ-भेद—१. किरिया लिखी अनेग=जिसमें बादशाह की ओर से अनेक कृपाएँ लिखी हुई थीं।

इस प्रकार राघव चेतन ने समुद्र के समान वैभवशाली अलाउद्दीन की सेवा कर अपने दारिद्र्य से छुटकारा पाया। इसके उपरान्त अलाउद्दीन उससे कहने लगा कि हे राघव चेतन ! मैं जिस दिन पद्मावती को प्राप्त कर लूँगा, उसी दिन तुझे चित्तौड़ की राजगद्दी पर बैठा दूँगा। सबसे पहले तो मैं उन पाँच रत्नों को अपने कब्जे में करूँगा और फिर उस सर्वश्रेष्ठ रत्न पद्मावती को प्राप्त करूँगा जो स्वर्ण की अँगूठी में जड़े सर्वश्रेष्ठ रत्न के समान सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। यह कहकर बादशाह ने अपने सरदार सरजा को बुलवाया जो सिंह के समान बलवान था और नाग का कोड़ा लेकर सिंह पर सवारी करता था। बादशाह ने तुरन्त एक पत्र लिखकर उसे दिया और रवाना कर दिया। सरजा उस पत्र को लेकर चित्तौड़ गढ़ राजा रत्नसेन के पास जा पहुँचा।

राजा रत्नसेन ने उस पत्र को पढ़वाया, जो बड़ी चतुराई के साथ लिखा गया था। उस पत्र में बड़े कौशल के साथ यह लिखा था कि तुम्हारे पास सिंहलद्वीप की जो पद्मिनी है, उसे तुरन्त हमारे पास भेज दो।

बादशाह-चढ़ाई-खंड

(५२४)

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा । जानौ दैउ तड़पि घन गाजा ॥
का मोहिं सिंघ देखावसि आई । कहौं तो सारदूल धरि खाई ॥
भलेहिं साह पुहुमीपति भारी । माँग न कोउ पुरुष कै नारी ॥
जो सो चक्कवै ताकहँ राजू । मंदिर एक कहँ आपन साजू ॥
अछरी जहाँ इन्द्र पै आवै । और न सुनै न देखै पावै ॥
कंस राज जीता जो कोपी । कान्ह न दीन्ह काहू कहँ गोपी ॥
को मोहिं तें अस सूर अगारा । चढ़ै सरग, खसि परै पतारा ॥
का तोहिं जीउ मरावौं, सकत आन के दोस ? ।
जो नहिं बुझै समुद्र-जल, सो बुझाइ कित ओस ? ॥१॥

व्याख्या—जब राजा रत्नसेन ने अलाउद्दीन द्वारा भेजे गए पत्र में लिखीं ऐसी बातों को सुना तो वह क्रोध से जलने लगा मानो आकाश में क्रुद्ध होकर मेघ गरज उठा हो और बिजली तड़पी हो । रत्नसेन अलाउद्दीन के दूत को लक्ष्य कर कहने लगा कि रे दूत ! तू आकर मुझे अपना यह सिंह क्या दिखाता है ? (सरजा सिंह पर सवार था) यदि मैं आज्ञा दूँ तो मेरा शार्दूल अभी इसे पकड़ कर खा जायेगा । बादशाह अलाउद्दीन भले ही बहुत बड़ा राजा हो परन्तु फिर भी कोई बड़े-से-बड़ा पुरुष भी किसी दूसरे से उसकी स्त्री को नहीं माँगता । यदि वह चक्रवर्ती सम्राट है तो अपने राज्य के लिए होगा । मेरे पास भी अपने साज-समाज से भरा एक छोटा सा राज-महल है । अप्सराएँ वहीं जाती हैं जहाँ इन्द्र राजा होता है । ऐसी उन अप्सराओं को अन्य कोई न तो देख ही पाता है और न उनके विषय में सुन ही पाता है । कृष्ण ने कुपित होकर कंस के राज्य को जीत लिया था परन्तु इसके परिणामस्वरूप क्या किसी ने कृष्ण को गोपियाँ दे दी थीं ? भाव यह है कि भले ही मैं युद्ध हार जाऊँ परन्तु फिर भी अपनी पद्मावती को नहीं दूँगा । इस संसार में मुझसे बढ़कर योद्धा दूसरा कौन है, जो मेरे समान स्वर्ग तक चढ़ जाय और फिर खिसक कर पाताल तक जा पहुँचे । भाव यह है कि रत्नसेन ने स्वर्ग अर्थात् सिंहलद्वीप पर चढ़ाई कर पद्मावती को प्राप्त किया था और फिर समुद्र में गिर पाताल तक पहुँच पुनः पद्मावती को प्राप्त किया था; अर्थात् रत्नसेन स्वर्ग और पाताल तक को जीतने की शक्ति रखता है ।

मैं अन्य के बल पर किए गए तेरे इस अपराध के लिए तेरा प्राण-वध क्या करवाऊँ ? जो आग सारे समुद्र के जल से भी नहीं बुझ सकती, वह ओस चाटने से भला कैसे बुझ सकती है; अर्थात् तेरे बादशाह ने जो मेरा अपमान किया है, उसकी आग तेरा वध करने से शान्त नहीं हो सकती। वह तो बादशाह का समूल नाश करने पर भी शान्त नहीं होगी।

टिप्पणी—(१) 'कंस राज·······कहँ गोपी'—पंक्ति का यह भाव है कि कृष्ण कंस को जीत कर भले ही राजा बन गए थे, परन्तु फिर भी क्या किसी गोप की गोपी पर उनका अधिकार हो सका था ?

(२) 'को मोहि ते ······परै पतारा'—का यह अर्थ भी हो सकता है कि मेरे समान सूर्य और कौन है। मैं सूर्य हूँ जो आकाश में चढ़ता हूँ और फिर पाताल तक में जा पहुँचता हूँ; अर्थात् सर्वत्र मेरी गति है।

(५२५)

राजा ! अस न होहु रिस राता। सुनु होइ जूड़, न जरि कहु बाता।।
मैं हौं इहाँ मरै कहँ आवा। बादशाह अस जानि पठावा।।
जो तोहि भार, न औरहि लेना। पूँछहि कालि उतर है देना।।
बादशाह कहँ ऐस न बोलू। चढ़ै तो परै जगत महँ डोलू।।
सूरहि चढ़त न लागहि बारा। तपै आगि जेहि सरग पतारा।।
परबत उड़हिं सूर कें फूँके। यह गढ़ छार होइ एक झूँके।।
धँसे सुमेरु, समुद गा पाटा। पुहुमी डोल सेस-फन फाटा[1]।।
तासौं कौन लड़ाई ? बैठहु चितउर खास।
ऊपर लेहु चँदेरी, का पदमिनि एक दास।।२।।

व्याख्या—राजा रत्नसेन की क्रोधभरी बातों को सुन बादशाह अलाउद्दीन का पत्र-वाहक दूत सरजा कहने लगा—

हे राजा ! क्रोध से इतने लाल-पीले मत हो। शांत होकर मेरी बात सुनो। क्रोध से जल कर बातें न करो। मैं तो यहाँ मरने के लिए ही आया हूँ। बादशाह ने यही समझ कर मुझे यहाँ भेजा था। जो तुम्हारा उत्तरदायित्व है, वह तुम्हारे ही ऊपर रहेगा और किसी को तो उसकी जवाबदेही करनी नहीं पड़ेगी; अर्थात् जैसा तुम करोगे उसका परिणाम स्वयं तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। यदि तुम मुझे मरवा डालोगे तो कल बादशाह तुमसे इसकी जवाबदेही करेगा और तुम्हें इसका उत्तर देना पड़ेगा।

पाठ-भेद—१. भुँइ सम होइ धरै जौं बाटा=भूमि समतल हो जाती है जब वह कोई मार्ग पकड़ता है। (यह पाठ असंगत सा प्रतीत होता है क्योंकि जायसी ने समतल के लिए 'सम' शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं किया है।)

इसलिए तुम बादशाह के सम्बन्ध में ऐसे अपमानजनक शब्द मत कहो। जब वह किसी पर आक्रमण करता है तो सारे संसार में हलचल मच जाती है। सूर (सूर्य) अर्थात् योद्धा को आक्रमण करने में देर नहीं लगती अथवा सूर्य को आकाश में चढ़ते देर नहीं लगती और उसकी अग्नि से स्वर्ग से लेकर पाताल तक सारा प्रदेश जलने लगता है; अर्थात् जब सूर्य के समान प्रतापशाली अलाउद्दीन आक्रमण करता है तो स्वर्ग और पाताल जलने लगते हैं। ऐसे उस सूर्य (अलाउद्दीन) की फूँक मार देने से पर्वत तक उड़ जाते हैं। फिर तुम्हारा यह गढ़ तो उसकी फूँक के एक ही झोंके से जल कर खाक में मिल जायेगा। ऐसा वह बादशाह जब कूँच करता है तो सुमेरु पृथ्वी में धँस जाता है, समुद्र पट जाता है, पृथ्वी डगमगाने लगती है और शेषनाग का मस्तक फट जाता है।

ऐसे प्रबल प्रतापशाली बादशाह के साथ युद्ध करने से क्या लाभ होगा ? तुम अपने चित्तौड़ में ही बैठकर आनन्द से राज्य करो और ऊपर से चँदेरी का राज्य भी ले लो। इन सारी सुविधाओं की तुलना में एक दासी के समान पद्मिनी का क्या महत्त्व है ?

(५२६)

जो पै घरनि जाइ घर केरी। का चितउर, का राज चँदेरी ॥
जिउ न लेइ घर कारन कोई। सो घर देइ जो जोगी होई ॥
हौं रनथँभउर-नाह हमीरू। कलपि माथ जेइ दीन्ह सरीरू ॥
हौं सो रतनसेन सक-बंधी। राहू बेधि जीता सैरंधी ॥
हनुवँत सरिस भार जेइ काँधा। राघव सरिस समुद जो बाँधा ॥
बिक्रम सरिस कीन्ह जेइ साका। सिंहलद्वीप लीन्ह जौ ताका ॥
जौ अस लिखा भएउँ नहिं ओछा। जियत सिंघ कै गह को मोंछा ? ॥
दरब लेइ तो मानौं, सेव करौं गहि पाउ।
चाहै जौ सो पदमिनी, सिंघलदीपहि जाउ ॥३॥

व्याख्या—अलाउद्दीन के दूत की अलाउद्दीन के प्रताप और बल-सम्बन्धी प्रशस्ति को सुन राजा रत्नसेन उससे कहने लगा—

यदि मेरे घर की गृहिणी अर्थात् पद्मावती ही चली जायगी तो फिर मेरे लिए चित्तौड़ अथवा चँदेरी का मूल्य ही क्या रह जायगा। घर के कारण चाहे कोई मेरे प्राण ही क्यों न ले ले (परन्तु मैं अपना घर नहीं दूँगा), क्योंकि घर तो वही दूसरों को देता है जो योगी होता है; अर्थात् केवल योगी ही अपने घर का मोह त्याग उसे छोड़ देता है। मैं रणथम्भौर के राजा हमीर के समान हूँ जिसने अपने मस्तक को काट अपना शरीर छोड़ दिया था। मैं तो साका करने वाला, अर्थात् यशस्वी रत्नसेन हूँ जिसने पद्मावती को उसी प्रकार जीत कर प्राप्त किया है जैसे अर्जुन ने मत्स्य-बेध-कर

द्रौपदी को स्वयंवर में जीता था। मैं उस हनुमान के समान हूँ जो पर्वत को अपने कन्धे पर उठा लाया था और जिसने राम के समान समुद्र को बाँध दिया था (समुद्र पर सेतु बाँधा था)। मैंने विक्रमादित्य के समान साका अर्थात् महान कार्य किया था कि सिंहलद्वीप की ओर दृष्टि उठाकर वहाँ से पद्मावती को ले आया था। यदि बादशाह ने मेरे लिए इस प्रकार की बातें लिख भेजी हैं तो उससे मैं हीन नहीं बन गया, अर्थात् निर्बल नहीं हो गया। इस संसार में ऐसा कौन है जो सिंह के जीवित रहते उसकी मूँछ को पकड़ सके। भाव यह है कि मैं जीते-जी पद्मावती को नहीं दूँगा। किसमें ऐसा साहस है जो मेरे रहते पद्मावती को ले जा सके और मेरा अपमान कर सके।

यदि बादशाह को धन की आवश्यकता हो तो मैं धन देने को प्रस्तुत हूँ। और यदि वह मेरी सेवा चाहता है तो मैं उसके पैर पकड़ उसकी सेवा करने को तैयार हूँ। और यदि उसे पद्मिनी चाहिए तो उसे प्राप्त करने के लिए वह सिंहलद्वीप जाय।

टिप्पणी—(१) 'सक बंधी'—इस शब्द का मूल अर्थ 'शक संवत्' था। आगे चलकर यह शब्द किसी भी अलौकिक और वीरतापूर्ण कार्य के लिए प्रयुक्त होने लगा था। राजपूत काल में जो अपनी स्त्रियों से जौहर करवा कर युद्ध में प्राण देने का निश्चय कर लेता था वह 'सकबन्दी' कहलाता था। जायसी ने इसी खंड की पद संख्या १५ में पुनः 'साका' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

'सजि संग्राम बाँध सब साका। छाँड़ा जियन मरन सब ताका॥'

(२) रणथम्भौर नरेश हमीर ने अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ पर किए गए आक्रमण से दो वर्ष पूर्व अलाउद्दीन के विरुद्ध युद्ध करते हुए अपने प्राण दिए थे।

(५२७)

बोलु न, राजा! आपु जनाई। लीन्ह देवगिरि[1] और छिताई॥
सातौ दीप राज सिर नावहिं। औ सँग चली पदमिनी आवहिं॥
जेहि कै सेव करै संसारा। सिंघलदीप लेत कित बारा?॥
जनि जानसि यह गढ़ तोहि पाहीं। ताकर सबै, तोर किछु नाहीं॥
जेहि दिन आइ गढ़ी कहँ[2] छेंकिहि। सरबस लेइ, हाथ को टेकहि?॥
सीस न छाड़ै[3] खेह के लागे। सो सिर छार होइ पुनि आगे॥
सेवा करु जौ जियन तोहि, भाई[4]। नाहिं त फेरि माख[5] होइ जाई॥
जाकर जीवन दीन्ह तेहि, अगमन सीस जोहारि।
ते करनी सब जानै, काह पुरुष का नारि॥४॥

पाठ-भेद—१. उदैगिरि। २. गाढ़ कै=प्रगाढ़ रूप से। ३. झारु=झाड़। ४. फाबी=फबती, भाती। ५. भाँग=भंग, नष्ट।

व्याख्या—रतनसेन के वचनों को सुनकर अलाउद्दीन का दूत सरजा कहने लगा कि—

हे राजा ! तू अपने मुँह से अपनी बड़ाई मत कर । बादशाह अलाउद्दीन ने देवगिरि को जीत कर उसके राजा की लड़की छिताई को ले लिया था । सातों द्वीपों के राजा उसे मस्तक झुकाते हैं और उनके साथ उनकी पद्मिनी स्त्रियाँ अपने-आप चली आती हैं । जिसकी सेवा सारा संसार करता है, उसे सिंहलद्वीप पर विजय प्राप्त करने में क्या देर लगेगी ? यह मत समझ कि यह गढ़ (चित्तौड़ गढ़) तेरे पास है, अर्थात् तू इसका स्वामी है । वस्तुतः जो कुछ है वह सब उसी बादशाह का है, तेरा कुछ भी नहीं है । वह जिस दिन आकर तेरे इस छोटे से गढ़ (गढ़ी) को घेर लेगा, उस दिन तेरा सर्वस्व छीन लेगा और कोई भी उसका हाथ नहीं पकड़ सकेगा, अर्थात् कोई भी तेरी सहायता नहीं कर सकेगा । यदि सिर में धूल लग जाती है तो उसके कारण कोई अपने सिर को नहीं काट डालता, क्योंकि वह सिर तो आगे चलकर पुनः खाक हो ही जायेगा । भाव यह है कि तू जरा सी बात के लिए अपने प्राण मत दे । हे भाई ! यदि तुझे जीवित रहना है तो उसकी सेवा कर नहीं तो फिर वह तुझसे नाराज हो जायगा ।

हे राजा ! जिसका दिया तेरा यह जीवन है, उसे आगे बढ़कर पहले से ही प्रणाम कर अर्थात् उसकी अधीनता स्वीकार कर, उसकी आज्ञा का पालन कर । वह क्या पुरुष और क्या नारी— सब के कर्मों को जानता है; अर्थात् सब के सब कर्मों की खबर रखता है ।

(५२८)

तुरुक ! जाइ कहु मरै न धाई । होइहि इसकंदर कै नाई ॥
सुनि अमृत कदलीबन धावा । हाथ न चढ़ा, रहा पछितावा ॥
औ[1] तेहि दीप पतँग होइ परा । अगिनि-पहार पाँव देइ जरा ॥
धरती लोह, सरग भा ताँबा । जीउ दीन्ह, पहुँचत कर लाँबा ॥
यह चितउरगढ़ सोइ पहारू । सूर उठै तब होइ अँगारू ॥
जौ पै इसकंदर सरि लीन्ही । समुद लेहु धँसि जस वै लीन्ही ॥
जो छरि आनै जाइ छिताई । तेहि छर औ डर होइ मिताई[2] ॥
महूँ समुझि अस अगमन, सजि राखा गढ़ साजु ।
कालिह होइ जेहि आबन, सो चलि आवै आजु ॥५॥

व्याख्या—दूत सरजा की बातें सुन राजा रत्नसेन उससे कहने लगा—
रे तुर्क ! तू अपने बादशाह से जाकर कह दे कि वह मरने के लिए इधर दौड़

पाठ-भेद—१. उड़ि=उड़ कर । २. तब का भएउ जो मुक्ख जताई= क्या हो गया कि अपने मुख से उसके गीत गा रहे हो ।

कर न आए, वर्ना उसकी भी वैसी ही दशा होगी जैसी कि सिकन्दर की हुई थी। सिकन्दर अमृत का नाम सुनकर कदलीवन की ओर दौड़ा गया था, परन्तु अमृत तो उसके हाथ न लगा, उल्टे उसे पछताना और पड़ा। सिकन्दर अमृत की खातिर कदलीवन में उसी प्रकार जा पड़ा, जिस प्रकार पतिंगा उड़कर दीपक पर जा गिरता है। वह अग्नि के पहाड़ पर पैर रखने से जलकर मर गया। उस अग्नि-पर्वत की अग्नि के ताप से वहाँ की धरती लोहे के समान कठोर और आकाश ताँबे के समान लाल हो उठा था। वहाँ लम्बा हाथ बढ़ाने से ही पहुँचा जा सकता है, परन्तु अपने प्राण दे देने पड़ते हैं। यह चित्तौड़गढ़ उसी पर्वत के समान है। जब सूर्य आकाश में ऊँचा उठता है तो वह अंगारे के समान गर्म हो उठता है। यदि अलाउद्दीन अपने को सिकन्दर के समान समझता है (अलाउद्दीन स्वयं को 'सिकन्दर सानी' अर्थात् सिकन्दर द्वितीय कहलाता था) तो उससे कहना कि वह पद्मिनी को उसी प्रकार समुद्र में घुस कर अर्थात् समुद्र पार कर प्राप्त करे जिस प्रकार सिकन्दर ने समुद्र पार कर संसार-विजय की थी। जो व्यक्ति अर्थात् अलाउद्दीन छल करके अर्थात् धोखा देकर राजकुमारी छिताई को ला सकता है, उसके साथ मित्रता करने में सदैव छल और भय की आशंका बनी रहेगी; अर्थात् ऐसे छली व्यक्ति का कभी विश्वास नहीं किया जा सकता।

मैंने भी इसी बात को समझ कर पहले से ही अपने गढ़ में सेना सजा रखी है। यदि उसे कल आना हो तो उससे कह देना कि वह आज ही चला आवे। मुझे कोई भय नहीं।

टिप्पणी—कथा प्रसिद्ध थी कि सिकन्दर अमृत की खोज में था। उसकी मित्रता ख्वाजा खिज्र से हो गई। ख्वाजा उसे जलमात नामक अन्धकार के लोक में ले गया। वहाँ अमृत का सोता था परन्तु सिकन्दर उसका पान न कर सका और अग्नि के पहाड़ में जलकर मर गया। जायसी ने अनेक बार सिकन्दर का उल्लेख किया है, परन्तु जायसी का यह सिकन्दर इतिहास-प्रसिद्ध सिकन्दर महान् न होकर सूफियों के किस्से-कहानियों का कोई सिकन्दर रहा होगा।

(५२९)

सरजा पलटि साह पहँ आवा। देव न मानै बहुत मनावा॥
आगि जो जरै आगि पै सूझा। जरत रहै, न बुझाए बूझा॥
ऐसे माथ न नावँ[1] देवा। चढ़ै सुलेमा मानै सेवा॥
सुन कै अस[2] राता सुलतानू। जैसे तपै[3] जेठ कर भानू॥
सहसौ करा रोष अस भरा। जेहि दिसि देखै तेइ दिसि जरा॥

पाठ-भेद—१. पंथ न आवै=रास्ते पर आएगा। २. रिसि=क्रोध। ३. धिकै=तप्त हो।

हिंदू देव काह बर खाँचा। सरगहुँ अब न सूर[1] सौं बाँचा ॥
एहि जग आगि जो भरि मुख लीन्हा। सो सँग आगि दुहूँ जग कीन्हा ॥
रनथँभउर जस जरि बुझा, चितउर परै सो आगि।
फेरि बुझाए ना बुझै, एक दिवस जौ लागि[2] ॥६॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन के गर्व-भरे उत्तर को सुन बादशाह अलाउद्दीन का दूत सरजा लौट कर अपने बादशाह के पास पहुँचा और बोला कि हे बादशाह ! मैंने राजा रत्नसेन को बहुत मनाया परन्तु वह नहीं माना। जो आग में जलता रहता है उसे हमेशा आग में जलना ही अच्छा लगता है। वह उसी आग में जलता रहता है और समझाने से भी नहीं मानता। भाव यह है कि जैसे लोहा आग में तप कर ही सीधा होता है वैसे ही लातों के देव बातों से नहीं मानते; अर्थात् राजा रत्नसेन वैसे समझाने से नहीं मानेगा। वह तो जब आपकी क्रोधाग्नि में जलने लगेगा, तभी होश में आएगा। वह राजा इस प्रकार समझाने से आपके सामने आत्म-समर्पण नहीं करेगा। वह तो तभी आपकी सेवा करने को तैयार होगा, जब आप बादशाह सुलेमान के समान उस पर चढ़ाई करेंगे। दूत सरजा की इन बातों को सुन बादशाह अलाउद्दीन क्रोध से लाल हो उठा, जैसे ज्येष्ठ मास का सूर्य दहकता है। वह ऐसा क्रोध में भर गया मानो सूर्य अपनी सहस्र कला के साथ तप रहा हो। वह जिस तरफ भी दृष्टि डालता था, उधर ही आग सी लग जाती थी। उसने कहा कि वह हिन्दू राजा क्या हठ दिखाता है अथवा किसके बल पर इतना अकड़ता है ? अब वह स्वर्ग में भी मुझ सूर्य जैसे प्रतापशाली से नहीं बच सकेगा। जो व्यक्ति इस संसार में अपने मुख में अग्नि भर लेता है वह मानो दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) में अपने साथ इस अग्नि को ले जाता है, अर्थात् जो व्यक्ति इस संसार में विनाश को आमंत्रण देता है, उसके लिए दोनों लोकों में विनाश रहता है। वह इस लोक में मेरी क्रोधाग्नि में जलेगा और मर जाने पर उसे नरक की अग्नि में जलना पड़ेगा।

जैसे रणथम्भौर मेरी क्रोधाग्नि में जल कर खाक हो गया, अब मेरी उसी क्रोधाग्नि में चित्तौड़ जलने वाला है। यह अग्नि जब एक बार चित्तौड़ में लग जायगी तो फिर बुझाने से भी नहीं बुझेगी; अर्थात् यदि मैं चित्तौड़ पर आक्रमण कर दूँगा तो फिर उसका सर्वनाश होकर ही रहेगा।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने 'देव' शब्द का प्रयोग श्लेषात्मक अर्थ में किया है। 'देव' उस युग में हिन्दू राजा के लिए प्रयुक्त होता था तथा इसका दूसरा अर्थ 'जिन' भी है। भाव यह है कि जिस प्रकार बादशाह सुलेमान ने युद्ध कर जिनों और परियों को अपने वश में कर लिया था और फिर वे सदैव उसकी आज्ञा का पालन करते रहे थे, उसी प्रकार यह देव अर्थात् राजा रत्नसेन भी बिना उस पर आक्रमण

पाठ-भेद —१. असि = अग्नि। २. जरैं दोस की लागि = यह आग दोष के कारण है।

हुए आसानी से हमारी बात नहीं मानेगा। इसे भी उस देव (जिन) की तरह ही वश में करना पड़ेगा, तभी यह हमारी बात को मान सेवा करेगा।

(५३०)

लिखा पत्र चारिहु दिसि धाए। जावत उमरा बेगि बोलाए ॥
दुंद-घाव भा, इंद्र सकाना। डोला मेरु, सेस अकुलाना ॥
धरती डोलि, कमठ खरभरा। मथन-अरंभ समुद महँ परा ॥
साह बजाइ चढ़ा, जग जाना। तीस कोस भा पहिल पयाना ॥
चितउर सौंह बारिगह तानी। जहँ लगि सुना कूच सुलतानी ॥
उठि सरवान गगन लगि छाए। जानहु राते मेघ देखाए ॥
जो जहँ तहँ सूता अस जागा। आइ जोहार कटक सब लागा ॥
हस्ति घोड़ औ दर पुरुष, जावत बेसरा ऊँट।
जहँ तहँ लीन्ह पलानै, कटक सरह अस छूट ॥७॥

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन ने पत्र लिखवा कर अपने दूतों को चारों दिशाओं में दौड़ा दिया और उसके जितने भी सरदार थे, उन सब को दिल्ली बुलवाया। डंके पर चोट पड़ी जिसकी ध्वनि को सुन इन्द्र मन में शंकित हो उठा (कि कहीं मेरे ऊपर चढ़ाई की तैयारियाँ न हो रही हों)। सुमेरु डगमगाने लगा और शेषनाग व्याकुल हो उठा। धरती हिलने लगी और कच्छप विचलित होने लगा। चारों ओर ऐसा शोर मच गया मानो समुद्र-मंथन हो रहा हो। उस शोर को सुनकर संसार ने जान लिया कि बादशाह युद्ध के नगाड़े बजाता हुआ किसी पर चढ़ाई कर रहा है। बादशाही सेना ने तीस कोस की मंजिल पार कर पहला पड़ाव डाला। उसके सरदारों ने जहाँ-जहाँ बादशाह की कूच का समाचार सुना, उसे सुन उन्हें ज्ञात हो गया कि बादशाह ने अपना शाही तम्बू चित्तौड़ की ओर ताना अर्थात् बादशाह चित्तौड़ पर आक्रमण करने चल पड़ा है। यह सुन सरदारों के लाल रंग के तम्बू तन कर आकाश से जा लगे, मानो आकाश में लाल मेघ छा रहे हों। भाव यह है कि सरदार भी अपने-अपने लश्कर सजा कर प्रस्तुत हो गए। जो जहाँ भी पड़ा सो रहा था, वह यह सुनकर जाग उठा। इस प्रकार सारे सरदारों की सेनायें वहाँ आ-आ कर बादशाह को सलाम बजा एकत्र होने लगीं।

जितने भी हाथी, घोड़े, सेना, मनुष्य, खच्चर और ऊँट आदि थे—सब तैयार हो गए। जानवरों पर जीनें कस दी गईं और इस प्रकार वह सैन्य-दल टिड्डी-दल के समान चित्तौड़ की ओर तेजी से बढ़ने लगा।

(५३१)

चले पंथ बेसर सुलतानी। तीख तुरंग बाँक कनकानी ॥
कारे, कुमइत, लील, सुपेते। खिंग-कुरंग, बोज दुर केते ॥

अवलक, अरबी-लखी सिराजी । चौघर चाल, समँद भल, ताजी ।।
किरमिज, नुकरा, जरदे, भले । रूपकरान, बोलसर, चले ।।
पँचकल्यान, सँजाब, बखाने । महि सायर सब चुनि-चुनि आने ।।
मुशकी औ हिरमिजी, एराकी । तुरकी कहे भोथार बुलाकी ।।
बिखरि चले जो पाँतिहि पाँती । बरन बरन औ भाँतिहि भाँती ।।
सिर और पूँछ उठाए, चहुँ दिसि साँस ओनाहि ।
रोष भरे जस बाउर, पवन-तरास उड़ाँहि ।।८।।

व्याख्या —इस पद में जायसी बादशाह अलाउद्दीन की अश्वारोही सेना का वर्णन कर रहे हैं—

बादशाही सेना की घुड़सवार टुकड़ियाँ मार्ग में चलीं। इस सेना में तेज बाँके कैकाण देश के घोड़े थे। काले, कुम्मैत, नीले, सफेद, खिंग, कुरंग, बोज और दुर जाति और रंगों वाले अनेक घोड़े चल रहे थे। अवलक, अरबी, लाखी, शीराजी, समन्द और ताजी जाति के सुन्दर और सरपट चाल चलने वाले अनेक घोड़े थे। किरमिची रंग के, चाँदी के से चमकदार रंग वाले, पीले, रूपकर्ण और बोल्लाह जाति और रंगों वाले सुन्दर घोड़े उसकी सेना में थे। पँच कल्यानी, सँजावी आदि प्रसिद्ध नस्लों के घोड़े सारी पृथ्वी और समुद्र पार के देशों से चुन-चुन कर लाए गए थे। मुश्की, हिरमिजी और ईराकी घोड़े भी थे। इस सेना में बोल्लाह जाति के वे प्रसिद्ध घोड़े भी थे जिन्हें घोड़ों के पारखी घोड़ों की तुर्की नस्लों में सबसे अच्छा बताते थे। ऐसे घोड़ों की पंक्तियाँ बिखर कर अर्थात् फैल-फूट कर चलीं। ये घोड़े भाँति-भाँति के रंगों वाले और भिन्न-भिन्न प्रकार की चालें चलने वाले थे।

ये घोड़े सिर और पूँछें उठाए गहरी साँसें भरते चारों ओर चले जा रहे थे। वे इस प्रकार पवन-वेग से उड़े चले जा रहे थे—जैसे क्रोध में भरा पागल भागता जाता है।

(५३२)

लोहसार हस्ती पहिराए । मेघ साम जनु गरजत आए ।।
मेघहि चाहि अधिक वै कारे । भएउ असूझ देखि अँधियारे ।।
जसि भादौं निसि आवै दीठी । सरग जाइ हिरकी तिन्ह पीठी ।।
सवा लाख हस्ती जब चाला । परवत सहित सबै जग हाला ।।
चले[1] गयंद माति मद आवहिं । भागहिं हस्ती गंध जो पावहिं ।।
ऊपर जाइ गगन सिर धँसा[2] । औ धरती तर कहँ धसमसा ।।
भा भुइँचाल चलत जग[3] जानी । जहँ पग धरहि उठै तहँ पानी ।।

पाठ-भेद—१. कलित=सजे हुए । २. सब खसा=गिर पड़ा था । ३. गज=हाथी ।

चलत हस्ति जग काँपा, चाँपा सेस पतार।
कमठ जो धरती लेइ रहा, बैठि गएउ गजभार ।।९।।

व्याख्या—अलाउद्दीन की सेना के हाथियों को फौलाद की बनी झूलें पहनाई गईं। वे हाथी इस प्रकार गरजते हुए आगे बढ़ रहे थे, मानो काले बादल गरजते हुए उमड़ रहे हों। वे मेघों से भी अधिक काले थे। उनके कारण चारों ओर अन्धकार छा गया और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ने लगा। ऐसा प्रतीत होता था मानो चारों ओर भादों की रात का गहन अन्धकार छा गया हो। वे हाथी इतने ऊँचे थे कि उनकी पीठें स्वर्ग से जाकर लग रही थीं। जब ऐसे सवा लाख हाथी चले तो पर्वतों सहित सारा संसार काँप उठा। वे मदमत्त गयंद चलने लगे। उनके मस्तकों से मद बह रहा था, जिसकी गन्ध को सूँघ दिग्गज भी भाग खड़े होते थे। उनके सिर ऊपर उठकर आकाश में धँस गए थे और पैरों के नीचे पृथ्वी धसक रही थी। उनके चलने से संसार को ऐसा प्रतीत हुआ मानो भूचाल आ गया हो। जहाँ-जहाँ उनके पैर पड़ते थे, वहाँ-वहाँ धरती में से पानी निकल आता था।

ऐसे उन हाथियों के चलने से सारा संसार काँपने लगा और शेषनाग भयभीत हो पाताल से कस कर चिपट गया। कच्छप जो अपनी पीठ पर पृथ्वी का भार सम्भाले हुए था, उन हाथियों के बोझ से और नीचे धँस गया।

टिप्पणी—अलंकार—असम्बधातिशयोक्ति।

(५३२)

चले जो उमरा मीर बखाने। का बरनौं जस उन्ह कर बाने[1] ।।
खुरासान औ चला हरेऊ। गौर बँगाला रहा न केऊ ।।
रहा न रूम-शाम-सुलतानू। कासमीर, ठट्टा मुलतानू ।।
जावत बड़-बड़[2] तुरुक कै जाती। माँडौवाले औ गुजराती ।।
पटना,[3] उड़ीसा के सब चले। लेइ गज हस्ति जहाँ लगि भले ।।
कवँरु, कामता औ पिंड़वाए। देवगिरि लेइ उदयगिरि आए ।।
चला परबती लेइ कुमाऊँ। खसिया मगर जहाँ लगि नाऊ ।।
उदय अस्त लहि देस जो, को जानै तिन्ह नाँव ?[4] ।
साती दीप नवौ खंड, जुरे आइ एक ठाँव ।।१०।।

पाठ-भेद—१. थाने=स्थान। २. बीदर। ३. पाटि=महानदी और गोदावरी के बीच का प्रदेश। ४ हेम सेत और गाजना बंग तिलंग सब लेत—हेम पर्वत, श्वेत पर्वत और गजनी तथा बंग तिलंग तक समस्त देशों को लेते हुए।

व्याख्या—जायसी अलाउद्दीन की सेना के घोड़ों और हाथियों का वर्णन करने के उपरान्त उसकी सेना के विभिन्न प्रदेशों एवं देशों के सरदारों और उनके सैनिकों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अलाउद्दीन के साथ उस समय के सारे प्रसिद्ध अमीर और उमराव (सामन्त सरदार) चले जिनके वेश और सजावट का मैं क्या वर्णन करूँ ? उत्तर पश्चिम में स्थित खुरासान और हेरात देशों के अमीर तथा पूर्व में स्थित गौड़ और बंगाल प्रदेशों का कोई भी सरदार ऐसा नहीं बचा जो उस सेना में सम्मिलित न हुआ हो। तुर्की, सीरिया, कश्मीर, ठट्टा (सिन्ध) और मुल्तान के राजा आए। तुर्कों की बड़ी-बड़ी जातियों के तुर्क, माण्डवगढ़ वाले मालवी, गुजराती, पटना (बिहार) और उड़ीसा के सारे सरदार सर्वोत्तम नस्ल के हाथियों को लेकर उस सेना में शामिल हुए। कामरूप, कामतापुर और पंडुआ, देवगिरि से लेकर उदयगिरि तक के सारे सरदार और सामन्त आए। कुमाऊँ, खसिया और मगर आदि विभिन्न पहाड़ी प्रदेशों के राजा अपने पहाड़ी सैनिकों को लेकर आए।

उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक जितने भी देश थे, जिनका नाम कोई नहीं जानता तथा सातों द्वीप और नवखंडों के सारे राजा आकर उस एक ही स्थान पर इकट्ठे हो गए।

(५३४)

धनि सुलतान जेहिक संसारा। उहै कटक अस जोरै पारा॥
सबै तुरुक-सिरताज बखाने। तबल बाज औ बाँधे बाने॥
लाखन मार बहादुर जंगी। जँबुर, कमानैं तीर खदंगी॥
जीभा खोलि राग सौं मढ़े। लेजिम घालि एराकिन्ह चढ़े॥
चमकहिं पाखर सार सँवारी। दरपन चाहि अधिक उजियारी॥
बरन-बरन औ पाँतिहि पाँती। चली सो सेना भाँतिहि भाँती॥
बेहर बेहर सब कै बोली। बिधि यह खानि कहाँ दहुँ खोली॥
सात सात जोजन कर, एक दिन होइ पयान।
अगिलहि जहाँ पयान होइ, पछिलहि तहाँ मिलान॥११॥

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि सुल्तान अलाउद्दीन धन्य हैं जो संसार भर का स्वामी है। ऐसी विशाल सेना को केवल वही एकत्र कर सकता था। उसकी सेना में सभी प्रसिद्ध तुर्की-सरदार थे जो फरसे लिए हुए थे और युद्ध का वेश धारण किए हाथियों से पूरी तरह सज्जित थे। वे ऐसे बहादुर योद्धा थे जो युद्ध में लाखों का संहार कर डालते थे। उनके पास जम्बूर नामक ऊँटों पर लादी जाने वाली तोपें, धनुष और चिनार की लकड़ी के बने तीर थे। वे सारे सैनिक जिरह बख्तर, फौलादी टोप और टाँगों पर लोहे के सिकड़ियोंदार पाजामों से ढके हुए थे; अर्थात् उनका

पूरा शरीर लोहे के जिरह-बख्तर आदि से ढका हुआ था। वे अपने गले में लोहे की प्रत्यंचा वाले लेजिम नामक धनुषों को डाले ईराकी घोड़ों पर सवार थे। फौलाद से बनी घोड़ों की झूलें इस प्रकार चमक रहीं थीं कि दर्पण से भी अधिक चमकीली प्रतीत होती थीं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रंगों वाली वह सेना कतारों में सज कर तरह-तरह से आगे बढ़ने लगी। सबकी बोली भिन्न-भिन्न थी। न जाने विधाता ने सैनिकों की यह खान कहाँ से खोल दी थी; अर्थात् इतने सैनिक कहाँ से इकट्ठे हो गए थे।

यह सेना एक-एक दिन में सात-सात योजन पर जाकर पड़ाव डालती थी। वह इतनी विशाल थी कि उसका अगला हिस्सा सुबह जिस स्थान से प्रस्थान करता था, सन्ध्या होने पर उसका पिछला हिस्सा वहाँ पहुँच पाता था। भाव यह है कि अलाउद्दीन की सेना सात योजन लम्बी थी।

(५३५)

डोले गढ़, गढ़पति सब काँपे। जीव न पेट; हाथ हिय चाँपे॥
काँपा रनथंभउर, गढ़ डोला। नरवर गएउ झुराइ, न बोला॥
जूनागढ़ औ चंपानेरी। काँपा माड़ौं लेइ चँदेरी॥
गढ़ गुवालियर परी मथानी। औ अँधियार मथा भा पानी॥
कालिंजर महँ परा भगाना। भागेउ जयगढ़, रहा न थाना॥
काँपा बाँधव, नरवर राना। डर रोहतास विजयगिरि माना॥
काँप उदयगिरि, देवगिरि डरा। तब सो छपाइ आपु कहँ धरा॥
जावत गढ़ औ गढ़पति, सब काँपे जस पात।
का कहँ बोलि सौहँ भा, बादसाह कर छात ?॥१२॥

व्याख्या—जब अलाउद्दीन की विशाल सेना चली तो सारे गढ़ (दुर्ग) हिल उठे और सारे गढ़पति (दुर्गपति) काँपने लगे। भय के मारे उनके प्राण से निकल गए और उन्होंने अपने धड़कते हुए हृदयों को हाथ से दबा लिया। रणथम्भौर काँप उठा और उसका गढ़ हिलने लगा। नरवरगढ़ भय के मारे सूख गया और कुछ भी नहीं बोला। भाव यह है कि इन गढ़ों के अधिपतियों ने चुपचाप बादशाही सेना को मार्ग दे दिया। जूनागढ़ और चम्पानेर तथा माँड़ौ गढ़ से लेकर चन्देरी तक सारे राजा काँपने लगे। ग्वालियर के गढ़ में हलचल मच गई और अँधियार (आन्ध्र) आदि प्रदेशों के पेट में भय के मारे पानी हो गया। कालिंजर में भगदड़ मच गई और जयगढ़ का अधिपति भाग खड़ा हुआ। मार्ग में एक भी सैनिक दुर्ग नहीं बचा जिसने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार न की। बाँधव (रीवाँ) काँपने लगा और नरवर का राणा डर गया। रोहतास तथा विजयगिरि (बीजागढ़) भी भय से काँप उठे। उदयगिरि काँपने लगा और देवगिरि डर गया। इसलिए इन सारे गढ़पतियों ने चुपचाप छिपकर बैठ जाने में ही कुशल समझी।

जितने भी गढ़ और गढ़पति थे, सब पत्ते की तरह थर-थर काँपने लगे और मन में सोचने लगे कि किस पर चढ़ाई बोलकर बादशाह की पताका सामने हुई है, अर्थात् बादशाह ने किस पर आक्रमण किया है।

(५३६)

चितउरगढ़ औ कुँभलनेरै। साजे दूनौ जैस सुमेरै ॥
दूतन्ह आइ कहा जहँ राजा। चढ़ा तुरुक आवै दर साजा ॥
सुनि राजा दौराई पाती। हिन्दू-नावँ जहाँ लगि जाती ॥
चितउर हिन्दुन कर अस्थाना। सत्रु तुरुक हठि कीन्ह पयाना ॥
आव समुंद्र रहै नहिं बाँधा। मैं होइ मेड़ भार सिर काँधा ॥
पुरवहु साथ, तुम्हारि बड़ाई। नाहिं त सत को पार छँड़ाई ? ॥
जौ लहि मेड़, रहे सुख-साखा। टूटे बारि जाइ नहिं राखा ॥
सती जौ जिउ महँ सत धरै, जरै न छाँड़ै साथ।
जहँ बीरा तहँ चून है, पान, सोपारी, काथ ॥१३॥

व्याख्या—चित्तौड़गढ़ और कुम्भलनेर—दोनों ही गढ़, सुमेरु के समान सजे हुए अर्थात् सुशोभित थे। दूतों ने, जहाँ रत्नसेन बैठा था, वहाँ आकर कहा कि तुर्क अर्थात् मुसलमान अलाउद्दीन सेना सजाकर चढ़ाई के लिए बढ़ा चला आ रहा है। राजा रत्नसेन ने यह सुन हिन्दू नामधारी जितनी भी जातियों के राजा थे, उनके पास चिट्ठी भिजवाई और लिखा कि—चित्तौड़ हिन्दुओं का प्रधान स्थान है। शत्रु तुर्कों ने हठपूर्वक उसके ऊपर आक्रमण किया है। वह समुद्र की तरह बढ़ता चला आ रहा है और रोकने से उसे रोका नहीं जा सकता। मैंने बाँध बनकर इस समुद्र को रोकने का भार अपने कन्धों पर लिया है; अर्थात् मैंने अलाउद्दीन को रोकने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए तुम लोग आकर मेरी इस प्रतिज्ञा को पूरी करने में मेरी सहायता करोगे तो तुम्हें संसार में यश प्राप्त होगा। और यदि तुम लोग नहीं आओगे तो भी मेरी इस प्रतिज्ञा को कौन छुड़ा सकता है; अर्थात् मैं अकेला ही युद्ध करूँगा। जब तक बाँध बँधा रहता है; अर्थात् प्रमुख राजा सही-सलामत रहता है, तब तक सुख और शान्ति रहती है। परन्तु बाँध के टूट जाने से फुलवारी की रक्षा कौन करेगा ? अर्थात् यदि मैं नष्ट हो गया, हार गया, तो अलाउद्दीन सारे हिन्दुओं को उसी प्रकार नष्ट कर डालेगा जिस प्रकार बाँध टूट जाने से जल का प्रवाह सम्पूर्ण बगीचे को नष्ट कर डालता है।

सती जब अपने हृदय में सत्य को स्थान देती है; अर्थात् पतिव्रता रहने की प्रतिज्ञा कर लेती है तो चिता में जलने पर भी अपने सत्य को नहीं छोड़ती, अर्थात् अपने पति का साथ नहीं छोड़ती, उसी के साथ स्वर्ग चली जाती है। जहाँ पान का बीड़ा होता है वहाँ चूना, पान, सुपाड़ी और कत्था भी रहता है। भाव यह है कि

जिस प्रकार चूना, कत्था, सुपाड़ी आदि के सहयोग से ही पान को पूर्णता प्राप्त होती है, उसी प्रकार तुम सब आकर मेरी सहायता करोगे तो मुझे पूर्ण विजय प्राप्त होगी।

(५३७)

फरत जो राय साह कै सेवा। तिन्ह कहँ आइ सुनाव परेवा।।
सब होइ एकमते जो सिधारे। बादसाह कहँ आइ जोहारे।।
है चितउर हिन्दुन्ह कै माता। गाढ़ परे तजि जाइ न नाता।।
रतनसेन तहँ जौहर साजा। हिन्दुन्ह माँझ आहि बड़ राजा।।
हिन्दुन्ह केर पतंग के लेखा। दौरि परहिं अगिनि जहँ देखा।।
कृपा करहु चित बाँधहु धोरा। नातरु हमहिं देहु हँसि बीरा।।
पुनि हम जाइ मरहिं ओहि ठाऊँ। मेटि न जाइ लाज सौं नाऊँ।।
दीन्ह साह हँसि बीरा, और तीन दिन बीच।
तिन्ह सीतल को राखै, जिनहिं अगिनि महँ मीचु ? ।।१४।।

व्याख्या—जो हिन्दू राजा बादशाह अलाउद्दीन की सेवा करते थे, अर्थात् उसके अधीन रहते थे, रत्नसेन के दूत उनके पास भी पहुँचे और उन्हें यह सन्देश सुनाया। यह सुनकर सारे हिन्दू राजा एक मत होकर चले और उन्होंने बादशाह के सामने पहुँच उसे प्रणाम किया और कहने लगे कि हे बादशाह ! चित्तौड़ हिन्दुओं के लिए माता के समान पवित्र और पूज्य है। जब उस पर सङ्कट पड़ा है तो हम लोग उससे अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ सकते। वहाँ राजा रत्नसेन ने जौहर करने की तैयारियाँ कर ली हैं। वह हिन्दुओं में सर्वश्रेष्ठ राजा माना जाता है। हिन्दुओं की जाति तो पतिंगों के समान होती है। हिन्दू जहाँ भी अग्नि अर्थात् संकट देखते हैं, वहीं उसी प्रकार अपने प्राणों की आहुति देने को दौड़ पड़ते हैं, जिस प्रकार पतिंगे दीपक की लौ की ओर झपटते हैं। इसलिए आप हमारे ऊपर कृपा करके, चित्त में धैर्य धारण करके चित्तौड़ पर आक्रमण करने का विचार त्याग दें। और यदि ऐसा न कर सकें तो हमें भी प्रसन्नतापूर्वक यहाँ से चले जाने की आज्ञा प्रदान करें। ऐसा हो जाने पर हम भी उसी स्थान अर्थात् चित्तौड़ में जाकर अपने प्राण दे देंगे, क्योंकि हमें अपने नाम की लाज है। हम उसे छोड़ नहीं सकते। भाव यह है कि यदि हम वहाँ नहीं जायेंगे तो हमारा नाम कलंकित हो जायेगा।

उन हिन्दू राजाओं की इन बातों को सुन बादशाह ने हँसकर उन्हें बीड़ा दिया अर्थात् जाने की आज्ञा दे दी और तीन दिन का समय भी दिया, अर्थात् यह प्रतिज्ञा की कि वह तीन दिन तक चित्तौड़ पर आक्रमण नहीं करेगा। कवि कहता है कि जिन्हें आग में ही जलकर मरना है, उन्हें कौन शान्त करके रख सकता है; अर्थात् जिनकी मौत आ गई है, उन्हें कौन बचा सकता है ?

(५३८)

रतनसेन चितउर महँ साजा । आइ बजाइ बैठ सब राजा ॥
तोवँर, बैस, पवाँर सो आए । औ गहलौत आइ सिर नाए ॥
पत्ती[1] औ पँचवान, बघेले । अगरपाट[2], चौहान, चँदेले ।
गहरवार, परिहार जो कुरे । औ कलहंस जो ठाकुर जुरे[3] ॥
आगे ठाढ़ बजावहिं दाढ़ी । पाछे धुजा मरन कै काढ़ी ॥
बाजहिं, सिंगी, संख औ तूरा । चंदन खेवरे, भरे सेंदूरा ॥
सजि संग्राम बाँध सब[4] साका । छाँड़ा जियन, मरन सब ताका ॥
गगन धरति जेइ टेका, तेहि का गरू पहार ।
जौ लहि जिउ काया महँ, परै सो अँगवै भार ॥१५॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन ने चित्तौड़ में युद्ध की पूरी तैयारी कर ली थी। सारे राजा युद्ध के बाजे बजवाते चित्तौड़ में आकर एकत्र हो गए। इन राजाओं में तोमर, वैस, पंवार (परमार) वंश के राजा आए और गहलोत वंशी राजाओं ने आकर रत्नसेन को प्रणाम किया। पत्ती, पंचवान, बघेले, अगरपाट, चौहान, चन्देले, गहरवार, परिहार (प्रतिहार) आदि विभिन्न क्षत्रिय कुलों के राजा थे तथा कलहंस वंश के सारे राजा आकर वहाँ इकट्ठे हो गए। भाव यह है कि क्षत्रियों के छत्तीस कुलों के सारे राजा चित्तौड़ आ पहुँचे। इन राजाओं के आगे ढाढ़ी जाति के बाजे बजाने वाले लोग खड़े बाजे बजा रहे थे और पीछे मरण-ध्वजा अर्थात् युद्ध की ध्वजायें फहरा रही थीं। भाव यह है कि सारे राजा केसरिया बाना पहने युद्ध में प्राणोत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत होकर आये थे। वहाँ सिंगी, शंख और तुरही आदि बाजे बज रहे थे। (ये बाजे युद्ध के समय बजाये जाते हैं) सारे राजा खौर और चन्दन के तिलक तथा सिंदूर का टीका लगाए हुए थे। इन सबने युद्ध के लिए सजकर साका अर्थात् अद्भुत पराक्रम करने का दृढ़ निश्चय कर रखा था और अपने जीवन का मोह त्याग सब मृत्यु का आलिंगन करने के लिए सन्नद्ध हो रहे थे।

जिसने आकाश और पृथ्वी का बोझ सम्हाला हो, उसके लिए भारी पर्वत का भार सम्हालना क्या कठिन है; अर्थात् जिसने अपने जीवन में सिंहलगढ़ का भयानक मार्ग पार कर पद्मावती का वरण किया था, उस रत्नसेन के लिए अलाउद्दीन का मुकाबला करना कोई कठिन कार्य नहीं था। जब तक प्राण शरीर में रहते हैं; अर्थात् जब तक व्यक्ति जीवित रहता है, तब तक उसे सारे भार, अर्थात् जिम्मेदारियों को उठाना पड़ता है।

पाठ-भेद—१. खत्री। २. अगरवार। ३. मिलन हंस ठकुराई जुरी=मल्हनंस (जाति-विशेष) की ठकुराई (ठाकुरों-क्षत्रियों की जाति) आ जुटी। ४. सत।

(५३६)

गढ़ तस सजा जौ चाहै कोई । बरिस बीस लगि खाँग न होई ।।
बाँके चाहि बाँक गढ़ कीन्हा । औ सब कोट चित्र कै लीन्हा ।।
खंड खंड चौखंड सँवारा । धरी विषम गोलन्ह के मारा ।।
ठावँहि ठावँ लीन्ह गढ़ बाँटी । रहा न बीचु जो सँचरै चाँटी ।।
बैठे धानुक कँगुरन कँगुरा । भूमि न आँटी अँगुरन अँगुरा ।।
औ बाँधे गढ़ गज मतवारे । फाटै भूमि होहि जौ ठारे[1] ।।
बिच बिच बुर्ज बने चहुँ फेरी । बाजहि तबल, ढोल औ भेरी ।।
भा गढ़ राज सुमेरु जस, सरग छुवै पै चाह ।
समुद न लेखे लावै, गंग सहसमुख काह ? ।।१६।।

व्याख्या—राजा रत्नसेन ने चित्तौड़ गढ़ को सारी सामग्रियों से इस प्रकार सज्जित कर लिया था कि प्रत्येक को उसकी इच्छित वस्तु उपलब्ध हो सकती थी और २० वर्ष तक किसी भी चीज की कमी नहीं पड़ सकती थी । गढ़ को विकट से भी विकट बना अभेद्य बना दिया गया और उसके परकोटे को विचित्र प्रकार से दृढ़ बनाया गया । गढ़ के एक-एक भाग में चौखंडे बुर्ज बनाये गए, जिन पर तोप के भयंकर गोलों की मालाएँ रख दी गईं । राजाओं ने गढ़ के एक-एक स्थान की भूमि को अपनी रक्षा में ले आपस में विभाजित कर लिया । वहाँ इतना भी स्थान अरक्षित नहीं बचा जिसमें चींटी भी चल सकती । भाव यह है कि गढ़ की चप्पे-चप्पे भूमि पर प्रहरी नियुक्त कर दिये गए । प्रत्येक कँगूरे पर धनुर्धर सन्नद्ध बैठे थे । वहाँ योद्धाओं की संख्या इतनी अधिक थी कि प्रत्येक हिस्से में एक-एक अंगुल भूमि तक नहीं आई । गढ़ के भीतर ऐसे मतवाले हाथियों को स्थान-स्थान पर बाँध दिया गया कि जिनके खड़े होने पर धरती उनके बोझ से फट जाती थी । गढ़ में चारों ओर बीच-बीच में बुर्ज बने हुए थे जिन पर नगाड़े, ढोल और भेरी नामक बाजे बज रहे थे ।

इस प्रकार सज्जित हो वह गढ़ सुमेरु के समान गगन-चुम्बी हो उठा । ऐसा यह गढ़ सहस्र धाराओं वाली गंगा की क्या परवाह करता जब वह अपने सामने समुद्र को कुछ भी नहीं समझता था । भाव यह है कि जिस प्रकार समुद्र हजारों धाराओं वाली गंगा को कुछ भी नहीं समझता और उसे उदरस्थ कर लेता है, उसी प्रकार चित्तौड़ का गढ़ बादशाह की सेना को कुछ भी नहीं समझ रहा था ।

पाठ-भेद—१. औ बाँधे गढ़ि गढ़ि मँतवारे । फाटै धरति होहि जिव धारे ।।—पुनः गढ़-गढ़ कर मतवाले (तोपों में प्रयुक्त बारूद का गोला) (बाँधे बनाए) गए, जो सब सजीव होते थे और उनसे धरती फट जाती थी ।

(५४०)

बादशाह हठि कीन्ह पयाना । इंद्र भँडार डोल भय माना ॥
नबे लाख असबार जो चढ़ा । जो देखा सो लोहे-मढ़ा ॥
बीस सहस घहरांहि निसाना । गलगंजहिं भेरी असमाना ॥
बैरख ढाल गगन गा छाई । चला कटक धरती न समाई ॥
सहस पाँति गज मत्त चलावा । खसत अकास, धँसत भुइँ आवा ॥
बिरिछि उचारि पेड़ि हौं लेहीं । मस्तक झारि डारि मुख देहीं ॥
चढ़हिं पहार हिये भय लागू । बनखँड खोह न देखहिं आगू ॥
कोइ काहू न सँभारै, होत आव तस चाँप ।
धरति आपु कहँ काँपै, सरग आपु कहँ काँप ॥१७॥

व्याख्या—इधर बादशाह अलाउद्दीन ने हठपूर्वक चित्तौड़ पर आक्रमण करने के लिए कूँच का हुक्म दे दिया । बादशाही सेना के प्रस्थान करते ही इन्द्रलोक में भय के कारण खलबली मच गई । शाही सेना के नब्बे लाख घुड़सवारों ने जब अपने-अपने घोड़ों पर सवारी की तो सबने देखा कि प्रत्येक घुड़सवार ऊपर से लेकर नीचे तक लोहे से मढ़ा हुआ था, अर्थात् जिरह-बख्तर से सुसज्जित था । बीस हजार धौंसों का भयंकर शोर हो रहा था और भेरियों की गरज आकाश से टकरा रही थी । झंडे और ढालों से आसमान ढक गया था। जब इतनी विशाल वह सेना चली तो धरती में समा नहीं पा रही थी । मदमस्त हाथियों की हजारों कतारें आगे बढ़ने लगीं, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो आकाश ऊपर से खिसक कर पृथ्वी के पास आ गया हो। भाव यह है कि वे हाथी इतने ऊँचे और विशालकाय थे कि आकाश और पृथ्वी का अन्तर ही नहीं दिखाई पड़ता था । वे हाथी वृक्षों को तने से पकड़ कर उखाड़ लेते और फिर उनसे अपने मस्तक की धूल झाड़ उन्हें अपने मुख में रख लेते थे । वे पहाड़ों के समान चढ़े चले आ रहे थे और उन्हें देखकर हृदय भय से काँपने लगता था । वे आगे बढ़ने की धुन में वन और खोह आदि बाधाओं की तनिक भी चिन्ता नहीं करते थे ।

उस सेना का ऐसा भारी दबाव बढ़ता चला आ रहा था कि सबको अपनी-अपनी पड़ी थी, कोई किसी की भी चिन्ता नहीं कर रहा था । धरती अपने को काँपती थी और आकाश अपने को काँपता था; अर्थात् भय के कारण धरती और आकाश काँप रहे थे ।

(५४१)

चलीं कमानैं जिन्ह मुख गोला । आवहिं चली, धरति सब डोला ॥
लागे चक्र बज्र के गढ़े । जमकहिं रथ सोने सब मढ़े ॥
तिन्ह पर विषम कमानैं धरीं । साँचे अष्टधातु कै ढरीं ॥

सौ सौं मन वै पीयहिं दारू। लागहिं जहाँ सो टूट पहारू ।।
माती रहहिं रथन्ह पर परी। सत्रुन्ह महँ ते होहिं उठि खरी ।।
जो लागै संसार न डोलहिं। होइ भुइँ कंप जीभ जौ खोलहिं ।।
सहस सहस हस्तिन्ह कै पाँती। खींचहिं रथ, डोलहिं नहिं माती ।।
नदी पार सब पाटहिं, जहाँ धरहिं वै पाव।
ऊँच खाल बन बीहड़, होत बराबर आव ।।१८।।

व्याख्या—बादशाही सेना के साथ तोपें भी चल पड़ीं, जिनके मुखों में गोले भरे हुए थे। उनके चलने से धरती डगमगाती रहती थी। उनके पहिए वज्र के समान कठोर फौलाद के बने हुए थे। सारे रथ सोने से मढ़े होने के कारण चमक रहे थे। ऐसे उन रथों पर भयंकर भारी तोपें रखी हुई थीं जो अष्ट धातुओं को मिलाकर ढाली गई थीं। उन तोपों में एक-एक बार में सौ-सौ मन बारूद भरी जाती थी। उनका गोला यदि पहाड़ से भी जा टकराता था तो पहाड़ भी उसकी मार से टूट जाता था। ऐसी वे तोपें मतवाली बनी रथों पर पड़ी रहती थीं और जब शत्रुओं के मध्य पहुँच जाती थीं तो उठकर खड़ी हो जाती थीं। भाव यह है कि साधारणतः वे तोपें बारूद रूपी शराब पीए मतवाले के समान चुपचाप रथों पर पड़ी रहती थीं परन्तु जैसे ही शत्रुओं के बीच में पहुँच जाती थीं तो जिस प्रकार मतवाला व्यक्ति भयंकर बन जाता है उसी प्रकार ये तोपें दुश्मनों पर कहर ढाने लगती थीं। वे इतनी भारी थीं कि यदि सारा संसार भी उन्हें खींचने के लिए जुट जाता तो वे तिल भर भी नहीं हिलतीं और यदि अपनी जीभ खोल दें, अर्थात् मुँह से गोले उगलने लगें तो धरती पर भूचाल-सा आ जाय। हाथियों की एक-एक हजार पंक्तियाँ उन्हें खींचती थीं परन्तु उनके रथ जरा भी आगे नहीं बढ़ पाते थे। वे ऐसी मस्त बनी रथों पर पड़ी हुई थीं।

जहाँ उन तोपों के पैर पड़ जाते थे, अर्थात् जिधर होकर वे निकल जाती थीं, वहाँ रास्ते में पड़ने वाले सारे नदी-नाले दब कर पट जाते थे, अर्थात् वहाँ की भूमि चौरस हो जाती थी। उनके चलने से ऊँचे टीले, नीचे गड्ढे, वन और बीहड़ आदि सब चौरस होते चले जाते थे।

(५४२)

कहौं सिंगार जैसि वै नारी। दारू पियहिं जैसि मतवारी ।।
उठै आगि जौ छाँड़हिं साँसा। धुआँ जौ लागै जाइ अकासा ।।
सेंदुर-आगि सीस उपराहीं। पहिया तरिवन चमकत जाहीं ।।
कुच गोला दुइ हिरदय लाए। चंचल धुजा रहहिं छिटकाए ।।
रसना लूक रहहि मुख खोले। लंका जरै जो उनके बोले ।।
अलक जँजीर बहुत गिउ बाँधे। खींचहिं हस्ती, टूटहिं काँधे ।।

बीर सिंगार दोउ एक ठाऊँ। सत्रुसाल गढ़भंजन नाऊँ॥
तिलक पलीता माथे, दसन बज्र के बान।
जेहि हेरहिं तेहिं मारहिं, चुरकुस करहिं निदान[1] ॥१६॥

व्याख्या—इस पद में जायसी ने अलाउद्दीन की तोपों की तुलना मतवाली नारियों से की है। इसलिए इस पद के दो प्रकार के अर्थ होते हैं—१—तोप पक्ष में, तथा २—नारी पक्ष में। यहाँ हम दोनों पक्षों का एक साथ अर्थ करेंगे—

जायसी कहते हैं कि मैं उन तोपों का वर्णन करता हूँ जो नारियों के समान शृंगार किए रहती हैं अर्थात् सजी-बजी रहती हैं। वे तोपें ऐसी प्रतीत होती हैं मानो उन्होंने बारूद रूपी शराब पी रखी हो। और शराब में मस्त नारियों के समान मतवाली हो बेहोश सी पड़ी हों। जब वे साँस छोड़ती हैं अर्थात् जब उनके मुख में से गोला छूटता है तो उसमें से उसी प्रकार अग्नि निकलने लगती है जिस प्रकार शराब के नशे में गाफिल नारियों के मुख में से कामाग्नि से उत्तप्त गर्म साँसें निकलती हैं। इन तोपों के मुख से निकला हुआ धुआँ उसी प्रकार उठकर आसमान तक छा जाता है जिस प्रकार कामाग्नि से पीड़ित मतवाली नारियों की काम-पिपासा सारे संसार पर छा जाती है। इन तोपों के सिरों पर पलीते की लाल लपट उसी प्रकार सदैव जलती रहती है जिस प्रकार नारियों की माँग में सदैव सिन्दूर की लालिमा छाई रहती है। इन तोपों के पहिए चलते समय उसी प्रकार चमकते रहते हैं, जिस प्रकार नारियों के कानों में पड़े ताटंक नामक चक्राकार आभूषण उनके चलते समय हिलते हुए चमकते रहते हैं। इन तोपों के मध्य भाग में गोले उसी प्रकार शोभा देते हैं, जिस प्रकार नारियों के हृदय पर उनके गोल स्तन शोभा देते हैं। (गोलों के सूराखों में लगी ऊपर उठी हुई बत्तियाँ नारियों के स्तनों की घुण्डियों के समान प्रतीत होती हैं।) तोपों पर लगी हुई पताकाएँ हवा में उसी प्रकार इधर-उधर लहराती रहती हैं, जिस प्रकार मतवाली नारियों के अस्त-व्यस्त वस्त्र हवा में लहराते रहते हैं। ये तोपें मुख खोले रहती हैं जिनमें अग्नि की लपटें वैसी ही शोभा देती हैं, जिस प्रकार मतवाली नारियों के खुले मुख में लाल-लाल लपलपाती जिह्वा दिखाई पड़ती है। इन तोपों के बोलने अर्थात् चलने पर लंका के समान भयंकर अग्निदाह उसी प्रकार होने लगता है, जिस प्रकार जब मतवाली स्त्रियाँ अपना मुख खोलती हैं अर्थात् गालियाँ देना प्रारम्भ करती हैं तो सारा संसार उनके भय से काँपने लगता है। तोपों के गले में लोहे की अनेक जंजीरें उसी प्रकार पड़ी रहती हैं जिस प्रकार मतवाली नारियों के कंठ के चारों ओर उनके उलझे हुए केश पड़े रहते हैं। ये तोपें इतनी भारी हैं कि जब हाथी उन्हें जंजीरों द्वारा खींचते हैं तो उसी प्रकार उनके कन्धे टूटने लगते हैं, जिस प्रकार मतवाली हस्तिनी नारी के केश खींचने में हाथी के समान मतवाले पुरुष भी असफल रहते हैं;

पाठ-भेद—१. तिलक पलीता तुपक तन दुहुँ दिसि बज्र के बान।
जहँ हेरहिं तहँ परै भगाना हँसहिं त केहि के मान॥

अर्थात् ऐसे पुरुष प्रयत्न करने पर भी इन नारियों पर काबू नहीं पा पाते। ये तोपें वीर और शृंगार रस का मिश्रण-सा प्रतीत होती हैं; अर्थात् देखने में सुन्दर और क्रुद्ध हो उठने पर रौद्र रूप धारण कर लेती हैं। इसी प्रकार मतवाली नारियाँ भी देखने में सुन्दर होती हैं परन्तु मतवाली होने के कारण अत्यन्त भयंकर हो उठती हैं। शत्रुशाल और गढ़ भंजन जैसे नामों वाली ये तोपें अपने नामों को सार्थक करने वाली हैं अर्थात् अपने शत्रुओं को दुःख देती हैं और उनके किलों को गोलों की मार से तोड़ डालती हैं। इसी प्रकार मतवाली नारियाँ अपने शत्रुओं को पीड़ा पहुँचाने में तथा गढ़ों का भंजन कराने में दक्ष होती हैं; अर्थात् इनके कारण न मालूम कितने युद्ध होते हैं और न जाने कितने गढ़ टूटते हैं।

इन तोपों के माथे पर पलीते वैसे ही शोभा देते हैं, जिस प्रकार नारियों के ललाट पर तिलक। तोपों के गोले वज्र के समान, उसी प्रकार कठोर और घातक होते हैं जिस प्रकार मतवाली नारियों के वज्र के समान मजबूत दाँत होते हैं जिनसे वे पुरुषों को क्षत-विक्षत कर डालती हैं। ये तोपें जिधर देखती हैं, उधर ही गोलों की मार करती हैं; और उसी प्रकार पूरी तरह से नष्ट-भ्रष्ट कर डालती हैं, जिस प्रकार मतवाली नारियाँ जिस पुरुष की ओर देख लेती हैं, उसका सत्यानाश कर डालती हैं।

टिप्पणी—अलंकार—श्लेष।

(५४३)

जेहि-जेहि पन्थ चली वे आवहिं। तहँ-तहँ जरै, आगि जनु लावहिं॥
जरहिं जो परवत लागि अकासा। बनखँड धिकहिं परास के पासा॥
गैंड गयंद जरे भए कारे। औ बन-मिरिग रोझ झवँकारे॥
कोइल, नाग, काग औ भँवरा। और जो जरे तिन्हहि को सँवरा॥
जरा समुद्र पानी भा खारा। जमुना स्याम भई तेहि झारा॥
धुआँ जाम, अँतरिख भए मेघा। गगन साम भा धुआँ जो ठेघा॥
सुरुज जरा चाँद औ राहू। धरती जरी लंक भा दाहू॥
धरती सरग एक भा, तबहु न आगि बुझाइ।
उठे वज्र जरि डुंगवै, धूम रहा जग छाइ[1] ॥२०॥

व्याख्या—इस पद में जायसी अलाउद्दीन की भयंकर तोपों का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं—

अलाउद्दीन की वे भयंकर तोपें जिस-जिस मार्ग पर होकर चलती हैं वह-वह मार्ग इस प्रकार तप्त हो उठते हैं मानो वे उनमें आग लगाती हुई चली जा रही हों। (यहाँ भाव तोपों के भारीपन के कारण मार्ग में उठी हुई चिनगारियों से है।) तोपें

पाठ-भेद—१. अहुठी उज्र दंगवै मारा चहैं जुझाइ=ऐसा लगता था मानो साढ़े तीन बज्र दंगवै को युद्ध में लिप्त कर मारना चाहते हों।

जब चलती हैं तो उनके पहियों की रगड़ से धरती तप्त हो उठती है और चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। गगनचुम्बी पर्वत जलने लगते हैं। वनों में पलाश के लाल फूल ऐसे प्रतीत होते हैं मानो उन तोपों के चलने से वन का वह भाग आग लग जाने से लाल हो धधक रहा हो। उन तोपों की ज्वाला में जलकर गेंड़े और हाथी काले हो गए और वन में रहने वाले मृग, रोज आदि पशु साँवले पड़ गए। कोयल, साँप, कौए और भौंरे आदि उसी ज्वाला में जल कर काले हो गए। इनके अतिरिक्त अन्य कितने प्राणी जले, उनकी गणना कौन कर सकता है ? समुद्र का पानी उसी ज्वाला में जल कर खारा हो गया और यमुना भी उसी के दाह के कारण काली पड़ गई। उस ज्वाला के कारण जो धुआँ उठा वही जम कर आकाश के काले मेघ बन गया। और जब वह धुआँ ऊपर उठ कर आसमान में ठहर गया तो उसी कारण आकाश का रंग काला हो गया। उसी ज्वाला में जल जाने के कारण सूर्य और चन्द्रमा दिन-रात जलते हुए व्याकुल हो घूमते रहते हैं और राहु काला पड़ गया है। उस ज्वाला में सारी धरती जलती है और लंका-दहन भी उसी के कारण हुआ था।

वह ज्वाला धरती से लेकर आसमान तक छा गई और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो धरती और आसमान मिलकर एक हो गए हों, परन्तु फिर भी वह ज्वाला नहीं बुझती। जिस प्रकार इन्द्र के वज्र की अग्नि से पहाड़ जल उठे, उसी प्रकार इन तोपों से निकली ज्वाला से पर्वत जल उठे और उनका धुआँ सारे संसार में छा गया।

टिप्पणी— अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

(५४४)

आवै डोलत सरग पतारा। काँपै धरति, न अंगवै भारा॥
टूटहिं परबत मेरु पहारा। होइ चकचून उड़हिं तेहि झारा॥
सत-खँड धरती भइ षटखंडा। ऊपर अष्ट भए बरम्हंडा॥
इंद्र आइ तिन्ह खँडन्ह छावा। चढ़ि सब कटक घोड़ दौरावा॥
जेहि पथ चल एरावत हाथी। अबहुँ सो डगर गगन महँ आथी॥
औ जहँ जामि रही वह धूरी। अबहुँ बसै सो हरिचँद-पूरी॥
गगन छपान खेह तस छाई। सुरुज छपा, रैन होइ आई॥
गएउ सिकन्दर कजरिबन, तस होइगा अँधियार।
हाथ पसारे ना सूझै, बरै लाग मसियार॥२१॥

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन की सेना की तोपों के चलने से स्वर्ग और पाताल हिल रहे थे। धरती काँपने लगी थी और उनके भार को सहन नहीं कर पा रही थी। सुमेरु पर्वत तथा अन्य पहाड़ टूट-टूट कर गिर रहे थे। उनकी ज्वाला से जल कर पर्वत चकनाचूर हो धूल के रूप में ऊपर आकाश की ओर उठ जाते थे। धरती पर से इतनी धूल ऊपर आसमान की ओर उड़ी कि सात खंडों वाली धरती

छः खण्डों वाली रह गयी और ऊपर आसमान में सात के स्थान पर आठ खण्ड हो गए; अर्थात् धरती का ऊपरी सातवाँ खण्ड धूल बन उड़ कर आसमान में छा गया जिससे धरती सात के स्थान पर छः खण्ड की रह गयी और धरती का एक खण्ड ऊपर पहुँच जाने से आसमान सात के स्थान पर आठ खण्डों का हो गया। इन्द्र ने आकर उसी आठवें खण्ड में अपनी छावनी डाली और उसी खण्ड पर अपनी सारी सेना तथा घोड़ों को दौड़ाने लगा। जिस मार्ग पर होकर इन्द्र का एरावत हाथी चलता था, वह मार्ग अभी तक आसमान में बना हुआ है। (यहाँ जायसी का अभिप्राय आकाश गंगा से प्रतीत होता है।) आसमान में जहाँ वह धूल जम कर घनीभूत हो गई, वहाँ अब भी हरिश्चन्द्र-पुरी बसी हुई है। वह धूल आसमान में ऐसी छा गई कि उसमें सारा गगन छिप गया और उसमें सूरज के छिप जाने के कारण रात हो गई। भाव यह है कि उन तोपों के चलने से इतनी धूल उड़ी कि उसमें सूरज छिप गया और रात का सा अन्धकार छा गया।

चारों ओर वैसा ही घनघोर अन्धकार छा गया जैसा कि सिकन्दर के कदली-वन पहुँचने पर छा गया था। अन्धकार इतना घना था कि अपना फैला हुआ हाथ तक नहीं दिखाई पड़ता था, इसलिए चारों ओर मशालें जल उठीं।

टिप्पणी—(१)—अलंकार—अत्युक्ति, उत्प्रेक्षा।

(२) मुसलमानी सिद्धान्तों के अनुसार पृथ्वी और आकाश को सात-सात खंडों वाला माना गया है।

(३) आकाश में कभी-कभी दृष्टि-भ्रम के कारण हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि की-सी आकृतियाँ चलती हुई दिखाई पड़ती हैं। इसे ही इन्द्र की छावनी कहा जाता हैं। सम्भव है जायसी के समय में ऐसा विश्वास प्रचलित हो रहा हो।

(५४५)

दिनहिं राति अस परी अचाका। भा रवि अस्त, चंद्र रथ हाँका॥
मंदिर जगत दीप परगसे। पंथी चलत बसेरैं बसे॥
दिन के पंखि चरत उड़ि भागे। निसिके निसरि चरैं सब लागे॥
कँवल सँकेता, कुमुदिनि फूली। चकवा बिछुरा, चकई भूली[1]॥
चला कटक-दल ऐस अपूरी। अगिलहि पानी, पछिलहि धूरी॥
महि उजरी, सायर सब सूखा। वनखँड रहेउ न एको रूखा॥
गिरि पहार सब मिलि गे माटी। हस्ति हेराहिं तहाँ होइ चाँटी॥
जिन्ह घर खेह हेराने, हेरत फिरत सो खेह।
अब तौ दिस्टि तब आवै, अंजन नैन उरेह[2]॥२२॥

पाठ-भेद—१. चकई बिछुरी अचक मन भूली=चकवी चकवे से अलग होने के कारण चकित होकर मन में भूल गई।

२. उपजहिं नए उरेह=जब नए निर्माण के फलस्वरूप उत्पन्न होते।

शब्दार्थ—अचाका=अचानक। संकेता=संकट में पड़ गया, अर्थात् संकुचित हो गया। अपूरी=पूर्ण। उरेह=लगाएँ।

व्याख्या—अलाउद्दीन की विशाल सेना के चलने से उठी धूल के कारण दिन में अचानक रात का-सा अन्धकार छा गया। यह देख दिन की समाप्ति समझ सूर्य अस्त हो गया और चन्द्रमा ने अपना रथ हाँक दिया, अर्थात् चन्द्रमा आकाश में उदय हो गया। संसार में घर-घर दीपक जल उठे और रास्ता चलते बटोही बसेरा लेने लगे। दिन में निकलने वाले पक्षी चुगना छोड़ अपने घोंसलों की ओर भाग लिए और रात्रिचर पशु-पक्षी अपने-अपने स्थानों से निकल इधर-उधर चरने लगे। सूर्यास्त हुआ देख कमल संकुचित हो गया (मुँद गया) और कुमुदिनी खिल गई (कुमुदिनी रात में ही खिलती है)। चकवा चकवी से बिछुड़ गया और चकवी चकवे से बिछुड़ जाने के कारण खोई सी इधर-उधर भटकने लगी। वह सैन्य-दल इस प्रकार बिखर कर आगे बढ़ा कि अगली पंक्ति वाले सैनिकों को तो पीने को पानी मिल जाता था, परन्तु जब सेना की अन्तिम पंक्ति वाले सैनिक उस पानी वाले स्थान तक पहुँचते थे तो उन्हें वहाँ केवल धूल ही मिलती थी। भाव यह है कि सेना का अग्रिम भाग सारा पानी पी जाता था और कुओं तथा बावड़ियों में केवल धूल शेष रह जाती थी। (यहाँ सेना की विशालता से अभिप्राय है।) उस सेना के चलने से सारी पृथ्वी उजड़ गई और सारा समुद्र सूख गया तथा वनों में एक भी वृक्ष नहीं बचा। पहाड़ तथा पहाड़ियाँ सब टूट-टूट कर मिट्टी में मिल गए। उस विशाल सेना में हाथी भी चींटियों के समान खो जाते थे।

जिनके घर उस उठी हुई धूल में खो गए; अर्थात् उस धूल में भटक कर जो पथभ्रष्ट हो गए, अपने घर का रास्ता भूल गए, वे उसी धूल में भटकते हुए अपने घरों को ढूँढ़ते फिरे। अब तो उन्हें अपने घर तभी दिखाई पड़ सकते, जब वे धूल के कारण अन्धी बनी आँखों को साफ कर उनमें काजल लगाएँ अर्थात् इस सेना के निकल जाने के उपरान्त स्वस्थ हो खोजें। इन पंक्तियों का कुछ आलोचकों ने अध्यात्मपरक अर्थ भी लिया है जो इस प्रकार है—"जिनके घर धूल में लुप्त हो गए; अर्थात् संसार के माया-मोह में जिन्हें परलोक नहीं दिखाई पड़ता, वे सब उसी माया-मोह में व्यस्त हैं। उन्हें परलोक तभी दिखाई पड़ सकता है, जब वे अपनी आँखों में ज्ञान रूपी अंजन लगा लें।"—(डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम')

टिप्पणी—अलंकार—भ्रान्तिमान, अत्युक्ति।

(५४६)

एहि बिधि होत पयान सो आवा। आइ साह चितउर नियरावा॥
राजा राव देख सब चढ़ा। आव कटक सब लोहे-मढ़ा॥
चहुँ दिसि दिस्टि परा गजजूहा। साम-घटा मेघन्ह अस रूहा॥

अध ऊरध किछु सूझ न आना। सरगलोक[1] घुम्मरहिं निशाना ॥
चढ़ि धौराहर देखहि रानी। धनि तुइँ अस जाकर सुलतानी ॥
की धनि रतनसेन तुइं राजा। जा कहँ तुरुक कटक अस साजा ॥
बैरख ढाल केरि परछाहीं। रैनि होति आवै दिन माहीं ॥
अंध-कूप भा आवै, उड़त आव तस छार।
ताल तलावा पोखर, धूरि भरी जेवनार ॥२३॥

व्याख्या—इस प्रकार कूच करता हुआ बादशाह अलाउद्दीन सेना सहित चित्तौड़ के पास जा पहुँचा। राजा रत्नसेन के सारे राजा और सामन्त सरदार गढ़ के ऊपर चढ़कर देखने लगे कि अलाउद्दीन की सारी सेना लोहे, अर्थात् लोहे के जिरह-वस्तरों से मढ़ी चली आ रही है। चारों ओर हाथियों के समूह दिखाई दे रहे थे जो मेघों की काली घटा के समान उमड़ते आ रहे थे। ऊपर-नीचे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था। नगाड़ों का शोर स्वर्गलोक अर्थात् आसमान तक घहरा रहा था। रानियाँ धवल गृह (महल) के ऊपर चढ़ बादशाही सेना को देख-देख कर कहने लगीं कि हे सुल्तान ! तू धन्य है जिसकी बादशाहत ऐसी है; अथवा हे राजा रत्नसेन ! तू धन्य है, जिस पर आक्रमण करने के लिए तुर्कों ने ऐसी सेना सजाई है। ऊपर तनी पताकाओं (झण्डों) और ढालों की परछाईं से दिन में ही रात-सी होती चली आ रही है।

चारों ओर इतनी धूल उड़ रही थी कि घटाटोप अन्धकार छाता चला आ रहा था। तालों, तलैयों, तथा खाने-पीने की सामग्री (ज्यौनार की सामग्री) में धूल-ही-धूल भर रही थी।

(५४७)

राजै कहा करहु जो करना। भएउ असूझ, सूझ अब मरना ॥
जहँ लगि राज साज सब होऊ। ततखन भएउ सँजोउ सँजोऊ ॥
बाजे तबल अकूत जुझाऊ। चढ़े कोपि सब राजा राऊ ॥
करहिं तुखार पवन सौं रीसा। कंध ऊँच असवार न दीसा ॥
का बरनौं अस ऊँच तुखारा। दुइ पैरी पहुँचै असवारा ॥
बांधे मोरछाँह सिर सारहिं। भाँजहिं पूँछ चँवर जनु ढारहिं ॥
सजे सनाहा, पहुँची, टोपा। लोहसार पहिरे सब ओपा ॥
तैसे चँवर बनाए, औ घाले गलझंप।
बँधे सेत गजगाह तहँ, जो देखै सो कंप ॥२४॥

व्याख्या—अलाउद्दीन की उस विशाल सेना को देख राजा रत्नसेन अपने साथियों से कहने लगा कि 'जो करना हो तुरन्त करो। अब तो मुझे और कुछ नहीं

पाठ-भेद—१. खरग लौक=खड्ग (तलवारें) चमकती थीं।

सूझता, केवल मौत ही दिखाई पड़ती है। अतः मेरे राज्य में कितनी भी युद्ध की सामग्री हो, सब इकट्ठी कर लो।' राजा की यह आज्ञा सुन उसी क्षण सारी तैयारियाँ होनी प्रारम्भ हो गईं। अगणित युद्ध के नगाड़े बज उठे। सारे राजा और सामन्त-सरदार क्रोध में भर युद्ध के लिए घोड़ों पर सवार हो गए। तुषार देश के घोड़े चाल में पवन की बराबरी करने लगे। उनके कन्धे इतने ऊँचे थे कि उन पर बैठे हुए सवार दिखाई नहीं पड़ते थे; अर्थात् कन्धों की आड़ में छिप-से जाते थे। वे तुषारी घोड़े ऐसे ऊँचे थे कि मैं उनका क्या वर्णन करूँ! सवारों को उन पर सवार होने के लिए सीढ़ी के दो डंडे चढ़ कर सवार होना पड़ता था। वे अपने मस्तक पर मोरछल बाँधे इधर-उधर सिर हिला रहे थे और पूँछों को इस प्रकार घुमा रहे थे मानो, चँवर डुला रहे हों। सारे योद्धा लोहे के जिरह-बख्तर, हाथ के दस्ताने और टोप पहने हुए थे। यह सारा सामान फौलाद का बना हुआ था और झिलमिला रहा था।

उनके मस्तक पर चँवर सजाए गए थे और पीठ पर लोहे की झूलें पड़ी थीं। उनकी गर्दन पर गजगाह नामक सफेद झालर पड़ी थी। जो उन्हें देखता था, वही काँप उठता था।

(५४८)

राज-तुरंगम बरनौं काहा ?। आने छोरि इंद्ररथ-बाहा॥
ऐस तुरंगम परहिं न दीठी। धनि असवार रहहिं तिन्ह पीठी !॥
जाति बालका समुद थहाए। सेत पूँछ जनु चँवर बनाए[1]॥
बरन बरन पाखर अति लोने। जानहु चित्र सँवारे सोने॥
मानिक जड़े सीस औ काँधे। चँवर लाग चौरासी बाँधे॥
लागे रतन पदारथ हीरा। बाहन दीन्ह, दीन्ह तिन्ह बीरा॥
चढ़हिं कुँवर मन करहिं उछाहू। आगे धाल गनहिं नहिं काहू॥
सेंदूर सीस चढ़ाए, चंदन खेवरे देह।
सो तन कहा लुकाइय, अँत होइ जो खेह॥२५॥

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि मैं राजा रत्नसेन के घोड़ों का क्या वर्णन करूँ! वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानो इन्द्र के रथ के घोड़े खोलकर वहाँ ले आए गए हों। ऐसे घोड़े संसार में अन्यत्र कहीं भी नहीं दिखाई पढ़ते थे। वे सवार धन्य हैं जो इनकी पीठ पर सवारी करते हैं। ये समुद्र से उत्पन्न उच्चैश्रवा जाति के घोड़े थे जो समुद्र की भी थाह ले आते थे। उनकी सफेद पूँछें ऐसी सुन्दर थीं मानो चँवर की बनी हुई हों। भाव यह है कि उनकी पूँछें चँवर के समान सफेद, घनी और भारी थीं।

पाठ-भेद—१. जाति बालका समंद न भाए। माँथे पूँछि गँगन सिर लाए॥= उनके सामने बालका जाति के समंद (घोड़े) नहीं भाते थे। वे अपनी पूँछ मस्तक पर और मस्तक आकाश से लगाए हुए थे।

उनके शरीरो पर भिन्न-भिन्न वर्णों की अत्यन्त सुन्दर झूलें पड़ी हुई थीं। वे ऐसी सुन्दर लगती थीं मानो उन पर सोने के पानी से चित्रकारी की गई हो उनके सिर और कन्धों पर पड़ी झूलों में माणिक्य जड़े थे और मस्तक पर चँवर लगे थे तथा गले में चौरासी नामक घुँघुरूँओं के तोड़े पड़े थे। उनमें अनेक प्रका र के रत्न, माणिक्य, हीरे आदि जड़े थे। ऐसे वे घोड़े जिन लोगों को सवारी के लिए दिए गए, उन्हें साथ ही लड़ाई के बीड़े भी प्रदान किए गए। राजकुमार उन पर सवार हो उत्साह से भर उठते थे और उन्हें आगे बढ़ाते हुए अपने सामने किसी को भी नहीं गिनते थे।

इन योद्धाओं के मस्तक पर सिन्दूर का टीका तथा सारे शरीर में चन्दन का खौर लगा हुआ था। कवि कहता है कि जो शरीर अन्त में मिट्टी में मिल जाने वाला है उसे छिपा कर क्यों रखा जाय; अर्थात् जब एक दिन मरना है तो फिर युद्ध से मुख मोड़ कायर क्यों बना जाय ?

(५४९)

गज मैमंत बिखरे[1] रजबारा। दीसहिं जनहुँ मेघ अति कारा[2] ॥
सेत गयंद, पीत और राते। हरे साम घूमहिं मद माते ॥
चमकहिं दरपन लोहे सारी। जनु परबत पर परी अँबारी ॥
सिरी मेलि पहिराई सूँड़ै। देखत कटक पाँव तर रूदैं ॥
सोना मेलि कै दंत सँवारे। गिरिवर टरहिं सो उन्ह के टारे ॥
परबत उलटि भूमि महँ मारहिं। परै जौ भीर पत्र अस झारहिं ॥
अस गयंद साजे सिंघली। मोटी कुरुम-पीठि कलमली ॥
ऊपर कनक-मंजूसा, लाग चँवर और ढार।
भलपति बैठे भाल लेइ, और बैठे धनुकार ॥२६॥

व्याख्या—राजद्वार पर मतवाले हाथी इधर-उधर बिखरे खड़े थे। वे ऐसे दिखाई पड़ते थे मानो सघन काले मेघ हों। वहाँ सफेद, पीले, लाल, हरे, साँवले आदि अनेक रंगों के हाथी मदमत्त बने खड़े झूम रहे थे। उन पर पड़ी लोहे की बनीं झूलें दर्पण के समान चमक रही थीं। वे हाथी इतने ऊँचे थे कि उन पर रखे हौदे ऐसे प्रतीत होते थे मानो पर्वत के ऊपर रख दिए गए हों। सिरी नामक सामने की झूल को मस्तक पर डाल उसका निचला भाग सूँड़ों में पहना दिया गया था। ऐसे वे विशालकाय हाथी सेना को सामने देखते ही अपने पैरों के नीचे रौंद डालते थे। सोना मढ़ कर उनके दाँत सजाए गए थे। उनके वे दाँत इतने मजबूत थे कि उनके धक्के से पर्वत तक अपने स्थान से खिसक जाते थे। वे पर्वतों को उलट कर धरती पर दे मारते थे और उनके सामने जो भीड़ पड़ जाती थी, उसे वे पत्तों की तरह झाड़ कर एक तरफ कर देते थे, अर्थात् जिस प्रकार झाड़ू से पत्तों को झाड़ कर एक तरफ कर दिया

पाठ-भेद—१. पखरे=पाखरे हुए अर्थात् कवच से सज्जित। २. अकारा=आकार वाले।

जाता है, उसी प्रकार वे हाथी अपनी सूँड़ों द्वारा सामने पड़ने वाली भीड़ का सफाया कर डालते थे। ऐसे सिंहलद्वीप के हाथी सजाये गए, जिनके चलने से कच्छप की मोटी पीठ भी विचलित हो उठती थी।

इन हाथियों के ऊपर सोने के हौदे लगे थे, जिनमें चँवर और ढालें लगी हुई थीं। इन हौदों में भाले चलाने वाले भाले लिए तथा धनुष चलाने वाले धनुष-बाण लिए बैठे हुए थे।

(५५०)

असु-दल गज-दल दूनौ साजे। औ घन तबल जुझाऊ बाजे॥
माथे मुकुट, छत्र सिर साजा। चढ़ा बजाइ इंद्र अस राजा॥
आगे रथ सेना सब ठाढ़ी। पाछे धुजा मरन कै काढ़ी॥
चढ़ा बजाइ चढ़ा जस इंदू। देवलोक गोहने भए हिन्दू॥
जानहु चाँद नखत लेइ चढ़ा। सूर कै कटक रैन-मसि मढ़ा॥
जौं लगि सूर जाइ देखरावा। निकसि चाँद घर बाहर आवा॥
गगन नखत जस गने न जाहीं। निकसि आए तस धरती माहीं॥
देखि अनी राजा कै, जग होइ गएउ असूझ।
दहुँ कस होवै चाहै, चाँद सूर के जूझ॥२७॥

व्याख्या—इस प्रकार राजा रत्नसेन की अश्वारोही तथा गजसेना सज कर तैयार हो गई और युद्ध के घनघोर धौंसे बजने लगे। राजा रत्नसेन के मस्तक पर राजमुकुट और सिर के ऊपर राज-छत्र सुशोभित हो रहा था। इस प्रकार राजा रत्न-सेन इन्द्र के समान नगाड़े बजाता हुआ घोड़े पर सवार हो गया। सेना की अग्रिम पंक्ति में रथ-सेना खड़ी हो गई। रथों पर पीछे मरण-ध्वजा अर्थात् युद्ध में प्राणोत्सर्ग कर देने के दृढ़ निश्चय वाली ध्वजायें फहरा रही थीं। राजा रत्नसेन ने इन्द्र के समान गाजे-बाजे के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान किया और उसके साथ सारे हिन्दू उसी प्रकार चल पड़े, जिस प्रकार देवलोक में इन्द्र के साथ सारे देवता चल पड़ते हैं। उस दृश्य को देख ऐसा प्रतीत हुआ—मानो चन्द्रमा अपने साथ सारे नक्षत्रों को ले, आकाश में उदय हो गया हो और सूर्य (अलाउद्दीन) की सेना को रात्रि की कालिमा ने ढक लिया हो। जब तक अलाउद्दीन रूपी सूर्य चित्तौड़ गढ़ में दिखाई पड़े, अर्थात् जब तक अलाउद्दीन गढ़ के भीतर प्रवेश करे, चन्द्रमा रूपी रत्नसेन उससे पहले ही घर से अर्थात् गढ़ से बाहर निकल आया। जैसे आकाश में नक्षत्रों की गणना नहीं की जा सकती, वैसे ही धरती पर रत्नसेन के इतने सैनिक गढ़ से बाहर निकल आए कि उनकी गणना नहीं हो सकती थी।

राजा रत्नसेन की सेना को देखते ही संसार में अन्धकार छा गया। कवि

कहता है कि जब अभी यह हाल है तो जब चन्द्र (रत्नसेन) और सूर्य (अलाउद्दीन) का युद्ध होगा तब न जाने क्या हाल होगा।

टिप्पणी—(१) मरण-ध्वजा—उस ध्वजा को कहते थे, जो सेना के पीछे इसलिए गाढ़ी जाती थी कि कोई भी सैनिक युद्ध-भूमि में उससे पीछे कदम न हटाए, भले ही अपने प्राण दे दे। इसी कारण इसे 'अचल', 'अटल' तथा 'मरण-ध्वजा' कहा जाता है। डा० गुप्त ने 'मरन' के स्थान पर 'अचल' पाठ माना है।

(२) इस पद में जायसी ने रत्नसेन को चन्द्रमा तथा अलाउद्दीन को सूर्य कहा है, जबकि वह इससे पहले पद्मावती को चन्द्रमा तथा रत्नसेन को सूर्य कह आए हैं। वहाँ चन्द्र और सूर्य परस्पर प्रेमी अर्थात् अनुकूल हैं और यहाँ एक-दूसरे के शत्रु अर्थात् प्रतिकूल हैं। इस आधार पर चन्द्र और सूर्य को कथा की दृष्टि से निश्चित प्रतीक नहीं माना जा सकता।

४३

राजा-बादशाह-युद्ध-खंड

(५५१)

इहाँ राज अस सेन बनाई। उहाँ साह कै भई अवाई ।।
अगिले दौरे[1] आगे आए। पहिले पाछ कोस दस छाए ।।
साह आइ चितउर गढ़[2] बाजा। हस्ती सहस बीस सँग साजा ।।
ओनइ आए दूनौ दल साजे। हिन्दू तुरक दुवौ रन गाजे ।।
दुवौ समुद दधि उदधि अपारा। दूनौ मेरु खिखिंद पहारा ।।
कोपि जुझार दुवौ दिसि मेले। औ हस्ती हस्ती सहुँ पेले ।।
आँकुस चमकि बीजु अस बाजहिं। गरजहिं हस्ति मेघ जनु गाजहिं ।।
धरती सरग एक भा[3], जूहहि ऊपर जूह।
कोई टरै न टारे, दूनौ वज्र-समूह ।।१।।

व्याख्या—इधर राजा रत्नसेन ने इस प्रकार अपनी सेना को सजाया और उधर बादशाह अलाउद्दीन भी आ पहुँचा। उसकी सेना की अग्रिम पंक्ति दौड़ कर पहले शत्रु के सम्मुख जा डटी। उस अग्रिम पंक्ति के पीछे वाली सेना पीछे की ओर दस कोस तक छाई हुई थी। अलाउद्दीन चित्तौड़ में आ पहुँचा। उसके साथ बीस हजार हाथियों की सजी-सजायी सेना थी। दोनों सेनायें सुसज्जित हो एक-दूसरे की ओर उमड़ती हुई आगे बढ़ने लगीं। हिन्दू और तुर्क—दोनों ही युद्ध-क्षेत्र में गरजने लगे। दोनों सेनायें दधि-समुद्र और उदधि-समुद्र के समान अपार तथा सुमेरु और किष्किन्धा पर्वतों के समान विशाल और भयंकर थीं। दोनों पक्षों के योद्धा क्रोध में भर दोनों दिशाओं में झपटने लगे। हाथियों को शत्रु के हाथियों के सामने जोर से पेल दिया गया। महावतों के अंकुश बिजली के समान चमक कर हाथियों पर चोट करते थे और हाथी मेघों के समान भयंकर रूप से गरज रहे थे।

दोनों दलों के आपस में मिल जाने से ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे धरती और आकाश मिलकर एक हो गए हों। दल के ऊपर दल चढ़े चले आ रहे थे। कोई भी दल हटाने से नहीं हटता था, क्योंकि दोनों ही वज्र के समान भयंकर थे।

पाठ-भेद—१. धौरीं=पंक्ति। २. मंडल गढ़। ३. धरती सरग दुऔ दर=धरती से आकाश तक (अथवा धरती और आकाश की भाँति) दोनों दल थे।

(५५२)

हस्ती सहुँ हस्ती हठि गार्जाहि । जनु परबत परबत सौं बार्जाहि ॥
गरू गयंद न टारे टरहीं । टूटहि दाँत, माथ गिरि परहीं ॥
परबत आइ जो परहि तराहीं । दर महँ चाँपि खेह मिलि जाहीं ॥
कोइ हस्ती असवारहि लेहीं । सूँड़ समेटि पायँ तर देहीं ॥
कोइ असवार सिंघ होइ मारहि । हनि कै मस्तक सूँड़ उपारहि ॥
गरब गयंदन्ह गगन पसीजा । रुहिर चुवै धरती सब भीजा ॥
कोइ मैमन्त सँवारहि नाहीं । तब जानहि जब गुद सिर जाहीं[1] ॥
गगन रुहिर जस बरसै, धरती बहै मिलाइ ।
सिर धर टूटि बिलाहि तस, पानी पंक बिलाइ ॥२॥

व्याख्या—इस पद में जायसी हाथियों के युद्ध का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—हाथी से हाथी इस प्रकार भिड़ रहे थे, मानो पर्वत परस्पर टकरा रहे हों। वे विशालकाय गजेन्द्र हटाने से नहीं हटते थे। उनके दांत टूट जाते थे और मस्तक पृथ्वी पर कट कर गिर रहे थे। हाथियों का वह दल इतना विशाल और भयंकर था कि यदि पहाड़ भी उसके नीचे आ जाता तो पिस कर धूल में मिल जाता। कोई हाथी किसी घुड़सवार को पकड़ लेता और सूँड़ से समेट अपने पैरों के नीचे डाल कुचल देता। परन्तु कोई घुड़सवार सिंह के समान किसी हाथी पर आक्रमण करता और उसके मस्तक पर चोट कर उसकी सूँड़ को उखाड़ लेता। जिन हाथियों के मदजल से आकाश पसीजने लगता था, भीग जाता था, अब उन्हीं के शरीरों से बहते हुए रक्त से सारी धरती भीग रही थी। कोई मतवाला हाथी किसी भी प्रकार काबू में नहीं आता था। उसे तभी होश आता था, जब भाले से उसका मस्तक छिद जाता था।

ऊपर से अर्थात् हाथियों के शरीर से रक्त वर्षा की झड़ी की तरह नीचे बरस रहा था और उसमें मिलकर धरती बही जाती थी। रक्त की उस नदी में सिर और धड़ कट-कट कर इस प्रकार विलीन होते जा रहे थे, जैसे जल के प्रवाह में कीचड़ विलीन हो जाती है।

टिप्पणी—गरब गयंदन्ह—जिन मतवाले हाथियों के मस्तक से कभी मदजल इस तरह बहता था मानो आकाश पसीज रहा हो और जल की वर्षा हो रही हो, अब उन्हीं हाथियों के घायल शरीरों में से रुधिर की वर्षा सी हो रही थी। कवि की यह उक्ति बड़ी विचित्र और मौलिक है।

पाठ-भेद—१. सिर गड़ खाँही=जब हाथी गड़ खाते थे। ('गड़' दो फलों वाला एक भाला होता था जो हाथियों को काबू में रखने के लिए काम में लाया जाता था।)

(५५३)

आठौं बज्र जूझ जस सुना। तेहि तें अधिक भएउ चौगुना ।।
बाजहिं खड़ग उठै दर आगी। भइँ जरि चहै सरग कहँ लागी ।।
चमकहिं बीजु होइ उजियारा। जेहि सिर परै होइ दुइ फारा ।।
मेघ जो हस्ति सहुँ गाजहिं। बीजु जो खड़ग खड़ग सौं बाजहिं ।।
बरसहिं सेल बान होइ काँदों। जस बरसै सावन औ भादों ।।
झपटहिं कोपि, परहिं तरवारी। औ गोला ओला जस भारी ।।
जूझ वीर कहौं कहँ ताईं। लेइ अछरी कैलास सिधाईं ।।
स्वामी-काज जो जूझे, सोइ गए मुख रात।
जो भागे सत छाँड़ि कै, मसि मुख चढ़ी परात ।।३।।

शब्दार्थ—आठों=(पाठान्तर 'अहुठौ') साढ़े तीन। मुख रात=लाल मुँह लेकर, सुर्खरू होकर। परात=भागे।

व्याख्या—उस रणभूमि में जगत-प्रसिद्ध साढ़े तीन वज्रों के आपस में हुए युद्धों से चौगुना भयंकर युद्ध हुआ। जब तलवारें आपस में टकराती थीं तो उनसे निकली चिनगारियों से सेना में आग उठने लगती थी। उस आग की लपटें धरती से ऊपर उठ आकाश से जा लगना चाहती थीं। वे तलवारें बिजली के समान चमकती थीं, जिनसे चारों ओर प्रकाश फैल जाता था और जिसके सिर पर पड़ती थीं, उसके दो टुकड़े हो जाते थे। वहाँ हाथियों से जो हाथी लड़ रहे थे वे मानो मेघ थे, और जो तलवारें आपस में टकरा रहीं थीं—वे मानो बिजली थीं। चारों ओर से सेल और बाण बरस रहे थे, जिनसे घायल हो सैनिकों के शरीर से रक्त बह रहा था, जिससे धरती पर कीचड़ हो गई थी। वे सेल और बाण ऐसे बरस रहे थे—जैसे सावन-भादों में मूसलाधार पानी बरसता है। योद्धा कुपित होकर परस्पर झपटते थे और तलवारें चलाते थे। भारी ओलों के समान तोप के गोले बरस रहे थे। उस युद्ध में इतने वीर मृत्यु को प्राप्त हुए कि मैं कहाँ तक उनका वर्णन करूँ? अप्सरायें उन मरे हुए योद्धाओं को स्वर्ग में ले गईं, अर्थात् उन्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ।

जो योद्धा अपने स्वामी के कार्य के लिए युद्ध करते हुए स्वर्गवासी हुए, वही इस संसार से सुर्खरू होकर गए, अर्थात् उन्होंने अपने जीवन को सफल बनाया। परन्तु जो अपने सत को छोड़ युद्ध-भूमि से भाग खड़े हुए, उनके मुख पर कालिख पुत गई; अर्थात् वे कायर कहलाये।

(५५४)

भा संग्राम न भा अस काऊ। लोहे दुहुँ दिसि भए अगाऊ ।।
सीस कंध कटि कटि भुइँ परे। रुहिर सलिल होइ सायर भरे ।।

अनँद बधाव[1] करहिं मसखावा। अब भख जनम जनम कहँ पावा॥
चौंसठ जोगिनि खप्पर पूरा। बिग जंबुक घर बाजहिं तूरा॥
गिद्ध चील सब माँड़ौं छावहिं। काग कलोल करहिं औ गावहिं॥
आजु साह हठि अनी बियाही। पाई भुगुति जैसि चित चाही॥
जेइँ जस माँसू भखा परावा। तस तेहि कर लेइ औरन्ह खावा॥
काहू साथ न तन गा, सकित मुए सब पोखि।
ओछ पूर तेहि जानब, जो थिर आवत जोखि॥४॥

व्याख्या—जायसी अलाउद्दीन और रत्नसेन के भयंकर युद्ध का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—उस रणक्षेत्र में जैसा भयंकर संग्राम हुआ, वैसा कभी नहीं हुआ था। दोनों दलों ने हथियारों द्वारा एक-दूसरे की अगवानी की, अर्थात् दोनों दल हथियार बाँध आपस में भिड़ गए। सिर और कवन्ध कट-कट कर धरती पर गिरने लगे। रक्त पानी की तरह बहने लगा, जिससे समुद्र-सा भर गया अर्थात् चारों ओर इतना रक्त भर गया मानो वहाँ रक्त का समुद्र लहरा रहा हो। मांसभक्षी पशु-पक्षी आनन्द और बधाई के गीत गाने लगे, क्योंकि अब उन्हें अनेक जन्मों के लिए भोजन प्राप्त हो गया था। भाव यह है कि युद्ध-क्षेत्र में इतने सैनिक मारे गए थे कि उन्हें देख मांस खाने वालों ने समझा कि अब अनेक जन्मों के लिए उन्हें मांस खाने को मिलता रहेगा। चौंसठ योगिनियों ने रुधिर से अपने खप्पर भर लिए और भेड़ियों, सियारों के घर तुरही बाजे बजने लगे; अर्थात् वे मांस-प्राप्ति की आशा में भर आनन्द मनाने लगे। आकाश में गिद्ध और चीलें इस प्रकार छा गईं—मानो उन्होंने रणभूमि के ऊपर विवाह का मंडप सा छा दिया हो। कौए क्रीड़ा करते हुए गीत से गाने लगे, क्योंकि आज बादशाह अलाउद्दीन ने हठ करके अपनी सेना के साथ विवाह किया था, अर्थात् स्वयं सेना का पति, सेनापति बन सैन्य-संचालन कर रहा था। इस विवाह के उपलक्ष्य में आज सबने मनचाहा भोजन प्राप्त किया, अर्थात् मांस-भक्षी पशु-पक्षी अपनी-अपनी रुचि का भोजन पेट भर-भर कर करने लगे। जिन्होंने अर्थात् सैनिकों ने जैसे अब तक पराया मांस खाया था, अर्थात् पशु-पक्षियों का मांस-भक्षण किया था, वैसे ही आज उनका मांस अन्य पशु-पक्षी खा रहे थे।

कवि कहता है कि सब लोग अपने इस शरीर का शक्ति-भर पोषण करते हुए भी अन्त में मर गए; परन्तु यह शरीर किसी के साथ नहीं गया। उस व्यक्ति को पूरा नीच समझना चाहिए जो ऐसे इस शरीर को स्थिर या अमर समझता रहता है।

टिप्पणी—(१) अलंकार—सांगरूपक।

(२) कवि ने बादशाह के सेना के साथ हुए विवाह के उपलक्ष्य में हुए भोज और आनन्द-बधाई का रूपक बाँधा है। डा० गुप्त ने दोहे की दूसरी पंक्ति का अर्थ

पाठ-भेद—१. बियाह=विवाहोत्सव।

यह माना है—यह ओछा रह गया या पूरा हुआ, इस बात का ज्ञान तो तब होगा जब यह (न्याय के दिन) तौलने पर भरा (पूरा) उतरेगा।

(५५५)

चाँद न टरै सूर सौं कोपा। दूसर छत्र सौंह कै रोपा॥
सुना साह अस भएउ समूहा। पेले सब हस्तिन्ह के जूहा॥
आज चाँद तोर करौं निपातू। रहै न जग महँ दूसर छातू॥
सहस करा होइ किरिन पसारा। छेंका चाँद जहाँ लगि तारा॥
दर-लोहा दरपन भा आवा। घट घट जानहु भानु देखावा॥
अस क्रोधित कुठार लेइ धाए[1]। आगिनि-पहार लरत जनु आए॥
खड़ग-बीजु सब तुरुक उठाए। ओड़न चाँद काल कर पाए[2]॥
जगमग अनी देखि कै, धाइ दिस्टि तेहि लागि।
छुए होइ जो लोहा, माँझ आव तेहि आगि॥५॥

व्याख्या—चन्द्रमा रूपी राजा रत्नसेन युद्ध-भूमि से हटता नहीं था, क्योंकि वह बादशाह पर कुपित हो रहा था। उसने बादशाही छत्र के सम्मुख अपना दूसरा छत्र रोप दिया अर्थात् वह स्वयं बादशाह के सम्मुख जा डटा। जब बादशाह ने राजा की उस विशाल सेना के समूह के विषय में सुना तो उस पर अपने सारे हाथियों के झुंड को चढ़ा दिया। और कहा कि 'हे चन्द्रमा! आज मैं तुझे नीचे गिरा दूँगा; अर्थात् तेरा नाश कर दूँगा। क्योंकि इस संसार में कोई भी दूसरा राज-छत्र मेरे सामने नहीं रह सकता; अर्थात् मैं यह सहन नहीं कर सकता कि कोई भी दूसरा राजा मेरा सामना करे।' यह कह कर सूर्य रूपी बादशाह ने अपनी सहस्र किरणों को फैलाया अर्थात् पूरी सेना लेकर राजा पर आक्रमण कर दिया और चन्द्रमा को सम्पूर्ण तारा-गणों के साथ अर्थात् रत्नसेन को उसकी सम्पूर्ण सेना-सहित चारों ओर से घेर लिया। बादशाही सेना के लोहे के हथियार दर्पण के समान चमक रहे थे और ऐसा प्रतीत हो रहा था—मानो उसका प्रत्येक सैनिक उसी प्रकार बादशाह के क्रोध को प्रकट कर रहा था अर्थात् क्रोध में भरा हुआ था जिस प्रकार प्रत्येक दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है।

बादशाही सैनिक इस प्रकार क्रोध में भर कुठार लेकर शत्रु पर टूट पड़े। चमकते हुए हथियार लिए क्रोध में भरे आगे बढ़ते हुए सैनिक ऐसे प्रतीत हो रहे थे—मानो जलता हुआ अग्नि का पहाड़ अर्थात् ज्वालामुखी पर्वत आगे बढ़ता चला आ

पाठ-भेद—१. बहु किरोध कुंताहल धावै=कुंत (बर्छे) धारी सैनिक अत्यन्त क्रोध में भर दौड़े आ रहे थे। २. ओड़ु न चंद कँवल का घाएँ=ए चन्द्र, तू कमल जैसे अपने कोमल हाथों से हमारे आघातों को रोक तो सही।

रहा हो। सारे तुर्कों ने बिजली के समान चमकती तलवारें ऊपर उठा रखी थीं। वे चन्द्रमा रूपी रत्नसेन की ओर तेजी से बढ़ने लगे जिससे वह काल से अपना बचाव न कर पाए। (शुक्लजी ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—'चन्द्रमा को बचाव के लिए समय-विशेष (रात्रि) मिला जब कि सूर्य सामने नहीं आता।')

बादशाह की ऐसी जगमगाती हुई सेना को देख रत्नसेन की दृष्टि उसी पर जा जमी। वह सोचने लगा कि यदि लोहा इसका स्पर्श करेगा तो उसमें भी आग लग जायगी; अर्थात् यदि मैं लोहे के हथियार लेकर इससे भिड़ूँगा तो मैं भी अग्नि में जलने लगूँगा। (शुक्लजी ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—'यदि लोहा सूर्य के सामने होने से तप जाता है तो जो उसे छुए रहता है, उसके शरीर में भी गरमी आ जाती है अर्थात् सूर्य के समान शाह की सेना का प्रकाश देख शस्त्रधारी राजा को जोश चढ़ आया।') परन्तु यह अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता। यहाँ राजा शाही सेना को देख आतंकित हो उठा है। इससे आगे वाला पद इसका प्रमाण है 'सूरुज देखि चाँद मन लाजा।' आदि।

(५५६)

सूरुज देखि चाँद मन लाजा। बिगसा कँवल, कुमुद भा राजा॥
भलेहि चाँद बढ़ होइ निसि पाई। दिन दिनअर सहुँ कौन बढ़ाई?॥
अहे जो नखत चंद सँग तपे। सूर के दिस्टि गगन महँ छपे॥
कै चिंता राजा मन बूझा। जो होइ सरग न धरती जूझा॥
गढ़पति उतरि लड़ै नहिं धाए। हाथ परै गढ़ हाथ पराए॥
गढ़पति इन्द्र गगन-गढ़ गाजा। दिवस न निसर रैनि कर राजा॥
चंद रैनि रह नखतन्ह माँझा। सुरुज के सौंह न होइ, चहै साँझा॥
देखा चंद भोर भा, सूरुज के बड़ भाग।
चाँद फिरा भा गढ़पति, सूर गगन-गढ़ लाग॥६॥

व्याख्या—बादशाह की उस विशाल सेना को देख राजा रत्नसेन उसी प्रकार लज्जित अर्थात् मलिन हो उठा जिस प्रकार सूर्य को देख चन्द्रमा मलिन हो जाता है। बादशाह यह देख कमल के समान खिल उठा और राजा कुमुद के समान संकुचित हो गया। भले ही रात्रि होने पर चन्द्रमा को बड़ाई मिलती हो, परन्तु दिन के समय सूर्य के सम्मुख उसका क्या महत्त्व रह जाता है? भाव यह है कि राजा रत्नसेन भले ही बहुत बड़ा योद्धा रहा हो परन्तु अलाउद्दीन जैसे शक्तिशाली चक्रवर्ती सम्राट के सम्मुख उसका क्या महत्त्व था? चन्द्रमा रूपी रत्नसेन के साथी नक्षत्र रूपी सामन्त-सरदार जो उसके साथ प्रकाशित हो रहे थे, वे बादशाह रूपी सूर्य की दृष्टि पड़ते ही आकाश में छिप गए अर्थात् गगनचुम्बी चित्तौड़ गढ़ के भीतर जा छिपे। यह देख राजा चिन्तित हो उठा और उसने समझा कि जो स्वर्ग में रहता है वह पृथ्वी पर नीचे उतर

युद्ध नहीं करता; अर्थात् मुझे अपने गगनचुम्बी गढ़ से नीचे उतर कर युद्ध नहीं करना चाहिए था। जो गढ़पति होता है, वह कभी गढ़ से नीचे उतर धावा मार शत्रु के साथ युद्ध नहीं करता, क्योंकि ऐसा करने से गढ़ खाली हो जाता है और उस पर शत्रु अधिकार कर लेता है।

जो गढ़पति होता है वह अपने गगनचुम्बी गढ़ के भीतर बैठा उसी प्रकार शत्रु को ललकारता रहता है, जिस प्रकार इन्द्र अपने गढ़ (स्वर्ग) में बैठा बादलों के रूप में गरजता रहता है। जो रात्रि का राजा होता है, वह दिन में भला कैसे निकल सकता है; अर्थात् चन्द्रमा दिन में नहीं निकलता और यदि निकलता है तो उसकी ज्योति क्षीण हो जाती है। भाव यह है कि रत्नसेन गढ़ का स्वामी है इसलिए उसे गढ़ से बाहर निकल अलाउद्दीन के साथ युद्ध नहीं करना चाहिए था। चन्द्रमा रात्रि के समय नक्षत्रों के साथ रहता है। वह कभी सूर्य के सामने नहीं पड़ता और सन्ध्या होने की प्रतीक्षा करता है।

चन्द्रमा ने देखा कि प्रभात हो गया है और सूर्य का भाग्योदय हो गया है। यह देख चन्द्रमा लौट कर गढ़पति बन गया, अर्थात् अपने गढ़ में जा घुसा और सूर्य आकाश रूपी गढ़ में जा लगा। भाव यह है कि राजा रत्नसेन ने देखा कि बादशाही सेना इतनी विशाल है कि वह उसके सम्मुख नहीं टिक सकेगा। इस युद्ध में बादशाह की ही विजय होगी। यह सोच रत्नसेन सेना-सहित गढ़ के भीतर चला गया और बादशाह ने उस गगनचुम्बी गढ़ को चारों ओर से घेर लिया।

(५५७)

कटक असूझ अलाउदिं-साही। आवत कोइ न सँभारै ताही॥
उदधि-समुद जस लहरैं देखी। नयन देख, मुख जाइ न लेखी॥
केते तजा चितउर कै घाटी। केते बजावत मिलि गए माटी॥
केतेन्ह नितहिं देइ नव साजा। कबहुँ न साज घटै तस राजा॥
लाख जाहिं आवहिं दुइ लाखा। फरै झरै उपनै नव साखा॥
जो आवै गढ़ लागै सोई। थिर होइ रहै न पावै कोई॥
उमरा मीर रहे जहँ ताईं। सबहीं बाँटि अलंगैं पाईं॥
लाग कटक चारिहु दिसि, गढ़हिं परा अगिदाहु।
सुरुज गहन भा चाहै[1], चाँदहिं भा जस राहु॥७॥

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन की सेना अपार थी। उसके आक्रमण को कोई भी नहीं सम्भाल पाता था। जिस प्रकार उदधि-समुद्र में असंख्य लहरें उठती हुई दिखाई देती हैं, जिन्हें आँखों से तो देखा जा सकता है परन्तु मुख से जिनकी संख्या

पाठ-भेद—१. चाँदहि=अर्थात् सूर्य रूपी अलाउद्दीन चन्द्रमा रूपी रत्नसेन के लिए ग्रहण के समान बन गया।

नहीं बताई जा सकती, उसी प्रकार अलाउद्दीन की सेना असंख्य थी। उस विशाल सेना में अनेक ऐसे सैनिक थे जो थककर या घायल होकर चित्तौड़ की घाटी अर्थात् युद्ध-भूमि को त्याग कर चले गए और कितने ही युद्ध करते हुए मिट्टी में मिल गए, मर गए। बादशाह कितने ही नए भरती हुए सैनिकों को युद्ध का नया सामान देता था। वह ऐसा प्रतापशाली राजा था कि उसके पास सामान की कभी कमी नहीं हो पाती थी। यदि एक लाख सैनिक कम होते थे तो उनके स्थान पर दो लाख नए सैनिक आ जाते थे। जिस प्रकार वृक्ष फलता है, फिर पतझड़ हो जाता है, और फिर उसमें नई शाखायें उत्पन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार बादशाही सेना के सिपाही आते थे, युद्ध में मर जाते थे, और फिर उनके स्थान पर नए सैनिक आ जाते थे। जो भी नया सैनिक आता था, वही गढ़ को घेरने में जुट जाता था और कोई भी स्थिर होकर नहीं बैठ पाता था। उसके जितने भी अमीर-उमराव थे, सब को उसने अलग-अलग टुकड़ियों का भार सौंप दिया था।

बादशाही सेना चारों ओर से गढ़ को घेरे हुए थी और गढ़ में अग्निकांड सा मच रहा था। सूर्य रूपी अलाउद्दीन चन्द्रमा रूपी रत्नसेन को उसी प्रकार पकड़ना चाह रहा था, जिस प्रकार राहु चन्द्रमा को पकड़ लेता है।

(५५८)

अथवा दिवस, सूर भा बासा। परी रैनि, ससि उवा अकासा॥
चाँद छत्र देइ बैठा आई। चहुँ दिसि नखत दीन्ह छिटकाई॥
नखत अकासहि चढ़े दिपाहीं। टुटि-टुटि लूक परहिं, न बुझाहीं॥
परहिं सिला जस परै बजागी। पाहन पाहन सौं उठ आगी॥
गोला परहिं, कोल्हु ढरकाहीं। चूर करत चारिउ रिसि जाहीं।
ओनई घटा बरस झरि लाई। ओला टपकहिं, परहिं बिछाई॥
तुरुक न मुख फेरहिं गढ़ लागे। एक मरै, दूसर होइ आगे॥
परहिं बान राजा के, सकै को सनमुख काढ़ि।
ओनई सेन साह कै, रही भोर लगि ठाढ़ि॥८॥

व्याख्या—दिन अस्त हो गया। सूर्य (अलाउद्दीन) अपने डेरे में विश्राम करने चला गया। रात हो गई और चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ। चन्द्रमा रूपी रत्नसेन राज-छत्र धारण कर गढ़ के ऊपर आ बैठा। उसके चारों ओर नक्षत्र रूपी सामन्त अपना प्रकाश अर्थात् वीरता का प्रदर्शन करने लगे। आकाश रूपी गढ़ पर चढ़े हुए नक्षत्र रूपी सामन्त शौर्य से प्रदीप्त होने लगे। गढ़ के ऊपर से जलते हुए अग्निबाण नीचे खड़ी शाही सेना पर गिरने लगे जो बुझाने से भी नहीं बुझते थे। ऊपर से शिलायें वज्राग्नि के समान गिरने लगीं। जब ये शिलायें गढ़ के नीचे पत्थरों पर गिरती थीं तो उनके टकराने से आग उठने लगती थी। ऊपर से तोपें गोले बरसा रही

थीं और बड़े-बड़े पत्थर के कोल्हू नीचे की ओर लुढ़काए जा रहे थे जो चारों ओर जिस पर भी गिर पड़ते थे, उसे ही पीस डालते थे। गढ़ के ऊपर से तीर, गोले, शिलायें आदि इस प्रकार बरस रहीं थीं मानो आकाश में उमड़ी हुई घटाएँ घनघोर जल बरसा रही हों और ओले नीचे गिर-गिर कर सबको जमीन में बिछाते चले जा रहे हों। भाव यह है कि ऊपर गे फेंके गए हथियार आदि नीचे खड़ी शाही सेना को जमीन में बिछाते चले जा रहे थे। परन्तु इतने पर भी गढ़ का घेरा डालने वाले तुर्क सैनिक पीछे नहीं हट रहे थे। एक के मरते ही तुरन्त दूसरा आगे बढ़कर उसका स्थान ले लेता था।

राजा रत्नसेन के चलाए भयंकर बाण बरस रहे थे। उन बाणों के चलते किसमें ऐसा साहस था जो अपनी सेना को उनके आगे खड़ा कर सके। बादशाह की बादलों के समान उमड़ती हुई सेना सुबह होने तक निश्चल खड़ी रही।

(५५६)

भएउ बिहानु, भानु पुनि चढ़ा। सहसहुँ करा दिवस बिधि गढ़ा॥
भा धावा गढ़ कीन्ह गरेरा। कोपा कटक लाग चहुँ फेरा।
बान करोर एक मुख छूटहिं। बाजहिं जहाँ फोंक लटि फूटहिं॥
नखत गगन जस देखहि घने। तस गढ़-कोटन्ह बानन्ह हने॥
बान बेधि साही कै राखा। गढ़ भा गरुड़ फुलावा पाँखा॥
ओहि रँग केरि कठिन है बाता। तौ पै कहै होइ मुख राता॥
पीठि न देहिं घाव के लागे। पैग पैग भुइँ चाँपहिं आगे॥
चारि पहर दिन जूझ भा, गढ़ न टूट तस बाँक।
गरुअ होत पै आवै, दिन-दिन नाकहि नाक॥६॥

व्याख्या—प्रभात हो गया। सूर्य पुनः आकाश में उदय हुआ और जैसा कि विधाता ने उसे बनाया है, अपनी सहस्र कलाओं के साथ चमकने लगा। भाव यह है कि अलाउद्दीन ने पुनः अपनी पूरी शक्ति के साथ आक्रमण किया। गढ़ पर धावा किया गया और उसे चारों ओर से घेर लिया गया। शाही सेना ने कुपित होकर चारों ओर से गढ़ पर घेरा डाल दिया। करोड़ों बाण एक ही लक्ष्य अर्थात् गढ़ की ओर छूटने लगे। ये बाण जिस स्थान पर जाकर लगते थे वहाँ अपने पिछले भाग तक घुस जाते थे। जिस प्रकार आकाश में असंख्य नक्षत्र दिखाई देते हैं, उसी प्रकार वह गढ़ असंख्य बाणों में बिंधा हुआ दिखाई पड़ रहा था। बाणों से बिंधा हुआ वह गढ़ ऐसा प्रतीत होता था, मानो साही ने अपने काँटे खड़े कर लिए हों। अथवा गरुड़ अपने पंखों को फुलाए खड़ा हो। भाव यह है कि गढ़ के प्रत्येक स्थान में बाण ही बाण गड़े दिखाई पड़ते थे। ऐसे उस रण-रंग का वर्णन करना दुष्कर कार्य है। फिर भी यदि कोई उसका वर्णन करे तो वह सुर्खरू माना जायेगा; अर्थात् कोई सिद्धहस्त कवि ही

इस युद्ध का वर्णन करने में समर्थ हो सकता है। तुर्क सैनिक इस भय से पीठ नहीं दिखाते थे कि कहीं उनकी पीठ में घाव न लग जाय, जिससे वे कायर कहलायें। वे एक-एक कदम आगे बढ़ाते हुए भूमि को दबाते चले आ रहे थे।

इस प्रकार चार पहर तक युद्ध होता रहा परन्तु गढ़ इतना बाँका (दुर्भेद्य) था कि टूट न सका। दिन-प्रति-दिन गढ़ के मुख्य-मुख्य स्थानों को अधिकाधिक दृढ़ बनाया जा रहा था।

टिप्पणी—डा० अग्रवाल ने छठी पंक्ति का पाठान्तर इस प्रकार माना है—

'ओरगा केरि कठिन है जाता। तौ पै लहै होइ मुख राता॥'

अर्थात् ओरगा (तुर्क) की जाति बड़ी कठोर अर्थात् दुर्द्धर्ष होती है। वे हठ-पूर्वक कब्जा करते हैं, इसलिए उनका मुख लाल है अर्थात् उनकी वीरता प्रसिद्ध है।

इस पाठ से सातवीं पंक्ति की संगति मिल जाती है, क्योंकि ऐसी यह कठोर जाति युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखाती। आचार्य शुक्ल द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त पाठ इस दृष्टि से अशुद्ध प्रतीत होता है।

(५६०)

छेंका कोट जोर अस कीन्हा। घुलि कै सरग सुरँग तिन्ह दीन्हा[1]॥
गरगज बाँधि कमानें धरीं। बज्र-आगि मुख दारू भरीं॥
हबसी, रूमी और फिरंगी। बड़-बड़ गुनी और तिन्ह संगी॥
जिन्हके गोट कोट पर जाहीं। जेहि ताकहिं चूकहिं तेहि नाहीं॥
अस्ट धातु के गोला छूटहिं। गिरहिं पहार चून होइ फूटहिं॥
एक बार सब छूटहिं गोला। गरजै गगन, धरति सब डोला॥
फूटहिं कोट फट जनु सीसा। ओदरहिं बुरुज जाहिं सब पीसा[2]॥
लंका-रावट जस भई, दाह परी गढ़ सोइ।
रावन लिखा जरै कहँ, कहहु अजर किमि होइ॥१०॥

व्याख्या· अलाउद्दीन ने चित्तौड़ गढ़ को चारों ओर से घेर कर ऐसा जोर मारा कि पहाड़ के भीतर घुस कर किले के नीचे सुरंग लगा दी। फिर ऊँचे-ऊँचे कृत्रिम बुर्ज (गरगज) बनाकर किले की दीवारों के सामने खड़े किए और उन पर तोपें चढ़ा दीं। उन तोपों के मुखों में वज्राग्नि के समय भयंकर अग्नि, उत्पन्न करने वाली

पाठ-भेद—१. छेंका गढ़ जौरा अस कीन्हा। खसिया मगर सुरंग तेहि दीन्हा॥=बादशाह से गढ़ को छेंक कर (घेर कर) उसके घेरे को बेड़ी सा बना दिया और उसने खसिया और मगर जाति के लोग जैसी सुरंगें लगाते हैं, इस प्रकार की सुरंगें गढ़ तक लगवाईं। २. परहिं कौसीसा=कपिशीर्ष (कँगूरे) गिर पड़ते थे।

अर्थात् अत्यधिक ज्वलनशील बारूद भरवा दी। और उन्हें चलाने के लिए अबीसीनिया देश के हब्शी, तुर्की के तुर्क और पुर्तगाली तोपची नियुक्त किए जिनके साथ बड़े-बड़े दक्ष युद्ध-कला-विशारद सैनिक थे। इन तोपचियों द्वारा चलाए गए गोले गढ़ पर जाकर लगते थे। तोपची जिस पर भी निशाना लगाते थे, उसमें कभी चूक नहीं होती थी, अर्थात् इनके गोले ठीक निशाने पर जाकर लगते थे। उन तोपों से अष्टधातु के बने गोले छूट रहे थे और जब ये गोले पहाड़ पर जाकर गिरते थे तो पहाड़ टूट कर चकनाचूर हो जाते थे। इन तोपों से एक साथ ही गोले छूटते थे जिससे आसमान गरजने और धरती काँपने लगती थी। इन गोलों की मार से गढ़ की दीवारें शीशे की तरह टूट रही थीं, बुर्ज ढह जाते थे और सब लोग पिस जाते थे।

जिस अग्नि से जलकर लंका लाजवर्दी रंग की हो गई थी, वैसी ही भयंकर अग्नि सारे गढ़ में लग रही थी। रावण के भाग्य में जलना ही लिखा था तो वह फिर कैसे न जलता।

(५६१)

राजगीर लागे गढ़ थवई। फूटहिं जहाँ संवारहिं सबई॥
बाँके पर सुठि बाँक करेहीं। रातिहि कोट चित्र कै लेहीं॥
गाजहिं गगन चढ़ा जस मेघा। बरसहिं बज्र, सीस को ठेला ?॥
सौ-सौ मन के बरिसहिं गोला। बरसहिं तुपक तीर जस ओला॥
जानहुँ परहिं सरग हुत गाजा। फाटै धरति आइ जहँ बाजा॥
गरगज चूर चूर होइ परहीं। हस्ति घोर मानुष संघरहीं॥
सबै कहा अब परलै आई। धरती सरग जूझ जनु लाई॥
आठौ बज्र जुरे सब, एक डुंगवै लागि।
जगत जरै चारिउ दिसि, कैसेहु बुझै न आगि॥११॥

शब्दार्थ—थवई=मरम्मत करने। सबई=तुरन्त। बाँके=मजबूत। चित्र=ठीक, दुरुस्त। ठेला=कर सकता। तुपक=बन्दूक की गोलियाँ। हुत=से। गाजा=बज्र; गाज। बाजा=टकराना। डुंगवै=राजा डंगव। आठौ—पाठान्तर—अहुठौ=साढ़े तीन।

व्याख्या—जब अलाउद्दीन की तोपों की मार से चित्तौड़ गढ़ टूटने लगा तो राजा रत्नसेन ने राजगीरों को गढ़ की मरम्मत करने का काम सौंपा। राजगीर गढ़ की मरम्मत करने में जुट गए। गढ़ की दीवारें जहाँ-जहाँ टूट जाती थीं, वे तुरन्त उनकी मरम्मत कर देते थे। वे उस दुर्ग को अधिक-से-अधिक मजबूत बनाये जा रहे थे। दिन भर की गोलाबारी के बाद जब रात होती थी तो ये राजगीर रात-ही-रात में गढ़ की मरम्मत कर उसे चित्र के समान सजा देते थे। इधर अलाउद्दीन की तोपें इस प्रकार गरज रही थीं जैसे आकाश में बादल गरज रहे हों। वे वज्र के

समान भयंकर गोलों की वर्षा कर रही थीं। किसमें इतना साहस था कि उनके सामने अपना सिर कर सके। गढ़ पर सौ-सौ मन के गोले गिर रहे थे, और बन्दूक की गोलियाँ और तीर ओलों की तरह बरस रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो गढ़ पर स्वर्ग (आकाश) से वज्रों की बरसा हो रही हो। ये गोले जहाँ जाकर लगते थे वहाँ की धरती फट जाती थी। गरगज या मोर्चों के बुर्ज चूर-चूर होकर नीचे गिर रहे थे और हाथी, घोड़े तथा मनुष्यों का संहार कर रहे थे। उस भयंकर दृश्य को देख सब लोग कहने लगे कि अब प्रलय होने वाली है, क्योंकि धरती और आकाश में युद्ध ठन गया है। भाव यह है कि आकाश से बरसते हुए गोले ऐसा दृश्य उपस्थित कर रहे थे मानो आकाश ने पृथ्वी पर आक्रमण कर दिया हो।

ऐसा प्रतीत होता था जैसे डंगव राजा रूपी अकेले रत्नसेन के लिए साढ़े तीन वज्रों में युद्ध ठन गया हो। संसार चारों दिशाओं में जलने लगा। वह अग्नि किसी भी प्रकार नहीं बुझाई जा सक रही थी।

टिप्पणी—(१) कुछ आलोचकों ने इस पद में वर्णित गोलाबारी को राजा रत्नसेन के गढ़ पर से हुई गोलाबारी माना है परन्तु यह गलत है। यह गोलाबारी अलाउद्दीन की सेना कर रही थी जिसका प्रमाण इससे आगामी पद में मिल जाता है।

(२) 'डुंगवै'—आचार्य शुक्ल ने इसका अर्थ 'टीला' माना है जो गलत है। इसका सही अर्थ 'राजा डंगव' है। दोहे की प्रथम पंक्ति में आए 'आठौ' शब्द के स्थान पर 'अहुठौ' शब्द होना चाहिए जिसका अर्थ है—'साढ़े तीन'। हम इसका विस्तृत परिचय 'नागमती संदेश खंड' के दूसरे पद की पाद-टिप्पणी में दे आए हैं। दोनों टिप्पणियों से साढ़े तीन 'वज्र' तथा 'राजा डंगव' की कथा स्पष्ट हो जाती है।

(५६२)

तबहूँ राजा हिये न हारा। राज-पौरि पर रचा अखारा।।
सौंह साह कै बैठक अहाँ। समुहें नाच करावै तहाँ।।
जंत्र पखाउज औ जत बाजा। सुर मादर रबाब भल साजा।।
बीना बेनु कमाइच गहे। बाजे अमृत तहँ गहगहे।।
चंग उपंग नाद सुर तूरा। महुअर बंसि बाज भरपूरा।।
हुड़क बाज, डफ बाज गँभीरा। औ बाजहिं बहु झाँझ मजीरा।।
तंत बितंत सुभर घनतारा। बाजहिं सबद होइ झनकारा।।
जग सिंगार मनमोहन, पातुर नाचहिं पाँच।
बादसाह गढ़ छेका, राजा भूला नाच।।१२।।

व्याख्या—गढ़ पर इतनी भयंकर गोलाबारी होने पर भी राजा रत्नसेन हतोत्साहित नहीं हुआ। उसने राजमहल की ड्योढ़ी पर नाच-गाने की महफिल जमाई। नीचे रणभूमि में, जहाँ बादशाह का दरबार लगता था, ठीक उसी के सामने

गढ़ पर राजा नाच कराने लगा। भाव यह है कि वह बादशाह को दिखाना चाहता था कि मुझे तुम्हारी रत्ती भर भी परवाह नहीं है। वाद्य-यन्त्रों में पखावज और अन्य जितने भी प्रकार के बाजे मर्दल, रवाव आदि थे, सभी ताल-स्वर के साथ बजने लगे। वादक वीणा और वीणा बजाने की कमान पकड़े वीणा बजा रहे थे। दूसरे लोग वंशी बजा रहे थे, जिनके अमृत के समान मधुर स्वर चारों ओर गूँज रहे थे। चंग, उपंग, नाद, तुरही, महुअर, वंशी आदि के स्वर पूरी गति के साथ उठ रहे थे। हुड़क और ढोल की गम्भीर आवाज गूँज रही थी और अनेक झांझ और मँजीरे बज रहे थे। तारों वाले तथा बिना तारों वाले बाजे और सुन्दर खरतालों के बजने से चारों ओर स्वरों की झंकार उठ रही थी।

वहाँ संसार की सर्वश्रेष्ठ, मनमोहिनी पाँच नर्तकियाँ नृत्य कर रही थीं। बादशाह ने गढ़ को घेर रखा था परन्तु राजा नाच-रंग में डूब सब-कुछ भूल गया था।

(५६३)

बीजानगर केर सब गुनी। करहिं अलाप जैस नहिं सुनी॥
छवौ राग गाए सँग तारा। सगरी कटक सुनै झनकारा॥
प्रथम राग भैरव तिन्ह कीन्हा। दूसर मालकोस पुनि लीन्हा॥
पुनि हिंडोल राग भल गाए। मेघ मलार मेघ बरसाए॥
पाँचवँ सिरी राग भल किया। छठवाँ दीपक बरि उठ दिया॥
ऊपर भए सो पातुर नाचहिं। तर भए तुरुक कमानैं खाँचहिं॥
गढ़ माथे होइ उमरा झुमरा। तर भए देख मीर औ उमरा॥
सुनि सुनि सीस धुनहिं सब, कर मलि मलि पछितांहि।
कब हम माथ चढ़हिं ओहि, नैनन्ह के दुख जांहि॥१३॥

व्याख्या—इस पद में जायसी राजा रत्नसेन की महफिल में गाए गए विभिन्न रागों का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

बीजानगर के सारे गुणी कलावन्त ऐसी अलापें ले रहे थे, जैसी कभी नहीं सुनी गई थीं। उन्होंने तारों के वाद्ययन्त्रों पर छः प्रकार के राग गाए। सारी सेना उन रागों की झनकार को सुनने लगी। सबसे पहले उन्होंने भैरव राग गाया और फिर मालकोश की आलाप लेने लगे। फिर उन्होंने सुन्दर हिंडोल राग गाया और मेघ मल्हार गाकर मेघों से जल बरसाया। पाँचवाँ श्रीराग बहुत अच्छी तरह से गाया गया और जब उन्होंने छठा दीपक राग गाया तो सारे दीपक जल उठे। गढ़ के ऊपर नर्तकियाँ नृत्य कर रहीं थीं और गढ़ के नीचे खड़े तुर्क सैनिक अपनी कमानों को खींच रहे थे, अर्थात् क्रोध में भर बाण छोड़ रहे थे। गढ़ के ऊपर सिरे पर झूमर नृत्य हो रहा था और गढ़ के नीचे खड़ी शाही सेना के मीर और उमरा आदि देख रहे थे।

उस नृत्य-संगीत की ध्वनि को सुन-सुन कर सब अपना सिर धुन रहे थे और

हाथ मल-मल कर पछताते हुए कह रहे थे कि कब हम इस गढ़ के ऊपर चढ़ेंगे और अपने नेत्रों के दुख को दूर करेंगे, अर्थात् गढ़ को जीत कर हम भी इसी प्रकार नृत्य संगीत का आनन्द प्राप्त करेंगे।

टिप्पणी—जायसी के युग में बीजानगर (विजयनगर) नृत्य और सङ्गीत-कला के लिए बहुत प्रसिद्ध था। उत्तर-भारत में उसका कर्नाटकी सङ्गीत बहुत लोकप्रिय था।

(५६४)

छवौ राग गावहिं पातुरनी। औ पुनि छत्तीसौ रागिनी॥
औ कल्यान कान्हरा होई। राग बिहाग केदारा सोई॥
परभाती होइ उठै बँगाला। आसावरी राग गुनमाला॥
धनासिरी औ सूहा कीन्हा। भएउ बिलावल, मारू लीन्हा॥
रामकली, नट, गौरी गाई। धुनि खंमाच सो राग सुनाई॥
साम गूजरी पुनि भल भाई। सारँग औ बिभास मुँह आई॥
पुरबी, सिंधी, देस, बरारी। टोड़ी, गौंड सौं भई निरारी॥
सब राग औ रागिनी, सुरै अलापहिं ऊँच।
तहाँ तीर कहँ पहुँचै दिस्टि जहाँ न पहूँच॥१४॥

व्याख्या—पिछले पद में छः रागों का वर्णन करने के उपरान्त प्रस्तुत पद में जायसी छत्तीस रागिनियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि राजा रत्नसेन की महफिल में नर्त्तकियाँ छः राग गाती थीं और फिर छत्तीस रागिनियाँ छेड़ देती थीं। वहाँ कल्याण, कान्हरा, बिहाग, केदार गाए जा रहे थे। प्रभाती गाने के उपरान्त बंगाला, आसावरी और गुणमाला नामक रागिनियाँ छिड़ जाती थीं। धनाश्री और सूहा गाने के उपरान्त विलावल गाई जाती थी और फिर मारू (युद्ध का राग) उठा लिया जाता था। रामकली, नट, गोरी होने के उपरान्त खम्माच की धुन सुनाई पड़ने लगती थी। साम, गूजरी सुनने में अच्छी लगती थी और फिर सारंग और विभास के बोल मुँह से निकलने लगते थे। पूर्वी, सिन्धी, देश, बरारी, टोड़ी, गोंड़ आदि रागिनियाँ अलग-अलग गाई जा रही थीं।

गायक और नर्त्तकियाँ इन सभी राग और रागिनियों को उच्च स्वर से आलाप लेते हुए गा रहे थे। जहाँ दृष्टि नहीं पहुँच सकती थी, अर्थात् जहाँ इतने ऊँचे गढ़ के ऊपर यह महफिल जमी हुई थी, वहाँ तक भला तुर्कों द्वारा छोड़े गए तीर कैसे पहुँच सकते थे।

(५६५)

जहवाँ सौंह साह कै दीठी। पातुरि फिरति दीन्हि तहँ पीठी॥
देखत साह सिंघासन गूँजा। कब लगि मिरिग चाँद तोहि भूजा॥

छाँड़हिं बान जाहिं उपराही । का तैं गरब करसि इतराही ?[१] ॥
बोलत बान लाख भए ऊँचे । कोई कोट, कोइ पौरि पहूँचे ॥
जहाँगीर कनउज कर राजा । ओहि क बान पातुरि के लागा ॥
बाजा बान, जाँघ तस नाचा । जिउ गा सरग, परा भुइँ साँचा ॥
उड़सा नाच, नचनिया मारा । रहसे तुरुक बजाइ कै तारा ॥
जो गढ़ साजं लाख दस, कोटि उठावै कोट ।
बादशाह जब चाहै, छपै न कौनिउ ओट ॥१५॥

व्याख्या—जहाँ सामने बादशाह की दृष्टि पड़ती थी, नर्त्तकी ने नाचते हुए घूमकर उधर अपनी पीठ कर ली। (बादशाह की ओर पीठ करना उसका भयंकर अपमान माना जाता था।) अपना यह अपमान देख सिंहासन पर बैठा हुआ बादशाह क्रोध से गर्जन करने लगा और बोला मैं देखता हूँ कि यह चन्द्र (रत्नसेन) कब तक तुझ मृगनयनी (नर्त्तकी) का भोग करता रहेगा। (मृगांक=मृग चन्द्रमा के अंक में बैठा हुआ भी कहा गया है।) अभी मेरे योद्धा बाण छोड़ेंगे जो ऊपर गढ़ तक पहुँचेंगे। तू इस प्रकार गर्व करती हुई क्या इतरा रही है? बादशाह के मुख से ये शब्द निकलते ही लाखों बाण गढ़ के ऊपर छूटे। कोई गढ़ की दीवार में जा लगा तथा कोई ड्योढ़ी तक पहुँच गया। जहाँगीर कन्नौज का राजा था। उसका बाण उस नर्त्तकी के जा लगा। नर्त्तकी की नाचती हुई जाँघ में जाकर वह बाण घुस गया। बाण लगते ही उस नर्त्तकी के प्राण-पखेरू उड़ गए और शरीर धरती पर गिर पड़ा। राजा की नाच की महफिल उखड़ गई। नर्त्तकी मारी गई। यह देख तुर्क आनन्दित हो ताली बजाने लगे।

जो गढ़ दस लाख मनुष्यों से सजाया गया हो और जिसके परकोटे को करोड़ों मनुष्यों ने बनाया हो, ऐसे मजबूत गढ़ में भी यदि बादशाह किसी का नाश करना चाहेगा तो वह किसी भी आड़ में छिपकर नहीं बच सकेगा।

(५६६)

राजै पौरि अकास चढ़ाई। परा बाँध चहुँ फेर लगाई ॥
सेतुबंध जस राघव बाँधा। परा फेर, भुइँ भार न काँधा ॥
हनुवँत होइ सब लाग गोहारू। चहुँ दिसि ढोइ-ढोइ कीन्ह पहारू ॥
सेत फटिक अस लागै गढ़ा। बाँध उठाइ चहूँ गढ़ मढ़ा ॥
खँड खँड ऊपर होइ पटाऊ। चित्र अनेक, अनेक कटाऊ ॥
सीढ़ी होति जाहिं बहु भाँती। जहाँ चढ़ै हस्तिन कै पाँती ॥
भा गरगज अस कहत न आवा। जनहुँ उठाइ गगन लेइ आवा ॥

पाठ-भेद— १. गरब केर सिर सदा तराहीं=गर्व का सिर सदैव नीचा होता है।

राहु लाग जस चाँदहि, तस गढ़ लागा बाँध ।
सरब आगि अस बरि रहा, ठाँव जाइ को काँध ? ॥१६॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन ने अपनी ड्योढ़ी आकाश तक ऊँची बनाई थी। अलाउद्दीन ने यह देख उस गढ़ के चारों ओर बाँध बनवाना प्रारम्भ कर दिया। जिस प्रकार राम ने सेतुबन्ध बाँधा था, उसी प्रकार अलाउद्दीन ने उस बाँध द्वारा गढ़ को चारों ओर से घेर दिया। वह बाँध इतना बड़ा और भारी बनवाया गया था कि धरती उसके भार को सम्हालने में असमर्थ हो उठी। अलाउद्दीन के सारे सैनिक हनुमान के समान हाँक लगाने लगे; अर्थात् जोर से चिल्ला-चिल्ला कर बाँध के बनवाने में जुट गए। उन्होंने चारों ओर से पत्थर ला-ला कर गढ़ के बाहर पहाड़ जैसा ऊँचा ढेर लगा दिया। अनेक कारीगर उन पत्थरों को तराश-तराश कर इस प्रकार गढ़ने लगे मानो संगमरमर के टुकड़ों को गढ़ रहे हों। इस प्रकार उन्होंने बाँध को ऊँचा उठाकर गढ़ को चारों ओर से घेर लिया। बाँध के प्रत्येक खंड के ऊपर पटाव डाला गया और उसमें अनेक प्रकार के चित्र बनाए गए तथा विभिन्न प्रकार की पच्चीकारी की गई। वह बाँध जैसे-जैसे ऊँचा होता गया वैसे-वैसे उसमें अनेक प्रकार की सीढ़ियाँ लगती चली गईं। ये सीढ़ियाँ इतनी मजबूत थीं कि उन पर होकर हाथियों के झुण्ड-के-झुण्ड ऊपर जा सकते थे। अलाउद्दीन ने वहाँ गरगज नामक ऐसे ऊँचे बुर्ज बनवाये कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे देख ऐसा प्रतीत होता था मानो उसे ऊँचा कर आकाश तक पहुँचा दिया गया हो। भाव यह है कि गगनचुम्बी बाँध बाँधा गया।

जिस प्रकार राहु चन्द्रमा को पकड़ लेता है, उसी प्रकार इस बाँध ने गढ़ को चारों ओर से घेर रखा था। वह बाँध मशालों द्वारा इस प्रकार प्रकाश से भर उठा मानो उसमें आग लग रही हो। ऐसे स्थान पर जाने का भार कौन अपने ऊपर ले सकता था ?

(५६७)

राजसभा सब मतै बईठी। देखि न जाइ, मूँदि गई दीठी ॥
उठा बाँध, चहुँ दिसि गढ़ बाँधा। कीजै बेगि भार जस काँधा ॥
उपजै आगि आगि जस बोई। अब मत कोई आन नहि होई ॥
भा तेवहार जौ चाँचरि जोरी। खेलि फाग अब लाइय होरी ॥
समदि फाग मेलिय सिर धूरी। कीन्ह जो साका चाहिय पूरी ॥
चंदन अगर मलयगिरि काढ़ा। घर घर कीन्ह सरा रचि ठाढ़ा ॥
जौहर कहँ साजा रनिवासू। जिन्ह सत हिये कहाँ तिन्ह आँसू ? ॥
पुरुषन्ह खड़ग सँभारे, चंदन खेवरे देह।
मेहरिन्ह सेंदुर मेला, चहहिं भई जरि खेह ॥१७॥

व्याख्या—जब अलाउद्दीन ने चित्तौड़ गढ़ के चारों ओर ऊँचा बाँध बाँध कर

उसे घेर लिया तो राजा रत्नसेन हतोत्साह हो उठा। जायसी इस पद में उसकी उसी स्थिति का वर्णन कर रहे हैं —

राजा रत्नसेन ने यह विषम स्थिति देख सारी राजसभा को एकत्र किया और वह मंत्रणा करने के लिए बैठी कि अब क्या किया जाय? उन्हें कोई भी रास्ता नहीं सूझ रहा था। सबके आगे निराशा का अन्धकार छा रहा था। सभासदों ने कहा कि बादशाह ने बाँध बाँध लिया है और गढ़ चारों ओर से घिर गया है। इसलिए अब हमें तुरन्त वही कार्य करना चाहिए जिसका भार हम लोगों ने अपने कन्धों पर ले रखा है। हमने जैसी आग बोई है उससे वैसी ही तो आग उत्पन्न होगी; अर्थात् जब हमने बादशाह से युद्ध ठाना है तो हमें उसका परिणाम भोगना ही पड़ेगा। अब मंत्रणा करने से अन्य कोई परिणाम नहीं निकल सकता। जब हमने त्यौहार आने पर चाँचरि जोड़ कर स्वाँग किया है तो अब फाग खेलकर होली भी जला लेनी चाहिए; अर्थात् त्यौहार को पूरी तरह से मनाना चाहिए। (होली से पहले चाँचरि नृत्य किए जाते हैं और फाग खेला जाता है और तब होली में आग लगाई जाती है।) भाव यह है कि जब हमने पद्मावती की रक्षा करने का बीड़ा उठाया है तो अब जौहर करके अपनी उस प्रतिज्ञा को अन्त तक निभाना चाहिए। हम लोग अब एक-दूसरे से अन्तिम विदा ले, सिर पर धूल डाल, फाग खेलने के लिए प्रस्तुत हो जायँ और जो प्रतिज्ञा की है उसे पूरा करें। यह सुन सबने चन्दन और अगर निकाल-निकाल कर घर-घर में चिताएँ सजा कर खड़ी कर दीं। सारा रनिवास जौहर करने के लिए सजने लगा। कवि कहता है कि जिनके हृदय में सत का स्थान रहता है उनकी आँखों में आँसू कहाँ दिखाई पड़ सकते हैं; अर्थात् चित्तौड़ की सारी नारियाँ अपने सत की रक्षा के लिए प्रसन्न मन से जौहर करने को तैयार हो गईं।

पुरुषों ने खड्ग सम्हाल लिए और शरीर पर चन्दन और खौर लगाई। स्त्रियों ने माँगों में सिन्दूर भरा और जल कर खाक हो जाने को व्याकुल हो उठीं।

(५६८)

आठ बरिस गढ़ छेंका रहा। धनि सुलतान कि राजा महा॥
आइ साह अँबराब जो लाए। फरे झरे पै गढ़ नहिं पाए॥
जौं तोरौं तौ जौहर होई। पदमिनि हाथ चढ़ै नहिं सोई॥
एहि विधि ढील दीन्ह, तब ताईं। दिल्ली ते अरदासैं आईं॥
पछिउँ हरेव दीन्ह जो पीठी। सो अब चढ़ा सौंह कै दीठी॥
जिन्ह भुइँ माथ गगन तेइ लागा। थाने उठे, आव सब भागा॥
उहाँ साह चितउरगढ़ छावा। इहाँ देस अब होइ परावा॥
जिन्ह जिन्ह पंथ न तृन परत, बाढ़े बेर बबूर।
निसि अँधियारी जाइ तब, बेगि उठै जौ सूर॥१८॥

व्याख्या—इस प्रकार आठ वर्ष तक चित्तौड़ गढ़ का घेरा पड़ा रहा। इसके लिए सुल्तान को धन्य कहा जाय या राजा रत्नसेन को बड़ा माना जाय ? भाव यह है कि बादशाह भी धैर्य के साथ इतने लम्बे समय तक घेरा डाले पड़ा रहा और उधर राजा ने भी आत्म-समर्पण नहीं किया, इसलिए दोनों ही महान् साहसी और वीर थे। बादशाह ने चित्तौड़ में आकर जो आम के बाग लगाए थे वे फल भी गए और झड़ भी गए परन्तु वह गढ़ उसके हाथ नहीं आ पाया। भाव समय की लम्बी अवधि से है। बादशाह सोचने लगा कि यदि मैं गढ़ को तोड़ता हूँ तो राजपूत जौहर कर देंगे और जौहर हो जाने पर पद्मिनी जल कर मर जायेगी, फिर मेरे हाथ नहीं लगेगी। इस तरह बादशाह आठ वर्ष तक ढील देता रहा। इस बीच दिल्ली से अर्जियाँ आने लगीं कि पश्चिम में स्थित हेरात देश, जिसने पहले युद्ध में पीठ दिखाकर अधीनता स्वीकार कर ली थी, अब सामने खड़ा आँखें मिला रहा है अर्थात् आजाद हो गया है। जिनके मस्तक पहले जमीन पर झुके रहते थे, वही अब आकाश में जा लगे हैं। दिल्ली की हेरात में स्थित सारी सैनिक चौकियाँ उठ गई हैं और सब लोग वहाँ से भाग आए हैं। उधर तो बादशाह चित्तौड़ गढ़ पर घेरा डाले पड़ा है और इधर देश पर दूसरों का अधिकार हो जाने की आशंका हो उठी है।

पहले जिन जिन रास्तों में घास तक उग कर बाधक नहीं हो सकती थी, उन रास्तों में अब बादशाह के न रहने से बेर और बबूल उग आए हैं; अर्थात् शत्रु सिर उठा रहे हैं। यह संकट रूपी अँधेरी रात तभी नष्ट होगी, जब शीघ्र ही सूर्योदय होगा; अर्थात् वे शत्रु तभी पराजित होंगे, जब बादशाह स्वयं दिल्ली आकर उनके विनाश का प्रबन्ध करेगा।

टिप्पणी—(१) चित्तौड़ का घेरा इतिहास के अनुसार छः महीने और सात दिन तक ही रहा था परन्तु जायसी ने अत्युक्ति द्वारा उसे आठ वर्ष कहा है।

(२) थाने अथवा सैनिक चौकियों को संस्कृत में 'रक्षा चतुष्किका' कहते हैं। वर्तमान 'पुलिस-थाना' शब्द में आया 'थाना' शब्द उसी प्राचीन 'थाने' का वर्तमान रूप है।

४४

राजा-बादशाह-मेल-खंड

(५६६)

सुना साह अरदासैं पढ़ीं। चिंता आन आनि चित चढ़ी ॥
तौ अगमन मन चीतै कोई। जौ आपन चीता किछु होई ॥
मन झूठा, जिउ हाथ पराए। चिंता एक हिये दुइ ठाए[१] ॥
गढ़ सौं अरुझि जाइ तब छूटै। होइ मेराव, कि सो गढ़ टूटै ॥
पाहन कर रिपु पाहन हीरा। बेधौं रतन पान देइ बीरा ॥
सुरजा सेंति कहा यह भेऊ। पलटि जाहु अब मानहु सेऊ ॥
कहु तोंहि सौं पदमिनि नहिं लेऊँ। चूरा कीन्ह छाँड़ि गढ़ देऊँ ॥
आपन देस खाहु सब, औ चंदेरी लेहु।
समुद जो समदन कीन्ह तोहि, ते पाँचौ नग देहु ॥१॥

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन ने दिल्ली से आई हुई अर्जियों को पढ़ा और उन्हें पढ़ कर उसके हृदय में एक दूसरी चिन्ता आकर छा गई। यदि अपने सोचने से ही या कामना करने से ही कुछ हो सके तो व्यक्ति भविष्य की या आगे की कुछ कामना करे। भाव यह है कि मनुष्य द्वारा कामना करने मात्र से ही उसकी कामना पूरी नहीं हो जाती। मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ और ही है। मन झूठा होता है, क्योंकि उसका सोचा हुआ कभी पूरा नहीं होता, जीवात्मा सदैव पराधीन रहती है, होता वही है जो विधाता सोचता है। बादशाह के हृदय में दो स्थानों अर्थात् दिल्ली और चित्तौड़ की चिन्ताएं एक साथ ही उठ खड़ी हुईं। वह सोचने लगा कि मैं गढ़ को लेने में उलझ गया हूँ। इस समस्या का अन्त तभी हो सकेगा, जब या तो रत्नसेन से सन्धि हो जाय या गढ़ टूट जाय। पत्थर अर्थात् हीरे का शत्रु दूसरा पत्थर अर्थात् हीरा ही होता है। भाव यह है कि हीरा हीरे से ही कटता है। अतः मैं रत्नसेन को पान का बीड़ा देकर फँसाऊँगा; अर्थात् रत्नसेन का सम्मान कर उसे धोखे से फँसाऊँगा। यह विचार कर बादशाह ने अपना यह रहस्य अपने सरदार

पाठ-भेद—१. चिंता एक भए दुइ ठाँए=उसे यही एक चिन्ता थी कि मैं दो स्थानों पर बँटा हुआ हूँ।

सरजा से कहा और उसे आज्ञा दी कि तुम लौटकर रत्नसेन के पास जाओ और उससे कहो कि वह अधीनता स्वीकार कर ले। और यह भी कहना कि मैं पद्मिनी को नहीं लूँगा तथा तुम्हारा वह गढ़ भी तुम्हें दे दूँगा जिसे मैंने चूर-चूर कर डाला है।

तुम अपने सम्पूर्ण राज्य का भोग करो और साथ में चँदेरी का राज्य भी ले लो। बदले में मुझे वे पाँच रत्न दे दो जो समुद्र ने तुम्हें भेंट किए थे। (समुद्र ने रत्नसेन को हंस, अमृत, पारस पत्थर, शार्दूल तथा राजपक्षी ये पाँच रत्न दिये थे।)

(५७०)

सरजा पलटि सिंघ चढ़ गाजा। आज्ञा जाइ कही जहँ राजा॥
अबहूँ हिये समुझु रे राजा। बादसाह सौं जूझ न छाजा॥
जेहि क देहरी पृथिवी सेई। चहै तो मारै औ जिउ लेई॥
पिंजर माहँ ओहि कीन्ह परेवा। गढ़पति सोइ बाँच कै सेवा॥
जौ लगि जीभ अहै मुख तोरे। सँवरि उघेलु[1] बिनय कर जोरे॥
पुनि जौ जीभ पकरि जिउ लेई। को खोलै, को बोलै, देई?॥
आगे जस हमीर मैमंता। जौ तस करसि, तोरे भा अंता[2]॥
देखु! काल्हि गढ़ टूटै, राज ओहि कर होइ।
करु सेवा सिर नाइ कै, घर न घालु बुधि खोइ॥२॥

व्याख्या—बादशाह की आज्ञा पा सरजा लौटकर सिंह पर सवार हो गर्जन करता हुआ राजा रत्नसेन के पास पहुँचा और उसे बादशाह की आज्ञा सुनाई और कहा कि हे राजा! अब भी तू होश में आ। तुझे बादशाह से युद्ध करना शोभा नहीं देता। जिसकी ड्योढ़ी पर पृथ्वी सेवा करती है, अर्थात् सारी पृथ्वी जिसकी सेवा में सदैव प्रस्तुत रहती है वह यदि चाहे तो तुझे मारकर तेरे प्राण ले लेगा। उसने तुझे पिंजड़े में बन्द पक्षी के समान गढ़ के भीतर कैद कर रखा है। वही गढ़पति बादशाह के कोप से बच सकता है जो बादशाह की अधीनता स्वीकार कर उसकी सेवा करता है। जब तक तेरे मुख में तेरी जीभ सही-सलामत है, तब तक तू सोच-समझ कर विनय पूर्वक हाथ जोड़े अपने मुख से वचन निकाल। फिर यदि बादशाह तेरी जीभ पकड़ तेरे प्राण ले लेगा तो फिर कौन मुँह खोलेगा और कौन बोलेगा; अर्थात् मर जाने पर फिर तू क्या बोल सकेगा। पहले, जैसा मतवाले हमीर ने किया था (हमीर रणथम्भौर का स्वामी था जिसे बादशाह ने मार कर रणथम्भौर ले लिया था।) यदि तू भी वैसा ही करेगा, अर्थात् बादशाह की आज्ञा नहीं मानेगा तो वैसा ही अन्त होगा जैसा कि हमीर का हुआ था।

देख! कल गढ़ टूट जायेगा और चित्तौड़ में बादशाह का शासन हो जायेगा।

पाठ-भेद—१. पँवरि उघेलु=तू अपनी पौरी (ड्योढ़ी) खोलकर। २. तोर भावंता=तो तेरी इच्छा, जैसा तुझे अच्छा लगे, वैसा कर।

इसलिए तू उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर उसकी सेवा कर। बुद्धि-भ्रष्ट होकर अपने घर को बरबाद मत कर।

(५७१)

सरजा ! जौ हमीर अस ताका। ओर निबाहि बाँधि गा साका।।
हौं सक-बन्धी ओहि अस नाहीं। हौं सो भोज विक्रम उपराहीं।।
बरिस साठ लगि साँठि न खाँगा। पानि पहार चुवै बिनु माँगा।।
तेहि ऊपर जौ पै गढ़ टूटा। सत सकबंधी केर न छूटा।।
सोरह लाख कुँवर हैं मोरे। परहिं पतंग जस दीप-अँजोरे।।
जेहि दिन चाँचरि चाहौं जोरी। समदौं फाग लाइ कै होरी।।
जौ निसि बीच, डरै नहिं कोई। देखु तौ कालिह काह दहूँ होई[1]।।
अबही जौहर साजि कै, कीन्ह चहौं उजियार।
होरी खेलौं रन कठिन[2], कोइ समेटै छार।।३।।

व्याख्या—सरजा की गर्वभरी बातें सुन राजा रत्नसेन ने उत्तर में कहा—हे सरजा ! यदि हमीर ने ऐसा ही निश्चय किया था तो उसने अन्त तक अपने उस निश्चय को निभाया था और फिर जौहर करके संसार में यश का भागी बना था। मैं भी उसके समान सक-बन्धी अर्थात् लड़ते हुए जौहर कर प्राण दे देने वाला हूँ। मैं वीरता में राजा भोज और विक्रमादित्य से भी श्रेष्ठ हूँ। साठ वर्ष तक तो मेरे गढ़ में किसी भी चीज की कमी नहीं पड़ सकेगी। मेरे यहाँ बिना माँगे ही पहाड़ से पानी झरता रहता है। भाव यह है कि मेरे यहाँ केवल पानी की ही कमी हो सकती है परन्तु उसकी मुझे चिन्ता नहीं, क्योंकि मेरे दुर्ग में पानी के अक्षय सोते बहते रहते हैं। फिर भी यदि गढ़ टूट ही गया तो भी मुझ सक-बन्धी का सत नहीं टूटेगा, अर्थात् मेरी प्रतिज्ञा अटल रहेगी। मैं पद्मिनी को नहीं दूँगा क्योंकि मेरे पास सोलह लाख राजकुमार हैं जो युद्ध में उसी प्रकार अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देंगे जैसे पतिंगे दीपक के प्रकाश पर अपने प्राण दे देते हैं। मैं जिस दिन चाहूँगा, उसी दिन चाँचर जोड़ लूँगा अर्थात् रक्त की होली खेलने के लिए उत्सव मना लूँगा। और फिर सबसे अन्तिम विदा ले होली में आग लगा दूँगा; अर्थात् जौहर तक तलवार से खून की होली खेलने युद्ध-भूमि में कूद पड़ूँगा। यदि रात भर का समय बीच में है (सरजा ने कहा था कि कल गढ़ टूट जायेगा, इसलिए रत्नसेन कहता है कि आज और कल के बीच अभी एक रात का समय बाकी है) तो मुझे कोई डर नहीं। देख तो सही ! कल क्या होता है ?

पाठ-भेद—१. जो दै गिरिहिनि राखत जीऊ। सो कस आहि निपुंसिक पीऊ=जो अपनी गृहिणी (पत्नी) देकर अपने प्राणों को रखता है, वह नपुंसक किस प्रकार का पति है।

२. फागु गएँ होरी बुझे=फाग हो जावे और होली बुझ जाने पर।

मैं अभी जौहर सजा कर अर्थात् जौहर की तैयारियाँ कर संसार में अपना यश फैलाता हूँ। और फिर रणभूमि में भयंकर युद्ध कर खून की होली खेलता हुआ मर जाऊँगा। मेरे मर जाने पर कोई मेरी राख को समेटता फिरे, मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं।

टिप्पणी—सातवीं पंक्ति का एक पाठान्तर इस प्रकार भी मिलता है—

'देइ कै धरनि जो राखै जीऊ। सो कस आपुहि कहि सक पीऊ।'

अर्थात् जो अपनी पत्नी को देकर अपने प्राणों की रक्षा करता है वह फिर अपने को 'पति' कैसे कह सकता है।

(५७२)

अनु राजा सो जरै निआना। बादसाह कै सेव न माना॥
बहुतन्ह अस गढ़ कीन्ह सजवना। अंत भई लंका जस रवना॥
जेहि दिन वह छेंकै गढ़ घाटी। होइ अन्न ओही दिन माटी॥
तू जानसि जल चुवै पहारू। सो रोवै मन सँवरि-सँघारू॥
सूतहि सूत सँवरि गढ़ रोवा। कस होइहि जौ होइहि ढोवा॥
सँवरि पहार सो ढारै आँसू। पै तोहि सूझ न आपन नासू॥
आजु कालिह चाहै गढ़ टूटा। अबहुँ मानु जौ चाहसि छूटा॥
हैं जो पाँच नग तो पहँ, लेइ पाँचो कहँ भेंट।
मकु सो एक गुन मानै, सब ऐगुन धरि मेट॥४॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन की दृढ़ प्रतिज्ञा भरी बातों को सुन सरजा कहने लगा कि हे राजा! जो राजा बादशाह की सेवा करना स्वीकार नहीं करता, वह अन्त में जल कर खाक हो जाता है। बहुत-से राजाओं ने तुम्हारे ही समान अपने गढ़ों को सजाया था अर्थात् सामग्री इकट्ठी कर ली थी, परन्तु अन्त में वे गढ़ उसी प्रकार जल कर नष्ट हो गए थे जैसे रावण की लङ्का भस्म हुई थी। जिस दिन बादशाह गढ़ और घाटी का घेरा डाल देता है, उसी दिन सारा अन्न मिट्टी बन जाता है; अर्थात् गढ़ वालों का खाना-पीना हराम हो जाता है। तू समझता है कि तेरे पहाड़ से पानी झरता है, परन्तु असलियत यह है कि वह पहाड़ भविष्य में होने वाले संहार का मन-ही-मन स्मरण कर सन्ताप के कारण आँसू टपकाता रहता है। तेरा सारा गढ़ उसी भावी विनाश का स्मरण कर अपने रोम-रोम द्वारा रो रहा है कि जब गढ़ के भीतर लूट मचेगी तब क्या होगा? उसी विनाश का स्मरण कर पहाड़ झरनों के जल के रूप में आँसू बहा रहा है। परन्तु तुझे अपना भावी विनाश नहीं दिखाई पड़ता। तेरा यह गढ़ आज कल में ही टूटने वाला है। यदि तू अपना छुटकारा चाहता है तो अब भी मान जा।

तेरे पास जो पाँच रत्न हैं, उन्हें ले जाकर बादशाह को भेंट कर दे। शायद तेरे इस गुण अर्थात् अच्छे काम को देखकर ही बादशाह तेरे सारे अवगुणों को क्षमा कर दे और तुझ पर प्रसन्न हो जाय।

(५७३)

अनु सरजा को मेटै पारा। बादसाह बड़ अहै तुम्हारा॥
ऐगुन मेटि सकै पुनि सोई। औ जो कीन्ह चहै सो होई॥
नग पाँचौं देइ देउँ भँडारा। इसकंदर सौं बाँचै दारा॥
जौ यह वचन त माथे मोरे। सेवा करौं ठाढ़ कर जोरे॥
पै बिनु सपथ न अस मन माना। सपथ बोल बाचा-परवानाँ॥
खंभ जो गरुअ लीन्ह जग भारू। तेहि क बोल नहिं टरै पहारू॥
नाव जो माँझ भार हुँत गीवा। सरजै कहा मंद वह जीवा॥
सरजै सपथ कीन्ह छल, बैनहि मीठै मीठ।
राजा कर मन माना, माना तुरत बसीठ॥५॥

व्याख्या—सरजा द्वारा पाँचों रत्न भेंट करने के प्रस्ताव को सुनकर राजा रत्नसेन कहने लगा—हे सरजा! तुम्हारा बादशाह बहुत बड़ा है, इस बात को कौन अस्वीकार कर सकता है या मिटा सकता है। वही दूसरों के अवगुणों को मिटा सकता है अर्थात् दूसरों के अपराधों को क्षमा कर सकता है। वह जो चाहे सो कर सकता है। मैं उसे पाँचों रत्न देकर साथ में अपना खजाना भी दे दूँगा। यदि ऐसा करने से ही मुझे मुक्ति मिल सकती है तो यह शर्त स्वीकार कर मैं उसी प्रकार मुक्ति पाने के लिए तैयार हूँ जिस प्रकार फारस-सम्राट दारा ने भेंट देकर यूनान-सम्राट सिकन्दर से अपनी रक्षा की थी। अगर बादशाह का यह वचन सत्य है तो मेरे सिर-माथे पर है अर्थात् मुझे स्वीकार है। मैं हाथ जोड़े खड़ा हो उसकी सेवा करूँगा। परन्तु तुम्हारी तरफ से बिना शपथ उठाये मेरा मन इस बात को नहीं मानेगा; अर्थात् मैं इस प्रस्ताव को तभी स्वीकार करूँगा जब तुम शपथ उठा कर यह बात कहोगे। अपने वचन के प्रमाण-स्वरूप तुम्हें शपथ उठानी पड़ेगी। राजा की यह बात सुन सरजा ने कहा—जिसने विशाल स्तम्भ के समान सारे संसार के भारी बोझ को अपने ऊपर सम्हाल रखा है अर्थात् जो सारे संसार के शासन को चला रहा है, उसका वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। पर्वत भले ही अपने स्थान से हिल जाय परन्तु बादशाह का वचन सदैव अटल रहेगा। वह मनुष्य नीच होता है जो किसी का भार अपने ऊपर लेकर फिर बीच में गरदन हटा उस भार को परे फेंक देता है। भाव यह है कि जिस प्रकार समुद्री डाकू यात्रियों को फुसला नाव में बैठा समुद्र में ले जाते थे और फिर बीच समुद्र में उन्हें मार उनका सामान लूट लेते थे, उसी प्रकार किसी को विश्वास दिला कर फिर धोखा देना नीचों का काम है।

यह कह कर सरजा ने छल पूर्वक मीठे वचन बोलते हुए शपथ उठाई। उसे सुन राजा के मन को विश्वास हो गया और उसने तुरन्त बादशाह के दूत की बात स्वीकार कर ली।

(५७४)

हंस कनक पींजर-हुंत आना । औ अमृत नग परस-पखाना ॥
औ सोनहार सोन के डाँडी । सारदूल रूपे के काँड़ी ॥
सो बसीठ सरजा लेइ आवा । बादसाह कहँ आनि मेरावा ॥
ए जगसूर भूमि - उजियारे । बिनती करहिं काग मसि-कारे ॥
बड़ परताप तोर जग तपा । नवौ खंड तोहि को नहिं छपा ? ॥
कोह छोह दूनौ तोहि पाहाँ । मारसि धूप, जियावसि छाहाँ ॥
जौ मन सूर चाँद सौं रूसा । गहन गरासा, परा मँजूसा ॥
भोर होइ जौ लागै, उठहिं रोर कै काग ।
मसि छूटै सब रैनि कै, कागहि केर अभाग[1] ॥६॥

व्याख्या—सरजा के प्रस्ताव को स्वीकार कर राजा रत्नसेन ने पिंजड़े सहित स्वर्ण-हंस को मँगाया । और फिर अमृत, पारस पत्थर मँगाए । फिर सोने की डंडी पर बैठा सोनहा (समुद्री) पक्षी आया । और चाँदी के कठघरे में बन्द शार्दूल लाया गया । राजा का एक दूत इन पाँचों रत्नों को लेकर सरजा के साथ चला और सरजा उसे अपने साथ ले बादशाह की सेवा में हाजिर हुआ । राजा के दूत ने बादशाह की स्तुति करते हुए कहा कि हे जगत के सूर्य ! पृथ्वी के प्रकाश ! काजल के समान काले कौए तुमसे विनती करते हैं कि हे सूर्य ! तुम कौओं की कालिमा को अपने प्रकाश से दूर कर दो; अर्थात् राजा के सारे अपराध क्षमा कर दो । तुम्हारा महान् प्रताप अपने तेज से सारे संसार को तप्त कर रहा है । नौ खंडों में तुमसे कोई भी बात नहीं छिपी है अर्थात् तुम सर्वज्ञ हो । तुम क्रोध और दया—दोनों ही समान रूप से कर सकते हो । तुम यदि किसी को मारना चाहो तो उसे धूप में तपा कर मार सकते हो और यदि उसे जीवन-दान देना चाहते हो तो उस पर अपनी छत्र-छाया कर देते हो । यदि सूर्य मन में चन्द्रमा से रूठ जाता है, क्रुद्ध हो जाता है तो चन्द्रमा को ग्रहण लग जाता है और वह बन्धन में पड़ जाता है; अर्थात् तुमने क्रुद्ध होकर राजा रत्नसेन को चारों ओर से घेर लिया है ।

जब तुम्हारे उदय होने पर प्रभात होता है तो कौए प्रसन्न हो कोलाहल कर उठते हैं । रात्रि की सारी कालिमा दूर हो जाती है परन्तु कौआ ही ऐसा अभागा है कि उसकी कालिमा नहीं छूटती ।

(५७५)

करि बिनती अज्ञा अस पाई । "कागहु कै मसि आपुहि लाई ॥
पहिलेहि धनुष नवै जब लागै । काग न टिकै, देखि सर भागै ॥

पाठ-भेद—१. कागा काइँ अभाग=तो क्या कौए ही ऐसे अभागे हैं कि उनकी कालिमा न छूटे ।

अबहूँ ते सर सौंहैं होहीं। देखैं धनुक चलहिं फिरि त्योंही ॥
तिन्ह कागन्ह कै कौन बसीठी। जो मुख फेरि चलहिं देइ पीठी ॥
जो सर सौंह होहिं संग्रामा। कित बग होहिं सेत वै सामा ? ॥
करं न आपन ऊजर केसा। फिर फिरि कहै परार सँदेसा ॥
काग नाग ए दूनौ बाँके। अपने चलत साम वै आँके ॥
"कैसेहु जाइ न मेटा, भएउ साम तिन्ह अंग।
सहस बार जौ धोवा, तबहुँ न गा वह रंग"[१] ॥७॥

व्याख्या—राजा के दूत ने बादशाह से विनती कर यह आज्ञा पाई कि कौए ने अपने आप ही अपने शरीर पर कालिमा लगाई है अर्थात् अपने कुटिल स्वभाव के कारण ही अपयश पाया है। जो कौआ होता है वह धनुष को झुकता हुआ देखते ही नहीं टिकता, बाण को देख तुरन्त भाग खड़ा होता है। वे कौए अब भी बाण के सम्मुख फिर आते हैं और धनुष को देखते ही फिर भाग खड़े होते हैं। ऐसे विश्वास-घाती कौओं के दूत का क्या विश्वास किया जाय जो बाण को देखते ही तुरन्त मुख फेर पीठ दिखाकर भाग खड़े होते हैं। जो उस शाही बाण के सम्मुख संग्राम में आ जाते हैं, वे बगुले कैसे सफेद रंग के होते हैं, काले रंग के कैसे हो सकते हैं ? तू अपने को शुद्ध और उज्ज्वल नहीं करता, केवल कौए की तरह इधर-से-उधर सन्देश देता फिरता है। कौआ और साँप दोनों टेढ़े अर्थात् कुटिल होते हैं। वे एक बात पर दृढ़ रहते हैं अर्थात् अपनी कुटिलता को कभी नहीं छोड़ते, सदैव अपनी कालिमा ही प्रकट करते हैं। परन्तु तू अपने को और का और प्रकट कर अर्थात् हमारी स्तुति कर हमारे साथ छल करता है।

जिनके अंग काले हो गए हैं, अब उनकी कालिमा किसी भी प्रकार दूर नहीं की जा सकती। यदि उनको हजार बार भी धोया जाय तो भी उनका रंग नहीं मिट सकता।

टिप्पणी—इस पद का भावार्थ यह है कि बादशाह हिन्दू राजाओं पर अपना क्रोध प्रकट कर रहा है। उसका आशय यह है कि जब उसने आरम्भ में ही दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया था तो हिन्दू राजाओं ने उसकी अधीनता क्यों स्वीकार नहीं कर ली थी। उस समय तो वे भाग खड़े हुए थे और अब फिर लड़ने को सामने आए हैं। जिन राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, वे तो सफेद बगुलों के समान हैं, और जो अभी तक उसके सामने से भागते फिरते हैं वे काले कौओं के समान हैं।

(५७६)

"अब सेवा जो आइ जोहारे। अबहूँ देखु सेत को कारे ॥
कहौ जाइ जौ साँच, न डरना। जहवाँ सरन नाहिं तहँ मरना ॥

पाठ-भेद—१. गयंदहि पंक=हाथी के शरीर में तब भी कीचड़ लगी रहती है।

कालिह आव गढ़ ऊपर भानू । जो रे धनुक, सौंह होइ बानू" ।।
पान बसीठ मया करि पावा । लीन्ह पान, राजा पहँ आवा ।।
जस हम भेंट कीन्ह गा कोहू । सवा माँझ प्रीति औ छोहू ।।
कालिह साह गढ़ देखै आवा । सेवा करहु जैस मन भावा ।।
गुन सौं चलै जो बोहित बोझा । जहँवाँ धनुक बान तहँ सोझा ।।
भा आयसु अस राजघर, बेगि दै करहु रसोइ ।
ऐस सुरस रस मेरवहु, जेहि सौं प्रीति-रस होइ ।।८।।

व्याख्या—बादशाह ने रत्नसेन के दूत से कहा कि अब जब वह मेरी सेवा में आकर मुझे प्रणाम करेगा तब पता चलेगा कि वह श्वेत है या काला; अर्थात् वह छल करेगा या सच्चा बना रहेगा। तुम राजा से जाकर यह कहना कि यदि वह सच्चा है तो उसे मुझसे डरना नहीं चाहिए। जहाँ शरणागति है, वहाँ मारना नहीं पड़ता। कल सूर्य गढ़ के ऊपर आएगा अर्थात् कल बादशाह गढ़ को देखने आयेगा। यदि राजा ने धनुष का रूप दिखाया, अर्थात् कुटिलता की तो उसके सामने फिर मेरा बाण होगा अर्थात् मैं बाण से उसका वध कर डालूँगा। इतना कह बादशाह ने कृपा कर दूत को पान दिया। दूत पान ले राजा के पास पहुँचा और कहा कि जैसे ही हमने बादशाह से भेंट की उसका क्रोध शान्त हो गया। सेवा में ही कृपा और प्रीति बनी रहती है। कल बादशाह गढ़ को देखने आयेगा। उसके आने पर आप जैसा उचित समझें वैसा उसका स्वागत करें। बोझ से लदा हुआ जहाज रस्सी द्वारा खींचा जाता है, अर्थात् जो गुणयुक्त आचरण करता है, जहाज के समान उसमें बादशाह की कृपा का बोझ भरा जाता है अर्थात् उसे बादशाह की कृपा प्राप्त हो जाती है। परन्तु जहाँ धनुष का सा टेढ़ापन अर्थात् कुटिलता रहती है, उसके लिए तो सामने सीधा बाण तैयार रहता है।

दूत की ये बातें सुन राजा रत्नसेन ने राजगृह में आज्ञा दी कि तुरन्त रसोई तैयार की जाय। भोजन में ऐसी सरसता मिलाओ जिससे प्रेम का रस उत्पन्न हो; अर्थात् ऐसा स्वादिष्ट भोजन बनाओ जिसे खा बादशाह के हृदय में प्रेम की भावना उत्पन्न हो।

४५

बादशाह-भोज-खंड

(५७७)

छागर मेढ़ा बड़ औ छोटे । धरि धरि आने जहँ लगि मोटे ॥
हरिन, रोझ, लगुना बन बसे । चीतर गोइन, झाँख औ ससे ॥
तीतर, बटई, लवा न बाँचे । सारस, कूज, पुछार जो नाचे ॥
धरे परेवा पंडुक हेरी । खेहा, गुड़रू और बगेरी ॥
हारिल, चरग, चाह बँदि परे । बन-कुक्कुट, जल-कुक्कुट धरे ॥
चकई चकवा और पिदारे । नकटा, लेदी, सोन सलारे ॥
मोट बड़े सो टोइ-टोइ धरे । ऊबर दूबर कुरुक न, चरे ॥
कंठ परी जब छुरी, रकत ढुरा होइ आँसु ।
कित आपन तन पोखा, भखा परावा माँसु ? ॥१॥

व्याख्या—इस पद में जायसी राजा रत्नसेन द्वारा बादशाह अलाउद्दीन के लिए तैयार करवायी गई विविध प्रकार की भोजन-सामग्री का वर्णन करते हुए पहले मांस पकाने के लिए लाए गए विभिन्न प्रकार के पशुओं और पक्षियों का वर्णन कर रहे हैं—

छोटे और बड़े जितने भी मोटे बकरे और मेंढ़े मिल सके, सब पकड़-पकड़ कर लाए गए । हिरण, रोज, पाढ़ा हिरण, चीतल, गोंढ़ जाति के बारहसिंगे, साँभर, खरगोश आदि वन में रहने वाले पशु तथा तीतर, बटेर, लवा, सारस, क्रौंच, नाचने वाले मोर आदि पक्षी भी न बच सके; अर्थात् इन्हें भी पकड़ कर लाया गया । कबूतर, पिंडकी, खेहा जाति के तीतर, गुड़रू जाति की बटेरें, भार्दूल जाति की भरूही नामक चिड़ियाँ आदि को ढूँढ़-ढूँढ़ कर इकट्ठा किया गया । हरियल, चरग नामक जाति की चिड़िया, चाहा आदि को पकड़ा गया । वन-मुर्गाबी और जल-मुर्गाबी नामक पक्षियों को भी पकड़ लिया गया । चकवी, चकवा, पिद्दे, नकटा जाति की बत्तखें, लेदो नामक छोटी बत्तखें या मुर्गाबियाँ, सवन या कलहंस, सिलहरी जाति की बत्तखें आदि जितने भी पक्षी मिल सके, सब इकट्ठे कर लिए गए । ये पशु-पक्षी मोटे और बड़े जितने भी मिले, उन्हें खोज-खोज कर पकड़ा गया । मोटे और दुबले जो पशु-पक्षी निश्शंक होकर चरते रहते थे, सब को पकड़ लिया गया ।

जब इन पशु-पक्षियों के गले पर छुरी चली तो उनका रक्त आँसू बनकर बहने लगा और वे सोचने लगे कि हमने अपने इस शरीर को दूसरों का मांस खा-खा कर क्यों पुष्ट बनाया था जिससे आज हमें भी दूसरों का भक्ष्य बनना पड़ा।

(५७८)

धरे माछ पढ़िना औ रोहू। धीमर मारत करै न छोहू॥
सिधरी, सौरि, धरी जल गाढ़े। टेंगर टोइ टोइ कै सब काढ़े॥
सींगी भाकुर बिनि सब धरी। पथरी बहुत बाँब बनगरी॥
मारे चरख औ चाल्ह पियासी। जल तजि कहाँ जाहिं जलबासी ?॥
मन होइ मीन चरा सुख-चारा। परा जाल को दुख निरुवारा ?॥
माँटी खाय मच्छ नहिं बाँचे। बाँचहिं काह भोग-सुख राँचे ?॥
मारै कहँ सब अस कै पाले। को उबार तेहि सरवर-घाले ?॥
एहि दुख काँटहि सारि कै, रकत न राखा देह।
पंथ भुलाइ आइ जल बाझे, झूठै जगत सनेह॥२॥

व्याख्या—इस पद में जायसी विभिन्न प्रकार की मछलियों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

धीमरों और मछुओं ने पाठीन और रोहू नामक मछलियाँ पकड़ीं और उन्हें पकड़ते समय तनिक भी दया नहीं दिखाई। सिघरी, सौरी आदि मछलियों को गहरे जल में से पकड़ा और जितनी भी टेंगर जाति की मछलियाँ मिलीं, सब को ढूँढ़-ढूँढ़ कर पकड़ा गया। सींगी और भाकुर नामक मछलियों को बीन-बीन कर पकड़ा गया। पथरी, बाँब और बाँगुर मछलियाँ बहुत सारी लाई गईं। चरखी और चेल्हवा आदि मछलियों को मारा गया और वे प्यास के मारे तड़पने लगीं। जल में निवास करने वाले ये जीव जल को छोड़ कर कहाँ भाग सकते थे ? जिस प्रकार ये सारी मछलियाँ चारे के लोभ में फँस जाने से पकड़ी गईं, उसी प्रकार मन भी इन मछलियों के समान सुखों के प्रति आकर्षित हो अन्त में संसार के जाल में फँस जाता है। फिर उस दुःख से कौन उसका उद्धार कर सकता है; अर्थात् सुख की कामना में फँसकर मन अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। जब मिट्टी खाने वाली मछलियाँ नहीं बच सकीं तो सुख-भोगों में अनुरक्त रहने वाले मनुष्य दुखों से कैसे बच सकते हैं ? मारने के लिए ही सब को इस प्रकार पाला-पोसा गया था। इस संसार रूपी सरोवर में पड़े हुए का कौन उद्धार कर सकता है ?

मछलियों ने इसी दुःख के कारण अपने शरीर में काँटे लगाकर रक्त नहीं रखा। संसार के झूठे स्नेह के कारण वे बेचारी रास्ता भूल इस जल में फँस गई थीं; अर्थात् मछलियों ने समझा था कि जल में वे सुरक्षित रहेंगीं परन्तु चारे के झूठे स्नेह

से आकर्षित हो अन्त में मछुए के जाल में फँस ही गईं। भाव यह है कि मूर्ख झूठे प्रलोभन में पड़ नष्ट हो जाते हैं।

दोहे का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है कि, जो चतुर होते हैं वे काँटों के मार्ग अर्थात् योगमार्ग पर चल तपस्या द्वारा अपने शरीर का रक्त सुखा डालते हैं, परन्तु जो मूर्ख होते हैं वे पथभ्रष्ट हो इस संसार के झूठे स्नेह में पड़ दुखों के जाल में फँस जाते हैं।

(५७६)

देखत गोहूँ कर हिय फाटा। आने तहाँ होव जहँ आटा।।
तब पीसे जब पहिले धोए। कपरछानि माँड़े, भल पोए।।
चढ़ी कराही, पाकहिं पूरी। मुख महँ परत होहि सो चूरी।।
जानहुँ तपत सेत औ उजरी। नैनू चाहि अधिक वै कोंवरी।।
मुख मेलत छन जाहिं बिलाई। सहस सवाद सो पाव जो खाई।।
लुचुई पोइ पोइ घिउ-मेई। पाछे छानि खाँड़-रस मेई।।
पूरि सोहारीं कर घिउ चूआ। छुअत बिलाइ, डरन्ह को छूआ ?।।
कही न जाहिं मिठाई, कहत मीठ सुठि बात।
खात अघात न कोई, हियरा जात सेरात।।३।।

व्याख्या—जायसी विभिन्न पशु-पक्षियों तथा मछलियों का वर्णन करने के उपरान्त गेहूँ से बनी पूड़ियों आदि का वर्णन करते हैं—

(पशु-पक्षियों, मछलियों आदि का वध होता हुआ देख वेदना और करुणा से) गेहूँ का हृदय फट गया। (गेहूँ बीच से चिरा हुआ सा होता है, कवि ने उसी के आधार पर यह कल्पना की है।) गेहूँ भी न बच सका। उसे भी वहाँ लाया गया, जहाँ पीस कर उसका आटा बनाया जा रहा था। पहले गेहुँओं को धोया गया तब पीसा गया। फिर कपड़े में छान कर अर्थात् मैदा बनाकर उसे गूँधा गया और फिर सुन्दर रीति से उसकी पूड़ियाँ बेली गईं। भट्टी पर कढ़ाई चढ़ा कर उसमें पूड़ियाँ तली जाने लगीं जो इतनी मुलायम थीं कि मुँह में जाते ही चूर-चूर हो जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता था मानों वे गरम-गरम और चमकीली पूड़ियाँ मक्खन से भी अधिक कोमल थीं, क्योंकि जिस प्रकार मक्खन मुख में रखते ही घुल जाता है, उसी प्रकार वे पूड़ियाँ भी मुख में रखते ही तुरन्त घुल कर विलीन हो जाती थीं। जो कोई उन पूड़ियों को खाता था उसे हजारों तरह के स्वाद मिलते थे। लुचुई में घी का मोमन देकर उन्हें सुन्दर रीति से धीरे-धीरे बेला गया और फिर घी में तल कर उन्हें खाँड़ की चाशनी में डाल दिया गया। पूड़ी और सोहारी (लुचुई से भी बड़ी पूड़ियाँ) में से घी टपक रहा था। वे इतनी मुलायम और पतली थीं कि हाथ लगाते ही चूर-चूर हो विलीन हो जाती थीं, इसी डर के कारण उन्हें कौन छू सकता था ?

वहाँ इतने प्रकार की मिठाइयाँ बनीं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके विषय में बात भी कहने में बड़ी मीठी लगती थी; अर्थात् उनका नाम सुनते ही मुँह में पानी भर आता था। उन्हें खाते हुए किसी को भी पूर्ण तृप्ति नहीं होती थी परन्तु हृदय शीतल, अर्थात् तृप्त हो जाता था।

(५८०)

चढ़े जो चाउर बरनि न जाहीं। बरन बरन सब सुगँध बसाहीं ॥
राय भोग औ काजर-रानी। झिनवा, रुदवा, दाउदखानी ॥
बासमती, कजरी, रतनारी। मधुकर, ढेला, झीनासारी ॥
घिउकाँदौ और कुँवरबिलासू। रामबास आवै अति बासू ॥
लौंगचूर लाची अति बाँके। सोनखरीका कपुरा पाँके[1] ॥
कोरहन, बड़हन, जड़हन मिला। औ संसारतिलक खँड़बिला ॥
धनिया देवल और अजाना। कहँ लगि बरनौं जावत धाना[2] ॥
सोंधे सहस[3] बरन अस, सुगंध बासना छूटि।
मधुकर पुहुप जो बन रहे[4], आइ परे सब टूटि ॥४॥

व्याख्या—इस पद में जायसी बादशाह अलाउद्दीन की दावत के लिए पकाए गए लगभग २७ प्रकार के चावलों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

उस भोज के लिए जितने प्रकार के चावल पकाने के लिए आग पर चढ़ाए गए उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे सब भिन्न-भिन्न रंगों के तथा सुगन्धित थे। इनमें से मुख्य-मुख्य प्रकार के चावलों के नाम ये थे—राजभोग, रानीकाजल, झिनवा, रुदवा, दाउदखानी, बासमती, कजरी, रतनारी, मधुकर, ढेला, झीनासारी, घिवकाँदों, कुँवर विलास, रामबास, लवंगचूर, लाची, सोन-खरीका, कपूरी (कपूरकान्त), कोरहन, बड़हन, जड़हन, संसार तिलक, खँडविला, धनिया, देवल आदि चावल बड़े सुन्दर और सुगन्धित थे। वहाँ इतने प्रकार के चावल पके कि मैं उनका कहाँ तक वर्णन करूँ। हजारों प्रकार के उन सुगन्धित (सोंधे) चावलों में से जो सुगन्धियाँ उठ रही थीं, उनसे आकर्षित हो वन में विचरण करने वाले भौंरे आ कर उन चावलों पर टूट पड़े।

(५८१)

निरमल माँसु अनूप बघारा। तेहि के अब बरनौं परकारा ॥
कटुवा, बटुवा मिला सुबासू। सीझा अनबन भाँति गरासू ॥

पाठ-भेद—१. कहिअ सो सोंधे लाँबे बाँके। सगुनी बेगरी पढ़िनी पाके ॥
२. रामहंस औ हंसा भौंरी। रूपमाँजरि केतुकी बकौरी ॥
३. सोरह सहस=सोलह हजार। ४. सो परिहरे=उन्हें छोड़ कर।

बहुतै सोंधें घिउ महँ तरे। कस्तूरी केसर सौं भरे॥
सेंधा लोन परा सब हाँड़ी। काटी कंदमूर कै आँड़ी॥
सोआ सौंफ उतारे घना। तिन्ह तें अधिक आव बासना॥
पानि उतारहिं ताकहिं ताका। घीउ परेह माँहि सब पाका॥
औ लीन्हें मासुन्ह के खंडा। लागे चुरै सो बड़-बड़ हंडा॥
छागर बहुत समूची, धरी सरागन्ह भूँजि।
जो अस जेंवन जेंवै, उठै सिंघ अस गूँजि ॥५॥

व्याख्या—चावलों का वर्णन करने के उपरान्त जायसी विभिन्न प्रकार के मांसों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वहाँ वढ़िया मांस बघार (छौंक) लगा कर इतने प्रकार के बनाए गए कि मैं उनका क्या वर्णन करूँ। टुकड़े काट कर कटवाँ तथा पीस कर बटवाँ (कीमा) मांस तैयार किए गए जिनमें अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ मिलाए गए और फिर उन्हें तरह-तरह से पका कर गलाया गया। बहुत-से मांस घी में तले गए और सुगन्धित बनाए गए, फिर उनमें केसर और कस्तूरी भरी गई। मांस की सारी हाँड़ियों में सेंधा नमक डाला गया और फिर अनेक कन्द मूलों की जड़ें अर्थात् गाजर, मूली, प्याज आदि काट-काट कर डाली गईं। फिर उनमें सोआ और सौंफ मिलाकर उतार लिया गया। इन वस्तुओं के मिलाए जाने के कारण उनमें से खूब सुगन्धि आती थी। देख-देख कर अर्थात् अत्यन्त सावधानी के साथ उनका सारा पानी उतार-उतार कर अलग कर दिया गया, अर्थात् उनमें पानी का तनिक-सा भी अंश नहीं रहने दिया गया और उन सबको केवल घी में डाल कर ही पकाया गया। इसके अतिरिक्त मांस के टुकड़े लेकर उन्हें बड़े-बड़े हंडों में डाल धीमी-धीमी आग के ऊपर चुराया अर्थात् धीरे-धीरे पकाया जाने लगा।

अनेक बकरों को समूचा ही अर्थात् पूरा का-पूरा लोहे की शलाखों में बाँध कर आग पर पकाया गया। कवि कहता है कि जो इस प्रकार का भोजन करता है वह सिंह के समान गर्जना कर उठता है अर्थात् सिंह के समान बलवान हो जाता है।

टिप्पणी—इस पद में जायसी ने प्रधान रूप से पाँच प्रकार के मांसों का वर्णन किया है—कटवाँ, बटवाँ, रसेदार, मांस के टुकड़े तथा समूचे बकरे।

(५८२)

भूँजि समोसा घिउ महँ काढ़े। लौंग मरिच जिन्ह भीतर ठाढ़े॥
और माँसु जो अनबन बाँटा। भए फर फूल, आम औ भाँटा॥
नारँग, दारिउँ, तुरँज, जँभीरा। औ हिन्दवाना, बालम खीरा॥
कटहर बड़हर तेउ सँवारे। नरियर, दाख, खजूर छोहारे॥
औ जावत जो खजहजा होहीं। जो जेहि बरन सवाद सो ओहीं॥

सिरका भेइ काढ़ि जनु आने। कवँल जो कीन्ह रहे बिगसाने ॥
कीन्ह मसेवरा, सीझि रसोई। जो कछु सबै माँसु सौं होई ॥
बारी आइ पुकारेसि, लीन्ह सबै करि छूँछ।
सब रस लीन्ह रसोई, को अब मोकहँ पूछ ॥६॥

व्याख्या—मांस के समोसे घी में भून कर तले गए। इनके भीतर साबित लौंग और मिर्चें भरी हुई थीं। जो मांस तरह-तरह से पीसा गया था, वह अनेक प्रकार के फल और फूलों के रूप में तैयार किया गया। उस मांस को आम, बेंगन, नारंगी, अनार, तुरंग, जम्भीरी, तरबूज, वालम खीरा, कटहल, बड़हल, नारियल, दाख, खजूर, छुहारे आदि तथा अन्य जितने भी प्रकार के मेवे आदि हो सकते थे, सबके रूप में पकाया गया। इनमें से जिसका जो वर्ण था उसका वैसा ही सवाद था। भाव यह है कि पीसे हुए मांस को इन फलों तथा मेवों की शक्ल में ढाल कर बनाया गया था और जिस फल की शक्ल वाले मांस को खाते थे उसमें से उसी फल का सा स्वाद आता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो असली फलों को सिरके में डाल रखा गया हो और इस अवसर पर उन्हें खाने के लिए निकाल लिया गया हो। (सिरके में साबित फल डालने से उनका रूप जैसे का तैसा वना रहता है।) मांस के जो कमल के फूल बनाये गए थे वे असली कमल के फूल के समान खिले हुए थे। कबाब तैयार किए गए। वह रसोई इस प्रकार पकाई गई कि वहाँ जो कुछ बना, वह सब मांस का ही बना था।

यह स्थिति देख बाग का माली आकर पुकार मचाने लगा कि मेरे यहाँ जितने फल-फूल थे वे सब तो छूँछे कर दिए गए, क्योंकि उन सब का स्वाद तो इस रसोई में ही ले लिया गया। अब मुझे कौन पूछेगा। भाव यह है कि जब मांस के ही सारे फल-फूल तैयार कर लिए गए तो अब मेरे फल-फूलों को कौन पूछेगा।

(५८३)

काटे माछ मेलि दधि धोए। औ पखारि बहु बार निचोए ॥
करुए तेल कीन्ह बसवारू। मेथी[1] कर तब दीन्ह बघारू ॥
जुगुति जुगुति सब माँछ बघारे। आम चीरि तिन्ह माँझ उतारे ॥
औ परेह तिन्ह[2] चुटपुट राखा। सो रस सुरस पाव जो चाखा ॥
भाँति भाँति सब खाँडर तरे। अंडा तरि तरि बेहर धरे ॥
घीउ टाँक महँ सौंध सेरावा। लौंग मरिच तेहि ऊपर नावा ॥
कुहँकुहँ परा कपूर-बसावा। नख तें बघारि कीन्ह अरदावा ॥
घिरित परेह रहा तस, हाथ पहुँच लगि बूड़।
विरिध खाइ नव जोबन, सौ तिरिया सौं ऊड़[3] ॥७॥

पाठ-भेद—१. मीठे=मीठे तेल का। २. ऊपर तेहि=उनके ऊपर। ३. सौ मेहरी लै ऊड़=सौ स्त्रियों को ले उड़े।

व्याख्या—मछलियों को काट दही में मिलाकर खूब धोया गया (मछली को दही से धोने से उसकी दुर्गन्ध निकल जाती है।) और उन्हें कई बार पानी में धो-धोकर निचोड़ा गया। फिर उन्हें कडुवे तेल में छोंका गया। इसके बाद उनमें मेथी का बघार दिया गया। सभी प्रकार की मछलियों को तरह-तरह से बघारा गया और फिर आमों को चीरकर उनमें डाला गया। उनमें खूब चटपटा शोरवा डाला गया। उस सुन्दर शोरवे का आनन्द वही प्राप्त कर सकता था जो उसे चखता। मछलियों के कतले तरह-तरह से तले गए और फिर अण्डों को तल-तल कर अलग रखा गया। फिर बर्तनों में घी भर कर उसमें सुगन्धि डाली गई और उन कतलों को उसमें डालकर ठंडा किया गया। इसके उपरान्त उनके ऊपर लोंग और मिर्च भुरकी (छिड़की) गई। केसर डाली गई, कपूर का छौंक दिया गया। फिर उसमें नख नामक एक सुगन्धित पदार्थ का छौंक लगा उसका भुरता बनाया गया।

उन पकी हुई मछलियों के ऊपर घी का शोरवा इतना अधिक था कि उसमें पहुँचे तक हाथ डूब जाता था। यदि वृद्ध इस शोरवे को खा लेता था तो युवक बन जाता था और उसमें सौ स्त्रियों के साथ विवाह करने की शक्ति आ जाती थी।

(५८४)

भाँति भाँति सीझीं तरकारी। कइउ भाँति कोहँड़न कै फारी॥
बने आनि लौआ परबती। रयता कीन्ह काटि रती रती॥
चूक लाइ कै रींधे भाँटा। अरुई कहँ भल अरहन बाटा॥
तोरई, चिचिड़ा, डेंड़सी तरी। जीर धुँगार झार सब भरी॥
परवर कुँदरू भूँजे ठाढ़े। बहुतै घिउ महँ चुरमुर काढ़े॥
करुई काढ़ि करैला काटे। आदी मेलि तरे कै खाटे॥
रींधे काढ़ सेब कै फारा। छौंकि साग पुनि सोंध उतारा॥
सीझीं सब तरकारी, भा जेंवन सब ऊँच।
दहुँ का रुचै साह कहँ, केहि पर दिस्टि पहूँच॥८॥

व्याख्या—राजा रतनसेन द्वारा बादशाह अलाउद्दीन के निमित तैयार कराए गए उस भोज में तरह-तरह की अनेक तरकारियाँ पकाई गईं। कई प्रकार की कद्दू की फाँकें तैयार की गईं। पहाड़ी लौकी लाकर बनाई गईं। उनके बहुत महीन टुकड़े काट-काट कर रायता तैयार किया गया। खटाई मिलाकर बैंगन पकाए गए। अरबी की तरकारी में अच्छी तरह से आलन पीस कर दिया गया। तोरई, चिचिड़ा और टिण्डे का साग तल कर पकाया गया और उनमें जीरे का धुँगार दिया गया। उस धुँगार की गरमी से सारी तरकारियाँ महक उठीं। परवल, कुंदरू साबित ही भूने गए और उन्हें बहुत सारे घी में तल खूब कुरकुरे कर निकाल लिया गया। (नमक हल्दी के साथ मिलाकर) करेलों का कड़ुवापन निकाल कर उन्हें काटा गया और

अदरख मिला खटाई डाल उन्हें खूब अच्छी तरह से तला गया। सेम की फलियाँ साबित ही राँधी गईं। सारी तरकारियों में छोंक दे उन्हें सुगन्धित कर उतार लिया गया।

सारी तरकारियों को पकाकर सर्वश्रेष्ठ भोजन की दावत दी गई। न मालूम भोजन करते समय बादशाह को कौन-सी वस्तु पसन्द आ जाय और किस पर उसकी दृष्टि पहुँच जाय।

(५८५)

घिउ कराह भरि, बेगर धरा। भाँति भाँति के पाकहि बरा॥
एक न आदी मिरिच सौं पीठा। दूसर दूध खाँड़ सौं मीठा॥
भई मुगौछी मिरिचैं परी। कीन्ह मुगौरा औ बहु बरी॥
भईं मेथौरी, सिरिका परा। सोंठि नाइ कै खरसा धरा॥
माठा महि महियाउर नावा। भीज बरा नैनू जनु खावा॥
खंडै कीन्ह आमचुर परा। लौंग लायची सौं खँडवरा।
कढ़ी सँवारी और फुलौरी। औ खँड़वानी लाइ बरौरी॥
रिकवँच कीन्ह नाइ कै, हींग मरिच औ आद।
एक खंड जौ खाइ तौ, पावै सहस सवाद॥६॥

व्याख्या - बड़े कड़ाह में घी भर कर रख दिया गया। बेगर अर्थात् उर्द या मूँग के रवादार आटे से तरह-तरह के बड़े पकाए गए। एक ओर अदरख और मिर्च के साथ पीस कर पिट्ठी बनाई गई, और दूसरी ओर दूध और खाँड़ मिलाकर मीठे बड़े पकाए गए। मिर्चें डालकर मूँग की मुगौछीं बनाई गईं और साथ ही अनेक प्रकार के मँगौड़े और बड़ियाँ तैयार की गईं। मथौरी नामक बड़ियाँ तैयार की गईं जिसमें सिरका पड़ा हुआ था। सोंठ डालकर खिरिसा बनाया गया। (सोंठ शक्कर पीस उन्हें आटे की गुझियों में भर घी में तल खाँड़ की चाशनी में तला जाता है, यही खिरिसा कहलाता है।) मट्ठा (छाछ) मथ कर उसमें महियावर (मट्ठे में पके चावल) बनाई गई। बड़े भीग कर इतने मुलायम हो गए थे कि खाते समय ऐसा लगता था, मानो मक्खन खा रहे हों। खाँड़ की चाशनी बना उसमें अमचूर (आम की खटाई) डाली गई और फिर लौंग, इलायची डाल सोंठ तैयार की गई। कढ़ी और फुलौरी बनाई गईं और खाँड़ के रस में उर्द की पकौड़ी बनाई गईं।

हींग, मिर्च और अदरख पिट्ठी में मिलाकर अरबी या कद्दू के पत्ते बनाए गए। यदि कोई इनका एक टुकड़ा भी खा लेता था तो उसे हजारों तरह के स्वाद मिलते थे।

(५८६)

तहरी पाकि लौंग औ गरी। परी चिरौंजी औ खरहरी॥
घिउ महँ भूँजि पकाए पेठा। औ अमृत गुरंब भरे मेठा॥

चँबक-लोहँड़ा औटा खोवा। भा हलवा घिउ गरत निचोवा ॥
सिखरन सौंध छनाई गाढ़ी। जामी दूध दही कै साढ़ी ॥
दूध दही कै मुरंडा बाँधे। और सँधाने अनबन साधे ॥
भइ जो मिठाई कही न जाई। मुख मेलत खन जाई बिलाई ॥
मोतीचूर, छाल औ ठोरी। माठ, पिराकैं और बुंदौरी ॥
फेनी पापर भूँजे, भा अनेक परकार।
भइ जाउरि पचियाउरि, सीझी सब जेवनार ॥१०॥

व्याख्या—बड़ी और हरी मटर पड़ी तहरी (खिचड़ी) पकाई गई जिसमें लौंग, नारियल की गिरी, चिरौंजी और छुआरे पड़े थे। घी में भून कर पेठा पकाया गया। और अमृत के समान मीठा गुड़म्मा बना उससे मटके भर लिए गए। चुम्बक-लोहे की कड़ाही में खोया गरम किया गया। ऐसा हलुवा बनाया गया जिसमें से घी टपकता रहता था। सुगन्धित पदार्थ डालकर गाढ़ी-गाढ़ी सिखरन छानी गई। मोटी मलाई वाले दूध का दही जमाया गया। दूध और दही के मुरंडे बाँध कर बनाए गए, और तरह-तरह के अचार तैयार किए गए। जो मिठाइयाँ तैयार की गईं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे मुख में डालते ही घुल जाती थीं। मोतीचूर के लड्डू, छाल नामक मिठाई, ठोर, मठरी, गुझिया जो बुंदियाँ नामक मिठाइयाँ बनाई गईं।
फेनी बनी और पापड़ भूने गए। इस प्रकार अनेक प्रकार की भोजन की सामग्री तैयार की गई। अन्त में गाढ़ी खीर तथा खुरमा, शकरपारे आदि की मीठी तश्तरियाँ तैयार की गईं। इस प्रकार सारी ज्यौनार सिद्ध हुई अर्थात् पूर्ण हुई।

(५८७)

जत परकार रसोइ बखानी। तत सब भई पानि सौं सानी ॥
पानी मूल, परिख जौ कोई। पानी बिना सवाद न होई ॥
अमृत-पान सह अमृत आना। पानी सौं घट रहै पराना ॥
पानी दूध औ पानी घीऊ। पानि घटै, घट रहै न जीऊ ॥
पानी माँझ समानी जोती। पानिहि उपजै मानिक मोती ॥
पानिहि सौं सब निरमल कला। पानी छुए होइ निरमला ॥
सो पानी मन गरब न करई। सीस नाइ खाले पग धरई ॥
मुहमद नीर गँभीर जो, भरे सो मिले समुंद।
भरै ते भारी होइ रहे, छूँछे बाजहिं दुंद ॥११॥

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि मैंने जितने प्रकार की रसोई का वर्णन किया है, वह सब तभी तैयार हो सकी, जब उसमें पानी मिलाया गया। यदि कोई परीक्षा करके देखे तो पानी ही सब का मूल सिद्ध होगा। पानी के बिना किसी भी वस्तु में

स्वाद नहीं आता। अमृत-पान के साथ मानो यह पानी रूपी अमृत ही लाया गया है। पानी से शरीर में प्राण सुरक्षित रहते हैं। पानी ही दूध, और पानी ही घी है। पानी घटने से शरीर में प्राण नहीं रह सकते। पानी में ही ज्योति समाई हुई है। पानी से ही माणिक और मोती उत्पन्न होते हैं। पानी से ही सब की कला निर्मल बनती है। जो पानी को छू लेता है वही निर्मल हो जाता है; अर्थात् पानी द्वारा ही सारी वस्तुएँ स्वच्छ और निर्मल बनाई जाती हैं। ऐसा महत्त्वशाली पानी कभी मन में गर्व नहीं करता। वह सिर झुका नीचे की ओर ही कदम बढ़ाता है, अर्थात् सदैव नीचे की ओर ही बहता है।

जायसी कहते हैं कि जो नदियाँ गहरे जल से भरी होती हैं, वे समुद्र में मिल जाती हैं। जो घड़े भरे होते हैं, वे गम्भीर अर्थात् भारी होते हैं परन्तु जो खाली होते हैं वे नगाड़े के समान बजते हैं। भाव यह है कि जो पुरुष गम्भीर होते हैं, वे अधिक महत्त्वशाली होते हैं। ऐसे मनुष्य बात कम और काम अधिक करते हैं। परन्तु जो उथले अर्थात् हल्के स्वभाव वाले होते हैं, वे बातूनी होते हैं और कुछ भी नहीं कर पाते।

टिप्पणी—उपर्युक्त दोहे के भाव को व्यक्त करने वाली 'मेघदूत' की एक ऐसी ही पंक्ति द्रष्टव्य है—

'रिक्तः सर्वो भवित हि लघुः पूर्णता गौरवाय।'

४६

चित्तौड़गढ़-वर्णन-खंड

(५८८)

जेवाँ साह[1] जो भएउ बिहाना। गढ़ देखै गवना सुलताना॥
कवँल-सहाय सूर सँग लीन्हा। राघव चेतन आगे कीन्हा॥
ततखन आइ बिवाँन पहूँचा। मन तें अधिक, गगन तें ऊँचा॥
उघरी पवँरि, चला सुलतानू। जानहु चला गगन कहँ भानू॥
पवँरी सात, सात खँड बाँके। सातौ खंड गाढ़ दुइ नाके[2]॥
आजु पवँरि-मुख भा निरमरा। जौ सुलतान आइ पग धरा॥
जनहुँ उरेह काटि सब काढ़ी। चित्र क मूरति बिनवहिं ठाढ़ी॥
लाखन बैठ पवँरिया, जिन्ह तें नवहिं करोरि।
तिन्ह सब पवँरि उघारे, ठाढ़ भए कर जोरि॥१॥

व्याख्या—जब प्रभात हुआ तो बादशाह ने भोजन किया और फिर गढ़ को देखने के लिए चल दिया। बादशाह (सूर्य) ने कमल की प्राप्ति में सहायक साथी अथवा स्वयं कमल अर्थात् सरजा को अपने साथ ले लिया और राघव चेतन को अपने आगे-आगे चलने की आज्ञा दी। उसी क्षण बादशाह का विमान, अर्थात् पालकी आ पहुँची, जो मन से भी अधिक तेज चलने वाला और गगन से भी अधिक ऊँचा था। बादशाह के आते ही ड्योढ़ी खोल दी गई और अलाउद्दीन ने भीतर प्रवेश किया। उस समय वह ऐसा प्रतापशाली प्रतीत हो रहा था मानो सूर्य आकाश में ऊपर उठता चला जा रहा हो। गढ़ में सात ड्योढ़ियाँ तथा सात बाँके खण्ड थे। उन सात खण्डों में से दो बड़ी मजबूत सैनिक चौकियाँ थीं। आज गढ़ की ड्योढ़ी का मुख उज्ज्वल हो गया, क्योंकि आज दिल्ली के सुल्तान ने आकर अपने चरणों से उसे पवित्र कर दिया था। उस ड्योढ़ी में ऐसी मूर्तियाँ बनी हुई थीं जो पत्थर काट और उभार कर बनाई गई थीं। वे सुन्दर मूर्तियाँ इतनी भावपूर्ण थीं मानो खड़ी हुई स्वागत के लिए विनय कर रही हों।

पाठ-भेद—१. सीझि रसोई=रसोई सिद्ध हुई, तैयार हो गई। २. सातौ गढ़ि काढ़ी दै टाँकी=वे सातों टाँकी के द्वारा गढ़ कर निकाली अर्थात् बनाई गई थीं।

उन ड्योढ़ियों पर लाखों द्वार-रक्षक बैठे थे जो इतने वीर थे कि अपने सामने युद्ध में करोड़ों को झुका देते थे। उन सब ने सारी ड्योढ़ियों के दरवाजे खोल दिए और बादशाह के स्वागतार्थ हाथ जोड़ खड़े हो गए।

टिप्पणी—(१) इस पद की प्रथम पंक्ति अशुद्ध प्रतीत होती है, क्योंकि बादशाह ने अभी तक भोजन नहीं किया है। जायसी ने ज्यौनार का उल्लेख इसी खंड की पद संख्या १४ में किया है—'भइ जिवनार फिरा खँडवानी।' इसलिए प्रभात होते ही ज्यौनार हो जाना संगत नहीं प्रतीत होता। डा० अग्रवाल ने इस पंक्ति का पाठान्तर इस प्रकार माना है—'सीझि रसोई भएउ बिहानू।' अर्थात् रसोई पकते-पकते सुबह हो गई। यह पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है।

(२) 'कँवल-सहाय' का अर्थ 'सरजा' इसलिए माना गया है, क्योंकि 'सरजा' अर्थात् 'सर+जा' का अर्थ हुआ 'सरोवर में उत्पन्न होने वाला'। कमल भी सरोवर में उत्पन्न होता है। इसलिए 'सरजा' कमल का साथी हुआ।

(५८६)

सातौ पँवरी कनक-केवारा। सातो पर बाजहिं घरियारा॥
सात रंग तिन्ह सातौ पँवरी। तब तिन्ह चढ़ै फिरै नव भँवरी॥
खँड खँड साज पलँग औ पीढ़ी। जानहुँ इन्द्रलोक कै सीढ़ी॥
चन्दन बिरिछ सोह तहँ छाँहा। अमृत-कुंड भरे तेहि माँहा॥
फरे खजहजा दारिउँ दाखा। जो ओहि पंथ जाइ सो चाखा॥
कनक-छत्र सिंघासन साजा। पैठत पंवरि मिला लेइ राजा॥
बादशाह चढ़ि चितउर देखा। सब संसार पाँव तर लेखा॥
देखा साह गगन-गढ़, इंद्रलोक कर साज।
कहिय राज फुर ताकर, सरग करै अस राज॥२॥

व्याख्या—चित्तौड़गढ़ की सातों ड्योढ़ियों में सोने के किवाड़ लगे हुए थे। सातों पर ही घड़ियाल बजा करते थे। सातों ड्योढ़ियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के सात रंगों की थीं। उन पर तभी चढ़ा जा सकता था जब पहले नौ चक्कर काट लिए जाते थे। प्रत्येक खण्ड में पलंग और पीढ़ियाँ (चौकियाँ) सजी हुई थीं। वे पलंग और चौकियाँ इतनी ऊँची थीं मानो इन्द्रलोक की सीढ़ियाँ हों। वहाँ चन्दन के वृक्षों की छाया सुशोभित थी और उस छाया में स्थान-स्थान पर अमृत के कुंड भरे हुए थे। अनार और अंगूर तथा अनेक प्रकार के मेवों के वृक्ष वहाँ फल रहे थे। उनको वही चख सकता था जो उस मार्ग पर चलता। राजा रत्नसेन वहाँ सिंहासन पर सोने का छत्र धारण किए बैठा था। बादशाह के ड्योढ़ी में प्रवेश करते ही राजा ने आगे बढ़ उसका स्वागत किया। बादशाह ने ऊपर चढ़ चित्तौड़ गढ़ को देखा। वह

गढ़ इतना ऊँचा था कि उस पर खड़े बादशाह को सारा संसार अपने पैरों के नीचे पड़ा हुआ प्रतीत हुआ।

बादशाह ने गगन के समान ऊँचे उस गढ़ को देखा, जिसकी शोभा इन्द्रलोक के समान थी। उसे देख बादशाह के मुख से अनायास ही यह वाक्य निकला कि—'सच्चा राजा तो वही है जो ऐसे स्वर्ग के समान ऊँचे गढ़ पर राज्य करता है।'

(५९०)

चढ़ि गढ़ ऊपर संगति[1] देखो। इंद्रसभा[2] सो जानि बिसेखी॥
ताल तलावा सरवर भरे। औ अँबराव चहूँ दिसि फरे॥
कुआँ बावरी भाँतिहि भाँती। मठ मंडप साजे चहुँ पाँती॥
राय रंक घर घर सुख चाऊ। कनक मँदिर नग कीन्ह जड़ाऊ॥
निसि दिन बाजहिं मादर तूरा। रहस कूद सब भरे सेंदूरा॥
रतन पदारथ नग जो बखाने। घूरन्ह माँह[3] देख छहराने॥
मँदिर मँदिर फुलवारी बारी। बार बार बहु चित्र सँवारी॥
पाँस सारि कुंवर सब खेलहिं, गीतन्ह स्रवन ओनाहिं।
चैन चाव तस देखा, जनु गढ़ छेंका नाहिं॥३॥

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़गढ़ के ऊपर चढ़ वहाँ बैठी राजसभा को देखा, जो उसे इन्द्र-सभा के समान दिखाई पड़ी। नगर में चारों ओर ताल, तलैया और सरोवर जल से भरे थे; और चारों ओर आम के बाग फलों से लदे थे। वहाँ भाँति-भाँति के कुआ और बावड़ियाँ, मठ और मण्डप थे जो चारों ओर पंक्तियों में सजे थे। राजा और रंक—सभी के घर-घर में सुख और आनन्द छा रहा था। सोने के घरों में रत्न जड़े थे। वहाँ रात-दिन मार्दल और तुरही बाजे बजते रहते थे और नारियाँ सिन्दूर से माँग भरे आनन्द क्रीड़ाएँ किया करती थीं। जितने भी रत्न, हीरे आदि का वर्णन किया जाता है—वे सब वहाँ घूरों पर बिखरे पड़े थे, अर्थात् उनका कोई महत्त्व नहीं था। घर-घर में फुलवारी और वाटिकाएँ बनी थीं और प्रत्येक द्वार पर अनेक प्रकार के चित्र बना उन्हें सजाया गया था।

सारे कुँवर बैठे चौपड़ खेल रहे थे और उनके कान संगीत सुनने में लगे थे। बादशाह ने गढ़ के भीतर चारों ओर ऐसा चैन और आनन्द का वातावरण देखा कि ऐसा प्रतीत होता था मानो गढ़ का घेरा ही न पड़ा हो। भाव यह है कि गढ़ में रहने वाले अपने-अपने कार्यों और मनोरंजनों में इतने व्यस्त थे कि उन्हें गढ़ के घेरे जाने की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। सब निश्चित जीवन व्यतीत कर रहे थे।

पाठ-भेद— १. बसगत=चित्तौड़ की बस्ती। २. इन्द्रपुरी। ३. खोरिन्ह मँह= गलियों में।

(५९१)

देखत साह कीन्ह तहँ फेरा। जहँ मंदिर पदमावति केरा ॥
आस पास सरवर चहुँ पासा। माँझ मँदिर जनु लाग अकासा ॥
कनक सँवारि नगन्ह सब जरा। गगन चंद जनु नखतन्ह भरा ॥
सरवर चहुँ दिसि पुरइन फूली। देखत बारि रहा मन भूली ॥
कुँवरि सहसदस बार अगोरे। दुहुँ दिसि पँवरि ठाढ़ि कर जोरे ॥
सारदूल दुहुँ दिसि गढ़ि काढ़े। गलगाजहिं जानहुँ ते ठाढ़े ॥
जावत कहिए चित्र कटाऊ। तावत पवँरिन्ह बने जड़ाऊ ॥
साह मँदिर अस देखा, जनु कैलास अनूप।
जाकर अस धौराहर, सो रानी केहि रूप ॥४॥

व्याख्या—गढ़ को देखता हुआ बादशाह वहाँ जा निकला, जहाँ पद्मावती का महल था। उसके आसपास चारों ओर सरोवर था और उस सरोवर के मध्य इतना ऊँचा महल बना हुआ था—मानो आकाश से जा लगा हो। उस महल को सोने से सजाकर उसमें सभी प्रकार के रत्न जड़े गए थे। उन रत्नों से जटित वह महल ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो आकाश में नक्षत्रों से घिरा हुआ चन्द्रमा शोभा दे रहा हो। सरोवर में चारों ओर कमल खिल रहे थे। उसका जल इतना निर्मल था कि उसे देखते ही मन मुग्ध हो जाता था। उस महल के द्वार पर दस हजार राजकुमारियाँ सेवा करने के लिए खड़ी थीं। दोनों ओर द्वारपाल हाथ जोड़े खड़े थे। द्वार के दोनों ओर दीवारों पर सिंहों की मूर्तियाँ बन रही थीं जो ऐसी सजीव प्रतीत होती थीं, मानो सिंह खड़े गर्जना कर रहे हों। जितने भी प्रकार के कटाऊ चित्रों का वर्णन किया जाता है, वे सब उन ड्योढ़ियों पर रत्नों से जड़ कर बनाए गए थे।

बादशाह ने स्वर्ग के समान उस अनुपम महल को देखा और सोचने लगा कि वह रानी स्वयं कैसी रूपवती होगी जिसका धवलगृह (महल) इतना सुन्दर है।

(५९२)

नाँघत पँवरि गए खंड साता। सोने भूमि बिछावन राता ॥
आँगन साह ठाढ़ भा आई। मँदिर छाँह अति सीतल पाई ॥
चहूँ पास फुलवारी बारी। माँझ सिंहासन धरा सँवारी ॥
जनु बसंत फूला सब सोने। फल औ फूल बिगसि अति लोने[1] ॥
जहाँ जो ठाँव दिस्टि महँ आवा। दरपन भाव दरस देखरावा ॥
तहाँ पाट राखा सुलतानी। बैठ साह, मन जहाँ सो रानी ॥

पाठ-भेद—१. हँसहि फूल विगसहिं अति लोने=फूल हँस रहे थे और सुन्दर फल विकसित हो रहे थे।

कँवल सुभाय सूर सौं हँसा। सूर क मन चाँदहि पहँ बसा ॥
सो पै जानै नयन-रस[1], हिरदय प्रेम-अँकूर।
चंद जो बस चकोर चित, नयनहिं आव न सूर ॥५॥

व्याख्या - बादशाह ड्योढ़ियों को पार करता हुआ सातवें खंड पर पहुँचा जहाँ की भूमि (फर्श) सोने की थी और जिस पर लाल बिछौने बिछे थे। बादशाह सातवें खंड के आँगन में जाकर खड़ा हो गया। उस महल में उसे अत्यन्त शीतल छाया प्राप्त हुई। चारों ओर फुलवारी और वाटिकायें लगी हुई थीं। उनके बीच सिंहासन को सजाकर रखा गया था। उस स्वर्ण मंडित भवन की शोभा ऐसी थी मानो वसन्त सम्पूर्ण सोने के रूप में फूल रहा हो। वहाँ पर अत्यन्त सुन्दर फल और फूल खिल रहे थे। वहाँ जिस स्थान पर भी दृष्टि पड़ती थी, वही स्थान दर्पण के समान इतना निर्मल था कि उसमें अपना प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता था। भाव यह है कि वह सारा स्थान दर्पण के समान झकाझक चमक रहा था। वहाँ पर बादशाह के लिए सिंहासन रखा गया। बादशाह उस पर बैठ गया, परन्तु उसका मन वहीं लगा हुआ था, जहाँ रानी पद्मावती थी। कमल रूपी राजा रत्नसेन ने सहज भाव से हँस कर बादशाह की ओर देखा। परन्तु सूर्य रूपी बादशाह के मन में तो चन्द्रमा रूपी पद्मावती बस रही थी।

कवि कहता है कि प्रेम रस का धर्म या आनन्द वही जानता है, जिसके हृदय में प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो चुका है। चकोर के हृदय में सदैव चन्द्रमा ही बसता है, इसलिए सूर्य की ओर वह कभी ध्यान तक नहीं देता।

टिप्पणी—अलंकार—अर्थान्तरन्यास।

(५९३)

रानी धौराहर उपराहीं। करै दिस्टि नहिं तहाँ तराहीं ॥
सखी सरेखी साथ बईठी। तपै सूर, ससि आव न दीठी ॥
राजा सेव करै कर जोरे। आजु साह घर आवा मोरे ॥
नट नाटक, पातुरि औ बाआ। आइ अखार माँह सब साजा ॥
प्रेम क लुबुध बहिर औ अंधा। नाच-कूद जानहुँ सब धंधा ॥
जानहुँ काठ नचावै कोई। जो नाचत सो प्रगट न होई ॥
परगट कह राजा सौं बाता। गुपुत प्रेम पदमावति राता ॥
गीत नाद अस धंधा, दहक बिरह कै आँच।
मन कै डोरि लाग तहँ, जहँ सो गहि गुन खाँच ॥६॥

व्याख्या—रानी पद्मावती धवलगृह (महल) के ऊपर बैठी थी। वह नीचे की

पाठ-भेद—१. पेम रस=प्रेम-रस।

ओर दृष्टि तक नहीं डालती थी। उसकी चतुर सहेलियाँ उसके साथ बैठी हुई थीं। सूर्य रूपी अलाउद्दीन उसके विरह में तप रहा था परन्तु चन्द्रमा रूपी पद्मावती उसे नजर नहीं आती थी। राजा रत्नसेन बादशाह के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ा उसकी सेवा कर रहा था और मन-ही-मन स्वयं को भाग्यशाली समझ रहा था कि आज बादशाह उसके घर आया था। नट, अभिनेता, नर्तकियाँ और बाजे बजाने वाले आकर रंग-शाला में इकट्ठे हो गए। परन्तु प्रेम में लुब्ध हुआ मानव अन्धा और बहरा हो जाता है। उसे न तो कुछ दिखाई देता है और न कुछ सुनाई ही पड़ता है। वह यह समझ कर नाच-कूद की ओर ध्यान नहीं देता कि यह तो संसार का काम ही है। भाव यह है कि प्रेम में लीन होने के कारण अलाउद्दीन को वह नाच-रंग अच्छा नहीं लगा। बादशाह इस प्रकार सारे कार्य कर रहा था, मानो वह कठपुतली हो और दूसरा कोई उसे नचा रहा हो परन्तु वह नचाने वाला स्वयं प्रकट नहीं हो रहा था; अर्थात् बादशाह को पद्मावती के दर्शन नहीं प्राप्त हो रहे थे। प्रकट रूप से तो वह राजा रत्नसेन से बातें कर रहा था, परन्तु गुप्त रूप से पद्मावती के प्रेम में अनुरक्त हो रहा था।

उसे वहाँ हो रहा संगीत, गीत, सांसारिक व्यापार आदि नीरस प्रतीत हुए, क्योंकि वह पद्मावती के विरह की अग्नि में दग्ध हो रहा था। उसके मन की डोर तो वहाँ लगी थी, जहाँ बैठी पद्मावती उस डोरी को पकड़े खींच रही थी। भाव यह है कि बादशाह सारे कार्यों के प्रति विरक्त हो, पद्मावती का ही चिन्तन कर रहा था।

टिप्पणी—अलंकार—रूपक।

(५९४)

गोरा बादल राजा पाहाँ। रावत दुवौ दुवौ जनु बाँहाँ॥
आइ स्रवन राजा के लागे। मूसि न जाहिं पुरुष जो जागे॥
बाचा परखि तुरुक हम बूझा। परगट मेर, गुपुत छल सूझा॥
तुम नहिं करौ तुरक सौं मेरू। छल पै करहिं अन्त कै फेरू॥
बैरी कठिन कुटिल जस काँटा। सो मकोय रह राखै आँटा॥
सत्रु कोट जो आइ अगोटी। मीठी खाँड़ जेंवाएहु रोटी॥
हम तेहि ओछ क पावा घातू। मूल गए सँग न रहै पातू॥
यह सो कृस्न बलिराज जस, कीन्ह चहै छर-बाँध।
हम्ह बिचार अस आवै, मेर न दीजिय काँध॥७॥

शब्दार्थ—परगट मेर=प्रकट रूप से मेल करना चाहता है। कै फेरू=घुमा-फिरा कर। आँटा=अवसर। अगोटी=घेरा, छेंका। पावा घातू=घात या छल को समझ लिया है। दीजिए काँध=स्वीकार कीजिए।

व्याख्या—राजा रत्नसेन के पास गोरा और बादल नामक दो सामन्त थे, जो उसकी दोनों भुजाओं के समान अर्थात् प्रधान सहायक थे। उन दोनों ने राजा के पास आ उसके कान में कहा कि हे राजा ! जो पुरुष सजग रहते हैं, वे लूटे नहीं जाते। इस तुर्क की बातों की परीक्षा कर हमने यह समझ लिया है कि यह प्रकट रूप से तो मेल करना चाहता है परन्तु गुप्त रूप से छल करने की सोच रहा है। इसलिए तुम इस तुर्क से मेल मत करो, क्योंकि अन्त में यह घुमा-फिरा कर तुम्हारे साथ अवश्य छल करेगा। शत्रु कुटिल काँटे के समान भयंकर होता है। उसके साथ तो कँटीला मकोय ही रह सकता है, जो अवसर पाकर उसे चूर-चूर कर डालता है; अर्थात् कुटिल के साथ कुटिल बनने से ही काम चलता है। जिस शत्रु ने आकर तुम्हारे किले को घेर लिया था तो क्या ऐसे शत्रु को मीठी खाँड़ के साथ रोटी खिलाना उचित है ? हम इस नीच के दाँव-घात को समझ गए हैं। यह सोच रहा है कि यदि मूल अर्थात् जड़ को मैंने कब्जे में कर लिया, अर्थात् यदि राजा रत्नसेन को मैंने पकड़ लिया तो फिर ये सामन्त रूपी पत्ते आदि मेरे सामने नहीं ठहर सकेंगे।

जिस प्रकार कृष्ण अर्थात् विष्णु भगवान ने राजा बलि को छल कर बाँध लिया था, उसी प्रकार यह तुर्क भी छलकर तुम्हें बाँधना चाहता है। अतः हमारे विचार में ऐसा आता है कि तुम इसके मेल के प्रस्ताव को स्वीकार मत करो।

(५९५)

सुनि राजहि यह बात न भाई। जहाँ मेर तहँ नहिं अधमाई॥
मंदहि भल जो करै भल सोई। अंतहि भला भले कर होई॥
सत्रु जो विष देइ चाहै मारा। दीजिय लोन जानि विष-हारा॥
बिष दीन्हें बिसहर होइ खाई। लोन दिए होइ लोन बिलाई॥
मारे खड़ग खड़ग कर लेई। मारे लोन नाइ सिर देई॥
कौरव विष जो पंडवन्ह दीन्हा। अंतहि दाँव पंडवन्ह लीन्हा॥
जो छल करै ओहि छल बाजा। जैसे सिंघ मँजूसा साजा॥
राजै लोन सुनावा, लाग दुहुन जस लोन।
आए कोहाइ मँदिर कहँ, सिंघ जानु अब गोन॥८॥

व्याख्या—गोरा-बादल की बातें राजा रत्नसेन को अच्छी नहीं लगीं। उसने कहा कि जहाँ मेल होता है वहाँ नीचता नहीं रहती। अच्छा व्यक्ति वही है जो नीच के साथ भी भलाई का व्यवहार करे। अन्त में उस अच्छे व्यक्ति का ही भला होता है। यदि शत्रु विष देकर मारना चाहे तो अपनी ओर से उसे नमक अर्थात् सुन्दर व्यवहार ही देना चाहिए, क्योंकि नमक विष के प्रभाव को दूर करने वाला होता है। भाव यह है कि शत्रु के साथ सुन्दर व्यवहार करने से वह अपनी सारी कटुता भूल मित्र बन जाता है। शत्रु को विष देने से अर्थात् उसके साथ बुरा व्यवहार करने पर

वह सर्प के समान डसने को दौड़ता है। परन्तु यदि उसे नमक दिया जाय अर्थात् उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जाय तो वह स्वयं नमक के समान गल जाता है, अर्थात् शत्रु न रह मित्र वन जाता है। शत्रु पर तलवार उठा मारने से वह भी हाथ में तलवार उठा लेता है। परन्तु यदि उसे सुन्दर व्यवहार द्वारा मारा जाय तो वह सामने अपना सिर झुका देता है; अर्थात् मित्र वन जाता है। कौरवों ने पांडवों को जो विष दिया था तो अन्त में विजय पांडवों की ही रही थी। जो छल करता है, उस छल का परिणाम अन्त में उस छल करने वाले को ही भुगतना पड़ता है, जैसे सिंह फिर पिंजड़े में वन्द हो गया था।

राजा रत्नसेन ने जब नमक अर्थात् सुन्दर व्यवहार का यह माहात्म्य सुनाया तो उन दोनों को राजा की ये वातें घाव पर नमक के समान दुखदायी लगीं। वे राजा से रुष्ट हो अपने-अपने घर चले गए और सोचने लगे कि सिंह अव रस्सी से बँधना चाहता है; अर्थात् राजा अव गिरफ्तार होना चाहता है।

टिप्पणी—'जैसे सिंघ मँजूसा राजा'- यह एक प्रसिद्ध लोक-कथा है। एक वार एक ब्राह्मण ने पिंजड़े में बन्द एक सिंह को दया कर पिंजड़े से मुक्त कर दिया। बाहर निकलते ही सिंह उस ब्राह्मण को खाने दौड़ा। यह देख ब्राह्मण ने भयभीत हो उससे पूछा कि—'क्या भलाई का वदला बुराई है ?' सिंह ने उत्तर दिया—'अपने हाथ में आए भोजन को त्याग देने वाले मूर्ख होते हैं।' इसी समय वहाँ एक गीदड़ आ निकला। दोनों ने उसे पंच वना दिया। गीदड़ ने उनकी बातें सुनकर कहा कि मेरी समझ में पूरा मामला तभी आयेगा, जब पहले तुम दोनों जिस स्थिति में थे उसी में हो जाओ। यह सुन सिंह पुनः पिंजड़े में घुस गया। गीदड़ का संकेत पा ब्राह्मण ने पिंजड़े का दरवाजा बन्द कर दिया। इस प्रकार सिंह को छल के वदले में छल मिला और उसे पुनः पिंजड़े में बन्द हो जाना पड़ा।

(५६६)

राजा कैं सोरह सै दासी। तिन्ह मँह चुनि काढ़ी चौरासी॥
बरन बरन सारी पहिराई। निकसि मंदिर तें सेवा आईं॥
जनु निसरी सब बीरबहूटी। रायमुनी पींजर-हुँत छूटी॥
सबै परथमै जोवन सोहैं। नयन बान औ सारँग भौहैं॥
मारहिं धनुक फेरि सर ओही। पनिघट घाट धनुक जिति मोही॥
काम-कटाछ हनहिं चित-हरनी। एक एक तें आगरि बरनी॥
जानहुँ इन्द्रलोक तें काढ़ी। पाँतिहि पाँति भईं सब ठाढ़ी॥
साह पूछ राघव पहँ, ए सब अछरी आहिं[1]।
तुम जो पदमिनि बरनौ, कहु सो कौन इन माहिं॥९॥

पाठ-भेद—१. सर तीखे नैनाहँ=बाणों जैसे तीखे नेत्रों वाली।

व्याख्या—राजा रत्नसेन के सोलह सौ दासियाँ थीं। उन सब में चुन कर चौरासी दासियाँ छाँटकर अलग कर ली गईं। फिर उन्हें तरह-तरह की रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहनाई गईं। सज-धज कर महल के बाहर आ वे बादशाह की सेवा में उपस्थित हुईं। वे ऐसी सुन्दर प्रतीत हो रही थीं मानो बीरबहूटियाँ बाहर निकल आई हों अथवा रायमुनी नामक छोटी रंग-बिरंगी सुन्दर चिड़ियाँ पिंजड़े में से छूट कर बाहर निकल आई हों। वे सभी यौवन की प्रथम अवस्था में सुशोभित थीं; अर्थात् नवयुवतियाँ थीं। उनके नेत्र बाणों के समान तथा भौंहें धनुष के तुल्य बाँकी थीं। वे अपने भौंह रूपी धनुष पर नेत्र रूपी बाण चढ़ा कर मारती थीं, अर्थात् कटाक्ष द्वारा देखने वालों को घायल कर देती थीं। उन्होंने अपने कटाक्ष-बाणों द्वारा सारे पनघट घाट आदि को जीत कर अपने वश में कर लिया था। चित्त को हरने वाली वे सुन्दरियाँ कामोत्तेजक कटाक्ष बाण मारती थीं और एक-से-एक बढ़कर श्रेष्ठ वर्ण की थीं। ऐसा प्रतीत होता था मानो अप्सराएँ इन्द्रलोक से आकर वहाँ पंक्तियाँ बाँध कर खड़ी हो गई हों।

उन्हें देख बादशाह अलाउद्दीन ने राघव चेतन से पूछा कि ये सब अप्सरायें हैं। तुमने जिस पद्मिनी का वर्णन किया था, वह इनमें से कौन-सी है ?

(५६७)

दीरघ आउ, भूमिपति भारी। इन महँ नाहिं पदमिनि रानी॥
यह फुलवारि सो ओहि कें दासी। कहँ केतकी भँवर जहँ बासी॥
वह तौ पदारथ, यह सब मोती। कहँ ओह दीप पतंग जेहि जोती॥
ए सब तरईं सेव कराहीं। कहँ वह ससि देखत छपि जाहीं॥
जौ लगि सूर क दिस्टि आकासू। तौ लगि ससि न करै परगासू॥
सुनि कै साह दिस्टि हर नावा। हम पाहुन, यह मँदिर परावा॥
पाहुन ऊपर हेरै नाहीं। हना राहु अर्जुन परछाहीं॥
तपै बीज जस धरती, सूख बिरह के घाम।
कब सुदिस्टि सो बरिसै, तन तरिवर होइ जाम॥१०॥

व्याख्या—अलाउद्दीन के प्रश्न को सुन राघव चेतन ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा कि हे महान् सम्राट्! तुम्हे दीर्घ आयु प्राप्त हो। इन स्त्रियों में वह पद्मिनी नारी नहीं है। यह फुलवारी के समान सजी हुई रंग-बिरंगी स्त्रियाँ तो उसकी दासियाँ हैं। यहाँ वह केतकी अर्थात् केतकी के समान सुगन्धित शरीर वाली पद्मिनी कहाँ है, जिसकी गन्ध से आकर्षित हो भौंरे उसके आस-पास मँडराते रहते हैं; अर्थात् ये दासियाँ साधारण पुष्पों के समान तथा वह पद्मिनी केतकी-पुष्प के समान है। वह तो हीरे के समान है और ये सब मोती के समान हैं। यहाँ वह दीपक के समान उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण करने वाली पद्मिनी कहा है जिसके रूप की ज्योति पर पतंगे रूपी

प्रेमी मँडराते रहते हैं। ये सब तो उस चन्द्रमा की सेवा करने वाली तारिकायें हैं। यहाँ वह चन्द्रमा कहाँ है जिसकी रूप-ज्योति के सम्मुख ये सब छिप जाती हैं; अर्थात् मलिन हो जाती हैं। जब तक सूर्य की अर्थात् तुम्हारी दृष्टि आकाश अर्थात् ऊपर की ओर लगी रहेगी तब तक चन्द्रमा प्रकट नहीं होगा। भाव यह है कि जब तक तुम ऊपर देखते रहोगे तब तक पद्मावती महल के ऊपर नहीं प्रकट होगी।

राघव चेतन की यह बात सुन बादशाह ने अपनी दृष्टि नीची कर ली। उसने मन में सोचा कि हम पाहुने (अतिथि) हैं और यह घर भी दूसरे का है। अतिथि कभी ऊपर निगाह उठाकर नहीं देखता (क्योंकि ऐसा करना शिष्टाचार के विरुद्ध होता है)। अर्जुन ने भी (नीचे तेल में) राहु अर्थात् मछली की परछाईं देखकर ही उसे बाण से वेधा था, मत्स्य-भेद किया था।

जैसे बीज धरती के भीतर तपता है उसी प्रकार बादशाह विरह की धूप में सूख रहा था, अर्थात् दग्ध हो रहा था। वह मन-ही-मन कामना कर रहा था कि कब पद्मावती अपनी कृपादृष्टि की उस पर वर्षा करे, जिससे उसका तपता हुआ शरीर अंकुरित हो हरा-भरा वृक्ष बन जाय।

टिप्पणी—अलंकार—सांगरूपक।

(५९८)

सेव करैं दासी चहुँ पासा। अछरी मनहुँ इन्द्र कबिलासा॥
कोउ परात कोउ लोटा लाईं। साह सभा सब हाथ धोवाईं॥
कोई आगे पनवार बिछावहिं। कोई जेंवन सब लेइ लेइ आवहिं॥
माँड़े कोइ जाहिं धरि जूरी। कोई भात परोसहि पूरी॥
कोई लेइ लेइ आवहिं थारा। कोइ परसहि छप्पन परकारा॥
पहिरि जो चीर परोसैं आवहिं। दूसरि और बरन देखरावहिं॥
बरन बरन पहिरे हर फेरा। आव झुंड जस अछरिन्ह केरा॥
पुनि सँधान बहु आनहिं, परसहिं बूकहि बूक।
करहिं सँवार गोसाईं, जहाँ परै किछु चूक॥११॥

व्याख्या—इस पद में जायसी बादशाह की दावत का वर्णन करते हुए कहते हैं कि दासियाँ चारों ओर खड़ी सेवा करती हुई ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो इन्द्र के स्वर्ग की अप्सरायें हों। कोई परात तथा कोई लोटा लेकर आई और उन्होंने बादशाह तथा उसके सारे साथियों के हाथ धुलवाये। किसी ने लोगों के आगे बड़ी-बड़ी पत्तलें बिछाईं और कोई भोजन-सामग्रियाँ ला-ला कर परोसने लगी। किसी ने पत्तलों पर चपातियों की गड्डी लगा कर रखी और कोई भात तथा कोई पूड़ी परोसने लगी। कोई थाल ले-ले कर आईं और कोई छप्पन प्रकार के सामान परोसने लगी।

वे दासियाँ जो वस्त्र पहन कर परोसने के लिए एक बार आती थीं, दूसरी बार आने पर दूसरे ही प्रकार के वस्त्र पहन आती थीं। वे हर बार नए-नए रंगों के वस्त्र बदल-बदल कर आती थीं। वे आती हुई ऐसी लगती थीं—मानो अप्सराओं का झुंड चला आ रहा हो।

फिर अनेक प्रकार के अचार लाए गए और दासियाँ चंगुल भर-भर कर उन्हें परोसने लगीं। जहाँ भी उनसे तनिक सी भी भूल हो जाती थी वहीं वे डर के मारे भगवान का नाम लेने लगती थीं। (भय का कारण यह था कि उस भूल के लिए उन्हें राजा कहीं दंड न दे बैठे।) इस पंक्ति का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जहाँ दासियों से कोई भूल हो जाती थी तो राजा (गोसाईं) स्वयं उसे ठीक कर देता था।

(५६६)

जानहु नखत करहिं रबि सेवा। बिनु ससि सूरहिं भाव न जेंवा॥
बहु परकार फिरहिं हर फेरे। हेरा बहुत न पावा हेरे॥
परीं असूझ सबै तरकारी। लोनी बिना लोन सब खारी॥
मच्छ छुवै आवहिं गड़ि काँटा। जहाँ कवँल तहँ हाथ न आँटा॥
मन लागेउ तेहि कवँल के दंडी। भावै नाहिं एक कनउंडी[1]॥
सो जेंवन नहिं जाकर भूखा। तेहि बिन लाग जनहुँ सब सूखा॥
अनभावत चाखै वैरागा। पंचामृत जानहुँ बिष लागा॥
बैठि सिंघासन गूंजै, सिंघ चरै नहिं घास।
जौ लगि मिरिग न पावै, भोजन करै[2] उपास॥१२॥

व्याख्या—पद्मावती रूपी चन्द्रमा की नक्षत्रों रूपी दासियाँ सूर्य रूपी अलाउद्दीन की सेवा कर रही थीं परन्तु सूर्य (अलाउद्दीन) को चन्द्रमा (पद्मावती) के बिना भोजन अच्छा नहीं लग रहा था। दासियाँ हर बार अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ लाती थीं परन्तु अलाउद्दीन को जिस पदार्थ की इच्छा थी वह उसे खोजने पर भी कहीं नजर नहीं आ रहा था; अर्थात् उसे पद्मावती कहीं भी नहीं दिखाई देती थी। सारी तरकारियों पर उसकी दृष्टि तक नहीं जा रही थी अर्थात् वह तरकारियों की ओर देख तक नहीं रहा था, क्योंकि उस लावण्यवती (नमकीन) सुन्दरी पद्मावती के बिना उसे वे सारे नमकीन पदार्थ खारी अर्थात् अरुचिपूर्ण लगते थे। जब वह खाने के लिए मछली को उठाता था तो उसके हाथ में काँटे से गढ़ जाते थे, क्योंकि जहाँ कमल अर्थात् पद्मावती थी, वहाँ तक उसका हाथ नहीं पहुँचता था। उसका मन तो उस कमलनाल के समान कोमल और सुन्दर पद्मावती में ही लगा हुआ था, इसलिए उसे उन दासियों

पाठ-भेद—१. कठहंडी=काढ की हांडी। २. गनै=गिनता था।

में से एक भी अच्छी नहीं लगती थी। उसके सामने वह भोजन नहीं आ रहा था जिसका वह भूखा था। उसके बिना अर्थात् पद्मावती के बिना उसे वह सारा भोजन सूखा प्रतीत हो रहा था। वह विरक्त मन से अनिच्छापूर्वक उस भोजन को चख रहा था। उसे पंचामृत के समान स्वादिष्ट वह भोजन जहर जैसा लग रहा था।

सिंह को जब भूख लगती है तो वह घास नहीं चरता और किसी ऊँचे स्थान पर बैठ दहाड़ता रहता है। जब तक उसे मृग नहीं मिल जाता, तब तक वह अन्य जीवों के मांस को खाना उपवास करने के समान समझता है; अर्थात् जिस प्रकार सिंह को पूर्ण तृप्ति मृग के मांस से ही होती है, उसी प्रकार पद्मावती के बिना अला-उद्दीन को उस भोजन के करने में आनन्द नहीं आ रहा था। वह पद्मावती को प्राप्त करना चाह रहा था।

टिप्पणी—अलंकार—द्रष्टान्त।

(६००)

पानि लिए दासी चहुँ ओरा। अमृत मानहुँ भरे कचोरा।।
पानि देंहि कपूर कै बासा। सो नहिं पियै दरसकर प्यासा।।
दरसन-पानि देइ तौ जीऔं। बिनु रसना नयनहिं सौं पीऔं।।
पपिहा बूँद - सेवातिन अघा। कौन काज जौ बरिसै मघा ?।।
पुनि लोटा कोपर लेइ आई। कै निरास अब हाथ धोवाई।।
हाथ जो धोवैं बिरह करोरा। सँवरि सँवरि मन हाथ मरोरा।।
विधि मिलाव जासौं मन लागा। जोरहि तूरि प्रेम कर तागा।।
हाथ धोइ जब बैठा, लीन्ह ऊबि कै साँस।।
सँवरा सोई गोसाईं, देइ निरासहि आस।।१३।।

व्याख्या—भोजन के उपरान्त दासियाँ जल लिए चारों ओर घूमने लगीं। वह पानी इतना अच्छा और मीठा था, मानो कटोरे में अमृत भरा हो। वे कपूर से सुगन्धित जल दे रही थीं। परन्तु वह बादशाह, जो पद्मावती के दर्शन का प्यासा था, उस पानी को नहीं पी रहा था। वह मन में सोचने लगा कि—'यदि वह मुझे अपना दर्शन रूपी जल दे तो मैं जी जाऊँगा अर्थात् मुझे शान्ति मिल जायेगी। उस दर्शन रूपी जल को मैं जीभ के बिना केवल नेत्रों से ही पी जाऊँगा; अर्थात् मैं केवल उसके दर्शन करके ही तृप्त हो जाऊँगा, उसका स्पर्श नहीं करूँगा। पपीहा (चातक) स्वाति नक्षत्र के जल की बूँद से ही तृप्त होता है। यदि मघा नक्षत्र का जल बरसता रहे तो भी वह पपीहे के किस काम का ? दासियाँ पुनः लोटा और परात ले आईं। वे अब बादशाह को निराश कर उसके हाथ धुलवाने लगीं। (बादशाह निराश इसलिए हो उठा कि अब हाथ धोने के उपरान्त यहाँ से उठ कर चला जाना पड़ेगा और पद्मावती के दर्शन नहीं हो सकेंगे।) बादशाह जब हाथ धो रहा था तो विरह उसे

कचोट रहा था। वह पद्मावती का स्मरण कर बार-बार अपने हाथ मल रहा था। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि अब विधाता ही मुझे उससे मिला सकता है। जिससे मेरा मन लगा हुआ है, वही प्रेम के इस टूटे हुए धागे को जोड़ेगा।

जब बादशाह हाथ धोकर सिंहासन पर बैठा तो उसने एक गहरी साँस ली। फिर उसने उस भगवान का स्मरण किया जो निराश की आशा पूरी करता है।

(६०१)

भइ जेवनार फिरा खँड़वानी। फिरा अरगजा कुहँकुहँ-पानी॥
नग अमोल सौ थारहि भरैं। राजै सेव आनिकै धरैं॥
बिनती कीन्ह घालि गिउ पागा। ए जगसूर ! सीउ मोहिं लागा॥
औगुन-भरा काँप यह जीऊ। जहाँ भानु तहँ रहै न सीऊ॥
चारिउ खंड भानु अस तपा। जेहि के दिस्टि रैनि-मसि छपा॥
ओ भानुहि अस निरमल कला। दरस जो पावै सो निरमला॥
कँवल भानु देखे पै हँसा। औ भा तेहु चाहि परगसा[1]॥
रतन साम हौं रैनि-मसि, ए रबि ! तिमिर सँघार।
करु सो कृपा-दिस्टि अब, दिवस देहि उजियार॥१४॥

व्याख्या—ज्योनार समाप्त हो जाने पर शर्बत बाँटा गया तथा चन्दन और कुंकुम से सुवासित जल दिया गया। इसके उपरांत राजा रत्नसेन ने सौ थालों में अमूल्य रत्न भर बादशाह की सेवा में उपस्थित किए। और फिर अपने गले में पाग डाल अर्थात् अधीनता प्रदर्शित करते हुए विनय की, कि हे जगत के सूर्य ! मुझे जाड़ा लगता है। अवगुणों से भरे हुए मेरे ये प्राण काँप रहे हैं, परन्तु जहाँ सूर्य होता है वहाँ फिर जाड़ा नहीं रह सकता। चारों दिशाओं में सूर्य ऐसा तपता है कि उसकी दृष्टि पड़ते ही रात्रि की कालिमा दूर हो जाती है। और सूर्य का प्रकाश ऐसा निर्मल होता है कि जो उसके दर्शन कर लेता है, वह भी निर्मल हो जाता है। भाव यह है कि मैं तुम्हारे दर्शन कर निर्मल हो गया हूँ और मुझे अब किसी भी प्रकार का भय नहीं रहा। कमल सूर्य को देख खिल उठता है और सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान बन जाना चाहता है।

मैं रत्नसेन रात्रि की कालिमा के समान काला अर्थात् अवगुणों से भरा हुआ हूँ। हे सूर्य रूपी बादशाह ! मेरे उन कालिमा रूपी दुर्गुणों को नष्ट कर दो। अब मेरे ऊपर अपनी कृपा-दृष्टि करो और दिन का उजाला फैला दो; अर्थात् मुझे अपनी शरण में ले मेरे सारे दुखों को दूर कर दो।

पाठ-भेद—१. औ भानहि चहै परगसा=और सूर्य को इसीलिए प्रकाशित देखना चाहता है।

टिप्पणी—सातवीं पंक्ति का आशय यह है कि रत्नसेन अपना तथा अलाउद्दीन— दोनों का ही कल्याण और हित चाहता है।

(६०२)

सुनि बिनती बिहँसा सुलतानू। सहसौ करा दिपा जस भानू॥
ए राजा! तुइ साँच जुड़ावा। भइ सुदिस्टि अब, सीउ छुड़ावा॥
भानु क सेवा जो कर जीऊ। तेहि मसि कहाँ, कहाँ तेहि सीऊ?॥
खाहु देस आपन करि सेवा। और देउँ माँडौ तोहि, देवा!॥
लीक-पखान पुरुष कर बोला। धुव सुमेरु ऊपर नहिं डोला॥
फेरि पसाउ दीन्ह नग सूरू। लाभ देखाइ लीन्ह चह मूरू॥
हँसि हँसि बोलै, टेकै काँधा। प्रीति भुलाइ चहै छल बाँधा॥
माया-बोल बहुत कै, साह पान हँसि दीन्ह।
पहिले रतन हाथ कै, चहै पदारथ लीन्ह॥१५॥

व्याख्या—राजा रत्नसेन की प्रार्थना सुन सुल्तान अलाउद्दीन हँसने लगा। मानो सूर्य अपनी सहस्र कलाओं के साथ प्रदीप्त हो उठा। उसने राजा से कहा कि हे राजा! तुम्हारा शीत से व्याकुल होना अर्थात् डरना सच्चा था। अब तुम्हारे ऊपर मेरी कृपा-दृष्टि हो गई है अर्थात् मैं तुम पर प्रसन्न हो गया हूँ, इसलिए तुम्हारा शीत अर्थात् भय दूर हो गया है। जो प्राणी सूर्य अर्थात् मेरी सेवा करता है उसमें कालिमा अर्थात् अवगुण कहाँ रह जाते हैं, उसे शीत अर्थात् भय कहाँ सता सकता है? तुम मेरी सेवा करते हुए अपने राज्य का सुख भोगो। हे राजा! ऊपर से मैं तुम्हें माँड़ौगढ़ और देता हूँ। सत्पुरुष के वचन पत्थर की लकीर के समान अमिट और ध्रुव तथा सुमेरु से भी अधिक अटल होते हैं। यह कह बादशाह ने राजा को भेंट में अनेक रत्न दिए। वह राजा को लाभ दिखा कर उसका मूलधन भी छीन लेना चाहता था। इसलिए वह राजा के कन्धे पर हाथ रख उससे हँस-हँस कर बातें कर रहा था। वह राजा को अपनी प्रीति के भुलावे में डाल उसे छल से बाँध लेना चाहता था।

बादशाह ने इस प्रकार छल भरे अनेक वचन कह राजा को हँस कर पान का बीड़ा दिया। पहले वह रत्न अर्थात् रत्नसेन को अपने हाथ में कर फिर हीरा अर्थात् पद्मावती को लेना चाहता था।

टिप्पणी—अलंकार—रूपक।

(६०३)

माया-मोह-बिबस[1] भा राजा। साह खेल सतरंज कर साजा॥
राजा! है जौ लगि सिर घामू। हम तुम घरकि करहिं बिसरामू॥

पाठ-भेद—१. मया सूर=सूर्य अर्थात् अलाउद्दीन की स्नेहभरी कृपा प्राप्त कर।

दरपन साह भीति[1] तहँ लावा। देखौं जबहि झरोखे आवा ॥
खेलहिं दुऔ साह औ राजा। साह क रुख दरपन रह साजा ॥
प्रेम क लुबुध पियादे पाऊँ। ताकै सौंह चलै कर ठाऊँ ॥
घोड़ा देइ फरजीबँद लावा। जेहि मोहरा रुख चहै सो पावा ॥
राजा फील देइ शह माँगा। शह देइ चाह मरं रथ-खाँगा[2] ॥
फीलहि फील देखावा, भए दुऔ चौदाँत।
राजा चहै बुर्द भा, शाह चहै शह-मात ॥१६॥

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन द्वारा फैलाए गए माया-जाल से मोहित हो राजा रत्नसेन विवश हो गया। यह देख बादशाह ने खेलने के लिए शतरंज बिछाई और राजा से बोला कि हे राजा ! जब तक सिर पर धूप है, अर्थात् गरमी अधिक है, तब तक हम-तुम घड़ी भर के लिए विश्राम कर लें। इतना कह बादशाह ने एक दर्पण मँगवा कर दीवार पर इसलिए लगवा दिया कि जब पद्मावती झरोखे में आयेगी तो मैं इस दर्पण में उसकी झलक देख लूँगा। इसके उपरान्त बादशाह और राजा दोनों शतरंज खेलने लगे। अलाउद्दीन का ध्यान बराबर दर्पण पर ही लगा रहता था। प्रेम का लोभी बादशाह अपने प्यादे को चल रहा था। वह सामने दर्पण की ओर टकटकी लगाए हाथ से अपने मोहरों को बढ़ा रहा था। उसने अपने घोड़े की चाल चलकर फरजीबन्द चाल चली; अर्थात् अपने फरजी से राजा के शाह को शह दी। राजा जो मोहरा चलना चाहता था, उसे चलने का उसे अवसर मिल गया। उसने हाथी आगे बढ़ा कर बादशाह के शाह को शह दी। वह शह देकर उसके ऊँट को मार लेना चाहता था।

बादशाह ने अपने हाथी को राजा के हाथी के सामने आ अड़ा दिया और इस प्रकार दोनों हाथी चौदन्ता हो आमने-सामने खड़े हो गए। राजा रत्नसेन तो यह चाल चलकर बादशाह को 'बुर्द' मात देना चाहता था परन्तु बादशाह चाहता था कि उसे पूरी मात दी जाय। भाव यह है कि रत्नसेन बादशाह को पूरी मात न दे उसके साथ सौहार्द्र बनाए रखना चाहता था। परन्तु बादशाह पूरी तरह से मात खाए बिना मानता नहीं था।

टिप्पणी—डा० गुप्त ने दोहे की अन्तिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—राजा चाहता था कि बादशाह (उसके फील को मारकर) बुर्द कर दे क्योंकि उसके पास अपने बादशाह के अतिरिक्त एक ही दो मुहरे थे, किन्तु बादशाह उसे शह-मात देना चाहता था।

पाठ-भेद—१. पैंत=पैताने। २. सह दै साहि फरजी दिग खाँगा=तो बाशशाह दह बचा कर अपने फरजी की दिशा में हट गया।

(६०४)

सूर देख जौ तरईं-दासी । जहँ ससि तहाँ जाइ परगासी ।।
सुना जो हम दिल्ली सुलतानू । देखा आजु तपै जस भानू ।।
ऊँच छत्र जाकर जग माहाँ । जग जो छाँह सब औहि के छाहाँ ।।
बैठि सिंघासन गरबहि गूँजा । एक छत्र चारिउ खँड भूँजा ।।
निरखि न जाइ सौंह ओहि पाहीं । सबै नवहिं करि दिस्टि तराहीं ।।
मनि माथे, ओहि रूप न दूजा । सब रुपवंत करहिं ओहि पूजा ।।
हम अस कसा कसौटी आरस । तहूँ देखु कस कंचन, पारस ।।
बादसाह दिल्ली कर, कित चितउर महँ आव ।
देखि लेहु पदमावति ! जेहि न रहै पछिताव ।।१७।।

व्याख्या—पद्मावती की दासी रूपी नक्षत्रों ने जो सूर्य (अलाउद्दीन) को देखा तो जहाँ चन्द्रमा (पद्मावती) था वहाँ जाकर प्रकाशित हुईं अर्थात् उन्होंने पद्मावती से जाकर कहा कि हमने दिल्ली के सुल्तान की जैसी प्रशंसा सुनी थी, आज देखने पर ज्ञात हुआ कि वह सूर्य के समान तेजस्वी है । सारे संसार में जिसका राज्य-छत्र सबसे अधिक ऊँचा है अर्थात् जो संसार में सबसे बड़ा राजा है । ससार में जितनी भी छाया है वह सब उसी की छाया है; अर्थात् सारा संसार उसी की छत्र-छाया के नीचे आनन्द-पूर्वक रहता है । वह अपने सिंहासन पर बैठ गर्व के साथ हुंकार भरता रहता है और चारों दिशाओं में एकछत्र राज्य करता हुआ उनका उपभोग करता है । वह इतना तेजस्वी है कि उसकी ओर दृष्टि उठाकर नहीं देखा जा सकता । उसके सम्मुख सब लोग नीची नजर कर सिर झुकाते हैं । उसका माथा मणि के समान दमकता है । उसके समान रूपवान कोई भी दूसरा नहीं है । सारे रूपवान पुरुष उसकी पूजा करते हैं । हमने दर्पण में उसके प्रतिबिम्ब को देखकर ही इस बात की परीक्षा की थी । भाव यह है कि अलाउद्दीन इतना तेजस्वी था कि उसकी ओर देखना असम्भव था, इसलिए दासियों ने दर्पण में उसके प्रतिबिम्ब को देखकर ही उसे देख पाया था । इसलिए हे रूप की पारस पद्मावती ! तू भी परीक्षा कर देख ले कि वह सोना कैसा है ।

वह दिल्ली का बादशाह है, इसलिए फिर दुबारा चित्तौड़ क्यों आयेगा । इसलिए हे पद्मावती ! तू उसे देख ले जिससे मन में पछतावा न रह जाय ।

(६०५)

बिगसै कुमुद कहे ससि ठाऊँ । बिगसै कँवल सुने रबि-नाऊँ ।।
भइ निसि, ससि धौराहर चढ़ी । सोरह कला जैस विधि गढ़ी ।।
बिहँसि झरोके आइ सरेखी । निरखि साह दरपन महँ देखी ।।
होतहि दरस परस भा लोना । धरती सरग भएउ सब सोना ।।
रुख माँगत रुख ता सहुँ भएऊ । भा शह-मात, खेल मिटि गएऊ ।।

राजा भेद न जानै झाँपा। भा बिसँभार[1], पवन बिनु काँपा।।
राघव कहा कि लागि सोपारी। लेइ पौढ़ावहिं सेज सँवारी।।
रैनि बीति गइ, भोर भा, उठा सूर तब जागि।
जो देखै ससि नाहीं, रही करा चित लागि।।१८।।

शब्दार्थ—सरेखी=झाँकी। परस भा लोना=पारस का स्पर्श सा हो गया। पवन=वातरोग। लागि सोपारी=सुपाड़ी लग गई है; सुपाड़ी के टुकड़े कभी-कभी गले में अटक जाते हैं, जिससे भयंकर पीड़ा होने लगती है।

व्याख्या—जब पद्मावती की दासियों ने पद्मावती के पास जा यह बात कही तो वह इस प्रकार प्रसन्न हो उठीं जैसे चन्द्रमा को देख कुमुद खिल जाते हैं। उधर कमल रूपी पद्मावती सूर्य रूपी बादशाह का नाम सुन खिल उठी, अर्थात् प्रसन्न हो गई। रात्रि हुई और चन्द्रमा रूपी पद्मावती अपने धवलगृह के ऊपर चढ़ी। वह आभूषणों आदि से युक्त इस प्रकार शोभा पा रही थी जैसा कि विधाता का गढ़ा हुआ सोलह कलाओं से युक्त चन्द्रमा शोभा पाता है। भाव यह है कि वह पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर दिखाई पड़ रही थी। जैसे ही उसने झरोखे में आ हँसकर नीचे की तरफ झाँका वैसे ही बादशाह ने दर्पण में उसकी उस झलक के दर्शन कर लिए। उस रूप की पारस का दर्शन होते ही बादशाह के लिए सब कुछ सुन्दर बन गया (क्योंकि पद्मावती रूप की पारस थी)। उसकी दृष्टि में पृथ्वी से लेकर स्वर्ग तक सोना-ही-सोना दिखाई पड़ने लगा; अर्थात् बादशाह प्रसन्नता के मारे विह्वल हो उठा। राजा रत्नसेन उससे शतरंज का रुख (मोहरा) चलने के लिए कह रहा था, परन्तु बादशाह का रुख दर्पण की ओर था; अर्थात् खेल में उसका ध्यान नहीं लग रहा था। इसी बीच रत्नसेन ने उसे शहमात दे दी और खेल समाप्त हो गया। राजा रत्नसेन बादशाह की हार से इस गुप्त भेद को नहीं जान पाया। बादशाह बेहोश हो गया और बिना वातरोग के ही काँपने लगा। यह देख राघव चेतन ने बहाना बनाकर कहा कि बादशाह को सुपाड़ी लग गई है। उन्हें ले जाकर सजाई हुई शय्या पर लिटा दो।

रात समाप्त हुई, सुबह हो गई। तब बादशाह जाग उठा। उसने देखा कि चन्द्रमा (पद्मावती) नहीं है, परन्तु उसकी कला (सौन्दर्य) उसके हृदय में समा कर रह गयी।

(६०६)

भोजन-प्रेम सो जान जो जेंवा। भँवरहि रुचै बास-रस-केवा।।
दरस देखाइ जाइ ससि छपी। उठा भानु जस जोगी तपी।।
राघव चेति साह पहँ गयऊ। सूरुज देखि कवँल बिसमयऊ।।

पाठ-भेद—१. भै बिख नारि=नारी पद्मावती अलाउद्दीन के लिए विष के समान घातक हो गई।

छत्रपती मन कीन्ह सो पहुँचा । छत्र तुम्हार जगत पर ऊँचा ।।
पाट तुम्हार देवतन्ह पीठी । सरग पतार रहै दिन दीठी ।।
छोह ते पलुहहिं उकठा रूखा । कोह तें महि सायर सब सूखा ।।
सकल जगत तुम्ह नावैं माथा । सब कर जियन तुम्हारे हाथा ।।
दिनहि नयन लाएहु तुम, रैनि भएहु नहिं जाग ।
कस निचिंत अस सोएहु, काह बिलँब अस लाग ? ।।१६।।

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि प्रेम के भोजन के आनन्द को वही जानता है जिसने उस भोजन को खाया है; अर्थात् प्रेम के आनन्द को वही जानता है जिसने किसी से प्रेम किया है । भौंरे को कमल की सुगन्धि और रस प्रिय होता है । भाव यह है कि जिस प्रकार कमल में सुगन्धि और पराग रस—दोनों होते हैं उसी प्रकार प्रेम में भी बाहर गन्ध और भीतर रस होता है । अलाउद्दीन को दर्शन दे, चन्द्रमा रूपी पद्मावती छिप गई । इधर सूर्य (अलाउद्दीन) इस प्रकार जाग कर उठा जैसे समाधिस्थ योगी समाधि भंग होने पर अपने नेत्र खोलता है । यह देख राघव चेतन अलाउद्दीन के पास गया और उससे कहने लगा कि आश्चर्य है कि कमल को देख सूर्य स्तब्ध या आश्चर्य-चकित होकर रह गया है । इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि कमल को देख सूर्य को कमल का विष या गर्मी चढ़ गई है । (यहाँ राघव चेतन बादशाह को उपालम्भ दे रहा है कि साधारणतः सूर्य के प्रकाश से कमल खिल जाता है । यदि सूर्य का ताप अधिक उग्र होता है तो कमल मुरझा भी जाता है । परन्तु यहाँ विपरीत घटना हुई है कि कमल को देख सूर्य उससे विष या गर्मी के प्रभाव से मुरझा गया है; अर्थात् पद्मावती को देख अलाउद्दीन व्याकुल हो उठा है ।)

हे छत्रपति ! तुम जो इच्छा करते हो, वह पूरी हो जाती है । तुम्हारा छत्र संसार में सबसे ऊँचा है, अर्थात् तुम्हारा राज्य संसार में सर्वश्रेष्ठ है । तुम्हारा सिंहासन सदैव देवताओं की पीठ पर रहता है; अर्थात् देवता उसका वहन करते हैं । तुम्हारी दृष्टि स्वर्ग से लेकर पाताल तक सदैव लगी रहती है, अर्थात् तुम सबकी खोज-खबर रखते हो । तुम्हारी कृपा दृष्टि होने से सूखे हुए वृक्ष भी पुनः पल्लवित हो उठते हैं और तुम्हारे क्रोध से पृथ्वी और सागर—सब सूख जाते हैं । सारा संसार तुम्हारे सम्मुख अपना शीश झुकाता है । सब के प्राण तुम्हारी मुट्ठी में रहते हैं ।

तुम दिन के सोए-सोए ऐसे सोए कि रात होने पर भी न जागे ! तुम ऐसे निश्चिन्त होकर कैसे सो गए ? तुम्हें किस कारण ऐसी तन्द्रा लग गई ?

(६०७)

देखि एक कौतुक हौं रहा । रहा अँतरपट, पै नहिं अहा ।।
सरवर देख एक मैं सोई । रहा पानि, पै पान न होई ।।
सरग आइ धरती महँ छावा । रहा धरति, पै धरत न आवा ।।

तिन्ह महँ पुनि एक मंदिर ऊँचा । करन्ह अहा, पर कर न पहूँचा ।।
तेहि मंडप मूरति मैं देखी । बिनु तन, बिनु जिउ जाइ बिसेखी ।।
पूरन चंद होइ जनु तपी । पारस रूप दरस देइ छपी ।
अब जहँ चतुरदसी जिउ तहाँ । भानु अमावस पावा कहाँ ? ।।
बिगसा कँवल सरग निसि, जनहुँ लौकि गइ बीजु ।
ओहि राहु भा भानुहि, राघव मनहिं पतीजु ।।२०।।

व्याख्या—राघव चेतन की बात सुन बादशाह बोला कि मैं एक विचित्र कौतुक देख रहा था जिसके बीच में परदा था भी और नहीं भी था; अर्थात् मैंने दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देखा था, परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे पद्मावती साकार मेरे सामने खड़ी थी। मैंने एक ऐसा सरोवर देखा जिसमें पानी था परन्तु कोई उस पानी को पी नहीं सकता था; अर्थात् मैंने दर्पण में पद्मावती के प्रतिबिम्ब को देखा। पर चूँकि वह प्रतिबिम्ब मात्र था, इसलिए उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता था। मैंने यह भी देखा कि स्वर्ग नीचे उतर कर पृथ्वी पर छा गया था। वह था तो पृथ्वी पर ही परन्तु पकड़ में नहीं आता था; अर्थात् स्वर्ग की अप्सरा नीचे दर्पण में दिखाई पड़ी और सारा संसार उसकी रूप-ज्योति से उद्भासित हो उठा, परन्तु वह पकड़ में नहीं आ रही थी; अर्थात् उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता था। (यहाँ पद्मावती अपने गगनचुम्बी महल से उतर नीचे दर्पण में आ गई थी, इसी कारण स्वर्ग का पृथ्वी पर उतर आना कहा गया है।) फिर मैंने सरोवर के मध्य एक ऊँचा मन्दिर देखा जो हाथ की पहुँच के भीतर रहते हुए भी वहाँ तक हाथ नहीं पहुँचता था; अर्थात् उस दर्पण में पद्मावती के महल का प्रतिबिम्ब बिल्कुल सामने ही दिखाई दे रहा था परन्तु उस महल तक पहुँचना असम्भव था। उस मन्दिर में मैंने एक मूर्ति देखी जिसकी विशेषता यह थी कि उसका न शरीर था और न प्राण ही थे, परन्तु फिर भी वह दिखाई पड़ रही थी, अर्थात् दर्पण में पड़ रहा पद्मावती का प्रतिबिम्ब शरीर और प्राण दोनों से रहित था, क्योंकि प्रतिबिम्ब सजीव और साकार न होकर निर्जीव और निराकार होता है।

ऐसी वह मूर्ति पूर्ण चन्द्र के समान प्रकाशित हो तप्त हो उठी। (पूर्ण चन्द्र की चन्द्रिका शीतल होती है परन्तु यहाँ कवि 'तपी' शब्द का प्रयोग कर उसके प्रभाव को दाहक बता रहा है; अर्थात् अलाउद्दीन उसे देखते ही विरह की ज्वाला से व्याकुल हो उठा।) ऐसी वह रूप की पारस मुझे दर्शन दे पुनः छिप गई। अब मेरे प्राण वहीं बसते हैं, जहाँ वह पूर्ण चन्द्र के समान पद्मावती है। (मुसलमानों में चतुर्दशी को ही पूर्णिमा मानी जाती है, इसलिए वहाँ रूप की पराकाष्ठा 'चौदहवीं के चाँद' के रूप में मानी जाती है।) अब सूर्य अमावस्या की रात्रि में उस पूर्ण चन्द्र को कैसे प्राप्त कर सकेगा; अर्थात् मैं निराशा के अन्धकार से घिरा हुआ हूँ, मुझे पद्मावती कैसे प्राप्त हो सकेगी ?

रात को मैंने आकाश में कमल को खिलते हुए देखा, मानो मेरे सामने बिजली कौंध गई हो। वही कमल मुझ सूर्य के लिए राहु बन गया। हे राघव चेतन ! मेरी बात का विश्वास कर। भाव यह है कि रात को पद्मावती अपने महल के ऊपर से मुझे अपनी एक झलक दिखा तुरन्त छिप गई थी। अब मैं उसी के वियोग में इस प्रकार मलीन हो उठा हूँ, मानो सूर्य को ग्रहण लग गया हो। (यहाँ कमल का रात में और वह भी आकाश में खिलना अद्‌भुत असम्भव चमत्कार उत्पन्न करने वाली घटनाएँ हैं जो काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम हैं।)

टिप्पणी—(१) अलंकार—अप्रस्तुत प्रशंसा, रूपक।

(२) इस पद में जायसी ने एक प्रकार से ब्रह्म और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध की भी व्यंजना की है। ब्रह्म और जीव के बीच माया रूपी परदा रहता है। पर वास्तव में यह परदा होता नहीं, क्योंकि दोनों ही अद्वैत की स्थिति में रहते हैं। तत्त्व का साक्षात् दर्शन या रहस्य की पहली झाँकी में जीव और ब्रह्म के बीच का माया रूपी व्यवधान हट तो जाता है परन्तु जीव को ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो पाती। यहाँ दर्शन का बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त लागू होता है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही माया का रूप है परन्तु वास्तव में वह माया मिथ्या है। विश्व में उस विश्वात्मा का रूप तो है, पर है जगत से परे ही। रहस्य की झाँकी आकाश और पृथ्वी का मिलन है। क्षितिज का आकाश पृथ्वी पर उतरा हुआ भी नहीं पकड़ा जा सकता। वह साकार-ब्रह्म जगत के अणु-अणु में व्याप्त है, पर कोई उसे प्राप्त नहीं कर पाता। वह साकार-सा दिखाई पड़ता हुआ भी वास्तव में निराकार ही रहता है। मूल भाव यह है कि जीव और ब्रह्म के बीच से व्यवधान या परदा हट जाता है, किन्तु ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। अज्ञेय तत्त्व के लिए आश्चर्य की यह कल्पना गीता के रहस्यवाद में भी मिलती है—

'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यं वद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्य वच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥'

—गीता २।२९

(३) अमावस्या को सूर्य ग्रहण होता है। उस दिन पूर्ण चन्द्र का दर्शन असंभव है। इस दिन चन्द्रमा की एक भी किरण नहीं दिखाई पड़ती। इसीलिए अलाउद्दीन कहता है कि पद्मावती का दर्शन देकर छिप जाना, मुझ सूर्य के लिए अमावस्या में लगने वाले राहु के समान हो गया है।

(४) डा० गुप्त के अनुसार—"सौन्दर्य शरीर के माध्यम से व्यक्त होते हुए भी अशरीरी और दिव्य है; वह आकृति में व्यक्त होता है, किन्तु उसकी कोई आकृति नहीं है, यही इस छन्द में कहने का यत्न किया गया है।"

(६०८)

अति बिचित्र देखा सो ठाढ़ी। चित कै चित्र, लीन्ह जिउ काढ़ी ॥
सिंघ-लंक कुम्भस्थल जोरू। आँकुस नाग, महाउत मोरू ॥

तेहि ऊपर भा कँवल बिगासू । फिरि अलि लीन्ह पुहुप मधु-बासू ।।
दुइ खंजन बिच बैठेउ सूआ । दुइज का चाँद धनुक लेइ ऊआ ।।
मिरिग देखाई गवन फिर किया । ससि भा नाग, सूर भा दिया ।।
सुठि ऊँचे देखत वह उचका । दिस्टि पहुँचि, कर पहुँचि न सका ।।
पहुँच-बिहून दिस्टि कित भई ? । गहि न सका, देखत वह गई ।।
राघव ! हेरत जिउ गएउ, कित आछत जो असाध ।
यह तन राख पाँख कै, सकै न, केहि अपराध ?[१] ।।२१।।

शब्दार्थ—चित कं चित्र=चित्त या हृदय में अपना चित्र प्रविष्ट करा कर । कुंभ स्थल जोरू=हाथी के उठे हुए मस्तकों का जोड़ा, अर्थात् दोनों कुच । आँकुस नाग=साँपों अर्थात् वेणी का अंकुश । पहुँच-विहून=पहुँचने में असमर्थ ।

व्याख्या—अलाउद्दीन आगे कहता है कि—मैंने उसे (पद्मावती को) विलक्षण सौन्दर्य के साथ खड़े हुए देखा है । उसने मेरे हृदय में अपना चित्र प्रविष्ट करा मेरे प्राणों को निकाल लिया; अर्थात् अब मेरे हृदय में प्राणों के स्थान पर उसका चित्र आसीन है । मैंने उसके उस अद्भुत रूप में यह विचित्रता देखी कि उसकी कटि सिंह की थी, और उसके ऊपर हाथी के मस्तकों का जोड़ा था; अर्थात् उसकी कटि सिंह की कटि के समान क्षीण थी और उसके ऊपर उसके उन्नत, पुष्ट और भरे हुए दो स्तन थे । उन स्तनों के ऊपर नागिन जैसी वेणी पड़ी हुई थी जो मानो उन हाथी के मस्तकों जैसे स्तनों को वश में रखने के लिए अंकुश के समान प्रतीत हो रही थी । और यह अंकुश रूपी वेणी उसकी मयूर की ग्रीवा सी सुन्दर गर्दन रूपी महावत के हाथ में थी; अर्थात् वेणी गर्दन पर होकर नीचे कुचों पर लटक रही थी । भाव यह है कि पद्मावती की मयूर ग्रीवा महावत के समान, उसकी वेणी महावत के हाथ के अंकुश के समान और उसके दोनों स्तन हाथी के मस्तक के समान थे । उन स्तनों पर पड़ी हुई वेणी ऐसा चित्र प्रदर्शित कर रही थी मानो महावत हाथ में अंकुश लिए उन हाथी के मस्तकों को अधिक उद्धत (उन्नत) होने से रोक रहा हो ।

उसकी ग्रीवा के ऊपर उसका मुख रूपी कमल खिल रहा था, जिसके ऊपर उसकी पुतलियाँ इस प्रकार चंचल हो रही थीं, मानो भौंरे उस कमल के रस और सुगन्धि का घूम-घूम कर पान कर रहे हों । (यहाँ पुतलियाँ भौंरों के समान हैं ।)

पाठ-भेद—१. राघौ आघौ होत जौं कत आछति जियँ साध ।
ओहि बिनु आघ बाघ बर सकै त लै अपराध ।।
=अर्थात् हे राघव, यदि इच्छा की पूर्ति हो गई होती तो जी में उसे पाने की साध क्यों रहती ? अब मैं बिना मूल्य का हो रहा हूँ; मेरे अपराध (मेरी असफलता और तज्जनित व्यथा) को अपने साहाय्य के बल से तू ले सके (हरण कर सके) तो भले ही ले ले (हरण कर ले) ।

दो खंजनों के बीच एक तोता बैठा हुआ था—अर्थात् उसके खंजनों जैसे दोनों सुन्दर नेत्रों के मध्य—उसकी तोते की चोंच जैसी सुन्दर नासिका सुशोभित थी। उसके ऊपर द्वितीया का चन्द्रमा धनुष लिए उदय हो रहा था; अर्थात् उसका ललाट द्वितीया के चन्द्रमा के समान वक्राकार और कान्तिमान तथा भौंहें धनुष के समान वक्राकार थीं। अपने मृग के समान सुन्दर नेत्रों के दर्शन दे वह मृगनयनी पीठ मोड़कर चली गई। उसके ऐसा करते ही चन्द्रमा नाग बन गया और सूर्य दीपक हो गया; अर्थात् पद्मावती के पीठ मोड़कर जाते ही उसका मुखरूपी चन्द्रमा लुप्त हो गया और उसके स्थान पर उसकी नागिन रूपी वेणी दिखाई पड़ने लगी। उस नागिन रूपी वेणी को देखते ही अलाउद्दीन रूपी सूर्य निस्तेज हो गया, उदास हो गया। (कहा जाता है कि काले नाग के सामने दीपक की ज्योति मन्द हो जाती है। कहावत है कि 'कारे के आगे दिया नहीं जलता'।)

वह (पद्मावती) वहुत ऊँचे पर से अर्थात् महल के ऊपर से उचक कर देख रही थी। वहाँ तक मेरी दृष्टि तो पहुँच गई परन्तु हाथ नहीं पहुँच सका; अर्थात् मैंने उसके दर्शन तो कर लिए परन्तु उसे प्राप्त न कर सका। जब वह मेरी पहुँच से बाहर थी तो आखिर मेरी दृष्टि वहाँ तक गई ही क्यों? मैं उसे पकड़ न सका। मेरे देखते-देखते वह गायब हो गई।

हे राघव चेतन! उसे देखते ही मेरे प्राण चले गए। जो वश में नहीं था, वह रहता कैसे? अर्थात् मेरे प्राण परवश हो उसी के साथ चले गए। मैं अपने को सम्हाल न सका। यह मिट्टी का शरीर पंख लगाकर क्यों नहीं जा सकता, इसने क्या अपराध किया है; अर्थात् अपने किस अपराध के कारण मैं पंख लगाकर उस तक पहुँचने में असमर्थ हो रहा हूँ।

टिप्पणी - (१) अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(२) जायसी द्वारा किया गया पद्मावती का यह रूप-वर्णन सूर के 'अद्भुत एक अनुपम वाग' जैसे प्रसिद्ध पद में किए गये नख-शिख-वर्णन से बहुत कुछ समानता रखता है। आश्चर्य और विचित्रता की दृष्टि मे दोनों ही कवियों के ये पद समस्त साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

(६०९)

राघव सुनत सीस भुइँ धरा। जुग जुग राज भानु कै करा॥
उहै कला, वह रूप बिसेखी। निहचै तुम्ह पदमावति देखी॥
केहरि लंक, कुंभस्थल हिया। गीउ मयूर, अलक बेधिया॥
कँवल बदन औ बास सरोरू। खंजन नयन, नासिका कीरू॥
भौंह धनुक, ससि-दुइज लिलाटू। सब रानिन्ह ऊपर ओहि पाटू॥
सोई मिरिग देखाइ जो गएऊ। बेनी नाग, दिया चित भएऊ॥
दरपन महँ देखो परिछाहीं। सो मूरति, भीतर जिउ नाहीं॥

सबै सिंगार-बनी धनि, अब सोई मति कीज।
अलक जो खटकै अधर पर, सो गहि कै रस लीज॥२२॥

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन द्वारा पद्मावती के रूप-वर्णन को सुन राघव-चेतन ने उसके सम्मुख पृथ्वी पर अपना मस्तक टेक उसे प्रणाम किया और आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा राज्य सूर्य के तेज के समान युग-युग तक अटल रहे। तुमने जिस अद्भुत ज्योति और विशिष्ट रूप का वर्णन किया है, इससे निश्चित हो जाता है कि तुमने पद्मावती को ही देखा था। उसकी कटि सिंह के समान, हृदय और कुच हाथी के कुम्भस्थल के समान, ग्रीवा मयूर के समान और वेणी अंकुश के तुल्य है। उसका मुख कमल और शरीर की गन्ध कमल-गन्ध जैसी है। नेत्र खंजन और नासिका तोते के समान हैं। भौहें धनुष और ललाट द्वितीया के चन्द्रमा के तुल्य हैं। वही पद्मावती सारी रानियों के ऊपर पटरानी है। वही तुम्हें अपने मृग नयन दिखाकर चली गई थी। उसी की नागिन जैसी वेणी को देख तुम्हारा हृदय उस दीपक के समान निस्तेज हो उठा था जिसके सामने काला नाग आ जाता है। तुमने दर्पण में उसकी परछाईं ही देखी थी। वह तो मूर्ति थी, उसके भीतर प्राण नहीं थे।

वही सुन्दरी पूर्ण शृंगार किए हुए थी। अब कोई ऐसी युक्ति करो जिससे उसके अधर के ऊपर जो अलक (लट) लटक रही है उसे पकड़ उसके अधर-रस का पान करो। भाव यह है कि उसकी वेणी नागिन के समान सदैव उसके अधरों की रक्षा करती है। इसलिए पहले उस नागिन को पकड़ने पर ही उसके अधरों तक पहुँचा जा सकेगा; अर्थात् राजा रत्नसेन उसके अधर रस का पान करने वाला प्रेमी है, इसलिए पहले उसी को बन्दी बनाकर रास्ते में से हटाना पड़ेगा, तभी तुम पद्मावती के अधर-रस का पान कर सकोगे।

टिप्पणी—दोहे की अन्तिम पंक्ति के भाव को जायसी 'पद्मावती-रूप-चर्चा-खण्ड' की पद संख्या १० के दोहे में इस प्रकार व्यक्त कर आए हैं—

'अधर अधर रस प्रेम कर, अलक भुअंगिनि बीच।
तब अमृत-रस पावै, जब नागिन गहि खींच॥'

प्रस्तुत पद में रत्नसेन नाग है, इसलिए उसे रास्ते से हटाना जरूरी है।

४७

रत्नसेन-बंधन-खंड

(६१०)

मीत भै[1] माँगा बेगि बिवानू। चला सूर, सँवरा अस्थानू ।।
चलत पंथ राखा जौ पाऊ। कहाँ रहै थिर चलत बटाऊ ।।
पंथी कहाँ कहाँ सुसताई। पंथ चलै तब पंथ सेराई ।।
छर कीजै बर जहाँ न आँटा। लीजै फूल टारिकै काँटा ।।
बहुत मया सुनि राजा फूला। चला साथ पहुँचावै भूला ।।
साह हेतु राजा सः बाँधा। बातन्ह लाइ लीन्ह, गहि काँधा ।।
घिउ मधु सानि दीन्ह रस सोई। जो मुँह मीठ, पेट विष होई ।।
अमिय-बचन औ माया, को न मुएउ रस-भीज।
सत्रु मरै जौ अमृत, कित ता कहँ बिष दीज ।।१।।

व्याख्या—बादशाह अलाउद्दीन ने रत्नसेन का मित्र बनने के उपरान्त उससे शीघ्र अपनी पालकी मँगवाई। सूर्य (अलाउद्दीन) उस स्थान का (जहाँ उसने पद्मावती के दर्शन किये थे) मन-ही-मन स्मरण करता हुआ चल दिया। जिसने मार्ग पर चलने के लिए एक बार अपने कदम बढ़ा दिए, ऐसा वह पथिक चलता हुआ कैसे स्थिर हो सकता है, अर्थात् मार्ग में कैसे रुक सकता है ? पथिक मार्ग में कहाँ-कहाँ सुस्तायेगा ? उसका मार्ग तो तभी समाप्त होगा, जब वह चलता रहेगा; अर्थात् चलने से ही मंजिल पर पहुँचा जा सकता है न कि सुस्ताने से। जहाँ बल से काम न निकले वहाँ छल द्वारा काम निकालना चाहिए। फूल को लेना हो तो पहले उसके काँटों को तोड़ अलग कर देना चाहिए। भाव यह है कि किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए पहले रास्ते की सारी कठिनाइयों को दूर कर देना चाहिए। यहाँ कवि रत्नसेन को फूल (पद्मावती) को प्राप्त करने में काँटे के समान बाधक मान उसे दूर करने की सलाह दे रहा है।

राजा रत्नसेन यह सुन प्रसन्नता से फूला न समाया कि बादशाह उस पर बहुत कृपालु है। इस भुलावे में पड़ वह बादशाह को बाहर तक पहुँचाने के लिए उसके साथ चल दिया। बादशाह ने राजा को प्रेम के द्वारा बाँध लिया, अर्थात् अपने वश में

पाठ-भेद—१. मत भा=मंत्र, निश्चित हो गया।

कर लिया। उसने राजा को बातों में लगा उसके कन्धे पर अपना हाथ रख लिया अर्थात् बहुत स्नेह का प्रदर्शन किया। बादशाह ने राजा को घी में शहद मिला कर वह रस दिया जो मुँह में तो मीठा लगता है परन्तु पेट में पहुँचते ही विष बन जाता है। (विश्वास है कि घी और शहद बराबर मात्रा में मिला देने से विष हो जाता है।) भाव यह है कि बादशाह ने अपनी मीठी बातों द्वारा राजा को मोह लिया। राजा उसके छल को नहीं समझ सका।

कवि कहता है कि अमृत के समान मीठे वचन और माया अर्थात् छलपूर्ण बातों के रस में भीग कर कौन नहीं मारा गया, अर्थात् किसने ऐसे धोखे में पड़ अपने प्राण नहीं गँवाए? यदि शत्रु अमृत देने से ही मर जाय तो फिर उसे विष क्यों दिया जाय; अर्थात् यदि शत्रु को छल द्वारा ही वश में किया जा सके तो फिर उससे युद्ध क्यों किया जाय?

टिप्पणी—अलंकार—लोकोक्ति।

(६११)

चाँद घरहि जौ सूरज आवा। होइ सो अलोप अमावस पावा॥
पूर्जाहि नखत मलीन सो मोती। सोरह कला न एकौ जोती॥
चाँद क गहन अगाह जनावा। राज भूल गहि साह चलावा॥
पहिली पँवरि नाँघ जौ आवा। ठाढ़ होइ राजहि पहिरावा॥
सौ तुषार, तेइस गज पावा। दुंदुभि औ चौघड़ा दियावा॥
दूजी पँवरि दीन्ह असवारा। तीजि पँवरि नग दीन्ह अपारा॥
चौथि पँवरि देइ दरब करोरी। पंचईं दुइ हीरा कै जोरी॥
छठईं पँवरि देइ माँड़ौ, सतईं दीन्ह चँदेरि।
सात पँवरि नाँघत नृपहिं, लेइगा बाँधि गरेरि॥२॥

व्याख्या—चन्द्रमा अर्थात् पद्मावती के घर सूर्य अर्थात् बादशाह आया परन्तु वह चन्द्रमा (पद्मावती) अलोप हो गया और सूर्य को वहाँ अमावस्या के घोर अन्धकार (निराशा) का सामना करना पड़ा। पद्मावती को छिप जाते हुए देख पद्मावती की सखियाँ (नक्षत्र) उससे इसका कारण पूछने लगीं। परन्तु पद्मावती रूपी मोती की कान्ति फीकी पड़ गई थी अर्थात् पद्मावती मलिन मुख पड़ी हुई थी। जिस प्रकार अमावस्या को चन्द्रमा की सोलह कलाओं में से एक भी कला नहीं दिखाई पड़ती, उसी प्रकार पद्मावती पूरी तरह से मुरझाई हुई पड़ी थी। इसका कारण यह था कि गोरा-बादल ने उसे पहले से ही चेतावनी दे रखी थी कि चन्द्र-ग्रहण होगा अर्थात् बादशाह छल करके राजा को पकड़ ले जायेगा। और राजा बादशाह द्वारा प्रदर्शित किए प्रेम के चक्कर में अपने को भूल बादशाह को द्वार तक पहुँचाने उसके साथ जा रहा था। उधर पहली ड्योढ़ी पार करते ही बादशाह ने खड़े होकर राजा को खिलअत पहिनाई

और सौ तुखारी घोड़े, तेईस हाथी, दुन्दुभि और चौघड़िया बाजा भेंट में दिये। दूसरी ड्यौढ़ी पार करने पर बादशाह ने सवारी, तीसरी पार करने पर असंख्य रत्न, चौथी पार करने पर करोड़ों का धन, पाँचवीं पर हीरा की जोड़ी, छठी पर माँडौगढ़ और सातवीं ड्यौढ़ी पार करने पर चंदेरी का राज्य दिया। राजा ने जैसे ही सातवीं ड्यौढ़ी के बाहर कदम रखा वैसे ही बादशाह ने उसे घेर कर बाँध लिया और अपने साथ ले गया।

(६१२)

एहि जग बहुत नदी-जल जूड़ा। कोउ पार भा, कोऊ बूड़ा[1] ॥
कोउ अंध भा आगु न देखा। कोउ भएउ डिठियार सरेखा ॥
राजा कहँ बियाध भइ माया। तजि कबिलास धरा भुइँ पाया ॥
जेहि कारन गढ़ कीन्ह अगोठी[2]। कित छाँड़े जौ आवै मूठी ? ॥
सत्रुहि कोउ पाव जौ बाँधी। छोड़ि आपु कहँ करै बियाधी ॥
चारा मेलि धरा जस माछू। जल हुँत निकसि मुवै कित काछू ॥
सत्रू[3] नाग पेटारी मूँदा। बाँधा मिरिगि पँग नहि खूँदा ॥
राजहि धरा, आनि कै, तन पहिरावा लोह।
ऐस लोह सो पहिरै, चीत सामि के दोह ॥३॥

शब्दार्थ—जूड़ा=जुड़ा, इकट्ठा हुआ। डिठियार=दृष्टि वाला। माया=कृपा या छल। अगोठी=घेरा। लोह=लोहे की हथकड़ी-बेड़ी।

व्याख्या—जायसी अलाउद्दीन द्वारा रत्नसेन के बन्दी किए जाने पर कहते हैं—इस संसार रूपी समुद्र में अनेक नदियों का जल आकर एकत्र होता है, अर्थात् इस संसार में भिन्न-भिन्न प्रकार की विषय-वासनायें अपना प्रभाव दिखाती रहती हैं। कोई इनके प्रभाव से बच संसार से पार हो जाता है तथा कोई इनके चंगुल में फँस बीच में ही डूब जाता है, नष्ट हो जाता है। कोई इतना अन्धा हो जाता है कि आगे देखकर नहीं चलता; अर्थात् भविष्य की सोचकर कार्य नहीं करता परन्तु कोई चतुर और तीव्र दृष्टि वाला होता है अर्थात् सोच-समझ कर सारे कार्य करता है। बादशाह की वह माया अर्थात् छलपूर्ण व्यवहार राजा के लिए व्याधि अर्थात् दुःख का कारण बन गया। वह अपने स्वर्ग जैसे ऊँचे गढ़ को त्याग नीचे धरती पर अर्थात् गढ़ से बाहर निकल आया। बादशाह ने जिस कारण से उस गढ़ का घेरा डाला था, वहीं अर्थात् रत्नसेन, जब उसकी मुट्ठी में आ गया तो वह फिर उसे क्यों छोड़ता ? यदि कोई अपने शत्रु को एक बार अपने बन्धन में बाँध ले तो फिर उसे छोड़ने पर वह अपने लिए

पाठ-भेद—१. कौन पार भा को नहि बूड़ा=कौन पार हुआ और कौन नहीं डूबा।
२. अँगूठी=अवगुंठिका की, घेरा डाला। ३. मंत्रन्ह=मंत्रों से।

संकट ही मोल लेता है। भाव यह है कि शत्रु को बाँध लेने पर कभी नहीं छोड़ना चाहिए। बादशाह ने राजा को उसी प्रकार लालच दिखाकर पकड़ लिया जिस प्रकार मछली को चारे का लालच दिखा पकड़ लेते हैं। कछुआ कहीं जल से बाहर निकलकर अपनी मौत अपने आप बुलाता है? अपने शत्रु को नाग के समान हमेशा पिटारी में बन्द करके रखना चाहिए। बन्धन में बँधा मृग एक कदम भी आगे नहीं कूद पाता। भाव यह है कि बादशाह ने अपने शत्रु राजा को अपने कब्जे में पाकर बाँध लिया। यह ठीक ही किया, क्योंकि शत्रु को एक बार बांध लेने पर फिर नहीं छोड़ना चाहिए।

बादशाह ने राजा को पकड़ लिया और उसे लाकर लोहे की हथकड़ी-बेड़ी पहना दीं। कवि कहता है कि लोहे की ऐसी हथकड़ी-बेड़ी वही पहनता है जो अपने स्वामी के साथ द्रोह करने की बात सोचता है।

टिप्पणी—इस पद में एक बात यह द्रष्टव्य है कि जायसी ने राजा रत्नसेन को ही मूर्ख सिद्ध किया है, जबकि उसकी नीति मेल को छल से अलग रखने की तथा नीच के साथ भी भलाई करने की थी। जायसी ने अलाउद्दीन के इस नीचतापूर्ण छल के लिए उसकी तनिक सी भी भर्त्सना नहीं की है। उल्टे, दोहे की अन्तिम पंक्ति में राजा की ही भर्त्सना-सी करते हुए कहा है कि स्वामी के साथ द्रोह करने वाले को हथकड़ी-बेड़ी पहननी पड़ती हैं। अलाउद्दीन न तो चित्तौड़ का स्वामी था और न राजा रत्नसेन उसका अधीनस्थ राजा। फिर वह अलाउद्दीन को पद्मावती कैसे दे देता? सिंहलद्वीप को विजय करने वाला रत्नसेन यहाँ आकर मूर्ख बन जाता है। आखिर जायसी के दृष्टिकोण में हुए इस परिवर्तन का कौन-सा कारण हो सकता है? हमारी समझ में तो एक ही कारण आता है, वह है अलाउद्दीन का मुस्लिम शासक होना। इसी कारण जायसी ने रत्नसेन को उसकी तुलना में सदैव नीचा ही दिखाया है और अलाउद्दीन की लम्पटता, अत्याचार, छल आदि नीचतापूर्ण कार्यों के लिए भर्त्सना का एक शब्द भी नहीं कहा है। जायसी द्वारा वर्णित यह अलाउद्दीन कभी भी उस तथाकथित शैतान का रूप नहीं ले सकता जैसा कि 'पदमावत' को 'अन्योक्ति' मानने वालों ने माना है।

(६१३)

पायँन्ह गाढ़ी बेड़ी परी। साँकर गीउ, हाथ हथकरी ॥
औ धरि बाँध मँजूषा मेला। ऐस सत्रु जिनि होइ दुहेला? ॥
सुनि चितउर महँ परा बखाना। देस देस चारिउ दिसि जाना ॥
आजु नरायन फिरि जग खूँदा। आजु सो सिंघ मँजूषा मूँदा ॥
आजु खसे रावन दस माथा। आजु कान्ह कालीफन नाथा ॥
आजु परान कंस कर ढीला। आजु मीन संखासुर लीला ॥
आजु परे पंडव बँदि माहाँ। आजु दुसासन उपरीं बाहाँ ॥

आजु धरा बलि राजा, मेला बाँधि पतार।
आजु सूर दिन अथवा, भा चितउर अँधियार ।।४।।

व्याख्या— इस पद में जायसी राजा रत्नसेन के बन्दी हो जाने के समाचार से उत्पन्न भयंकर उथल-पुथल की इतिहास की अन्य प्रसिद्ध घटनाओं से तुलना करते हुए कह रहे हैं—

राजा रत्नसेन के पैरों में भारी बेड़ियाँ डाल दी गईं तथा गले में जंजीर और हाथों में हथकड़ी पहना दी गई। और फिर उसे पकड़ कर एक कठघरे में बन्द कर दिया गया। हे भगवान! ऐसा संकट किसी शत्रु पर भी न पड़े। रत्नसेन के बन्दी हो जाने का समाचार सुन सारे चित्तौड़ में उसी की चर्चा होने लगी। शीघ्र ही यह समाचार चारों दिशाओं और प्रत्येक देश में फैल गया। लोगों ने संत्रस्त होकर अनुभव किया कि आज नारायण ने परशुराम रूप में सारे संसार को पुनः रौंद डाला है। आज उस सिंह सदृश पराक्रमी रत्नसेन को कठघरे में बन्द कर दिया गया है। आज रावण के दसों मस्तक टूट कर भूमि पर गिर पड़े हैं। आज कृष्ण ने कालियनाग के फन को नाथ डाला है। आज कंस ने अपने प्राण छोड़े हैं। आज मत्स्यावतार रूपी विष्णु ने शंखासुर नामक राक्षस को निगल लिया है। आज पांडव बन्दी हो गए हैं और आज दुःशासन की भुजाएँ उखाड़ ली गई हैं।

आज राजा बलि को पकड़ कर पाताल में डाल दिया गया है। आज सूर्य दिन में ही अस्त हो गया है और सारे चित्तौड़ में अन्धकार छा गया है।

(६१४)

देव सुलैमाँ के बँदि परा। जहँ लगि देव सबै सत-हरा।।
साहि लीन्ह गहि कीन्ह पयाना। जो जहँ शत्रु सो तहाँ बिलाना।।
खुरासान औ डरा हरेऊ। काँपा बिदर, धरा अस देऊ!।।
बाँधौं, देवगिरि, धौलागिरी। काँपी सिस्टि, दोहाई फिरी।।
उवा सूर, भइ सामुहँ करा। पाला फूट, पानि होइ ढरा।।
दुंदुहि डाँड़ दीन्ह, जहँ ताईं। आइ दंडवत कीन्ह सबाईं।।
दुंद डाँड़ सब सरगहि गई। भूमि-जो डोली अहथिर भई।।
बादशाह दिल्ली महँ, आइ बैठ सुख-पाट।
जेइ जेइ सीस उठावा, धरती धरा लिलाट।।५।।

व्याख्या—राजा रत्नसेन उसी प्रकार अलाउद्दीन का बन्दी बन गया, जिस प्रकार यहूदी बादशाह सुलेमान ने देवों (जिनों) को बन्दी बना लिया था। राजा के पकड़े जाने पर अन्य जितने भी हिन्दू राजा, जो चित्तौड़ की रक्षा के लिए एकत्र हुए थे, हिम्मत हार बैठे। बादशाह अलाउद्दीन ने राजा को पकड़ कर चित्तौड़ से प्रस्थान

कर दिया। यह देख उसका जो शत्रु जहाँ था वहीं गायब हो गया अर्थात् छिप गया। भाव यह है कि किसी ने भी उसका सामना नहीं किया। खुरासान और हेरात के विद्रोही शासक भयभीत हो उठे। बीदर का राजा यह सोच मन में काँपने लगा कि अलाउद्दीन ने ऐसे शक्तिशाली राजा को बन्दी बना लिया (तो फिर मेरी क्या औकात है)। बांधव गढ़, देवगिरि, धौलगिरि आदि राज्य भयभीत हो उठे; यहाँ तक कि सारा संसार इस समाचार को सुन थर्रा उठा। सारे संसार में बादशाह की दुहाई फिर गई। बादशाह रूपी सूर्य उदय हुआ और उसकी किरणें सबको तप्त करने लगीं। अर्थात् बादशाह के प्रताप से सब भयभीत हो उठे। सूर्य की किरणों के पड़ने से जमा हुआ पाला गल गया और पानी होकर बहने लगा; अर्थात् बादशाह के प्रताप के सम्मुख सारा विद्रोह समाप्त हो गया और सारे विद्रोहियों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। बादशाह के नगाड़े पर चोट पड़ी अर्थात् शाही घोषणा हुई। जिन्होंने भी जहाँ तक उस घोषणा या बादशाह के प्रस्थान के समाचार को सुना, उन सबने आकर बादशाह के सामने हाजिर हो उसे प्रणाम किया। उसके नगाड़े की आवाज पृथ्वी पर सबको दण्ड दे स्वर्ग तक जा पहुँची, अर्थात् उसे सुन स्वर्ग के देवता भी काँपने लगे। जो पृथ्वी विचलित हो उठी थी, वह स्थिर अर्थात् शान्त हो गई। भाव यह है कि बादशाह की अनुपस्थिति में विभिन्न राज्यों द्वारा किए गए विद्रोहों द्वारा जो हलचल मच रही थी, वह शान्त हो गई।

बादशाह दिल्ली पहुँच सुख से सिंहासन पर बैठा। जिस-जिस ने उसके विरुद्ध सिर उठाया था, उसने आ-आ कर बादशाह के सामने धरती पर अपना मस्तक रख उसकी अधीनता स्वीकार की।

टिप्पणी—'देव सुलेमाँ के बँदि परा'—सुलेमान यहूदियों का बादशाह था। उसके पास एक तिलिस्मी अँगूठी थी जिसके प्रभाव से वह जिनों को ताँबे के गोल कुम्हड़ों में कैद कर लेता था। सरव्र नामक एक जिन उसका विरोधी हो गया। सुलेमान ने उसे बन्दी बना लिया। इसी जिन ने सुलेमान को शेबा देश की बिलकिस नाम की रानी का राज्य प्राप्त कराया था। सुलेमान ने उस रानी को अपनी पत्नी बना लिया। यहाँ जायसी ने इसी अभिप्राय से इस पंक्ति का प्रयोग किया है। अलाउद्दीन रत्नसेन को उस जिन के समान कैद कर पद्मावती को प्राप्त करना चाहता है।

(६१५)

हबसी बँदवाना जिउ-बधा। तेहि सौंपा राजा अगिदधा ॥
पानि पवन कहँ आस करेई। सो जिउ बधिक साँस भर देई ॥
माँगत पानि आगि लेइ धावा। मुँगरी एक आनि सिर लावा ॥
पानि पवन तुइँ पिया सो पीया। अब को आनि देइ पानीया ? ॥
तब चितउर जिउ रहा न तोरे। बादशाह है सिर पर मोरे ॥

जबहि हँकारै है उठि चलना। सकती करै होइ कर मलना ।।
करै सो मीत गाँढ़ बँदि जहाँ। पान फूल पहुँचावै तहाँ ।।
जब अँजुलि मँह सोवा, समुद न सँवरा जागि।
अब धरि काढ़ि मच्छ जिमि, पानी मांगति आगि ।।६।।

शब्दार्थ—बँदवाना=बन्दीगृह का रक्षक, दारोगा। जिउ-बधा=बधिक, जल्लाद। अगिदधा=अग्नि में दग्ध करने के लिए। साँस भर=जीवित रहने मात्र के लिए। लावा=मारी।

व्याख्या—राजा रत्नसेन को जिस बन्दीगृह में रखा गया, उसका रक्षक एक हब्शी जल्लाद था। राजा को उसे अग्निदग्ध करने के लिए, अर्थात् पीड़ा पहुँचाने के लिए सौंप दिया गया। उस बन्दीगृह में पड़ा राजा रत्नसेन हवा और पानी के लिए भी पराधीन हो गया। वह जल्लाद वहाँ उतनी ही हवा और पानी पहुँचने देता था जो जीवित रहने मात्र के लिए पर्याप्त होता था। जब राजा पीने के लिए पानी माँगता था तो जल्लाद आग लेकर उसकी ओर दौड़ता था और आकर राजा के सिर पर एक मुँगरी मार देता था। और कहता था कि तू जो हवा-पानी पी चुका सो पी चुका। अब तुझे और पानी लाकर कौन देगा। जब तू चित्तौड़ में था तब तूने मन में यह नहीं सोचा था कि तेरे सिर पर बादशाह है। जब वह तुझे बुलायेगा तो तुझे तुरन्त उठकर उसके पास चल देना पड़ेगा। यदि शक्ति का प्रयोग करेगा तो हाथ मल कर पछताना पड़ेगा। तूने यह नहीं सोचा था कि वह तुझे कठिन कारागार में बन्द करके भी तेरे साथ मित्र का-सा व्यवहार करेगा और तेरे लिए वहीं पान-फूल पहुँचायेगा; अर्थात् बादशाह इतना दयालु है कि तुझे कैद में डालकर भी तेरे पास भोजन-पानी पहुँचाता रहता है।

तू अंजुलि भर जल में मछली के समान, उसी में भूला हुआ मस्त सोता रहा। जाग कर तूने समुद्र के समान शक्तिशाली बादशाह का स्मरण तक नहीं किया। अब जबकि उसने तुझे पानी में से मछली के समान पकड़ कर बाँध लिया है तब तुझे पानी माँगने पर आग ही मिलेगी। भाव यह है कि जब बादशाह ने तुझ पर कृपा करनी चाही थी; अर्थात् तुझसे तेरी पद्मावती माँग बदले में बहुत-कुछ देना चाहा था तब तो तूने उसकी बात नहीं मानी। इसलिए अब उसका नतीजा भोग।

डा० अग्रवाल ने दोहे का अर्थ इस प्रकार किया है—'तू अंजलि भर जल में सोता रहा। होश में आकर समुद्र का स्मरण नहीं किया। अब मछली की तरह पकड़-कर उसने तुझे निकाल लिया है। पानी माँगते हुए आग पाएगा।'

इसका भाव यह कि तू चित्तौड़ जैसे अंजलि के समान छोटे-से राज्य के मद में भूला हुआ मदमस्त बना हुआ था। तूने यह नहीं सोचा कि बादशाह समुद्र के समान विशाल और शक्तिशाली है। तू उसकी टक्कर नहीं झेल पाता। अब उसने तुझे अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने के अपराध के कारण बन्दी बना लिया है और दुःख दे रहा है।

(६१६)

पुनि चलि दुइ जन पूछै आए। ओउ सुठि दगध आइ देखराए ॥
तुइ मरपुरी न कबहूँ देखी। हाड़ जो बिथुरै देखि न लेखी ॥
जाना नहिं कि होब अस महूँ। खोजे खोज न पाउब कहूँ ॥
अब हम्ह उतर देहु, रे देवा। कौने गरब न मानेसि सेवा ? ॥
तोहि अस बहुत गाढ़ि खनि मूँदे। बहुरि न निकसि बार होइ खूँदे ॥
जो जस हँसा तो तैसे रोवा। खेलत हँसत अभय भुइँ सोवा ॥
जस अपने मुँह काढ़े धूवाँ। मेलेसि आनि नरक के कूआँ ॥
जरसि मरसि अब बाँधा, तैस लाग तोहि दोख।
अबहुँ, माँगु पदमिनी, जौ चाहसि भा मोख ॥७॥

व्याख्या—फिर दो आदमी पूछताछ करने के लिए चलकर वहाँ बन्दीगृह में आए। उन्होंने आकर राजा को प्रचंड अग्नि में दग्ध किए जाने का भय दिखाया। अथवा वे राजा को और भी अधिक जलाने वाले प्रतीत हुए। उन्होंने राजा से कहा कि क्या तूने कभी यमपुरी अर्थात् नरक नहीं देखा, यहाँ बिखरे हुए हाड़ों को देखकर भी तू नहीं समझ सका। भाव यह है कि यह कारागार यमपुरी के समान भयंकर है। यहाँ जो पहले लाए गए थे, उनकी हड्डियाँ यहीं बिखरी पड़ी हैं; अर्थात् वे सब यहीं मर गए। यहाँ से कोई भी जीवित बचकर नहीं निकल सकता। तूने इन हड्डियों को देखकर भी यह नहीं समझा कि मेरी भी यही दशा होगी; अर्थात् मेरी हड्डियाँ भी यहीं पड़ी रह जायेंगी। और फिर ढूँढ़ने पर भी मेरा निशान तक नहीं मिलेगा। हे राजा! अब हमें इस बात का उत्तर दे कि तूने किस गर्व में भर बादशाह की सेवा करना अर्थात् उसकी आज्ञा मानना स्वीकार नहीं किया था? तेरे जैसे अनेक यहीं गढ़े खोद उनमें डाल मूँद दिए गए। वे फिर बाहर निकल कभी अपने दरवाजे पर कदम न रख सके। जो जैसे हँसता है उसे फिर वैसे ही रोना पड़ता है। हँस-खेल लेने के बाद वह निर्भय हो धरती पर सो जाता है; अर्थात् मर जाता है। तूने अपने मुँह से धुँए जैसी विषैली जो गर्व-भरी बातें कही थीं, उन्हीं के कारण तुझे पकड़ कर इस नरक-कुंड में लाकर डाल दिया गया है।

अब भी इस बन्धन में पड़ा हुआ तू जो जल और मर रहा है, वह सब तेरे उसी अपराध का दंड है। यदि तू यहाँ से मुक्त होना चाहता है तो अब भी अपनी पद्मावती को यहाँ बुला भेज।

(६१७)

पूछहिं बहुत, न बोला राजा। लीन्हेसि जीउ मीचु कर साजा ॥
खनि गड़वा चरनन्ह देइ राखा। नित उठि दगध होहिं नौं लाखा ॥
ठाँव सो साँकर औ अँधियारा। दूसर करवट लेइ न पारा ॥

बीछी साँप आनि तहँ मेला। बाँका आइ छुआवहिं हेला ॥
धरहिं सँड़ासन्ह, छूटै नारी। राति-दिवस दुख पहुँचै भारी ॥
जो दुख कठिन न सहै पहारू। सो अँगवा मानुष-सिर भारू ॥
जो सिर परै आइ सो सहै। किछु न बसाइ, काह सौं कहै ? ॥
दुख जारै, दुख भूँजै, दुख खोवै सब लाज।
गाजहु चाहि अधिक दुख, दुखी जान जेहि बाज ॥८॥

व्याख्या—उन लोगों ने राजा से बहुत पूछा परन्तु राजा ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने अपने प्राणों को मृत्यु के लिए तैयार कर लिया; अर्थात् मरने को तैयार हो गया। यह देख उन लोगों ने एक गढ़ा खुदवा कर राजा के पैरों को उसमें गढ़वा दिया। नित्य उठकर जल्लाद गर्म शलाखों द्वारा उसके शरीर पर नौ निशान बना देता था। वह स्थान इतना संकीर्ण और अँधेरा था कि वहाँ दूसरी करवट लेना भी सम्भव नहीं था। वहाँ साँप-बिच्छू लाकर छोड़ दिए गए। डोम आकर उसके शरीर में बाँक गढ़ा कर उसे पीड़ा पहुँचाते थे। जब उसे गर्म सँड़ासियों से दागा जाता था तो पीड़ा के मारे उसकी नाड़ी छूटने लगती थी। इस प्रकार रात-दिन उसे भारी दुःख दिया जाता था। जिस दुःख को कठोर पहाड़ भी नहीं सह सकता, उस दुःख के भार को मनुष्य को अपने सिर पर सहना पड़ रहा था। जो सिर पर आकर पड़ता है उसे सहना ही पड़ता है। किसी का कुछ भी वश नहीं चलता। आखिर वह अपना दुःख किससे कहे ?

दुःख जलाता है, दुःख भूनता है; दुःख लज्जा को नष्ट कर देता है। दुःख वज्र से भी अधिक भयंकर होता है। इसे तो वही जानता है, जिसके सिर पर दुःख पड़ता है।

४८

पद्मावती-नागमती-विलाप-खंड

(६१८)

पदमावति बिनु कंत दुहेली। बिनु जल कँवल सूखि जस बेली॥
गाढ़ी प्रीति सो मोसौं लाए। दिल्ली कंत निचिंत होइ छाए॥
सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोइ न बहुरा कहै सँदेसू॥
जो गवनै सो तहाँ कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे गएउ सो बहुरि न आवा॥
कुवाँ धार जल जैस बिछोवा। डोल भरे नैनन्ह धनि रोवा॥
लेजुरि भई नाह बिनु तोहीं। कुवाँ परी, धरि काढ़सि मोहीं॥
नैन डोल भरि ढार, हिए न आगि बुझाइ।
घरी घरी जिउ आवे, घरी घरी जिउ जाइ॥१॥

व्याख्या—पद्मावती स्वामी के बिना बड़ी दुखी थी। वह उसी प्रकार मुरझा गई थी जिस प्रकार पानी के अभाव में कमल की वेल सूख जाती है। वह विलाप करने लगी कि स्वामी मुझसे बहुत गहरा प्रेम करते थे, परन्तु अब दिल्ली पहुँच निश्चिन्त हो वहीं बस गए हैं। वह दिल्ली ऐसा देश है जहाँ से कोई लौट कर नहीं आता। कोई वहाँ से पति का सन्देश लेकर भी नही लौटा। जो वहाँ जाता है वह वहीं का होकर रह जाता है, और जो कोई वहाँ से आता भी है तो उसे राजा का कोई समाचार ही नहीं मालूम होता। दिल्ली का मार्ग अगम्य है। प्रियतम वहीं चले गए हैं। जो वहाँ जाता है, वह फिर लौट कर नहीं आता। जिस प्रकार कुएँ से जल, धारा के रूप में बाहर निकल कर बहता है, उसी प्रकार वह सुन्दरी पद्मावती अपने नेत्रों रूपी डोलों में आँसू भर-भर कर उन्हें धारा के रूप में गिरा रही थी। वह पुनः विलाप करने लगी कि हे स्वामी! मैं तुम्हारे बिना तुम्हारे वियोग में सूखकर रस्सी के समान पतली हो गई हूँ। मैं कुएँ में पड़ी हूँ, अर्थात् दुःख के कुण्ड में पड़ी दुःख पा रही हूँ। आकर मुझे पकड़ कर बाहर निकाल लो।

पद्मावती अपने नेत्रों रूपी डोलों में आँसू भर-भर कर अपने हृदय पर ढाल रही थी परन्तु फिर भी उसके हृदय की विरहाग्नि शान्त नहीं होती थी; अर्थात् रोने पर भी उसे सान्त्वना नहीं मिलती थी। (जब कि मनोविज्ञान यह कहता है कि रोने से

मन का दुःख कम हो जाता है।) क्षण-क्षण में उसके प्राण लौट आते थे और फिर दूसरे ही क्षण चले जाते थे; अर्थात् वह गहरी-गहरी साँसें भर रही थी।

टिप्पणी—अलंकार—विशेषोक्ति और रूपक।

(६१९)

नीर गँभीर कहाँ, हो पिया। तुम्ह बिनु फाटै सरवर-हिया॥
गएहु हेराइ, परेहु केहि हाथा?[1]। चलत सरोवर लीन्ह न साथा॥
चरत जो पंखि केलि कै नीरा। नीर घटे ओइ आव न तीरा॥
कँवल सूख, पखुरी बेहरानी। गलि गलि कै मिलि छार हेरानी[2]॥
बिरह-रेत कंचन तन लावा। चून चून कै खेह मेरावा॥
कनक जो कन कन होइ बेहराई। पिय कहँ? छार समेटै आई॥
बिरह पवन वह छार सरीरू। छारहि आनि मेरावहु नीरू॥
अबहुँ जियावहु कै माया, बिथुरी छार समेट।
नइ काया, अवतार नव, होइ तुम्हारे भेंट॥२॥

व्याख्या—पद्मावती विलाप करने लगी कि हे जल के समान गम्भीर स्वभाव वाले स्वामी, तुम कहाँ हो? तुम्हारे बिना मेरा हृदय रूपी सरोवर फटा जा रहा है। (जिस प्रकार सरोवर में जल न रहने से उसकी मिट्टी में दरारें पड़ जाती हैं, उसी प्रकार पद्मावती का हृदय-सरोवर जल-रूपी स्वामी के न रहने से फट गया है।) तुम खो गए हो; न जाने किसके हाथ पड़ गए हो? तुमने यहाँ से चलते समय मेरे सरोवर रूपी हृदय को अपने साथ नहीं लिया, अर्थात् मुझे अपने साथ नहीं ले गए। (जब सरोवर में जल था अर्थात् जब तुम मेरे पास थे तो) जो पक्षी इस सरोवर के तट पर क्रीड़ा करते हुए भोजन करते रहते थे, वे अब जल के घट जाने के कारण सरोवर के तट पर नहीं आते; अर्थात् तुम्हारे रहते समय मेरे जो अंग-प्रत्यंग (जिनकी उपमा विभिन्न पक्षियों से दी जाती है) केलि-क्रीड़ा करते हुए मग्न रहते थे, वे अब तुम्हारे वियोग के कारण अपना स्वाभाविक स्वरूप और उल्लास खो बैठे हैं।

कमल सूख गया है, उसकी पँखुड़ियाँ बिखर गई हैं और गल-गल कर मिट्टी में मिल खो गई हैं; अर्थात् मेरे कमल के समान सुन्दर शरीर के सम्पूर्ण अवयव नष्ट हो गए हैं। विरह रूपी रेती मेरे कंचन जैसे शरीर को काट-काट, चूर-चूर कर मिट्टी में मिलाए दे रही है; अर्थात् विरह के कारण मेरा सोने जैसा शरीर तिल-तिल कर नष्ट हुआ जा रहा है। मेरे शरीर का स्वर्ण टुकड़े-टुकड़े हो बिखर रहा है। हे स्वामी! तुम कहाँ हो? आकर मेरी इस मिट्टी को समेट लो; अर्थात् आकर मेरे इस

पाठ-भेद—१. बिरह के हाथा=विरह के हाथों से छीने जाकर। २. कन कन होइ मिलि छार उड़ानी=टुकड़े-टुकड़े होकर और मिट्टी में मिलकर उड़ गई, नष्ट हो गई।

शरीर को नष्ट होने से बचा लो। विरह का पवन मेरे इस शरीर को मिट्टी बन उड़ाए लिए जा रहा है। तुम आकर मेरी इस मिट्टी को समेट उसे अपने स्नेह-रूपी जल से सान पुनः ठीक कर दो।

तुम अब भी दया करके मुझे जीवित कर लो और बिखरी हुई मिट्टी को समेट लो। तुम्हारे साथ भेंट हो जाने से मैं पुनः नया शरीर और नया जीवन प्राप्त कर लूँगी; अर्थात् तुम्हारे आ जाने से मेरा पुनर्जन्म-सा हो जायेगा।

(६२०)

नैन-सीप, मोती भरि आँसू। टुटि टुटि परहिं करहिं तन नासू॥
पदिक पदारथ पदमिनि नारी। पिय बिनु भइ कौड़ी बर बारी॥
सँग लेइ गएउ रतन सब जोती। कंचन-कया काँच कै पोती॥
बूड़ति हौं दुख-दगध गँभीरा। तुम बिनु, कंत! लाव को तीरा॥
हिये बिरह होइ चढ़ा पहारू। चल जोबन सहि सकै न भारू॥
जल महँ अगिनि सो जान बिछूना। पाहन जरहिं, होहिं सब चूना॥
कौने जतन, कंत! तुम्ह पावौं। आजु आगि हौं जरत बुझावौं॥
कौन खंड हौं हेरौं, कहाँ बँधे हौ, नाह।
हेरे कतहुँ न पावौं, बसै तु हिरदय माहँ॥३॥

व्याख्या—पद्मावती के सीप के समान नेत्रों में आँसुओं रूपी मोती भरे हुए थे जो टूट-टूट कर अर्थात् टपक-टपक कर नीचे गिर रहे थे। विरह के उन आँसुओं के कारण पद्मावती का शरीर नष्ट हुआ जा रहा था। श्रेष्ठ हीरे के समान मूल्यवान और कान्ति वाली वह पद्मिनी नारी स्वामी के बिना कौड़ी के समान मोल वाली साधारण स्त्री बन गई थी; अर्थात् उसकी सारी कान्ति नष्ट हो गई थी। उसकी सारी ज्योति (कान्ति) रत्नसेन अपने साथ ले गया था। अब उसकी स्वर्ण के समान काया काँच की गुरिया के समान फीकी और महत्त्वहीन हो रही थी। वह विलाप करने लगी कि हे स्वामी! मैं दुःख के अथाह समुद्र में पड़ी विरहाग्नि से दग्ध हो रही हूँ। तुम्हारे बिना मुझे कौन पार लगाएगा। विरह मेरे हृदय पर पहाड़ के समान भारी हो बैठ गया है। मेरा चंचल यौवन उसके भार को नहीं सह सक रहा है। यौवन के जल में लगी हुई अग्नि बड़वाग्नि के समान भयंकर होती है, उसकी पीड़ा को विरही ही जानता है। उसकी ज्वाला में जल कर पत्थर भी चूना बन जाते हैं। हे स्वामी! मैं तुम्हें किस युक्ति से पुनः प्राप्त करूँ। आज मैं तुम्हारी विरहाग्नि में जल रही हूँ। यदि तुम मुझे प्राप्त हो जाओ तो वह अग्नि शान्त हो जायेगी।

अब मैं तुम्हें किस देश में जाकर ढ़ूँढ़ूँ? हे स्वामी। तुम कहाँ बन्दी हुए पड़े हो? मैं ढूँढ़ने पर भी तुम्हें कहीं नहीं खोज पा रही हूँ, यद्यपि तुम मेरे हृदय में ही बसते हो।

(६२१)

नागमतिहि 'पिय पिय' रट लागी । निसि दिनि तपै मच्छ जिमि आगी ॥
भँवर, भुजंग कहाँ, हो पिया । हम ठेघा तुम कान न किया ॥
भूलि न जाहि कँवल के पाहाँ । बाँधत बिलँब न लागै नाहा ॥
कहाँ सो सूर पास हौं जाऊँ । बाँधा भँवर छोरि कै लाऊँ ॥
कहाँ जाउँ को कहै सँदेसा ? । जाउँ सो तहँ जोगिन के भेसा ॥
फारि पटोरहि, पहिरौं कंथा । जौ मोहि कोउ देखावै पंथा ॥
वह पथ पलकन्ह जाइ बोहारौं । सीस चरन कै तहाँ सिधारौं ॥
को गुरु अगुवा होइ, सखि ! मोहि लावै पथ माँह ।
तन-मन-धन बलि बलि करौं, जो रे मिलावे नाह ॥४॥

शब्दार्थ—ठेका=सहारा लिया । सूर=भौंरे का प्रतिद्वन्द्वी सूर्य । सीस चरन कै=सिर को पैर बनाकर; अर्थात् सिर के बल चलकर । अगुवा=पथ-प्रदर्शक । भुजंग=सूर्य ।

व्याख्या—इधर नागमती भी प्रिय-प्रिय कह अपने स्वामी की रट लगाए हुए थी । वह रात-दिन विरह-वेदना से इस प्रकार तड़पती रहती थी, जिस प्रकार मछली आग में भूनी जाने पर छटपटाती है । वह विलाप करती थी कि हे भौंरे के समान प्रेमी तथा सूर्य के समान तेजस्वी स्वामी ! तुम कहाँ हो ? हमने तो केवल तुम्हारा ही आश्रय लिया था परन्तु तुमने मेरी एक बात भी नहीं मानी । मैंने तुमसे कहा था कि तुम भूल कर भी कमल (पद्मावती) के पास मत जाना, क्योंकि जिस प्रकार कमल तुरन्त अपने कोश में भ्रमर को बन्दी बना लेता है, उसी प्रकार पद्मावती के कारण ही हे नाथ ! तुम्हें बन्धन में पड़ना पड़ा । वह सूर्य अर्थात् अलाउद्दीन कहाँ है (जो अपने प्रतिद्वन्द्वी कमल के प्रेमी—भौंरे को बाँधकर ले गया है) जिससे मैं उसके पास जाऊँ और बन्धन में पड़े भ्रमर अर्थात् रत्नसेन को मुक्त करवा कर ले आऊँ । मैं कहाँ जाऊँ ? कौन उससे जाकर मेरा सन्देश कहे । मैं जोगिन का वेश धारण कर वहाँ जाऊँगी । मैं अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़ कर कथरी पहन लूँगी । यदि मुझे कोई वहाँ का मार्ग बता दे तो मैं जोगिन बन वहाँ जाऊँगी । मैं उस पथ को अपनी पलकों से बुहारूँगी और सिर के बल चलकर वहाँ पहुँच जाऊँगी ।

हे सखि ! कौन गुरु बनकर मुझे वहाँ का मार्ग दिखाए और मुझे उस मार्ग पर डाल दे । जो कोई मुझे मेरे स्वामी से मिला देगा, मैं उस पर अपना सारा तन, मन, धन बारम्बार न्यौछावर करूँगी ।

टिप्पणी—डा० गुप्त इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं । परन्तु कथा-संयोजन की दृष्टि से यह पद संगत प्रतीत होता है ।

(६२२)

कँ कँ कारन रोवै बाला । जनु टूटहिं मोतिन्ह की माला ॥
रोवति भई, न साँस सँभारा । नैन चुवहिं जस ओरति-धारा ॥
जाकर रतन परै पर हाथा । सो अनाथ किमि जीवै, नाथा ॥
पाँच रतन ओहि रतनहि लागे । बेगि आउ, पिय रतन सभागे ॥
रहौ न जोति नैन भए खीने । स्रवन न सुनौं, बैन तुम लीने ॥
रसनहिं रस नहिं एकौ भावा । नासिक और बास नहिं आवा ॥
तचितचितुम्ह बिनु अँगमोहि लागे । पाँचौ दगधि बिरह अब जागे ॥
बिरह सो जारि भसम कै, चहै उड़ाव खेह ।
आइ जो धनि पिय मेरवँ, करि सो देइ नइ देह ॥५॥

व्याख्या—नागमती अत्यन्त करुण विलाप कर-कर रोती रही । उसके नेत्रों से आँसू इस प्रकार नीचे टपक रहे थे—मानो मोती की माला टूट जाने से उसके मोती टूट-टूट कर नीचे टपक रहे हों। वह बराबर रोये जा रही थी, उससे ठीक से साँस भी नहीं ली जा रही थी । उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा इस तरह बह रही थी जैसे मोरी में से जल की धारा नीचे गिरती रहती है। वह विलाप करने लगी कि हे स्वामी ! जिसका रत्न दूसरे के हाथ पड़ जाय, वह अनाथ किस प्रकार जीवित रह सकेगा । मेरे पाँच रत्न अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ उसी एक रत्न (रत्नसेन) से लगी रहती हैं । हे सौभाग्यशाली रत्न के समान प्रियतम रत्नसेन ! तुम शीघ्र आ जाओ। मेरे नेत्र क्षीण हो गए हैं और उनमें ज्योति नहीं रही है । कानों से कुछ सुनाई नहीं पड़ता; मेरी वाणी सदैव तुम्हीं में लीन रहती है; अर्थात् रात-दिन तुम्हारा ही नाम जपती रहती है। मेरी जिह्वा को कोई भी रस अच्छा नहीं लगता, नासिका को तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की सुगन्धि महसूस नहीं होती। तुम्हारे बिना मेरे सारे अंग मुझे जलते हुए से प्रतीत होते हैं। मेरी पाँचों इन्द्रियाँ विरह के जाग्रत हो उठने के कारण बराबर दग्ध होती रहती हैं।

यह विरह मुझे जला और भस्म कर मेरी मिट्टी को उड़ा नष्ट कर देना चाहता है । जो आकर इस स्त्री अर्थात् मुझ नागमती से मेरे स्वामी को मिला देगा, वह मेरे इसी शरीर को नवीन जीवन प्रदान करने के पुण्य का भागी बनेगा।

टिप्पणी—डा० गुप्त इस पद को भी प्रक्षिप्त मानते हैं।

(६२३)

पिय बिनु व्याकुल बिलपै नागा । बिरहा-तपनि साम भए कागा ॥
पवन पानि कहँ सीतल पीऊ ? । जेहि देखे पलुहै तन जीऊ ॥
कहँ सो बास मलयगिर नाहा । जेहि कल परत देति गल बाहाँ ॥
पदमिनि ठगिनि भई कित साथा । जेहि तें रतन परा पर-हाथा ॥

होइ बसंत आवहु पिय केसरि। देखे फिर फूलै नागेसरि॥
तुम्ह बिनु नाह! रहै हिय तचा। अब नहिं बिरह-गरुड़ सौं बचा॥
अब अँधियार परा, मसि लागी। तुम्ह बिनु कौन बुझावै आगी॥
नैन, स्रवन, रस रसना, सबै खीन भए, नाह।
कौन सो दिन जेहि भेंट कै, आइ करै सुख छाँह॥६॥

व्याख्या—स्वामी के बिना नागमती व्याकुल हो विलाप कर रही थी। उसके विरह की ज्वाला लगने से कौए जल कर काले हो गए। पवन और जल के समान शीतलता प्रदान करने वाला उसका स्वामी कहाँ है, जिसे देख उसके तन और प्राण पुनः पल्लवित हो उठें। उस स्वामी की मलयगिरि की सुगन्धि के समान सुगन्धि कहाँ है? वह स्वामी कहाँ है जिसके गलबाँही डालने से मन में चैन पड़ता था? वह ठगिनी पद्मावती कहाँ से उसके साथ आई थी, जिसके कारण वह रत्न (रत्नसेन) पराये हाथ में जा पड़ा अर्थात् पराए बन्धन में बँध गया? हे प्रियतम! तुम केसर के समान आओ तो मेरे जीवन में पुनः बसन्त की-सी बहार छा जाये। तुम्हें देख यह नागकेसर (नागमती) पुनः फूल उठेगी। हे स्वामी! तुम्हारे बिना मेरा यह हृदय दिन-रात जलता रहता है। अब मैं इस विरह रूपी गरुड़ से नहीं बच सकूँगी; अर्थात् यह विरह मुझे उसी प्रकार खा जायेगा जिस प्रकार गरुड़ नागों को खा जाता है। अब अन्धकार छा रहा है, चारों ओर कालिमा अर्थात् निराशा का साम्राज्य छा गया है। हे स्वामी! तुम्हारे बिना मेरी इस विरहाग्नि को कौन बुझाएगा?

हे नाथ! मेरे नेत्र, कान और जीभ का स्वाद आदि सब कुछ क्षीण हो चुके हैं। वह कौन सा ऐसा दिन होगा, जब तुम आकर मुझ से भेंट करोगे और मेरे ऊपर सुख की छाया करोगे।

टिप्पणी—डा० गुप्त ने इस पद को भी प्रक्षिप्त माना है।

४६

देवपाल-दूती-खंड

(६२४)

कुंभलनेर राय देवपालू । राजा केर शत्रु हिय-सालू ॥
वह पै सुना कि राजा बाँधा । पाछिल बैर सँवरि छर साधा ॥
सत्रु-साल तब नेवरै सोई । जो घर आव सत्रु कै जोई ॥
दूती एक बिरिध तेहिं ठाऊँ । बाम्हनि जाति, कुमुदिनि नाऊँ ॥
ओहि हँकारि कै बीरा दीन्हा । तोरे बर मैं बर जिउ कीन्हा ॥
तुइ जो कुमुदिनि कँवल के नियरे । सरग जो चाँद बसै तोहि हियरे ॥
चितउर महँ जो पदमिनि रानी । कर बर छर सौं दै मोहिं आनी ॥
रूप जगत-मन-मोहन, औ पदमावति नावँ ।
कोटि दरब तोहि देइहौं, आनि करसि एहि ठावँ ॥१॥

व्याख्या—कुम्भलनेर का राजा देवपाल राजा रत्नसेन का शत्रु था। यह शत्रुता उसके हृदय में सदैव कसकती रहती थी। जब उसने निश्चित रूप से यह सुन लिया कि राजा रत्नसेन वन्दी बन गया है तो उसने अपनी पिछली शत्रुता का स्मरण कर छल द्वारा उसका बदला लेने का निश्चय किया। शत्रु के हृदय की कसक पूरी तरह से तभी दूर होती है, जब शत्रु की स्त्री उसके घर में आ जाय। उसके यहाँ एक बुढ़िया कुटिनी थी। उसका नाम कुमुदिनी था। वह जाति की ब्राह्मणी थी। देवपाल ने उसे बुलवा कर बीड़ा दिया और कहा कि मैंने तेरे ही भरोसे अपने हृदय में साहस किया है। तू कुमुदिनी है जो कमल के पास रहती है। स्वर्ग में रहने वाला चन्द्रमा सदैव तेरे हृदय में स्थित रहता है। (कुमुदिनी चन्द्रमा को देख खिल जाती है।) चित्तौड़ में जो पद्मिनी रानी है, तू उसे छल-बल से लाकर मुझे दे दे। उसका रूप संसार के मन को मोहित करने वाला है। उसका नाम पद्मावती है। यदि तू उसे मेरे यहाँ ले आएगी तो मैं तुझे एक करोड़ मुद्रा दूँगा।

(६२५)

कुमुदिनि कहा 'देखु, मैं सो हौं। मानुष काह, देवता मोहौं ॥
जस काँवरू चमारिनि लोना। कौ नहिं छरा पाढ़त कै टोना ॥
बिसहर नाचहिं पाढ़त मारे। औ धरि मूँदहिं घालि पेटारे ॥

बिरिछ चलै पाढ़त कै बोला। नदी उलटि बह, परबत डोला ॥
पढ़त हरैं पंडित मन गहिरे। और को अंध, गूँग औ बहिरे ॥
पाढ़त ऐस देवतन्ह लागा। मानुष कहँ पाढ़त सौं भागा ? ॥
चढ़ि अकास कं काढ़त पानी[1]। कहाँ जाइ पदमावति रानी ॥
दूती बहुत पैंज, कै, बोली पाढ़त बोल।
जाकर सत्त सुमेरु है, लागै जगत न डोल ॥२॥

व्याख्या—राजा देवपाल की बात सुनकर कुमुदिनी नामक कुटिनी (दूती) ने कहा कि हे राजा ! देख, मैं वह हूँ जो मनुष्य की तो क्या चलाई, देवताओं तक को अपने वश में कर लेती हूँ। जिस प्रकार कामरूप देश की लोना नामक चमारिन के जादू के मंत्र पढ़ते ही ऐसा कौन था जो नहीं छला गया। मंत्र पढ़ कर मारते ही विषधर (सर्प) नाचने लगते हैं और फिर उन्हें पकड़ पिटारी में बन्द कर लिया जाता है। मंत्र पढ़ते ही वृक्ष चलने लगते हैं, नदी उल्टी बहने लगती है और पर्वत अपने स्थान से हट जाते हैं। मंत्र पढ़ते ही गम्भीर बुद्धि वाले पंडितों की भी बुद्धि मारी जाती है। अन्धे, गूँगे और बहिरे मनुष्यों का तो कहना ही क्या ! मैं ऐसा मंत्र पढ़ती हूँ कि देवता तक उसके वश में हो जाते हैं। फिर ऐसा मनुष्य कहाँ है जो मेरे जादू के प्रभाव से बच कर जा सके। मैं मंत्र-वल से आकाश पर चढ़ पानी बरसा देती हूँ, फिर वेचारी रानी पद्मावती मुझसे बच कर कहाँ जा सकेगी !

वह कुटिनी मंत्र बोल-बोल कर अनेक प्रकार से प्रतिज्ञा करने लगी। परन्तु जिसका सत सुमेरु के समान अटल है, तो फिर चाहे सारा संसार ही उसे डिगाने में क्यों न जुट जाय, वह डिग नहीं सकता।

(६२६)

दूती बहुत पकावन साँधे। मोतिलाडू औ खरौरा बाँधे ॥
माठ, पिराकैं, फेनी, पापर। पहिरे बूझि दूति के कापर ॥
लेइ पूरी भरि डाल अछूती। चितउर चली पैज कै दूती ॥
बिरिध बैस जौ बाँधे पाऊ। कहाँ सो जोबन, कित बेवसाऊ ॥
तन बूढ़ा, मन बूढ़ न होई। बल न रहा, पै लालच सोई ॥
कहाँ सो रूप जगत सब राता। कहाँ सो गरब हस्ति जस माता ॥
कहाँ सो तीख नयन, तन ठाढ़ा। सबै मारि जोबन-पन काढ़ा ॥
मुहमद बिरधि जो नइ चलै, काह चलै भुइँ टोइ।
जोबन-रतन हेरान है, मकु धरती महँ होइ ॥३॥

व्याख्या—राजा देवपाल से पद्मावती को उसके पास ला देने की प्रतिज्ञा कर

पाठ-भेद—१. पाढ़िन कै सुठि गाढ़ी बानी=मंत्र की वाणी अत्यधिक गाढ़ी होती है।

उस कुटिनी (दूती) ने बहुत-से पकवान बनाए। उसने मोतीचूर तथा खाँड़ के लड्डू बाँधे, मठरी, गुझिया, फेनी, पापड़ आदि साथ लिए और खूब सोच-समझ कर दूती के योग्य कपड़े पहने। उसने एक बड़ी डलिया में अछूती अर्थात् किसी के द्वारा स्पर्श न की हुई पूड़ियाँ भर लीं और प्रतिज्ञा साध चित्तौड़ की ओर चल पड़ी। वृद्धावस्था जब किसी के पैर बाँध उसे अशक्त बना देती है तो फिर उसमें वह पहले जैसा यौवन और कार्य करने की शक्ति कहाँ रह जाती है? शरीर वृद्ध हो जाता है परन्तु मन वृद्ध नहीं होता। शक्ति नहीं रहती परन्तु मन का लालच नष्ट नहीं हो पाता। भाव यह है कि वह दूती बूढ़ी हो चुकी थी, शरीर से अशक्त थी परन्तु फिर भी लालचवश उस कार्य को करने के लिए निकल पड़ी थी। वृद्धावस्था आ जाने पर वह रूप कहाँ रह जाता है जिसे देख सारा संसार मुग्ध हो उठता था। वह गर्व कहाँ रह जाता है जो हाथी के समान मतवाला बना रहता था। उन तीखे नेत्रों तथा उस सीधे तने हुए शरीर आदि सभी को नष्ट कर वृद्धावस्था उस तरुणाई को समाप्त कर देती है।

जायसी कहते हैं कि वृद्ध जो नीचे की ओर झुक कर चलता है, वह पृथ्वी पर क्या खोजता हुआ चलता है? उसका यौवन रूपी रत्न खो गया है, शायद खोया हुआ वह यौवन उसे पृथ्वी पर ही कहीं मिल जाय।

(६२७)

आइ कुमुदिनी चितउर चढ़ी। जोहन-मोहन पाढ़त पढ़ी॥
पूछि लीन्ह रनिवास बरोठा। पैठी पँवरी भीतर जहँ कोठा॥
जहाँ पदमिनि ससि उजियारी। लेइ दूती पकवान उतारी॥
हाथ पसारि धाइ कै भेंटी। "चीन्हा नहिं, राजा कै बेटी?॥
हौं बाम्हनि जेहि कुमुदिनी नाऊँ। हम तुम उपनी एकै ठाऊँ॥
नावँ पिता कर दूबे बेनी। सोइ पुरोहित गँधरबसेनी॥
तुम बारी तब सिंघलदीपा। लीन्हे दूध पियाइउँ सीपा[1]॥
ठाँव कीन्ह मैं दूसर, कुँभलनेरै आइ।
सुनि तुम्ह चितउर महँ, कहिउँ कि भेटौं जाइ"॥४॥

शब्दार्थ—जोहन-मोहन=देखते ही मोह ले। पाढ़त=जादू या मंत्र। बरोठा बैठकखाना।

व्याख्या—वह कुमुदिनी नामक कुटिनी चित्तौड़ पहुँच गढ़ के पास जा चढ़ी। वह देखते ही मोह लेने वाला जादू जानती थी। उसने किसी से पहले ही रनिवास का बैठकखाना पूछ लिया और ड्योढ़ी में प्रवेश कर वहाँ भीतर पहुँच गई, जहाँ पद्मावती की अट्टालिका या आस्थान मण्डप था। जहाँ चन्द्रमा के समान उज्ज्वल पद्मावती थी वहीं पहुँच कर दूती ने अपने साथ लाए पकवानों को उतारकर नीचे रख दिया। फिर

पाठ-भेद—१. छीपाँ=क्षिप्रतापूर्वक, जल्दी से।

वह बाँहें फैला दौड़कर पद्मावती से भेंटी और बोली कि हे राजकुमारी ! तुमने मुझे पहचाना नहीं। मैं वही ब्राह्मणी हूँ, जिसका नाम कुमुदिनी था। हम और तुम — दोनों एक ही स्थान पर पैदा हुई थीं। मेरे पिता का नाम वेनी दूबे था। वह तुम्हारे पिता राजा गंधर्वसेन के पुरोहित थे। जब मैं सिंहलद्वीप में रहती थी, उस समय तुम छोटी सी बच्ची थीं। मैं तुम्हें सीपी से दूध पिलाया करती थी। (गाँवों में आजकल भी माताएँ अपने नन्हे बच्चों को सीपी से दूध पिलाया करती हैं।)

मैंने कुम्भलनेर में आकर अपना दूसरा स्थान बना लिया, अर्थात् मैं वहाँ आकर रहने लगी। यह सुनकर कि तुम चित्तौड़ में हो, मैंने मन में कहा कि जाकर तुमसे भेंट करूँ।

(६२८)

सुनि निसचै नैहर कै कोई। गरे लागि पदमावति रोई॥
नैन-गगन रबि बिनु अँधियारे। ससि-मुख आसु टूट जनु तारे॥
जग अँधियार गहन धनि परा। कब लगि ससि नखतन्ह निसि भरा।
माय बाप कित जनमी बारी। गीउ तूरि कित जनम न मारी ?॥
कित बियाहि दुख दीन दुहेला। चितउर पंथ कंत बँदि मेला॥
अब एहि जियन चाहि भल मरना। भएउ पहार जन्म दुख भरना॥
निकसि न जाइ निलज यह जीऊ। देखौं मंदिर सून बिनु पीऊ॥
कुहुकि जो रोई ससि नखत, नैन हैं रात चकोर।
अबहूँ बोलैं तेहि कुहुक, कोकिल, चातक मोर॥५॥

व्याख्या—पद्मावती यह बात पक्की समझ कर कि वह उसके मायके की ही कोई स्त्री है, उसके गले से चिपट कर रोने लगी। उसके नेत्रों रूपी आकाश में रत्नसेन रूपी सूर्य के बिना अन्धकार छा रहा था; अर्थात् उसकी आँखों के आगे पति के बिना अँधेरा छा रहा था। उसके चन्द्र-मुख से आँसू इस प्रकार टपक रहे थे, मानो आकाश से तारे टूट-टूट कर गिर रहे हों। सारा संसार उसे अन्धकार से भरा प्रतीत हो रहा था मानो उस सुन्दरी को ग्रहण लग गया हो। चन्द्रमा कब तक तारों से रात्रि के आकाश को भरता रहे अर्थात् पद्मावती कब तक पति के अभाव में रो-रो कर आँसू बहाती रहे। वह विलाप करने लगी कि माता-पिता ने कन्या को क्यों जन्म दिया था ? उन्होंने उसके पैदा होते ही उसकी गर्दन तोड़ उसे क्यों नहीं मार डाला था ? फिर क्यों मेरा विवाह करके मुझे भयङ्कर दुख दिया और मुझे चित्तौड़ भेज पति को बन्धन में डाल दिया। अब तो ऐसे जीवन से तो मर जाना ही अधिक अच्छा है। क्योंकि अब यह जीवन मेरे लिए पहाड़ के समान भारी और असह्य हो उठा है। अब

तो मुझे जीवन भर दुख ही झेलना है। ये प्राण ऐसे निर्लज्ज हैं कि निकलते ही नहीं। मुझे प्रियतम के बिना यह राजमहल सूना लगता है।

पद्मावती इतना कह कोयल के समान कुहुक-कहुक कर रोने लगी। उसके चन्द्रमुख पर नक्षत्र रूपी आँसू बहने लगे। रोते-रोते उसके नेत्र चकोर के नेत्रों के समान लाल हो गए। आज भी कोयल, चातक, मोर—जो पुकार मचाते रहते हैं, वे मानो पद्मावती की उसी कूक को प्रतिध्वनित करते रहते हैं।

(६२९)

कुमुदिनि कंठ लागि सुठि रोई। पुनि - लेइ रूप-थार मुख धोई॥
तुइ ससि-रूप जगत उजियारी। मुख न झाँपु निसि होइ अँधियारी॥
सुनि चकोर-कोकिल-दुख दुखी। घुँघुची भई नैन करमुखी॥
केतौ धाइ मरै कोइ बाटा। सोइ पाव जो लिखा लिलाटा॥
जो बिधि लिखा आन नहिं होई। कित धावै, कित रोवै कोई॥
कित कोउ हौंछ करै औ पूजा। जो बिधि लिखा होइ नहिं दूजा॥
जेतिक कुमुदिनि बैन करेई। तस पदमावति स्रवन न देई॥
सेंदुर चीर मैल तस, सूखि रही जस फूल।
जेहि सिंगार पिय तजिगा, जनम न पहिरै[1] भूल॥६॥

व्याख्या—कुमुदिनी नामक कुटिनी पद्मावती को विलाप करते देख उसके गले से लिपट खूब रोई। फिर उसने चाँदी की परात में भरे जल से पद्मावती का मुख धोया और उससे कहने लगी कि तू संसार में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल रूप वाली है। तू अपने मुख को हाथों से मत छिपा, नहीं तो तेरे चन्द्र-मुख के छिप जाने से चारों ओर अन्धकार छा जायेगा। भाव यह है कि तू दुःख से इतनी व्याकुल मत हो। तेरे दुःख को सुनकर कोयल और चकोर दुखी हो रहे हैं; अर्थात् चकोर, जो चन्द्रमा का प्रेमी होता है, तेरे चन्द्रमुख के छिप जाने से दुखी हो अँगारे खाने लगा है। और कोयल तेरे विलाप को सुन कुहुक-कुहुक कर रोती रहती है। घुँघुची का मुख भी तेरे अश्रुपूर्ण नेत्रों को देख रोते-रोते काला पड़ गया। कोई कितनी ही भाग-दौड़ क्यों न करे परन्तु उसे मिलता उतना ही है जितना उसके भाग्य में लिखा होता है। विधाता ने जो भाग्य में लिख दिया है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं हो सकता। कोई चाहे कितनी ही भाग-दौड़ करे, और चाहे कितना ही रोए; चाहे कोई मन में कितनी ही इच्छा करे और चाहे कितना ही पूजा-पाठ करे परन्तु विधाता ने जो लिख दिया है उसके विपरीत कुछ भी नहीं हो सकता। कुमुदिनी जितनी ही अधिक बकती जाती थी, पद्मावती उसकी बातों की ओर उतना ही अधिक ध्यान नहीं दे रही थी।

पाठ-भेद—१. बहुरै = लौट कर आयगा।

उसकी माँग का सिन्दूर और वस्त्र मैले हो गए थे और वह फूल के समान सूख कर मुरझा गई थी। जिस शृंगार को प्रियतम त्याग कर चला गया, उसे वह भूल कर भी जीवन में कभी फिर धारण नहीं करेगी। भाव यह है कि पद्मावती ने पति-वियोग में शृंगार करना, माँग में सिन्दूर भरना, स्वच्छ वस्त्र पहनना आदि सब कुछ त्याग दिया था।

(६३०)

तब पकवान उघारा दूती। पदमावति नहिं छुवै अछूती॥
मोहि अपने पिय केर खभारू। पान फूल कस होइ अहारू ?॥
मोकहँ फूल भए सब काँटै। बाँटि देहु जौ चाहहु बाँटै॥
रतन छुवा जिन्ह हाथन्ह सेंती। और न छुवौं सो हाथ सँकेती॥
ओहि के रँग भा हाथ मँजीठी। मुकुता लेउँ तौ घुँघची दीठी॥
नैन करमुहैं, राती काया। मोति होहिं घुँघुची जेहि छाया॥
अस कै ओछ नैन हत्यारे। देखत गा पिउ, गहै न पारे॥
का तोर छुवौं पकवान, गुड़ करुवा, घिउ रूख।
जेहि मिलि होत सवाद रस, लेइ सो गएउ पिय भूख॥७॥

व्याख्या—तब दूती ने पकवानों की टोकरी खोली, परन्तु पद्मावती ने उन अछूती पूड़ियों को हाथ से छुआ भी नहीं। पद्मावती ने उस कुटिनी से कहा कि मुझे अपने पति का शोक है; मैं पान-फूल का भी आहार नहीं करती (फिर तेरे पकवानों को कैसे खा सकती हूँ)। मेरे लिए सारे फूल काँटे बन गए हैं, अर्थात् फूलों का स्पर्श मुझे काँटे चुभने की सी वेदना पहुँचाता है। तुम इस पकवान को जिसे चाहो उसे बाँट दो। मेरे जिन हाथों ने रत्नसेन का स्पर्श किया था, मैं उन हाथों से अब बटोर कर अन्य किसी भी पदार्थ का स्पर्श नहीं कर सकती। उसी (रत्नसेन) के प्रेम के रंग में रँग कर मेरे हाथ मजीठ के समान लाल हो गए हैं। अपने इन हाथों में मैं मोती भी लेती हूँ तो वह भी मुझे घुँघुची जैसा दिखाई पड़ने लगता है। उस (रत्नसेन) के स्पर्श से अर्थात् उसका आलिंगन पाकर मेरा तन लाल हो गया है परन्तु उसके वियोग में नेत्र कलमुँहे हो गए हैं। मेरे हाथ में रखा मोती मेरे शरीर की लाल तथा नेत्रों की काली छाया पड़ने से घुँघुची बन जाता है। (घुँघुची लाल होती है और उसके ऊपर एक काला बिन्दु होता है।) ये मेरे ओछे नेत्र ऐसे हत्यारे हैं कि इनके देखते प्रियतम चले गए, परन्तु ये उन्हें पकड़ कर न रख सके। भाव यह है कि पति-वियोग के कारण पद्मावती को अन्य सारे पुरुष घुँघुची के समान तुच्छ प्रतीत होते हैं।

मैं तेरे इन पकवानों को अपने हाथों से क्या छुऊँ ? इनमें पड़ा गुड़ कड़ुवा और घी रूखा है, अर्थात् स्नेह रहित है। जिसके होने पर भोजन में स्वाद और रस

आता है, मेरी उस भूख को तो प्रियतम अपने साथ लेकर चले गए; अर्थात् प्रियतम के बिना मुझे भूख-प्यास कुछ भी नहीं सुहाती।

टिप्पणी—अलंकार—'ओहि के·····मँजीठी'— में उत्प्रेक्षा और तद्गुण होने से संकर।

'रतन छुवा·······संकेती'—में श्लेष तथा काकु वक्रोक्ति।

'मोति होहिं·······जेहि छाया'—में तद्गुण।

(६३१)

कुमुदिनि रही कँवल के पासा। बैरी सूर, चाँद कै आसा॥
दिन कुँभिलानि रही, भइ चूरू। बिगसि रैनि बातन्ह कर भूरू॥
कस तुइ, बारि! रहसि कुँभलानी। सूखि बेलि जस पाव न पानी॥
अबही कँवल करी तुइँ बारी। कोवँरि बैस, उठत पौनारी॥
बेनी तोरि मैलि औ रूखी। सरवर माहँ रहसि कस सूखी॥
पान-बेलि बिधि कया जमाई। सींचत रहै तबहिं पलुहाई॥
करु सिंगार सुख फूल तमोरा। बैठु सिंघासन, झूलु हिंडोरा॥
हार चीर नित पहिरहु, सिर कर करहु सँभार।
भोग मानि लेहु दिन दस, जोबन जात न बार ॥८॥

व्याख्या—वह कुमुदिनी नामक कुटिनी कमल अर्थात् पद्मावती के पास ही ठहर गई। कुमुदिनी का दुश्मन सूर्य होता है और वह सदैव चन्द्रमा के दर्शनों की ही आस लगाए रहती है; अर्थात् वह कुटिनी रत्नसेन को अपना शत्रु समझती थी और पद्मावती को प्राप्त करने की ताक में लगी रहती थी। अथवा वह अन्य लोगों के भय के कारण दिन में चुपचाप बनी रहती थी और चन्द्रमा के उदय होने अर्थात् रात होने की प्रतीक्षा करती रहती थी। वह दिन में थक कर मुरझाई हुई सी बनी रही और रात होते ही उसने प्रसन्न होकर पद्मावती के साथ बातें करते-करते सवेरा कर दिया। उसने पद्मावती से कहा कि हे बाला ! तू इस प्रकार कुम्हलाई हुई क्यों रहती है ? तू उस बेल के समान सूख गई है जिसे पानी न मिला हो। हे सुन्दरी, अभी तो तू कमल की कली के समान है, तेरी अवस्था कोमल है और तेरे शरीर की उठान पद्मनाल के समान है। तेरी वेणी रूखी और मैली हो रही है। तू सरोवर के भीतर रहते हुए भी इस प्रकार क्यों सूख रही है। भाव यह है कि दूती पद्मावती को संकेत देती है कि तेरे लिए सब सुख-सामग्री मौजूद हैं, फिर तू इनका भोग क्यों नहीं करती ? पति-विरह में इस प्रकार सूख जाना अच्छा नहीं होता। विधाता ने तेरी काया को पान की बेल के समान कोमल उत्पन्न किया है। यह तभी पल्लवित रहेगी, जब तू इसे बराबर सींचती रहेगी। भाव यह है कि तेरा यह शरीर रस-भोग करते रहने से ही अपने सौन्दर्य को स्थिर रख

पाठ-भेद—१. जोबन के पैसार=यौवन का प्रवेश।

सकेगा। तू अपना शृंगार कर और पान-फूल खा सुख प्राप्त कर। सिंहासन पर बैठ और हिंडोले पर झूल; अर्थात् खूब सुख-भोग का आनन्द उठा।

तू नित्य रेशमी वस्त्र और हार धारण कर, अपने सिर अर्थात् केशों की सम्हाल कर अर्थात् केश धोकर वेणी बाँध। तू दस दिन अर्थात् जब तक तेरा यौवन है, तब तक खूब भोग-विलास कर ले, क्योंकि इस यौवन को जाते अर्थात् ढलते देर नहीं लगेगी।

(६३२)

बिहँसि जो जोबन कुमुदिनि कहा। कँवल न बिगसा, संपुट रहा॥
ए कुमुदिनि! जोबन तेहि माहाँ। जो आछै पिउ के सुख-छाहाँ॥
जाकर छत्र सो बाहर छावा। सो उजार घर कौन बसावा?॥
अहा न राजा रतन अँजोरा। केहिक सिंघासन, केहिक पटोरा?॥
को पालक पौढ़ै, को माढ़ी?। सोवनहार परा बँदि गाढ़ी॥
चहुँ दिसि यह घर भा अँधियारा। सब सिंगार लेइ साथ सिधारा॥
कया बेलि तब जानौं जामी। सींचनहार आव घर स्वामी॥
तौ लहि रहौं झुरानी, जौ लहि आव सो कंत।
एहि फूल, एहि सेंदुर, नव होइ उठै बसंत॥६॥

शब्दार्थ—संपुट रहा=बन्द ही रहा। पालक पोढ़े=पलंग पर सोवे। माढ़ी=महल, अटारी। बँदि गाढ़ी=गाढ़े बन्धन में। जामी=जमी, उत्पन्न हुई।

व्याख्या—कुमुदिनी कुटिनी ने हँस-हँस कर यौवन का इस प्रकार वर्णन किया तो उसे सुनकर कमल नहीं खिला, अर्थात् पद्मावती प्रसन्न नहीं हुई। वह कमल-सम्पुट (बन्द कमल-पुष्प) के समान चुपचाप उदास बैठी रही। उसने कुमुदिनी से कहा कि हे कुमुदिनी! यौवन तो उसके पास होता है जो अपने प्रियतम की सुख-छाया के नीचे रहती है; अर्थात् जिसे प्रियतम का सान्निध्य प्राप्त होता है। मेरे सिर के ऊपर जिसके छत्र की छाया रहती है वह तो बाहर चला गया है। ऐसे इस उजाड़ घर को कौन बसाए? अर्थात् जब स्वामी ही पास नहीं तो मैं अपने इस उजाड़ शरीर का क्या शृंगार करूँ? मेरे घर में प्रकाश करने वाला रत्न के समान दीप्ति कान्ति वाला वह राजा तो यहाँ रहा ही नहीं। फिर उसके न रहने पर किसका सिंहासन और किसका वस्त्राभूषण? अर्थात् मैं पति के बिना क्या सिंहासन पर बैठूँ और क्या रेशमी वस्त्रादि धारण करूँ? अब कौन पलंग पर शयन करे और कौन अटारी पर जाकर रहे? क्योंकि उस पर सोने वाला स्वामी तो कठोर बन्धन में पड़ा हुआ है। उसके न रहने से इस घर में चारों ओर अन्धकार छा रहा है। वह मेरा सारा शृंगार अर्थात् शृंगार-प्रसाधन करने की सारी अभिलाषा अपने साथ लेकर यहाँ से चला गया है। इस काया रूपी लता को तब जमी हुई समझो, जब इसको सींचने वाला स्वामी घर आ जाय।

जब तक मेरा स्वामी घर नहीं आ जाता, तब तक मैं इसी प्रकार उसके वियोग में सूखती रहूँगी। जब वह आ जायेगा तो यही फूल और यही सिन्दूर नवीन बसन्त के समान खिल उठेंगे।

(६३३)

जिनि तुइँ, बारि करसि अस जीऊ। जौ लहि जोबन तौ लहि पीऊ॥
पुरुष संग आपन केहि केरा। एक कोहाँइ, दूसर सहुँ हेरा॥
जोबन-जल दिन दिन जस घटा। भँवर छपान, हंस परगटा॥
सुभर सरोवर जौ लहि नीरा। बहु आदर, पंखी बहु तीरा॥
नीर घटे पुनि पूछ न कोई। बिरसि जो लीज हाथ रह सोई॥
जौ लगि कालिंदी, होहि बिरासी। पुनि सुरसरि होइ समुद परासी॥
जोबन भवँर, फूल तन तोरा। बिरिध पहुँचि जस हाथ मरोरा॥
क्रुस्न जो जोबन कारनै, गोपीतन्ह के साथ[1]।
छरि कै जाइहि बान पै, धनुक रहै तोरे हाथ॥१०॥

व्याख्या—पद्मावती की विरह-व्यथा को सुन कुमुदिनी कहने लगी कि हे सुन्दरी! तू अपने मन को इतना छोटा मत कर अर्थात् निराश मत हो। जब तक यौवन है तब तक पति का प्रेम रहता है। भला, पुरुष सदैव के लिए किसका बनकर रहता है? एक स्त्री उससे रूठ जाती है तो वह तुरन्त दूसरी स्त्री का मुँह देखने लगता है। यौवन रूपी जल जैसे-जैसे दिन-प्रति-दिन घटता चला जाता है तो उसका जल के भँवर का सा उद्दाम वेग समाप्त होता चला जाता है और वह हंस की सी मंद चाल से अर्थात् वृद्धावस्था की शिथिलता के साथ चलने लगता है। अथवा यौवन के ढलते ही भौंरे जैसे काले केश नष्ट होकर हंस के समान श्वेत बन जाते हैं। सरोवर में जब तक अच्छी तरह से जल भरा रहता है; तब तक उसका बहुत सम्मान होता है और अनेक पक्षी उसके तट पर जल पीने और क्रीड़ा करने आते हैं। परन्तु जब उसका जल कम हो जाता है तो फिर उसे कोई भी नहीं पूछता; अर्थात् जब तक यौवन रहता है तभी तक नारी का सम्मान होता है और अनेक प्रेमी प्रेम प्राप्त करने की लालसा से उसके चारों ओर घूमते रहते हैं परन्तु यौवन के बीत जाने पर फिर कोई बात भी नहीं पूछता। इसीलिए समय रहते जितना भोग-विलास कर लिया जाय वही अपने पास रह जाता है। जब तक तू यमुना के समान काले केशवाली, यौवनवती है, तब तक विलास कर ले। इसके उपरान्त तो गंगा के समान सफेद बालों वाली हो

पाठ-भेद—१. क्रिस्न जो जोबन करत तन मया गुनत नहिं साथ=जो यौवन शरीर को कृष्ण करता है (उसे रंग प्रदान करता है) वह साथ में होते हुए भी मया (स्नेहपूर्ण कृपा) का विचार नहीं करता है।

जायगी; अर्थात् वृद्धा हो जायेगी और समुद्र अर्थात् मौत की ओर भागने लगेगी। इस समय तो तेरा यौवन भौंरे के समान और शरीर फूल जैसा है, अर्थात् इस समय तो तेरे बाल भौंरे के समान काले और शरीर फूल के समान कोमल, स्निग्ध और कान्तिमान हैं। परन्तु जब वृद्धावस्था आ जायेगी तो वह तेरे इस फूल जैसे शरीर को हाथ से मसल डालेगी; अर्थात् तेरे शरीर की दशा मसले हुए फूल जैसी हो जायेगी।

कृष्ण जो गोपियों के साथ रहते थे, तो गोपियों के यौवन के ही कारण रहते थे। बाद में शरीर की कान्ति (वर्ण) बाण की तरह छल करके हाथ से निकल जाएगी और फिर तेरे पास धनुष के समान झुकी हुई तेरी टेढ़ी कमर ही रह जायेगी। भाव यह है कि जिस प्रकार बाण के न रहने पर धनुष का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, उसी प्रकार यौवन के न रहने पर इस झुकी कमर वाले शरीर का कोई महत्त्व नहीं रह जायेगा।

टिप्पणी—अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(६३४)

जौ पिउ रतनसेन मोर राजा। बिनु पिउ जोबन कौने काजा॥
जौ पै जिउ तौ जोबन कहे। बिनु जिउ जोबन काह सो अहे?॥
जौ जिउ तौ यह जोबन भला। आपन जैस करै निरमला॥
कुल कर पुरुष-सिंघ जेहि खेरा। तेहि थर कैस सियार बसेरा?॥
हिया फार कूकुर तेहि केरा। सिंघहिं तजि सियार-मुख हेरा॥
जोबन-नीर घटे का घटा?। सत्त के बर जौ नहिं हिय फटा॥
सघन मेघ होइ साम बरीसहिं। जोबन नव तरिवर होइ दीसहि॥
रावन पाप जो जिउ धरा, दुवौ जगत मुँह कार।
राम सत्त जो मन धरा, ताहि छरै को पार?॥११॥

व्याख्या—कुटिनी द्वारा यौवन की गुण-गाथा सुन पद्मावती ने उत्तर दिया—जब रत्नसेन ही मेरा पति और राजा है तो फिर उस पति के बिना मेरा यह यौवन किस काम का है। यदि प्राण अर्थात् पति है तो यौवन का रहना सार्थक है; और यदि प्राण (पति) ही न हो तो फिर यह यौवन किसका आधार लेकर रहे। यदि प्राण (पति) हैं तो इस यौवन का रहना अच्छा है। पति यौवन को अपने ही समान निर्मल बना लेता है; अर्थात् पति के रहने से ही यौवन निर्मल रहता है। जिस घर में, कुल में, सिंह के समान पुरुष रहता है उस स्थान पर भला गीदड़ कैसे रह सकता है? जो स्त्रियाँ अपने पति रूपी सिंह को त्याग कर गीदड़ रूपी कामी पर-पुरुषों की ओर दृष्टि डालती हैं उनके हृदय को कुत्ते फाड़ खाते हैं; अर्थात् ऐसी स्त्रियों का कोई भी सम्मान नहीं करता और उनके मर जाने पर उनकी लाश को लावारिस के समान फेंक दिया जाता है, जिससे कुत्ते उसे फाड़ खाते हैं। यदि सत्य के बल से

हृदय न फटे अर्थात् प्रेम में अन्तर न पड़े तो यौवन रूपी जल के घट जाने से क्या हानि हो सकती है ? जब सघन बादल काले बनकर बरसते हैं तो यौवन नव तरु के समान हरा-भरा दिखाई पड़ने लगता है; अर्थात् जब मुझे पुनः पति का प्रेम प्राप्त हो जायेगा तो मेरा यौवन पुनः लहलहा उठेगा।

रावण ने अपने मन में पाप-भावना को प्रश्रय दिया था जिसके कारण दोनों लोकों—इहलोक तथा परलोक—में उसका मुँह काला हुआ; अर्थात् वह अपयश का भागी बना। राम ने अपने हृदय में सत्य को प्रश्रय दिया था, इसलिए उन्हें कौन छल सकता था। भाव यह है कि जब मैं अपने सतीत्व पर दृढ़ हूँ तो कौन मुझे छल सकता है। यदि मैं रावण के समान कुमार्ग-गामिनी बन जाऊँगी तो उसी के समान दोनों लोकों में मुझे भी अपयश प्राप्त होगा।

(६३५)

कित पावसि पुनि जोबन राता। मैमँत, चढ़ा साम सिर छाता॥
जोबन बिना बिरिध होइ नाऊँ। बिनु जोबन थाकै सब ठाऊँ॥
जोबन हेरत मिलै न हेरा। सो जौ जाइ, करै नहिं फेरा॥
हैं जो केस नग भँवर जो बसा। पुनि बग होहिं, जगत सब हँसा॥
सेंवर सेव न चित करु सूआ। पुनि पछितासि अंत सब भूआ॥
रूप तोर जग ऊपर लोना। यह जोबन पाहुन जग होना॥
भोग बिलास केरि यह बेरा। मानि लेहु, पुनि को केहि केरा ?॥
उठत कोंप जस तरिवर, तस जोबन तोहि रात।
तौ लगि रंग लेहु रचि, पुनि सो पियर होइ पात॥१२॥

व्याख्या—कुमुदिनी पद्मावती से पुनः कहने लगी कि हे पद्मावती ! ऐसा यौवन तुम फिर कहाँ प्राप्त कर सकोगी ? इस समय तो तुम्हारा यौवन तुम्हारे मस्तक पर केश रूपी काले छत्र के रूप में मदमत्त हाथी के समान चढ़ा हुआ है। परन्तु जब यह यौवन ढल जायेगा, तब सब लोग तुम्हें 'बुढ़िया' कहकर पुकारने लगेंगे। यौवन के न रहने पर तुम्हारे सारे अंग शिथिल हो जायेंगे; अर्थात् तुम्हारे सारे पुरुषार्थ थक जायेंगे। फिर ढूँढ़ने पर भी तुम्हें कहीं यौवन नहीं मिलेगा। वह जब एक बार चला जाता है तो फिर कभी लौटकर नहीं आता। तुम्हारे इन नागों के समान लहरदार काले केशों में जो भ्रमर बसा हुआ है; अर्थात् तुम्हारे ये भौंरे और काले नाग के समान काले, लम्बे, घुँघराले और चमकीले केश जब बगुले के समान सफेद हो जायेंगे तो सारा संसार तुम्हारी हँसी उड़ाने लगेगा। तुम तोते के समान सेमल के फल की सेवा मत करो, क्योंकि अन्त में जब तुम्हारे केश सेमल की रुई के समान सफेद हो जायेंगे तो फिर तुम हाथ मल कर पछताओगी। भाव यह है कि तुम अब रत्नसेन के लौट आने की प्रतीक्षा मत करो, क्योंकि प्रतीक्षा करते-करते तुम बुढ़िया हो

जाओगी, परन्तु उसका परिणाम कुछ भी नहीं निकलेगा और तब तुम अपने यौवन के वीत जाने पर हाथ मल-मल कर पछताओगी। तुम्हारा सौन्दर्य संसार में सर्वश्रेष्ठ है। इस संसार में यह यौवन अतिथि के समान चंचल है; अर्थात् जिस प्रकार अतिथि कभी बहुत समय तक एक स्थान पर नहीं रहता और चला जाता है, उसी प्रकार तुम्हारा यह यौवन भी एक दिन नष्ट हो जायेगा। यह समय भोग-विलास करने का है। इसलिए मेरी बात मान लो। फिर कोई किसी का भी नहीं होता।

जिस प्रकार वृक्ष में लाल-लाल कोंपलें फूटती हैं, उसी प्रकार तुम्हारा यौवन लाल है; अर्थात् कोंपलों के ही समान नवीन, लाल, कोमल और सुन्दर है। इसलिए जब तक समय है तब तक खूब राग-रंग मना लो, क्योंकि अन्त में वह पीले पत्ते के समान हो जायेगा और नीचे गिर मिट्टी में मिल जायेगा। भाव यह है कि यौवन बीत जाने पर वृद्धावस्था में इसका कोई मूल्य नहीं रह जायेगा।

टिप्पणी—अलंकार—पूर्णोपमा।

(६३६)

कुमुदिनि-बैन सुन हिय जरी। पदमिनि-उरहि आगि जनु परी॥
रँग ताकर हौं जारौं काँचा[1]। आपन तजि जो पराएहि राँचा[2]॥
दूसर करै जाइ दुइ बाटा। राजा दुइ न होहिं एक पाटा॥
जेहि के जीउ प्रीति दिढ़ होई। सुख सोहाग सौं बैठे सोई॥
जोबन जाउ, जाउ सो भँवरा। पिय कै प्रीति न जाइ, जो सँवरा॥
एहि जग जौं पिउ करहिं न फेरा। ओहि जग मिलहि जौं दिन-दिन हेरा॥
जोबन मोर रतन जहँ पीऊ। बलि तेहि पिउ पर जोबन जीऊ॥
भरथरि बिछुरि पिंगला, आहि करत जिउ दीन्ह।
हौं पापिन जो जियत हौं, इहै दोष हम कीन्ह॥१३॥

व्याख्या—कुमुदिनी के वचनों को सुन पद्मावती के हृदय में असह्य वेदना होने लगी। मानो उसके हृदय में किसी ने आग लगा दी हो। वह कहने लगी कि जिसका रंग (प्रेम) कच्चा होता है मैं उसे जला दूँगी। जो नारी अपने पति को त्याग किसी पर-पुरुष पर अनुरक्त होती है वह नष्ट हो जाने योग्य है। जो दूसरे पुरुष को अपना बना लेती है उसकी स्थिति एक साथ दो मार्गों पर चलने वाले व्यक्ति के समान होती है; अर्थात् वह पूर्ण रूप से न तो अपने पति को ही प्राप्त कर पाती है, और न उस दूसरे पुरुष को ही। एक ही सिंहासन पर दो राजा एक साथ नहीं बैठ सकते; अर्थात् हृदय के एक आसन पर दो प्रेमी साथ-साथ नहीं बैठ सकते। जिस नारी के हृदय में अपने पति के प्रति दृढ़ प्रेम होता है वही सौभाग्यवती बन सुख के साथ जीवन व्यतीत करती है। मेरा यह यौवन और भ्रमर के समान ये काले केश जायँ तो चले

पाठ-भेद—१. रचा=अनुरक्त। २. लचा=झुक रहा हो।

जायँ परन्तु वह पति का प्रेम नहीं जाना चाहिए जिसका मैं स्मरण करती रहती हूँ। यदि इस संसार में अर्थात् इस जीवन में मेरा पति लौट कर नहीं आयेगा तो उस लोक में अर्थात् दूसरे जीवन में वह अवश्य मुझे मिल जायेगा, यदि मैं लगातार उसी की प्रतीक्षा करती रहूँगी। भाव यह है कि यदि मेरा पति मुझे अब जीवन में न मिल सका तो दूसरे जीवन में अवश्य मिलेगा। जहाँ मेरा पति रत्नसेन है, वहीं मेरा यौवन है। उस पति पर मेरा यौवन और प्राण दोनों न्यौछावर हैं।

राजा भर्तृहरि से बिछुड़ कर उसकी रानी पिंगला ने आहें भरते हुए अपने प्राण दे दिए थे। मैं पापिनी हूँ, जो पति से बिछुड़ कर भी जीवित हूँ, यही मेरा दोष है।

(६३७)

पदमावति ! सो कौन रसोई। जेहि परकार न दूसर होई॥
रस दूसर जेहि जीभ बईठा। सो जाने रस खाटा मीठा॥
भँवर बास बहु फूलन्ह लेई। फूल बास बहु भँवरन्ह देई॥
दूसर पुरुष न रस तुइ पावा[1]। तिन्ह जाना जिन्ह लीन्ह परावा॥
एक चुल्लू रस भरै न हीया। जौ लहि नहिं फिर दूसर पीया॥
तोर जोबन जस समुद हिलोरा। देखि देखि जिउ बूड़ै मोरा॥
रंग और नहिं पाइर बैसे। जरे मरे बिनु[2] पाउब कैसे ?॥
देखि धनुक तोर नैना, मोहिं लाग विष-बान।
बिहँसि कँवल जो मानै, भँवर मिलावौं आन॥१४॥

व्याख्या—कुमुदिनी पद्मावती की बात सुन कहने लगी कि—हे पद्मावती ! वह रसोई किस काम की, जिसमें दूसरे प्रकार का पदार्थ न हो; अर्थात् वह रसोई किस काम की जिसमें एक ही चीज बनी हो तथा अन्य प्रकार के खाद्य-पदार्थ न हों। जिसकी जिह्वा विभिन्न प्रकार के रसों का स्वाद जानती है, वही खट्टे और मीठे रसों का स्वाद जानती है। भाव यह है कि जो नारी केवल एक ही पुरुष के साथ भोग-विलास करती है, उसका जीवन भी क्या जीवन है ! परन्तु जो नारी एक से अधिक पुरुषों के प्रेम का स्वाद चख चुकी होती है वही यह जान सकती है कि किस का प्रेम मीठा अर्थात् अच्छा और किसका खट्टा अर्थात् बुरा होता है; अर्थात् वही प्रेम के अच्छे-बुरे होने की पहचान कर सकती है। भौंरा अनेक फूलों की सुगन्धियों का पान करता है, और फूल भी अनेक भौंरों को अपनी सुगन्धि का पान करने देता है। तूने अभी तक दूसरे पुरुष के प्रेम-रस को नहीं प्राप्त किया है। इस रस के आनन्द को तो वही नारियाँ जानती हैं, जिन्होंने पर-पुरुषों के साथ भोग-विलास किया है। एक

पाठ-भेद—१. तैं रस परस न दोसर पावा=तूने दूसरे के स्पर्श का रस नहीं पाया है।
२. जरम ओर तुइँ=जन्म (जीवन) का अन्त तू कैसे पाएगी ?

चुल्लू रस-पान करने से हृदय पूरी तरह तृप्त नहीं होता। वह तो तभी तृप्त होता है जब कई चुल्लू भर उस रस का पान किया जाय; अर्थात् नारी को एक ही पुरुष के साथ भोग-विलास करने से पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। वह अनेक पुरुषों के साथ प्रेम करने पर ही तृप्त हो पाती है। तेरा यौवन समुद्र के समान हिलोरें ले रहा है। इसे देख-देख मेरा जी डूबा जाता है। घर में बैठे रहने से दूसरे प्रकार का अर्थात् अन्य पुरुषों के प्रेम का रस नहीं प्राप्त किया जा सकता। बिना जले और मरे अर्थात् बिना प्रयत्न किए, कष्ट उठाए उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

तेरे धनुष के समान तने हुए नेत्रों को देख मुझे विष-बुझे बाण लगने की सी पीड़ा होता है; अर्थात् तेरी तनी हुई भृकुटियों को देख मुझे तेरी मूर्खता पर बड़ा दुख होता है। हे कमल (पद्मावती)! यदि तू हँस कर स्वीकार कर ले तो मैं भ्रमर को लाकर तुझसे मिला दूँगी, अर्थात् किसी प्रेमी से तेरी मुलाकात करा दूँगी।

टिप्पणी—अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(६३८)

कुमुदिनी! तुइ बैरिनि, नहिं धाई। मुँह मसि बोलि चढ़ावसि आई॥
निरमल जगत नीर कर नामा। जौ मसि परै होइ सो सामा॥
जहँवा धरम पाप नहिं दीसा। कनक सोहाग माँझ जस सीसा॥
जो मसि जरे होइ ससि कारी। सो मसि लाइ देसि मोहिं गारी॥
कापर महँ न छूट मसि-अंकू। सो मसि लेइ मोहिं देसि कलंकू॥
साम भँवर मोर सूरुज-करा। और जो भँवर साम मसि-भरा॥
कँवल-भँवर रबि देखै आँखी। चंदन-बास न बैठै माखी॥
साम समुद मोर निरमल, रतनसेन जगसेन।
दूसर सरि जो कहावै, सो बिलाइ जस फेन॥१५॥

व्याख्या—पद्मावती कुमुदिनी के उस गर्हित प्रस्ताव को सुन कहने लगी कि हे कुमुदिनी! तू मेरी धाय नहीं, दुश्मन है। तू इस प्रकार की कलुषित बातें कहकर मेरे मुख पर कालिमा पोतने आई है। संसार में जल का नाम निर्मल कहा जाता है अर्थात् संसार जल को निर्मल मानता है। यदि ऐसे उस निर्मल जल में भी कालौंच पड़ जाती है तो वह भी काला हो जाता है; अर्थात् कालिमा (कलंक) निर्मल-से-निर्मल व्यक्ति को भी कलंकित कर देती है। जहाँ धर्म का निवास रहता है, वहाँ पाप नहीं दिखाई पड़ता अर्थात् धर्म की तुलना में पाप उसी प्रकार अलग दिखाई पड़ने लगता है, जिस प्रकार सोने में मिला हुआ सीसा सुहागा मिला देने से अलग दीखने लगता है और ऊपर तैर आता है। कालौंच के पड़ने से चन्द्रमा भी काला हो जाता है। तू ऐसी ही कालौंच लाकर मुझ पर लगाना चाहती है और मुझे गाली देती है। कपड़े पर पड़ा हुआ स्याही का दाग फिर नहीं छूटता। ऐसी स्याही (कलंक-कालिमा)

लगाकर तू मुझे कलंकित कर रही है। मेरा प्रियतम ऐसा भौंरा है जैसे सूर्य की किरण; अर्थात् मेरा प्रियतम सूर्य-किरण के समान तेजस्वी और निर्मल है। उसके अतिरिक्त अन्य जो कोई भी प्रेमी है वह भौंरे के समान काला और कलंकी है; अर्थात् मेरा पति मेरा सच्चा प्रेमी है। अन्य प्रेमी तो भ्रमर के समान लम्पट और कलंकी होते हैं। कमल रूपी मैं सूर्य रूपी अपने भ्रमर (प्रेमी) को आँख भर कर देखती हूँ। चन्दन की सुगन्धि पर मक्खी नहीं बैठ सकती; अर्थात् तेरा वह राजा मुझे कभी प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह मक्खी के समान घिनौना और तुच्छ है और मैं चन्दन की सुगन्धि के समान श्रेष्ठ और सुवासित हूँ।

मेरा स्वामी रत्नसेन तो समुद्र की भाँति निर्मल और जगत-प्रसिद्ध है। यदि दूसरा कोई उसकी बराबरी करना चाहेगा तो वह जल के झाग की तरह नष्ट हो जायगा। 'जगसेन' शब्द का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि रत्नसेन जगत में श्येन (बाज) पक्षी के समान है। अन्य राजा पक्षी हैं और रत्नसेन उन पर बाज के समान है। अतः यदि कोई राजा मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा तो रत्नसेन उसे उसी प्रकार मार डालेगा जिस प्रकार बाज पक्षियों को मारकर खा जाता है।

टिप्पणी—अलंकार—'कुमुदिन······धाई'—में शुद्धापन्हुति। समस्त पद में उपमा, रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति।

(६३९)

पदमिनि ! बिनु मसि बोल न बैना। सो मसि देखु दुहूँ तोरे नैना॥
मसि सिंगार, काजर सब बोला। मसिक बुंद तिल सोह कपोला॥
लोना सोइ जहाँ मसि-रेखा। मसि पुतरिन्ह तिन्ह सौं जग देखा॥
जो मसि घालि नयन दुहुँ लीन्हीं। सो मसि फेरि जाइ नहिं कीन्हीं॥
मसि-मुद्रा दुइ कुच उपराहीं। मसि भँवरा जे कँवल भँवाहीं॥
मसि केसहि, मसि भौंइ उरेही। मसि बिनु दसन सोइ नहिं देही॥
सो कस सेत जहाँ मसि नाहीं ?। सो कस पिंड न जेहि परछाहीं ?॥
अस देवपाल राय मसि, छत्र धरा सिर फेर।
चितउर राज बिसरिगा, गयउ जो कुंभलनेर॥१६॥

व्याख्या—कुमुदिनी कहने लगी कि हे पद्मावती ! तू मसि (कालिमा) के बिना अर्थात् स्याही के सम्बन्ध में कुछ भी बुरी बात मत कह। देख ! वह कालिमा तो तेरे दोनों नेत्रों में ही मौजूद है। कालिमा ही श्रृंगार है, जिसे सब काजल कहकर पुकारते हैं; अर्थात् तेरे नेत्रों का श्रृंगार कालिमा द्वारा अर्थात् काजल द्वारा ही होता है। उसी कालिमा की एक बूँद (काला तिल) तेरे कपोल की शोभा बना हुआ है। वही सुन्दर होता है जहाँ कालिमा की रेखा होती है। आँखों की इन पुतलियों में भी कालिमा है जिनसे संसार को देखते हैं। जो कालिमा इन दोनों नयनों में डाल ली गई

है, उस कालिमा को फिर कैसे लौटाया या दूर किया जा सकता है ? तेरे दोनों कुचों के ऊपर कालिमा की मोहर (काली घुंडियाँ) लगी हुई हैं। वह भ्रमर भी काला होता है जो कमल के चारों ओर चक्कर लगाता है। केश भी काले हैं; और कालिमा द्वारा ही इन भौंहों को चित्रित किया गया है। कालिमा (मिस्सी) के बिना दाँत शोभा नहीं देते। वह श्वेत वर्ण कैसा है जिसमें कालिमा न हो; अर्थात् काले केश, काली आँखें, काली भौंहों आदि के विना गोरे रंग का कोई महत्त्व नहीं होता। वह शरीर कैसा जिसकी परछाहीं न पड़ती हो, अर्थात् वह शरीर भूत के समान व्यर्थ है जिसकी परछाहीं नहीं पड़ती। (कहा जाता है कि भूत की परछाहीं नहीं पड़ती।) परछाहीं काली होती है, इसलिए उसी के कारण ही शरीर का महत्त्व माना जाता है।

वह राजा देवपाल इसी कालिमा के समान है जिसने फिर से सिर पर छत्र धारण कर लिया है अर्थात् जो पुनः राजा बन गया है। यदि तुम कुम्मलनेर पहुँच जाओगी तो फिर इस चित्तौड़ के राज्य को भूल जाओगी।

(६४०)

सुनि देवपाल जो कुंभलनेरी। पंकज नैन भौंह-धनु फेरी ॥
सत्रु मोर पिउ कर देवपालू। सो कत पूज सिंघ सरि भालू ? ॥
दुःख-भरा तन जेत न केसा। तेहि का सँदेस सुनावसि, बेसा ? ॥
सोन नदी अस मोर पिउ गरुवा। पाहन होइ परै जौ हरुवा ॥
जेहि ऊपर अस गरुवा पीऊ। सो कस डोलाए डोलै जीऊ ? ॥
फेरत नैन चेरि सौ छूटीं। भइ कूटन कुटनी तस कूटीं ॥
नाक-कान काटेन्हि, मसि लाई। मूँड़ मूँड़ि कै गदह चढ़ाई[२] ॥
मुहमद बिधि जेहि गरु गढ़ा, का कोई तेहि फूँक।
जेहि के भार जग थिर रहा, उड़ै न पवन के झूँक ॥१७॥

व्याख्या—जब पद्मावती ने कुम्भलनेर के देवपाल का नाम सुना तो उसके कमल के समान सुन्दर नेत्रों की भृकुटियाँ धनुष के समान चढ़ गईं और उसने क्रुद्ध होकर कुमुदिनी से कहा कि वह देवपाल मेरे पति का शत्रु है। ऐसा वह भालू जैसा देवपाल मेरे सिंह जैसे पति की कैसे बराबरी कर सकता है ? मेरे शरीर में इतने असंख्य दुख भरे हैं जितने कि इसमें बाल भी नहीं हैं। रे वेश्या ! तू ऐसी मुझ दुखों से पीड़ित को क्या सन्देश सुनाती है ? मेरा पति सोन नदी के समान गौरवशाली है, जिसमें यदि कोई हल्की वस्तु भी पड़ जाती है तो पत्थर के समान भारी हो जाती है; अर्थात् मेरा पति सोना है और तेरा देवपाल पत्थर है अर्थात् अत्यन्त तुच्छ है। जिसके ऊपर ऐसे ऐसे गौरवशाली पति की छत्रछाया हो उसके मन को कितना भी प्रयत्न

पाठ-भेद—१. भँवर=भ्रमर रूपी पुतलियाँ। २. बहु रिसि काढ़ि दुबार बँधाई=बड़े क्रोधपूर्वक उसे द्वार से बाहर निकाल दिया।

करने पर भी कैसे विचलित किया जा सकता है ? यह कहकर जैसे ही पद्मावती ने संकेत किया तो सौ दासियाँ तुरन्त दौड़ पड़ीं और उन्होंने उस कुटिनी की ऐसी पिटाई की जैसे मूँज को कूटा जाता है। उसके नाक-कान काट उसके मुँह पर कालौंच मल दी गई और उसका सिर मूँड़ गधे पर बैठा दिया गया।

जायसी कहते हैं कि विधाता ने उन्हें गौरवशाली बनाया है, उन्हें फूँक से कोई क्या उड़ा सकता है ? जिन पर्वतों के भार से पृथ्वी स्थिर बनी रहती है, वे हवा के झोंके से नहीं उड़ा करते।

टिप्पणी—'सोन-नदी'—महाभारत में एक शैलोदा नदी का उल्लेख मिलता है जिसका शब्दार्थ है—वह नदी जिसके जल में गिरी हुई वस्तु पत्थर बन जाती है। यहाँ जायसी का भाव यह है कि रत्नसेन उसी सोन नदी के समान महान् है जिसके सम्पर्क में आकर तुच्छ-से-तुच्छ व्यक्ति भी पत्थर के समान भारी अर्थात् गौरव-शाली बन जाता है।

बादशाह-दूती-खंड

(६४१)

रानी धरमसार पुनि साजा। बंदि मोख जेहिं पावहिं राजा ॥
जावत परदेसी चलि आवहिं। अन्नदान और पानी पावहिं ॥
जोगी जती आवहिं जत कंथी। पूछे पियहि, जान कोइ पंथी ॥
दान जो देत बाँह भइ ऊँची। जाइ साह पहँ बात पहूँची ॥
पातुरि एक हुति जोगि-सवाँगी। साह अखारे हुंत ओहि माँगी ॥
जोगिन-भेस बियोगिनि कीन्हा। सींगी-सबद मूल तँत लीन्हा ॥
पदमिनि पहं पठई करि जोगिनि। बेगि आनु करि बिरह बियोगिनि ॥
चतुर कला मनमोहन, परकाया परवेस।
आइ चढ़ी चितउरगढ़, होइ जोगिनि के भेस ॥१॥

व्याख्या—फिर रानी पद्मावती ने धर्मशाला सजाई, अर्थात् सदावर्त्त आदि बाँटना प्रारम्भ कर दिया, जिसके पुण्य-प्रताप से राजा रत्नसेन को कैद से जल्दी छुटकारा मिल जाय। वहाँ जितने भी परदेशी चलकर आते थे, सब को भोजन-पानी मिलता था तथा जितने भी योगी, यती और कंथाधारी और फकीर आते थे, उनसे वह पूछती थी कि क्या कोई बटोही उसके पति का कोई समाचार जानता है। दान करते-करते जब बाँह ऊँची रहने लगी अर्थात् उसकी चारों ओर प्रसिद्धि फैल गई तो यह बात बादशाह अलाउद्दीन के कानों तक पहुँची। उसके यहाँ एक नर्त्तकी थी, जो जोगिन का स्वाँग भरने में निपुण थी। बादशाह ने उसे रंगशाला में से अपने पास बुलवा भेजा। उस नर्त्तकी ने वियोगिनी जोगिन का वेश धारण किया और सिंगी का बजाना, जोगियों की शब्दावली का उच्चारण करना तथा मूल तत्त्व (शिव) आदि में पूर्ण निपुणता प्राप्त कर ली। बादशाह ने इस प्रकार उसे जोगिन बनाकर पद्मावती के पास भेजा और आज्ञा दी कि उस वियोगिनी पद्मावती को शीघ्र मेरे पास ले आ।

वह जोगिन वेशधारिणी नर्त्तकी दूसरों का मन मोह लेने की कला तथा परकाया-प्रवेश करने में चतुर थी। वह जोगिन के वेश में चित्तौड़गढ़ जा पहुंची।

टिप्पणी—परकाया-प्रवेश—वह विद्या कहलाती थी जिसके द्वारा उस विद्या

का ज्ञाता अपनी आत्मा को किसी मुर्दे में प्रविष्ट करा, नया शरीर धारण कर लेता था। परन्तु यहाँ अभिप्राय दूसरा वेश धारण करने से ही मानना चाहिए।

(६४२)

माँगत राजबार चलि आई। भीतर चेरिन्ह बात जनाई ।।
जोगिनि एक बार है कोई। माँगै जैसि बियोगिनि सोई ।।
अबहीं नव जोबन तप लीन्हा। फारि पटोरहि कंथा कीन्हा ।।
बिरह-भभूत, जटा बैरागी। छाला काँध, जाप कँठलागी ।।
मुद्रा स्रवन, नाहिं थिर जीऊ। तन तिरसूल अधारी पीऊ ।।
छात न छाँह, धूप जनु मरई। पावँ न पँवरी, भूभुर जरई ।।
सिंगी सबद, धँधारी करा। जरै सो ठाँव पावँ जहँ धरा ।।
किंगरी गहे वियोग बजावै, बारहिं बार सुनाव।
नयन चक्र चारिउ दिसि (हेरहिं), दहुँ दरसन कब पाव ।।२।।

व्याख्या—वह जोगिन वेशधारिणी नर्त्तकी भिक्षा माँगती हुई राजमहल के द्वार पर जा पहुँची। उसे देख दासियों ने भीतर जा पद्मावती से कहा कि द्वार पर एक जोगिन खड़ी है, जो इस प्रकार भिक्षा माँग रही है—जैसे पति की कोई वियोगिनी हो। अभी वह नवयुवती है परन्तु उसने तप साध रखा है और रेशमी वस्त्रों को फाड़ कंथा पहन लिया है। पति-विरह में उसने भभूत लगा रखी है, उसकी जटायें बैरागिनों जैसी हैं, कन्धे पर मृगछाला और गले में जप करने की कण्ठी है। कानों में मुद्रा धारण कर रखी हैं। उसका जी पल भर के लिए भी स्थिर नहीं रहता अर्थात् वह बड़ी व्याकुल प्रतीत होती है। उसने अपने शरीर को त्रिशूल के समान क्षीण कर रखा है और अधारी के स्थान पर उसके प्रियतम का नाम है; अर्थात् वह प्रियतम के नाम-स्मरण को ही अपना आधार बनाये हुए है। उसके सिर पर छाया के लिए छाता नहीं है—मानो वह धूप में जलकर मर जाना चाहती है। उसके पैरों में खड़ाऊँ तक नहीं हैं, उसके पैर तप्त बालू या रेत में जल रहे हैं। वह सिंगी फूँक रही है, उसके हाथ में गोरखधन्धा है। वह जिस स्थान पर पैर रखती है, वह स्थान जलने लगता है।

वह हाथ में किंगरी पकड़े उस पर वियोग की धुन बजा रही है और बार-बार उसी धुन को बजाये जा रही है। वह अपने नेत्रों को चक्र की भाँति चारों ओर घुमा-घुमा कर देखती है कि न जाने कब प्रियतम के दर्शन हो जायँ।

(६४३)

सुनि पदमावति मँदिर बोलाई। पूछा "कौन देस तें आई ? ।।
तरुन बेस तोहि छाज न जोगू। केहि कारन अस कीन्ह बियोगू ?" ।।
कहेसि बिरह-दुख जान न कोई। बिरहिन जान बिरह जेहि होई ।।
कंत हमार गएउ परदेसा। तेहि कारन हम जोगिन भेसा ।।

काकर जिउ, जोबन औ देहा। जौ पिउ गएउ, भएउ सब खेहा॥
फारि पटोर कीन्ह मैं कंथा। जहँ पिउ मिलहिं लेउँ सो पंथा॥
फिरौं, करौं चहुँ चक्र पुकारा। जटा परीं, का सीस सँभारा ?॥
हिरदय भीतर पिउ बसै, मिलै न, पूछौं काहि ?।
सून जगत सब लागै, ओहि बिनु किछु नहिं आहि॥३॥

व्याख्या—दासियों द्वारा एक जोगिन के आने का समाचार सुन पद्मावती ने उसे राजमहल के भीतर बुलवाया और पूछा कि 'तू किस देश से आई है ? तू अभी तरुणी है, इसलिए तुझे योग का साधना शोभा नहीं देता। तूने किस कारण अपनी यह वियोगिनी की-सी दशा बना रखी है ?' जोगिनी ने उत्तर दिया कि विरह का दुःख कोई नहीं जानता। इसका दुःख तो वही विरहिणी जानती है जिसे विरह-वेदना सहनी पड़ती है। मेरे स्वामी परदेश चले गए हैं। इसी कारण मैंने जोगिनी का वेश धारण किया है। अब यह प्राण, यौवन और शरीर किसके हैं—अर्थात् अब इनका क्या महत्त्व रह गया है ? जब स्वामी चले गए तो यह सब मिट्टी के समान महत्त्वहीन हो गए हैं। इसीलिए मैंने अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़ उनकी कथरी बना ली है। अब तो मैं उसी पंथ पर चलूँगी जहाँ मुझे स्वामी मिल सकें। मैं चारों दिशाओं में घूमती हुई अपने स्वामी को पुकारती फिरती हूँ। सिर पर जटायें हो गई हैं, अब मैं अपने शीश अर्थात् केशों की क्या साज-सम्हाल करूँ ?

मेरे हृदय के भीतर स्वामी बसते हैं, फिर भी नहीं मिलते। मैं उनका पता किससे पूछूँ ? सारा संसार मुझे सूना प्रतीत होता है, क्योंकि स्वामी के बिना मेरे लिए इस संसार में कुछ भी नहीं रह गया है; अर्थात् मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

(६४४)

स्रवन छेद महँ मुद्रा मेला। सबद ओनाउँ कहाँ पिउ खेला॥
तेहि बियोग सिंगी निति पूरौं। बार-बार किंगरीं लेइ झूरौं॥
को मोहिं लेइ पिउ कंठ लगावै। परम अधारी बात जनावै॥
पाँवरि टूटि चलत, पर छाला। मग न मरै, तन जोबन बाला॥
गइउँ पयाग, मिला नहिं पीऊ। करवत लीन्ह, दीन्ह बलि जीऊ॥
जाइ बनारस जारिउँ कया। पारिउँ पिंड नहाइउँ गया[1]॥
जगन्नाथ जगरन कै आई। पुनि दुवारिका जाइ नहाई॥

पाठ-भेद—१. निबहुरे गया=वह गया जहाँ से कोई नहीं लौटता।

जाइ केदार दाग तन, तहँ न मिला तिन्ह आँक।
ढूँढ़ि अजोध्या आइउँ, सरग दुवारी झाँक ।।४।।

शब्दार्थ—ओनाउँ=झुकती हूँ, झुक कर कान लगाती हूँ। खेला=गया। पूरौं=बजाती हूँ। पर=पड़ गए हैं। बाला=नवीन। पारिउँ=दिया। दाग=तप्त मुद्रा ली।

व्याख्या—अलाउद्दीन द्वारा भेजी गई वह छद्मवेशिणी जोगिन पद्मावती से अपनी बनावटी विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई आगे कहने लगी कि मैंने अपने कानों के छेदों में मुद्रा (कुंडल) धारण किए हैं और अपने स्वामी के पगचाप की ध्वनि सुनने के लिए बराबर अपने कान नीचे की ओर लगाए रहती हूँ। मैं उन्हीं के वियोग में बराबर सिंगी बजाती रहती हूँ और किंगरी हाथ में लिए बार-बार विरह-ध्वनि बजाती हुई सूखती रहती हूँ। ऐसा कौन है जो मुझे ले जाकर स्वामी के कंठ से लगा दे? और अत्यन्त सहारा देने वाली बात कहकर अर्थात् मेरे स्वामी का पता देकर मुझे साहस बँधाए? चलते-चलते मेरी खड़ाऊँ टूट गई हैं, पैरों में छाले पड़ गए हैं। मन वश में नहीं रहता। मेरा शरीर नवयौवन से भरा हुआ है; अर्थात् काम मुझे सताता रहता है। मैं प्रयाग गई परन्तु स्वामी वहाँ भी नहीं मिले। वहाँ मैंने काशी-करवट ली और अपने प्राणों का बलिदान किया। बनारस जाकर अपने शरीर को जलाया और गया पहुँच, स्नान कर, पिंडदान किया। जगन्नाथ जाकर मैंने जागरण किया और फिर द्वारकापुरी पहुँच वहाँ स्नान किया।

इसके पश्चात् केदारनाथ पहुँच वहाँ तप्त मुद्रा ली, परन्तु वहाँ भी मुझे स्वामी का कोई चिह्न नहीं मिला। मैं अयोध्या में चारों ओर उन्हें ढूँढ़ती फिरी और 'स्वर्ग-दुआरी' (अयोध्या का एक स्थान) नामक स्थान पर भी झाँख कर उन्हें देख आई। भाव यह है कि मैं अपने स्वामी को सारे तीर्थों में ढूँढ़ती फिरी, परन्तु वे कहीं भी नहीं मिले।

(६४५)

गउमुख हरिद्वार फिर कीन्हिउँ। नगरकोट कटि रसना दीन्हिउँ।।
ढूढ़िउँ बालनाथ कर टीला। मथुरा मथिउँ, न सो पिउ मीला।।
सुरुजकुंड महँ जारिउँ देहा। बद्री मिला न जासौं नेहा।।
रामकुंड, गोमति, गुरुद्वारू। दाहिनवरत कीन्ह कै बारू।।
सेतुबंध, कैलास, सुमेरू। गइउँ अलकपुर जहाँ कुबेरू।।
बरम्हावरत ब्रह्मावति परसी। बेनी-संगम सीझिउँ करसी।।
नीमषार मिसरिख कुरुछेता। गोरखनाथ अस्थान समेता।।
पटना पुरुब सो घर घर, हाँडि फिरिउँ संसार।
हेरत कहूँ न पिउ मिला, ना कोउ मिलवनहार ।।५।।

व्याख्या—इस पद में वह जोगिनी अन्य अनेक तीर्थस्थानों में अपने घूमने का वर्णन करती हुई कहती है कि—मैं फिर गंगोतरी और हरद्वार गई और नगरकोट नामक देवी के स्थान पर जा मैंने अपनी जीभ काट कर चढ़ाई। मैंने बालानाथ के टीले पर जाकर स्वामी को ढूँढ़ा और मथुरा पहुँच सारा नगर छान डाला परन्तु मेरे पति कहीं नहीं मिले। मैंने सूर्यकुंड के तप्त जल में अपनी देह को जलाया। फिर बदरिकाश्रम गई, परन्तु वहाँ भी स्वामी न मिले जिनसे मुझे प्रेम है। रामाकुंड, गोमती, गुरुद्वारा, दक्षिणावर्त्त आदि स्थानों में मैं कई बार गई। सेतुबंध, कैलास, सुमेरु पर्वत जाकर मैंने स्वामी को खोजा और उस अलकापुरी भी गई जहाँ कुबेर का निवास है। ब्रह्मावर्त्त पहुँच मैंने ब्रह्मावति नदी में स्नान किया और त्रिवेणी-संगम पर जा अपने शरीर को उपलों की अग्नि में जलाया। मैं नैमिषारण्य, मिश्रिख, कुरुक्षेत्र और गोरखनाथ के आश्रम आदि सभी स्थानों में गई।

पूर्व दिशा में मैं पटना भी गई। इस प्रकार मैं सारे संसार में घूमती हुई स्वामी को घर-घर खोजती फिरी परन्तु खोजने पर भी स्वामी कहीं नहीं मिले और न कोई ऐसा ही मिला जो स्वामी से मेरा मिलन करवा देता।

(६४६)

बन बन सब हेरेउँ नव खंडा। जल जल नदी अठारह गंडा॥
चौंसठ तीरथ के सब ठाऊँ। लेत फिरिउँ ओहि पिउ कर नाऊँ॥
दिल्ली सब देखिउँ तुरकानू। औ सुलतान केर बँदिखानू॥
रतनसेन देखिउँ बँदि माहाँ। जरै धूप, खन पाव न छाहाँ॥
सब राजहिं बाँधे औ दागे। जोगिनि जान राज पग लागे॥
का सो भोग जेहि अंत न केऊ। यह दुख लेइ सो गएउ सुखदेऊ॥
दिल्ली नावँ न जानहुँ ढीली। सुठि बँदि गाढ़ि, निकस नहिं कीली।
देखि दगध दुख ताकर, अबहुँ कया नहिं जीउ।
सो धनि कैसे दहुँ जियै, जाकर बँदि अस पीउ॥६॥

व्याख्या—यह जोगिनी वेशधारिणी नर्त्तकी पद्मावती से अपनी भ्रमण-यात्रा का वर्णन करती हुई इस पद में अपने वास्तविक अभिप्राय पर आती हुई कह रही है कि—मैंने नवों खंड अर्थात् सारे संसार में वन-वन में घूम-घूम कर अपने स्वामी को खोजा। मैं अठारह गंडा अर्थात् बहत्तर नदियों के तट पर जाकर उन्हें उनके जल में ढूँढ़ आई। सारे चौंसठ तीर्थों के सारे स्थानों को खोज डाला। मैं चारों ओर अपने स्वामी का नाम पुकारती हुई भटकती फिरी। मैंने दिल्ली पहुँच वहाँ तुर्कों के सारे घरों को ढूँढ़ डाला और फिर बादशाह के बन्दीखाने में भी गई। वहाँ मैंने रत्नसेन को कैद में पड़ा हुआ देखा। वह बराबर धूप में जलता रहता था, एक क्षण को भी उसे छाया नहीं मिलती

थी। वहाँ जाने वाले सब लोग उस राजा को बाँधते और दग्ध करते थे। अथवा समस्त राजा वहाँ बन्दी थे और उनके शरीर दगे हुए थे। राजा ने मुझे जोगिन समझ कर मेरे चरण स्पर्श किए। वह भोग कैसा जिसका कोई अन्त ही न हो। वह सुख देने वाला अर्थात् अपनी पत्नी को सुख देने वाला राजा रत्नसेन वहाँ यही दुःख भोगने के लिए गया है। तुम दिल्ली नाम सुनकर यह मत समझ बैठना कि वह ढीली है अर्थात् वहाँ का शासन-प्रबन्ध ढीला है। वहाँ का बन्दीगृह बड़ा मजबूत है। उसकी अर्गला को खोल कर वहाँ से कोई भी नहीं निकल सकता।

उसे उस दुःख में दग्ध होता हुआ देख मुझे इतनी वेदना पहुँची कि मुझे अभी तक पूरी तरह से होश नहीं आ पाया है। वह स्त्री कैसे जी रही है जिसका ऐसा प्रियतम कैद में पड़ा हुआ है?

(६४७)

पदमावति जौ सुना बँदि पीऊ। परा अगिनि महँ मानहुँ घीऊ।।
दौरि पायँ जोगिनि के परी। उठी आगि असि जोगिन जरी।।
पायँ देहि, दुइ नैनन्ह लाऊँ। लेइ चलु तहाँ कंत जेहि ठाऊँ।।
जिन्ह नैनन्ह तुइ देखा पीऊ। मोंहि देखाउ, देहुँ बलि जीऊ।।
सत औ धरम देहुँ सब तोहीं। पीउ कै बात कहै जो मोहीं।।
तुइ मोर गुरू, तोरि हौं चेली। भूली फिरत पंथ जेहि मेली।।
दंड एक माया करु मोरे। जोगिन होउँ, चलौं सँग तोरे।।
सखिन्ह कहा, सुनु रानी, करहु न परगट भेस।
जोगी जोगवै गुपुत मन, लेइ गुरु कर उपदेस।।७।।

व्याख्या—जब पद्मावती ने यह सुना कि उसका पति कैद में पड़ा हुआ है तो मानो अग्नि में घी पड़ गया; अर्थात् उसकी विरहाग्नि भयंकर रूप से प्रज्वलित हो उठी। वह दौड़कर उस जोगिन के पैरों पर गिर पड़ी। उस समय वहाँ उसकी विरहाग्नि की ऐसी भयंकर आग उठी कि उससे वह जोगिन भी जलने लगी। पद्मावती ने जोगिन से प्रार्थना की कि तू मुझे अपने चरण दे, मैं इन्हें अपनी दोनों आँखों से लगा लूँ। तू मुझे वहाँ ले चल जहाँ मेरे स्वामी हैं। (पद्मावती जोगिन के चरणों को अपनी आँखों से इसलिए लगाना चाहती थी, क्योंकि रत्नसेन ने जोगिन के चरणों का स्पर्श किया था—'जोगिन जानि राज पग लागे।'—पद सं० ६४६) जिन अपने नेत्रों से तूने मेरे स्वामी को देखा है, उसी प्रकार उन्हें मुझे भी दिखा दे। मैं तेरे ऊपर अपने प्राणों को न्यौछावर कर दूँगी। मैं अपने सारे सत और धर्म के पुण्य को तुझे दे दूँगी, यदि तू मुझे स्वामी की बात सुनाए। तू मेरी गुरु है, मैं तेरी चेली हूँ। मैं भूली फिरती थी।

तूने मुझे पति-दर्शन का मार्ग दिखा दिया है। मेरे ऊपर घड़ी भर के लिए दया कर। मैं भी जोगिन होकर तेरे साथ चलूँगी।

पद्मावती को इस प्रकार व्याकुल और जोगिन बन चलने को उद्यत देख उसकी सखियाँ उससे कहने लगीं कि हे रानी ! हमारी बात सुनो ! तुम जोगिन का बाहरी वेश धारण मत करो। सच्चा योगी गुरु से उपदेश ग्रहण कर गुप्त रूप से मन-ही-मन योग की साधना करता है।

(६४८)

भीख लेहु, जोगिन ! फिरि माँगू। कंत न पाइय किए सवाँगू ॥
यह बढ़ जोग वियोग जो सहना। जेहुँ पीउ राखे तेहुँ रहना ॥
घर ही महँ रह भई उदासा। अँजुरी खप्पर, सिंगी साँसा ॥
रहै प्रेम मन अरुझा गटा। बिरह धँधारि, अलक सिर जटा ॥
नैन चक्र हेरै पिउ-पंथा। कया जो कापर सोई कंथा ॥
छाला भूमि, गगन सिर छाता। रंग करत रह हिरदय राता ॥
मन-माला फेरै तँत ओही। पाँचौ भूत भसम तन होहीं ॥
कुंडल सोइ सुनु पिउ-कथा, पँवरि पाँव पर रेहु।
दंडक गोरा बादलहि, जाइ अधारी लेहु ॥८॥

व्याख्या—पद्मावती की सखियाँ उस छद्म वेशिनी जोगिन की मक्कारी को भाँप लेती हैं और पद्मावती को उसके साथ न जाने के लिए समझाने लगती हैं। पहले वे उस जोगिन से कहती हैं—

हे जोगिन ! तू अपनी भिक्षा ले और फिर इधर उधर घूम अपनी भिक्षा माँग। इस तरह जोगिन का स्वाँग बनाने से तू अपने स्वामी को प्राप्त नहीं कर सकेगी। इसके उपरान्त वे सखियाँ पद्मावती को समझाने लगीं कि वियोग का सहन करना बहुत बड़ी योग-साधना है। जहाँ स्वामी रखे वहीं रहना चाहिए। तुम वैराग्य साध घर के भीतर ही रहो। अंजुलि ही तुम्हारे लिए खप्पर और साँस ही सिंगी के समान है। जिसके प्रेम में तुम्हारा मन उलझा हुआ है, उसी को नाम-स्मरण की गटरमाला या रुद्राक्ष माला समझो। तुम्हारा विरह ही गोरखधन्धा और तुम्हारी अलकें ही जटा के समान हैं। अपने नेत्रों को चक्र की तरह चारों ओर घुमाती हुई जो तुम प्रियतम की राह देखती रहती हो, वही चक्र के समान है। तुम्हारे शरीर पर जो कपड़े हैं उन्हें ही कंथा समझ लो। भूमि ही तुम्हारे लिए मृगछाला और आसमान छाते के समान है। और अपने हृदय में अपने स्वामी से सदैव प्रेम करती रहो, वही ईश्वराराधन है। मन रूपी माला को सदैव फेरती रहो अर्थात् सदैव मन में प्रियतम

का स्मरण करती रहो, यही तत्त्व स्वरूप शिव है। पंचभूतों से निर्मित इस शरीर को ही भभूत (भस्म) समझो।

अपने कानों से तुम जो स्वामी की कथा सुनती हो, उसे ही कानों के कुंडल समझो; और अपने पैरों पर चढ़ी धूल को ही खड़ाऊँ। दंड के रूप में गोरा-बादल के पास जाओ और उन्हीं को अपनी अधारी बनाओ, अर्थात् जाकर उन्हीं का आश्रय ग्रहण करो। भाव यह है कि सखियाँ पद्मावती को समझा रही हैं कि तुम इस जोगिन के चक्कर में मत पड़ो। तुम तो घर रहकर पति-वियोग सहन करते हुए बहुत बड़ी तपस्या कर रही हो। अब तुम गोरा-बादल के पास जा, उन्हीं की सलाह लो कि क्या करना चाहिए।

टिप्पणी—अलंकार—सांगरूपक। वियोग में ही योग का रूपक चित्रित किया गया है।

५१

पद्मावती-गोरा-बादल-संवाद-खंड

(६४९)

सखिन्ह बुझाई दगध अपारा। गई गोरा बादल के बारा॥
चरन-कंवल भुइं जनम न धरे। जात तहाँ लगि छाला परे॥
निसरि आए छत्री सुनि दोऊ। तस काँपे जस काँप न कोऊ॥
केस छोरि चरनन्ह-रज झारा। कहाँ पावँ पदमावति धारा ?॥
राखा आनि पाट सोनबानी। बिरह-बियोगिनि बैठी रानी[1]॥
दोउ ठाढ़ होइ चँवर डोलावहिं। "माथे छात, रजायसु पावहिं॥
उलटि बहा गङ्गा कर पानी। सेवक-बार आइ जो रानी॥
का अस कस्ट कीन्ह तुम्ह, जो तुम करत न छाज।
अज्ञा होइ बेगि सो, जीउ तुम्हारे काज" ॥१॥

व्याख्या—सखियों ने विरह की भयंकर ज्वाला में दग्ध होती हुई पद्मावती को समझा-बुझा उसकी ज्वाला को शान्त कर दिया। सखियों की बात मान वह गोरा-बादल के द्वार पर पहुँची। उसने जीवन में कमल के समान कोमल अपने चरणों को कभी भूमि पर नहीं रखा था, इसलिए वहाँ तक चलते-चलते उसके पैरों में छाले पड़ गए। पद्मावती का आगमन सुन दोनों क्षत्रिय—गोरा बादल—घर से बाहर निकल आए और अपने द्वार पर पद्मावती को खड़ा देख इस प्रकार काँपने लगे जैसे जीवन में कभी भी नहीं काँपे थे। उन्होंने अपने केशों को खोल उनसे पद्मावती के पैरों पर लगी धूल को साफ किया। वे मन में सोचने लगे कि आज पद्मावती के चरण इधर कैसे आ पड़े। उन्होंने तुरन्त सुनहरी सिंहासन लाकर रखा और विरह में वियो-गिनि बनी रानी उस पर बैठ गई। गोरा बादल दोनों उसके सामने खड़े हो चँवर डुलाने लगे और बोले कि—हे रानी! तुम्हारे मस्तक पर सदा छत्र बना रहे। हमें आज्ञा मिले। आज गंगा की धारा उल्टी बही है कि रानी स्वयं सेवकों के दरवाजे पर पधारी हैं; अर्थात् यह बड़ा अनुचित हुआ है कि रानी को सेवकों के यहाँ आना पड़ा है।

पाठ-भेद—१. विरह वियोग न बैठी रानी=परन्तु पति के विरह में दग्ध रानी उस सिंहासन पर नहीं बैठी।

हे रानी ! तुमने ऐसा कष्ट किसलिए किया जो तुम्हें शोभा नहीं देता; अर्थात् तुम्हें यदि हमारी जरूरत थी तो हमें बुलवा लेतीं। स्वयं यहाँ पधार कर तुमने हमें लज्जित कर दिया है। अब शीघ्र आज्ञा दो कि हमें क्या सेवा करनी है। हमारे प्राण तुम्हारे कार्य के लिए प्रस्तुत हैं।

(६५०)

कही रोइ पदमावति बाता। नैनन्ह रकत दीख जग राता॥
उलथि समुद जस मानिक-भरे। रोइसि रुहिर-आँसु तस ढरे॥
रतन के रंग नैन पै बारौं। रती रती कै लोहू ढारौं॥
भँवरा ऊपर कँवल भँवावौं[1]। लेइ चलु तहाँ सूर जहँ पावौं॥
हिय कै हरदि, बदन कै लोहू। जिउ बलि देउँ सो सँवरि बिछोहू॥
परहिं आँसु जस सावन नीरू। हरियरि भूमि कुसुंभी चीरू॥
चढ़ी भुअंगिनि लुरहिं लट केसा। भइ रोवति जोगिन के भेसा॥
बीर बहूटी भइ चलीं, तबहुँ रहहिं नहिं आँसु।
नैनहिं पंथ न सूझै, लागेउ भादौं मासु॥२॥

व्याख्या—जब गोरा-बादल ने पद्मावती से उनके घर आने का कारण पूछा तो पद्मावती ने रो-रो कर अपनी दुःख-गाथा उन्हें सुनाई। उसके नेत्रों से आँसुओं के रूप में वही रक्त की धारा में डूब सारा संसार लाल दिखाई पड़ने लगा। ऐसा प्रतीत हुआ मानो उमड़ते हुए समुद्र में माणिक्य भर रहे हों। (यहाँ नेत्र समुद्र और रक्त के आँसू माणिक्यों के समान हैं।) वह इस प्रकार रक्त के आँसू बहाती हुई रो रही थी। फिर उसने कहा कि मैं रत्नसेन के रंग (प्रेम) में अपने इन नेत्रों को अवश्य न्यौछावर कर दूँगी; अर्थात् उसके प्रेम में रो-रो कर अपनी आँखें फोड़ लूँगी। मैं रत्ती-रत्ती करके अपने सारे रक्त को बहा दूँगा। मैं अब भ्रमर के ऊपर कमल को चक्कर कटवाऊँगी। (साधारणतः भौंरा कमल पर चक्कर काटता है। परन्तु कमल रूपी पद्मावती कह रही है कि मैं (कमल) अब भ्रमर (प्रेमी रत्नसेन) की खोज में चारों ओर चक्कर लगाऊँगी।) तुम लोग मुझे वहाँ ले चलो जहाँ मैं सूर्य अर्थात् अपने रत्नसेन को प्राप्त कर सकूँ। मैं अपने प्रियतम के वियोग का स्मरण करती हुई अपने हृदय को केसरिया बाने के समान पीला और मुख को लाल अर्थात् सुर्खरू बना अपने प्राणों को न्योछावर कर दूँगी। रोते समय पद्मावती के नेत्रों से आँसुओं की ऐसी झड़ी लग रही थी मानो सावन के मेघ बरस रहे हों। उन आँसुओं के धरती पर गिरने से धरती हरी-भरी हो गई और शरीर पर धारण किया वस्त्र कुसुम्भी (लाल) रंग का हो गया (आँसू खून के थे इसलिए उनसे भीग उसका वस्त्र लाल हो रहा था जो वीरवेश का

पाठ-भेद—१. कँवलन्ह ऊपर भँवर उड़ावौं=अपने कमलों (नेत्रों) के ऊपर से मैं भँवरों (पुतलियों) को उड़ा दूँगी।

भी सूचक है ।) उसके केशों की लटें इस प्रकार लटक रही थीं, मानो सर्पिणी उसके सिर पर पड़ी लहरा रही हो । इस प्रकार रोती हुई पद्मावती का वेश जोगिन का-सा बन गया था ।

उसके नेत्रों से रक्त के आँसू गिरने से पृथ्वी पर मानो बीरबहूटियाँ-सी रेंगने लगीं । इतने पर भी उसके आँसू रुकते नहीं थे । आँसू भरे रहने के कारण उसे नेत्रों से मार्ग नहीं दिखाई पड़ता था । उसके नेत्रों से आँसुओं की वृष्टि इस प्रकार हो रही थी—मानो भादों की झड़ी लगी हुई हो ।

टिप्पणी—अलंकार—उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति ।

(६५१)

तुम गोरा बादल खँभ दोऊ । जस रन पारथ[१] और न कोऊ ।।
दुख बिरिखा अब रहे न राखा । भूल पतार, सरग भइ साखा ।।
छाया रही सकल महि पूरी । बिरह-बेलि भइ बाढ़ि खजूरी ।।
तेहि दुख लेत बिरिछ बन बाढ़े । सीस उघारे रोवहिं ठाढ़े ।।
पुहुमि पूरि, सायर दुख पाटा । कौड़ी केर बेहरि हिय फाटा ।।
बेहरा हिये खजूर क बिया । बिहरे नहिं मोर पाहन-हिया ।।
पिय जँहि बँदि जोगिनि होइ धावौं । हौं बँदि लेउँ, पियहि मुकरावौं ।।
सूरुज गहन-गरासा, कँवल न बैठे पाट ।
महूँ पंथ तेहि गवनब, कंत गए जेहि बाट ।।३।।

व्याख्या—पद्मावती गोरा-बादल से कहने लगी कि हे गोराबादल ! तुम दोनों ही राज्य के दो स्तम्भ हो अर्थात् यह राज्य तुम्हारे ही ऊपर टिका हुआ है । युद्ध-क्षेत्र में जिस प्रकार अर्जुन अद्वितीय योद्धा था, उसी प्रकार तुम्हारे समान अन्य कोई भी योद्धा नहीं है । मेरे दुःख का वृक्ष ऐसा बढ़ता चला जा रहा है कि रोके से नहीं रुकता अर्थात् मेरा दुःख निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है । उसकी जड़ पाताल में और शाखायें आकाश तक जा पहुँची हैं । उस दुःख के वृक्ष की छाया सारे संसार के ऊपर छा रही है । विरह की बेल बढ़कर खजूर जैसी ऊँची हो गई है । उसी दुःख के कारण वन में अनेक वृक्ष बढ़ रहे हैं और नगा सिर किए खड़े रो रहे हैं । उस दुःख से सारी पृथ्वी पूर्ण हो उठी है, समुद्र पट गए हैं और कौड़ी का हृदय फट गया है । (कौड़ी बीच में फटी हुई होती है ।) खजूर की गुठली (बीज) का हृदय भी उसी दुःख के कारण फट गया है । (खजूर की गुठली छुहारे की गुठली जैसी होती है जिसके बीच में एक लम्बी, गहरी धारी पड़ी रहती है ।) परन्तु पत्थर के समान मेरा कठोर हृदय उस दुःख के कारण नहीं फटता । जिस बन्दीगृह में मेरा स्वामी बन्द है, मैं जोगिन बन उसके पास जाऊँगी और स्वयं को कैद करवा अपने स्वामी को मुक्त करवाऊँगी ।

पाठ-भेद—१. जस भारथ=महाभारत (युद्ध) करने में जैसे तुम हो ।

सूर्य को ग्रहण लग गया है। ऐसे समय कमल सिंहासन पर नहीं बैठ सकता; अर्थात् सूर्य रूपी रत्नसेन बन्दी हो गया है। फिर कमल अर्थात् मैं कैसे सिंहासन पर बैठ सकती हूँ। मैं भी उसी मार्ग का अनुसरण करूँगी जिस पर मेरे स्वामी गए हैं।

टिप्पणी—इस पद की द्वितीय पक्ति में शुक्लजी ने 'दुख बरखा' पाठ माना है तथा डा० गुप्त और डा० अग्रवाल आदि ने 'दुख बिरिखा'— 'दुःख का वृक्ष' पाठ स्वीकार किया है। सम्पूर्ण पद के भाव को देखते हुए दूसरा पाठ ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

(६५२)

गोरा बादल दोउ पसीजे। रोवत रुहिर बूड़ि तन भीजे[1] ॥
हम राजा सौं इहै कोहाँने। तुन न मिलौ, धरिहैं तुरकाने ॥
जो मति सुनि हम गये कोहाँई। सो निआन हम्ह माथे आई ॥
जौ लगि जिउ, नहिं भागहिं दोऊ[2]। स्वामी जियत कित जोगिनि होऊ ॥
उए अगस्त हस्ति जब गाजा। नीर घटे घर आइहि राजा ॥
बरषा गए, अगस्त जौ दीठिहि। परिहि पलानि तुरंगम पीठिहि ॥
बेधों राहु, छोड़ावहुँ सूरू। रहै न दुख कर मूल अँकूरू ॥
सोइ सूर, तुम ससहर, आनि मिलावौं सोइ।
तस दुख महँ सुख उपजै, रैनि माँह दिनि होइ ॥४॥

व्याख्या—पद्मावती के विलाप को सुन गोरा और बादल—दोनों द्रवित हो उठे। वे भी रोने लगे और उनकी आँखों से निकले रक्त के आँसुओं से उनके शरीर लाल हो गए; अर्थात् वे वीरवेश में सुशोभित हो उठे। उन्होंने पद्मावती से कहा कि हम राजा रत्नसेन से इसी कारण रुष्ट हो गए थे कि हमने उनसे कहा था कि तुम बादशाह से मेल मत करो। ये तुर्क तुम्हें बन्दी बना लेंगे। राजा के जिस विचार को सुन हम क्रुद्ध होकर चले आए थे, अन्त में उसका फल हमारे ही सिर पर आकर पड़ा; अर्थात् हमें ही उसका परिणाम भुगतना पड़ा। जब तक हमारे शरीर में प्राण हैं, तब तक हम रणक्षेत्र से पीठ दिखाकर नहीं भागेंगे। तुम स्वामी के जीवित रहते हुए कैसे जोगिन बनोगी? जब अगस्त्य नक्षत्र उदय होगा अर्थात् जब वर्षा ऋतु समाप्त हो शरद ऋतु आ जायेगी, तब हस्त नक्षत्र के आ जाने पर घन गरजेंगे, पृथ्वी पर पानी कम हो जायेगा और राजा घर लौट आयेंगे। भाव यह है कि वर्षा ऋतु समाप्त हो जाने पर हम अपनी हाथियों की सेना लेकर बादशाह पर चढ़ाई करेंगे और हमारे हाथी गरजते हुए शत्रु पर टूट पड़ेंगे। शरद ऋतु में चारों तरफ भरा वर्षा का जल घट जायेगा, मार्ग साफ हो जायेंगे और हम राजा को घर ले आयेंगे।

पाठ-भेद—१. सीस पाँ भीजे=सिर से लेकर पैरों तक भीग गए।
२. न ताकहिं दोहू=राजा से द्रोह करने की बात नहीं सोचेंगे।

वर्षा समाप्त हो जाने पर जब अगस्त्य नक्षत्र दिखाई पड़ने लगेगा तब घोड़ों की पीठ पर जीन कस दी जायेंगी अर्थात् चढ़ाई करने के लिए घोड़ों पर जीन कस युद्ध के लिए प्रस्थान कर दिया जायेगा। हम राहु रूपी अलाउद्दीन का वध करके सूर्य रूपी राजा रत्नसेन को छुड़ा लेंगे और फिर दुःख का मूल अंकुर अर्थात् असली कारण नष्ट हो जायेगा।

वह अर्थात् राजा सूर्य है और तुम चन्द्रमा हो। हम उसे लाकर तुमसे मिला देंगे। इस प्रकार दुःख में से सुख उसी प्रकार उत्पन्न होगा, जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में से दिन का उदय होता है।

टिप्पणी—अलंकार—सांगरूपक और पूर्णोपमा।

(६५३)

लीन्ह पान बादल और गोरा। "केहि लेइ देउँ उपम तुम्ह जोरा ? ॥
तुम सावंत, न सरवरि कोऊ। तुम्ह हनुवंत अँगद सम दोऊ॥
तुम अरजुन औ भीम भुवारा। तुम बल रन-दल-मंडनहारा[1] ॥
तुम टारन भारन्ह जग जाने। तुम सुपुरुष जस करन बखाने॥
तुम बलबीर जैस जगदेऊ[2]। तुम संकर औ मालकदेऊ[3] ॥
तुम अस मोरे बादल गोरा। काकर मुख हेरौं, बँदिछोरा ? ॥
जस हनुवंत राघव बँदि छोरी। तस तुम छोरि मेरावहु जोरी॥
जैसे जरत लखाघर, साहस कीन्हा भीउँ।
जरत खंभ तस काढ़हु, कै पुरुषारथ जीउ ॥५॥

शब्दार्थ—जगदेऊ=धार के राजा परमार उदयादित्य का पुत्र। इसने पाटण-नरेश सिद्धाराज जयसिंह की सेवा में अपना प्राणोत्सर्ग किया था। मालक देऊ=डा० अग्रवाल ने इसका पाठ 'मालकँडेऊ' माना है। यह मार्कण्डेय नामक ऋषिकुमार था जिसने शिव की आराधना कर उनके अनुग्रह से स्वयं को यम के बन्धन से मुक्त किया था।

व्याख्या—इस पद में पद्मावती अनेक प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध वीरों और घटनाओं का उल्लेख करती हुई गोरा-बादल से राजा रत्नसेन को छुड़ा लाने की प्रार्थना कर रही है। जायसी कहते हैं—

गोरा और बादल ने बीड़ा उठाया अर्थात् प्रतिज्ञा की (कि हम राजा को छुड़ा लायेंगे)। पद्मावती ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि तुम दोनों की जोड़ी की मैं किससे उपमा दूँ ? तुम्हारे समान अन्य कोई भी सामन्त नहीं है। तुम दोनों हनुमान

पाठ-भेद—१. तुम्ह नल नील मेंड़ देनिहारा=तुम समुद्र में मेंड़ (सेतु) बाँधने वाले नल और नील हो। २. जाज=राजा हम्मीर का एक सामन्त।
३. तुम्ह मुष्टिक और माल कँडेऊ=तुम मुष्टिक और मल्ल कंदेव हो।

और अंगद के समान हो (जिन्होंने राम की सहायता कर सीता का उद्धार किया था।) तुम अर्जुन और भीम के समान हो। तुम अपने बल से रणक्षेत्र में शत्रु-सेना का मर्दन करने वाले हो। तुम संसार के मार अर्थात् संकट को दूर करने वाले के रूप में प्रसिद्ध हो। तुम राजा कर्ण के समान सत्पुरुष के रूप में प्रसिद्ध हो। तुम बल और वीरता में जगदेव के समान हो। तुम शंकर तथा मार्कण्डेय नामक ऋषिकुमार के समान अद्वितीय योद्धा हो। हे गोरा-बादल ! तुम दोनों मेरे लिए इन्हीं सब लोगों के समान दुर्द्धर्ष योद्धा हो। मैं स्वामी को बन्धन से छुड़ाने के लिए तुम्हें छोड़ और किसका मुख देखूँ, अर्थात् और किससे सहायता की आशा करूँ ? जिस प्रकार हनुमान ने राम को अहिरावण के बन्धन से छुड़ाया था, उसी प्रकार तुम मेरे स्वामी को अलाउद्दीन के बन्धन से मुक्त करवा हमारी इस बिछुड़ी हुई जोड़ी को मिला दो।

जब लाक्षागृह में पांडवों के जल कर मरने की आशंका हो उठी थी और उस समय जिस प्रकार भीम ने साहस कर सबको बचाकर बाहर निकाल दिया था, उसी प्रकार तुम भी मन में पुरुषार्थ कर अर्थात् साहसपूर्वक राज्य के जलते हुए स्तम्भ, अर्थात् बन्दीगृह में दुख पाते हुए राजा रत्नसेन को छुड़ा लाओ।

टिप्पणी—अलंकार—पूर्णोपमा।

(६५४)

"राम लखन तुम दैत-सँघारा। तुमहीं पर बलभद्र भुवारा॥
तुमही द्रोन और गंगेऊ। तुम लेखौं जैसे सहदेऊ॥
तुमही युधिष्ठिर औ दुरजोधन। तुमहिं नील नल दोउ संबोधन॥
परसुराम राघव तुम जोधा। तुम्ह परतिज्ञा तें हिय बोधा॥
तुमहिं सत्रुहन भरत कुमारा। तुमहिं कृस्न चानूर सँघारा॥
तुम परदुम्न औ अनिरुध दोऊ। तुम अभिमन्यु बोल सब कोऊ॥
तुम्ह सरि पूज न बिक्रम साके। तुम हमीर हरिचँद सत आँके॥
जस अति संकट पंडवन्ह, भएउ भीवँ बँदि छोर।
तस परबस पिउ काढ़हु, राखि लेहु भ्रम मोर" ॥६॥

शब्दार्थ—संबोधन=ढाढ़स बँधाने वाले। विक्रम साके=शक संवत् के स्थापक राजा विक्रमादित्य। सत आँके=सत्य की रेखा खींची है। भ्रम=सम्मान।

व्याख्या—पद्मावती गोरा-बादल की प्रशंसा करती हुई आगे कहने लगी कि तुम दोनों—राम और लक्ष्मण के समान दैत्यों का संहार करने वाले हो। तुम ही यहाँ पर बलराम के समान प्रतापी राजा के तुल्य हो। तुम्हीं द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह के समान दुर्द्धर्ष योद्धा हो। मैं तुम्हें ही सहदेव के समान विद्वान् समझती हूँ। तुम्हीं युधिष्ठिर और दुर्योधन के समान हो। तुम्हीं नल और नील के समान ढाढ़स बँधाने वाले हो; अर्थात् जिस प्रकार नल-नील ने समुद्र पर पुल बाँध राम को ढाढ़स

बँधाया था, उसी प्रकार तुम दोनों को देख मुझे सान्त्वना मिलती है। तुम परशुराम और राम के समान योद्धा हो। तुम्हारी प्रतिज्ञा को सुन मेरे हृदय को सान्त्वना प्राप्त हुई है। तुम्हीं भरत और शत्रुघ्न के समान हो और तुम्हीं उस कृष्ण के समान हो जिसने चाणूर नामक दैत्य का संहार किया था। तुम्हीं प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—दोनों के समान हो। तुम्हें ही सब लोग अभिमन्यु के समान मानते हैं। साका करने वाला या शक संवत् का स्थापक राजा विक्रमादित्य तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता। तुम्हीं ने राणा हम्मीर (रणथम्भौर का राजा जिसे अलाउद्दीन ने हराया था) और राजा हरिश्चन्द्र के समान सत्य की रेखा खींची है, अर्थात् सत्य पर दृढ़ रहने की प्रतिज्ञा की है।

जिस प्रकार पांडवों पर संकट पड़ने पर भीम ने उन्हें बन्धन से मुक्त कर उनकी रक्षा की थी, उसी प्रकार तुम दोनों पराए बन्धन में अवश पड़े हुए मेरे पति को छुड़ा कर मेरे सम्मान की रक्षा कर लो।

(६५५)

गोरा बादल बीरा लीन्हा। जस हनुवंत अंगद बर कीन्हा॥
सजहु सिंघासन[1], तानहु छातू। तुम्ह माथे जुग जुग अहिबातू॥
कँवल-चरन भुइँ धरि दुख पावहु। चढ़ि सिंघासन मँदिर सिधावहु॥
सुनतहि सूर कँवल हिय लागा। केसरि-बरन फूल[2] हिय लागा॥
जनु निसि महँ रबि दीन्ह देखाई। भा उदोत, मसि गई बिलाई॥
चढ़ी सिंघासन झमकति चली। जानहु चाँद दुइज निरमली॥
औ संग सखी कुमोद तराईं। ढारत चँवर मँदिर लेइ आईं॥
देखि दुइज सिंघासन, संकर धरा लिलाट।
कँवल-चरन पदमावती, लेइ बैठारी पाट॥७॥

व्याख्या—गोरा और बादल ने पद्मावती की बातों को सुन बीड़ा उठाया, अर्थात् प्रतिज्ञा की। जैसे अंगद और हनुमान ने सीता को छुड़ाने की प्रतिज्ञा की थी, उसी प्रकार इन दोनों ने बल अर्थात् शौर्य द्वारा राजा को छुड़ा लाने की प्रतिज्ञा की। उन्होंने पद्मावती से कहा कि हे रानी! तुम सिंहासन पर विराजमान हो और अपने ऊपर राजछत्र धारण करो। तुम्हारे मस्तक का सुहाग-सिन्दूर युग-युग तक अक्षय बना रहे। तुम अपने कमल के समान कोमल चरणों को पृथ्वी पर रखने से कष्ट पाओगी, इसलिए अब सिंहासन अर्थात् पालकी पर सवार हो राजमहल चली जाओ। सूर्य (रत्नसेन) का नाम सुनते ही अर्थात् रत्नसेन से मिलन की आशा होते ही कमल अर्थात् पद्मावती का हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। उसका हृदय केसर के रंग वाले फूल के समान प्रसन्न हो उठा। मानो रात्रि में सूर्य का प्रकाश दिखाई दे गया हो;

पाठ-भेद—१. सुखासन=पालकी। २. बोल=वचन।

सूर्य उदय हो गया हो और रात्रि की कालिमा दूर हो गई हो। भाव यह है कि गोरा-बादल के आश्वासन को पा उसका सारा शोक दूर हो गया और वह पति-मिलन की भावी आशा से प्रसन्न हो गई। वह पालकी में बैठ इस प्रकार झमकती हुई अर्थात् प्रसन्नता से खिली हुई चली मानो द्वितीया का निर्मल चन्द्रमा हो। और उसके साथ में कुमुदिनी और तारों के समान सखियाँ उस पर चँवर डुलाती हुईं उसे राज-महल में ले आईं। (यहाँ पद्मावती को कमल माना जाय तो सखियाँ कुमुदिनी हुईं और यदि चन्द्रमा माना जाय तो सखियाँ नक्षत्र हुईं।)

जिस प्रकार शंकर ने द्वितीया के चन्द्रमा को देख, उस पर मुग्ध हो उसे अपने ललाट पर रख लिया, उसी प्रकार सखियों ने कमल के समान सुन्दर चरणों वाली पद्मावती को ले जाकर सिंहासन पर आसीन करा दिया। अथवा पद्मावती के चरणों का स्पर्श कर सखियों ने उसे सिंहासन पर बैठाया।

टिप्पणी—अलंकार—उत्प्रेक्षा और रूपक।

५२

गोरा-बादल-युद्ध-यात्रा-खंड

(६५६)

बादल केरि जसोवै माया । आइ गहेसि बादल कर पाया ॥
बादल राय ! मोर तुइ बारा । का जानसि कस होइ जुझारा ॥
बादसाह पुहुमी-पति राजा । सनमुख होइ न हमीरहि छाजा ॥
छत्तिस लाख तुरय दर सार्जाहं । बीस सहस हस्ती दर गार्जाहं ॥
जबहीं आइ चढ़े दल ठटा । दीखत जैसि गगन घन-घटा ॥
चमकहिं खड़ग जो बीजु समाना । घुमरहिं गलगार्जाहं नीसाना ॥
बरिसहिं सेल बान घनघोरा । धीरज धीर न बाँधिहि तोरा ॥
जहाँ दलपती दलि मरहिं, तहाँ तोर का काज ? ।
आजु गवन तोर आवै, बैठि मानु सुख राज ॥१॥

व्याख्या—बादल की माता यशोदा ने जब सुना कि बादल युद्ध के लिए जा रहा है तो उसने आकर बादल के पैर पकड़ लिए और बोली कि हे मेरे बादल राजा ! मेरा तू ही एक मात्र पुत्र है और अभी कच्ची उमर का बालक है । अभी तू क्या जाने कि युद्ध कैसा होता है । बादशाह अलाउद्दीन बहुत बड़ा पृथ्वीपति (राजा) है । उसका विरोध करना हम्मीर को भी नहीं फला था अर्थात् हम्मीर भी उसके साथ युद्ध कर मारा गया था । उसकी सेना छत्तीस लाख घोड़ों से सजी हुई है, और बीस हजार हाथी उसके दल में गर्जना करते रहते हैं । जब वह अपनी सेना का समूह बाँधकर चढ़ाई करेगा तो उसकी सेना ऐसी प्रतीत होगी जैसी गगन में छाई हुई बादलों की घटा दिखाई पड़ती है । रणक्षेत्र में तलवारें बिजली के समान चमकेंगी और उसके नगाड़े बादलों के समान गम्भीर घोष करने लगेंगे । सेल और बाणों की घनघोर वर्षा होने लगेगी, उस समय तेरा धैर्य स्थिर न रह सकेगा, अर्थात् तू भयभीत हो उठेगा ।

जहाँ बड़े-बड़े सेनापति चकनाचूर हो मर जाते हैं वहाँ तेरा क्या काम है, अर्थात् वहाँ तू क्या कर सकेगा ? आज तेरा गौना आने वाला है, अर्थात् तेरी पत्नी का गौना होकर आ रहा है, इसलिए तू यहीं रह और सुख-भोग कर ।

(६५७)

मातु ! न जानसि बालक आदी । हौं बादला सिंघ रनबादी ।।
सुनि गज-जूह अधिक जिउ तपा । सिंघ क जाति रहै किमि छपा ? ।।
तौ लगि गाज, न गाज सिंघेला[1] । सौंह साह सौ जुरौं अकेला ।।
को मोंहि सौंह होइ मैमंता । फारौं सूँड़[2], उखारौं दंता ।।
जुरौं स्वामि-सँकरे जस ढारा । पेलों जस दुरजोधन भारा[3] ।।
अंगद कोपि पाँव जस राखा । टेकौं कटक छतीसौ लाखा ।।
हनुवत सरिस जंघ बर जोरौं । दहौं समुद्र, स्वामि-बँदि छोरौं ।।
सो तुम, मातु जसोवै ! मोंहि[4] न जानहु बार ।
जहँ राजा बलि बाँधा, छोरौं पैठि पतार ।।२।।

शब्दार्थ—आदी = बिल्कुल । रनबादी = युद्ध में गर्जना करने वाला । जंघ-बर जोरौं = जांघों में बल लाऊँ ।

व्याख्या—माता यशोदा की बातों को सुन बादल उत्तर देता हुआ कहने लगा कि हे माता ! मुझे तू निरा (नितान्त) बालक ही मत समझ । मैं रणक्षेत्र में सिंह के समान गर्जना करने वाला बादल हूँ । हाथियों के झुंड को गरजता हुआ सुनकर सिंह और अधिक उन्मत्त हो उठता है । भला उस गर्जना को सुन सिंह की जाति कैसे छिपी रह सकती है; अर्थात् हाथियों की चिंघाड़ को सुन सिंह तुरन्त बाहर निकल उस पर आक्रमण कर देता है । हाथी तभी तक गरजते रहते हैं, जब तक कि सिंह का बच्चा नहीं गरजता । मैं अकेला ही बादशाह के सम्मुख जा उससे भिड़ जाऊँगा । कौन ऐसा मतवाला हाथी है जो मेरे सम्मुख आने का साहस कर सकेगा । मैं उसकी सूँड़ फाड़ उसके दाँत उखाड़ डालूँगा । मैं स्वामी के संकट के समय उसकी ढाल बनकर युद्ध करूँगा अर्थात् ढाल के समान स्वामी की रक्षा करूँगा । मैं दुर्योधन के समान भाला चलाऊँगा । जिस प्रकार अंगद ने कुपित होकर (रावण की सभा में) अपना पैर रोप दिया था, उसी प्रकार मैं रणक्षेत्र में बादशाह की छत्तीस लाख सेना के सम्मुख दृढ़ता के साथ खड़ा हो जाऊँगा (और मुझे अंगद के पैर के समान कोई भी वहाँ से हिला नहीं सकेगा) । मैं हनुमान के समान अपनी जंघाओं में बल भर कर बादशाह की समुद्र के समान विशाल सेना को उसी प्रकार नष्ट कर डालूँगा, जिस प्रकार

पाठ-भेद—१. तब गाजन गलगाज सिंघेला = तब मेरा गर्जन सिंह शावक का गल-गर्जन प्रमाणित होगा । २. कुम्भ = मस्तक । ३. जादौं स्याम सँकरे जस टारा । बल्लव जस जुरजोधन मारा = यादव श्याम (कृष्ण) ने जिस प्रकार (कंस द्वारा प्रेरित) शकटासुर को टाला (पछाड़ा) था और जिस प्रकार बल्लव (भीम) ने दुर्योधन को मारा था । ४. कान्ह = कृष्ण ।

हनुमान ने समुद्र लाँघ लंका को जलाकर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। और इस प्रकार मैं स्वामी को वन्धन से मुक्त कर ले आऊँगा।

इसलिए हे माता जसोदा! तुम मुझे उसी प्रकार छोटा-सा बच्चा मत समझो जैसे माता यशोदा कृष्ण को समझती थीं। जहाँ राजा बलि को भगवान विष्णु ने पाताल में बाँध दिया था, मैं यदि आवश्यकता पड़ी तो, वहाँ जाकर भी राजा को छुड़ा लाऊँगा।

टिप्पणी—अलंकार—सांगरूपक।

(६५८)

बादल गवन जूझ कर साजा। तैसेहि गवन आइ घर बाजा॥
का बरनौं गवने कर चारू। चंद्रबदनि रचि कीन्ह सिंगारू॥
माँग मोति भरि सेंदुर पूरा। बैठ मयूर, बाँक तस जूरा॥
भौंहे धनुक टकोरि परीखे। काजर नैन मार सर तीखे॥
घालि कचपची टीका सजा। तिलक जो देख ठाँव जिउ तजा॥
मनि-कुंडल डोलैं दुइ स्रवना। सीस धुनहिं सुनि-सुनि पिउगवना॥
नागिनि अलक, झलक उर हारू। भएउ सिंगार कंत बिनु भारू॥
गवन जो आवा पँवरि महँ, पिउ गवने परदेस।
सखी बुझावहिं किमि अनल, बुझै सो केहि उपदेस ?॥३॥

व्याख्या—इधर बादल ने जैसे ही युद्ध-यात्रा की तैयारियाँ पूरी कीं उसी समय गौना होकर उसकी वधू. साथ में गौने का सारा साज-सामान लिए उसके घर आ पहुँची। जायसी कहते हैं कि मैं उस गौने के साज-सामान का क्या वर्णन करूँ! बादल की चन्द्रमुखी वधू ने रच-रच कर अपना श्रृंगार किया था। उसने अपनी माँग में मोती भर उसमें सिन्दूर लगाया था। उसका जूड़ा ऐसा बाँका था मानो कोई मयूर गर्दन ऊँची कर उसके मस्तक पर बैठा हो। उसकी भौंहें उस धनुष के समान वक्राकार थीं जिस पर प्रत्यंचा चढ़ा, टंकार देकर उसकी परीक्षा की गई हो; अर्थात् उसकी भौंहें प्रत्यंचा चढ़े धनुष के समान वक्राकार और घातक थीं। नेत्रों में लगा काजल दर्शकों पर ऐसा घातक प्रभाव डाल रहा था, मानो वह वधू अपनी भौंहों रूपी धनुष पर काजल लगे सुन्दर नेत्रों से कटाक्ष के तीखे बाण मार रही हो। उसके माथे पर कृत्तिका नक्षत्र के समान चमकता हुआ टीका लगा हुआ था। जो उसके तिलक (माथे का एक आभूषण) को देख लेता था, वह उसी स्थान पर अपने प्राण त्याग देता था अर्थात् मूर्च्छित हो जाता था। उसके दोनों कानों में पड़े मणियों के कुण्डल हिल रहे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे कुंडल अपने पति के जाने का समाचार सुन

सिर धुन-धुन कर रो रहे हों। उसकी अलकें नागिन के समान थीं और हृदय पर एक हार चमक रहा था। अथवा नागिन सी एक लट हृदय के हार के पास झलक रही थी। परन्तु स्वामी के बिना यह सारा शृंगार उस वधू के लिए भार बन गया था।

जैसे ही गौने आई उस वधू ने ड्यौढ़ी के भीतर पैर रखा, वैसे ही उसका पति परदेश को चल दिया। वधू की सखियाँ उसके हृदय में लगी इस आग को कैसे बुझाएँ ? वह आग किस प्रकार का उपदेश देने से बुझ सकती है ?

(६५६)

मानि गवन सो घूँघुट काढ़ी। बिनवै आइ बार भइ ठाढ़ी।।
तीखे हेरि चीर गहि ओढ़ा। कंत न हेर, कीन्ह जिउ पोढ़ा।।
तब धनि बिहँसि कीन्ह सहुँ दीठी। बादल ओहि दीन्हि फिर पीठी।।
मुख फिराइ मन अपने रीसा। चलत न तिरिया कर मुख दीसा।।
भा मिन-मेष[1] नारि के लेखे। कस पिउ पीठि दीन्हि मोहि देखे।।
मकु पिउ दिस्टि समानेउ सालू[2]। हुलसी पीठि कढ़ावौं फालू[3]।।
कुच तूँबी अब पीठि गड़ोवौं। गहै जो हूकि, गाढ़ रस धोवौं।।
रहौं लजाइ त पिउ चलै, गहौं त कह मोहि ढीठ।
ठाढ़ि तेवानि कि का करौ, दूभर दुऔ बसीठ[4] ।।४।।

शब्दार्थ—पोढ़ा = कठोर। मिन-मेष = मीन-मेख, आगा-पीछा, सोच-विचार। फालू = बाण का फल, नौंक। तेवानि = चिन्ता में पड़ी हुई। दूभर दुऔ = दोनों बातें, मुश्किल हैं।

व्याख्या—गौने की रीति को मान कर वधू ने घूँघट निकाल लिया और द्वार पर विनय करने के लिए खड़ी हो गई। उसने एक बार पति की ओर तीखी दृष्टि से देख पुनः अपना घूँघट नीचा कर लिया। परन्तु स्वामी (बादल) ने उसकी ओर नहीं देखा और अपने हृदय को कठोर बना लिया। यह देख सुन्दरी वधू ने हँसकर उसकी ओर अपनी दृष्टि की परन्तु बादल उसकी ओर पीठ मोड़ खड़ा हो गया। वह मुख मोड़ अपने मन में इस बात पर क्रोध करने लगा कि चलते समय स्त्री का मुख नहीं देखना चाहिए। [डा० अग्रवाल ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—यों मुख फिरा लेने पर उसके (वधू के) हृदय में क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने सोचा, 'चलते समय भी प्रियतम ने प्रिया का मुख न देखा।] बादल को पीठ मोड़कर खड़ा होते देख उसकी वधू सोच-विचार में पड़ गई कि मुझे देखकर प्रियतम ने पीठ क्यों मोड़ ली। शायद मेरी तीखी दृष्टि का काँटा उसके हृदय में समा गया है और पीठ की ओर जा

पाठ-भेद—१. मन फीक = मन फीका हो गया है। २. चालू = चाल।
३. सालू = शल्य, वाण, काँटा। ४. बसीठ = मन्त्रणाएँ।

निकला है जिसके कारण उसकी पीठ हुलस उठी है और उस काँटे को निकलवाने के लिए मेरी तरफ घूम गई है। भाव यह है कि प्रियतम मेरी दृष्टि से प्रसन्न तो हो उठे हैं परन्तु संकोच के कारण, क्योंकि अन्य लोग खड़े हैं, मेरी ओर पीठ मोड़ कर खड़े हो गए हैं। जिस प्रकार लगे हुए काँटे पर तूँबी गढ़ा कर उसे निकाला जाता है उसी प्रकार मैं अपने कुच रूपी तूँबी को प्रियतम की पीठ में गढ़ा कर अर्थात् पीछे से उन्हें आलिंगन-पाश में आबद्ध कर उस काँटे को निकाल दूँगी, अर्थात् उनके लज्जा-जनित संकोच को दूर कर दूँगी। जिस प्रकार काँटा निकालते समय व्यक्ति पीड़ा से व्याकुल हो काँटा निकालने वाले का हाथ पकड़ लेता है, उसी प्रकार जब मेरे प्रियतम अपनी पीठ में मेरे कुचों के गढ़ने से व्याकुल हो, अर्थात् रोमांचित हो मुझे पकड़ लेंगे तो मैं गहरे प्रेम-रस से उन्हें धो डालूँगी अर्थात् उन्हें प्रेम रस से सिक्त कर दूँगी।

वधू खड़ी हुई सोच रही है कि यदि मैं लज्जा के कारण इसी प्रकार चुपचाप खड़ी रहती हूँ तो प्रियतम चले जायेंगे और यदि मैं उन्हें पीछे से पकड़ती हूँ तो सारा संसार मुझे ढीठ अर्थात् निर्लज्ज कहेगा। वह चिन्ता में पड़ी हुई यही सोचती रही कि आखिर मैं क्या करूँ, क्योंकि उसके लिए दोनों ही बातें कठिन हो रही थीं।

टिप्पणी—अलंकार—'मकु····रस धोवौं'—में हेतूत्प्रेक्षा।

(६६०)

लाज किए जौ पिउ नहिं पावौं। तजौं लाज कर जोरि मनावौं॥
करि हठ कंत जाइ जेहि लाजा। घूँघुट लाज आव केहि काजा॥
तब धनि बिहँस कहा गहि फेंटा। नारि जो बिनवै कंत न मेटा॥
आजु गवन हौं आई, नाहाँ। तुम न, कंत! गवनहु रन माहाँ॥
गवन आव धनि मिलै के ताईं। कौन गवन जौ बिछुरै साईं॥
धनि न नैन भरि देखा पीऊ। पिऊ न मिला धनि सौं भरि जीऊ॥
जहँ अस आस-भरा है केवा। भँवर न तजै बास-रसलेवा॥
पायँन्ह धरा लिलाट धनि, बिनय सुनहु, हो राय!
अलक परी फँदवार होइ, कैसेहु तजै न पाय॥५॥

व्याख्या—बादल की नववधू मन में विचार करने लगी कि यदि मैं लज्जा करने पर प्रियतम को नहीं प्राप्त कर सकती तो ऐसी इस लज्जा को त्याग हाथ जोड़ कर पति को मनाऊँगी। जिस लज्जा के कारण पति हठ करके चला जाय तो वह घूँघट और लज्जा फिर मेरे किस काम आएगी? तब सुन्दरी वधू ने हँस कर पति का फेंटा (कमरबन्ध) पकड़ लिया और कहा कि हे स्वामी! स्त्री अपने पति से जिस बात की प्रार्थना करती है उसे पति अस्वीकार नहीं करता। हे नाथ! आज मेरा गौना होकर आया है, इसलिए हे कन्त! तुम रण के लिए प्रस्थान मत करो। स्त्री जब गौना होकर आती है तो अपने पति से मिलने के लिए ही आती है। यदि ऐसे अवसर पर पति ही

बिछुड़ जाय तो फिर उस गौने का महत्त्व ही क्या रहा ? पत्नी ने आँख भर कर पति को नहीं देखा और पति जी भर कर अपनी पत्नी से नहीं मिल सका (तो फिर इस गौने का महत्त्व ही क्या रहा) । जहाँ हृदय में मिलन की ऐसी आशा सँजोए कमल रूपी पत्नी हो वहाँ उसके गन्ध-रस का पान करने वाला भौंरा रूपी पति उसे त्याग कर कहीं नहीं जाता ।

यह कह कर नववधू ने बादल के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया और कहा कि हे राजा ! मेरी प्रार्थना सुन लो । मेरी अलकें तुम्हारे पैरों में फन्दे बनकर पड़ गई हैं और अब किसी भी प्रकार तुम्हारे पैरों को नहीं छोड़ेंगीं ।

(६६१)

छाँड़ु फेंट धनि ! बादल कहा । पुरुष-गवन धनि फेंट न गहा ॥
जौ तुइ गवन आइ, गजगामी । गवन मोर जहँवाँ मोर स्वामी ॥
जौ लगि राजा छूटि न आवा । भावै वीर, सिंगार न भावा ॥
तिरिया भूमि खड़ग कै चेरी । जीत जो खड़ग होइ तेहि केरी ॥
जेहि घर खड़ग मोंछ[1] तेहि गाढ़ी । जहाँ न खड़ग मोंछ नहिं दाढ़ी ॥
तब मुहँ मोंछ, जीउ पर खेलौं । स्वामि-काज इंद्रासन पेलौं ॥
पुरुष बोलि कै टरै न पाछू । दसन गयंद, गीउ नहिं काछू ॥
तुइ अबला, धनि ! कुबुधि-बुधि, जानै काह जुझार[2] ।
जेहि पुरुषहि हिय बीर रस, भावै तेहि न सिंगार ॥६॥

व्याख्या—जब बादल की पत्नी ने उसका कमरबन्द पकड़ लिया तो बादल उससे कहने लगा कि—हे सुन्दरी ! तू मेरा कमरबन्द छोड़ दे । पुरुष के प्रस्थान के समय स्त्री उसका कमरबन्द नहीं पकड़ती । हे गजगामिनी ! यदि तू गौना होकर आई है तो मुझे भी वहीं जाना है जहाँ मेरा स्वामी है, अर्थात् तू गौना होकर अपने स्वामी के पास आई है और मुझे वहाँ जाना है, जहाँ मेरा स्वामी राजा रत्नसेन है । जब तक राजा छूट कर नहीं आ जायेगा, तब तक मुझे वीर रस ही अच्छा लगता रहेगा, शृंगार रस में मेरी अनुरक्ति नहीं हो सकेगी, अर्थात् तब तक मैं प्रेम की बातें नहीं कर सकूँगा । स्त्री और पृथ्वी—दोनों खड्ग की दासियाँ होती हैं । जो अपने खड्ग द्वारा इन्हें जीत लेता है—ये उसी की हो जाती हैं । जिस घर में खड्ग रहता है अर्थात् जिस घर के पुरुषों के हाथ में खड्ग रहता है, उसी घर की मूँछें गहरी रहती हैं अर्थात् उसी घर की प्रतिष्ठा रहती है । जहाँ खड्ग नहीं रहता वहाँ न तो पुरुषों के मूँछें होती हैं और न दाढ़ी अर्थात् ऐसे पुरुष जनखे होते हैं । (जनखों के दाढ़ी-मूँछ नहीं होतीं ।) भाव यह है कि ऐसे लोगों की कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं होती । मेरे मुख

पाठ-भेद—१. मूठि=मुट्ठी । २. जाननिहार=जानने वाला ही जानता है ।

पर तब मूँछों का रहना सार्थक होगा जब मैं (स्वामी की रक्षा के लिए) अपने प्राणों पर खेल जाऊँगा और स्वामी के कार्य के लिए इन्द्रासन तक को भी हटा दूँगा। पुरुष वचन देकर उससे कभी भी पीछे नहीं हटता। उसका वचन हाथी के दाँत के समान होता है जो एक बार बाहर निकल आने पर फिर लौट कर मुख में पीछे नहीं जाते। पुरुष के वचन कछुए की गर्दन के समान नहीं होते जो बाहर निकल कर फिर भीतर घुस जाती है।

हे सुन्दरी ! तू अबला और दुष्ट बुद्धि वाली है। तू युद्ध की बातें क्या जाने ? जिस पुरुष के हृदय में वीर रस रहता है, उसे शृंगार अच्छा नहीं लगता।

(६६२)

जौ तुम चहहु जूझि, पिउ ! बाजा। कीन्ह सिंगार-जूझ मैं साजा ।।
जोबन आइ सौंह होइ रोपा। बिखरा[1] बिरह, काम-दल कोपा ।।
बहेउ[2] बीररस सेंदुर माँगा। राता रुहिर खड़ग जस नाँगा ।।
भौंहें धनुक नैन-सर साधे। काजर पनच, बरुनि विष-बाँधे ।।
जनु कटाछ स्यों सान सँवारे। नखसिख[3] बान सेल अनियारे ।।
अलक फाँस गिउ मेल असूझा। अधर अधर सौं चाहहिं जूझा ।।
कुंभस्थल कुच दोउ मैमंता। पैलौं सौंह, संभारहु, कंता ! ।।
कोप सिंगार[4], बिरह-दल, टूटि होइ दुइ आध।
पहिले मोहिं संग्रह कै, करहु जूझ कै साध ।।७।।

व्याख्या—बादल के रणक्षेत्र में जाने के अटल निश्चय को सुन उसकी पत्नी उससे कहने लगी कि—हे प्रियतम ! यदि तुम युद्ध करके लड़ना ही चाहते हो तो मैंने शृंगार-युद्ध का साज सजा रखा है। मेरे यौवन ने तुम्हारे सम्मुख आ मोर्चा रोप दिया है। विरह बिखर गया है और कामदेव की सेना कुपित हो उठी है। माँग में भरे सिन्दूर के रूप में वीररस प्रवाहित हो रहा है। मेरी सिन्दूर-भरी माँग ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो रक्त से भरी नंगी तलवार हो। (वीररस का रंग लाल माना गया है, इसलिए सिन्दूर को वीररस का प्रतीक माना गया है।) मेरी भौहें धनुष हैं और उन पर नेत्र रूपी बाण चढ़े हुए हैं। नेत्रों में लगा काजल उस धनुप की प्रत्यंचा है जिस पर बरौनियों के विष-बुझे बाण सधे हैं या बरौनियों के विष से बँधी हुई है। मानो कटाक्षों द्वारा उन पर धार धर उन्हें तीक्ष्ण बनाया गया है। नख से लेकर शिख तक सारा शृंगार ही एक प्रकार से नुकीले बाण और सेल हैं। तुम्हारी गर्दन में अनजाने ही अलकों का फन्दा डाल मेरे अधर तुम्हारे अधरों से युद्ध करना

पाठ-भेद—१. पखरा=जिरह बख्तर। २. भयेउ। ३. औ नख सेल=और नाखून बर्छी के समान हैं। ४. संघारहु=संहार करो।

चाहते हैं। मेरे दोनों कुच दो मतवाले हाथियों के कुम्मस्थलों के समान हैं, जिन्हें हे स्वामी ! मैं तुम्हारे सामने ठेलना चाहती हूँ। तुम अपने को सम्भालो।

मेरा शृंगार कुपित हो उठा है। विरह रूपी सेना के टूट कर दो टुकड़े हो गए हैं। अथवा तुम मेरे साथ रति-युद्ध कर विरह के दो टुकड़े कर दो, उसे नष्ट कर डालो। इसलिए तुम पहले मुझसे संग्राम कर अपनी युद्ध करने की हौंस (साध) को पूरा कर लो।

टिप्पणी—अलंकार—सांगरूपक।

(६६३)

एकौ बिनति न मानै नाहाँ। आगि परी चित उर धनि माहाँ॥
उठा जो धूम नैन करुवाने। लागे परै आँसु झहराने॥
भीजे हार, चीर, हिय चोली। रही अछूत कंत नहिं खोली॥
भीजीं अलक छुए कटि-मंडन। भीजे कँवल भँवर सिर-फुंदन॥
चुइ चुइ काजर आँचर भीजा। तबहुँ न पिउ कर रोवँ पसीजा॥
जौ तुम कंत ! जूझ जिउ काँधा। तुम कित साहस, मैं सत बाँधा[1]॥
रन संग्राम जूझि जिति आवहु। लाज होइ जौ पीठि देखावहु॥
तुम्ह पिउ साहस बाँधा, मैं दिय माँग सेंदूर।
दोउ सँभारे होइ सँग, बाजे मादर तूर॥८॥

व्याख्या—पत्नी द्वारा विनय करने पर भी स्वामी (बादल) ने उसकी एक भी विनती नहीं मानी। यह देख उस सुन्दरी का मन और हृदय जलने लगा और निराशा से झुलस गया। उससे जो धुआँ उठा उससे उसके नेत्र दुखने लगे और उनसे आँसू धारा के रूप में बह उठे। भाव यह है कि निराशा की वेदना से उसके हृदय से रुदन का जो उच्छ्वास उठा उससे उसके नेत्र डबडबा आए और वह रोने लगी। उन आँसुओं से उसका हार, ओढ़नी और हृदय पर कसी चोली भीग गई जो अछूती ही रह गई थी अर्थात् जिसे स्वामी ने खोला तक नहीं था। उसकी कटि की शोभा बढ़ाने वाली करधनी का स्पर्श करने वाली उसकी अलकें भीग गईं और साथ ही कमल के समान उसके दोनों कुच, उन पर भौंरे जैसी काली घुंडियां तथा वेणी में पड़े चुटीले

पाठ-भेद—१. डा० गुप्त ने अन्तिम दो अर्द्धालियों और दोहे का पाठ इस प्रकार माना है—

छाँड़ चला हिरदै दै डाहू। निठुर नाँह आपन नहिं काहू॥
सबै सिंगार भीजि भुइँ चुवा। छार मिलाइ कंत नहिं छुवा॥
रोएँ कंत न बहुरै तेहि रोएँ का काज।
कंत धरा मन जूझि रन धनि साजे सत साज॥

का फुँदना आदि सब कुछ भीग गए। आँखों से काजल टपक-टपक कर उसका आँचल भीग गया। परन्तु इतने पर भी उसके पति का एक रोम तक नहीं पसीजा, अर्थात् बादल को तनिक भी दया नहीं आई। यह देख उसकी पत्नी उससे बोली कि हे स्वामी यदि तुमने युद्ध करने का ही दृढ़ निश्चय कर लिया है और इस प्रकार का साहस किया है तो मैंने भी अपने सतीत्व पर अटल रहने का निश्चय किया है। तुम रणक्षेत्र में युद्ध कर विजय प्राप्त कर लौट आना। यदि तुमने रण में पीठ दिखाई, अर्थात् रण से भाग आए तो मुझे बड़ा लज्जित होना पड़ेगा।

हे प्रियतम ! तुमने साहस किया है और मैंने अपनी माँग में सिन्दूर भरा है। इन दोनों का जब एक साथ निर्वाह होगा, तभी हमारा-तुम्हारा साथ हो सकेगा और तभी मृदंग और तुरही बाजे बजेंगे अर्थात् आनन्दोत्सव मनाया जायेगा। भाव यह है कि यदि तुम युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गए तो मैं तुम्हारे साथ सती हो जाऊँगी और यदि तुम विजयी होकर लौटोगे तो बाजे बजवा कर तुम्हारा स्वागत करूँगी।

५३

गोरा-बादल-युद्ध-खंड

(६६४)

मतै बैठि बादल औ गोरा । सो मत कीज परै नहिं भोरा ॥
पुरुष न करहिं नारि-मति काँचीं । जस नौशाबा कीन्ह न बाँची ॥
परा हाथ इसकंदर बैरी । सो कित छोड़ि कै भई बँदेरी ?
सुबुधि सौं ससा सिंघ कहँ मारा । कुबुधि सिंघ कूआँ परि हारा[1] ॥
देवहि छरा आइ अस आँटी । सज्जन कंचन, दुर्जन माटी ॥
कंचन जुरै भए दस खंडा । फूटि न मिलै काँच कर भंडा ॥
जस तुरकन्ह राजा छर साजा । तस हम साजि छोड़ावहिं राजा ॥
पुरुष तहाँ पै करै छर, जहँ बर किए न आँट ।
जहाँ फूल तहँ फूल है, जहाँ काँट तहँ काँट ॥१॥

शब्दार्थ—नौशाबा=एक रानी जिसके यहाँ सिकन्दर पहले दूत बनकर गया था । नौशाबा ने उसे पहचान कर भी छोड़ दिया था । देवहि छरा=राजा को छला, देवताओं ने छला । आइ अस आँटी=इस प्रकार अंटी पर चढ़कर अर्थात् कब्जे में आकर भी—(शुक्ल जी), अभिसन्धि, रीति, परम्परा ।

व्याख्या—गोरा-बादल से सान्त्वना प्राप्त कर पद्मावती प्रसन्न मन अपने राजमहल को चली गई । उसके चले जाने के उपरान्त गोरा और बादल बैठकर आपस में मंत्रणा करने लगे कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे बाद में धोखा न खाना पड़े । पुरुष स्त्रियों के समान कच्ची राय नहीं बनाते । (भाव यह है कि पद्मावती ने स्वयं जोगिन बन राजा को छुड़ा लाने की योजना बनाई थी परन्तु वह स्त्री थी, इसलिए गोरा-बादल को उसकी वह योजना अपरिपक्व प्रतीत हुई थी । इसीलिए उन्होंने उस पर अमल करने से इन्कार कर दिया था ।) जिस प्रकार नौशाबा नामक रानी ने मूर्खता की थी कि हाथ आए सिकन्दर को छोड़ दिया था और फिर

पाठ-भेद—१. सजग जो नाहिं काह बर बाँधा । बधिक हुतें हस्ती गा बाँधा=जो सजग नहीं वह बल का प्रयोग करने में क्यों कन्धा देता है ? इसी कारण बधिक द्वारा बलशाली हाथी बाँधा गया, बाँधा जाता है ।

उससे बच नहीं सकी। उसका शत्रु सिकन्दर उसके हाथ में पड़ गया था परन्तु नौशाबा ने उसे क्यों छोड़ दिया, जिसके कारण अन्त में उसे सिकन्दर की दासी बनना पड़ा। खरगोश ने अपनी सुबुद्धि द्वारा सिंह को मार डाला था और सिंह अपनी कुबुद्धि के कारण उस तुच्छ से जन्तु से हार गया था। अलाउद्दीन राजा रत्नसेन के कब्जे में आ गया था परन्तु राजा की मूर्खता के कारण वह राजा को ही छल द्वारा बाँध ले गया। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि छल करने की परम्परा तो देवताओं से चली आ रही है, अर्थात् देवताओं ने अनेक बार छल द्वारा अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है। सज्जन पुरुष स्वर्ण के समान और दुर्जन मिट्टी के समान होते हैं। स्वर्ण टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी पुनः जुड़ कर एक हो जाता है, परन्तु काँच का या कच्ची मिट्टी का बर्तन एक बार टूट जाने पर पुनः नहीं जुड़ सकता। भाव यह है कि सज्जन अर्थात् सुबुद्धि वाला व्यक्ति तो एक बार पराजित होकर भी पुनः अपनी बुद्धि द्वारा सफलता प्राप्त कर लेता है परन्तु दुष्ट बुद्धि वाला अर्थात् मूर्ख एक बार हार कर फिर नहीं उठ पाता। इसका दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि सज्जन पुरुष आपस में एक बार विरोध हो जाने पर मिल कर एक हो जाते हैं परन्तु दुष्ट पुरुष एक बार अलग होकर फिर कभी नहीं मिलते। (यहाँ गोरा-बादल राजा रत्नसेन के साथ हुए अपने विग्रह के प्रति संकेत करते प्रतीत होते हैं।) जिस प्रकार तुर्कों ने राजा के साथ छल किया था, हम भी उसी प्रकार षड्यंत्र कर राजा को मुक्त करायेंगे।

सत्पुरुष को वहाँ छल से काम लेना चाहिए, जहाँ शक्ति द्वारा काम न चल सके। जहाँ फूल हो वहाँ फूल तथा जहाँ काँटा हो वहाँ काँटे जैसा ही व्यवहार करना चाहिए; अर्थात् भले के साथ भला और बुरे के साथ बुरा व्यवहार करना चाहिए।

(६६५)

सोरह सै चंडोल सँवारे। कुँवर सँजोइल कै बैठारे॥
पदमावति कर सजा बिवानू। बैठ लोहार न जानै भानू॥
रुचि बिवान सो साजि सँवारा। चहुँ दिसि चँवर करहिं सब ढारा॥
साजि सबै चंडोल चलाए। सुरँग ओहार, मोति बहु लाए॥
भए सँग गोरा बादल बली। कहत चले पदमावति चली॥
हीरा रतन पदारथ झूलहि। देखि बिवान देवता भूलहिं॥
सोरह सै संग चली सहेली। कँवल न रहा, और को बेली॥
राजहि चलीं छोड़ाबै, तहँ रानी होइ ओल।
तीस सहस तुरि खिंची सँग, सोरह सै चंडोल॥२॥

व्याख्या—गोरा-बादल ने सोलह सौ पालकियाँ तैयार करवाईं, जिनमें हथियारों से सुसज्जित राजपूत सरदार बैठे। पद्मावती की पालकी भी सजाई गई, और उसके भीतर एक लुहार इस प्रकार छिपकर बैठ गया कि सूर्य भी उसका पता

नहीं लगा सकता था, अर्थात् वह पालकी चारों ओर से इस प्रकार ढक दी गई थी कि उसके भीतर सूर्य की एक किरण भी नहीं प्रवेश कर सकती थी। उस पालकी को खूब अच्छी तरह से सजाया गया। चारों ओर घिरी दासियाँ उस पर चँवर ढार रही थीं। इस प्रकार सारी पालकियों को सजाकर आगे बढ़ाया गया। उन पालकियों पर रंगीन परदे पड़े थे तथा उन परदों पर अनेक मोती टँके थे। उनके साथ बलवान गोरा और बादल यह कहते हुए चलने लगे कि पद्मावती (बादशाह से मिलने) जा रही है। पद्मावती की पालकी में चारों ओर हीरा, रत्न तथा माणिक्य आदि झूल रहे थे। ऐसी उस पालकी को देख देवता भी मुग्ध हो भूले हुए से रह जाते थे। पद्मावती के साथ उसकी सोलह सौ सखियाँ भी चलीं। जब कमल ही नहीं रहा तो अन्य लताओं का क्या महत्त्व, अर्थात् जब पद्मावती ही चल दी तो फिर सखियों का क्या महत्त्व था ?

इस प्रकार रानी पद्मावती स्वयं को जमानतदार (ओल) बना राजा को छुड़ाने चली। भाव यह है कि पद्मावती जमानत के रूप में बादशाह के पास रह जायेगी और बादशाह उसे पाकर राजा को छोड़ देगा। उसके साथ जीन कसे तीस हजार घोड़े और सोलह सौ पालकियाँ चलीं।

(६६६)

राजा बँदि जेहि के सौंपना। गा गोरा तेहि पहँ अगमना ॥
टका लाख दस दीन्ह अँकोरा। बिनती कीन्हि पायँ गहि गोरा ॥
विनवहु बादसाह सौं जाई। अब रानी पदमावति आई ॥
बिनती करै आई हौं दिल्ली। चितउर कै मोहि स्यो है किल्ली ॥
बिनती करै, जहाँ है पूँजी। सब भँडार कै मोहि स्यो कूँजी[1] ॥
एक घरी जौ अज्ञा पावौं। राजहि सौंपि मँदिर महँ आवौं ॥
तब रखवार गए सुलतानी। देखि अंकोर भए जस पानी ॥
लीन्ह अंकोर हाथ जेहि, जीउ दीन्ह तेहि हाथ।
जहाँ चलावै तहँ चलै, फेरे फिरै न माथ[2] ॥३॥

शब्दार्थ—सौंपना=देख-रेख में। अगमना=पहले। अँकोरा=रिश्वत। किल्ली=कुंजी, चाबी।

व्याख्या—बन्दीगृह में राजा रत्नसेन जिस व्यक्ति की देख-रेख में था, गोरा सबसे पहले उसी के पास गया। गोरा ने उसे दस लाख मुद्रा रिश्वत में दीं और उसके पैर पकड़ कर प्रार्थना की कि तुम जाकर बादशाह से यह प्रार्थना करो कि अब रानी पद्मावती आ गई है। वह विनती करती है कि मैं दिल्ली आ गई हूँ, अब चित्तौड़ की कुंजी मेरे ही पास है। वह यह भी प्रार्थना करती है कि जिस खजाने में चित्तौड़ की

पाठ-भेद—१. बिनबहु पातसाहि के आगे। एक बात दीजै मोहि माँगे ॥
२. जो बहु कहै सरै सो कीन्हे कनउड़ झार न माँथ।

सारी पूँजी रखी हुई है उसकी कुंजी भी मेरे ही पास है। इसलिए यदि आज्ञा मिल जाय तो मैं घड़ी भर में राजा को वे कुंजियां सौंप आपके पास राजमहल में आ जाऊँ। गोरा की बात सुन वन्दीगृह के रक्षक बादशाह के पास चले गए। वे रिश्वत की उस रकम को देख पानी हो गए थे।

जिसने जिसके हाथ से रिश्वत ले ली, उसने उस रिश्वत देने वाले के हाथ में मानो अपने प्राण सौंप दिए; अर्थात् रिश्वती आदमी रिश्वत पा अपने प्राण तक देने को तैयार हो जाता है। रिश्वत देने वाला रिश्वती को जैसे चलाना चाहता है, वह वैसे ही चलता है। वह प्रयत्न करने पर भी इन्कार में सिर नहीं हिला पाता।

(६६७)

लोभ पाप कै नदी अँकोरा। सत्त न रहै हाथ जौ बोरा।।
जहँ अँकोर तहँ नीक[1] न राजू। ठाकुर केर बिनासै काजू।।
भा जिउ घिउ रखवारन्ह केरा। दरब-लोभ चंडोल न हेरा।।
जाइ साह आगे सिर नावा। ए जगसूर ! चाँद चलि आवा।।
जावत हैं सब नखत तराईं। सोरह सै चँडोल सो आईं।।
चितउर जेति राज कै पूँजी। लेइ सो आइ पदमावति कूँजी।।
बिनती करै जोरि कर खरी। लेइ सौंपौं राजा एक घरी।।

इहाँ उहाँ कर स्वामी ! दुऔ जगत मोहि आस।
पहिले दरस देखावहु, तौ पठवहु[2] कबिलास।।४।।

व्याख्या—जायसी कहते हैं कि रिश्वत लोभ और पाप की नदी के समान होती है। जो इस नदी में हाथ डाल देता है; अर्थात् रिश्वत ले लेता है, उसका सत अर्थात् ईमान नष्ट हो जाता है। जहाँ रिश्वत रहती है, वहाँ का राज्य अच्छा नहीं होता। रिश्वती लोग अपने स्वामी अर्थात् राजा का काम बिगाड़ देते हैं। गोरा से रिश्वत पा, बन्दीगृह के रक्षकों का हृदय घी के समान चिकना अर्थात् कोमल हो पिघल गया। उन्होंने धन के लोभ में पड़ पालकी को भी नहीं देखा। उन्होंने बादशाह के सम्मुख जा मस्तक झुका सलाम किया और प्रार्थना करने लगे कि हे जगत के सूर्य ! चन्द्रमा (पद्मावती) स्वयं चलकर यहाँ आ पहुँची है। आकाश में जितने भी नक्षत्र और तारागण हैं अर्थात् पद्मावती की जितनी भी सखी-सहेलियाँ हैं, वे सब सोलह सौ पालकियों में बैठकर आई हैं। चित्तौड़ राज्य की जितनी भी धन-दौलत है, पद्मावती उसकी कुंजी अपने साथ ले आई है। वह हाथ जोड़े खड़ी विनती कर रही है कि मुझे एक घड़ी की मोहलत मिल जाय तो मैं वह कुंजी राजा को सौंप दूँ।

वह कहती है मेरे इहलोक और परलोक के स्वामी ! मुझे दोनों लोकों में तुम्हारी

पाठ-भेद—१. नेगिन्ह=कर्मचारियों का। २. आवौं=आऊँगी।

ही आशा है। पहले मुझे अपने पति के दर्शन करवा दो, तब मुझे स्वर्ग के समान अपने राजमहल में भेजो।

(६६८)

आज्ञा भई, जाइ एक घरी। छूँछि जो घरी फेरि बिधि भरी।।
चलि बिवान राजा पहुँ आवा। सँग चंडोल जगत सब छावा।।
पदमावति के भेस लोहारू। निकसि काटि बँद कीन्ह जोहारू।।
उठा कोपि जस छूटा राजा। चढ़ा तुरंग, सिंघ अस गाजा।।
गोरा बादल खाँड़ै काढ़े। निकसि कुँवर चढ़ि चढ़ि भए ठाढ़े।।
तोख तुरंग गगन सिर लागा। केहुँ जुगुति करि टेकी बागा।।
जो जिउ ऊपर खड़ग संभारा। मरनहार सो सहसन्ह मारा।।
भई पुकार साह सौं, ससि औ नखत सो नाहिं।
छरकै गहन गरासा, गहन गरासे जाहिं।।५।।

व्याख्या—बन्दीगृह के रक्षकों द्वारा पद्मावती की प्रार्थना सुन बादशाह ने आज्ञा दी कि वह एक घड़ी भर के लिए राजा के पास जा सकती है। जायसी कहते हैं कि जो घड़ा खाली था, ईश्वर ने उसे फिर भर दिया; अर्थात् अच्छी घड़ी फिर लौट आई। पद्मावती की पालकी राजा रत्नसेन के पास पहुँची। उसके साथ की पालकियाँ सारे संसार पर छा गईं अर्थात् वहाँ पालकियों का जमघट लग गया। उस पालकी में पद्मावती का वेश धारण किए जो लुहार बैठा था उसने बाहर निकल राजा के बन्धन काट दिए और उसे प्रणाम किया। राजा जैसे ही बन्धन मुक्त हुआ वैसे ही कुपित हो उठ खड़ा हुआ और घोड़े पर सवार हो सिंह के समान गर्जना करने लगा। गोरा और बादल ने अपनी-अपनी तलवारें निकाल लीं और सारे राजपूत योद्धा पालकियों में से निकल-निकल घोड़ों पर सवार हो खड़े हो गए। वे तेज घोड़े तुरन्त उड़ कर आसमान से जा लगे, अर्थात् वायुवेग से दौड़ने लगे। सवारों ने बड़ी मुश्किल से लगाम पकड़ कर उन्हें काबू में किया। जिन राजपूतों ने अपनी प्राण-रक्षा के लिए तलवार हाथ में सम्हाल ली थी, ऐसे इन प्राणों को हथेली पर धारण करने वालों ने सहस्रों शत्रुओं को मार गिराया।

हरकारों ने दौड़कर बादशाह के दरबार में जा पुकार मचाई कि वे चन्द्रमा और नक्षत्र अर्थात् पद्मावती और उसकी सखियाँ नहीं हैं। जिन पर तुमने छल से ग्रहण लगाया था वे अब तुम्हें ग्रहण लगा कर चले जा रहे हैं; अर्थात् जिस प्रकार तुमने छल द्वारा राजा को बन्दी बना उन्हें कलंकित किया था, उसी प्रकार वे लोग अब छल द्वारा राजा को बन्धन मुक्त कर तुम्हारे मुख पर कालिख लगाकर जा रहे हैं।

(६६९)

लेइ राजा चितउर कहँ चले । छूटेउ सिंघ, मिरिग खलभले[1] ॥
चढ़ा साहि चढ़ि लागि गोहारी । कटक असूझ परी जग कारी ॥
फिरि बादल गोरा सौं कहा । गहन छूटि पुनि चाहै गहा ॥
चहुँ दिसि आवै लोपत भानू । अब इहै गोइ, इहै मैदानू ॥
तुइ अब राजहि लेइ चलु गोरा । हौं अब उलटि जुरौं भा जोरा ॥
वह चौगान तुरक कस खेला । होइ खेलार रन जुरौं अकेला ॥
तौ पावौं बादल अस नाऊँ । जो मैदान गोइ लेइ आऊँ ॥
आजु खड़ग चौगान गहि, करौं सीस-रिपु गोइ[2] ।
खेलौं सौंह साह सौं, हाल जगत महँ होइ ॥६॥

व्याख्या—गोरा-बादल राजा रत्नसेन को ले चित्तौड़ के लिए चल दिए । सिंह के छूट जाने पर मृगों के झुंड में खलबली मच गई; अर्थात् राजा के छूट जाने से शत्रुओं में खलबली मच गई । बादशाह ने आक्रमण कर दिया । चारों ओर युद्ध की पुकार मच गई । शाही सेना इतनी विशाल थी कि उसके चलने से संसार में अन्धकार छा गया । यह देख बादल ने मुड़कर पीछे मुख कर गोरा से कहा कि ग्रहण छूट कर पुनः लगना चाहता है; अर्थात् राजा बन्धन मुक्त हो पुनः बन्धन में पड़ जायेगा (शाही सेना उसे फिर पकड़ लेगी) । चारों ओर से शाही सेना राजा को इस प्रकार घेरती चली आ रही है, जिस प्रकार राहु सूर्य को घेरता चला आता है । इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सूर्य (अलाउद्दीन) हमें चारों ओर से घेरता चला आ रहा है । अब तो यही गेंद होगी और यही खेल का मैदान होगा । हे गोरा ! तुम अब राजा को लेकर आगे निकल जाओ । मैं पीछे लौटकर बादशाह का प्रतिद्वन्द्वी बन उससे युद्ध करूँगा । देखूँ, वह तुर्क कैसा चौगान खेल खेलता है । मैं खिलाड़ी बन अकेला ही युद्ध करूँगा । यदि मैं इस खेल के मैदान में गेंद ले आऊँ, अर्थात् विजय प्राप्त करूँ तो मेरा बादल नाम सार्थक होगा ।

आज में हाथ में खड्ग रूपी चौगान (गेंद खेलने वाला लम्बा डंडा) लेकर शत्रुओं के सिर को गेंद बनाऊँगा । मैं बादशाह के सम्मुख जा उससे चौगान का खेल खेलूँगा अर्थात् युद्ध करूँगा । तब संसार में हलचल मच जायेगी अथवा तभी संसार में मेरी कीर्त्ति छा जायेगी ।

टिप्पणी—चौगान एक प्रकार का खेल था जो आधुनिक 'पोलो' के खेल से

पाठ-भेद—१. छूटेउ मिरिग सिंघ कलमले=मानो सिंहों के पंजों से मृग छूट गए हों जिससे सिंह कुड़बुड़ा उठे हों ।
२. सीस रन गोइ=रण में सिर को गेंद बनाकर ।

बहुत-कुछ मिलता-जुलता हुआ करता था। इसमें दो दल घोड़ों पर सवार हो, हाथ में लकड़ी के लम्बे-लम्बे, एक किनारे पर मुड़े डडे ले, गेंद से खेलते थे।

(६७०)

तब अगमन[1] होइ गोरा मिला। तुइ राजहि लेइ चलु बादला ! ॥
पिता मरै जो सँकरे साथा। मीचु न देइ पूत के माथा॥
मैं अब आउ भरी औ भूँजी। का पछिताव आउ जौ पूजी ? ॥
बहुतन्ह मारि मरौं जो जूझी। तुम जिनि रोएहु तौ मन बूझी ॥
कुँवर सहस सँग गोरा लीन्हे। और बीर बादल सँग कीन्हे ॥
गोरहि समदि मेघ अस गाजा। चला लिए आगे करि राजा ॥
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा। पुरुष देखि चाव मन बाढ़ा ॥
आव कटक सुलतानी, गगन छपा मसि माँझ।
परति आव जग कारी, होत आव दिन साँझ ॥७॥

व्याख्या—बादल की बातें सुन गोरा घोड़ा बढ़ा उसके आगे आ उससे मिला और बोला हे बादल ! तू राजा को लेकर चल। यदि संकट की स्थिति आ जाने पर पिता को मरना पड़े तो वह उस मृत्यु को पुत्र के सिर पर नहीं जाने देता; अर्थात् स्वयं ही मृत्यु का वरण करता है। मैंने अब पूरी अवस्था प्राप्त कर ली है और जीवन के सारे भोग भोग लिए हैं। ऐसी स्थिति में यदि मेरी आयु पूरी हो जाएगी अर्थात् मैं मर जाऊँगा तो उसके लिए क्या पश्चात्ताप करना ? यदि मैं युद्ध करूँगा तो बहुतों को मार कर ही मरूँगा। ऐसा हो जाने पर तुम अपने मन को समझाना और मेरे लिए रोना मत। इतना कह गोरा ने एक हजार राजपूत योद्धाओं को अपने साथ ले लिया और शेष सारे वीर बादल के साथ कर दिए। बादल गोरा से विदा ले मेघ के समान गर्जना करता हुआ राजा को अपने आगे कर वहाँ से चल पड़ा। गोरा लौटकर रणभूमि में खड़ा हो गया। पुरुषों अर्थात् योद्धाओं को देख उसके हृदय में युद्ध करने का चाव बढ़ गया।

बादशाही सेना बढ़ती चली आ रही थी। सारा आकाश अन्धकार में छिप गया। संसार में वह सेना काली घटा के समान उमड़ती-घुमड़ती चली आ रही थी और दिन में ही संध्या का-सा अन्धकार बढ़ता चला आ रहा था।

(६७१)

होइ मैदान परी अब गोई। खेल हार दहुँ काकरि होई ॥
जीबन-तुरी चढ़ी जो रानी। चली जीति यह खेल सयानी ॥
कटि चौगान, गोइ कुच साजी। हिय मैदान चली लेइ बाजी ॥

पाठ-भेद—१. अंकम दै=अंकमाली देकर, हृदय से लगाकर।

हाल सो करै गोद लेइ बाढ़ा। कूरी दुवौ पैज कै काढ़ा ॥
भइँ पहार वै दूनौ कूरी। दिस्टि नियर, पहुचत सुठि दूरी ॥
ठाढ़ बान अस जानहु दोऊ। सालै हिए न काढ़ै कोऊ ॥
सालहिं हिय, न जाहिं सह ठाढ़े। सालहिं मरै चहै अनकाढ़े[1] ॥
मुहमद खेल प्रेम कर, गहिर कठिन चौगान।
सीस न दीजै गोइ जिमि, हाल न होइ मैदान ॥८॥

व्याख्या—इस पद में चौगान के खेल के साथ युद्ध की समता दी गई है, साथ ही प्रेम-क्रीड़ा का भी रूपक बाँधा गया है। जायसी कहते हैं—

अब मैदान में गेंद पड़ गई है। मालूम नहीं इस खेल में किसकी हार होगी। वह रानी, जो यौवन की घोड़ी पर सवार थी, सयानी थी, इसलिए इस खेल में जीत कर चल दी। भाव यह है कि रानी पद्मावती अपनी सूझ-बूझ द्वारा राजा को पुनः प्राप्त कर विजयी बन गई। उसकी कटि चौगान के डंडे के समान थी और कुचों को उसने गेंद बना रखा था। इस प्रकार वह हृदय के रणक्षेत्र में अर्थात् प्रेम के क्षेत्र में बाजी मार कर चल दी; अर्थात् उसके प्रेम की विजय हुई, राजा रत्नसेन मुक्त हो उससे जा मिला। चौगान के इस खेल में वही गोल मारता है जो गेंद को लेकर आगे बढ़ता है और प्रतिज्ञा करके गोल के दोनों खम्भों या गुमटियों के बीच में से गेंद को निकाल ले जाता है। गोल के वे दोनों खम्भे या गुमटियाँ पहाड़ जैसी दिखाई देती थीं; अर्थात् दृष्टि से देखने पर तो नजदीक मालूम पड़ती थीं परन्तु वहाँ पहुँचने पर अधिक दूर हो जाती थीं। (पहाड़ दूर से देखने पर नजदीक मालूम पड़ते हैं परन्तु वास्तव में होते बहुत दूर हैं। यहाँ भाव यह है कि जब खिलाड़ी गेंद लेकर बढ़ता है तो 'गोल' उसे पास मालूम पड़ता है परन्तु वहाँ तक पहुँचने में उसे बहुत देर लग जाती है।) 'गोल' के दोनों खम्भे मानो दो बाणों के समान सीधे खड़े हुए थे। वे दोनों खम्भे खिलाड़ियों के हृदय को पीड़ा देते रहते हैं अर्थात् खिलाड़ी उन तक पहुँचने को व्याकुल रहते हैं परन्तु कोई भी उनके बीच में से गेंद को नहीं निकाल पाता। वे खिलाडी के हृदय में पीड़ा पहुँचाते रहते हैं और उन्हें खड़ा हुआ देखना सहन नहीं होता। परन्तु उनके बीच में से गेंद को बिना निकाले वह अपनी पराजय की सम्भावना की पीड़ा से मर जाना चाहता है।

जायसी कहते हैं कि प्रेम का खेल चौगान के खेल से भी गंभीर और कठिन है। इस खेल में जब तक गेंद के समान अपना सिर नहीं दे दिया जाता; अर्थात् जिस प्रकार गेंद आघात सहती है, उसी प्रकार जब तक संकट नहीं उठाए जाते, तब तक प्रेम के रणक्षेत्र में 'गोल' नहीं हो पाता अर्थात् विजय नहीं प्राप्त की जा सकती।

पाठ-भेद—१. सालहिं तेहि न जासु हियँ ठाढ़े। सालहिं तासु चहै ओन्ह काढ़े ॥=वे वाण उसे नहीं सालते (चुभते) हैं जिसके हृदय पर वे खड़े होते हैं, वे उसे चुभते हैं जो उन्हें खींचकर निकालना चाहता है।

टिप्पणी—डा० अग्रवाल ने इस पद के तीन प्रकार के अर्थ किए हैं—चौगान-परक, प्रेम-परक, युद्ध-परक। परन्तु उन्हें इन अर्थों में काफी खींचातानी करनी पड़ी है। वस्तुतः कथा-प्रवाह के मध्य यह पद असंगत-सा प्रतीत होता है। यहाँ रानी का उल्लेख होना, उसके प्रेम का वर्णन करना एक तो युद्ध के वातावरण में कथा-प्रसंग के समस्त आकर्षण को नष्ट कर देता है और दूसरे आगे-पीछे वाले पदों से इसकी संगति नहीं बैठ पाती। इसलिए इस पद को अनावश्यक अथवा प्रक्षिप्त मान कर हठा दिया जाय तो ठीक रहेगा। यहाँ रानी कहाँ से आगई। वह तो चित्तौड़ में बैठी थी।

(६७२)

फिरि आगे गोरा तब हाँका। खेलौं, करौं आजु रन-साका॥
हौं कहिए[1] धौलागिरि गोरा। टरौं न टारे, अंग[2] न मोरा॥
सोहिल जैस गगन[3] उपराहीं। मेघ-घटा मोहि देखि बिलाहीं॥
सहसौ सीस सेस सम लेखौं। सहसौं नैन इंद्र सम देखौं॥
चारिउ भुजा चतुरभुज आजू। कंस न रहा और को साजू ?॥
हौं होइ भीम आजु रन गाजा। पाछे घालि डुंगवै राजा॥
होइ हनुवँत जमकातर ढाहौं। आजु स्वामि साँकरे निबाहौं॥
होइ नल नील आजु हौं, देहुँ समुद महँ मेंड़।
कटक साह कर टेकौं, होइ सुमेरु रन बेंड़॥६॥

शब्दार्थ—धौलागिरि=धवलगिरि; अर्थात् हिमालय। डुंगवै राजा=राजा डंगव। जमकातर=समुद्र के नीचे, पाताल में महिरावण पुरी में यमकर्त्तरी लगी थी जिसे नष्ट कर हनुमान ने राम-लक्ष्मण को महिरावण की कैद से छुड़ाया था।

व्याख्या—फिर गोरा ने आगे घूम हाँक लगाई और (ललकार कर कहा) कि मैं आज युद्ध का खेल खेलूँगा और साका करूँगा; अर्थात् विशेष पराक्रम दिखाऊँगा। मैं धौलागिरि (हिमालय) के समान अडिग रहने वाला गोरा कहलाता हूँ। मैं शत्रुओं द्वारा प्रयत्न करने पर भी युद्ध से नहीं हटता और न कभी पीठ ही दिखाता हूँ। जिस प्रकार ऊपर आसमान में अगस्त्य नक्षत्र के उदय होते ही मेघों की घटा विलीन हो जाती है, उसी प्रकार रणक्षेत्र में मेरे आते ही शत्रुओं की सेना मुझे देखते ही विलीन हो जाती है। (अगस्त्य नक्षत्र के उदय होते ही वर्षा ऋतु समाप्त हो जाती है और आसमान साफ हो जाता है।) मैं रणभूमि में स्वयं को सहस्र शीश वाले शेषनाग के समान बलशाली समझता हूँ; अर्थात् मुझमें शेषनाग की सी शक्ति आ जाती है। और मैं इन्द्र के समान हजार नेत्रों वाला बन युद्ध करते समय चारों ओर नजर रखता हूँ; अर्थात् बहुत चौकन्ना हो चारों ओर भयङ्कर मार-काट मचाता हूँ। आज मैं [illegible]भुज

पाठ-भेद—१. खेलौं=खेलूँगा। २. वाग=घोड़े की लगाम। ३. इन्द्र।

